हिन्दी
विश्व-भारती

छठा खण्ड

प्रधान संपादक

कृष्णवल्लभ द्विवेदी

सहयोगी लेखक

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, धर्मसमाज कॉलेज, अलीगढ़।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, प्रिंसिपल, कान्यकुब्ज कॉलेज, लखनऊ।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय।

श्री० नरेन्द्र गोयल, एम० ए०।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, डी० एस-सी०, रीडर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी० एल-एल० बी०, रीडर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० रामकृष्ण अवस्थी, एम० ए०।

श्री० रमाकान्त शास्त्री, भू० संपादक 'सचर्द'।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी० एस-सी० (लंदन), उपकुलपति, सागर-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम० ए०, भू० वाइस-प्रिंसिपल, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ्टस्, लखनऊ।

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ० आर० ए० आई०, प्रोफेसर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुंदर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न, जूडीशियल ऑफिसर, मध्यभारत।

श्री० शम्भुप्रसाद बहुगुणा, एम० ए०, अध्यापक, इसावेला थाबर्न कॉलेज, लखनऊ।

श्री० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण', बी० ए०।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०।

प्रकाशक

राजराजेश्वर प्रसाद भार्गव,

हिन्दी विश्व-भारती,

चारबाग, लखनऊ.

विषय-सूची

विश्व की कहानी

सत्य की खोज

पृथ्वी की कहानी

पेड़-पौधों की दुनिया

जानवरों की दुनिया

मनुष्य को कहानी

हम और हमारा शरीर

हमारा मन

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

पृष्ठ

मानव समाज

इतिहास की पगडंडी

प्रकृति पर विजय

साहित्य-सृष्टि

देश और जातियाँ

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

—:o:—

विश्व की कहानी

(बाईं ओर)

बर्लिन-वेधशाला का एक दूरदर्शकयुक्त विशाल रश्मि-विश्लेषक कैमरा अथवा 'स्पेक्ट्रोग्राफ़'। यह यंत्र एक बड़े दूरदर्शक, अनेक प्रिज़्मोंवाले एक रश्मि-विश्लेषक ('स्पेक्ट्रोस्कोप') तथा ऊँचे दर्जे के एक फ़ोटो-कैमरा का एक सम्मिलित पेचीदा यांत्रिक जंजाल होता है, जिसके द्वारा हज़ारों-लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी तक के आकाशीय ज्योतिष्पिण्डों के रश्मि-चित्र लिये जाते हैं और उनकी भौतिक तथा रासायनिक बनावट का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(दाहिनी ओर)

साधारण रश्मिविश्लेषक (स्पेक्ट्रोस्कोप), जिसके आविष्कार ने रश्मि-विश्लेषण द्वारा दूरस्थ आकाशीय पिंडों की भौतिक और रासायनिक बनावट, उनके तापक्रम तथा वेग आदि के संबंध में निश्चित जानकारी पाने के सरल मार्ग का उद्घाटन कर ज्योतिष-विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति कर दी है!
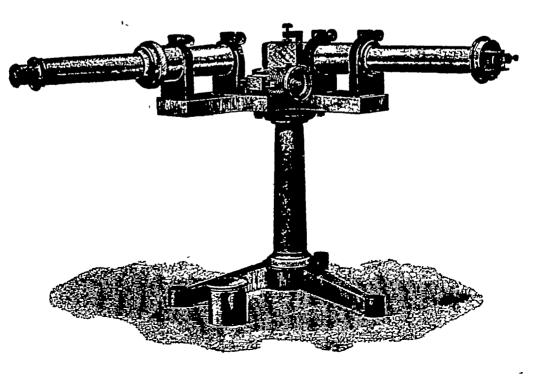
ज्योतिष-भौतिक विज्ञान

यदि यह कहा जाय कि नक्षत्रों से हमारे पास निरंतर संदेश आता रहता है तो इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः तारों से निरंतर संदेश आता रहता है; केवल उसे समझनेवाला चाहिए। यह संदेश उनके प्रकाश द्वारा आता है। तारों के प्रकाश के ब्योरेवार अध्ययन से उनकी रासायनिक बनावट, उनकी भौतिक बनावट, उनका तापक्रम, उनका वेग और अन्य बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। ज्योतिष के उस विभाग को जिसमें तारों के प्रकाश का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है 'ज्योतिष-भौतिक विज्ञान' (अंग्रेज़ी में 'ऐस्ट्रोफ़िज़िक्स') या 'भौतिक-ज्योतिष विज्ञान' ('फ़िज़िकल ऐस्ट्रॉनॉमी') कहते हैं। सुविधा के लिए इसे हम 'भौतिज्य' कहा करेंगे।

प्रकाश क्या है?

पाठक ने भौतिक विज्ञान संबंधी लेखों में पढ़ा होगा कि प्रकाश एक प्रकार की लहर है। यदि किसी पोखरे में एक कंकड़ी फेंक दी जाय तो लहरें चलने लगती हैं। दो क्रमागत लहरों की चोटियों के बीच की दूरी को नापा जा सकता है; इसको तरंग-दैर्घ्य (= लहर-लंबाई) कहते हैं। प्रकाश की लहरों को हम देख नहीं सकते, परंतु उनके तरंग-दैर्घ्य को वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा नाप सकते हैं। तरंग-दैर्घ्य नापते समय पता चलता है कि श्वेत प्रकाश केवल एक तरंग-दैर्घ्य का नहीं है। वस्तुत श्वेत प्रकाश अगणित रंगीन प्रकाशों का मिश्रण है और प्रत्येक रंगीन प्रकाश का तरंग-दैर्घ्य भिन्न है। यद्यपि सुविधा के लिए रंगीन प्रकाशों को हम बहुधा सात समूहों में बाँटते हैं और उनको बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल ये सात नाम देते हैं, परंतु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि रंगों की संख्या अनंत है और सब रंग धीरे-धीरे बदलकर एक-दूसरे में मिल जाते हैं। उदाहरणत., सौंदर्यमय इन्द्रधनुष में प्रकृति के सभी सरल रंग क्रमानुसार रहते हैं; परंतु यह बताना कि हरे रंग का कहाँ अंत और पीले का कहाँ आरंभ होता है असंभव है। हरे और पीले के बीच अनेक रंग पड़ते हैं, जो एक-दूसरे से कुछ-कुछ विभिन्न रहते हैं।

वस्तुत., केवल तरंग-दैर्घ्य से ही हम प्रकाश के रंग को सूक्ष्मता से जता सकते हैं। प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य बहुत छोटे होते हैं और इसलिए उनकी नाप में सुविधा के लिए एक विशेष इकाई का प्रयोग किया जाता है। इस इकाई को 'ऐंग्स्ट्राम' कहते हैं और यह एक मीटर का दस अरबवाँ भाग होता है!

प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने पहले-पहल आज से कोई तीन सौ वर्ष पहले सिद्ध किया था कि श्वेत प्रकाश वस्तुतः अगणित वर्णमय प्रकाशों का मिश्रण है। तरंग-दैर्घ्य नापने की विधियों का तो बहुत पीछे पता चला। न्यूटन ने देखा कि जब सूर्य-प्रकाश की किरणों को शीशे की तिपहली क़लम से होकर निकलने दिया जाता है तो प्रकाश श्वेत रहने के बदले अपने रंगीन अवयवों में बँट जाता है। शीशे की यही तिपहली क़लम आज भी तारों के प्रकाश की जाँच के लिए काम में आती है। इसे वैज्ञानिक लोग 'त्रिपार्श्व' (अंग्रेज़ी में 'प्रिज्म') कहते हैं और यह त्रिपार्श्व वस्तुत वैसी ही क़लम है जैसी पुराने ढंग के झाड़-फानूसों को सुसज्जित करने के लिए काम में आया करती थी। ऐसी क़लम द्वारा देखने पर सभी वस्तुओं के किनारों पर इन्द्रधनुष के समान झालर दिखाई पड़ती है। वैज्ञानिक के त्रिपार्श्व में भी यही गुण है।

त्रिपार्श्व से केवल तारों से आए प्रकाश की ही जाँच नहीं की जाती, पृथ्वी पर के कृत्रिम प्रकाशों की भी जाँच की जाती है। वस्तुत. ज्ञात कृत्रिम प्रकाशों और तारों से आए प्रकाशों को त्रिपार्श्व द्वारा देखने और तुलना करने से ही अधिकांश बातें ज्ञात हुई हैं।

—रश्मि-विश्लेषक यंत्र

प्रकाश की जाँच की उपरोक्त रीति यह है कि उसे

एक अत्यंत सँकरे चौकोर छेद में से होकर त्रिपार्श्व तक जाने दिया जाय। यह छेद आधा इञ्च या कुछ न्यूनाधिक लंबा हो सकता है, परतु यह इतना अधिक सँकरा होता है कि इसे ज्यामिति की सरल रेखा ही समझना उचित होगा, जिसमें लबाई तो होती है, परंतु चौड़ाई लगभग होती ही नहीं।

इस चौकोर छेद को झिरी कहते हैं। झिरी से आई हुई प्रकाश-रश्मियों को समानातर करने के लिए उससे उचित दूरी पर एक ताल लगा दिया जाता है। इस प्रकार समानांतर हो जाने के पश्चात् रश्मियाँ त्रिपार्श्व पर पड़ती हैं। त्रिपार्श्व इस प्रकार रक्खा रहता है कि उसके कोर झिरी के समानांतर रहते हैं। त्रिपार्श्व से निकलने के बाद रश्मियों को एक दूरदर्शक में घुसने दिया जाता है। इस दूरदर्शक के चक्षुताल पर आँख लगाने से झिरी के बदले एक रगीन पट्टी दिखलाई पड़ती है, जिसे 'वर्णपट' (अंग्रेज़ी में 'स्पेक्ट्रम') कहते हैं। वर्णपट बड़ा मनमोहक जान पड़ता है। यदि झिरी पर बिजली के बल्ब का प्रकाश पड़ने दिया जाय तो वर्णपट में इन्द्रधनुष के सभी रंग दिखलाई पड़ते हैं—वस्तुतः इन्द्रधनुष से भी अधिक सुस्पष्ट और चटक। इसी से वर्णपट इतना सुन्दर जान पड़ता है। इस यंत्र को 'रश्मि-विश्लेषक यत्र' कहा जाता है और उस क्रिया को जिसके द्वारा प्रकाश टूटकर अपने रंगीन अवयवों में बँट जाता है 'रश्मि-विश्लेषण' कहते हैं।

जब वर्णपट को अधिक बड़े पैमाने पर देखने की इच्छा होती है तो एक के बदले दो या अधिक त्रिपार्श्वों का प्रयोग किया जाता है ताकि प्रकाश पहले त्रिपार्श्व से निकलने पर दूसरे में घुसता है और उससे निकलने पर तीसरे में इत्यादि। अंत में वह दूरदर्शक में घुसता है। कभी-कभी त्रिपार्श्वों के बदले ऐसे दर्पण का भी प्रयोग किया जाता है, जिस पर बहुत-सी पतली समानातर रेखाएँ बराबर-बराबर दूरियों पर खिंची रहती हैं, क्योंकि ऐसे दर्पण या त्रिपार्श्व से प्रकाश अपने अवयवों में टूट जाता है। इसे पाठक भौतिक विज्ञान के अध्ययन से समझ सकेंगे।

बिजली के बल्ब से उत्पन्न हुए प्रकाश का वर्णपट अविच्छिन्न होता है, वह कहीं से कटा या टूटा हुआ नहीं रहता। परंतु सूर्य से आए प्रकाश के वर्णपट में कई काली-काली रेखाएँ रहती हैं। इन काली रेखाओं को 'फ्राउनहोफ़र' रेखाएँ कहते हैं, क्योंकि जर्मन वैज्ञानिक फ्राउनहोफ़र ने पहले-पहल हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया था। इनमें से प्रमुख रेखाओं के लिए उसने ए, बी, सी, डी, आदि सकेत नियत कर दिए और ये नाम आज भी प्रचलित हैं। वास्तव में इन रेखाओं की सख्या कई हज़ार है और इसलिए शेष रेखाओं की ओर संकेत करने के लिए उनका तरग-दैर्घ्य बताना पड़ता है।

फ्राउनहोफ़र का आविष्कार उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग आरंभ में हुआ था। परंतु बहुत वर्षों तक वैज्ञानिक इस पहेली को हल न कर सके कि सूर्य-प्रकाश के वर्णपट में ये काली रेखाएँ क्यों दिखलायी पड़ती हैं। वस्तुत. लगभग पचास वर्ष तक इसका कोई उत्तर न मिल सका। तब अत में जर्मन वैज्ञानिक किर्खहोफ़ इन काली रेखाओं का अर्थ समझाने में समर्थ हुआ।

इन रेखाओं का अर्थ स्पष्ट करने के लिए पहले हम उन सरल प्रयोगों पर विचार करेंगे जिनसे पहलेपहल पता चला कि ये रेखाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं। यदि हम स्पिरिट के लैंप या मिट्टी के तेल के स्टोव की लौ में थोड़ा-सा साधारण नमक छिड़क दें तो लौ से चटक पीला प्रकाश निकलने लगता है, यद्यपि नमक डालने के पहले लौ प्रायः प्रकाशहीन रहती है। इसका कारण यह है कि आँच पाकर नमक का सोडियम इतना तप्त हो जाता है कि उससे पीला प्रकाश निकलने लगता है। यदि नमक के बदले, जो सोडियम क्लोराइड है, हम लौ में स्ट्रान्शियम का कोई लवण डालते तो लौ से चटक लाल रंग निकलने लगता। आतिशबाज़ी में रगीन रोशनी ऐसे ही लवणों के प्रयोग से उत्पन्न की जाती है।

जब हम सोडियम या नमक पड़ी लौ के पीले प्रकाश की जाँच रश्मि-विश्लेषक यंत्र से करते हैं तो एक नई बात देखने में आती है। इस बार न तो अविच्छिन्न वर्णपट दिखाई पड़ता है और न काली रेखाओं से कटा हुआ वर्णपट ही। अबकी बार वर्णपट में दो, प्राय. सटी हुई, चटक पीली रेखाएँ दिखायी पड़ती हैं। छोटे यत्रों में ये रेखाएँ सटकर एक-सी हो जाती हैं। इसलिए फ्राउनहोफर ने इन रेखाओं के लिए केवल एक नाम डी (*D*) रख दिया, परन्तु ये रेखाएँ असल में दो हैं, जिनका तरंग-दैर्घ्य है क्रमश: ५८९८ ऐंग्स्ट्राम और ५८६० ऐंग्स्ट्राम।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिजली के बल्ब से आए प्रकाश का वर्णपट अविच्छिन्न होता है और सोडियम-युक्त स्पिरिट-लैंप की लौ से आए प्रकाश का वर्णपट चटक रेखायुक्त होता है।

अब यदि बिजली के बल्ब से आए प्रकाश को सोडियम-युक्त स्पिरिट-लैंप की लौ में से होकर आने दिया जाय तो

वर्णपट प्राय. सर्वत्र अविच्छिन्न ही रहता है, परन्तु ठीक वहीं जहाँ कि सोडियम के कारण पहले दो चटक रेखाएँ दिखाई पड़ती थीं अब दो काली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं।

इन प्रयोगों पर विचार करने से तथा अन्य कई तरह के प्रयोग करने पर किर्खहोफ निम्न निष्कर्षों पर पहुँचा। इन्हीं नियमों की नींव पर भौतिज्य की सारी इमारत खड़ी की गई है.—

१—कम चाप (दबाव) की तप्त गैसों के और मौलिक धातुओं की तप्त वाष्पों के वर्णपट चटक रेखायुक्त होते हैं—उनमे पृथक्-पृथक् चटक रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। इन रेखाओं की गिनती और वर्णपट मे उनकी स्थिति, प्रत्येक मौलिक पदार्थ के लिए भिन्न होती हैं, जिससे वर्णपट को देखते ही पता चल जाता है कि रेखाएँ किस पदार्थ से उत्पन्न हुई हैं।

२—जब ऐसा प्रकाश, जिसका वर्णपट अविच्छिन्न होता है, तप्त गैस या वाष्प को पार करके आता है और गैस या वाष्प का तापक्रम प्रकाश के उद्गम-स्थान के तापक्रम से कम रहता है तो वर्णपट में वहाँ अब काली रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं जहाँ केवल गैस या वाष्प के कारण वस्तुतः सिर्फ चटक रेखाएँ ही बनना चाहिए थीं।

सौर वर्णपट

किर्खहोफ के पूर्वोक्त नियमों के आधार पर हम सौर वर्णपट की काली रेखाओं का अर्थ जान सकते हैं। सौर वर्णपट की तुलना सोडियम-प्रकाश के वर्णपट से करने पर तुरन्त पता चलता है कि सौर वर्णपट में दो काली रेखाएँ ठीक उन्हीं स्थानों में हैं जहाँ सोडियम की दो रेखाएँ रहती हैं। इसलिए स्पष्ट है कि सूर्य का प्रकाश पहले कहीं अत्यंत तप्त वस्तु से निकलता है और मार्ग में वह ऐसी सोडियम-वाष्प को पार करता है जो अपेक्षाकृत ठढी होती है, अर्थात् जो इतनी तप्त नहीं रहती जितना कि प्रकाश का उद्गमस्थान।

तारों से प्राप्त संदेश

तारों से प्रकाश रश्मियों के रूप में हमारे पास निरंतर संदेश आता रहता है, केवल ठीक से उसका अर्थ जानने की हमारे लिए आवश्यकता है। प्रस्तुत चित्र में रश्मि-विश्लेपक कैमरा द्वारा लिये गए कुछ चुने हुए तारों के वर्णपट दिग्दर्शित हैं, जिनसे भौतिज्य-विशेषज्ञ जान सकते हैं कि उनमें कौन-कौन से मूलतत्त्व हैं, उनका तापक्रम क्या है, किस वेग से वे दौड़ रहे हैं, आदि, आदि।

इस तथा ऐसी ही अन्य विवेचनाओं से ज्योतिषी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सूर्य का केंद्रीय भाग अत्यत तप्त है, इतना तप्त कि उससे श्वेत प्रकाश निकलता है। इस भाग को 'प्रकाश-मंडल' कहते हैं। इस मडल के चारों ओर सूर्य का वातावरण है, जिसके निम्नतम स्तर को 'उत्क्रांति स्तर' कहते हैं, क्योंकि इसी को पार करने में

प्रकाश के कुछ अवयवों का शोषण हो जाता है और वर्णपट में काली रेखाएँ पड़ जाती हैं। उत्क्रांति-स्तर अपेक्षाकृत बहुत कम मोटा है। इसके बाहर हल्की गैसों का विस्तृत मंडल है, जिसे 'वर्णमंडल' कहते हैं और जिसकी मोटाई कई हज़ार मील है। वर्णमंडल के ऊपर कॉरोना है, जो सर्व-सूर्यग्रहण के अवसर पर हमें दिखलाई पड़ जाता है। इन सबका वर्णन पहले किया जा चुका है।

सौर वर्णपट में सोडियम की रेखाओं की उपस्थिति से पता चलता है कि सौर वातावरण में सोडियम अवश्य है। इसी प्रकार अन्य रेखाओं की स्थितियों के अध्ययन से, और पृथ्वी के अन्य मौलिक पदार्थों की वर्णपटीय रेखाओं की स्थितियों से उनकी तुलना करने से, अन्य मौलिक पदार्थों का भी सूर्य में रहना सिद्ध होता है।

इस संबंध में एक अनोखी बात हुई। सन् १८६८ में एक ज्योतिषी ने देखा कि सूर्य से निकलनेवाली ज्वालाओं के वर्णपट में एक ऐसी चटक पीली रेखा है, जो सोडियम की दोनों पीली रेखाओं से भिन्न है (इन ज्वालाओं के वर्णन के लिए 'हिन्दी विश्व-भारती', पृष्ठ ३८३-३९४, देखें)। अच्छी तरह जाँच करने पर पता चला कि यह प्रत्येक ज्ञात मूलतत्त्व की रेखा से भिन्न है। तब लोगों ने सोचा कि अवश्य ही यह रेखा किसी नवीन अज्ञात मौलिक धातु से उत्पन्न हुई होगी और इस अज्ञात धातु का नाम वैज्ञानिकों ने 'हीलियम' रख दिया। यूनानी भाषा में 'हीलियोस' सूर्य को कहते हैं और 'अम' वह प्रत्यय है जो सूचित करता है कि वस्तु कोई धातु है, जैसे सोडियम, स्ट्रॉन्शियम, कैल्शियम, इत्यादि। इसलिए हीलियम का अर्थ हुआ सौर धातु। लगभग तीस वर्षों तक इस अज्ञात पदार्थ का और कुछ पता न चला, परंतु १८९६ ई० में सर विलियम रैमज़े ने देखा कि यह पदार्थ यूरेनाइट नामक पत्थर में रहता है। पीछे तो हीलियम प्रचुर मात्रा में एकत्र किया जाने लगा, क्योंकि देखा गया कि अमेरिका के कुछ कुओं में से यह पदार्थ बुलबुले उठाता हुआ निकलता है। हीलियम एक गैस है, जो हवा से बहुत हल्की है। ज़ैपलिन जाति के हवाई पोतों में पहले हाइड्रोजन गैस भरी जाती थी। हाइड्रोजन अन्य सब ज्ञात गैसों से हल्की है, परंतु इसमें दुर्गुण यह है कि यह जलनशील है। केवल इतना ही नहीं, हवा और हाइड्रोजन का मिश्रण विस्फोटक है, ऐसे मिश्रण में चिनगारी लगते ही तोप के दागने के समान धड़ाका होता है! इन्हीं कारणों से हाइड्रोजन-भरे हवाई पोतों में कई बार दुर्घटनाएँ भी हो चुकी हैं। इसलिए लोगों का ध्यान विशेष रूप से हीलियम की ओर आकर्षित हुआ। यह गैस हाइड्रोजन से चार गुना भारी है और इसलिए इससे भरे हवाई पोत उतना बोझ नहीं उठा सकते जितना कि हाइड्रोजन से भरे हवाई पोत। फिर भी आग लगने का डर न होने से हाइड्रोजन की अपेक्षा हीलियम ही अधिक पसंद की जाती है।

सिद्धान्त ठीक है

हीलियम का आविष्कार इस बात का पक्का सबूत-सा जान पड़ता है कि किर्खहोफ़ का सिद्धान्त ठीक है। परंतु इसके अलावा अन्य सबूत भी हैं। सिद्धान्त से प्रत्यक्ष है कि यदि हम उत्क्रांति-स्तर के प्रकाश का वर्णपट देख सकते, न कि उस प्रकाश का जो सूर्य के प्रकाशमंडल से चलकर उत्क्रांति-स्तर से होता हुआ हमारे पास आता है, तो हमें चटक रंगीन अविच्छिन्न पृष्ठभूमि पर काली रेखाओंवाले वर्णपट के बदले ऐसा वर्णपट दिखाई पड़ता जिसमें चटक रंगीन पृथक्-पृथक् रेखाएँ रहती हैं। सर्व-सूर्यग्रहण के समय हमें ऐसा अवसर मिल जाता है कि हम उत्क्रांति-स्तर से सीधे आए प्रकाश का वर्णपट देख सकें। सर्व-सूर्यग्रहण के समय सूर्य और हमारे बीच चंद्रमा आ पड़ता है और इस प्रकार सूर्य चंद्रमा की ओट में हो जाता है, या यों कहिए कि चंद्रमा सूर्य को छिपा लेता है। परंतु चंद्रमा सूर्य को एकाएक नहीं छिपाता। यह धीरे-धीरे सूर्य के अधिकाधिक भाग को छिपाता है। पहले सूर्य के किनारे का एक भाग छिपता है, धीरे-धीरे अन्य भाग, यहाँ तक कि सर्वग्रहण लगने के पहले सूर्य का दृश्य भाग द्वितीया के चंद्रमा के समान पतला और टेढ़ा दिखाई पड़ता है। ध्यान देने योग्य बात है कि सर्वग्रहण के कुछ क्षण पहले, जब सूर्य की अत्यंत सँकरी कला ही दिखाई पड़ती है, सूर्य का प्रकाशमंडल संपूर्ण रूप से चंद्रमा के पीछे छिप जाता है और जो कला दिखाई पड़ती है वस्तुतः वह उत्क्रांति-स्तर की ही रहती है। यदि इस समय वर्णपट को देखा जाय तो सिद्धान्त के अनुसार हमको काली पृष्ठभूमि पर चटक रेखाएँ दिखाई देनी चाहिए। देखा गया है कि इस अवस्था में वस्तुतः ऐसा ही वर्णपट दिखाई पड़ता है। सर्वग्रहण लगने के कुछ समय पहले तक तो चटक रंगीन अविच्छिन्न पृष्ठभूमि पर काली रेखाएँ दिखाई पड़ती रहती हैं, परंतु एकाएक पृष्ठभूमि काली पड़ जाती है और तब काली रेखाएँ सब चमक उठती हैं। यह परिवर्त्तन दर्शक को अत्यंत आश्चर्यजनक और चित्ताकर्षक जान पड़ता है। अवश्य ही चटक रेखाओंवाला यह वर्णपट उत्क्रांति-स्तर से आए हुए प्रकाश का है और इसका दिखाई पड़ना किर्खहोफ़ के

सिद्धान्त के सच होने का एक पक्का प्रमाण माना जा सकता है। उत्क्राति-स्तर के चटक रेखाओंवाले वर्णपट की सूक्ष्म जाँच से इसका भी पता चलता है कि वह स्तर कितना मोटा है और किसी विशेष मौलिक पदार्थ की वाष्प प्रकाशमंडल के ऊपर कहाँ तक फैली हुई है। इस प्रकार पता चला है कि कैल्शियम की वाष्प लगभग पाँच हजार मील ऊँचे तक फैली हुई है।

तारों के वर्णपट

सूर्य के वर्णपट का अध्ययन बहुत सूक्ष्म रूप से हो सका है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश बहुत प्रचड है और उसका वर्णपट बहुत परिवर्द्धित पैमाने पर देखा जा सका है। परन्तु तारों के वर्णपटों से भी पर्याप्त ज्ञान-प्राप्ति हुई है। विशेष बात यह देखने मे आई है कि तारों को ऐसे समूहों में बाँटा जा सकता है, जिनके वर्णपटों में क्रमानुसार धीरे-धीरे अंतर पड़ता है। उदाहरणतः, प्रथम समूह में चटक रंगीन पृष्ठभूमि पर थोड़ी-सी काली रेखाएँ रहती हैं। इस काली रेखाओंवाले वर्णपट को 'शोषण वर्णपट' कहते हैं, क्योंकि ये रेखाएँ, जैसा हम देख चुके हैं, अत्यंत तप्त उद्गम से आए प्रकाश के कुछ अवयव की कम तप्त गैसो या वाष्पों द्वारा शोषण के कारण उत्पन्न होती हैं। ये काली रेखाएँ 'शोषण रेखाएँ' कहलाती हैं।

जोज़ेफ़ फ्राउनहोफ़र
जिसे वर्णपट की 'फ्राउनहोफ़र रेखाएँ' नामक काली रेखाएँ खोजने का श्रेय प्राप्त है।

वर्णपट के अनुसार वर्गीकरण करने पर तारों के प्रथम समूह में शोषण रेखाएँ थोड़ी-सी ही रहती हैं और वे अधिकतर हाइड्रोजन और हीलियम से उत्पन्न रेखाएँ होती हैं। ऐसे तारे देखने में कुछ नीले रंग के जान पड़ते हैं।

द्वितीय समूह में हाइड्रोजन की रेखाएँ प्रमुख होती हैं और हीलियम की रेखाएँ नहीं रहतीं। लोहा, कैल्शियम और टाइटेनियम नामक धातुओं की रेखाएँ भी कुछ-कुछ दिखाई पड़ती हैं, पर वे हल्की रहती हैं। इस समूह के तारे श्वेत परंतु नाम-मात्र के लिए नीलापन लिये हुए होते हैं।

तीसरे समूह के तारों में हाइड्रोजन की रेखाएँ फीकी और धातुओं की रेखाएँ अधिक स्पष्ट रहती हैं। ये तारे देखने में श्वेत होते हैं।

चौथे समूह में धातुओं की रेखाएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं। इनका वर्णपट बहुत-कुछ सौर वर्णपट-सा होता है। देखने में ये तारे कुछ पीले जान पड़ते हैं।

पाँचवें समूह के वर्णपट में काली रेखाएँ पतली और पृथक्-पृथक् रहने के बदले कहीं-कहीं एक-दूसरे में सटकर मोटी हो जाती हैं। ऐसे वर्णपट को 'गंडेदार वर्णपट' कहते हैं। ये गडे तप्त मौलिक पदार्थों के बदले कुछ तप्त यौगिक पदार्थों से—जैसे टाइटेनियम ऑक्साइड से—उत्पन्न होते हैं। इस समूह के तारों के वर्णपटों में कैल्शियम की रेखाएँ बहुत प्रमुख होती हैं। देखने मे ये तारे ललछौंह (हल्के लाल या नारगी रग के) होते हैं।

छठवें समूह मे यौगिकों के शोषण-गडे अधिक प्रमुख हो जाते हैं। ऐसे तारे देखने में लाल होते हैं।

पाठक जानते होंगे कि किसी भी वस्तु के तापक्रम को धीरे-धीरे बढ़ाने से वह पहले गहरा लाल, तब चटक लाल या नारगी रग का, फिर पीला और अंत में श्वेत रंग का हो जाता है। तापक्रम को इससे भी अधिक बढ़ाने पर रग निलछौंह हो जाता है और उसके बाद नीलापन अधिक बढ़ जाता है। इसलिए स्पष्ट है कि ऊपर का वर्णपटानुसार वर्गीकरण वस्तुतः घटते हुए तापक्रम के अनुसार वर्गीकरण है।

अपेक्षाकृत निम्न तापक्रमों पर यौगिक पदार्थ टिकाऊ रहते हैं और हमें उनका वर्णपट दिखाई पड़ता है। ज्यों-ज्यों तापक्रम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों यौगिक पदार्थ नष्ट होते जाते हैं और मूल धातुएँ रह जाती हैं। अधिक तापक्रमवाले तारों में वे धातुएँ भी नहीं रह पातीं, केवल हाइड्रोजन और हीलियम या केवल हाइड्रोजन ही रह जाती है।

तारों के तापक्रम

वर्णपट का कौन-सा भाग सबसे अधिक चमकीला है, यह देखकर प्रकाश के उद्गम-स्थान का तापक्रम भी बताया जा सकता है। कम तापक्रम पर वर्णपट का लाल भाग सबसे अधिक चटक रहता है। जैसे-जैसे तापक्रम बढ़ता है, तैसे-तैसे महत्तम चमकवाला भाग वर्णपट के नीले खंड की ओर खिसक जाता है। महत्तम चमक पर ध्यान देने से, और ज्ञात तापक्रमों से निकले कृत्रिम प्रकाशों के अध्ययन तथा गणित आदि के आधार पर, हम तारों के तापक्रम भी जान सके हैं। इस अध्ययन से प्राप्त सामग्री के आधार पर अनुमान किया गया है कि पूर्वोक्त वर्गीकरण और तापक्रम में निम्नलिखित संबध होगा।

वर्ग-संख्या	तापक्रम
१	२५,०००° से १५,०००° सें०
२	१०,०००°
३	८,०००°
४	६,०००°
५	४,०००°
६	३,०००°

तारों का वेग

रश्मि-विश्लेषक यंत्र से तारों की केवल रासायनिक बनावट और उनके तापक्रम का ही ज्ञान नहीं होता बल्कि उससे उनके वेग का भी पता चलता है। यह बात निम्न विवेचन से समझ में आ जायगी।

कल्पना करें कि हम लोग किसी झील में स्थिर नाव पर बैठे हैं। यदि किसी स्थान पर पानी में उथल-पुथल हो रहा है तो वहाँ से लहरें चलेंगी और हम नाव पर बैठे-बैठे दो क्रमागत लहरों की चोटियों के बीच की दूरी को नापकर लहरों के तरंग-दैर्घ्य को जान सकेंगे।

परंतु अब यदि मल्लाह हमारी नाव को चुपके से तरंगों के केंद्र की ओर चला दे और हमको नाव के चलने का ज्ञान न हो तो हम देखेंगे कि लहरों की चोटियाँ अब हमारी नाव को पहले की अपेक्षा कम-कम समय पर ही पार कर रही हैं—परिणाम वही होगा जैसा कि उस समय होगा जबकि क्रमागत लहरों की चोटियों के बीच की दूरियाँ कम हो गई हों। वस्तुत हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि अब पहले की अपेक्षा तरंग-दैर्घ्य कम हो गया है।

ठीक यही परिणाम प्रकाश-तरंगों के लिए भी निकलता है। यदि हम किसी तारे की ओर वेग से भाग रहे हों—या तारा हमारी ओर वेग से आ रहा हो—तो उसके प्रकाश के प्रत्येक अवयव का तरंग-दैर्घ्य कम हो जायगा।

परंतु वर्णपट में तो प्रकाश के सब अवयव अपने-अपने तरंग-दैर्घ्य के अनुसार पृथक्-पृथक् हो जाते हैं—सबसे कम तरंग-दैर्घ्यवाले अवयव बैंगनी की ओर, सबसे अधिक तरंग-दैर्घ्यवाले अवयव लाल की ओर, और शेष सब अवयव इन दोनों के बीच अपने-अपने तरंग-दैर्घ्य के अनुसार। इसलिए यदि कोई तारा हमारी ओर काफी तीव्र वेग से आ रहा हो तो उसके प्रकाश के सभी अवयवों के तरंग-दैर्घ्य कुछ छोटे पड़ जायँगे।

मान लीजिए कि इस तारे के वर्णपट में सोडियम की दोनों काली रेखाएँ भी दिखलाई पड़ती हैं। जब इस तारे के वर्णपट की तुलना पृथ्वी पर स्थित सोडियम-युक्त स्पिरिट-लैंप के प्रकाश के वर्णपट से की जायगी तो उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार तारे के वर्णपट में सोडियम की रेखाओं को हमारे स्पिरिट-लैंप के वर्णपट की रेखाओं के हिसाब से कुछ नीले छोर की दिशा में हटा हुआ दिखाई पड़ना चाहिए। देखने पर पता चलता है कि वस्तुत कुछ तारों में ये रेखाएँ वर्णपट के नीले छोर की दिशा में थोड़ी-सी हटी रहती हैं। हम निःसकोच कह सकते हैं कि ये तारे हमारी ओर आ रहे हैं। केवल इतना ही नहीं, यह देखकर कि इन तारों में वर्णपट की रेखाएँ कितनी हटी हैं, हम यह भी बतला सकते हैं कि ये तारे कितने मील प्रति सेकंड या कितने मील प्रति घंटे के वेग से हमारी ओर दौड़े चले आ रहे हैं, या यदि रेखाएँ लाल की ओर हटी हैं तो हम बतला सकते हैं कि तारा कितने मील प्रति सेकंड के वेग से हमसे दूर भागा जा रहा है।

यदि पाठक को शका हो कि सभवत वर्णपटीय रेखाएँ किसी अन्य कारण से अपने स्थान से हटी दिखाई पड़ती होंगी तो वह इस पर विचार करे कि सूर्य अपनी धुरी पर नाचता रहता है। परिणामस्वरूप इसका एक पार्श्व हमारी ओर आता रहता है और दूसरा पार्श्व हमसे दूर जाता रहता है। सूर्य का व्यास हमें ज्ञात है, इसके एक चक्कर लगाने का समय भी हम जानते हैं। इसलिए हम सुगमता से जान सकते हैं कि सूर्य के पार्श्व किस वेग से हमारी ओर या हमसे दूर चलते हैं। रश्मि-विश्लेषक यंत्र में देखने पर एक पार्श्व से आए प्रकाश में सोडियम की रेखाएँ लाल की ओर कुछ हटी हुई दिखाई पड़ती हैं और दूसरे पार्श्व से आए प्रकाश में ये रेखाएँ नीले की ओर उतनी ही हटी दिखाई पड़ती हैं। केवल इतना ही नहीं, रश्मि-विश्लेषक यत्र से निकला वेग ठीक उतना ही आता है जितना पूर्वोक्त गणना से। इसलिए हम निश्चिन्त हो सकते हैं कि रश्मि-विश्लेषक यत्र हमें धोखा नहीं दे रहा है।

वर्णपटों की तुलना

उद्गम-स्थान के वेग के कारण वर्णपटीय रेखाओं का विचलन अत्यंत सूक्ष्म होता है और यह जानना रोचक होगा कि इस विचलन को कैसे नापा जाता है। विचलन नापने के लिए पहली आवश्यकता तो यह है कि वे वर्णपट जिनकी तुलना की जाय ठीक एक के ऊपर एक बनें। इसके लिए रश्मि-विश्लेषक यत्र की झिरी के आधे भाग से तारे के प्रकाश को भीतर आने दिया जाता है और दूसरे आधे भाग से सोडियम-प्रकाश को। सोडियम वाली लौ तारे के प्रकाश को न रोके, इस अभिप्राय से सोडियम-प्रकाश को

एक बगल रक्खा जाता है और दर्पण से (या दर्पण का ही काम देनेवाले समकोणिक त्रिपार्श्व से) उक्त प्रकाश को समकोण पर मोड़कर यंत्र में जाने दिया जाता है। इस प्रकार दोनों वर्णपट ठीक एक के ऊपर एक बनते हैं, जिससे तुलना में सुगमता होती है। फिर वर्णपटों को आँख से देखने के बदले उनका फोटोग्राफ ले लिया जाता है। इसके लिए यत्र के दूरदर्शक का चक्षुताल हटा दिया जाता है और उचित स्थान पर फोटो की प्लेट लगा दी जाती है। फोटो खिंच आने पर उसे सूक्ष्मदर्शक यत्र द्वारा देखा जाता है और रेखाओं के विचलन को नापा जाता है। इस प्रकार बड़ी सचाई से प्रकाश के उद्गम-स्थान का वेग हमें ज्ञात हो जाता है।

पता चला है कि साधारणत. तारे बड़े भयकर वेग से दौड़ते रहते हैं। उनका औसत वेग आठ-दस मील प्रति सेकंड (प्रति घंटा नहीं, प्रति सेकंड!) है। कुछ तारे तो २०० मील प्रति सेकड से भी अधिक वेग से हमारी ओर आ रहे हैं या हमसे भागे जा रहे हैं!! इतने अधिक वेग की कल्पना भी कठिन है। तेज़-से-तेज़ हवाई जहाज़ भी एक सेकंड में एक मील का आठवाँ-दसवाँ भाग फासला ही तय कर पाता है। स्मरण रखना चाहिए कि रश्मि-विश्लेषक यत्र से हम उसी वेग को नाप सकते हैं जिस वेग से तारा हमारी ओर आता है या हमसे दूर भागता है। इस वेग को 'दृष्टि-रैखिक वेग' कहते हैं, क्योंकि यह हमारी दृष्टि-रेखा की दिशा में रहता है। किसी तारे का पूरा वेग जानने के लिए उसके वेग के दो अवयवों का ज्ञान होना चाहिए। एक तो दृष्टि-रैखिक अवयव का और दूसरा दृष्टि-रेखा से समकोण बनाने वाले अवयव का। इस दूसरे अवयव के जानने की रीति का विवरण अन्यत्र दिया जायगा।

रश्मि-विश्लेषक यंत्र से युक्त एक विशाल दूरदर्शक

यह अमेरिका की डेविड डनलैप वेधशाला के ७४ इंची दर्पण-युक्त दूरदर्शक का चित्र है। इस दूरदर्शक में लगा हुआ रश्मि-विश्लेषक यंत्र दाहिनी बाजू में नीचे की ओर आदमी के पैर की शक्ल का दिखाई दे रहा है।

पराकासनी और उपरक्त रश्मियाँ

वर्णपट में बैंगनी से लेकर लाल तक के वे सब भीतरी रग आ जाते हैं, जो हमें दृष्टिगोचर हो सकते हैं। परन्तु वस्तुत सूर्य अथवा तारे से आए प्रकाश में ऐसे भी अवयव रहते हैं, जिनके तरंग-दैर्ध्य बैंगनी प्रकाश से भी छोटे होते हैं। इन अवयवों के समूह को 'पराकासनी प्रकाश' कहते हैं। अंग्रेज़ी में इसे 'अल्ट्रा-वायलेट लाइट' कहते हैं। परंतु पराकासनी रश्मियाँ प्रकाश नहीं देतीं, वे अंधकारमय होती हैं। विशुद्ध पराकासनी रश्मियों में कोई-

कोई पदार्थ स्फुरित हो उठते हैं, अर्थात् वे जुगनू के प्रकाश के समान चमकने लगते हैं। इनको छोड़ अन्य सभी वस्तुएँ पराकासनी प्रकाश में एकदम अदृश्य रहती हैं। परतु पराकासनी रश्मियाँ अपनी उपस्थिति अन्य रीतियों से दिखा सकती हैं। जिन वस्तुओं पर वे पड़ती हैं उनमें वे कुछ शोषित हो जाती हैं और इसलिए उनका तापक्रम बढ़ा देती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे धूप वस्तुओं पर पड़कर उनको गरम कर देती है। पराकासनी रश्मियाँ फोटो की प्लेट पर अपना पूरा प्रभाव डालती हैं। इसलिए वर्णपट का पराकासनी भाग फोटो में अच्छी तरह उतर आता है। पराकासनी रश्मियाँ जीवाणु-नाशक हैं और इसलिए कई चर्म-रोगों में वे लाभदायक होती हैं। इसके लिए ऐसे विद्युत्-लैंप बिकते हैं, जिनसे पराकासनी रश्मियाँ प्रचुर मात्रा में निकलती हैं। परंतु यहाँ एक चेतावनी दे देना आवश्यक है और वह यह कि पराकासनी रश्मियों से आँखें शीघ्र लाल हो जाती हैं और बाद में अन्य उपद्रव भी हो सकते हैं। इसलिए पराकासनी रश्मियों की विद्यमानता में आँखों पर ठढा (हरा) चश्मा लगा लेना चाहिए।

लाल रग से आगे की ओर भी ऐसी रश्मियाँ हैं, जो हमें दृष्टिगोचर नहीं हो पातीं। ये 'उपरक्त' (अग्रेजी में इन्फ्रा-रेड) रश्मियाँ कहलाती हैं। इनका तरग-दैर्घ्य लाल प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य से भी बड़ा होता है। वस्तुत. प्रकृति में प्रायः सभी तरग-दैर्घ्य की लहरें उठ सकती हैं, परंतु हमारी आँखें केवल बैंगनी से लाल रग तक की तरंगों से ही प्रभावित होती हैं। इनके छोटे और इनसे बड़े दोनों तरह के तरंग-दैर्घ्य वाली लहरें हमारी आँखों को दिखायी नहीं पड़तीं। छोटे तरग-दैर्घ्य की ओर तो पराकासनी है, परंतु उससे भी छोटे तरंग-दैर्घ्य की कुछ लहरें होती हैं। इन अति लघु तरंग-दैर्घ्यवाली लहरों में से एक समूह उन रश्मियों का है, जिन्हें 'एक्स-रे' कहते हैं। ये काठ, पत्थर, मांस आदि में उसी सुगमता से घुस सकती हैं, जैसे काँच या स्वच्छ जल में साधारण प्रकाश। परंतु धातुओं को ये सुगमता से नहीं पार कर सकतीं और हड्डियों का पार करना भी इनके लिए कठिन है। इसी कारण, जब फोटो की प्लेट पर हथेली रखकर ऊपर से एक्स-रश्मि उत्पन्न करनेवाली मशीन चालू कर दी जाती है तो हड्डियों की परछाहीं प्लेट पर उतर आती है और इस प्रकार (प्लेट को डेवलप करने पर) एक्स-रश्मि-फोटो तैयार हो जाता है। पराकासनी रश्मियों की तरह एक्स-रश्मियाँ भी अदृश्य हैं। केवल फोटो की प्लेट पर डालकर या ऐसे पदार्थ पर (जैसे बेरियम सल्फाइड पर), पड़ने देकर जो उनके पड़ने पर स्फुरित हो उठती हैं, उनका उपयोग किया जा सकता है।

उपरक्त और पराकासनी प्रकाश द्वारा लिये गए ज्योतिषिक फ़ोटो

ये शुक्र-ग्रह के फ़ोटो हैं। दाहिनी ओर के ऊपर-नीचे के दो फ़ोटो उपरक्त प्रकाश से और बाईं ओर के पराकासनी प्रकाश से लिये गए हैं। यद्यपि अभी इनसे कोई विशेष बातें ज्ञात नहीं हो पाई हैं फिर भी निस्संदेह भविष्य में इन प्रकाशों की सहायता से ज्योतिषिक ज्ञान-वृद्धि में काफ़ी सहायता मिल सकेगी।

वर्णपट के दूसरे छोर के बाद उपरक्त रश्मियाँ आती हैं, जिनका तरग-दैर्घ्य लाल प्रकाश के तरंग-दैर्घ्य से भी बड़ा होता है। बहुत दिनों तक वैज्ञानिक इनका रहना जानते तो थे, परतु उनका कोई उपयोग नहीं कर पाते थे। इधर कई वर्षों से ऐसी प्लेटें और फिल्में बनने और बिकने लगी हैं जो उपरक्त रश्मियों से विशेष रूप से प्रभावित होती हैं। साथ ही ऐसे भी विद्युत्-बल्ब बनने लगे हैं, जिनसे उपरक्त रश्मियों के अतिरिक्त और कोई रश्मियाँ नहीं निकलतीं। इन बल्बों और प्लेटों की सहायता से रात में पूरे अंधकार में फोटो खींचे जा सकते हैं। उपरक्त बल्बों के जलने पर कोई दृष्टिगोचर प्रकाश तो निकलता नहीं कि शिकार को पता चले कि उसका फोटो खींचा जा रहा है। इसलिए वे बेख़बर ही रह जाते हैं। इन बल्बों और प्लेटों के प्रयोग से तरह-तरह की चोरियाँ पकड़ी जा सकी हैं।

उपरक्त रश्मियों से भी अधिक लबे तरंग-दैर्घ्यवाली रश्मियाँ रेडियो द्वारा समाचार और गाना भेजने के काम में आती हैं।

उपरक्त-प्लेटों और फिल्मों से पूरा लाभ अभी ज्योतिष में नहीं उठाया जा सका है, क्योंकि समय कम मिला है। मार्ग में कई प्रकार की कठिनाइयाँ भी हैं। परंतु निस्संदेह भविष्य में हमारा ज्ञान इनके कारण और भी उच्च शिखर तक पहुँच सकेगा।

तड़ित्-चालक तथा विद्युत्-धारा

विद्युत्-शास्त्र के विकास के इतिहास में वेन्जमिन फ्रैंक्लिन के प्रयोग को विशेष महत्त्व प्राप्त है, क्योंकि इसी प्रयोग के आधार पर विद्युत् से लाभ उठाने के प्रथम साधन का आविष्कार हुआ। यह साधन था तड़ित्-चालक। वेन्जमिन फ्रैंक्लिन के प्रयोग ने यह तो निर्विवाद रूप से साबित कर ही दिया था कि आकाश की विजली भी ठीक प्रयोगशाला वाली घर्षण-विद्युत् की भाँति की है, अत घर्षण-विद्युत् के ही नियम आकाशीय विद्युत् में भी लागू होते हैं। फिर आकाशीय विद्युत् की कौंध दो विद्युत्मय वादलों के बीच विद्युत्-चिनगारी के गुज़रने से अथवा विद्युत्मय वादल से जब धरती में विद्युत् चिनगारी जाती है तब उत्पन्न होती है। साधारणत वायु में से होकर विद्युत् का प्रवाह नहीं हो पाता, किन्तु जब वादलों पर अत्यधिक विद्युत् एकत्रित हो जाती है तो उस दशा में धनात्मक विद्युत्-वाले वादल और निकटवर्त्ती ऋणात्मक विद्युत् के वादल के बीच की हवा की अवरोधक शक्ति विद्युत्-प्रवाह को रोकने में असमर्थ होती है और उसे फाड़कर विद्युत् एक बादल से दूसरे में चली जाती है। फलस्वरूप चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली रोशनी पैदा होती है। विजली की कौंध के समय कड़क की तेज़ आवाज़ इसलिए पैदा होती है कि जिस रास्ते कौंध जाती है वहाँ की हवा तप्त होकर फैल जाती है और उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए जब पास की हवा वहाँ अचानक दौड़कर पहुँचती है तो तेज आवाज उत्पन्न होती है। आकाशीय विद्युत् की चिनगारी कभी-कभी मीलों की लम्बाई तक पहुँचती है—कहते हैं, सबसे बृहत् कौंध की लम्बाई लगभग १० मील की आँकी गई है!

शहरों की विशाल इमारतों के सिरे पर आकाशीय विजली से रक्षा के लिए प्रायः लगाया जानेवाला साधारण त्रिशूलनुमा तड़ित्-चालक

तड़ित्-चालक एक धातु की छड़ या पत्ती से बना होता है, जो ऊँची इमारत की चोटी से नीचे नींव तक पहुँचती है। इस छड़ का नीचेवाला छोर गहराई में गीली भूमि में गाड़ दिया जाता है। ऊपर के सिरे में त्रिशूल की-सी नोक होती हैं। जिस समय कोई विद्युत्मय वादल उस इमारत के निकट आता है, त्रिशूल में प्रतिकूल जाति की विद्युत् उपपादन द्वारा उत्पन्न हो जाती है। यह विद्युत् विशेष रूप से त्रिशूल की नोक पर ही इकट्ठा हो जाती है, यहाँ तक कि नोक इस विद्युत् को सँभाल नहीं पाती और हवा उसे अपने साथ वहा ले जाती है। यही वादलों द्वारा आकृष्ट होकर उनसे जा लगती है, अत. वादल की विद्युत् को कुछ हद तक नष्ट करके बिजली गिरने की सम्भावना को कम कर देती है। यदि वादल में विद्युत् अत्यधिक मात्रा में हुई तो सम्भवतः उस की विद्युत् इमारत पर गिरेगी, किन्तु इमारत पर टूट पड़ने के बजाय वह धातु की छड़ से होती हुई

सीधी पृथ्वी में चली जायगी। इस प्रकार इमारत को विद्युत् के गिरने से किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँच सकती।

पहले धारणा की जाती थी कि तड़ित्-चालक के लिए ताँबे की छड़ का ही प्रयोग करना चाहिए। किन्तु लोहे का तड़ित्-चालक भी उतना ही सफल होता है और इसके उपयोग में ख़र्च भी कम बैठता है। छड़ के स्थान पर धातु की पत्ती का प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है। तड़ित्-चालक को इमारत की दीवाल से छुआते हुए नहीं ले जाना चाहिए, बल्कि लकड़ी के गिट्टक या चीनी मिट्टी के टुकडे लगाकर इसे दीवाल से अलग रखना चाहिए। अगर यह सावधानी वरती जाय तो तड़ित्-चालक से इमारत के भीतर कमरों में रक्खी हुई धातु की चीज़ों में विजली नहीं जा सकती। इमारत से सलग्न वाहर की धातु की चीज़ों (पानी के नल या नाली में जानेवाले पाइप आदि) को एक तार द्वारा आपस में सम्बद्ध करके तार को अलग से ज़मीन में गाड़ देना चाहिए, और उसे तड़ित्-चालक से छुलाना नहीं चाहिए। तड़ित्-चालक के लिए तार का एक ही लम्बा टुकड़ा लेना चाहिए, वीच में उसमें कहीं जोड़ नहीं होना चाहिए।

अमेरिका में, जहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ अधिक सख्या में पाई जाती हैं, तड़ित्-चालक के सिद्धान्त के बारे में अनेक नवीन तथ्यों की जानकारी प्राप्त की गई है। उदाहरण के लिए, अकेली एक गगनचुम्बी इमारत (स्काईस्क्रेपर) अपने पास-पड़ोस की अनेक छोटी-छोटी इमारतों को अनायास ही आकाशीय विद्युत् के कोप से बचाती है। अवश्य ही उस इमारत में तड़ित्-चालक लगा होना चाहिए। ५०० फीट ऊँचा तड़ित्-चालक अपने आस-पास के १३०० फीट व्यास के वृत्त में स्थित अन्य इमारतों की आकाशीय विद्युत् से रक्षा कर सकता है। न्यूयार्क-स्थित एम्पायर स्टेट विल्डिङ्ग का तड़ित्-चालक २००० फीट व्यास के घेरे में स्थित इमारतों की रक्षा के लिए काफी है।

अभी तक हम केवल घर्षण-विद्युत् के गुणों की ही व्याख्या करते रहे हैं, किन्तु हमारे दैनिक जीवन में एक और प्रकार की विद्युत्-धारा में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्—का भी प्रयोग होता है। धारावाली विजली बैटरी या सेल से उत्पन्न की जाती है। सेल के सिद्धान्त

(बाईं ओर) पेरिस की सुप्रसिद्ध 'ईफिल टॉवर' नामक नौ सौ फ़ीट ऊँची मीनार चूँकि सारी लोहे की बनी है, अतएव वह एक विशाल तड़ित्-चालक का ही काम देती है।

की खोज का इतिहास भी अतीव मनोरंजक है। एक बार इटली का एक जीव-वैज्ञानिक गैल्वनी मेंढक की चीर-फाड़ कर रहा था। इस प्रयोग में संयोगवश उसने तुरन्त के मारे गए एक मेंढक की टाँग के दोनों सिरों को एक ही साथ ताँबे और जस्ते के टुकड़ों से छू दिया। बस, वैसे ही उस मृत मेंढक की टाँग के स्नायुओं में फौरन् ही एक फड़कन पैदा हुई! इससे उसने निष्कर्ष निकाला कि अवश्य ही कोई नई शक्ति मृत मेंढक की टाँग में गति उत्पन्न करती है। उसने सोचा कि मेंढक की टाँग में यह शक्ति बिजली के रूप में पहले से ही मौजूद थी; केवल धातु के सम्पर्क से वह चालू हो गई होगी। अत उसने इसे जीव-विद्युत् (Animal Electricity) का नाम दिया।

अंत में भौतिक विज्ञान के सुविख्यात इटैलियन प्रोफ़ेसर वोल्टा ने इस बात के रहस्य का पता लगाया। कई प्रयोगों के आधार पर उसने यह दिखलाया कि इन दो विभिन्न धातुओं में आर्द्रता के कारण विद्युत् उत्पन्न होती है। इसके लिए सन् १८०० ई० में उसने ताँबे और जस्ते की चकरियों को एक के ऊपर दूसरा इस तरह सजाया कि ताँबे के ऊपर जस्ते की चकरी और फिर ताँबे की चकरी के नीचे फलालैन या काग़ज़ का नन्हा-सा टुकड़ा रक्खा जो नमक के घोल में भीगा था। इसी तरह इसके नीचे फिर जस्ते और ताँबे की चकरियाँ और तब फलालैन के टुकड़े रक्खे। इसी क्रम से उसने कई जोड़े चकरियों का एक स्तम्भ-सा तैय्यार किया, जो आज "वोल्टाइक पाइल" के नाम से मशहूर है। इस स्तंभ में विद्युत्-शक्ति इतने अधिक परिमाण में उत्पन्न हुई कि गीली उँगलियों से ऊपर और नीचे की चकरियों को छूते ही स्पष्ट धक्का (Shock) लगा तथा दोनों छोर से सम्बद्ध तार को पास लाने पर विद्युत्-चिनगारी भी उत्पन्न हुई। ह्विमशर्स्ट मशीन की घर्षण-विद्युत् में भी ये दोनों गुण मौजूद थे, अत. वोल्टा के पाइल की शक्ति को भी विद्युत् का ही नाम दिया गया। इसमें विद्युत् का प्रवाह देर तक जारी रहता है, और वह प्रवाह धारा के रूप में होता है। स्तभ के अन्दर विद्युत्-शक्ति का निर्माण लगातार होता रहता है।

इसके बाद वोल्टा ने दिखलाया कि यदि काँच के एक बर्त्तन में हलका गन्धक का तेज़ाब रक्खा जाय और उसमें

(दाहिनी ओर) कितने फ़ीट ऊँची इमारत अपने ऊपर लगे तड़ित्-चालक द्वारा कितने फ़ीट के घेरे में आस-पास की इमारतों की आकाशीय विद्युत् से रक्षा करती है, यह इस चित्र में दिग्दर्शित है।

सीधी पृथ्वी में चली जायगी। इस प्रकार इमारत को विद्युत् के गिरने से किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँच सकती।

पहले धारणा की जाती थी कि तड़ित्-चालक के लिए ताँबे की छड़ का ही प्रयोग करना चाहिए। किन्तु लोहे का तड़ित्-चालक भी उतना ही सफल होता है और इसके उपयोग में ख़र्च भी कम बैठता है। छड़ के स्थान पर धातु की पत्ती का प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है। तड़ित्-चालक को इमारत की दीवाल से छुआते हुए नहीं ले जाना चाहिए, बल्कि लकड़ी के गिट्टक या चीनी मिट्टी के टुकड़े लगाकर इसे दीवाल से अलग रखना चाहिए। अगर यह सावधानी बरती जाय तो तड़ित्-चालक से इमारत के भीतर कमरों में रक्खी हुई धातु की चीज़ों में बिजली नहीं जा सकती। इमारत से संलग्न बाहर की धातु की चीज़ों (पानी के नल या नाली में जानेवाले पाइप आदि) को एक तार द्वारा आपस में सम्बद्ध करके तार को अलग से ज़मीन में गाड़ देना चाहिए, और उसे तड़ित्-चालक से छुलाना नहीं चाहिए। तड़ित्-चालक के लिए तार का एक ही लम्बा टुकड़ा लेना चाहिए, बीच में उसमें कहीं जोड़ नहीं होना चाहिए।

अमेरिका में, जहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ अधिक सख्या में पाई जाती हैं, तड़ित्-चालक के सिद्धान्त के बारे में अनेक नवीन तथ्यों की जानकारी प्राप्त की गई है। उदाहरण के लिए, अकेली एक गगनचुम्बी इमारत (स्काईस्क्रेपर) अपने पास-पड़ोस की अनेक छोटी-छोटी इमारतों को अनायास ही आकाशीय विद्युत् के कोप से बचाती है। अवश्य ही उस इमारत में तड़ित्-चालक लगा होना चाहिए। ५०० फीट ऊँचा तड़ित्-चालक अपने आस-पास के १३०० फीट व्यास के वृत्त में स्थित अन्य इमारतों की आकाशीय विद्युत् से रक्षा कर सकता है। न्यूयार्क-स्थित एम्पायर स्टेट बिल्डिङ्ग का तड़ित्-चालक २००० फ़ीट व्यास के घेरे में स्थित इमारतों की रक्षा के लिए काफी है।

अभी तक हम केवल घर्षण-विद्युत् के गुणों की ही व्याख्या करते रहे हैं, किन्तु हमारे दैनिक जीवन में एक और प्रकार की विद्युत्-धारा में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्—का भी प्रयोग होता है। धारावाली बिजली बैटरी या सेल से उत्पन्न की जाती है। सेल के सिद्धान्त

(बाईं ओर) पेरिस की सुप्रसिद्ध 'ईफिल टॉवर' नामक नौ सौ फ़ीट ऊँची मीनार चूँकि सारी लोहे की बनी है, अतएव वह एक विशाल तड़ित्-चालक का ही काम देती है।

की खोज का इतिहास भी अतीव मनोरंजक है। एक बार इटली का एक जीव-वैज्ञानिक गैल्वनी मेंढक की चीर-फाड़ कर रहा था। इस प्रयोग में संयोगवश उसने तुरन्त के मारे गए एक मेंढक की टाँग के दोनों सिरों को एक ही साथ ताँबे और जस्ते के टुकड़ों से छू दिया। बस, वैसे ही उस मृत मेंढक की टाँग के स्नायुओं में फौरन् ही एक फड़कन पैदा हुई। इससे उसने निष्कर्ष निकाला कि अवश्य ही कोई नई शक्ति मृत मेंढक की टाँग में गति उत्पन्न करती है। उसने सोचा कि मेंढक की टाँग में यह शक्ति बिजली के रूप में पहले से ही मौजूद थी; केवल धातु के सम्पर्क से वह चालू हो गई होगी। अत उसने इसे जीव-विद्युत् (Animal Electricity) का नाम दिया।

अन्त में भौतिक विज्ञान के सुविख्यात इटैलियन प्रोफेसर वोल्टा ने इस बात के रहस्य का पता लगाया। कई प्रयोगों के आधार पर उसने यह दिखलाया कि इन दो विभिन्न धातुओं में आर्द्रता के कारण विद्युत् उत्पन्न होती है। इसके लिए सन् १८०० ई० में उसने ताँबे और जस्ते की चकरियों को एक के ऊपर दूसरा इस तरह सजाया कि ताँबे के ऊपर जस्ते की चकरी और फिर ताँबे की चकरी के नीचे फलालैन या काग़ज़ का नन्हा-सा टुकड़ा रक्खा जो नमक के घोल में भीगा था। इसी तरह इसके नीचे फिर जस्ते और ताँबे की चकरियाँ और तब फ़लालैन के टुकड़े रक्खे। इसी क्रम से उसने कई जोड़े चकरियों का एक स्तम्भ-सा तैय्यार किया, जो आज "वोल्टाइक पाइल" के नाम से मशहूर है। इस स्तभ में विद्युत्-शक्ति इतने अधिक परिमाण में उत्पन्न हुई कि गीली उँगलियों से ऊपर और नीचे की चकरियों को छूते ही स्पष्ट धक्का (Shock) लगा तथा दोनों छोर से सम्बद्ध तार को पास लाने पर विद्युत्-चिनगारी भी उत्पन्न हुई। ह्विमशर्स्ट मशीन की घर्षण-विद्युत् में भी ये दोनों गुण मौजूद थे, अत वोल्टा के पाइल की शक्ति को भी विद्युत् का ही नाम दिया गया। इसमें विद्युत् का प्रवाह देर तक जारी रहता है, और वह प्रवाह धारा के रूप में होता है। स्तभ के अन्दर विद्युत्-शक्ति का निर्माण लगातार होता रहता है।

इसके बाद वोल्टा ने दिखलाया कि यदि काँच के एक बर्त्तन में हलका गन्धक का तेज़ाब रक्खा जाय और उसमें

(दाहिनी ओर) कितने फ़ीट ऊँची इमारत अपने ऊपर लगे तड़ित्-चालक द्वारा कितने फ़ीट के घेरे में आस-पास की इमारतों की आकाशीय विद्युत् से रक्षा करती है, यह इस चित्र में दिग्दर्शित है।

ताँबे की एक प्लेट एक जस्ते की प्लेट के सामने कुछ फ़ासले पर खड़ी कर दी जाय और बाहर से धातु के तार द्वारा एक प्लेट को दूसरी से जोड़ दिया जाय तो तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है। ताँबे की प्लेट पर धनात्मक विद्युत् रहती है तथा जस्ते की प्लेट पर ऋणात्मक। अतः हम कहते हैं कि बर्त्तन के बाहर के तार में ताँबे से जस्ते की ओर विद्युत्-धारा का प्रवाह होता है। बर्त्तन के अन्दर तेज़ाब में यह धारा जस्ते से ताँबे की प्लेट तक जाती है। इस प्रकार एक पूरा चक्कर बन जाता है। इस चक्कर को 'सर्किट' कहते हैं। विद्युत्-धारा का प्रवाह केवल उसी समय होता है जब सर्किट का घेरा विद्युत्-संचालकों द्वारा पूरा हो जाता है। वोल्टा के नाम पर इस उपकरण को 'वोल्टा के सेल' के नाम से पुकारते हैं।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि विद्युत्धारा सेल के अन्दर उत्पन्न कैसे होती है? वास्तव में सेल में रासायनिक क्रिया सर्किट पूरा होने पर होती है और इसी से रासायनिक शक्ति विद्युत्-शक्ति में परिणत हो जाती है। इस क्रिया में जस्ते का परमाणु तेजाब के गन्धक और ऑक्सिजन के परमाणुओं के साथ सयोग करता है और हाइड्रोजन मुक्त हो जाती है। यह हाइड्रोजन बगलवाले तेज़ाब के अणु के गन्धक और ऑक्सिजन परमाणुओं के साथ सयोग करती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि उस शृंखला के अन्तिम अणु भी काम नहीं आ जाते। अन्तिम अणु से मुक्त हुई हाइड्रोजन ताँबे की प्लेट पर इकट्ठा हो जाती है। इस क्रिया में जस्ता धीरे-धीरे ख़त्म होता जाता है, और इसी से सेल और तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित करने के लिए शक्ति प्राप्त होती है।
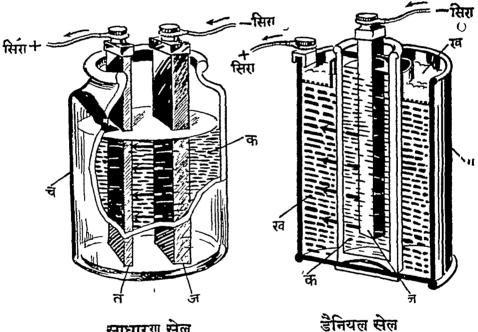
साधारण सेल डैनियल सेल

क = हल्का गंधक का तेज़ाब ; ख = नीला तूतिया का घोल ; ग = ताँबे का पात्र ; च = काँच का पात्र ; ज = जस्ते की छड़ ; त = ताँबे की छड़।

(विशेष विवरण के लिए इस और अगले पृष्ठ का मैटर पढ़िए)

साधारण सेल में सिद्धान्ततः जब तक सर्किट पूरा न हो तब तक जस्ते और तेजाब में रासायनिक क्रिया नहीं होनी चाहिए, किन्तु मामूली जस्ते में अन्य धातुएँ मिली रहती हैं, अत सर्किट न पूरा होने पर भी जस्ता तेज़ाब में घुलकर नष्ट होता रहता है। यह वाञ्छनीय नहीं है। इस बात को रोकने के लिए जस्ते पर पारे का लेप चढ़ा देते हैं। साधारण सेल में एक और अवगुण पाया जाता है। ताँबे की प्लेट के पास जो हाइड्रोजन मुक्त होती है, वह उस प्लेट पर इकट्ठी हो जाती है और इस तरह तेज़ाब और ताँबे का सम्पर्क कुछ अंशों में रुक जाता है। अत सेल की विद्युत् धारा कमज़ोर पड़ जाती है। फिर प्लेट की हाइड्रोजन तेज़ाब में से मुक्त हुई हाइड्रोजन के अन्य परमाणुओं को अपनी ओर आने से रोकती है, क्योंकि दोनों ही पर धनात्मक विद्युत् आरूढ़ रहती है। इस कारण भी सेल की विद्युत्-धारा कमज़ोर पड़ जाती है। इस अवगुण को 'पोलराइजेशन' का नाम दिया गया है। पोलराइज़ेशन दूर करने के लिए सेल के अन्दर इस बात का प्रबन्ध करना पड़ता है कि धनात्मक प्लेट पर आनेवाली हाइड्रोजन का जल्दी ही ऑक्सिजन के साथ रासायनिक संयोग कराकर उसे पानी में परिणत कर दें।

पोलराइज़ेशन को दूर करने के प्रयत्न में विभिन्न जाति के 'प्राइमरी सेलों' का निर्माण हुआ है। इनमें लेक्लैंची, डैनियल तथा बाइक्रोमेट नामक सेल विशेष उल्लेखनीय हैं।

लेक्लैंशी सेल अक्सर काँच के चौड़े मुँह के एक बर्त्तन में बनाई जाती है—इस बर्त्तन में नौसादर का गाढ़ा घोल रहता है और उसमें एक ओर पारे की लेप चढ़ी हुई जस्ते की छड़ होती है। इस घोल में रन्ध्रमय चीनी मिट्टी का एक गिलास रक्खा होता है, और उस गिलास में कार्बन का चूर्ण तथा मैंगैनीज़-डाइ-ऑक्साइड का मिश्रण भरा रहता है तथा इसी मिश्रण में कार्बन की एक मज़बूत छड़ प्रविष्ट रहती है। इस सेल की धनात्मक प्लेट कार्बन की छड़ और ऋणात्मक जस्ते की छड़ होती है। सर्किट पूरा करने पर विद्युत्-धारा का प्रवाह कार्बन से जस्ते की छड़ की ओर होता है। इस सेल में हाइड्रोजन, जो कार्बन के पास मुक्त होती है, मैंगैनीज़-डाइ-ऑक्साइड के साथ रासायनिक क्रिया उत्पन्न कर पानी में परिवर्त्तित हो जाती है। किन्तु यह क्रिया धीरे-धीरे सम्पादित होती है, अत. यदि देर तक लेक्लैंशी सेल से विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है तो 'पोलराइज़ेशन' जल्दी दूर नहीं होने पाता और सेल की धारा कमज़ोर हो जाती है। इसी कारण लेक्लैंशी सेल का उपयोग ऐसे कामों के लिए प्राय: किया जाता है, जिनमें देर तक विद्युत्-धारा लगातार प्रवाहित नहीं होती, जैसे घण्टी बजानेवाले विद्युत-यंत्र में या टार्च में या टेलीफोन में। थोड़ी देर तक विद्युत् धारा के प्रवाहित होने के बाद सेल को इतना काफी समय मिल जाना चाहिए कि कार्बन पर एकत्रित हुई हाइड्रोजन मैंगैनीज़-डाइ-ऑक्साइड के साथ रासायनिक क्रिया करके पानी बन जाय। इस लेक्लैंशी सेल से काफ़ी तेज़ विद्युत्-धारा प्राप्त होती है।
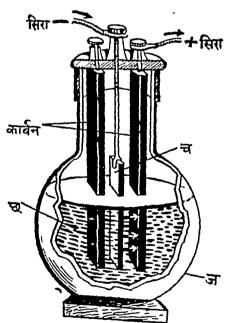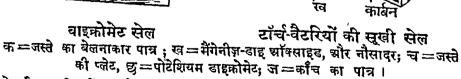
लेक्लैंची सेल

क=काँच का पात्र; ख=नौसादर; ग=मैंगैनीज़-डाइ-ऑक्साइड; घ=विद्युत्-प्रवाह; ज=जस्ता

बाइक्रोमेट सेल **टॉर्च-बैटरियों की सूखी सेल**

क=जस्ते का बेलनाकार पात्र; ख=मैंगैनीज़-डाइ ऑक्साइड, और नौसादर; च=जस्ते की प्लेट, छ=पोटेशियम डाइक्रोमेट; ज=काँच का पात्र।

डैनिएल सेल में एक चौड़े मुँह का ताँबे का बर्त्तन रहता है, जिसमें रन्ध्रमय चीनी मिट्टी का एक गिलास रक्खा होता है। ताँबे के बर्त्तन में नीला तूतिया का गाढ़ा घोल भरा रहता है तथा चीनी मिट्टी के गिलास में हल्का गन्धक का तेज़ाब। इस तेज़ाब में एक जस्ते की छड़ पड़ी रहती है। ताँबे के बर्त्तन में ही स्क्रू लगा रहता है। यह धनात्मक प्लेट का काम करता है और जस्ते की छड़ ऋणात्मक प्लेट का। जस्ते और तेज़ाब

के संयोग से उत्पन्न हुई हाइड्रोजन चीनी मिट्टी के छिद्र में से होकर बाहर आती है और, वह बजाय ताँबे पर एकत्रित होने के तूतिए पर रासायनिक क्रिया करके गन्धक का तेज़ाब बनाती है और ताँबा मुक्त करती है, जो बर्त्तन की दीवाल पर जम जाता है। इस प्रकार पोलराइज़ेशन होने ही नहीं पाता। इसी कारण डैनिएल सेल की विद्युत्-धारा की शक्ति देर तक एक-सी बनी रहती है। टेलिग्राफ-यन्त्रों के लिए इसी सेल का प्रयोग किया जाता है। अवश्य ही इस सेल की विद्युत्-धारा उतनी तेज़ नहीं होती जितनी लैक्लैंची सेल की। बाइक्रोमेट सेल में एक काँच की बोतल में पोटैशियम बाइक्रोमेट का संपृक्त घोल रहता है, जिसमें १० प्रतिशत गन्धक का तेज़ाब मिला रहता है। इस घोल में दो कार्बन की प्लेटें तथा उनके बीच में एक जस्ते की प्लेट लगी रहती है। जस्ते और तेज़ाब से उत्पन्न हुई हाइड्रोजन को पोटैशियम डाइक्रोमेट पानी में बदल देता है। इस सेल में इस बात का प्रबन्ध रहता है कि जब विद्युत्-धारा न चाहिए उस वक्त जस्ते की प्लेट को ऊँचा उठा घोल से बाहर कर दें ताकि व्यर्थ जस्ता घुलता न रहे।

टार्च में प्रयुक्त होनेवाली सेल वास्तव में लेक्लैन्ची जाति की होती है, किन्तु इसे सूखी बनाते हैं ताकि आसानी से इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जा सकें। सूखी सेल में एक बेलनाकार जस्ते का घेरा रहता है, जिस पर एक दफ़्ती का टुकड़ा बग़ल में लिपटा रहता है, किन्तु ऊपर और नीचे की जगह खुली रहती है। जस्ते के घेरे में मैंगैनीज़-डाइ-आक्साइड, कार्बन के चूर्ण और नौसादर का गाढ़ा-गाढ़ा लेप भरा रहता है। इस लेप में कार्बन की एक छड़ खड़ी रहती है। इस छड़ के ऊपरी भाग पर पीतल की बटन लगी होती है, जो धनात्मक छोर का काम देती है। सेल के ऊपरी हिस्से को कोलतार से बन्द कर देते हैं ताकि भीतर की नमी सूखने न पाए। सेल के पेंदे का जस्ता इसका ऋणात्मक छोर होता है।

वोल्टाइक पाइल
(त=ताँबा; ज=जस्ता; प=काग़ज़।
(विवरण के लिए देखो पृ० २८३७का मैटर।)

अधिक शक्तिशाली विद्युत्-धारा के लिए कई सेलों को 'सीरीज़' में या 'समानांतर' एक साथ जोड़कर बैटरी बना लेते हैं। सीरीज़ में जोड़ने के लिए सेलों को एक पंक्ति में क्रम से रखकर पहले की ऋणात्मक प्लेट को दूसरे की धनात्मक प्लेट से और दूसरे की ऋणात्मक प्लेट को तीसरे की धनात्मक से—इसी क्रम से तार द्वारा जोड़ देते हैं। यदि सर्किट के बाह्य भाग की अवरोधक शक्ति कम हो तो सेल को 'समानान्तर' में जोड़ने से अधिक तेज़ विद्युत्-धारा सर्किट में से प्रवाहित होती है। समानान्तर में जोड़ने के लिए सभी सेलों की धनात्मक प्लेटों को तार द्वारा एक विन्दु पर जोड़ते हैं तथा सभी ऋणात्मक प्लेटों को दूसरे पर।

'सीरीज़' और 'समानान्तर' में जुड़ी सेलों की बैटरी—(ज=जस्ता; त और ८=ताँबा।)

हाइड्रोकार्बन

कार्बन और हाइड्रोजन के रासायनिक योग से बने हुए—मिट्टी का तेल, पेट्रोल, मोम आदि—विविध पदार्थों की रासायनिक कहानी

मिट्टी का तेल, पेट्रोल, मोम, वैसलीन, नैफ्थलीन, तारपीन का तेल आदि पदार्थ हमारे दैनिक व्यवहार की साधारण वस्तुएँ हैं। क्या आपको मालूम है कि ये सारे पदार्थ दो तत्त्वों अर्थात् हाइड्रोजन और कार्बन के रासायनिक सयोग से बने होते हैं? इन दोनों तत्त्वों के विषय मे अलग-अलग अध्यायों में पहले लिखा जा चुका है—आप जानते ही हैं कि ये दोनों दहनशील होते हैं; अतएव इन दोनों के यौगिकों को, जिन्हें 'हाइड्रोकार्बन' कहते हैं, दहनशील होना ही चाहिए। जब ये पदार्थ हवा अथवा ऑक्सिजन में पूर्णत जलते हैं, तो इनका कार्बन कार्बन डाइऑक्साइड मे और हाइड्रोजन तत्त्व पानी मे परिणत हो जाता है, और इन दोनों परिवर्त्तनो में रासायनिक शक्ति का काफी बड़ा परिमाण ताप के रूप में प्रकट होता है। हमारे आजकल के नागरिक अथवा सैनिक जीवन मे पेट्रोल और मिट्टी का तेल तरल ईंधनों के रूप मे कितना महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, इसका अनुमान आप स्वय कर सकते हैं।

विभिन्न प्रकार के हाइड्रोकार्बन

हाइड्रोकार्बनों का वर्गीकरण हम नीचे दी हुई सारिणी के अनुसार कर सकते हैं (दे० पृ० २६७२ भी)। पैराफिन अथवा सतृप्त हाइड्रोकार्बन हमारे व्यवहार में सबसे अधिक आते हैं—मिट्टी का तेल (केरोसीन), पेट्रोल, चिकनानेवाले तेल (ल्यूब्रिकेटिंग आयल), वैसलीन और पैराफिन मोम इन्हीं हाइड्रोकार्बनों के मिश्रण-मात्र होते हैं। कोयले की खानों में निकलकर हवा के साथ विस्फोटक मिश्रण बना देनेवाली और दल-दलों आदि में कार्बनिक द्रव्यों के सड़ने से उत्पन्न होने-वाली गैस मिथेन पैराफिन श्रेणी की प्रथम सदस्य है। इसे वसीय यौगिकों का पितृ-हाइड्रोकार्बन कहते हैं, कारण ये यौगिक इसी से निकले हुए समझे जा सकते हैं। पैराफिन शब्द लैटिन के दो शब्दों की सधि से बना हुआ है—पैरम = बहुत थोड़ा, और ऐफिनिस = सबध रखनेवाला; अत. पैराफिन शब्द का अर्थ हुआ ऐसे पदार्थ, जो दूसरे पदार्थों के साथ रासायनिक प्रतिक्रिया न प्रदर्शित

सारिणी नं० १
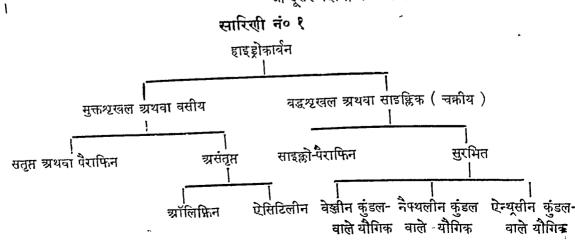
करते हों। बात भी यही है। ऑक्सिजन और हैलोजन तत्त्वों के अलावा इन हाइड्रोकार्बनों पर अन्य पदार्थों, यहाँ तक कि नाइट्रिक ऐसिड, पोटेशियम परमैङ्गनेट, कास्टिक पोटाश, आदि अत्यंत क्रियाशील रासायनिक द्रव्यों तक की भी क्रिया नहीं होती। इन हाइड्रोकार्बनों को सतृप्त इसलिए कहा जाता है कि इनमें प्रत्येक कार्बन परमाणु की चारों संयोजन-शक्तियाँ हाइड्रोजन अथवा अन्य कार्बन परमाणुओं के योग से पूर्णत परितुष्ट रहती हैं। पृष्ठ २८४२-४३ पर दिग्दर्शित सारिणी में दिए हुए इन हाइड्रोकार्बनों के चित्रसूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है।

सारिणी नं० २

क्रम-संख्या	नाम	सूत्र	चित्रसूत्र*	अवस्था
१	मिथेन	CH_4	$\begin{array}{ccc} & H & \\ & \mid & \\ H- & C & -H \\ & \mid & \\ & H & \end{array}$	गैस
२	इथेन	C_2H_6	$\begin{array}{cccc} & H & H & \\ & \mid & \mid & \\ H- & C- & C & -H \\ & \mid & \mid & \\ & H & H & \end{array}$	”
३	प्रोपेन	C_3H_8	$\begin{array}{ccccc} & H & H & H & \\ & \mid & \mid & \mid & \\ H- & C- & C- & C & -H \\ & \mid & \mid & \mid & \\ & H & H & H & \end{array}$	”
४	ब्यूटेन	C_4H_{10}	$\begin{array}{cccccc} & H & H & H & H & \\ & \mid & \mid & \mid & \mid & \\ H- & C- & C- & C- & C & -H \\ & \mid & \mid & \mid & \mid & \\ & H & H & H & H & \end{array}$	”
५	पेण्टेन	C_5H_{12}	$\begin{array}{ccccccc} & H & H & H & H & H & \\ & \mid & \mid & \mid & \mid & \mid & \\ H- & C- & C- & C- & C- & C & -H \\ & \mid & \mid & \mid & \mid & \mid & \\ & H & H & H & H & H & \end{array}$	द्रव
६	हेक्सेन	C_6H_{14}	$\begin{array}{cccccccc} & H & H & H & H & H & H & \\ & \mid & \mid & \mid & \mid & \mid & \mid & \\ H- & C- & C- & C- & C- & C- & C & -H \\ & \mid & \mid & \mid & \mid & \mid & \mid & \\ & H & H & H & H & H & H & \end{array}$	”

* यहाँ केवल सामान्य हाइड्रोकार्बनों के ही चित्रसूत्र दिए गए हैं। ब्यूटेन और इससे आगे के हाइड्रोकार्बनों के चित्रसूत्र अन्य बनावटों के भी हो सकते हैं। ऐसे यौगिक को जिनके अणुसूत्र वही हों किन्तु चित्रसूत्र और गुण भिन्न हों समावयवी (आइसोमर) कहते हैं।

७	हेप्टेन	C_7H_{16}	H H H H H H H | | | | | | | H–C–C–C–C–C–C–C–H | | | | | | | H H H H H H H	द्रव
८	आक्टेन	C_8H_{18}	H H H H H H H H | | | | | | | | H–C–C–C–C–C–C–C–C–H | | | | | | | | H H H H H H H H	,,
९	नोनेन	C_9H_{20}	H H H H H H H H H | | | | | | | | | H–C–C–C–C–C–C–C–C–C–H | | | | | | | | | H H H H H H H H H	,,
१०	डेकेन	$C_{10}H_{22}$	H H H H H H H H H H | | | | | | | | | | H–C–C–C–C–C–C–C–C–C–C–H | | | | | | | | | | H H H H H H H H H H	,,

आदि

इस सारिणी के अध्ययन से आपको कई मनोरंजक बातों का ज्ञान होगा। पाँचवें हाइड्रोकार्बन से इन हाइड्रोकार्बनों का नामकरण उनके अणु में कार्बन परमाणुओं की संख्या पर होता है। पेण्टा का अर्थ पाँच है, इसलिए पाँचवें हाइड्रोकार्बन का नाम पेण्टेन पड़ा, हेक्सा का अर्थ छः है, इसलिए छठे का नाम हेक्सेन रक्खा गया, आदि। इन हाइड्रोकार्बनों के अणुओं में कार्बन परमाणुओं की संख्या एक-एक करके और हाइड्रोजन के परमाणुओं की संख्या दो-दो करके बढ़ती चली जाती है। चित्रसूत्रों से आपको यह विदित हो जायगा कि कार्बन की लड़ियों में एक और कार्बन परमाणु के जुड़ जाने से इस कार्बन परमाणु की दो मुक्त संयोजक-शक्तियों की तृप्ति के लिए दो हाइड्रोजन परमाणुओं का बढ़ना भी आवश्यक हो जाता है। ऐसे कार्बनिक यौगिकों की श्रेणी को, जिनके क्रमागत सदस्यों में इस प्रकार एक कार्बन और दो हाइड्रोजन परमाणुओं का अंतर रहता है, समश्रेणी कहते हैं। ऐसी श्रेणियों के यौगिकों के गुणों में या तो समता रहती है, अथवा क्रमानुसार परिवर्त्तन पाया जाता है। सारे कार्बनिक यौगिक इसी प्रकार की समश्रेणियों अथवा उनके सदस्यों से उत्पन्न अन्य पदार्थों में विभक्त कर दिए गए हैं, और इसलिए कार्बनिक यौगिकों की इतनी बड़ी संख्या का अध्ययन बहुत ही अधिक क्रमबद्ध एवं सरल हो गया है। इन हाइड्रोकार्बनों के सूत्रों से आपको यह भी ज्ञात होगा कि इनमें से प्रत्येक के अणु में हाइड्रोजन के परमाणुओं की संख्या कार्बन के परमाणुओं की संख्या के दुगुने से दो अधिक होती है। इसलिए इस समश्रेणी का बीज-सूत्र C_nH_{2n+2} लिखा जाता है। प्रथम चार हाइड्रोकार्बन गैसीय होते हैं, इसके बादवाले बारह हाइड्रोकार्बन द्रव और शेष सब ठोस होते हैं। मोम में, जो ठोस होता है, तेईसवें ($C_{23}H_{48}$) से लेकर अट्ठाइसवें ($C_{28}H_{58}$) हाइड्रोकार्बन तक रहते हैं। सबसे बड़ा पैराफिन हाइड्रोकार्बन, जो अब तक तैयार किया जा सका है, $C_{94}H_{190}$ है। गैसीय और द्रव पैराफिन रंगहीन होते हैं, और ठोस पैराफिन या तो रंगहीन या सफेद होते हैं। जैसे-जैसे हम पैराफिनों की सारिणी के नीचे उतरते हैं, उनके द्रवण और उबाल-विन्दु बढ़ते जाते हैं। इनका भारीपन भी बढ़ता जाता है, लेकिन घनत्व बहुत कम बढ़ता है—ग्यारहवें का आपेक्षिक घनत्व ०.७७४ और बीसवें का ०.७७८ होता है। पानी से

ये सभी हाइड्रोकार्बन हलके होते हैं, और उसमें घुलते नहीं। आप जानते हैं कि मोम, मिट्टी का तेल, आदि इन पैराफिनों के पदार्थ पानी पर उतराते हैं। पैराफिन जितना हलका होता है, उतनी ही प्रबलता से आग पकड़ने और जलनेवाला होता है। गैसीय पैराफिनों और पेट्रोल के कम उबाल-विंदु वाले अर्थात् वाष्पशील पैराफिनों और हवा का मिश्रण चिनगारी द्वारा विस्फुटित हो जाता है। पेट्रोल के इसी विस्फोट से उत्पन्न शक्ति मोटरगाड़ियों, वायुयानों आदि को चलाती है।

पैराफिन हाइड्रोकार्बनों पर क्लोरिन अथवा ब्रोमिन की क्रिया सीधे सयोग द्वारा नहीं होती, कारण उनके प्रत्येक कार्बन-परमाणु की चारों सयोजन-शक्तियाँ हाईड्रोजन परमाणुओं के सयोग से तृप्त रहती हैं। ये हैलोजन तत्त्व हाइड्रोजन से अधिक क्रियाशील होते हैं, अतएव वे एक या अधिक हाइड्रोजन परमाणुओं को हटाकर उनके स्थान में बैठ जाते हैं, और ये हटे हुए हाइड्रोजन परमाणु इन हैलोजन तत्त्वों के परमाणुओं से संयुक्त होकर हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड गैस अथवा हाइड्रोब्रोमिक ऐसिड गैस मे परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार क्लोरिन की प्रतिक्रिया द्वारा मिथेन से चार यौगिक बनते हैं—मेथिल क्लोराइड, मेथिलीन क्लोराइड, क्लोरोफार्म और कार्बन टेट्राक्लोराइड—

$$CH_4 + Cl_2 = CH_3Cl + HCl$$
$$CH_3Cl + Cl_2 = CH_2Cl_2 + HCl$$
$$CH_2Cl_2 + Cl_2 = CHCl_3 + HCl$$
$$CHCl_3 + Cl_2 = CCl_4 + HCl$$

हाँ, ये क्रियाएँ अँधेरे में नहीं होतीं, इनके लिए सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति आवश्यक है। लेकिन, इस प्रकार पैराफिनों पर क्लोरिन की क्रिया द्वारा क्लोरोफार्म ($CHCl_3$), आदि पदार्थों का निर्माण नहीं किया जाता, कारण किन्हीं भी निश्चित दशाओं में एक ही पदार्थ नहीं, प्रत्युत् विभिन्न क्लोरिन के यौगिकों का मिश्रण बनता है।

जिन हाइड्रोकार्बनों मे कार्बन की चारों सयोजन-शक्तियाँ तृप्त नहीं रहतीं, उन्हे असंतृप्त हाइड्रोकार्बन कहते हैं। इथिलीन गैस (C_2H_4) और ऐसिटिलीन गैस (C_2H_2) इनके उदाहरण हैं। इनके चित्रसूत्र क्रमश

```
 |   |             |   |
H—C—C—H तथा H—C—C—H न लिखकर
 |   |             |   |
 H   H
```

```
H H
| |
C=C  तथा  H—C≡C—H
| |
H H
```

लिखे जाते हैं। दोनों कार्बन परमाणुओं की एक-एक मुक्त सयोजन-शक्तियों को खुला न दिखाकर इनके बीच मे एक ही रेखा द्वारा प्रदर्शित कर दिया जाता है। इस प्रकार इथिलीन के कार्बन परमाणुओं के बीच में दोहरी रेखाएँ अथवा दोहरे बधन होते हैं और एसिटिलीन में तेहरे। कार्बन परमाणुओं के बीच म दोहरे अथवा तेहरे बधनों का लिखा जाना यौगिक के असतृप्त होने का सूचक होता है। ये हाइड्रोकार्बन विभिन्न दशाओं मे हाइड्रोजन, क्लोरिन, ब्रोमीन, आदि पदार्थों से सीधे सयुक्त होकर नए कार्बनिक यौगिकों म परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सीधे सयोग से बने हुए यौगिकों को सयोजन यौगिक कहते हैं। निकेल धातु के उत्प्रेरक प्रभाव म जब हाइड्रोजन के सयोग से इनकी सब अतृप्त संयोजन-शक्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तो ये पैराफिन हाइड्रोकार्बनों में परिणत हो जाते हैं—

$$\underset{\text{ऐसिटिलीन}}{C_2H_2} + 2H_2 = \underset{\text{इथेन}}{C_2H_6}$$

इथिलीन जब क्लोरिन से सयुक्त होती है तो एक तैलीय पदार्थ इथिलीन क्लोराइड बनता है—

$$C_2H_4 + Cl_2 = C_2H_4Cl_2$$

इसलिए उस सम श्रेणी को, जिसका इथिलीन प्रथम सदस्य है, ऑलिफिन (तैलजनक) श्रेणी कहते हैं। इसका दूसरा सदस्य प्रोपिलीन ($CH_3.CH . CH_2$ अथवा C_3H_9) है, तीसरा ब्यूटिलीन ($CH_3. CH_2. CH\ CH_2$ अथवा C_4H_8) है, इत्यादि, और बीज-सूत्र CnH_{2n} है। पहले महायुद्ध मे इथिलीन से ही गधक और क्लोरीन के सयोजन द्वारा सैकडों टन विषाक्त 'मस्टर्ड गैस' बनाकर लडाई के मैदानों मे फेंकी गई थी (दे० पृ० १७६६)। इथिलीन अन्य कई उपयोगी कार्बनिक यौगिकों को तैयार करने म काम आती है। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के मिश्रण की भाँति (दे० पृ० २७६) इथिलीन अथवा ऐसिटिलीन और ऑक्सिजन के मिश्रण भी अत्यंत गर्म लौ को उत्पन्न करने में व्यवहृत होते हैं। ऑक्सी-ऐसिटिलिन लौ इनमें सबसे अधिक गर्म होती है। इसका तापक्रम ३०००°C होता है और इसमे बहुत

सी धातुएँ सरलता से गल जाती हैं। थोड़ी-सी इथिलीन मिली हुई हवा में रखने पर गदर फल शीघ्र ही अपने प्राकृतिक रग के होकर पक जाते हैं। फलों के उद्योग में इस गैस का इसीलिए इधर व्यवहार हुआ करता है।

जिन हाइड्रोकार्बनों मे इथिलीन के दोहरे बंधन दो बार आते हैं, उन्हें डाइ-ऑलिफिन कहते हैं। इन यौगिकों में सबसे महत्त्वपूर्ण आइसोप्रीन $CH_2 \cdot \overset{CH_3}{C} \cdot CH \cdot CH_2$ है। निश्चित दशाओं मे इसके समाणु सयोजन द्वारा कृत्रिम रबड़ बनाई जाती है। रबड़ वास्तव मे एक पालीऑलिफिन अथवा पॉलीन है, जिसके अणु मे इथिलीन के अनेक दोहरे बन्धन होते हैं पॉली= अनेक)।

इथिलीन गैस अल्कॉहल से प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड तथा कतिपय अन्य साधनों द्वारा पानी के अवयव हटाकर बनाई जाती है—

$$C_2H_5OH—H_2O = C_2H_4$$

और ऐसिटिलीन कैल्शियम कार्बाइड पर पानी की क्रिया द्वारा तैयार की जाती है—

$$CaC_2+H_2O=CaO+C_2H_2$$

कार्बाइड लैम्पों में इसी प्रकार उत्पन्न होती हुई ऐसिटिलीन तीव्र उजाले के साथ जलती है। चौड़े मुँह पर उसका हवा द्वारा ऑक्सीकरण पूर्णत नहीं हो पाता, अत बहुत-सा कार्बन कालिख के धुएँ के रूप में बिना जले हुए ही निकलने लगता है। ऐसिटिलीन इसी नाम की समश्रेणी का पहला सदस्य है, दूसरे सदस्य का नाम मेथिल ऐसिटिलीन ($CH_3.C : CH$ अथवा C_3H_4) है, तीसरे का एथिल ऐसिटिलीन ($C_2H_5C : CH$ या C_4H_6) आदि। इस समश्रेणी का बीजसूत्र CnH_2n-1 है। कार्बनिक संश्लेषण की दृष्टि से ऐसिटिलीन बड़े महत्त्व का पदार्थ है। कोयले और चूने के मिश्रण को बिजली की भट्ठी में गर्म करने से कैल्शियम कार्बाइड सस्ते दामों में तैयार किया जाता है—

$$3C + CaO = CaC_2 + CO$$

कैल्शियम कार्बाइड पर जल की क्रिया द्वारा ऐसिटिलीन बनती है। इसे कुछ मर्क्यूरिक सल्फेटयुक्त २०प्रतिशत गधक के तेज़ाब मे प्रवाहित करने पर वह उत्प्रेरण द्वारा पानी के अवयवों से संयुक्त होकर ऐसेटल्डिहाइड नामक पदार्थ में बदल जाता है

$$C_2H_2+H_2O = CH_3CHO$$

और ऐसेटल्डिहाइड पर हाइड्रोजन की क्रिया द्वारा एथिल अल्कोहल, और ऑक्सीकरण द्वारा ऐसिटिक ऐसिड (सिरके का तेजाब) उत्पन्न होते हैं।

$$CH_3CHO + H_2 = C_2H_5OH$$

$$CH_3CHO + O = CH_3COOH$$

और इन दोनों पदार्थों से अन्य अनेकों कार्बनिक पदार्थों का निर्माण हो सकता है। ऐसिटिलीन को रक्ततप्त नली में प्रवाहित करने पर वह बेञ्जीन में परिणत हो जाती है (दे० पृ० १६६०), अतएव कोयले से शुरू करके इस विधि से हम अनेकानेक कार्बनिक यौगिकों का संश्लेषण कर सकते

सैकड़ों फीट की ऊँचाई की लौ के साथ जलती हुई धरती से निकलनेवाली प्राकृतिक गैस

हैं। इन्हीं सश्लेषण-विधियों द्वारा ही मनुष्य ने कार्बनिक रसायन के महत्त्व को बहुत ऊपर उठा दिया है। इथिलीन, ऐसिटिलीन आदि असतृप्त हाइड्रोकार्बन सतृप्त हाइड्रोकार्बनों के गुणों के विपरीत कुछ तेज़ाबों, ऑक्सीकारकों, आदि पदार्थों पर क्रिया करके उनमें शोषित हो जाते हैं।

साइक्लो-पैराफिन नामक समश्रेणी के हाइड्रोकार्बनों में कार्बन-परमाणुओं की लड़ियाँ बंद रहती हैं, इसीलिए इन्हें साइक्लो अथवा चक्रीय कहते हैं। यद्यपि ये यौगिक ऑलिफिनों के आइसोमर (समावयवी) होते हैं, तथापि इनमें कार्बन के संयोजन बंधक सब तृप्त रहते हैं—इनमें दोहरे अथवा तेहरे बंधन नहीं रहते। इनके गुण इसीलिए पैराफ़िनों से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन्हें साइक्लो पैराफिन इसीलिए कहते हैं। कुछ उदाहरण इसी पृष्ठ की सारिणी नं० ३ में प्रदर्शित है।

इस श्रेणी का सबसे बड़ा सदस्य साइक्लोनोनेन (C_9H_{18}) होता है। ये यौगिक हमारे लिए किसी महत्त्व के नहीं होते।

बेञ्जीन, नैफ़्थलीन और अन्थ्रसीन नामक सुरभित यौगिक हमें कोलतार से आंशिक स्रवण द्वारा प्राप्त होते हैं। इनसे उपयोगी कार्बनिक यौगिकों की एक बहुत बड़ी संख्या तैयार की जाती है। हम सुरभित यौगिकों के विषय में फिर कभी लिखेंगे।

खनिज हाइड्रोकार्बन

धरती के गर्भ में गैसीय, तरल और ठोस हाइड्रोकार्बन बहुत बड़े परिमाणों में मिलते हैं। उत्तरी अमेरिका के विभिन्न प्रान्तों, दक्षिणी-पूर्वी रूस के बाकू शहर और उसके आस-पास, ईरान, और संसार के और अनेक भागों में धरती की दरारों से अथवा उसमें कुएँ खोदने पर गैसीय हाइड्रोकार्बन निकला करते हैं। इसे प्राकृतिक गैस कहते है। बाकू में कतिपय स्थानों पर यह प्राकृतिक गैस धरती से स्वत निकलती हुई हज़ारों वर्ष से जल रही है। ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से ही अग्नि-पूजक पारसी लोग इन स्थानों को अग्नि देवता के तीर्थस्थान मानते आ रहे हैं। प्राकृतिक गैस में अधिकतर मिथेन और हाइड्रोजन और अल्पांशों में इथेन और अन्य हाइड्रोकार्बन रहते हैं। सयुक्तराज्य (अमेरिका) के कुछ स्थानों की प्राकृतिक गैस में १ से २ प्रतिशत तक हीलियम गैस भी मिली हुई पाई जाती है। अमेरिका में प्राकृतिक गैस ईंधन की भाँति प्रकाश, ताप अथवा कारख़ानों में शक्ति उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होती है। इसके अलावा वहाँ उससे हीलियम गैस भी निकाली जाती है। उसे दबाव में अत्यधिक ठंढा करने पर उसके अन्य अंश द्रवीभूत हो जाते हैं, और हीलियम गैस-रूप में बच रहती है। सयुक्त राज्य में प्राकृतिक गैस से हाइड्रोजन गैस भी बनाई जाती है। इस विधि में प्राकृतिक गैस में भाप मिलाकर इस मिश्रण को १०००°C तक गर्म किए हुए उत्प्रेरक (अलुमीनियम ऑक्साइड मिले हुए लोहे या कोबाल्ट) के ऊपर प्रवाहित करते हैं, जिससे वह कार्बन डाइऑक्साइड और हाइड्रोजन के मिश्रण में परिवर्त्तित हो जाता है—

$$CH_4 + 2H_2O = CO_2 + 4H_2$$

दबाव में कार्बन डाइऑक्साइड को पानी में घोलकर पृथक् कर दिया जाता है। न्यूजर्सी (सयुक्त राज्य) के एक कारख़ाने में प्रति घंटा ३ लाख घनफीट हाइड्रोजन गैस बन सकती है।

धरती के स्तरो के नीचे जहाँ प्राकृतिक गैस भरी होती है,

सारिणी नं० ३

क्रम-संख्या	नाम	अणुसूत्र	रचनासूत्र
१	ट्राइमेथिलीन (साइक्लो-प्रोपेन)	C_3H_6	CH_2 / \\ CH^2 — CH_2
२	टेट्रामेथिलीन (साइक्लो-ब्यूटेन)	C_4H_8	CH — CH_2 | | CH_2 — CH_2
३	पेण्टामेथिलीन (साइक्लो-पेण्टेन)	C_5H_{10}	CH_2 — CH_2 \\ | CH_2 CH_2 — CH /

वहाँ उसी के नीचे उच्चतर हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण एक चिकटे तैलीय द्रव के रूप में बृहद् परिमाणों में इकट्ठा रहता है। इसी द्रव को 'खनिज तेल' अथवा 'पेट्रोलियम' कहते हैं। लैटिन में 'पेट्रा' का अर्थ चट्टान और 'ओलियम' का अर्थ तेल होता है, अत पेट्रोलियम का अर्थ 'चट्टानों का तेल' हुआ। पेट्रोलियम से प्राचीन काल के लोग भी परिचित थे। अमेरिका, दक्षिण-पूर्वी रूस, आदि देशों के तेल के क्षेत्रों में पेट्रोलियम धरती से पसीजकर ऊपर आ जाता था। चीन और बर्मा में हजारों वर्ष पहले कुएँ खोद-कर तेल निकाला जाता था। उन दिनों लोग इस तेल को या तो शरीर पर मलते या वनस्पति तेलों की भाँति दीपकों में जलाते थे। बहुत थोड़-सा तेल वे लोग काम में लाते, शेष बेकार पड़ा रहता या बह जाता। उन्हें स्वप्न में भी यह ज्ञात न हुआ कि प्रकृति रासायनिक शक्ति का कितना बड़ा तरल भाडार इस खनिज तेल के रूप मे मनुष्य को सौप देने को प्रस्तुत है; —वह शक्ति जिसका उपयोग करके वह द्रुत वेग से हवा में उड़ेगा, मोटरकारों पर दौड़ेगा, ऊबड़-खाबड़ लड़ाई के क्षेत्र पर टैङ्कों पर चढ़कर लड़ेगा, और चक्की, पप आदि मशीनों द्वारा अपने कार्य करेगा!

सन् १८४८ ई० मे सैमुएल एम० कियेर ने प्रयोग-शाला में पेट्रोलियम को परिस्रवित करके एक पतला तेल पृथक् किया, जो लैम्पों में जलाने के लिए बड़ा ही उप-योगी प्रमाणित हुआ। कालान्तर मे पेट्रोलियम का महत्त्व और उसकी माँग बढ़ चली और ११ वर्ष बाद सन् १८५६ में कर्नल ड्रेक ने पेन्सिल्वानिया (संयुक्त राज्य) में इस्पात के नल को गलाकर ससार का पहला आधुनिक तेल का कुँआ खोदा! आज तेल का व्यवसाय ससार के सबसे बढ़े-चढ़े हुए उद्यमो में गिना जाता है। विभिन्न देशों के तेल के क्षेत्रों में आजकल तेल के कुँओं के ऊपर बने हुए सैकड़ों 'डेरिक' दिखाई देते हैं। इनसे लटकाकर कुओं के अंदर भारी औजार डाले जा सकते हैं।

सन् १६२७ ई० में संसार में ६०, ५८, ००, ०००, बैरल (१ बैरल = ४२ गैलन) पेट्रोलियम का उत्पादन हुआ, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका ने ७२·२ प्रतिशत, रूस ने ५·८, वेनजुएला और मेक्सिको में से प्रत्येक ने ५·१, फारस ने २·६, रूमानिया ने २·१ और शेष सब देशों ने मिलकर ६·८ प्रतिशत पेट्रोलियम निकाला। भारतवर्ष और बर्मा ने मिलकर केवल ०·६५ प्रतिशत पेट्रोलियम
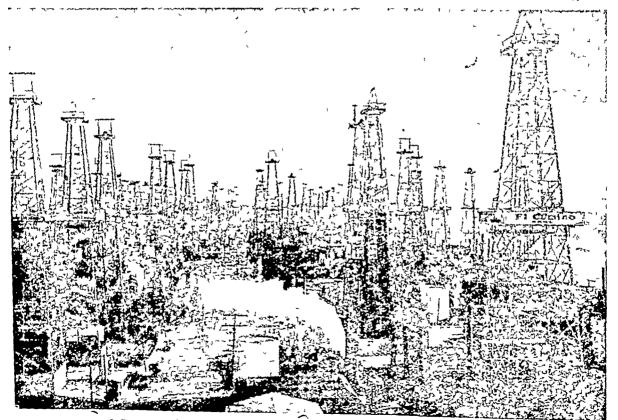
अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया प्रदेश के तेल के एक क्षेत्र में डेरिकों का झुंड

निकाला। भारत मे दिग्बोइ (आसाम) और अटक (पंजाब) में पेट्रोलियम निकाला जाता है। सन् १९४१ में ससार का पेट्रोलियम-उत्पादन बढ़कर २,२५,०७,३६,००० बैरल हो गया, जिसमें से ६२·५ प्रतिशत अमेरिका ने उत्पन्न किया और बर्मा तथा भारत ने केवल ०·४५ प्रतिशत ही निकाला।

पेट्रोलियम लगभग प्रथम पच्चीस पैराफिन हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण होता है। अल्पाशों मे उसमें इन हाइड्रोकार्बनों के आइसोमर (समयौगिक), कुछ वेञ्ज़ीन श्रेणी के सुरभित हाइड्रोकार्बन और कुछ साइक्लो-पैराफिन अर्थात् साइक्लोपेण्टेन और साइक्लो-हेक्सेन (जिन्हें नैफ्थीन भी कहते हैं) रहते हैं।

पृथ्वी के गर्भ मे तेल के इन वृहद् निक्षेपों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस प्रश्न पर वैज्ञानिकों में मतभेद रहा है। मेण्डेलिएफ की यह धारणा थी कि धरती के उत्तप्त गर्भ में स्थित लोहे आदि धातुओं के कार्बाइडों पर भाप की क्रिया से इन प्राकृतिक हाइड्रोकार्बनों की उत्पत्ति हुई है, उदाहरणार्थ—अलुमीनियम कार्बाइड और कैल्शियम कार्बाइड पर पानी की क्रिया से क्रमश मिथेन और ऐसिटिलीन गैसें निकलती हैं—

$$Al_4C_3 + 6H_2O = 2Al_2O_3 + 3CH_4$$

मॉयसॉ, सबातियर और सेण्डरन्स ने मेण्डलिएफ की राय का समर्थन किया। सन् १९०० में कार्ल एंग्लर ने मछली के तेल की-सी चर्बियों का दबाव में विच्छेदनात्मक परिस्रवण किया और देखा कि उससे स्रवित होकर बिलकुल
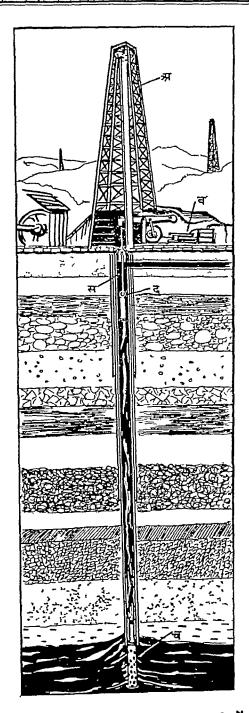
पेट्रोलियम निकालने के लिए धरती में गलाए जानेवाले एक कुएँ का आदर्श मानचित्र

चित्र में धरती को व्यस्तस्त काटकर भूगर्भ में स्थित तेल के सोते ('च') तक की विभिन्न चट्टानों के स्तरों का क्रम और उनमें से होकर गलाए जानेवाले कुएँ तथा उस पर निर्मित डैरिक ('अ'), ब्रायल इंजिन ('ब') तथा पंप के वाल्व ('स' और 'द') आदि दिग्दर्शित हैं।

पेट्रोलियम जैसा द्रव इकट्ठा हो रहा है। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी के गर्भ में पेट्रोलियम की उत्पत्ति गर्मी और दबाव में सामुद्रिक जीवों के शवों के विच्छेदन से ही हुई होगी। उन जीवों के नाइट्रोजनयुक्त अवयव अर्थात् प्रोटीन अधिक अस्थायी होने के कारण पहले ही विच्छिन्न हो गए होंगे और शेष बची हुई चर्बी धीरे-धीरे हाइड्रोकार्बनों मे परिवर्त्तित होकर इकट्ठा हो गई होगी। पेट्रोलियम में क्लोरोफिल, हीमिन (रक्त-पदार्थ), हारमोन (ग्रंथि-पदार्थ), आलोक-सक्रिय यौगिक, तथा ऐसे नाइट्रोजन और गंधकयुक्त पदार्थ पाए जाते हैं, जो जीव-पदार्थों से ही निकले हुए हो सकते हैं। सन् १९२७ मे जेलेन्स्की ने इस मत का समर्थन किया, और आजकल वैज्ञानिकों का इसी मत पर अधिक विश्वास है।

कच्चा पेट्रोलियम बदबूदार और हरे, पीले अथवा कत्थई रंग का होता है। उसे निकालने के लिए धरती में हज़ारों फीट तक इस्पात के नल गलाने पडते हैं। किस प्रकार यह कार्य किया जाता है, यह 'हिन्दी विश्व-भारती' के अंक १९ मे अलग से 'प्रकृति पर विजय' स्तंभ के अंतर्गत विस्तारपूर्वक बताया ही जा चुका है। उसी लेख द्वारा आप यह भी जान चुके हैं कि किस प्रकार नए क्षेत्रों में जब तेल के कुएँ गलाए जाते हैं तब, यदि तेल धरती के नीचे दबाव मे भरा होता है, तो नल के निक्षेप तक पहुँचते ही वह अपने आप जोर से निकलने लगता है। बहुधा यह फव्वारा सैकड़ों फीट तक ऊँचा उठ जाता है, और

महीनों चला करता है। इस प्रकार के तेल के फव्वारे को 'गशर' कहते हैं। प्रयत्न इस बात का होता है कि गशरों के रूप मे निकलता हुआ सारा तेल इकट्ठा कर लिया जाय। लेकिन कभी-कभी यह प्रयत्न असफल हो जाता है और करोड़ों गैलन पेट्रोलियम बहकर बर्बाद हो जाता है। कभी-कभी इस पेट्रोलियम में आग भी लग जाती है और हफ्तो नहीं बुझती। कुछ दिनों बाद ये गशर धीमे पड़ जाते हैं, और फिर बद हो जाते हैं; अत अधिक तेल निकालने के लिए गलाए हुए नल में पप लगाकर तेल ऊपर खीचना पड़ता है। यह तेल तब तक खींचा जाता रहता है, जब तक उस स्थान का तेल का निकलना समाप्त नहीं हो जाता। यह कच्चा तेल पाइपों अथवा तेल के जहाजों अथवा रेलगाड़ियो द्वारा शोधन-भवन (रिफाइनरी) मे भेज दिया जाता है। ये शोधन-भवन तेल-क्षेत्र के मैले-कुचैले, चिकटे-गदे, और काले-धुएँ ले स्थानों से बहुत दूर ऐसे नगरों अथवा बदरगाहों मे स्थित होते हैं, जहाँ से पेट्रोलियम से उत्पन्न पदार्थ सरलता से अन्य स्थानों और देशो मे भेज दिए जा सकें। कभी-कभी सैकड़ों मील तक पाइप-लाइनें बिछाकर पेट्रोलियम शोधन-भवनों मे भेजा जाता है।

शोधन-भवनों मे पेट्रोलियम वृहदाकार देगचों में उबालकर परिस्रवित किया जाता है। इन देगचों में पेट्रोलियम पाइपों द्वारा वह उसी दर से पहुँचता रहता है, जिस दर से स्रवित होकर निकलता रहता है। पेट्रोलियम के क्रमागत हाइड्रोकार्बनों के उबालबिंदु इतने सन्निकट होते हैं कि उनमें से प्रत्येक को आंशिक स्रवण द्वारा पृथक् कर लेना प्राय सभव नहीं और न इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। उन्हें ऐसे अशों म अलग-अलग द्रवीभूत कर लिया जाता है, जो विभिन्न कार्यों के लिए व्यवहृत होते हैं।

इराक़ के किर्कुक नामक तेल-क्षेत्र से पैलेस्टाइन के हैफ़ा बंदरगाह तक जानेवाली लगभग ११२० मील लंबी एक पैट्रोलियम पाइप-लाइन, जिसके निर्माण में लगभग १५ करोड़ रुपया खर्च हुआ था!

जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है, सबसे पहले हवा के शीतक में और फिर सर्पिल नली के पानी द्वारा ठडा होकर सबसे अधिक उबालबिंदु अथवा सबसे कम वाष्पशील गाढ़ा तेल ('हेवी आयल') द्रवीभूत होकर इकट्ठा होता है। यह सोलहवें से लेकर अट्ठाइसवें हाइड्रोकार्बन तक ($C_{16}H_{34}$—$C_{28}H_{58}$) का मिश्रण होता है। इसे खूब (—३°C तक) ठडा कर देने पर इसमें घुले हुए ठोस अवयव, अर्थात् पैराफिन मोम पृथक् हो जाते हैं। इसमें तेईसवें से लेकर अट्ठाईसवें हाइड्रोकार्बन तक होते हैं। यह मोम प्राणिचारकोल द्वारा रगहीन कर दिया जाता है, और मोमबत्ती, दियासलाई, मोमिया काग़ज और बरसाती कपड़ों को बनाने मे, तथा चमड़ा चिकनाने के काम मे आता है। मोम को अलग करने के पश्चात् शेष गाढ़े तेल को, फिर से भाप द्वारा आंशिक परिस्रवण करके, भिन्न भागों में पृथक् कर लिया जाता है—(१) ईंधन अथवा गैस का तेल—यह गाढे तेल का सबसे अधिक वाष्पशील अथवा सबसे कम उबाल-बिंदुओं वाला अश होता है। डीज़ेल इजिनों में इसी तेल का उपयोग होता है, और ऊँचे तापक्रम पर विच्छिन्न करके इससे पेट्रोल और तेल की गैस भी बनाई जाती है। (२) चिकनाने वाला तेल (अर्थात्

ल्यूब्रिकेटिंग आयल)—यह ईंधन के तेल से कम वाष्पशील, अधिक उबाल-विंदुओंवाला और अधिक गाढ़ा होता है, और मशीनों अथवा कल-पुर्जों में चिपकाने के लिए दिया जाता है। इसी को सर्वथा शुद्ध करके 'लिक्विड पैराफिन' नामक दवा, मलहम और नाना प्रकार के सिर में लगानेवाले तेल बनाए जाते हैं। (३) वैसेलीन—यह अंश इतना गाढ़ा होता है कि इसे अर्द्ध-ठोस कहा जा सकता है। इसका उपयोग शृ गारिक उबटनों तथा मलहमों के बनाने और चिकनाने मे होता है। इन तीनों अशों के निकल जाने के वाद स्रवण-पात्र मे एक काला अलकतरा बचा रहता है, जिससे पुन स्रवण द्वारा कुछ और गाढ़ा तेल निकाल लिया जाता है। बाद मे बचे हुए कोयले को पेट्रोलियम कोक कहते हैं, जो घरों में ईंधन की भाँति अथवा ग्रेफाइट बनाने के लिए व्यवहृत होता है (दे० पृ० २६७०)।

पेट्रोलियम के देगचे से आती हुई वाष्पों के और अधिक ठंडा होने पर केरोसिन ($C_{10}H_{22}$—$C_{15}H_{32}$) द्रवीभूत होकर इकट्ठा होता है। यह एक मैला और हानिकारक अपद्रव्यों से युक्त द्रव होता है, इसलिए बाज़ार में भेजने के पहले इसे शुद्ध करके निर्मल और रंगहीन बना देना आवश्यक होता है। उसमें पहले डेढ से दो प्रतिशत तक गाढ़ा गंधक का तेजाब मिला दिया जाता है, और यह मिश्रण सकुचित हवा को इसमें बुलबुलाकर मथा जाता है। यह मथन तब तक जारी रक्खा जाता है जब तक गंधक के तेज़ाब की क्रिया से तापक्रम बढ़ता रहता है। इस प्रकार केरोसिन के अनेक असतृप्त वसीय तथा सुरभित हाइड्रोकार्बन (जो कालिख देते हुए जलते हैं और इंजिन में कार्बन जमा कर देते हैं), कुछ गंधकयुक्त पदार्थ, आदि यौगिक गंधक के तेज़ाब में शोषित हो जाते हैं; और मंथन बद करने पर एक काला गाढ़ा द्रव, जिसमें तेज़ाब के अलावा उसकी प्रतिक्रिया से बने हुए नए पदार्थ और अलकतरा भी रहते हैं, नीचे बैठ जाता है। यह स्तर नीचे से निकाल लिया जाता है। अब तेल को १ प्रतिशत कास्टिक सोडा और फिर पानी के साथ मथकर धो डाला जाता है। तब भी कभी-कभी उसमें गंधक के कुछ यौगिक बने रहते हैं। गंधक को तेल से निकाल डालना बड़ा ही आवश्यक होता है, क्योंकि इसके जलने से अम्लीय ऑक्साइड उत्पन्न होती है; और इंजिन आदि की धातु का क्षादन होने लगता है। इसलिए तेल को कुछ धातुओं की ऑक्साइडों, यथा अलुमीनियम, ताँबा अथवा
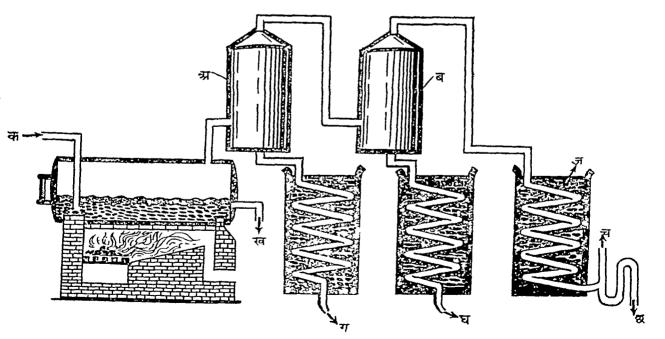
पेट्रोलियम का आंशिक स्रवण
अ, ब—हवा के शीतक, क—देगचे में जाता हुआ पेट्रोलियम, ख—बचे हुए अलकतरे का निकास; ग—गाढ़े तेल का निकास, घ—केरोसिन (मिट्टी के तेल) का निकास; च—गैस का निकास; छ—नैफ़्था का निकास; ज—पानी में डूबी हुई सर्पिल नलियाँ।
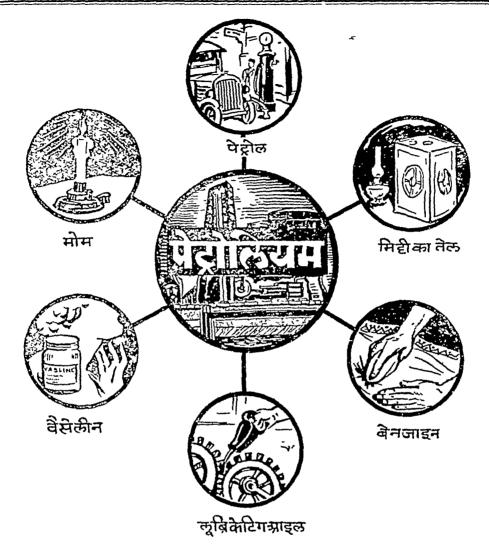
पेट्रोलियम से प्राप्त होने वाले कुछ महत्वपूर्ण पदार्थ

लोहे की ऑक्साइड के साथ गर्म करके इस गंधक को भी पृथक् कर देते हैं। ये ऑक्साइडें सल्फाइडों में बदल कर नीचे बैठ जाती हैं। तेल को रंगहीन कर देने के लिए बाक्साइट नामक खनिज अलुमीनियम ऑक्साइड (रंगशोषक) अथवा सल्फर डाइऑक्साइड (रंग-नाशक) का व्यवहार होता है। अंत में तेल को फिर से स्रवित कर लिया जाता है। इस प्रकार शुद्ध किया हुआ तेल पानी जैसा निर्मल और स्वच्छ हो जाता है।

यही तेल हमारी लालटेनों और स्टोवों में जलाया जाता है, और कुछ इंजिनों में भी प्रयुक्त होता है। कुप्पियों अथवा बेचिमनीदार लालटेनों में वह पीली और धुएँदार लौ के साथ जलता है। कारण, उसे इतनी हवा नहीं मिलती कि उसका सारा कार्बन जल जाय, इसलिए बचा हुआ कार्बन कालिख के रूप में निकल जाता है। चिमनी लगाने पर लालटेन अधिक हवादार हो जाती है, और लगभग सभी कार्बन जल जाता है। इसीलिए लौ का तापक्रम बढ़ जाता है, और वह बेधुआँदार और अधिक चमकदार हो जाती है। यदि मिट्टी के तेल की वाष्प साधारण तापक्रमों पर हवा से मिलकर विस्फोटक मिश्रण में परिणत हो जाय, तो वह वास्तव में लालटेनों और स्टोवों में जलाने के लिए एक ख़तरनाक वस्तु हो जाय। प्रत्येक देश में सरकार द्वारा यह प्रबंध कर लिया गया है कि देश की जलवायु की दशाओं में मिट्टी का तेल हवा के साथ कभी विस्फुटित न हो सके। वह निम्न-तम तापक्रम, जिस पर तेल का वाष्प हवा में मिलकर विस्फोटक मिश्रण उत्पन्न कर देती है, उस तेल का दीप्ति-विंदु (फ़्लैश-प्वाइण्ट) कहलाता है। भारतवर्ष में प्रयुक्त केरोसिन का दीप्ति-विंदु ४४°C होता है। फ्रांस में, जो अधिक ठंडा देश है, दीप्ति-विंदु ३५°C है, और ब्रिटेन में

वह केवल २२·८°C है। ऊँचे तापक्रम पर इसके विच्छेदन द्वारा प्रयोगशालाओं में काम में आनेवाली तेल की गैस बनाई जाती है। कीडों को मारने के लिए और विशेषत बद पानी पर छोड़कर मलेरिया के मच्छड़ों की बाढ़ रोकने के लिए भी इस तेल का उपयोग होता है।

पेट्रोलियम के परिस्रवण में केरोसिन के बाद जो तीसरा अधिक वाष्पशील द्रव और भी ठडा होकर एकत्र होता है, उसे नैफ्था कहते हैं। यह और भी हलके तरल हाइड्रोकार्बनो (C_5H_{12} से C_9H_{20}) तक का मिश्रण होता है। आंशिक स्रवण द्वारा यह बहुधा निम्न अशों में पृथक् कर लिया जाता है —

(१) **पेट्रोलियम ईथर**, जो मुख्यत पेण्टेन (C_5H_{12}) और हेक्सेन (C_6H_{14}) का मिश्रण होता है। इसका उबाल-बिंदु ४०°C से लेकर ७०°C तक जाता है। इसमें चर्बी, तेल, रबड़, मोम, सेलुलायड, आदि नाना कार्बनिक पदार्थ सरलता से घुल जाते हैं, अत वह तत्सबधी व्यवसायों, जैसे पदार्थों से तेल और चर्बी अलग करना, रबड को जोडने के घोल तैयार करना, वार्निशों के निर्माण, आदि में व्यवहृत होता है।

(२) **गैसोलिन** (C_6H_{14}—C_7H_{16})—यह ७०° से ६०°C तक उबलता है। यह पेट्रोलियम ईथर की भाँति कार्बनिक पदार्थों को घोलने में और पेट्रोल इजिनों में ईंधन की भाँति काम मे लाया जाता है।

(३) **लिग्राइन** (C_6H_{14}–C_8H_{18})—इसका उबाल-बिंदु ६०°–१२०°C है। गैसोलिन की भाँति इसका भी उपयोग होता है।

(४) **बेञ्जिन** (C_8H_{18}—C_9H_{20})—इसका उबाल-बिंदु १२०°—१५०° है। इसके और इसी नाम के सुरभित हाइड्रोकार्बन (C_6H_6) के बीच मे भ्रम न होना चाहिए। यह भी तेल, चर्बी आदि पदार्थों का बड़ा अच्छा घोलक होता है और साथ-ही-साथ कम वाष्पशील होने के कारण उड़ता भी नहीं, अतएव यह ऊनी कपड़ो की सूखी धुलाई करने के काम मे बहुत आता है। तारपीन के तेल की जगह पर इसका उपयोग वार्निशों को बनाने मे भी होता है।

पेट्रोल मे, जो आधुनिक यानों का महत्त्वपूर्ण ईंधन है, उपर्युक्त चारों अशों के सभी अवयव (C_5H_{12}—C_9H_{20}) रहते हैं। नैफ्था के स्रवण मे ५०° और १५०°C के बीच मे एकत्र होनेवाला स्रव पेट्रोल होता है। कार्बनिक पदार्थों को घोलने के लिए, सुखी-धुलाई में और प्रयोगशालाओं मे जलाई जानेवाली 'पेट्रोल-एअर गैस' को बनाने मे भी इसका प्रयोग होता है।

पेट्रोलियम के परिस्रवण में जो गैस अंतिम शीतक से निकलती है, उसे बहुधा दबाव और शीत की विभिन्न दशाओं में दो अंशों में द्रवित कर लिया जाता है—

(१) **साइमोजीन**, जिसमें मुख्यत ब्यूटेन (C_4H_{10}) रहता है। यह 0°C (बर्फ के तापक्रम) पर उबलनेवाला द्रव होता है। इसके सवेग वाष्पीकरण से अत्यधिक ठडक पैदा हो जाती है, अत यह बर्फ बनाने के काम में प्रयुक्त होता है।

(२) **रिगोलीन**, जो ब्यूटेन और पेण्टेन का मिश्रण होता है। डाक्टरी चीर-फाड़ में स्थानीय अचेतनता उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होता है। शेष अद्रवित गैस, जो मिथेन, इथेन और प्रोपेन का मिश्रण होती है, या तो ईंधन के काम मे अथवा हवा की उपस्थिति में जलाकर कालिख बनाने के काम में आती है।

पेट्रोल का कृत्रिम निर्माण

जब पेट्रोल की माँग इतनी बढ़ गई कि पेट्रोलियम से स्रवित किए हुए पेट्रोल से उसकी पूर्ति न हो सकी तो कृत्रिम विधियों से उसका उत्पादन किया जाने लगा। इनमें से एक विधि में पेट्रोलियम के उच्चतर उबाल-बिंदुओं के अश पेट्रोल में परिवर्तित कर लिये जाते हैं। ये उच्चतर हाइड्रोकार्बन लगभग १५००°C तक गर्म की गई रक्त-तप्त नलियों अथवा कक्षों मे छोड़े जाते हैं, जिससे वे विच्छिन्न होकर निम्नतर हाइड्रोकार्बनों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार निकलनेवाले गैसीय हाइड्रोकार्बन गर्मी और प्रकाश के उत्पादन के लिए प्रयुक्त होते हैं, और नीचे उबाल-बिंदुओं के द्रव हाइड्रोकार्बनों का मिश्रण द्रवित करके अलग इकट्ठा कर लिया जाता है। यही मोटर-स्पिरिट अथवा पेट्रोल होता है। साथ-ही-साथ कुछ कार्बन अथवा बहुत ऊँचे अणुभार के हाइड्रोकार्बन भी पृथक् होते हैं। उदाहरण के निमित्त हम सोलहवें हाइड्रोकार्बन का विच्छेदन इस रासायनिक समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—

$$C_{16}H_{34} = 2C_4H_{10} + C_6H_{14} + 2C$$

हेक्साडेकेन ब्यूटेन हेक्सेन कार्बन

तेलों के इस प्रकार के विच्छेदन को 'भजन' (अथवा क्रैकिंग) कहते हैं। भंजन की इस विधि में उत्प्रेरक—(यथा लोहा, ताँबा, धातुओं की ऑक्साइडें जैसे अलुमीनियम ऑक्साइड और टिटैनियम ऑक्साइड एवं लवणों जैसे अलुमीनियम क्लोराइड) भी काम मे लाए

जाते हैं। इनकी उपस्थिति में अपेक्षया बहुत नीचे तापक्रमों पर तेलों का भंजन हो जाता है, और पेट्रोल का उत्पादन भी बढ़ जाता है। इस प्रकार बने हुए पेट्रोल मे कुछ असतृप्त हाइड्रोकार्बन भी मिले होते हैं। ये हवा से ऑक्सिजन को शोषित करके सरलता से ऑक्सीभूत हो जानेवाले और बदबूदार होते हैं। अतएव स्पंजी अथवा चूर्णित निकेल की उपस्थिति मे उनमें हाइड्रोजन गैस प्रवाहित की जाती है। इसके संयोग द्वारा असतृप्त हाइड्रोकार्बन संतृप्त हो जाते हैं, और हर प्रकार से पेट्रोल से मिलता-जुलता एक द्रव तैयार हो जाता है। आजकल पेट्रोलियम के प्राय सभी शोधन-भवनों में भंजन की विधि से पेट्रोल तैयार किया जाता है। संसार में जितने पेट्रोल का उत्पादन होता है उसका लगभग आधा इसी विधि से तैयार होता है। अकेला संयुक्त राज्य (अमेरिका) ही इस विधि से प्रति वर्ष दस करोड़ बैरल से भी अधिक पेट्रोल का निर्माण करता है। इसके अलावा वहाँ भंजित गैसों से कृत्रिम रबड़ तथा अनेक अन्य कार्बनिक यौगिक भी तैयार होते हैं।

प्रयोगशालाओं मे जलनेवाली तेल की गैस भी केरोसिन के 'भंजन' से बनाई जाती है। मिट्टी के तेल की एक पतली धार लोहे से एक रक्ततप्त रिटॉर्ट मे छोड़ी जाती है, जिसके वह मिथेन, इथेन, इथिलीन आदि हाइड्रोकार्बनों के गैसीय मिश्रण में भंजित हो जाता है। इसे गैस-होल्डर में पानी को नीचे हटाकर इकट्ठा कर लेते हैं। इसी गैसीय मिश्रण को तेल की गैस कहते हैं। कुछ गाढ़ा तेल और अलकतरा भी पृथक् होता है, जो द्रवित करके अलग इकट्ठा कर लिया जाता है।

इंगलैंड, जर्मनी आदि ऐसे देशों मे जहाँ पेट्रोलियम के निक्षेप नहीं पाए जाते, पेट्रोल बहुत बड़े परिमाणों में संश्लेषण की विधियों से तैयार किया जाता है। इस प्रकार के निर्माण की तीन विधियाँ प्रचलित हैं—

(१) **बर्जियस की विधि**, जिसमें बिटुमिनस खनिज कोयला महीन पीसकर पेट्रोलियम के अलकतरे अथवा गाढ़े तेल के साथ बराबर-बराबर मिला लिया जाता है। इस मिश्रण को ४५०°C पर गर्म रखते हुए चलाया जाता है, और उसके ऊपर २५० वायुमण्डलों के दबाव में संकुचित हाइड्रोजन गैस प्रवाहित की जाती है। आजकल इस विधि में कतिपय उत्प्रेरकों और हाइड्रोजन के स्थान पर जल-गैस (दे० पृ० २७५६) का उपयोग होता है। हाइड्रोकार्बनों का जो मिश्रण इस प्रकार बनता है, उसे परिस्रवण द्वारा पेट्रोल, केरोसिन और गाढ़े तेल में पृथक् कर लेते हैं। इंग्लैंड के एक कारखाने मे इस विधि से प्रतिवर्ष ३ करोड़ गैलन पेट्रोल तैयार किया जा सकता है।

(२) **फ़िशर और ट्रॉप्श की विधि**, जिसका आविष्कार १९१९ में हुआ था, तथा जिसमें पत्थर के कत्थई रंग के कोयले का शुष्क स्रवण नीचे तापक्रमों (३५०° से ५००°C तक) पर किया जाता है। इसमें कोलतार के साथ-साथ वाष्प-शील पैराफिन हाइड्रोकार्बन भी द्रवित
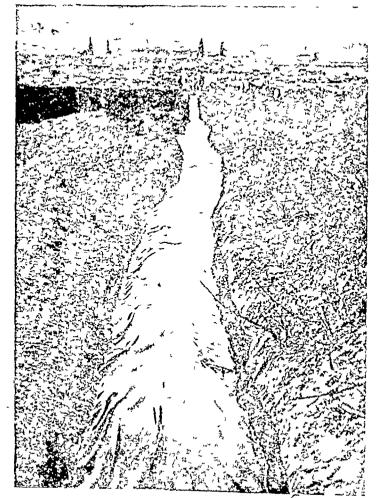
यह पानी नहीं, पेट्रोलियम का नाला बह रहा है!
तेल का कुआँ खोदते समय प्रायः इसी प्रकार कभी कभी पेट्रोलियम एकदम इतनी अधिक मात्रा में धरती से बाहर निकल पड़ता है कि वह सँभाले नहीं सँभलता और उसका एक नाला-सा बह चलता है!

होकर एकत्र हो जाते हैं। इस मिश्रण के आंशिक स्रवण द्वारा पेट्रोल को पृथक् कर लिया जाता है। परन्तु पेट्रोल-उत्पादन की यह कृत्रिम विधि लाभपूर्वक वहीं काम में लाई जा सकती है, जहाँ कत्थई कोयला सरलता के साथ और सस्ते में प्राप्य हो।

(३) **फ़िशर और ट्राप्श की विधि**, जिसका आविष्कार सन् १९२६ में हुआ था। इसमें जल-गैस के दो और हाइड्रोजन के एक आयतनिक भागों को मिलाकर, अर्थात् यों कहिए कि हाइड्रोजन के दो और कार्बन मोनॉक्साइड के एक आयतनिक भागों का मिश्रण, ५ से १५ वायुमण्डलों के दबाव में और २००°C के तापक्रम पर उत्प्रेरकों (प्राय कोबाल्ट और थोरिया के मिश्रण, के ऊपर प्रवाहित किया जाता है। इस प्रकार वाष्पशील हाइड्रोकार्बन उत्पन्न हो जाते हैं, जिन्हें द्रवित करके इकट्ठा कर लिया जाता है। इस द्रव में निकेल की उपस्थिति में हाइड्रोजन गैस प्रवाहित करके उसके असंतृप्त हाइड्रोकार्बनों को संतृप्त कर लिया जाता है। सन् १९४० में जर्मनी ने २,२२,२५,००० बैरल पेट्रोल बर्जियस की विधि से और १,११,३५,००० बैरल पेट्रोल फिशर की विधि से बनाया गया था। इसी प्रकार बनते हुए पेट्रोल से वह १९४५ तक लड़ाई लड़ता रहा था।
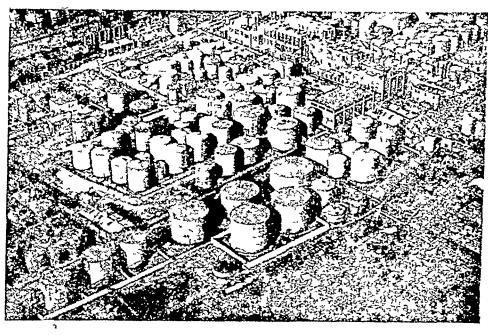
न्यूयार्क के समीप न्यू जर्सी सिटी के एक विशाल तेल-शोधन के कारखाने की तेल जमा रखनेवाली टंकियों का जमघट

स्कॉटलैण्ड में पैराफिन हाइड्रोकार्बनों का 'बिटुमिनस शेल' नामक एक ठोस खनिज मिलता है, जिसके शुष्क स्रवण से १ टन पीछे ३० गैलन पैराफ़िन तेल निकलता है। इस तेल को आंशिक स्रवण द्वारा पेट्रोल, जलाने के तेल और गाढ़े तेल में पृथक् कर लेते हैं, और गाढ़े तेल को ठंडा करके उससे मोम निकाल लिया जाता है। रूमानिया और पूर्वी गैलिशिया में 'ओज़ोकराइट' नामक ठोस पैराफिनों के निक्षेप धरातल से २० से लेकर १०० मीटर तक नीचे मिलते हैं। इससे पिघलाकर मोम निकाला जाता है, जिसे गंधक के तेज़ाब और कास्टिक सोडा के घोल से साफ करके चारकोल द्वारा रंगहीन बना दिया जाता है। इस मोम को सिरेसिन कहते हैं। यह वार्निशों, पालिशों, आदि के बनाने में बहुत काम आता है। ट्रिनिडाड, क्यूबा और वेस्ट इंडीज़ में हाइड्रोकार्बनों का एक काला ठोस खनिज 'ऐस्फाल्ट' पाया जाता है। यह सड़कों की फर्श बनाने में बहुत बड़े परिमाणों में प्रयुक्त होता है। इससे वार्निशें और संरक्षक पेण्ट भी बनाए जाते हैं।

आधुनिक युग की मानुषी लीलाओं में ये हाइड्रोकार्बन कितना महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, इसका अनुमान अब आप स्वयं कर सकते हैं। ज़रा विचारिए, यदि प्रकृति की यह देन—पेट्रोलियम—न होता, और कार्बन तथा हाइड्रोजन ने अणुओं में साथ-साथ बैठे हुए अपने-अपने वेश को पैराफिन तेलों के रूप में न बदल दिया होता तो हमारा जीवन कितनी सुविधाओं से वंचित रहता!

नोट—प्रस्तुत लेख में रसायन विज्ञान की दृष्टि से पेट्रोलियम (खनिज तैल) तथा उससे प्राप्त विभिन्न पदार्थों पर प्रकाश डाला गया है। यह महत्त्वपूर्ण खनिज किस प्रकार भूगर्भ से निकाला जाता है, इस संबंध में एक लेख पहले ही 'विश्व भारती' के अंक १६ में 'प्रकृति पर विजय' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित हो चुका है।

पृथ्वी की कहानी

परागकोश

लिंगसूत्र

(अ)

परागकोष्ठक

(ब)

चि० १

(ब) पुंकेसर—परोगकोश को ऊपर से काटकर चार कोष्ठक परागकोश तथा पराग दिखलाया गया है।

अ

ब

चि० २—इस चित्र में परागकोश रोपण (Fixation) के दो भेद दिखाए गए हैं।
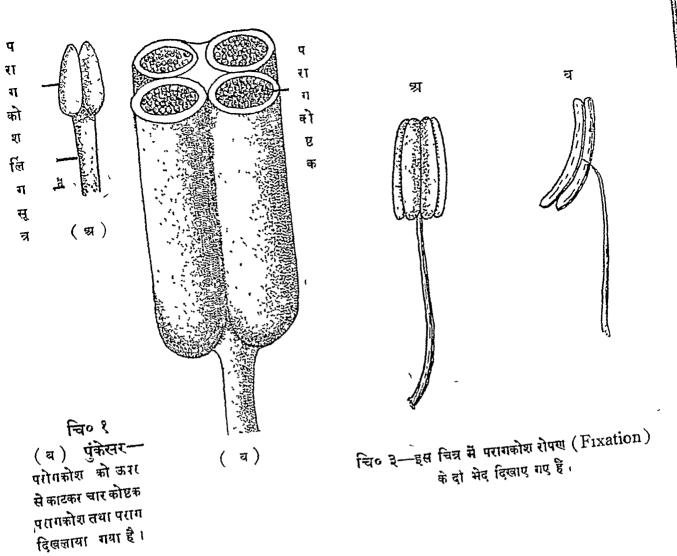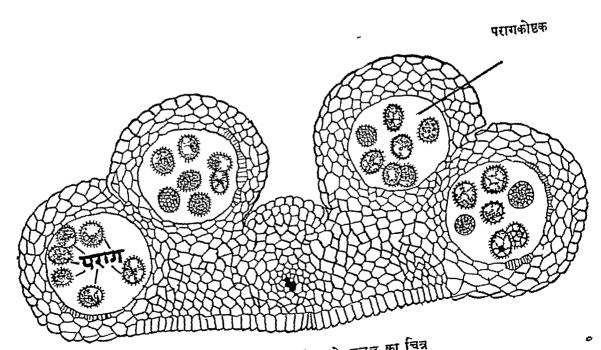
चि० २—परागकोश के आड़े कचल का चित्र

पौधों के विशेषाङ्ग—फूल (२)

लिंग चक्र—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पुकेसर के मडल को 'लिंगचक्र' कहते हैं। प्रत्येक पुकेसर में महीन सूत्रवत् डंठल या 'लिंगसूत्र' (Filament) और गेहूँ, जौ अथवा सरसों के समान ऊपरी भाग या 'परागकोश' (Anther) होता है। यदि परागकेसर पत्ती का रूपान्तर है तो लिंगसूत्र को पत्रनाल और परागकोश को पत्रदल मानना पड़ेगा। प्रत्येक परागकोश में दो खड होते हैं, जिन्हें 'परागकोशिकाएँ' (Anther Lobes) कहते हैं। हर परागकोशिका में दो 'परागकोष्ठक' (Pollen Sacs) और सम्पूर्ण परागकोश में चार कोष्ठक होते हैं (चित्र १-२)। जिस समय परागकोश फटते हैं, परागकोष्ठकों के बीच के परदे नष्ट हो जाते हैं, जिससे प्रत्येक परागकोशिका में प्रत्यक्षत एक ही कोष्ठ जान पड़ता है। कभी-कभी कोशिकाओं का सगम बहुत पहले भी हो जाता है। परागकोश की दोनों कोशिकाओं के बीच के जोड को 'बन्ध' (Connective) कहते हैं। यह जोड़ प्राय बहुत पतला होता है, जिससे दोनों कोशिकाएँ मिली रहती हैं; परन्तु कभी-कभी, जैसा कि दीर्घोष्ठ (*Salvia*) अथवा तुलसी आदि में होता है, बन्ध कुछ लम्बा हो जाता है, जिससे कोशिकाएँ एक-दूसरे से अलग-अलग हो जाती हैं।

पुकेसर पर विचार करते समय लिंगसूत्र और परागकोश के जोड़ की भली भाँति परीक्षा करनी चाहिए। यह सदैव एकसमान नहीं होता। अगर परागकोश ठीक लिंगसूत्र के सिरे पर जुड़ा हो, जैसा कि सरसों या पोस्ते में होता है, और बन्ध लिंगसूत्र का ऊपरी बढ़ा हुआ भाग हो तो परागकोश को 'अधोलग्न' (Basifixed or Innate) कहते हैं (चित्र ३ अ)। यदि बन्ध विशेष स्पष्ट हो और लिंगसूत्र और परागकोश के बीच का सधिस्थान साफ-साफ न जान पड़ता हो, जिससे लिंगसूत्र सम्पूर्ण परागकोश की लम्बाई से जुड़ा जान पड़ता हो तो परागकोश को 'नाललग्न' (Adnate) कहते हैं। यदि लिंगसूत्र परागकोश की पीठ पर जुड़ा हो और परागकोश स्थिर हों तो उन्हें 'पृष्ठलग्न' (Dorsifixed) कहते हैं। यदि पृष्ठलग्न परागकोश का जोड़ इतना महीन हो कि वे स्वतत्रता से चारों ओर झूलते हों तो उन्हें 'चचल' (Versatile) कहते हैं (चित्र ३ ब)। जौ, गेहूँ, मक्का आदि के परागकोश चचल होते हैं। जब परागकोश का मुख (अर्थात् वह सतह जो बन्ध के जोड के अभिमुख होती है) गर्भाशय की ओर हो तो उसे 'अन्तर्मुखी' (Introrse) और इसके विपरीत अवस्था में हो तो 'बहिर्मुखी' (Extrorse) कहते हैं।
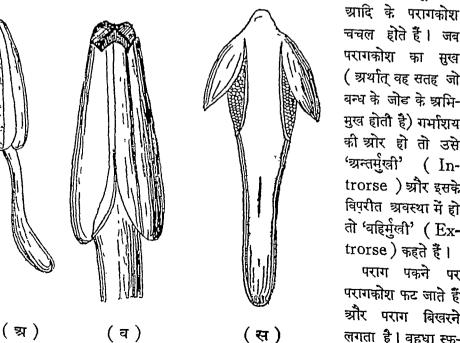
(अ) (ब) (स)

चि० ४—परागस्फुटन

पराग पकने पर परागकोश फट जाते हैं और पराग बिखरने लगता है। बहुधा स्फुटन (Dehiscence)
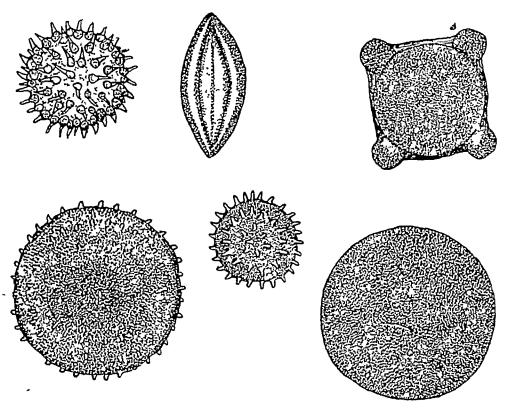
चि० ५—कई तरह के परागकण, जैसे कि सूक्ष्मदर्शक द्वारा दिखाई देते हैं।

तग अक्षांशी दरार द्वारा होता है, जो कोश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली रहती है। ऐसे स्फुटन को 'कपाट-स्फोटन' (Longitudinal Dehiscence) (चित्र ४ अ) कहते हैं। जब कभी स्फुटन आड़ा (Transverse) होना है तो उसे 'तिर्यक्' कहते हैं। कभी-कभी परागकोश के सिरे पर छिद्र होता है और पराग इसी से बिखरा करता है। इसे 'छिद्रस्फोट' (Porous Dehiscence) (चित्र ४ ब) कहते हैं। छिद्रस्फोटी परागकोश बैंगन, आलू तथा कटेरी में होते हैं। कभी स्फुट छिद्रों के मुँह पर ढकन होते हैं। ऐसी दशा मे स्फुटन को 'शकलकारी' (Valvular) कहते हैं (चित्र ४ स)।

परागकोश के अन्दर बेसन या रेत-जैसी परागरेणु भरी रहती है। प्रत्येक परागकोश में हज़ारों कण या जर्रे होते हैं। भिन्न-भिन्न पौधों के परागकण के रूप तथा आकार में प्राय. बड़ा अन्तर होता है (चित्र ५)। प्रारम्भ में परागकण एककोशी होते हैं और इनकी खोल में दो पर्त्त होते हैं। बाहरी पर्त्त या 'बाह्य त्वचा' (Exine) मोटी और 'चर्मोज-मय' (Cuticularised) होती है। यह समतल, कॉटेदार (Spiny), 'जालदार' (Reticulate), रोमस (Hairy) अथवा अन्य भाँति की होती है। अन्दरी पर्त्त या 'अन्तर्त्वचा' (Intine) पतली और छिद्रोज की होती है। मदार तथा आर्काादि वर्ग के दूसरे पौधो मे और 'रुद्रांग वर्ग' (Orchidaceæ) (चि० ६) मे परागकण अलग-अलग नही होते वरन् इनके मेल से पिंड बन जाते हैं, जिन्हें 'परागपिंड' (Pollinia) (चि० ७) कहते हैं। प्रत्येक परागपिंड कई परागकणों के मेल से बना होता है और प्राय एक डठल से जुड़ा होता है। इस डठल को 'पिंडनाल' (Caudicle) कहते हैं। दो-दो परागपिंड कभी-कभी अलग-अलग नालों द्वारा एक ही बिम्ब से जुड़े रहते हैं। स्फोटन होने पर ये दोनों ही साथ-साथ बाहर आते हैं।

लिंगचक्र में भी निजासंग और परासग अवस्था मिलती है। निजासग दशा में पुंकेसर के लिंगसूत्र अथवा परागकोश आपस में जुड़े होते हैं। जब लिंगसूत्र जुड़े होते हैं तो पुकेसर 'गुच्छेदार' (Adelphous) कहलाते हैं और इनके एक, दो या अधिक गुच्छे होते हैं, जिनकी सख्या के अनुसार इन्हें 'एकगुच्छी' (Monadelphous) 'द्विगुच्छी', (Diadelphous) और 'बहुगुच्छी' (Polyadelphous) कहते हैं। एकगुच्छी परागकेसर गुलहड (चि० ८ अ), द्विगुच्छी मटर (चि० ८ ब) और बहुगुच्छी नीबू, सतरा आदि में होते हैं। जब पुकेसर के परागकोश आपस में मिले होते हैं और लिंगसूत्र अलग-अलग होते हैं तो उन्हें 'सयुक्तपिटक' (Syngenisious) कहते हैं।

परासग अवस्था में पुकेसर दलचक्र अथवा योनिचक्र से मिले होते हैं। बहुधा इनका मिलान दलों से ही होता है और ऐसी दशा मे ये दलों से ही निकलते जान पड़ते हैं।

ऐसे परागकेसर को 'दललग्न' (Epipetalous) कहते हैं (चि० ६)। धतूरे, तुलसी सहदेई आदि में परागकेसर दललग्न होते हैं। जब कभी लिंगचक्र गर्भाशय के साथ मिला रहता है तो इस दशा को 'उभयकेसरलग्न' (Gynandrous) कहते हैं।

प्राय फूलों में लिंगसूत्र समान आकार के होते हैं, परन्तु कभी-कभी ये बड़े-छोटे भी होते हैं। जब एक फूल मे चार पु केसर हों और इनमें दो के लिंगसूत्र बड़े और दो के छोटे हों तो इन्हें 'द्वयोद्धतकेसरी' (Didynamous) कहते हैं (चि० १० अ)। ऐसे पु केसर तुलसी, गूमा, सहदेई आदि मे होते हैं। सरसों तथा सर्षप वर्ग (Cruciferæ) के दूसरे पौधों में छः स्वतत्र पु केसर होते हैं और इनमें के चार के लिंगसूत्र बड़े और दो के छोटे होते हैं (चि० १० ब) । इन्हें 'चतुरोद्धतकेसरी' (Tetradynamous) कहते हैं।

परागकोश की बनावट मे भी बड़ा अन्तर होता है। प्राय ये जौ, गेहूँ अथवा जीरा-जैसे होते हैं, परन्तु कभी-कभी ये अडाकार, यकृताकार, सेब-सरीखे, सरसों-सदृश या अन्य भाँति के होते हैं (चि० ५)। कभी-कभी परागकोश में नोक-जैसे या दूसरी तरह के 'उपाग' (Appendages) होते हैं, जिससे इनकी बनावट में थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ जाता है। उपांग पत्रवत्, नलिकाकार, मासल, काँटे-जैसे तथा अन्य भाँति के होते हैं।

योनिचक्र—किसी फूल की सारी योनिनलिकाओं को 'योनिचक्र' कहते हैं। पूर्ण फूल में योनिनलिकाओं की सख्या एक अथवा अधिक होती है। प्रत्येक योनिनलिका में तीन भाग—गर्भाशय, योनिसूत्र और योनिछत्र—होते हैं (चि० ११)। फूल के दूसरे अगों की तरह योनिनलिका की बनावट भी तरह-तरह की होती है। योनिसूत्र और गर्भाशय के मिलने के ढग से भी योनिनलिका की बनावट में कभी-कभी अन्तर पड़ जाता है। जब योनिसूत्र गर्भाशय के ठीक ऊपर होता है, तो उसे 'शिखरस्थ' (Terminal) कहते हैं। जब वह एक ओर से निकलता है तो उसे 'पार्श्विक' (Lateral) (चि० ११ द) और जब वह गर्भाशय की पेंदी से निकलता है तो 'बीजाडकोश-तलस्थ' (Gynobasic) (चि० ११ स) कहते हैं। योनिसूत्र योनिनलिका का आवश्यक अग नहीं और किसी-किसी फूल में यह नहीं भी होता , परन्तु गर्भाशय और योनिछत्र दोनों आवश्यक अंग हैं। गर्भाशय में 'बीजाड' (Ovules) होते हैं, जिनसे बीज बनते हैं। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, बीज पैदा होने के लिए पौधे के नर और मादा अशों का मिलना आवश्यक है। परागकोश में समय पर परागकण बनते हैं, जिनसे अन्त मे नर अश तैयार होते हैं, इसलिए नर और मादा के मेल के लिए परागकणों
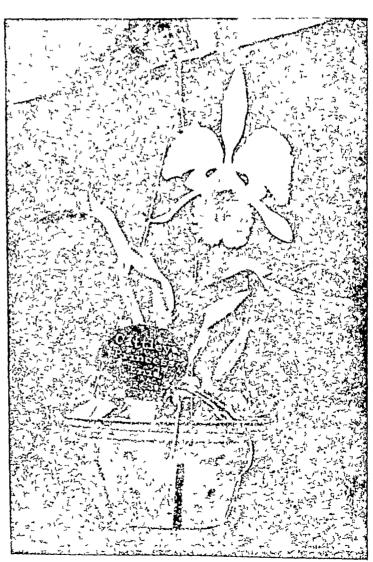
चि० ६—यह रत्नांग-वर्ग के एक पौधे का फ़ोटो है। इस जाति पौधों के फूलों में परागपिंड होते हैं।

का किसी-न-किसी भाँति योनिछत्र पर पहुँचना आवश्यक है। यह काम जल, वायु अथवा प्राणियों द्वारा होता है। योनिछत्र में पराग-कणों को फँसा रखने के साधन होते हैं। इसके तरह-तरह के रूपान्तर इसी अभिप्राय से होते हैं (चि० १२)। छत्राकार, दलवत्, पुच्छाकार इसके साधारण भेद हैं। जब कभी योनिसूत्र नहीं होता तो योनिछत्र को 'विनाल' (Sessile) कहते हैं।

चि० ७—मदार की जाति के पौधे के परागपिंड

पुष्पयोनि की संख्या प्राय फूल के अन्य अगों से कम होती है। इस संख्या के अनुसार योनिचक्र 'एकगर्भकेसर' (Monocarpellary), 'द्विगर्भकेसर' (Bicarpellary), 'त्रिगर्भकेसर' (Tricarpellary) (चि० १३, १४) अथवा 'बहुगर्भकेसर' (Multicarpellary) (चि० १५,१६,१७) होता है। जब फूल में एक से अधिक योनिनलिकाएँ होती हैं तो ये आपस में मिली अथवा अलग अलग होती हैं। जब योनिनलिकाएँ एक-दूसरी से मिली होती हैं तो योनिचक्र 'संयुक्त' (Syncarpous) (चि० १४, १५) और जब ये अलग-अलग होती हैं (चि० १६-१७) तो 'स्वतंत्र' (Apocarpous) कहलाता है। संयुक्त अवस्था में योनिनलिकाएँ सदैव एक ही ढग की नहीं होतीं। कभी-कभी केवल इनके गर्भाशय मिले होते हैं और शेष के दो भाग अर्थात् योनिसूत्र और योनिछत्र स्वतत्र होते हैं। कभी-कभी गर्भाशय और योनिसूत्र मिले होते हैं (चि० १५) और कभी-कभी ये तीनों भाग मिलकर ऐसे हो जाते हैं कि केवल एक गर्भाशय, एक योनिसूत्र और एक योनिछत्र जान पड़ता है। सयुक्त गर्भाशय की योनिनलिकाओं की सख्या का ठीक-ठीक पता चलना कठिन होता है। जब कभी इनका एक-न-एक भाग स्वतत्र होता है तो प्राय इसकी सख्या से योनिनलिकाओं की सख्या का पता चल जाता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह संख्या सदैव ठीक नहीं उतरती, क्योंकि अक्सर इन अंगों में अवयव-विभाजन हो जाने से सख्या बढ़ जाती है। जब योनिनलिकाओं के तीनों भाग मिले होते हैं तब गर्भाशय के 'अवच्छेद' (Transverse Section) की जाँच से

(अ)   (ब)   (स)

चि० ८—गुच्छेदार परागकेसर—(अ) एकगुच्छी; (ब) द्विगुच्छी, (स) बहुगुच्छी।

सख्या का पता लग सकता है। प्राय गर्भाशय में योनिनलिकाओं की सख्या के अनुसार ही कोष्ठ 'अपूर्ण व्यवधान' (Partitions) या उसकी भीतरी दीवाल की ओर उतने ही उदर-सीवन (Ventral Sutures) होते हैं। उदर-सीवन पृष्ठस्थ सीवन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं।

गर्भाशय के भीतर की उभरी सीवन को 'गर्भ-झिल्ली' (Placenta) कहते हैं। गर्भ-झिल्ली पर बीजाण्ड लगे रहते हैं।

संयुक्त गर्भाशय में एक या अधिक कोष्ठ या कोठरियाँ होती हैं, जिनकी सख्या के अनुसार गर्भाशय को 'एककोष्ठी' (Unilocular), 'द्विकोष्ठी' (Bilocular), 'त्रिकोष्ठी' (Trilocular), 'बहुकोष्ठी' (Multilocular) आदि कहते हैं। बहुधा इन कोठरियों की सख्या योनिनलिकाओं की सख्या के अनुसार ही होती है, परन्तु कभी-कभी 'मिथ्या व्यवधान' (False Septa) से इनकी संख्या अधिक हो जाती है।

चि० ९—धतूरे के दललग्न परागकेसर

गर्भाशय के अन्दर बीज गर्भ-झिल्ली पर लगे होते हैं। इस झिल्ली की स्थिति के अनुसार 'बीजक्रम' (Placentation) के कई भेद हैं (चि० १८)। बीजक्रम का पता गर्भाशय की जाँच से चलता है। बहुधा गर्भ-झिल्ली गर्भाशय के भीतर की ओर उभरी रहती है।

मटर, सेम, लोबिया तथा शिम्बी वर्ग के दूसरे पौधों में गर्भ-झिल्ली उदर-सीवन पर होती है और यहीं बीज लगे होते हैं। ऐसे बीज-क्रम को 'धारीय' (Marginal) कहते हैं। पोस्ता, पपीता, करुआ (स्वर्णक्षीर), झूमकलता (*Passiflora*) का गर्भाशय कई योनिनलिकाओं के सम्मेलन से बनता है; परन्तु यह एककोष्ठी होता है और बीज गर्भाशय की भीतरी दीवाल पर वर्त्तमान गर्भ-झिल्ली पर लगे रहते हैं। ऐसे बीजक्रम को 'पृष्ठवर्त्ती' (Parietal) कहते हैं (चि० १८ अ)। किसी-किसी पौधे में गर्भ-झिल्ली अब अन्दर की ओर अधिक दूर तक बढ़ जाती है, परन्तु बीच में मिलती नहीं है तो गर्भाशय में इनकी सख्या के अनुसार उतने ही 'अपूर्ण व्यवधान' (Incomplete Partitions) होते हैं। जब कभी गर्भ-झिल्ली बीच में मिल जाती है तो गर्भाशय मे उतने ही कोष्ठ बन जाते हैं। ऐसा गर्भाशय नींबू, गुलहड़, भिंडी आदि में होता है। इस बीजक्रम को 'आक्षीय' (Axile)

चि० १०—(अ) द्वयोद्धतकेसरी, (ब) चतुरोद्धतकेसरी।

का किसी-न-किसी भाँति योनिछत्र पर पहुँचना आवश्यक है। यह काम जल, वायु अथवा प्राणियों द्वारा होता है। योनिछत्र में पराग-कणों को फँसा रखने के साधन होते हैं। इसके तरह-तरह के रूपान्तर इसी अभिप्राय से होते हैं (चि० १२)। छत्राकार, दलवत्, पुच्छाकार इसके साधारण भेद हैं। जब कभी योनिसूत्र नहीं होता तो योनिछत्र को 'विनाल' (Sessile) कहते हैं।

चि० ७—मदार की जाति के पौधे के परागपिंड

पुष्पयोनि की सख्या प्राय फूल के अन्य अगों से कम होती है। इस संख्या के अनुसार योनिचक्र 'एकगर्भकेसर' (Monocarpellary), 'द्विगर्भकेसर' (Bicarpellary), 'त्रिगर्भकेसर' (Tricarpellary) (चि० १३, १४) अथवा 'बहुगर्भकेसर' (Multicarpellary) (चि० १५,१६,१७) होता है। जब फूल में एक से अधिक योनिनलिकाएँ होती हैं तो ये आपस मे मिली अथवा अलग अलग होती हैं। जब योनिनलिकाएँ एक-दूसरी से मिली होती हैं तो योनिचक्र 'संयुक्त' (Syncarpous) (चि० १४, १५) और जब ये अलग-अलग होती हैं (चि० १६-१७) तो 'स्वतंत्र' (Apocarpous) कहलाता है। सयुक्त अवस्था मे योनिनलिकाएँ सदैव एक ही ढग की नहीं होतीं। कभी-कभी केवल इनके गर्भाशय मिले होते हैं और शेष के दो भाग अर्थात् योनिसूत्र और योनिछत्र स्वतत्र होते हैं। कभी-कभी गर्भाशय और योनिसूत्र मिले होते हैं (चि० १५) और कभी-कभी ये तीनों भाग मिलकर ऐसे हो जाते हैं कि केवल एक गर्भाशय, एक योनिसूत्र और एक योनिछत्र जान पड़ता है। सयुक्त गर्भाशय की योनिनलिकाओं की सख्या का ठीक-ठीक पता चलना कठिन होता है। जब कभी इनका एक-न-एक भाग स्वतंत्र होता है तो प्राय. इसकी सख्या से योनिनलिकाओं की सख्या का पता चल जाता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह सख्या सदैव ठीक नहीं उतरती, क्योंकि अक्सर इन अंगों में अवयव-विभाजन हो जाने से सख्या बढ़ जाती है। जब योनिनलिकाओं के तीनों भाग मिले होते हैं तब गर्भाशय के 'अवच्छेद' (Transverse Section) की जाँच से

चि० ८—गुच्छेदार परागकेसर—(अ) एकगुच्छी; (ब) द्विगुच्छी; (स) बहुगुच्छी।

सख्या का पता लग सकता है। प्राय गर्भाशय में योनिनलिकाओं की सख्या के अनुसार ही कोष्ठ 'अपूर्ण व्यवधान' (Partitions) या उसकी भीतरी दीवाल की ओर उतने ही उदर-सीवन (Ventral Sutures) होते हैं। उदर-सीवन पृष्ठस्थ सीवन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं।

गर्भाशय के भीतर की उभरी सीवन को 'गर्भ-झिल्ली' (Placenta) कहते हैं। गर्भ-झिल्ली पर बीजांड लगे रहते हैं।

संयुक्त गर्भाशय में एक या अधिक कोष्ठ या कोठरियाँ होती हैं, जिनकी सख्या के अनुसार गर्भाशय को 'एककोष्ठी' (Unilocular), 'द्विकोष्ठी' (Bilocular), 'त्रिकोष्ठी' (Trilocular), 'बहुकोष्ठी' (Multilocular) आदि कहते हैं। बहुधा इन कोठरियों की संख्या योनिनलिकाओं की सख्या के अनुसार ही होती है, परन्तु कभी-कभी 'मिथ्या व्यवधान' (False Septa) से इनकी संख्या अधिक हो जाती है।

गर्भाशय के अन्दर बीज गर्भ-झिल्ली पर लगे होते हैं। इस झिल्ली की स्थिति के अनुसार 'बीजक्रम' (Placentation) के कई भेद हैं (चि० १८)। बीजक्रम का पता गर्भाशय की जाँच से चलता है। बहुधा गर्भ-झिल्ली गर्भाशय के भीतर की ओर उभरी रहती है।

मटर, सेम, लोबिया तथा शिम्बी वर्ग के दूसरे पौधों में गर्भ-झिल्ली उदर-सीवन पर होती है और यहीं बीज लगे होते हैं। ऐसे बीज-क्रम को 'धारीय' (Marginal) कहते हैं। पोस्ता, पपीता, करुआ (स्वर्णक्षीर), झूमकलता (*Passiflora*) का गर्भाशय कई योनि-नलिकाओं के सम्मेलन से बनता है, परन्तु यह एककोष्ठी होता है और बीज गर्भाशय की भीतरी दीवाल पर वर्त्तमान गर्भ-झिल्ली पर लगे रहते हैं। ऐसे बीजक्रम को 'पृष्ठवर्त्ती' (Parietal) कहते हैं (चि० १८ अ)। किसी-किसी पौधे में गर्भ-झिल्ली अब अन्दर की ओर अधिक दूर तक बढ़ जाती है, परन्तु बीच में मिलती नहीं है तो गर्भाशय में इनकी सख्या के अनुसार उतने ही 'अपूर्ण व्यवधान' (Incomplete Partitions) होते हैं। जब कभी गर्भ-झिल्ली बीच में मिल जाती है तो गर्भाशय में उतने ही कोष्ठ बन जाते हैं। ऐसा गर्भाशय नींबू, गुलहड़, भिंडी आदि में होता है। इस बीजक्रम को 'आक्षीय' (Axile)

चि० ९—धतूरे के दललग्न परागकेसर

(अ) (ब)

चि० १०—(अ) द्वयोद्धतकेसरी, (ब) चतुरोद्धतकेसरी।

चि० ११—योनिचक्र

कहते हैं (चि० १८ ब)। कोठरियों के बीच की झिल्ली को 'व्यवधान' (Septa) कहते हैं। ये पड़ोसवाली योनिनलिकाओं के संयोग तथा बाद में संयुक्त रचना के अन्दर उभर आने से बनते हैं। बैंगन, धतूरा, टमाटर आदि में मिथ्या व्यवधान से गर्भाशय के कोष्ठों की संख्या बढ़ जाती है। इसी तरह मूली, सरसों आदि में भी एककोष्ठी गर्भाशय मिथ्या व्यवधान से द्विकोष्ठी हो जाता है। यहाँ मिथ्या व्यवधान को 'छद्मपट' (Replum) कहते हैं। कुल्फा और डायँथस में गर्भाशय संयुक्तयोनि एककोष्ठी होता है तथा बीज बीचोबीच वर्त्तमान अक्ष पर लगे होते हैं। ऐसे बीजक्रम को 'स्वतत्राक्षीय' (Free central) कहते हैं (चि० १८ स)। बीजक्रम के यही तीन मुख्य भेद हैं और बहुधा पौधों में इन्हीं में से एक-न-एक भाँति का बीजक्रम होता है। कभी-कभी गर्भ-झिल्ली एक नोक पर होती है जो कभी आधार (Base) पर और कभी शिखर (Apex) पर होती है। पहली अवस्था में बीजक्रम को 'धारीय' (Basal) और दूसरी में 'अग्रस्थ' (Apical) कहते हैं।

'बीजांड' या 'डिम्ब' (Ovule) गर्भ-झिल्ली से उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे बढ़ता है। क्रमशः यह शिखर की ओर को मोटा और गोल तथा नीचे की ओर को पतला होने लगता है और अन्त में ऊपरी भाग निचले भाग से बिल्कुल निराला हो जाता है। निचले पतले भाग को 'डिम्बनाल' (Funicle) कहते हैं। बीजाड के ऊपर एक या दो आवरण होते हैं, जिन्हे 'डिम्बावरण' (Integuments) कहते हैं। इन आवरणों में कई तह होती हैं और इनकी कोशभित्तिकाएँ प्राय दृढ होती हैं। बाहरी आवरण के ऊपर एक जगह सुई के छेद-जैसा महीन सूराख़ होता है, जिसे 'सूक्ष्मछिद्र' (Micropyle) कहते हैं। सूक्ष्मछिद्र बीज पककर तैयार हो जाने पर भी उस पर बना रहता है और ध्यान देकर देखने पर नज़र आता है। यदि चने या मटर भली भाँति भिगोने के बाद पानी पोंछकर दबाए जाएँ तो सूक्ष्मछिद्र की राह से भीतर मे जल की बूँद निकलती दिखाई देगी। डिम्बावरण के अन्दर एक कोमल तन्तुओं का समूह होता है, जिसे 'कोशपरित्वचा' (Nucel-

lus) कहते हैं। डिम्ब का अधिक भाग इसी से भरा रहता है। डिम्बावरण कोशपरित्वचा के तले से उत्पन्न होते हैं। जिस स्थान से ये निकलते हैं, उसे 'सधिस्थान' (Chalaza) कहते हैं। डिम्बनाल के जोड़ का चिह्न बीज पर बना रहता है। इसे 'नालचिह्न' (Hilum) कहते हैं।

जिस ओर सूक्ष्मछिद्र होता है उस ओर कोशपरित्वचा में एक विशेष प्रकार का कोश होता है, जिसे 'गर्भकोश' (Embryo Sac) कहते हैं (चि० १६)। साधारण कोमल तन्तुकोशों की भाँति इसमें भी जीवन-मूल और कोश-रस भरा रहता है तथा प्रारम्भ में एक नाभिक होता है (चि० २० अ)। थोड़े समय पश्चात् यह नाभिक दो में विभाजित हो जाता है (चि० २० ब)। इनमें से एक नाभिक गर्भकोश के एक सिरे पर और दूसरा दूसरे सिरे पर खिसक आता है। यहाँ इन दोनों के दो-दो बार विभाजन से चार-चार नाभिक उत्पन्न हो जाते हैं। अब इनमें से एक-एक नाभिक दोनों ओर से गर्भकोश के बीच की ओर खिसकने लगता है और अन्त में गर्भकोश के केन्द्र में पहुँचकर ये दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं, जिससे एक सयुक्त नाभिक बन जाता है (चित्र २० द)। इसे गर्भाशय का 'दोयम' (Secondary) या 'अनुषगी (Definitive) नाभिक' कहते हैं। इस समय गर्भकोश में तीन नाभिक सूक्ष्मछिद्र की ओर तथा तीन सधिस्थान की ओर होते हैं और बीच में अनुषगी नाभिक होता है। सूक्ष्मछिद्र की ओर वाले नाभिकों के बीच में कोशभित्तिका नहीं होती और ये केवल जीवनमूल से ही घिरे रहते हैं। इन्हें 'अडयत्र' (Egg Apparatus) कहते हैं। इनमे से सबसे बडे को, जो नीचे की ओर होता है, 'अडबीज' (Egg) कहते हैं। इसके साथ के शेष दो नाभिक 'सहचरी युग्म' (Synergids or Synergidæ) कह-

चि० १२—योनिछत्र के कुछ भेद
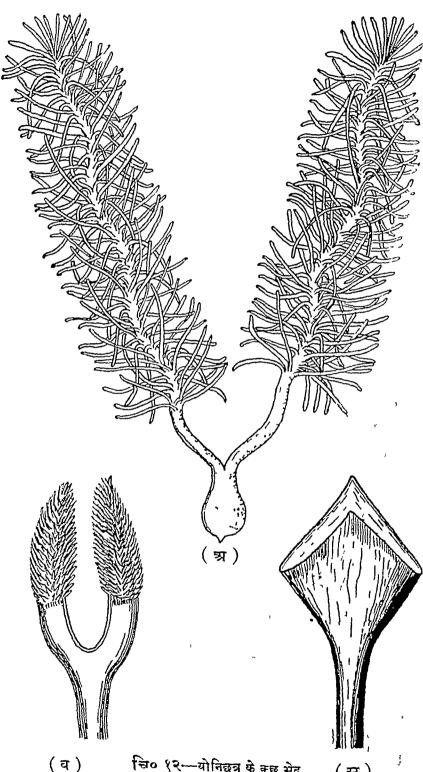
चि० १३—त्रिगर्भकेसर एक-कोष्ठी गर्भाशय

चि० १४—त्रिगर्भकेसर त्रिकोष्ठी गर्भाशय

चि० १५—सयुक्त पंचगर्भकेसर गर्भाशय
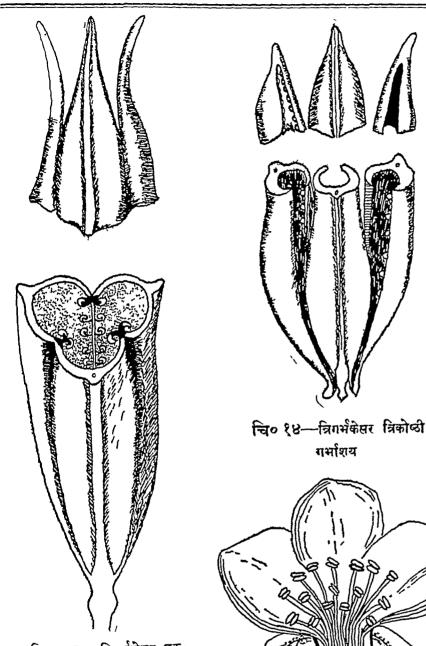
चि० १६—स्वतंत्र बहुगर्भकेसर गर्भाशय

लाते हैं। बीजांड के दूसरे सिरे-वाले तीन नाभिकों के बीच भित्तिकाएँ होती हैं और इनको 'अभिमुख कोश' (Antipodal Cells) कहते हैं (चि० १६)। यह साधारण डिम्ब की अवस्था है। कभी-कभी डिम्ब की रचना इससे भिन्न होती है।
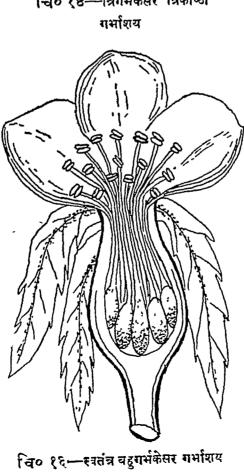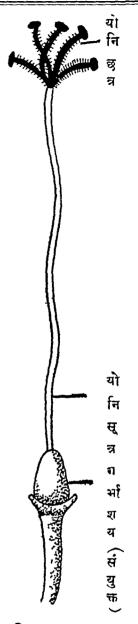
डिम्ब के भेद—(चि० २१)—विविध भाँति की रजोपेटियों (Embryo Sacs) में नालचिह्न, सधिस्थान और सूक्ष्मछिद्र का एक दूसरे से सम्बन्ध अलग-अलग होता है। डिम्बावरण एक, दो अथवा तीन तक होते हैं। बहुधा डिम्ब सीधे होते हैं। ऐसे डिम्बों में सधिस्थान और नालचिह्न पास-पास होते हैं और सूक्ष्मछिद्र

इन्हीं की सिधान में शिखर पर होता है। ऐसी दशा में डिम्ब को 'ऊर्ध्वमुखी' (Orthotropous) कहते हैं (चि० २१ अ)। इस अवस्था में डिम्ब किसी ओर को टेढ़ा या झुका नहीं होता। इसके विपरीत एक दूसरी भाँति का डिम्ब भी होता है, जिसमें मुख नीचे की ओर को होता है। इसमें डिम्बनाल की विशेष वृद्धि के कारण सधिस्थान नालचिह्न के पास से हटकर दूसरी ओर आ जाता है और गर्भकोश-परित्वचा उलट जाती है। डिम्बनाल इसकी एक ओर जुड़कर साथ-ही-साथ बढ़ने लगता है। इनके बीच के जोड़ को 'सधिरेखा' (Raphe) कहते हैं। कभी-कभी यह जोड़ स्पष्ट दिखाई नहीं देता। ऐसे डिम्ब को, जिसमें मुख नीचे की ओर को होता है, 'अधोमुखी' (Anatropous) कहते हैं (चि० २१ ब)। एक तीसरी प्रकार का डिम्ब और होता है, जिसमें उपरोक्त डिम्बों के बीच की अवस्था होती है और जिसे 'अर्धवक्र' (Amphitropous) कहते हैं। इसमें गर्भकोश-परित्वचा सीधी तो होती है, पर इसकी अक्ष डिम्बनाल की एक सिधान में न होकर झुककर उससे समकोण बनाती है। चौथे प्रकार के डिम्ब में गर्भकोश-परित्वचा इतनी टेढी हो जाती है कि नालचिह्न, संधिस्थान और सूक्ष्मछिद्र बिल्कुल ही पास-पास आ जाते हैं (चि० २१)। ऐसे डिम्ब को 'वक्रमुखी' (Campylotropous) कहते हैं (चि० २१ स)।
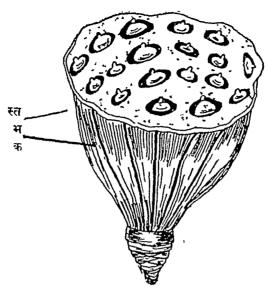
चि० १७—कमल का गर्भाशय—स्वतंत्र बहुदल-केसर गर्भाशय (यहाँ स्तंभक के ऊपर बहुत-सी योनिनलिकाएँ होती हैं)

ऊपर फूल की रचना और उसके विभिन्न अंगों के आकार, आकृति तथा उसके अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध आदि का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। यदि हम इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए किसी भी फूल का सचित्र विवरण लिखें तो इस विषय से परिचित व्यक्ति को ऐसे फूल को अन्य फूलों से पहचानने में विशेष कठिनाई न होगी। इन्हीं लक्षणों के आधार पर पौधों के वर्ग, जाति उपजाति तक का सुगमता से निर्णय हो जाता है। वनस्पति-वैज्ञानिक फूल के प्राय. सभी लक्षणों को बहुत थोड़े में बड़े सुन्दर और सरल ढंग से 'पुष्पचित्र' (Floral Diagram) और 'पुष्पसूत्र' (Floral Formula) द्वारा सूचित कर देते हैं। इन दोनों में पुष्पचित्र विचार करने योग्य है।

पुष्पचित्र—पुष्पचित्र कली के अवच्छेद का मानचित्र है, जो उसके सभी अगों की सख्या, निजासंग तथा परासग आदि को प्रकट करता है। यथार्थ में यह काल्पनिक चित्र है। पुष्पचित्र को प्रकट करने के कुछ विशेष नियम और सकेत हैं, जिनके अनुसार ही इसकी रचना होती है।

सबसे पहले फूल के भिन्न-भिन्न धरातलों के जानने की आवश्यकता होती है। जिस शाखा पर फूल लगे होते हैं, उसे 'आद्य अक्ष' (Mother Axis) कहते हैं। पुष्पचित्र में इसको सबसे ऊपर की ओर एक विन्दु अथवा + चिह्न

(अ)

(ब)

(स)

चि० १८—बीजक्रम

चि० २०—गर्भकोश की उत्पत्ति

चि० १९—गर्भाशय और गर्भकोश

चि० २१—रजोपेटी के मुख्य भेद
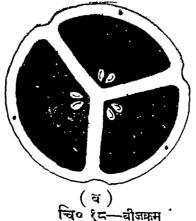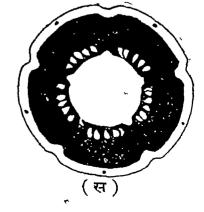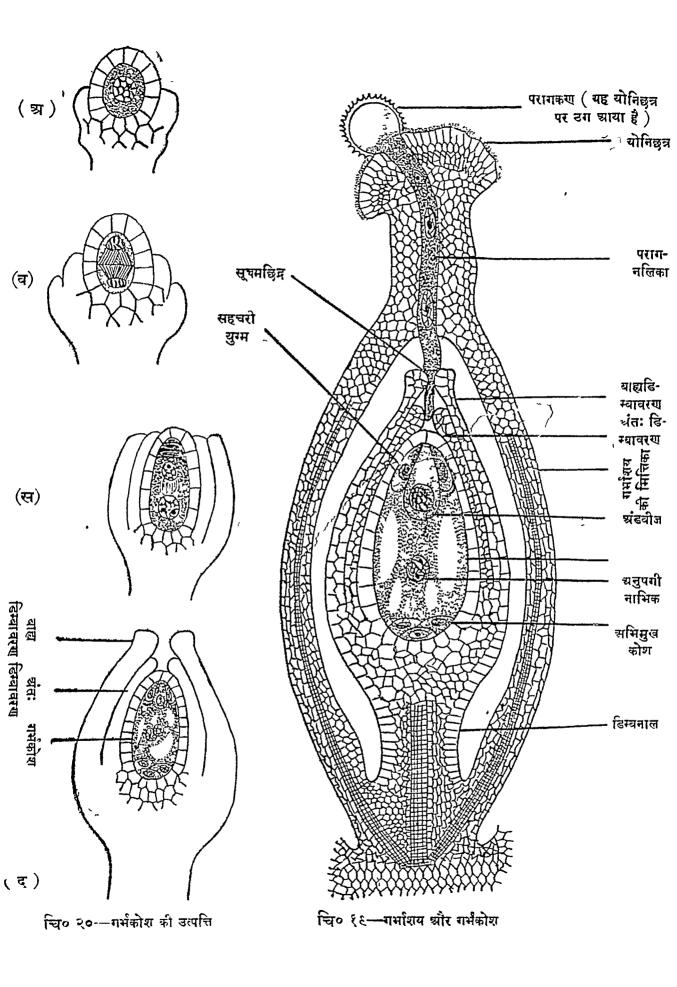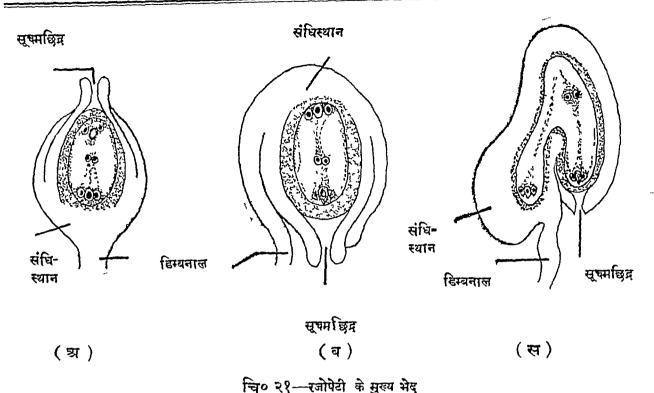
(अ) ऊर्ध्वमुखी; (ब) अधोमुखी ; (स) वक्रमुखी ।

द्वारा अंकित करते हैं। इसके अभिमुख वृन्तपत्र होता है। वृन्तपत्र की ओर के भाग को 'पूर्वस्थ' (Anterior) और आद्य अक्ष की ओर के भाग को 'पृष्ठस्थ' (Posterior) कहते हैं। इन दोनों को मिलानेवाले धरातल को 'मध्य धरातल' (Median Plane) कहते हैं। मध्य धरातल से ठीक समकोण पर के धरातल को 'पार्श्वी' (Lateral) धरातल कहते हैं। इन दोनों के बीचवाले धरातलों को 'कोणीय' (Diagonal) धरातल कहते हैं (चित्र २२)। पुष्पचित्र बनाते समय इन दोनों का निर्णय कर लेना आवश्यक है।

पुष्पचित्र दो प्रकार के होते हैं—(१) यथार्थ और (२) कल्पित। यथार्थ पुष्पचित्र में फूल की जैसी रचना दृष्टिगत होती है वैसी ही प्रकट की जाती है, परन्तु कल्पित पुष्पचित्र में फूल के लुप्त अंगों को भी दिखाते हैं। यथार्थ पुष्पचित्र में लुप्त अंगों को बिन्दुओं द्वारा दिखला देने से ही कल्पित चित्र बन जाता है।

आद्य अक्ष और वृन्तपत्र को अंकित करने के पश्चात् फूल के दूसरे अंगों को केंद्रीय चक्रों द्वारा प्रकट करते हैं। प्रत्येक मंडल में पुष्पपत्र उनके क्रम तथा संख्या के अनुसार बनाए जाते हैं और उनका आपसी तथा पड़ोसवाले अवयवों का मिलान भी यथाक्रम दिग्दर्शित किया जाता है। चित्र बनाते समय सबसे अधिक कठिनाई पुष्पलिंग और पुष्पयोनियों का स्थान निश्चित करने में होती है; क्योंकि प्राय इनमें फूल के अन्य अंगों से अधिक विलक्षणता रहती है। फिर भी आद्य अक्ष और इन भागों का सम्बन्ध सदैव निश्चित रहता है, जिससे इनके स्थानों का भी ठीक-ठीक निर्णय हो जाता है। बहुधा द्विकोष्ठी गर्भाशय का व्यवधान मध्य धरातल में होता है, अर्थात् ऐसे फूलों में दोनों पुष्पयोनियाँ 'अग्रग-पृष्ठग' (Anteroposterior) धरातल में होती हैं। सर्षप वर्ग (Cruciferæ) में पुष्पयोनियाँ पार्श्वी धरातल में और कटकारी वर्ग में कोणीय धरातल में होती हैं। अन्तिम वर्ग में व्यवधान तिरछा होता है।

पुष्पसूत्र से भी फूल की बहुत-सी विशेषताओं का पता चलता है। इसके प्रकट करने के लिए फूल के भिन्न-भिन्न अंगों के लिए भिन्न-भिन्न संकेत हैं। पुटचक्र को 'प' (K), दलचक्र को 'द' (C), लिंगचक्र को 'ल' (A) और योनिचक्र को 'य' (G) तथा परिसचक्र को 'स' (P) से सूचित करते हैं। प्रत्येक अंग की संख्या उसके बाद ही लिख देते हैं। अनिश्चित अथवा अधिक संख्या को ∞ चिह्न से प्रकट
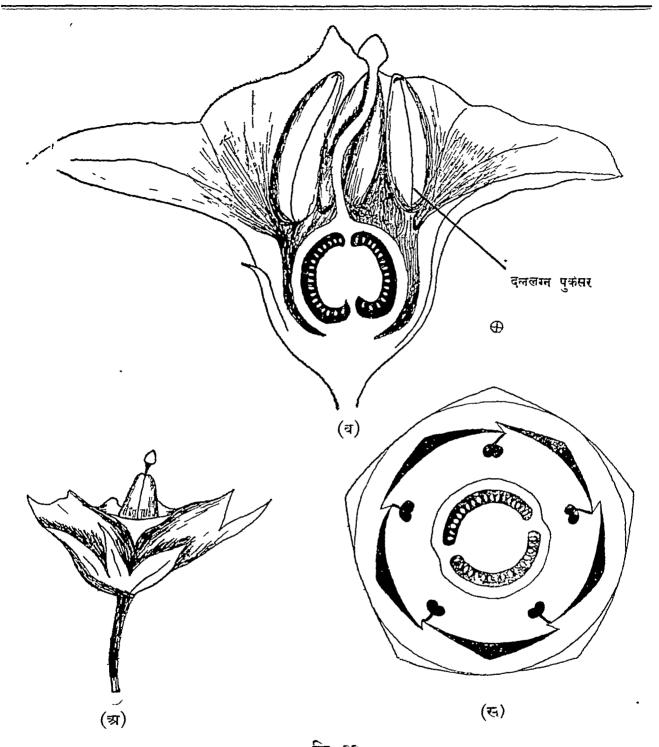
चि० २२

(अ) कटकारी जाति का फूल, (ब) उसके आडे कत्तल का चित्र, (स) उसका पुष्पचित्र ।

करने हैं। अगों के अवयवों का पारस्परिक मेल उनकी संख्या को कोष्ठ के अन्दर लिखकर जाहिर करते हैं। अगर किसी अंग का पड़ोसवाले अंग के साथ मेल हो तो उनके ऊपर रेखा खींचकर प्रकट करते हैं। यदि फूल के किसी भाग में दो अथवा अधिक मंडल हों तो भिन्न-भिन्न चक्र की संख्या लिखकर बीच में धन-चिह्न लगा देते हैं। उदाहरण के लिए सरसों, गुलहड़, आलू और मटर के पुष्प-सूत्र नीचे दिए जाते हैं —

सरसों—प ४ द ४ ल २ + ४ य (२)

आलू—प (५) द (५) ल य (२)

गुलहड—प (५) द ५ ल (∞) य (५)

मटर—प (५) द ५ ल (६) + १ य १

जानवरों द्वारा काम में लाये जानेवाले आत्म-रक्षा के कुछ अद्भुत उपाय

जानवरों की जीवन-लीला वास्तव में ऐसी सरल नहीं है जैसी कि हमें प्रतीत होती है। हमारे ही समान उन्हें भी अपने जीवन को बनाए रखने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ता है। जीवन-सग्राम की कटुता उनके लिए भी उतनी ही विषम है, जितनी कि मनुष्य जाति के लिए। उन्हें भी नित्य शत्रुओं का भय रहता है और उनसे बचने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ सोचनी पड़ती हैं। प्रस्तुत लेख में हम कुछ ऐसे ही उपायों का मनोरंजक वर्णन करेंगे।

यों तो प्राय शिकार के साथ-साथ आत्म-रक्षा के लिए भी हम जानवरों को अपने दाँत, चोंच, सींग, पंजे, काँटे आदि अंग काम में लाते देखते हैं, किन्तु यहाँ इन साधारण उपायों से हमें सरोकार नहीं। हमें तो आपका ध्यान कुछ ऐसी विचित्र बातों की ओर ले जाना है, जो कि विशेष रूप से उनके द्वारा प्रायः आत्म-रक्षार्थ प्रयोग में लाये जाते हैं।
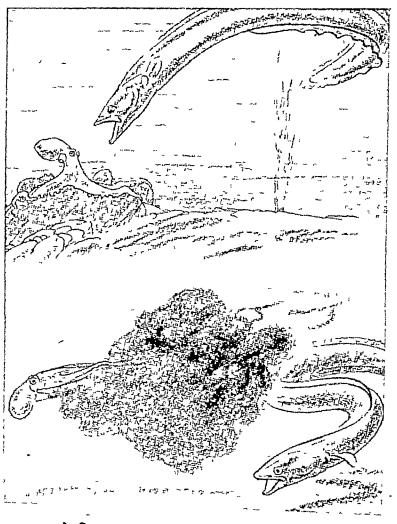
आत्म-रक्षा के लिए अष्टपाद द्वारा धुँआ छोड़े जाने का अद्भुत दृश्य (ऊपर) 'कोंजर' नामक मत्स्य अष्टपाद पर आक्रमण कर रहा है, (नीचे) अष्टपा धुआँ छोड़कर उसकी टट्टी की ओट में भाग रहा है।

इस प्रकार के आत्म-रक्षा के जो यत्न जन्तु-जगत् में पाए गए हैं, उन्हें हम पाँच प्रधान विभागों में बाँट सकते हैं—(१) अदृश्य होना, (२) शत्रुओं को किसी प्रकार से भयभीत कर देना, (३) उनका ध्यान अपने मर्मस्थल विशेष की ओर से फेर देना; (४) उनके लिए अरुचिकर बन जाना; तथा (५) ऐसा दृष्टिगोचर होना कि शत्रु के मन में उनके प्रति दिलचस्पी ही न हो।

साधारणतया जन्तुओं के रंग उनके आसपास के वातावरण से मिलते-जुलते रहते हैं, जिससे वे सहज में उससे

पृथक् पहचाने नहीं जा सकते । "उत्तरी ध्रुव में रहनेवाले भालुओं का रंग श्वेत और रेगिस्तानों में मिलनेवाले सर्प, छिपकलियों, हिरन आदि का भूरा बलुवा होता है। अपने बदन के धब्बों के कारण तेंदुआ और जिराफ वृक्षों की छाया में तथा अपनी धारियों द्वारा जेबरा व चीता बॉस अथवा अन्य जंगली घास की झाडी में ऐसे मिल-जुल जाते हैं कि यदि वे हिलें-डुलें नहीं तो काफी समीप रहने पर भी सहज मे वे दिखाई नहीं देते । विलायत में एक ऐसा ख़रगोश पाया जाता है, जो वर्ष में दो बार ऋतु-परिवर्तन के अनुसार रंग बदलता है। उसका शरीर जाड़े में तो सफेद बालों से ढका रहता है, परन्तु गर्मी मे उसके वे बाल गिर जाते हैं और उनके स्थान पर भूरे बाल निकल आते हैं। यह तो एक बहुत साधारण दृष्टान्त है। वस्तुत कई प्राणियों में अपने को छिपाने के इनसे भी अधिक विचित्र उपाय पाए जाते हैं और जो भी शत्रु उनके निकट जाने का साहस करते हैं, उनकी आँखों में धूल झोंककर वे दूसरा रूप धारण कर या रंग बदल करके ऐसा धोखा देते हैं कि एकदम साफ़-साफ़ बच जाते हैं।

अदृश्य होकर बचना

शत्रु की दृष्टि से छिपकर बच जाने या उसकी दृष्टि में धूल झोंककर अपने प्राण बचाने के उपरोक्त अद्भुत उपायों में से सबसे विचित्र नमूने नीचे दिये जा रहे हैं:—

(१) धुएँ का परदा आड़ में डालकर भाग निकलना—महासागर में एक प्रकार के जीव पाए जाते हैं, जो घोंघा और सीपी से मिलते-जुलते होते हैं । इन अष्टपदी प्राणियों की अन्न-प्रणाली के छोर पर एक थैली गाढ़े रग की स्याही से भरी हुई रहती है। यह स्याही इच्छानुसार थैली दबाकर शरीर के बाहर निकाली जा सकती है। नर्म मांस वाले ये जीव कई जातियों की मछलियों के प्रिय भोज्य पदार्थ हैं और कोन्ग़र नामक बान मछली तो हरदम इनके पीछे ही पड़ी रहती है। परन्तु इस शत्रु मछली का खटका पाते ही अष्टपाद बचाव के एक बड़े ही अनोखे उपाय से काम लेता है। वह जल्दी-जल्दी अपनी उस थैली की स्याही आसपास फेंकने लगता है, जो शीघ्र ही पानी में एक प्रकार का धुँआ-सा उठाकर बादलों के समान फैल जाती है, जिससे कि शत्रु उसे देख नहीं पाता। इस प्रकार बहुधा वह ख़तरे से बच जाता है।

रक्षा की यह रीति वर्त्तमान युद्ध में भी प्रयुक्त की जाने लगी है। प्राय लडाकू समुद्री जहाज़ों तथा जगी वायुयानों मे अब इसी प्रकार का धुँआ फेंकने का प्रबन्ध रक्खा जाने लगा है । जब दूसरे पक्ष के जहाज़ एवं वायुयान उनका पीछा करते हैं तो वे उनकी ओर धुँआ उड़ाने लगते हैं, जिससे शत्रुओं की तोपें उनका ठीक-ठीक निशाना न लगा सकें और वे धुँए की उस टट्टी की आड़ में जल्दी से भागकर उनसे दूर हो जायँ।

(२) अपने को छिपाने के लिए ऐसी बाहरी वस्तुओं से शरीर ढक लेना अथवा उसे इस प्रकार बदल लेना कि शत्रु को धोखा हो जाय—यों तो इस प्रकार के कई उदाहरण कीडों-मकोड़ों और अन्य जानवरों में मिलते हैं, किन्तु इसका सबसे अच्छा उदाहरण उस समुद्री केकडे में मिलता है जो अपनी लम्बी पतली टॉगों के कारण **मकड़ी-केकड़ा** के नाम से पुकारा जाता है । यह केकड़ा बहुधा अपने ऊपर छोटी-छोटी टहनियों का एक ढेर लादे रहता है, जिससे वह बालू पर चलते अथवा पानी में तैरते समय अपनी शत्रु चिड़ियों और मछलियों की निगाह ही में नहीं आ पाता।
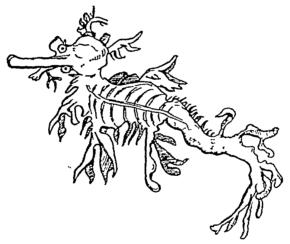
'समुद्री घोड़ा' नामक विचित्र जलजीव
विशेष जानकारी के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए तथा अगले पृष्ठ का चित्र देखिए।

एक और प्रकार से आत्म-रक्षा करने का दृष्टान्त हमें समुद्र के उन अनोखे जीवों में मिलता है, जो वास्तव मे हैं तो मछली जाति के, किन्तु साधारणत जिन्हें **समुद्री घोड़ा** कहकर पुकारा जाता है। इसका कारण यह है कि उनके गर्दन और सिर का आकार घोडे के ही समान होता है। इन समुद्री घोड़ों के शरीर पर जगह-जगह खाल बढ़कर एक निराली झालर के रूप में लटकती रहती है। यह झालर एक प्रकार के समुद्री पौधों से, जो विशेषकर इन जीवों के वासस्थानों में बहुतायत से उगते हैं, ऐसी मिलती-जुलती है कि जब यह जीवधारी इन पौधों में अपनी दुम लपेटकर लटक जाता है, तब सहज में उसका पता नहीं लगता। इस प्रकार के रक्षा के प्रयोग अब युद्ध में बहुत काम आ
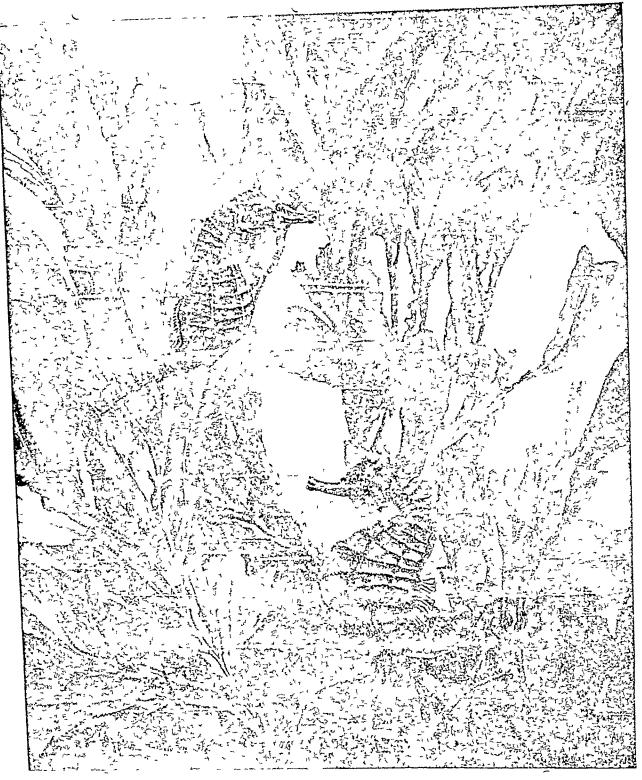
समान आकृति अथवा रंग की बदौलत अपने आसपास के वातावरण में घुल-मिलकर शत्रु की निगाह से बचे रहने का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला अनोखा जलजीव—'समुद्री घोड़ा'

यह जीवधारी वस्तुत: है तो एक प्रकार की मछली, परन्तु अपनी गर्दन और थूथन की घोड़े की-सी आकृति ही के कारण वह उपरोक्त नाम से पुकारा जाता है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके शरीर पर की चमड़ी जगह-जगह बढ़कर झालर की तरह लटकती रहती है और यह झालर अपने आकार-प्रकार तथा रूप-रंग में एक प्रकार के समुद्री पौधों से, जिनके कि बीच यह जलजीव रहता है, इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि वह जब अपनी दुम लपेटकर उनमें लटक जाता है तो उसे पृथक् देख पाना आसान नहीं होता। इस प्रकार शत्रुओं की क्रूर दृष्टि से वह बचा रहता है!

रहे हैं। भारतवर्ष में पिछले महायुद्ध के समय स्थान-स्थान पर सुतली और सूत के जाल बड़ी सख्या मे इसीलिए बनाए गए थे कि उनको बड़ी-बड़ी तोपों पर तानकर उन पर पेड़-पत्ते या घास-फूस के आच्छादन द्वारा एक ऐसी धोखे की टट्टी बना दी जाय कि शत्रु के वायुयान उनके स्थान का ठीक-ठीक पता न पा सकें। मलाया और वर्मा के जंगलों में लड़नेवाले जापानी सिपाही अपने शरीर और कपड़ों को प्राय ऐसा रँग लेते थे और टोप तथा कंधों पर घास और वृक्षों की टहनियों को ऐसी सफाई के साथ सजा लेते थे कि वे जंगल के अपने आसपास के वातावरण में बिलकुल मिल-से जाते थे, यहाँ तक कि शत्रु सिपाही बहुधा धोखे में आकर उनके बिलकुल निकट पहुँचकर उनकी गोलियों का निशाना बन जाते थे!

(३) अपने रंग और आकृति के परिवर्त्तन द्वारा दृष्टि से लुप्त हो जाना—इस पद्धति द्वारा प्राणरक्षा के अनेक उपाय जानवरों में पाए जाते हैं। गिरगिट के रंग बदलने की कथा से तो हम आपको इससे पूर्व के लेख में परिचित
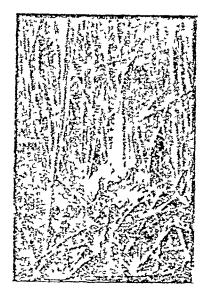
बिटर्न नामक यह पक्षी अपने शरीर की विशेष धारियों के कारण घोंसले में कैसा छिप-सा गया है!

कर ही चुके हैं। ऐसे दृष्टान्तों को प्रकृति-प्रेमी अपने निकटवर्ती जीवों, विशेषतया कीड़े मकोड़ों, का अध्ययन कर स्वयम् पा सकते हैं। यहाँ पर हम आपके सम्मुख केवल दो ही ऐसे दृष्टान्त रख रहे हैं, जिनमे से एक है एक पतिंगे का, और दूसरा एक पक्षी का।
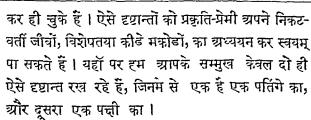
हमारे देश के पहाड़ों (दारजिलिंग आदि) मे कलीमा नामक एक तितली मिलती है, जो अपने परों के विचित्र रंग के कारण ससार भर में प्रसिद्ध हो चुकी है। इस तितली के परों का रंग ऊपर की ओर सुन्दर चटकीला होता है। काली पृष्ठभूमि पर इसका हलका नारंगी और गहरा सुनहरा रंग बड़ी सुन्दरता के साथ मिला रहता है तथा उस पर जगह-जगह बैंगनी रग की तेज़ झलक-सी उठा करती है। परंतु यदि इन सुन्दर रँगीले परों को उलट दिया जाय तो वे बिलकुल सूखे पत्ते के समान देख पड़ते हैं और न केवल सूखे पत्ते के समान उनका रंग ही होता वरन् जहाँ-तहाँ वैसे ही धब्बे भी उन पर बने होते हैं! सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि पत्तों ही की तरह

रूप-परिवर्त्तन द्वारा आत्म-रक्षा का दृष्टान्त प्रस्तुत करनेवाली 'कलीमा' नामक तितली। चित्र में वह उस दशा में दिखाई गई है जबकि वह अपने पर समेट लेती है और फलतः वह किसी पौधे के सूखे पत्ते की तरह दिखाई देने लगती है, जिससे कि उसके शत्रु धोखा खा जाते हैं।
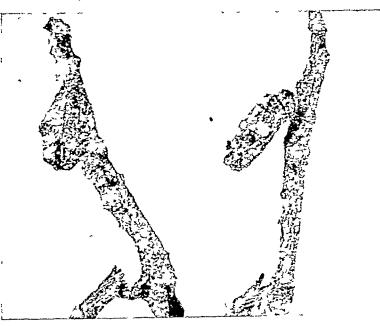
शत्रु को भयभीत करने के लिए सर्प के मुँह की-सी आकृति धारण किए रहने वाला वर्मा के बाँसों के जंगलों में पाया जानेवाला पतिंगे का कोषस्थ (विशेष विवरण पृष्ठ२८७४ पर पढ़िए)।

उसके परों पर एक मोटी नस भी उभरी रहती है और उसके पिछले हिस्से से एक छोटी दुम-सी निकली रहती है, जो उन परो के बन्द हो जाने पर पत्ती के डठुल सी दिखाई देती है।

आपके मन मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर इस व्यवस्था से उस तितली को लाभ क्या है? आइए, आपको इसका रहस्य बतलाएँ। बात यह है कि जब यह तितली उड़ती है तो उसके सुन्दर पर खुले रहते हैं और आस-पास के उड़नेवाले पक्षी उसके चटक रग से सहज ही उसे दूर से ही पहचान लेते हैं। परन्तु ज्यों ही कोई पक्षी शिकार के लालच से उस पर झपटने की चेष्टा करता है, और तितली को उसका खटका मिलता है त्योंही वह तेजी से उड़कर निकट के वृक्ष की टहनी पर जा बैठती है और बैठते ही उसके पर ऊपर को बन्द हो जाते हैं। उसके बैठने की वह युक्ति ऐसी होती है, कि जिससे उसके पर वृक्ष की टहनी पर लगे पत्ते जैसे जान पड़ते हैं और फलत वह चिड़िया, जो कि इस तितली पर अपनी दृष्टि स्थिर किए पीछा कर रही थी, उसका पता न पा उड़ती चली जाती है। इस प्रकार तितली की जान बच जाती है। इससे यह बात स्पष्ट है कि जब यह तितली पेड़ो पर विश्राम करती होगी उस समय उसे कोई विशेष खटका नहीं रहता होगा।

पौधे की टहनी या डंठल सा दिखाई पड़नेवाला भारतीय कीड़ा
यह सूरत-शक्ल में इस प्रकार पौधों की टहनी से मिलता-जुलता होता है कि, जैसा कि चित्र में दिग्दर्शित है, उसे अलग से पहचाना ही नहीं जा सकता। यह उसके लिए आत्म-रक्षा का ही एक साधन है।

मैडेगास्कर का अद्भुत बृहत्काय पतिंगा
जिस पर किसी शिकारी चिड़िया का वार होने पर अपनी दुम के निकले हुए पतले लबे छोरों तथा परो के कारण तनिक भी आँच नहीं आ पाती, क्योंकि प्रायः चिड़िया की पकड़ में उसके परों के ये अंश ही आ पाते हैं और उसका मुख्य शरीर बचा रह जाता है।

इसी प्रकार का अन्य एक उदाहरण इग्लैण्ड, योरप और अमेरिका मे पाई जाने वाली बगुला वश की बिटर्न नामक चिड़िया का है। यह चिड़िया साधारणत नरकुल या सेंठे के दलदली जंगलों में रहती

है और उसके नर-मादा दोनों ही का रग मिलता-जुलता होता है। साधारणत उसका रग पिलौंहे भूरे रग का होता है, और उस पर काली या गहरी भूरी धारियॉ और धब्बे पड़े रहते हैं। उसके सीने पर लम्बे पर होते हैं, दुम छोटी और चोंच तथा गर्दन पतली और लम्बी होतीहै। मि० पाइक्राफ्ट नामक एक प्रकृति-वैज्ञानिक लिखते हैं कि "जब यह चिडिया सीधी खड़ी हो जाती है तो उसकी गहरी भूरी धारियॉ, जो गर्दन से नीचे की ओर फैली रहती हैं, नरकुलों के बीच की छाया-सी लगती हैं और उसके शरीर का हलका रग तथा पर की मोटी गहरी धारियॉ नरकुल के सूखे डठुल की-सी दिखाई देती हैं। इस प्रकार यह चिड़िया अपने आसपास की परिस्थिति से बिलकुल मिल जाती है।" शिकारियों ने लिखा है कि ऐसी दशा में कभी-कभी गज भर दूर होने पर भी वे इन चिड़ियों को पहचान न सके और ये बचकर उड गईं।

शत्रु को भयभीत करके बचना

बर्मा में एक पतिंगा पाया जाता है, जिसका कोपस्थ (पर आने से पूर्व की अवस्था का जीव) भी कलीमा तितली की भॉति सर्वविख्यात हो गया है। यह उत्तरी बर्मा में बॉस के पेड़ों से लटका रहता है। उसका भेष एक छोटे सर्प के उठे हुए सिर से ऐसा मिलता-जुलता होता है कि यदि आप देखें तो चकित रह जाएँ। इस शक्ल का एक साँप भी उसी प्रदेश के वृक्षों पर पाया जाता है और छोटी-छोटी चिड़ियों को पकड़ कर खाता है। आश्चर्य की बात यह है कि इस पतिंगे के कोपस्थ पर ठीक उसी सॉप की सी दो ऑखें, नथुनें, थूथन, मुँह और ठोंड़ी ऐसी अच्छी तरह बने होते हैं कि शिकार के लिए उसकी ताक में रहनेवाली चिड़ियॉ दूर से ही उसे सॉप समझ धोखा खाकर उसे योंही छोड देती हैं।

पस नाम के पतिंगों की इल्ली के शरीर के पिछले छोर पर दो लम्बे लचीले कोड़े-से बने रहते हैं, जो फुर्ती से अपनी अपनी नलिका में खिंच जाते और जब चाहे बाहर निकल पड़ते हैं। इस इल्ली के अगले छोर पर कुछ दूर ऑख जैसे दो निशान होते हैं। खटका होने या छेड़े जाने पर यह इल्ली झट अपनी ऑखो के अगले भाग को सिकोड़ लेती है और तुरंत ही उसके दोनों कोडे सीधे ऊपर की ओर निकल जाते हैं। उस समय वे अगले चिह्न वास्तव में डरावनी ऑखें जैसे प्रतीत होते हैं और पिछले कोडे सींगों की तरह आक्रमण करनेवाले किसी जतु की सूचना देते दीखने हैं। सींगो के बन्द होने और निकलने की यह निराली रचना तथा ऑख जैसे ये चिह्न उसे शिकारी चिड़ियों से बचने के लिए ही प्रकृति द्वारा प्रदान की गई विशिष्ट देन हैं। इसके अतिरिक्त उनका कोई अन्य कार्य नहीं जान पड़ता।

भारतवर्ष के निकट के समुद्रों में गोला या तोता नामक एक मछली पाई जाती है। इस मछली की कुछ जातियों में शरीर पर सुन्दर रग के धब्बे रहते हैं और ऐसे कॉटे बने

साधारणत हिंसक पशुओं द्वारा शिकार किए जानेवाले जंतुओं का रंग-रूप उनके आसपास के वातावरण के रंग-रूप के साथ ऐसा मिलत -जुलता सा होता है कि सहज ही, वे अपने शत्रुओं की क्रूर दृष्टि से छिपे रहकर अपनी जान बचा लेते हैं। इनका एक उत्कृष्ट उदाहरण हमारे देश में मिलनेवाला चीतल मृग है, जो चित्र में दिग्दर्शित है।

रहते है कि जब चाहें तब वे खाल में छिप जाएँ और जब चाहें खडे हो जाएँ। जब तक यह मछली छेड़ी नहीं जाती तब तक तो ये कॉटे शरीर पर स्थिर पडे रहते हैं, पर बहुधा देखा गया है कि जब वह मछुओं के जाल में आ जाती है तो उसका शरीर फूलकर गोल बन जाता है, उसके सारे कॉटे खडे हो जाते हैं और मुँह खुलने पर उसमें तोते की चोंच के-से दॉत दिखाई देने लगते हैं। इसके साथ-साथ उसके मुँह से गलल-गलल जैसी आवाज भी निकलने लगती है, जैसी एक खाली बोतल को पानी में डुबाने से सुनाई देती है।
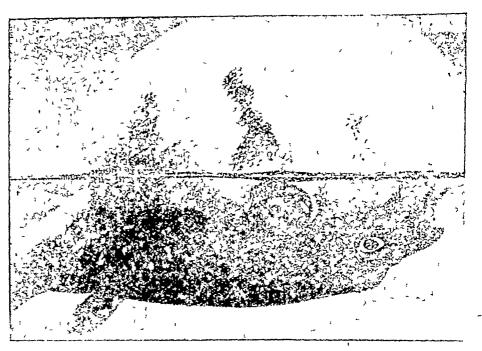
भारतवर्ष के आसपास के समुद्रों में पाई जानेवाली 'गोला' या 'तोता' नामक, मछली जो संकट के समय अपने शरीर को गोल फुलाकर तथा अपने बदन पर के काँटों को खडे करके शत्रु को भयभीत करने का प्रयत्न करती है। (ऊपर) शरीर फुलाकर यह मछली उलटी तैर रही है; (नीचे) देखिए, उसके काँटों के खडे हो जाने पर वह कैसी भयावनी प्रतीत होती है।
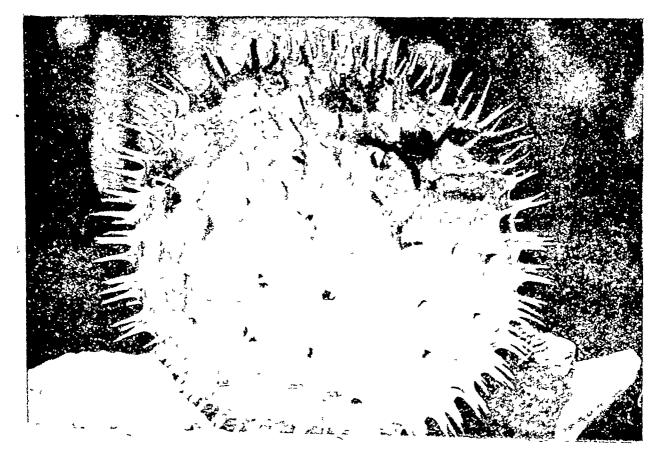
निस्संदेह इन लक्षणों के कारण उस समय वह मछली बहुत ही भयानक तथा हिंसक दिखाई पड़ती है।

आत्म-रक्षा के इस प्रकार के अनेक उपाय पतिंगों, तितलियों, छिपकलियों और सर्पों में पाये जाते हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ हम अधिक उदाहरण प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। पिछले कुछ लेखों द्वारा आपको यह मालूम हो ही चुका है कि किस प्रकार झुनझुनियाँ सर्प, झालरदार छिपकली और भयानक कोबरा आक्रमण की सूचना पाकर अपने अद्भुत शरीर के विभिन्न अंगों के रूप-परिवर्त्तन द्वारा शत्रु को डराने की चेष्टा करते हैं।

(३) शत्रु का ध्यान अपने मर्मस्थल से किसी दूसरी ओर फेरकर बच जाना—इसी स्तंभ के अंतर्गत दिए गए पिछले लेख में बताया जा चुका है कि बिना पैरवाली वह छिपकली, जिसे कि भ्रमवश **'काँच सर्प'** के नाम से पुकारा जाता है, शत्रु के हाथों में आ पड़ने पर किस प्रकार अपनी दुम का बड़ा भाग झटककर अलग कर देती है और शत्रु उस कटी दुम को उछलते-कूदते देखकर समझने लगता है कि वह दुम ही असली प्राणी है! वह बहककर उस पर जब तक ध्यान देता है तब तक यह छिपकली चुपके से वहाँ से सरककर अपनी जान बचा लेती है। कहा जाता है कि विधाता ने छिपकलियों को अपनी टूटी हुई दुम को पुन बनाने की शक्ति संभवत ऐसे ही अवसरों से लाभ उठाने के लिए दी है।

कई केकड़ों में भी छिपकली की भाँति दुम के बदले अपने चंगुल झटककर अलग कर देने की शक्ति पाई जाती है। कहते हैं, जब इन पर आक्रमण होता है, तब उनके दो-एक चगुल शीघ्रता से अलग हो जाते हैं और अत्यन्त तेजी से वे तड़पने लगते हैं, जिससे शत्रु का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होकर बहक जाता है और इस बीच बेचारे केकड़े को छिपने का समय मिल जाता है।

इसी तरह का एक दूसरा अच्छा उदाहरण अफ्रीका के पास मैडागास्कर नामक द्वीप में मिलनेवाले एक वृहत्काय पतिंगे का है, जिसका चित्र भी इस लेख के साथ दिया गया है। यह पतिंगा सिर से लेकर अपनी पतली दुम के छोर तक साढे नौ इंच लम्बा होता है और उसके दोनों पखों का फैलाव पूरे आठ इंच होता है। बहुधा इसके बड़े पर और उन परों का दुम-सा पीछे निकला हुआ भाग घायल पाए गए हैं। यह भी देखा गया है कि जब कोई चिड़िया उसे पकड़ने के लिए उसका पीछा करती है तो प्राय उसके उन बड़े परों का फैला हुआ भाग ही उसकी चोंच में आता है और मुख्य शरीर बचा रह जाता है। इससे ज्ञात होता है कि इस पतिंगे के परों का यह आगे बढा हुआ भाग केवल उसकी आत्म-रक्षा ही के लिए है।

कहा जाता है कि अन्य तितलियाँ भी जब अपने परों को समेटकर तथा उन्हें ऊपर उठाकर बैठती हैं तो इसी प्रकार उनकी भी उनके परों द्वारा रक्षा होती है। जब ऊपर से चिड़ियाँ चोंच मारती हैं तो अधिकतर इनके पर ही नुचकर उनकी चोंच मे आ जाते हैं। इसी कारण कभी-कभी तितलियों के दोनों पर बराबर-बराबर कुतरे दिखलाई पड़ते हैं। उनके चटक रग की दुम और पख के पीछे के भाग पर होनेवाले आँखों-जैसे धब्बों के होने का भी कदाचित् यही कारण है।

(४) शत्रु की निगाह में घृणित या अरोचक बनकर बच जाना—बहुत से जीवों मे अनेक प्रकार के ऐसे गुण पाए जाते हैं, जिनसे कि वे उनके लिए बिल्कुल अरुचिकर बन जाते हैं और इस प्रकार उनकी पकड़ मे आने से बच जाते हैं। कोई विषैले सर्प के समान विष धारण किये रहता है तो कोई ततैया की भाँति दुखदायी डंक मारनेवाला होता है। किसी मे "स्कक" की-सी दुर्गंध फैलानेवाले अंग होते हैं तो किसी का स्वाद ऐसा बुरा होता है कि मुँह मे लेते ही भक्षक घबड़ा उठता है।

इस प्रकार के उदाहरण कीट-पतिगों में अधिकता से मिलते हैं। वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ मे नीले या हरे रग का एक गुबरैला वश का कीड़ा दीपकों के पास आकर प्राय हमारे शरीर के खुले भाग पर फफोले डाल जाता है। इसको "फफोला मक्खी" के नाम से पुकारते हैं। इसकी टाँगों के छेदों से एक प्रकार का झागदार तेल निकलता है, जो हमारे शरीर पर पड़ने से जलन उत्पन्न करके छाला डाल देता है। इसी फफोला मक्खी जैसा एक और पतिंगा, जो तेज़ लाल और काले रग का होता है, भिंडी के पेड़ों पर बेखटके बैठा हुआ कोपल खाया करता है। उसके अप्रिय स्वाद के कारण चिड़ियाँ देख लेने पर भी उसे नहीं छूतीं।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आखिर इस प्रकार घृणित या अरोचक होने से कोई भी जानवर अपने शत्रु से बच कैसे सकता है? दूसरे शब्दों में इससे उसकी प्राणरक्षा कैसे होती है? वस्तुत कीट-भक्षी चिड़िया जन्म से ही तो नहीं जानती कि कौन-सा जीव वह न खाए। उसे तो शिकार के स्वाद, महक या डंक का पता तभी लगता है, जब कि वह उस पर चोंच मारकर उसे मुँह में ले लेती है और उस समय

वह उसे नापसद कर छोड़ भी दे तो आख़िर कीड़े का क्या भला हुआ ? वह तो उस समय तक या तो मर ही चुका होता है या इतना घायल हो जाता है कि उसका जीवन बेकार हो जाता है। उदाहरणार्थ जब छिपकली अपनी जीभ लपकाती है तो सभी कीडे जो उसके सामने आते हैं उस पर चिपक जाते हैं, चाहे वे डक मारनेवाले हों या काटनेवाले, वे जीभ के साथ ही सब के सब मुँह के अन्दर पहुँच जाते हैं। माना कि डक लगने या काटे जाने पर वह उन्हें थूक देती है; परन्तु इससे क्या, कीड़ा बेचारा तो घायल हो ही गया या मर ही गया ! तो फिर प्रकृति द्वारा प्रदत्त आत्म-रक्षा की इस व्यवस्था से आख़िर इन कीड़ों को लाभ ही क्या हुआ ?

इस प्रश्न के उत्तर में वैज्ञानिकों का कहना यह है कि प्रकृति की कोई भी व्यवस्था बेकार के लिए की गई नहीं होती—उसका अवश्य ही कोई न कोई उद्देश्य होता है और कीट-पतिंगों में इस प्रकार की आत्म-रक्षा की व्यवस्था बनाने में भी उसका एक विशेष उद्देश्य छिपा है। देखा गया है कि इस प्रकार अरोचक बन जानेवाले प्राणियों में से अधिकाश के रग बड़े चटक होते हैं, मानों वे अपने गुण की चेतावनी दे रहे हों। परतु "दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंककर पीता है," इसलिए शिकारी पशु और पक्षी तेज रगवाले इन घृणित या अरुचिकर प्राणियों के अप्रिय स्वादों का एक बार अनुभव कर लेने पर उन्हें जल्दी नहीं भूलते। वे शीघ्र उनके रंग से उनके स्वाद के अप्रिय होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार के दो-चार प्राणियों का कटु अनुभव हो जाने के पश्चात् जब भी उसी प्रकार के जीव उनके सामने आते हैं, वे उन्हें छूते नहीं। इसलिए यह लक्षण यदि सभी व्यक्तियों के लिए उपकारी नहीं होता तो भी उस जाति के बहुत-से जीवों की तो उससे रक्षा होती ही है, यह बात बहुत से प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है। इनमें से दो-एक उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

'पस' नामक पतिंगे की यह इल्ली साधारण स्थिति में ऐसी दिखाई देती है जैसी कि ऊपरी चित्र में प्रदर्शित है, परन्तु शत्रु का खटका होने पर वह पिछले कोड़ों को निकालकर तथा अपने मुँह पर के आँखों जैसे चिह्नों को प्रदर्शित करते हुए ऐसी भयंकर दिखाई देने लगती है, जैसी कि चित्र के निचले भाग में प्रदर्शित है !

एक बार एक मुर्ग़ी के बच्चे को, जिसने बर्र कभी न देखी थी, मक्खियाँ खाने को दी गई और उनमें एक बर्र भी रख दी गई। बच्चे ने बर्र को भी मुँह में पकड़ा, परन्तु जब उसने उसके मुँह मे डक मारा तो बच्चा काफी घबड़ाया। वह परों को नोंचता हुआ इधर-उधर बेचैन-सा फिरने लगा। इसके कई दिन बाद मक्खियों के साथ फिर एक बर्र उसे खाने को दी गई। पर इस बार उसने ज्योंही बर्र को देखा त्योंही फिर पहले के समान चोंच रगड़ना और पर नोचना आरम्भ कर दिया, मानों उसे पहले के अप्रिय अनुभव की याद अब भी बनी थी ! वस्तुत उसने अबकी बार बर्र को खाने का उद्योग भी नहीं किया !

इससे भी अच्छी परीक्षा प्रोफेसर लौयेड मार्गेन ने **सिनेबर** नाम के एक पतिंगे की इल्ली पर की थी। उन्होंने कुछ तीतर के बच्चे लिये और उनके खाने में कुछ कुनैन, कुछ शोरे का तेज़ाब आदि अरुचिकर वस्तुएँ मिला दीं। यह कृत्रिम भोजन ऐसे कॉच के टुकड़ों पर रखकर उन्हें खिलाया गया, जिनके नीचे उसी तरह की काली और नारगी रग की धारियोंवाले काग़ज सटे थे, जैसी कि सिनेबर पतिंगे की इल्ली पर होती हैं। कई दिन तक इस प्रकार अप्रिय भोजन पाने पर वे तीतर उन धारीदार काँच के टुकड़ों से डरने लगे और जब उन पर बिना इस प्रकार के मेल का भोजन रक्खा गया तो भी उन्होने उसे न छुआ। बाद में जब उन्हें पतिंगे की वे इल्लियाँ खाने को दी गई तो उनका भी वही रंग देखकर वे उन पर भी अप्रिय होने

का शक करने लगे और उन पर उन्होंने चोंच न लगाई। किन्तु जब वही इल्लियाँ अन्य तीतरों के बच्चों को दी गईं तो उन्होंने बेधड़क उन पर तब तक मुँह मारा, जब तक कि इस बात का उन्हें ज्ञान न हो गया कि उनका स्वाद कैसा ख़राब है। इसके बाद तो वे भी उनके रंग का सम्बन्ध बुरे स्वाद से करने लगे और तब से भूखे होने पर भी उन्हें वे छूने न लगे।

(४) अपने रूप-रंग द्वारा अरुचिकर या कुस्वादजनक होने का भ्रम पैदा कर बच जाना—प्राण-रक्षा के इस नियम का पता सबसे पहले लगभग ८० वर्ष हुए प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक बेट्स ने लगाया था। जब वह दक्षिणी अमेरिका में अमेज़न नदी की घाटी में यात्रा कर रहा था तब एक स्थान में कई भिन्न-भिन्न वंशों और गणों की तितलियों के रङ्ग में समानता देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। अध्ययन करने पर पता चला कि **हेलीकोनिया** नामक एक तितली, जो वहाँ बहुतायत से मिलती थी तथा जिसका एक विशिष्ट लक्षण चटक काले और पीले रङ्ग के उसके अंडाकार पंख थे, चटकीली और मन्द उड़ानवाली होने पर भी पक्षियों और छिपकलियों से बची रहती थी, क्योंकि उसके पेट पर कई घृणा पैदा करनेवाली गुत्थियाँ दृष्टिगत होती थीं। किन्तु अचम्भे की बात तो यह थी कि एक दूसरे वंश—**पीरिडी**—की कई जातियों की तितलियों ने अपना मौलिक भेष त्यागकर **हेलीकोनिया** जाति की तितलियों का-सा रङ्ग ही नहीं वरन् उनका-सा आकार भी बना लिया था! यह क्यों और कैसे?

मालूम होता है कि अप्रिय हेलीकोनिया तितलियों के शत्रु उनके चटकीले-भड़कीले चेतावनी देनेवाले रंग के कारण शीघ्र ही उन्हें पहचान जाते रहे होंगे। सम्भवतः कुछ बच्चे और अनुभवशून्य चिड़ियाँ या छिपकलियाँ ही उनका शिकार करती रही होंगी। अब यदि उसी स्थान में रहनेवाले उसके अन्य स्वादिष्ट भाई-बन्धु इस प्रकार रक्षा पानेवाले जीव से रंग-रूप में ऐसे मिल जाएँ कि उनके शत्रु सहज में उन्हें पहचान न सकें और फलतः उन्हें भी अरुचिकर समझ छोड़ दें तो क्या उन अनुकरण करनेवाले भाई-बन्धुओं को लाभ नहीं होगा? अवश्य ही होगा। बेट्स ने यही बात सिद्ध की और तब तो सभी देशों में ऐसे बहुत-से उदाहरण पाए गए।

भेष में यह समानता उन्होंने कैसे प्राप्त की यह समझना उतना सरल नहीं है। कोई जीव जानबूझकर स्वयं ऐसी चेष्टा नहीं कर सकता कि जिससे उसका रंग-रूप किसी इच्छित आकृति में परिवर्त्तित हो जाय। यदि यह मान भी लिया जाय कि ऐसा हो सकता है तो भी यह कहना कठिन है कि नक़ल करनेवाली तितली जानती रही हो कि वह जिस तितली की नक़ल कर रही है वह अपनी अप्रियता और रंग के कारण अपनी जान बचा लेती है। सम्भवतः यह कार्य प्राकृतिक चुनाव-संबंधी नियम के कारण ही हुआ होगा। विकास के लम्बे क्रम में स्वादिष्ट जाति के वही प्राणी विशेष मात्रा में बचते चले गए होंगे जो कि थोड़े-बहुत रक्षित प्राणियों से मिलते-जुलते थे। इनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ती चली गई होगी और फलतः उनमें रक्षित प्राणियों के रंग-रूप की समानता भी संभवतः बढ़ती चली गई होगी।

आत्म-रक्षा के उपरोक्त कतिपय उपायों के अतिरिक्त और भी कई अनोखे उपाय जीवों द्वारा काम में लाये जाते हैं। कोई-कोई जीव अपने प्राण को संकट में देखकर ऐसे स्थिर और शान्त हो जाते हैं कि शत्रु को दिखलाई भी नहीं पड़ते या वह उन्हें मुर्दा जानकर छोड़ जाता है। इसके बहुत-से दृष्टान्त हमारे देहातों के कीड़े-मकोड़ों, उरंगमों और पक्षियों में मिलते हैं। वस्तुतः प्रकृति के भांडार में खोजनेवाले के लिए सामग्री की कमी नहीं है। आप भी चाहें तो अपना मन बहलाने के लिए ऐसे कई नमूने खोज सकते हैं।

'काँच-सर्प' के नाम से प्रसिद्ध बिना पैरवाली छिपकली, जो आत्मरक्षार्थ दुम को अलग कर देती है!

मनुष्य की कहानी
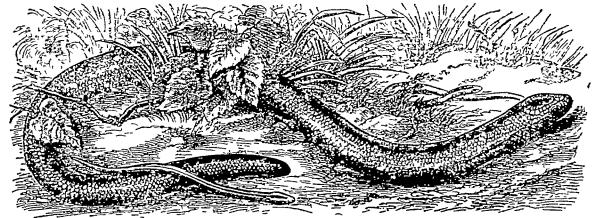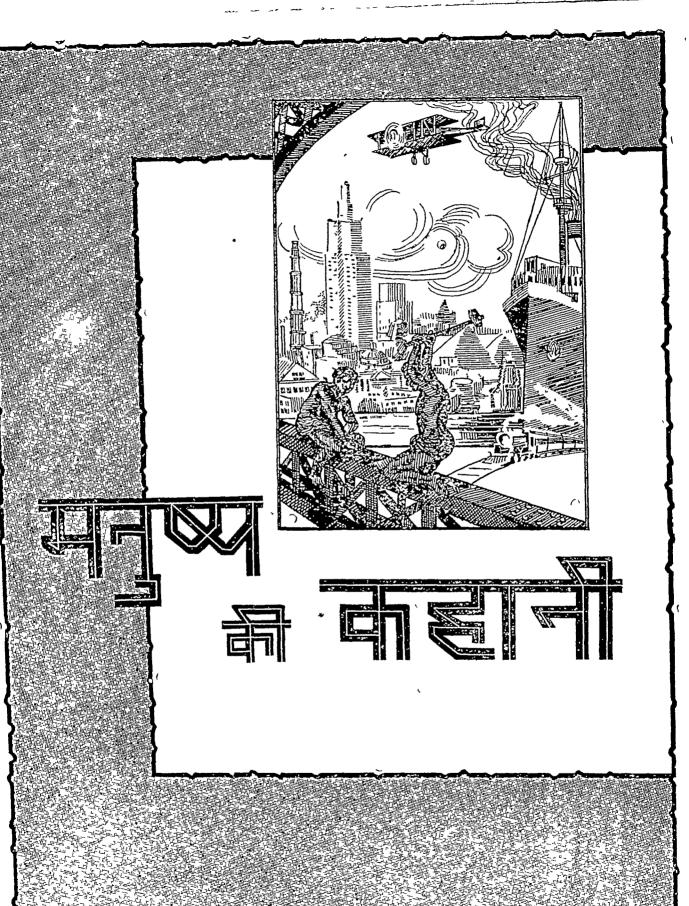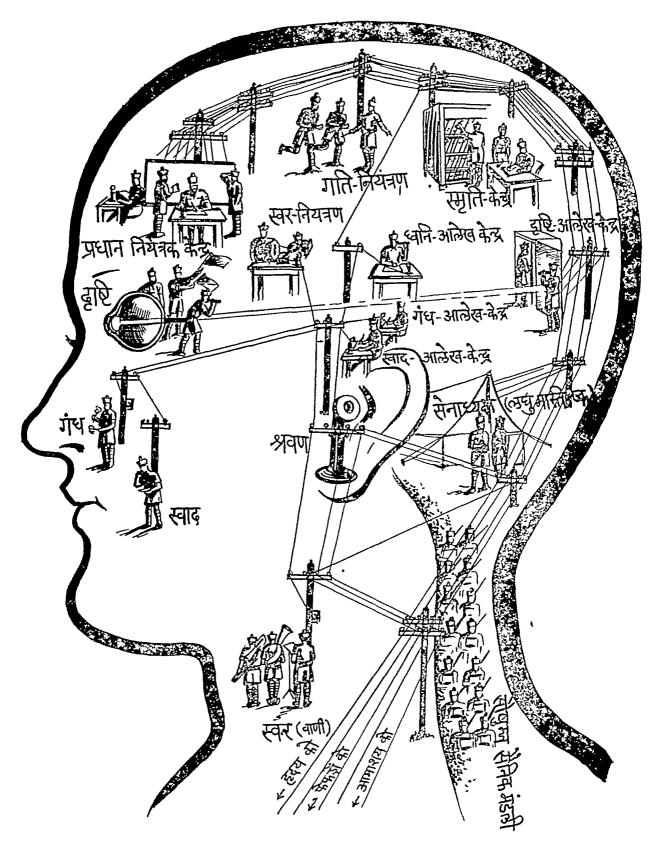
मानव-मस्तिष्क की पेचीदा व्यवस्था और कार्रवाही को समझने में हम बहुत-कुछ सहायता पा सकते हैं, यदि प्रस्तुत चित्र में दिग्दर्शित एक विशद सैनिक संचालन-केन्द्र के रूप में हम उसकी कल्पना करें, जो कि केवल अपनी तार-चर्की के सुव्यवस्थित जंजाल की सहायता से अपने अधीनस्थ विभिन्न महकमों से तरह-तरह की रिपोटें या संदेश प्राप्त करने तथा उनके अनुरूप उचित कार्रवाही करने के लिए कर्मचारियों तक आदेश पहुँचाकर एक ही स्थान से सारी सैनिक गतिविधि का संचालन करता रहता है। किस प्रकार यह क्रिया होती है, इसके लिए आगे के पृष्ठ पढ़िए।

हमारे शरीर-यंत्र का प्रधान संचालक—(२)

मस्तिष्क कैसे सारे शरीर को वश में रखता है ?

गत लेख मे आप मस्तिष्क, सुषुम्ना और उनसे निकलनेवाले स्नायु-सूत्रों तथा उनके विभागों, उनकी बनावट और शरीर मे उनके स्थानों के विषय मे पढ चुके हैं। प्रस्तुत लेख में हम आपको मनुष्य के इस सबसे उत्तम अग मस्तिष्क के विषय मे यह बताने जा रहे हैं कि किस प्रकार शरीर के अगों की विभिन्न क्रियाओं को वह अपने वश मे रखता है। अन्य जीवों से जो कुछ उत्कृष्टता मनुष्य ने प्राप्त की है वह अपने शरीर की अन्य रचनाओं की उत्तमता के कारण नहीं, वरन् अपने मस्तिष्क की प्रधानता से ही की है। मस्तिष्क और स्नायु-सूत्र या नाडियाँ दरअसल एक ही हैं। हमारे सो जाने पर भी उनकी क्रियाएँ पूर्ण रूप से बन्द नहीं हो जातीं, कुछ-न-कुछ कार्य उनमें होता ही रहता है। अपनी अवस्था और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने मस्तिष्क एव विवेक-शक्ति से काम लेता है, अतएव हममें से हरएक के लिए यह उचित है कि अपने शरीर के ऐसे आवश्यक अग के विषय मे उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करें और जो नवीन बातें उसके विषय मे ज्ञात हुई हैं उनसे परिचित हों।

नाड़ी-प्रेरणाएँ और विद्युत्-शक्ति

पहले लेख में हमने बताया है कि शरीर के प्रत्येक भाग से आनेवाली प्रेरणाओं का बोध नाडी-सूत्रों द्वारा ही हमारे मस्तिष्क को होता है और जैसे भाव इन प्रेरणाओं से उत्पन्न होते हैं वैसे ही आदेश नाडी-सूत्रों द्वारा पुन शरीर के भिन्न-भिन्न अगों को मिलते हैं। इन नाडी-प्रेरणाओं की वास्तविक माया का रहस्य अभी तक हमारी समझ मे नहीं आया है, लेकिन यह प्रकट है कि इनकी सवेदना बहुत-कुछ विद्युत्-शक्ति अर्थात् बिजली से मिलती-जुलती है, क्योंकि इनकी प्रत्येक सवेदना के साथ ही नाडी मे निश्चित विद्युत्-प्रवर्त्तन होता है। इस विषय मे जो नवीन खोजें की गई हैं, उनका वर्णन हम इस लेख के अन्त मे करेंगे। यह शक्ति नाडियों मे प्रति सैकड सौ फीट की दर से यात्रा करती है। नाडी-मडल की क्रिया को हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं, यदि हम उसे एक प्रकार के तार-बर्की का पेचीदा जजाल-सा मानकर उसमें से होकर गुजरनेवाली प्रेरणाओं को विद्युत् द्वारा भेजे गए सदेश की तरह मानें। मस्तिष्क ही इस सस्थान का मुख्य दफ़्तर या केन्द्र, उसका मुख्य सचालक, अनुशासक और विद्युत्-धारा उत्पन्न करने का प्रधान ठिकाना है, जिसके जहाँ-तहाँ और भी कई गौण स्थानीय दफ्तर शरीर में हैं। मान लीजिए कि यह सचालक या अनुशासक एक स्थानीय दफ्तर मे किसी कार्य के विषय मे आदेश भेजता है, जैसे हाथ की गति के लिए, तो यह इच्छाधीन क्रिया का एक उदाहरण हुआ, जिसमे संकल्प-शक्ति से एक उत्तेजना उत्पन्न हुई और गति-सम्बन्धी सूत्रों मे होकर किसी अग तक वह पहुँची तथा वहाँ पर उसने कोई निश्चित अर्थपूर्ण गति पैदा की। अब कल्पना कीजिए कि पैर के स्थानीय दफ़्तर से मस्तिष्क के मुख्य दफ़्तर को कोई सूचना भेजना है, उदाहरणार्थ इस बात की कि उसको एक ठोकर का अनुभव हुआ है, तो पैर के सावेदनिक सूत्र इस सदेश को सुषुम्ना के सबसे नीचे के छोर तक पहुँचाते हैं और तब वहाँ से यह सुषुम्ना के पीछेवाले सूत्रों द्वारा मस्तिष्क मे पहुँचता है। मस्तिष्क का दफ़्तर इस सदेश से यह परिणाम निकालता है कि पैर मे चोट लगी है और उसे उठा लेना उचित है, जिससे कि शरीर का भार उस पर से कम हो जाय। अत शीघ्र ही लघु मस्तिष्क को इस बात की सूचना दी जाती है और वहाँ से सुषुम्ना के सामनेवाले तारों और गति-सम्बन्धी स्नायु-सूत्रों द्वारा कई आदेश उन मासपेशियों मे भेजे जाते हैं, जो कि पैर की गति से सम्बन्धित रहती हैं। वास्तव मे, यह आवश्यक नहीं कि मस्तिष्क को ऐसी छोटी-छोटी बातों ही के लिए कष्ट दिया जाय,

क्योंकि ये सब बातें तो सुषुम्ना में स्थापित एक निचले दफ़्तर द्वारा भी सुगमता से हो सकती हैं। यदि मस्तिष्क का विचारक भाग उस समय सो भी रहा हो तो भी उपरोक्त आवश्यक कार्रवाही हो ही जाती है। ऐसी क्रिया को परावर्त्तित क्रिया कहते हैं।

परन्तु यह तो एक बहुत ही साधारण उदाहरण हुआ, जबकि दरअसल आप जानते ही हैं कि मनुष्य का शरीर एक बड़ा पेचीदा यन्त्र (मशीन) है, जिसमें एक ही समय पर अनेक प्रकार के कार्य होते रहते हैं। इन पंक्तियों का अध्ययन करते समय आपके शरीर मे क्या हो रहा है, इसका ज़रा अनुमान कीजिए। आपका हृदय प्रतिपल धड़क रहा है, हर चार सेकण्ड पर आप साँस ले रहे हैं, आपका आमाशय अपने भीतर के भोजन को मथ रहा है, और आपकी पेशियाँ आपको सीधा बैठाये हुए हैं! इतना ही नहीं, पढ़ते समय आँखें पलक भी मार रही हैं और पंक्तियों पर दौड़ भी रही हैं! पृष्ठ समाप्त होते ही उँगलियाँ उसे पलटती हैं और जब आप पढ़ते-पढ़ते थक जाते हैं तब अपनी स्थिति भी बदलते रहते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अन्य कई क्रियाएँ आपके शरीर में हो रही होंगी। उन सबको कौन विधिवत् चलाता है? केवल आपका यह पेचीदा स्नायु-संस्थान मस्तिष्क ही तो!

संसार मे सबसे अद्भुत तार-बर्की का अदला-बदली का केन्द्र मस्तिष्क ही है

मस्तिष्क और नाड़ियाँ एक ऐसे आश्चर्यजनक संस्थान के भाग हैं, जो इतना विशाल एवं विस्तृत है कि यदि विश्व भर की संपूर्ण तार-बर्कियों के तार एक ही (अदल-बदल करनेवाले) दफ्तर में लाकर मिला दिए जाएँ तो उनका भी जंजाल मस्तिष्क तथा उसके संदेश लाने और ले जानेवाले वात-सूत्रों के जंजाल से कहीं कम पेचीदा ही होगा! शरीर का कोई ऐसा भाग नहीं जहाँ संदेशा लाने और ले जानेवाले नाड़ी-सूत्रों की ये महीन-महीन शाखाएँ न हों! ये हरकारे हर स्थान पर पहुँचे हुए हैं और प्रत्येक सूत्र द्वारा अपने-अपने केन्द्र से, चाहे वह सुषुम्ना में स्थित हो अथवा बृहत् एवं लघु मस्तिष्क में, सम्बन्धित रहते हैं। उन बारह मस्तिष्क-नाड़ियों के अतिरिक्त, जो कि पिछले लेख मे बताई जा चुकी हैं, सुषुम्ना से भी वात-नाड़ियों के इकतीस जोड़े निकलते हैं, जिनके सांवेदनिक और गति-सम्बन्धी सूत्र इन महीन सूत्ररूपी संदेशवाहकों को जोड़ते हुए शरीर के प्रत्येक भाग में फैले हुए हैं।

इस लेख के आरंभ में दिए गए मस्तिष्क की तार-बर्की की व्यवस्था के प्रतीक-चित्र के अध्ययन से आपको पता चलेगा कि उसमें प्रत्येक महकमे का कार्य किस भाँति विभाजित है। मस्तिष्क की उपमा एक बड़े सैनिक केन्द्र से हम दे सकते हैं। वह विभिन्न विभागों का एक बहुत बड़ा संघटन है, जिसमें बहुत-सा कार्य उन स्नायु-केन्द्रों द्वारा होता है, जो मस्तिष्क के निचले भाग में गर्दन के पीछे या सुषुम्ना में है। इनका नायक, जिसे हम 'कप्तान लघु मस्तिष्क' कह सकते हैं, यहीं रहता है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, लघु मस्तिष्क का यह दफ़्तर एक छोटा किन्तु अति उपयोगी विभाग है। कप्तान लघु मस्तिष्क हमारे अनजान में ही हमारे हृदय की धड़कन, रक्त-प्रणालियों की सिकुड़न और श्वासोच्छ्वास की गतियों को वश में रखता है। इस दफ्तर के ठीक नीचे वह सेतु एवं मार्ग है, जो कि मस्तिष्क के ऊपरी दफ़्तरों को सुषुम्ना से मिलाता है।

इस संस्थान के प्रधान नियन्त्रण-केन्द्र के विभिन्न विभागों का कार्य पूर्ण रूप से विभाजित है। उनमें से प्रत्येक का कोई न कोई विशेष कर्त्तव्य है, जिसके पालन के लिए उपयुक्त कार्यकर्त्ता अर्थात् नाड़ी-केन्द्र, सूत्र और कोष नियुक्त हैं। इन विभागों का परस्पर सम्बन्ध अति जटिल है, और हो भी क्यों न! केवल मस्तिष्क में ही सम्पूर्ण शरीर की देख-रेख के हेतु लगभग नब्बे खरब ऐसे पृथक् कार्यकर्त्ता हैं! ये किस प्रकार काम करते हैं, इसका एक साधारण दृष्टांत (पैर में ठोकर लगनेवाला) हम ऊपर दे ही चुके हैं। बहुत-सी ऐसी रक्षक और नियामक चेतनाएँ हैं, जिन्हें स्नायु-संस्थान के निचले केन्द्र तुरन्त ही अपने हाथ मे ले लेते हैं। बहुधा हमारा ध्यान उनकी ओर जाता ही नहीं और सच तो यह है कि वे कार्यान्वित हों इसके पहले हम उनके विषय में कुछ सोच ही नहीं पाते! यह कैसे आश्चर्य की बात है कि मांसपेशी-रूपी कल का चालक स्वयं उस कल पर न रहकर कार्याध्यक्ष के किसी विभाग में पीछे बैठकर अपना कार्य ऐसे सुचारु रूप से करता रहता है कि वह अपनी मांसपेशी से तीन फीट की दूरी पर रहते हुए भी योग्यता और फुर्ती के साथ उसे नियंत्रित कर लेता है!

इस व्यवस्था के दो प्रकार के संदेशवाहकों में से एक वे हैं जो संदेशों को भीतर पहुँचाते हैं और दूसरे वे जो कि उन्हें प्रधान केन्द्र से बाहर लाते हैं। इन दूसरी प्रकार के हरकारों में से ही एक मांसपेशी को चलानेवाला होता है और उसके जोड़े का दूसरा कार्यकर्त्ता सदैव पहली प्रकार के संदेशवाहकों मे से होता है।

मस्तिष्क के विभिन्न विभाग

यह तो आपको विदित हो ही चुका है कि मस्तिष्क का काम उसके दाहिने और बायें भागों में बराबर-बराबर बँटा हुआ है और यह भी आपको ज्ञात है कि बृहद् मस्तिष्क का हर एक अर्धगोलार्ध अपने से उलटी ओर के आधे शरीर का नियन्त्रण करता है। किन्तु शायद आपको यह पता न हो कि हरएक अर्धगोलार्ध भी पुन बहुत-से छोटे-छोटे दफ्तरों या विभागों मे विभाजित है और ऐसा हरएक छोटा केन्द्र एक निश्चित कार्य से ही सरोकार रखता हैं। शरीर की विभिन्न चैतन्य गतियाँ, जैसे हाथ, बाँह, पैर या अँगुलियों का सचालन उन छोटे-छोटे क्षेत्रों के ही अधीन हैं, जो मस्तिष्क के उस ऊपरी भाग मे हैं जो कि कान के पीछे से फीते की भाँति ऊपर की ओर जाता है। इसी प्रकार देखने, सूँघने और सुनने के क्षेत्र मस्तिष्क के दोनों ओर दो-दो इच की चौड़ाई में फैले हुए हैं। वाणी का केन्द्र केवल एक ही है और वह कनपटी के पीछे बायें अर्धगोलार्ध मे उपस्थित है। डाक्टरों और वैज्ञानिकों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण मस्तिष्क का एक मानचित्र-सा बना लिया है, जिसके अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि मस्तिष्क के विभिन्न निश्चित क्षेत्र शरीर के विशेष भागो की गतियों एव सवेदनाओं से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ वल्क के एक क्षेत्र का नाड़ी-कोष-समूह या नियन्त्रण-केन्द्र बाँह की मासपेशियों के सिकोड़ने और फैलाने की क्रिया से सम्बन्ध रखता है तो दूसरा पैर की मासपेशियों की गति से। इसी तरह भिन्न-भिन्न क्षेत्र शरीर के विभिन्न भागों से सबधित हैं। इन क्षेत्रों से सदेश-वाहक अपनी-अपनी सबधित पेशियो तक नाडी-सूत्रों द्वारा उनकी आज्ञाओं एव सदेशों को इधर-उधर पहुँचाते हैं। किन्तु मस्तिष्क के ये केन्द्र अकेले ही अपने कार्य मे सफल नहीं हो पाते। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति छपे हुए पृष्ठ को देखता और ज़ोर से पढ़ता है तो कई एक केन्द्र उसके सहकारी होते हैं। उसकी दृष्टि की नाड़ियों के सहारे सिर के पीछे के भागवाला दृष्टि-सम्बन्धी केन्द्र उत्तेजित होता है, परन्तु यदि किसी भाँति यह उत्तेजना वाणी के गति-सबधी केन्द्र और उसकी सहयोगी पेशियो के केन्द्रों तक न पहुँचे तो इस प्रकार जोर से पढ़ना असम्भव हो जाय। सावेदनिक और गति-सबधी केन्द्रों के बीच इस प्रकार का ससर्ग एक तीसरे नाड़ी-कोष-समूह द्वारा होता है, जिनके कोषों का मुख्य भाग भी वल्क ही मे समाया रहता है। इस तीसरे प्रकार के केन्द्र को सम्मेलन-केन्द्र कहा जाता है। मनुष्य में अन्य जीवो की अपेक्षा ऐसे सम्मेलन-केन्द्र अधिक होते हैं। नि सन्देह यह उसकी मानसिक उत्कृष्टता का एक मुख्य कारण है।

मस्तिष्क के स्नायु-सूत्रों के जजाल के एक अंश का परिवर्द्धित चित्र
देखिए, ये आपस में कितने उलझे रहते हैं।

यह एक स्वीकृत तथ्य है कि मस्तिष्क के वल्क का धूसर पदार्थ ही विशेषकर विचार, स्मरण-शक्ति और ज्ञान का केन्द्र है, परन्तु अभी तक यह समझ में नहीं आया है कि जब हम विचार करते हैं या किसी प्रकार की बुद्धि का कार्य करते हैं तो इनसे सम्बन्धित नाड़ी-कोषों में वास्तविक क्रियाएँ किस ओर होती हैं। इसमें सदेह नहीं कि विचार-क्रिया में स्नायविक प्रयोजनाएँ संपूर्ण मस्तिष्क में एक नाड़ी-कोष-समूह या सम्मेलन-केन्द्र से दूसरे तक आती-जाती होंगी और यह क्रिया उन महीन सूत्रों द्वारा ही होती होगी जो कि सम्मेलन-केन्द्रों के मध्य मे फैले रहते हैं तथा जिन्हें सम्मेलन-सूत्र कहा जाता है।

चाहे जो भी हो, मस्तिष्क में नाडी-कोषों और सम्मेलन-सूत्रों का जो प्रवन्ध है, उससे ऐसी सवेदनाओं का हेर-फेर (फेरा-फेरी) सहज मे हो जाता है। हेरिक साहब ने हिसाब लगाया है कि यदि दस लाख वात-कोष एक दूसरे से दो-दो के जोड़ों में लगाए जाएँ तो इन जोड़ों की सख्या १० के आगे २,७८३,००० बिन्दु (Zero) लगाने से मिलेगी। किन्तु हमारे मस्तिष्क में तो इससे नौ सौ गुने अधिक वात-कोष हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। इसीसे
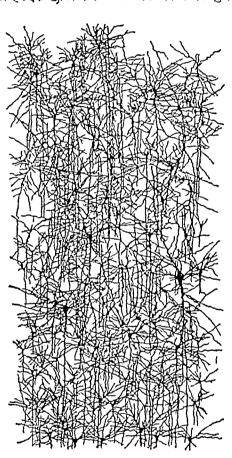
यह अनुमान किया जा सकता है कि इन सबका वास्तविक पारस्परिक ससर्ग कैसा जटिल होगा !

स्नायु-संस्थान जन्म से ही पूर्ण विकसित नहीं होता

जन्म से ही मानव-शिशु मे स्नायु-सस्थान के सभी भाग मौजूद रहते हैं और कहा जाता है कि जन्म लेने के पश्चात् स्नायुकोषो में कोष-विभाजन बहुत कम या बिल्कुल नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि नवजात शिशु मे भी मस्तिष्क के नब्वे खरब स्नायु-कोषों में के सभी कोष वल्क में विद्यमान रहते हैं और तरुण होने पर जो स्नायु-सूत्र शरीर मे दूसरी जगह पाए जाते हैं वे भी उसमें मौजूद होते हैं। परतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि स्नायु-संस्थान जन्म से ही पूर्ण होता है। बहुत से स्नायु-कोषों में, जो अपने समीपवर्त्ती कोषों से जुदा हो चुकते हैं, उस समय तक अन्न और सूत्र बहुत छोटे अथवा कम होते हैं। इसका फल यह होता है कि नाड़ी-मण्डल के बहुत-से भाग, विशेषकर मस्तिष्क-वल्क के कोष, अभी तक अपनी क्रियाएँ आरम्भ नहीं करते। हाँ, जैसे-जैसे बालक बढ़ता जाता है, ये कोष, अन्न और सूत्र भी क्रमश निकलने और बढने लगते हैं, और कालान्तर में सब स्नायु एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। व्यक्ति के मन और शरीर की वृद्धि के अनुसार ही प्रत्येक स्नायु-कोष की वृद्धि होती है, साथ ही एक दूसरे से सम्बन्ध भी बढ़ने लगता है। किस अवस्था तक ऐसा होता रहता है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। कुछ अनुसंधानकर्त्ताओ की तो धारणा है कि इन वात-कोषों में बढने की शक्ति आजीवन रहती है, परन्तु दूसरों का कथन है कि तरुण होने के कुछ समय पश्चात् तक ही उनमे यह शक्ति रहती है।

अब आपको समझ में आ गया होगा कि क्यों नवजात शिशु बहुत-सी बातें, जो कि वह बड़ा होकर कर लेता है, आरभ में नहीं कर पाता। न वह बोल सकता है, न चल-फिर सकता है और न अपने सम्बन्धियों को पहचान ही पाता है। हाँ, जैसे जैसे उसके स्नायु-सस्थान का विकास होने लगता है, वैसे-वैसे वह इन सभी गुणों को अपनाने लगता है। उदाहरणार्थ, जब बालक चलना-फिरना आरम्भ करता है तो वह कुर्सी या पलग की सहायता अथवा सहारे से पहले अपने को साधने की चेष्टा करता है और दो-चार बार जब इस प्रकार शरीर साधने मे उसे सफलता मिल जाती है तो फिर वह साहस करके एक दिन क़दम बढ़ाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार एक बार क़दम बढा लेने पर फिर कई क़दम चलने मे वह सफल होता है। पहलेपहल चलना सीखनेवाले किसी बालक को देखिए, उसे अभी तक अपने पर विश्वास नहीं, फिर भी वह इस नई करतूत मे कैसा मग्न है ! क्यों न हो, वह इस समय मानों एक साथ सौ इजिन चला रहा है और पता नही कितने परिश्रम से वह इस काम को सीख पाया है ! चलते-फिरते समय सौ के लगभग उसकी मासपेशियाँ सिकुड़ती-फैलती हैं। ये ही उसके पैरों को आगे-पीछे हटाती हैं। इन्हीं के सहारे दोनों पैरो पर उसका ऊपरी शरीर सधता है और गति समाप्त होने पर ठहर जाता है। वस्तुत कोई भी बालक तब तक नहीं चल पाता जब तक कि इन पेशियों के चालक एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर वैसे ही काम करना नहीं सीख लेते जैसे कि एक टोली के सिपाही, जो कि कई दिन तक क़वायद कराए और सिखाये बिना एक साथ क़दम नहीं रख पाते।

जब एक बार बालक अपने इन सौ इजिनो को एक साथ हाँकना और अपनी इच्छानुसार चलाना सीख लेता है तो फिर उसे बार-बार सोच-सोचकर क़दम आगे नहीं रखना पड़ता, बल्कि अपने आप ही वह क्रिया होने लगती है। इसका श्रेय वात-सस्थान के सर्वोपरि नियन्त्रण-केन्द्र को है, जो कि अपने अधीन कार्यकर्त्ताओं द्वारा मस्तिष्क के छोटे और बड़े सब काम करा लेता है। यह विभाग बृहद् मस्तिष्क मे सामने की ओर रहता है। कदाचित् यही कारण है कि विद्वान् का माथा चौड़ा होता है। कहावत भी है कि 'सिर बड़ा सरदार का, पैर बड़ा गँवार का।' हम ठीक-ठीक नहीं जानते कि मस्तिष्क कैसे इस कठिन कार्य को करता है, किन्तु इतना हम जानते हैं कि जब हम उठकर चलना चाहते हैं तब हमारी इस इच्छा का सदेश मस्तिष्क के ऊपरी भाग मे स्थापित गति को वश मे करने-वाले विभाग मे जाता है, जहाँ से उसी पल एक आदेश कप्तान लघु मस्तिष्क के पास भेजा जाता है कि वह शरीर को चलाए। इस प्रकार हम चलने लगते हैं। हमें उन सौ इजिनों के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं होता जो कि शरीर को साधे रहते हैं और हमारे पैरों को चलाते हैं, किन्तु जब हमें किसी नवीन गति की इच्छा होती है तो उसके लिए हमें उन मासपेशी-चालकों को अभ्यस्त अवश्य करना पड़ता है। केवल इच्छामात्र से ही हम तैरने नहीं लगते; प्रत्युत् लगातार अभ्यास के पश्चात् ही हमारे हाथ-पैर तैरने योग्य हो पाते हैं। इसके साथ ही हमें अपनी साँस भी साधनी पड़ती है। जब तैरने मे सम्बन्धित सभी पेशियाँ और उनके चालक अपना कार्य जान जाते हैं तभी हम इच्छानुसार तैरने लगते हैं। ऐसा ही अन्य गतियों के बारे मे भी होता है। जब

प्रस्तुत मान चित्र में मस्तिष्क की एक ऐसे शासन-विभाग के रूप में कल्पना की गई है, जो कि अपने विभिन्न उपविभागों द्वारा तरह-तरह की रिपोर्टें प्राप्त करने तथा उनके अनुरूप कार्य करने का उचित आदेश देने में निरंतर व्यस्त रहता है। इस प्रकार वह अपने दृष्टिकेन्द्र (नं० १), घ्राणकेन्द्र (नं ३) और श्रवणकेन्द्र (नं० ४) द्वारा जो कुछ रूप-आकार, गंध, तथा ध्वनि विषयक रिपोर्टें पाता है, उन पर बुद्धि विवेक-केन्द्र (नं० १०) में पूर्णतया विचार करके तदनंतर संकल्प शक्ति केन्द्र (नं० २) के द्वारा उनके सबंध में जो कुछ भी उपयुक्त कार्रवाही करना हो, उसका आदेश शरीर के विभिन्न भागों तक पहुँचाता है। साथ ही स्मृति-केन्द्र (नं० ८) में वह इन रिपोर्टों का लेखा भी भावी निर्देश के लिए जमा रखता और हृदय, श्वासोच्छ्वास, नाड़ी, ग्रंथियों आदि की गति नियंत्रण करनेवाले विभिन्न विभागों (नं० ५, ६, ७) द्वारा ऐसे कुछ कार्यों का भी सचालन करता है, जिन पर संकल्प-शक्ति-विभाग का कोई हाथ नहीं है।
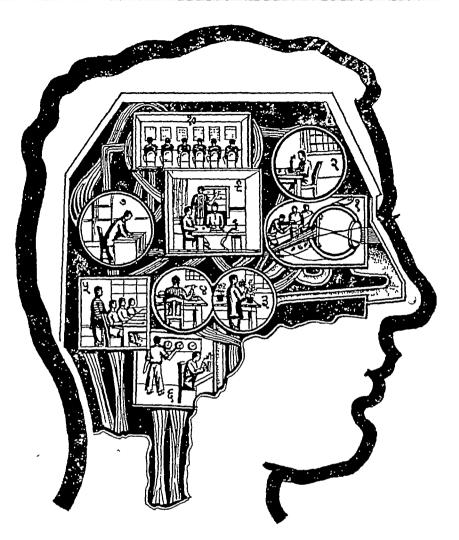
एक बार प्रधान दफ्तर यह जान जाता है कि कौन-सी क्रिया करना है और किस प्रकार भिन्न-भिन्न अफसरों और चालकों से काम लेना है, तब फिर उस कार्य को करने में कोई विशेष असुविधा उसे नहीं होती।

दृष्टि-केन्द्र

हमारी आँखें वास्तव में दो कैमरा जैसी हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक लेन्स, एक अँधेरी कोठरी और एक सवेदनशील पर्दा होता है। यदि इन कैमरों में मासपेशियों की ऐसी व्यवस्था न हो कि जो क्षण भर में ही लेन्स को समीप या दूर की दृष्टि के लिए ठीक कर सके तो ये कैमरे ऐसे उत्तम चित्र न उतार सकेंगे जैसे कि वे उतारते हैं। यदि हमारे नेत्र-गोलकों को इधर-उधर घुमाने वाली पेशियाँ न होतीं तो हम इन चित्र लेनेवाले यन्त्रों के होते हुए भी सिर को इधर-उधर घुमाकर भी कुछ न देख सकते और यदि इन पेशियों की कलों को चलानेवाले स्नायु-चालक न होते तो मौजूद होने पर भी बेकार ही पड़ी रहती। जब हम पलक मारते हैं तब कैसी शीघ्रता से इन कैमरों की निकटवर्त्ती पेशियाँ अपना कार्य करती हैं! यह भी एक प्रकार की स्वाधीन क्रिया है, जो हमारे अनजान में ही होती रहती है। जब हमारे नेत्रों के सामने कोई खटके की बात होती है तो आनेवाली घटना की सूचना मस्तिष्क के प्रधान दफ्तर में होते ही आँख की मास-पेशियों की कल चालू हो जाती है और तुरत ही हमारे पलक बन्द हो जाते हैं। नेत्रों को समीप या दूर की वस्तु देखने के लिए जिस प्रकार सिकोड़ने या फैलाने की आवश्यकता होती है, उसका प्रबन्ध भी मुख्य-दफ्तर से ही होता है। नेत्रों के पर्दे पर बाहर का चित्र तो अंकित हो जाता है, किन्तु यदि प्रधान दफ्तर सहायता न दे तो वह बना रहे और हमें उसका कुछ भी आभास न हो। अत हमारे मस्तिष्क में दृष्टि का भी एक नियत्रण-केन्द्र होता है, जिसमें नेत्र के पर्दे पर बने हुए चित्रों की सूचना नेत्र-नाड़ी व उसके सूत्रों द्वारा बराबर पहुँचती रहती है। इस दफ्तर में इन सदेशों का

पूर्ण रूप से लेखा एकत्रित किया जाता रहता है और जब हम चाहते हैं, तब स्मृति द्वारा फिर उन्हें निकाल सकते हैं ।

यह दफ्तर बहुधा एक और कार्य भी करता है । आप यह भूल न गए होंगे कि मस्तिष्क के सब दफ़्तरों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । जब दृष्टि के दफ्तर में यह सूचना पहुँचती है कि शरीर किसी बाधा पहुँचानेवाली वस्तु (जैसे खम्भा या मकान आदि) की ओर जा रहा है तो वहाँ से तुरत इसकी ख़बर गति-सबंधी विभाग को दी जाती है और इसे पाते ही वह शरीर की गति-सबंधी मास-पेशियों को उचित आदेश देता है, जिससे कि हम उस बाधा से बचकर निकल जाते हैं । वस्तुत दृष्टि-केन्द्र द्वारा प्राप्त अनुभूतियों के लेखे सदैव काम में आते रहते हैं । इन्हीं से मनुष्य को यह विदित होता है कि वह किस ओर चल रहा है, क्या खा-पी रहा है, कौन-सी वस्तु उसकी ओर आ रही है, कौन-सी वस्तु उसके निकट है तथा कौन सी दूर । इसी से उसे अपने चारों ओर की बातों का पता चलता है । इससे अधिक किसी भी विभाग को इधर-उधर सूचनाएँ नहीं भेजनी पडतीं ।

कदाचित् आपको आश्चर्य होता होगा कि दो नेत्र होने पर भी हम प्रत्येक वस्तु को दोहरी क्यों नहीं देखते ? इसका समाधान यह है कि हमारी दृष्टि-नाडी में ऐसी व्यवस्था रहती है कि उसके द्वारा प्रेषित संदेश, दोनों नेत्रों में बननेवाले चित्रों को मिलाकर, मस्तिष्क में केवल एक ही भाँति के चित्र का लेखा प्रस्तुत करते हैं !

जब हम बोलते हैं, उस समय क्या होता है ?

जब हम बोलते हैं, उस समय भी हमारे शरीर और मस्तिष्क में अनेक नाजुक क्रियाएँ होती रहती हैं । मस्तिष्क के सदर दफ्तर से स्वर-रज्जुओं का नियत्रण करनेवाली मास-पेशियो को यह आदेश दिया जाता है कि अब स्वर-रज्जु पीछे की ओर ढीले न पड़े रहें, उनको खिंचकर तन जाना चाहिए, जिससे कि आवाज़ उत्पन्न हो । इसी के अनुसार वे तनते और ढीले होते हैं । तब जैसे ही आवाज़ गले और मुँह की कोठरियों में होकर निकलती हैं, जीभ, गाल और ओठ की मास-पेशियाँ बड़ी तीव्रता से इसलिए चलने लगती हैं कि कठ से निकली हुई आवाज़ के व्यजनों और स्वरों के संयोग से शब्द बन जाएँ । हमारे मुँह से निकलनेवाले शब्द बाहरी वायु में कम्पन उत्पन्न कर देते हैं । इन कम्पनों को श्रोता और वक्ता दोनों ही वाक्यों के रूप में अपने-अपने कानों में ग्रहण करते हैं । ये कम्पन, जिन्हें एक अच्छा बोलनेवाला परिश्रम करके अपने अनेक मासपेशी-चालकों की सहायता से उत्पन्न कर पाता है, जब सुननेवालों के कान के भीतरी परदे पर पडते हैं तब श्रवण-स्नायु के सदेशवाहक उनको मस्तिष्क के श्रवण-विभाग में पहुँचाते हैं, जहाँ वे नोट कर लिये जाते हैं । तदनतर कुछ ऐसे सदेशवाहक, जो मस्तिष्क में एक विभाग से दूसरे विभाग में इधर-उधर सदेश पहुँचाते हैं, इस नोट किये हुए सदेश को सर्वोच्च प्रधान नियत्रण-केन्द्र में पहुँचाते हैं । यदि हमें अपनी आवाज बहुत मन्द जान पड़ती है तो इस विभाग का शासक साँस को वश में करनेवाली मास-पेशियों के अफसर को आज्ञा देता है कि साँस धीरे या तेजी से निकले । यदि वाक्य का चढाव-उतार ठीक नहीं होता तो स्वर-रज्जु के चालकों को उनके घटाने-बढाने की आज्ञा दी जाती है । कदाचित् आपने ध्यान दिया होगा कि एक ऐसे मनुष्य की बोली में जो बहुत समय से बहरा रहा हो चढाव-उतार नहीं होता । इसका कारण यह है कि उसके मस्तिष्क के वे भाग जो आवाज़ घटाने-बढाने से सम्बन्ध रखते हैं, अपना कार्य बन्द कर शिथिल हो जाते हैं ।

वाणी के सबध में विचार करते हुए हमारा ध्यान सदर दफ़्तर के एक और विभाग की ओर भी जाता है, जहाँ स्मरण-शक्ति का केन्द्र रहता है । यह विभाग बृहद् मस्तिष्क के पीछे ऊपरी ओर स्थापित है । यहाँ पर सब ध्यान से सुनी-सुनाई बातें मानों रजिस्टर कर ली जाती हैं और मस्तिष्क का प्रधान शासक अपना कार्य चलाने में प्राय उनकी सहायता लेता रहता है । यदि बीते हुए अनुभव अपना कोई लेखा हमारे मस्तिष्क में न छोड़ जाएँ तो हमारी सारी गाडी ही रुक जाय ! यह बात केवल मनुष्य ही नहीं वरन् प्रत्येक जीव के बारे में कही जा सकती है । घरेलू कुत्ता या बिल्ली अपने भोजन पाने के स्थान या तत्सबधी पुकार को कैसी जल्दी पहचान लेता है ! प्रयोग द्वारा सिद्ध हुआ है कि मिट्टी में रहने वाला केंचुआ तक दु खदाई वस्तुओं से बचकर निकलना सीख जाता है । परंतु यदि उसमें अपने अनुभव को स्मरण रखने की शक्ति न हो तो ऐसा कैसे संभव हो ? वस्तुत हर प्रकार की जानकारी के लिए इस स्मरण-शक्ति की आवश्यकता है । किन्तु यह स्मरण-शक्ति है क्या ?

आप जान ही चुके हैं कि उपरोक्त स्नायविक सदेशवाहक ही, जो हमारे शरीर के सब भागों में फैले रहते हैं, हमारे जीवन के सब कार्य चलाते हैं । किन्तु इस बड़ी स्नायविक फौज के कुछ सदस्यों में एक विशेषता यह है कि जो सदेश उन तक पहुँचते हैं उनको वे रोक लें और वर्षों तक उन्हें न भूलें तथा आव-

श्यकतानुसार उन्हें बारम्बार निकाल सकें। इस प्रकार की अनुभूतियों के लेखे का एकत्रित होना ही स्मरण-शक्ति है।

स्मरण-शक्ति

स्मरण-शक्ति हमारे जीवन का सारा ढग बदल देती है। जिस प्रकार बालक चलना-फिरना सीख जाने पर फिर उसे कभी नहीं भूलता, उसी तरह जब हम किसी काम को बार-बार करते हैं तब फिर से उसका करना हमारे लिए सहज हो जाता है और धीरे-धीरे हमें उसका अभ्यास हो जाता है। यह स्मरण-शक्ति की मदद से ही सभव होता है। हमारे मस्तिष्क के स्मृति-पटल की तुलना फोनोग्राफ या ध्वनि-आलेखक यत्र की रेकर्ड से की जा सकती है। जिस प्रकार रेकर्ड को बाजे पर चढा कर हम बारम्बार उसमें भरे हुए गाने या भाषण सुन सकते हैं, ठीक इसी भाँति मस्तिष्क की स्मृति-रूपी रेकर्डों का भी बारम्बार प्रयोग किया जा सकता है।

प्राणियों मे दो प्रकार के आचरण होते हैं। प्रथम वे जो अपरिवर्त्तन-शील होते हैं यानी बदलते नहीं, और जिनमें सोचना विचारना नहीं पड़ता। दूसरे वे जिनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अदल-बदल सकते हैं। प्राय पशुओं के आचरण पहली प्रकार के ही होते हैं—उनका समझ और ज्ञान से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। पर मनुष्य के आचरण बहुधा दूसरी प्रकार के हैं, जिनमें बुद्धि, विचार और स्मृति से विशेष काम लिया जाता है। मनुष्य के आचरण जहाँ उसके अनुभवों पर निर्भर होते हैं, वहाँ केचुआ या पतिगा स्वाभाविक या परावर्त्तित क्रियाओं द्वारा ही प्राय अपना काम चला लेता है। हम बर्र या शहद की मक्खी से किसी परावर्त्तित या स्वाभाविक क्रिया के कारण नहीं बचते वरन् अपने ऊपर या किसी अन्य व्यक्ति पर बीती हुई अनुभूति के कारण ही। सम्भव है, कभी स्वय हमें ही बर्र ने काटा हो या किसी दूसरे को काटते हमने देखा हो अथवा उसके स्वभाव का वर्णन हमने पढा या सुना हो। मानव और इतर प्राणियों मे यही एक बड़ा भेद है। निम्न श्रेणी के बहुत से जीवों के मस्तिष्क की स्मृति-रूपी रेकर्ड का वेलन ऐसा नर्म होता है कि उसमें के एक दिन के आलेख आगामी आलेख के अकित होते ही मिट-से जाते हैं। उनकी क्रियाएँ मस्तिष्क या मुख्य वात-संस्थान के निचले भाग से होती हैं। किन्तु मनुष्य में ऐसा नहीं होता। इतना ही नहीं, जब हम किसी बात को याद करते हैं तो साथ ही साथ विचार भी करते हैं। पर यहाँ हम मनोविज्ञान के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, जिसका उल्लेख इस लेख में उचित नहीं।

मनुष्य की भाषा एक विशेष प्रकार की ध्वनि-सासर्गिक व्यवस्था है। हिन्दी बोलनेवालों ने प्रत्येक विचार के लिए ध्वनियों की अपनी एक सहिता बना ली है तो अग्रेजी बोलने-वालों ने अपनी दूसरी। पर भाषा और विचार में ऐसा निकट वर्ती सबध है कि यदि हम उसके अध्ययन में एक क़दम आगे बढ़ाएँ तो फिर हम मनोविज्ञान ही के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

मनुष्य के मस्तिष्क में विभिन्न नियंत्रण-केन्द्रों की तार-बर्कियों के तार परस्पर किस प्रकार एक-दूसरे से संबद्ध है, यही इस मानचित्र में प्रदर्शित है।

मानवीय शरीर बिना तार के एक विद्युत्-यन्त्र के समान है, जिसका सात-आठ वर्ष पहले ग्लासगो की अंतर्राष्ट्रीय होम्योपैथिक कॉनफ्रेंस मे किए गए प्रयोगों द्वारा काफी प्रमाण पा लिया गया है। इस प्रकार सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक बार जब हम अपने मस्तिष्क से काम लेते हैं तो उसमें विद्युत्-सचार होता है। डा० डब्लू० ई० बौएड ने एक ऐसा सुकुमार और जटिल यत्र बनाया था कि उसके पास यदि कोई अपना सिर खुजलाता तो बालों की रगड़ से जो बिजली पैदा होती वह इतनी होती थी कि उससे इसके टूटने की आशका रहती थी। इस यंत्र से शरीर के आस-पास की अदृश्य विद्युत् का प्रसार विदित हो जाता था। इस प्रकार हृदय के धड़कने, हाथ हिलाने और मुँह खोलने तक की क्रिया का अन्तर उसमें स्पष्ट विदित होता था, जो एक सामने के पर्दे पर प्रकाश के हिलते हुए सकेत के रूप में दृष्टिगोचर होता था। इस प्रयोग मे डा० साहब ने एक लड़के के शरीर में बिजली की लहर का सचार किया और फलत. उसके शरीर से बैट्री की तरह एक ऐसी तरंग निकली कि जो प्रकाश के उक्त संकेत द्वारा स्पष्टत पर्दे पर दृष्टिगोचर

हुई। जब वह लड़का यन्त्र को पकड़े हुए था उसी समय उससे एक प्रश्न किया गया। बस, वैसे ही प्रकाश का धब्बा बड़ी तेजी से हिलने लगा! ऐसा होते ही विद्वान् डाक्टर बोल उठे कि 'देखिए, हम एक प्रकार के रेडियो ग्रहण करनेवाले यत्र जैसे ही हैं।'

अमेरिका के अन्य दो डाक्टर—एडवर्ड ट्रेन और अब्राहम गोटलोबर्ड—ने दर्शाया है कि मस्तिष्क की लहरें बिल्कुल विद्युत्-लहरें जैसी ही हैं, जो हजारों मील की दूरी तक जा सकती हैं और सुनाई भी पड़ सकती हैं। उनका कहना है—'चाहे हम सोते रहें या जागते, मस्तिष्क के आवरण में ये कम्पन सदैव होते ही रहते हैं और प्रति सैकड़ आठ से पन्द्रह तक की गति से चारों ओर ठीक उसी भाँति जाते हैं जैसे कि नाड़ियों में होकर विद्युत्-तरंगें जाती हैं। इन तरंगों के विषय में सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जब वे किसी नाड़ी में होकर गुजरती हैं तो एक ऐसे ध्वनि-यत्र द्वारा हम उनका पता पा सकते हैं जो कि आवाज़ को दस लाख गुना तेज कर सके। प्रोफेसर कार्ल सी शूरे का कथन है कि जब हम अपनी पहली अँगुली मोड़ते हैं तब जो वात-प्रेरणाएँ उसमें से होकर जाती हैं वे विद्युत्-धारा ही के समान होती हैं और उनकी ध्वनि किसी उपयुक्त यत्र द्वारा परिवर्द्धित करने पर ठीक से सुनी जा सकती है। प्रोफेसर कार्ल का दावा है कि लंदन में सोते हुए उनके मस्तिष्क की तरगें उनकी न्यूयार्क-वाली प्रयोगशाला में एकत्रित की जा सकती हैं तथा उनकी तेज़ी देखकर वहाँ जाना जा सकता है कि वे शान्तिपूर्वक सो रहे हैं या कुस्वप्न देख रहे हैं।

हाल में विज्ञान ने इन तरगों की खोज के सबध में बहुत उन्नति की है। मरने से पूर्व मनुष्यों पर किए गए अनुसधानों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि मस्तिष्क की तरंगें एक प्रकार की विद्युत्-प्रेरणाएँ ही हैं, जो मस्तिष्क के कोषों की क्रिया से उत्पन्न होती हैं। इसी के साथ-साथ यह भी देखा गया है कि पागल और अनोखे विचारवाले मनुष्यों की मस्तिष्क-तरगें भिन्न-भिन्न नमूने की होती हैं। किसी-किसी अस्पताल में यह पता लगाने के लिए कि मस्तिष्क में कोई गाँठ तो नहीं पड़ गई है और यदि पड़ी है तो कहाँ, अब एक्स-रे के अतिरिक्त मस्तिष्क-लहरों का भी प्रयोग किया जाता है!

इटली के प्रोफेसर केलीगेरियस, जिन्होंने मानसिक विकारों की चिकित्सा के सबध में बड़ी विशेषता प्राप्त की है, इससे भी आगे बढ गए हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक प्राणी में मानसिक सदेशों के आने-जाने के तीन मडल हैं—एक गर्दन की दाहिनी ओर, दूसरा दाहिने हाथ की पहली अँगुली के पीछे और तीसरा पिंडली और गड्ढे के बीच में। इन्हीं के द्वारा विचार-तरंगें ग्रहण की जाती और भेजी जाती हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो अनेक परीक्षाएँ कीं, उनमें से एक यह थी कि दो नर्सें आँखों में पट्टी बाँधकर एक दूसरे से दस फ़ीट की दूरी पर बैठा दी गई और उनकी गर्दन पर उस जगह जहाँ सवाद-मंडल समझा जाता था, एक छोटी-सी अल्यूमीनियम की टोपी बाँध दी गई। तब एक नर्स से कहा गया कि 'किसी ऐसे विषय पर जो दोनों को ही पसद हो अपने विचारों को दूसरी तक पहुँचाने का ध्यान करे और दूसरी से कहा गया कि उसको ग्रहण करने की चेष्टा करे। थोड़ी ही देर में दूसरी नर्स से बताया कि उसके जीभ के छोर पर तेज़ जलन, दोनों गालों और बाईं कलाई में कुछ पीड़ा व सिर में ऊपर की ओर एक विचित्र प्रकार का भारीपन तथा मस्तिष्क के निचले भाग में कुछ शून्यता सी प्रतीत हुई। तत्पश्चात् उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि पहली नर्स के शरीर से चारों ओर समुद्र की लहरों की तरह गिरती और उठती हुई श्वेत-किरणों का जाल-सा निकल रहा है। फिर उसने बताया कि पहली नर्स उससे अस्पताल के रोगी के विषय में कुछ कह रही है, उसके रोग के लक्षण बता रही है। सदेशा भेजनेवाली नर्स ने बताया कि वास्तव में यही बातें हैं, जो उसके ध्यान में भी आई थीं। प्रो० केलीगेरियस का कथन है कि विचार-तरङ्गों द्वारा हज़ारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति भी आपस में बातचीत कर सकते हैं। आश्चर्य नहीं यदि एक दिन यह भी सिद्ध हो जाय कि दिवंगत व्यक्तियों की आत्माओं से वार्तालाप करना भी एक वैज्ञानिक सभावना है—विद्युत् की एक अद्भुत् घटना मात्र! भारतवर्ष के ऋषि और मुनि तो सदा ही इस बात को मानते आए हैं और योग-साधना द्वारा बहुधा उन्होंने ऐसे चमत्कार प्रकट भी किए।

निश्चय ही हम ऐसे सजीव रेडियो-यत्र हैं, जो विचार-लहरें भेजने और ग्रहण करने दोनों ही के लिए समर्थ हैं और लगातार अभ्यास से हम इन शक्तियों की उत्तरोत्तर उन्नति कर सकते हैं। मस्तिष्क से जितना ही अधिक कार्य लिया जाय, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक उन्नति करती है। शरीर के विभिन्न अंगों में से केवल मस्तिष्क ही एक ऐसा अंग है, जो तरुणावस्था के बाद भी बढ़ता रहता है। इसके सीखने के हेतु आयु का कोई अवरोध नहीं है। साधारणतया लोगों का यह विचार है कि जीवन की सध्या आ जाने पर वे कुछ सीखने योग्य नहीं रह जाते, किन्तु विज्ञान की दृष्टि में यह सत्य नहीं।

स्वभाव

किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व का बोध बहुत-कुछ हमें उसके स्वभाव के ही द्वारा होता है। साथ ही उसके अधिकांश कार्य भी उसके विशिष्ट स्वभाव के अनुरूप ही होते हम देखते हैं। अतः कहने की आवश्यकता नहीं कि मनोविज्ञान की दुनिया में इस 'स्वभाव' नामक वस्तु का कितना अधिक महत्व है! यह क्या वस्तु है, प्रस्तुत लेख में यही संक्षेप में बताया गया है।

मनुष्य का स्वभाव उसकी अन्तर्वृत्यात्मक प्रतिक्रियाओं का योग है। साधारणत हर आदमी स्वभाव का मतलब समझता है। हमेशा यह कहते पाया जाता है कि अमुक आदमी बड़े जिद्दी स्वभाव का है, अमुक आदमी बड़े उग्र स्वभाव का है आदि। यद्यपि मामूली तौर पर कोई भी इसका बारीकी के साथ विश्लेषण करके नहीं देखता, लेकिन कहनेवाला और सुननेवाला, दोनों ही, इसका अर्थ अवश्य समझते हैं।

यह बात नहीं कि जिसे ज़िद्दी स्वभाव का कहा जाता है, वह दिन-रात जिद ही पकड़े रहता हो। उसके स्वभाव में काफी नम्रता भी हो सकती है, चिड़चिड़ापन भी हो सकता है, उत्सुकता भी हो सकती है। फिर भी वह ज़िद्दी सिर्फ इसलिए कहा जाता है कि बाह्य वातावरण की उसकी प्रतिक्रियाओं में यही लक्षण प्रमुख है। ठीक उसी प्रकार उग्र स्वभाववाला भी, जो बराबर सभी से झगड़ा ही करता फिरता है, कभी-कभी किसी ग़रीब पर तरस खाकर उदारतापूर्वक भीख देते भी देखा जा सकता है। लेकिन यह बात जरूर है कि जिस परिस्थिति के उपस्थित होने पर हम और आप गर्म होने की बात तक नहीं सोच सकते, उसमें भी वह ख़ामख़्वाह उबल पड़ता है।

ऐसी अवस्था में यह जानना आवश्यक है कि स्वभाव नाम की इस चीज की उत्पत्ति है कहाँ से? क्या यह जन्मजात वस्तु है अथवा आदमी अपने लिए स्वय इसका निर्माण करता है? कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि अधिकाश में स्वभाव सहजात होता है, तथा जन्म के बाद इसकी रूप-रेखा मनुष्य की ग्रन्थियों की गतिविधि पर निर्भर करती है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि अन्तर्वृत्तियाँ जन्मजात होती हैं। इनकी सूची भी पहले दी जा चुकी है। यहाँ पर हम प्रत्येक प्रवृत्ति के सामने उस विशेषण को दे रहे हैं जिस पर उसके अनुषगी स्वभाव का नामकरण होता है।

वृत्यात्मक आवेग	स्वभाव
क्रोध ...	क्रोधी
औत्सुक्य	जिज्ञासु
भय ...	कायर
काम ...	कामी
क्षुधा	लोभी
आत्म-सामुख्य	अहकारी
वच्यता	नम्र
साधिकता	मिलनसार
हास्य	प्रसन्नमुख

इसी प्रकार दूसरे स्वभावों के पीछे काम करनेवाली प्रवृत्तियों की भी तालिका बनाई जा सकती है। उपर्युक्त तालिका मैक्डूगल के आधार पर दी गई है। किसी-किसी मनोविद् के मत से प्रवृत्तियों की इतनी लम्बी तालिका बनाने की आवश्यकता नहीं, उनके अनुसार मुख्य दो ही तीन प्रवृत्तियाँ हैं और दूसरी प्रवृत्तियाँ इन्हीं से प्राप्त हो जाती हैं। जो कुछ भी हो, इतनी बात तो मान्य है कि जिसके अन्दर जिस प्रवृत्ति की प्रधानता होती है उसीके अनुसार उसके स्वभाव का भी निर्माण होता है।

प्राय यह भी देखा जाता है कि कभी-कभी किसी

जाति में सर्वथा किसी एक प्रवृत्ति का प्राधान्य या अभाव पाया जाता है। कुछ जंगली जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें उत्सुकता की वृत्ति बिल्कुल कम है। अंग्रेजों के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि वे अत्यधिक एकान्तप्रिय होते हैं और जल्दी किसी से मिलना पसन्द ही नहीं करते। इसके उल्टे फ्रांसीसियों का स्वभाव बहुत ही मिलनसार समझा जाता है। अगर ट्रेन के एक ही डिब्बे में तीन यात्री हों, एक अंग्रेज, एक फ्रासीसी और एक हिन्दुस्तानी, तो जहाँ फ्रांसीसी जल्दी ही उस हिन्दुस्तानी से जान-पहचान करके उसके साथ घुल-मिलकर बातें करना आरम्भ कर देगा, वहाँ वह अग्रेज घंटों चुप बैठा रहेगा, लेकिन एक शब्द भी नहीं बोलेगा।

स्वभाव के ऊपर दूसरा गहरा प्रभाव अन्तर्ग्रन्थियों (Endocrines) का पाया जाता है। मनुष्य के शरीर में ऐसी कई ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे निरन्तर एक प्रकार का रस निकलकर रक्त में मिलता रहता है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार का रस देती हैं और इन रसों का शरीर पर बहुत बड़ा प्रभाव पडता है। ये किसी अग के कार्य विशेष को तो उत्तेजित करते और किसी दूसरे को दबाकर ही रखते हैं। उदाहरणार्थ क्लोम या पैन्क्रियाज ग्रन्थि को लीजिए। इसका एक रस तो सीधे अन्न में चला जाता है और पाचन की क्रिया में सहायता देता है। पर इसका दूसरा रस सीधे रक्त में जाता है, जिसे इन्सूलिन कहते हैं। यह इन्सूलिन रक्त के द्वारा स्नायुओं में चला जाता है और वहाँ की शर्करा को जला डालने में सहायता करता है। अगर क्लोम में यह रस काफी पैदा न हो तो रक्त में शर्करा जमा हो जाती है और तब तक वहीं पड़ी रहती है जब तक कि गुरदे उसे हटा न दें। ऐसा होने से आदमी मधुमेह रोग (Diabetes) का शिकार हो जाता है। यदि इस रस का शरीर में आधिक्य हो तो आदमी की भूख बढ़ जाती है और वह क्लान्त और भयातुर हो जाता है। अगर यह और भी बढ जाय तो वह अत्यधिक सतप्त हो उठता है। इसी प्रकार उसकी कमी से भी मानसिक क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है।

थोडे दिन पहले, जबकि मनोविज्ञान के नए अन्वेषण नहीं हुए थे, बहुत-से वैज्ञानिकों का मत था कि आदमी के स्वभाव पर शरीर के चार पदार्थों का बहुत बड़ा प्रभाव है। उनकी धारणा थी कि रक्त के आधिक्य से आदमी खुशमिज़ाज होता है, पित्त के आधिक्य से चिड़चिड़ा, कफ के आधिक्य से चंचल और प्लीहा के आधिक्य से दुःखी। इस प्रकार की धारणाएँ यद्यपि अब पुरानी प चुकी हैं, फिर भी इतना अवश्य है कि उन लोगों ने भी इस तथ्य को अवश्य पहचाना था कि आदमी के मिजाज (अथवा स्वभाव) पर शारीरिक पदार्थों के न्यूनाधिक्य का प्रभाव ज़रूर है। १८५० ई० के बाद से अतर्ग्रन्थियों की क्रियाओं की खोज के बाद से उत्तरोत्तर नई-नई बातें मालूम होती गईं और इनका एक अलग विज्ञान ही तैयार हो गया।

यहाँ पर सक्षेप मे यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि अन्तर्ग्रन्थियों की क्रियाओं का अध्ययन कैसे किया जाता है।

शरीर-वैज्ञानिक इस सबंध में अपने परीक्षण अधिकतर दो प्रकार से किया करते हैं—एक तो किसी जीव के शरीर से किसी विशेष ग्रन्थि को काटकर और हटाकर उसके शरीर और मन की गतिविधि का अध्ययन करते हैं, दूसरे उसके शरीर में फिर से उस ग्रन्थि को लगाकर, अथवा सुई के द्वारा या मुख की राह से उस ग्रन्थि के रस को फिर उसके अन्दर पहुँचाकर उसके परिवर्त्तनों को देखते हैं। डाक्टर जब उन बीमारियों का अध्ययन करते हैं जो किसी ग्रन्थि के कम या अधिक काम करने की वजह से पैदा होती हैं तो उस ग्रन्थि के रस को खिलाकर या सुई के जरिए शरीर में पहुँचाकर उसके प्रभाव को देखते हैं। रसायनशास्त्रियों ने इन ग्रन्थियों के रसों का विश्लेषण किया है और अब तो अनुसंधान-शालाओं मे रासायनिक ग्रन्थि-रस (Hormone) तैयार भी किए जा सकते हैं।

थायरॉयड (Thyroid) नाम की ग्रन्थि मानव-मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव डालती है। थायरॉयड ग्रन्थि आदमी के गले के अन्दर होती है। हवा की नली के सामने गले के निम्न भाग में बसी हुई इस ग्रन्थि का वज़न क़रीब एक आउन्स है। इसके बढने से घेघा रोग (Goitre) हो जाता है। लेकिन बीमारी आदि के कारण यह ग्रन्थि यदि नष्ट हो जाय, अथवा कार्य करना कम कर दे तो माइक्सोडिमा (Myxoedema) नाम की बीमारी हो जाती है। इसमें शरीर का चमडा शुष्क हो जाता है और स्नायु तथा मस्तिष्क बिल्कुल बेकाम-से हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति बड़ा ही सुस्त और बेवकूफ हो उठता है, कोई बात उसे याद नहीं रहती और न वह ठीक से किसी एक चीज़ पर ध्यान जमा सकता है, न विचार कर सकता है और न कोई उपयोगी काम ही कर सकता है। सभवत आप सोचें कि इस स्थान पर व्यर्थ ही एक विशेष ग्रन्थि

की ख़राबी से पैदा होनेवाली बीमारी का वर्णन क्यों किया जा रहा है? इसका उत्तर यह है कि हम यहाँ पर आदमी के स्वभाव का अध्ययन करने की कोशिश कर रहे हैं, और यह देखना चाहते हैं कि उसकी इन विशेषताओं पर मन और शरीर का क्या-क्या प्रभाव पड़ता है। ऊपर हमने कहा है कि आदमी के स्वभाव के निर्माण में अन्तर्ग्रन्थियों का बड़ा हाथ है। माइक्सोडिमा उतनी शारीरिक बीमारी नहीं जितनी कि मानसिक है। अत इन ग्रंथियों की क्रिया-प्रक्रिया से सबसे अधिक प्रभावित होनेवाला आदमी का स्वभाव ही है। चंचल स्वभाव का, हमेशा चुस्त रहनेवाला, तीव्र-बुद्धि आदमी भी थायरॉयड का ह्रास होने से अल्पबुद्धि तथा सुस्त हो उठता है—उसका सारा व्यक्तित्व ही बदल जाता है। और आदमी के व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण अंश उसका स्वभाव ही तो है।

हाँ, तो अगर बिल्कुल बचपन से ही उपर्युक्त ग्रन्थि अविकसित हो तो बच्चा बढ़ता नहीं और उसकी बुद्धि भी विकसित नहीं होती। बीमारी बहुत कठिन हुई तो 'क्रीटिन' (Cretin) नामक रोग जाता है, जिसमें शरीर की बनावट बेहद नाटी और भद्दी तथा दिमाग़ निर्बुद्धि हो जाता है।

ग्रंथि-विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार माइक्सोडिमा की चिकित्सा ही थी। देखा गया कि रोगी को भेड़ या बकरे की थायरॉयड ग्रन्थि खिलाने से जादू की तरह उपर्युक्त लक्षण नष्ट होने लगे। थायरॉयड का रस देने से भी वैसा ही लाभ होता है। यह बात नहीं कि इस चिकित्सा से नई थायरॉयड पैदा हो जाती है। बात इतनी-सी है कि थायरॉयड बराबर खिलाते रहने से शरीर को आवश्यकतानुसार थायरॉयड का रस मिलता रहता है, जो शरीर और मन की क्रियाओं को ठीक रखता है। अगर बचपन से ही इस चिकित्सा के अधीन रोगी को रखा जाय तो क्रीटिन रोग तक की हालत में काफी सुधार किया जा सकता है। थायरॉयड रस को थाइरॉक्सिन (Thyroxin) कहते हैं, जिसके अन्दर सबसे अधिक आयोडिन रहती है। थाइरॉक्सिन के विश्लेषण से पाया गया है कि यह $C_{15}H_{11}O_4NI_4$ के फॉर्मूले का सम्मिश्रण है।

आदमी के स्वभाव की विचित्रताओं के लिए अंग्रेजी में प्राय कई शब्द व्यवहृत होते हैं—जैसे टेम्परामेंट' (Temperament), 'मूड' (Mood) आदि। 'टेम्परामेंट' से जैसे किसी विशेष आदमी की साधारणतया अपने तथा बाहरी दुनिया के प्रति होनेवाली प्रतिक्रियाओं का बोध होता है, उसी प्रकार 'मूड' शब्द से उसकी किसी खास मौक़े पर रहने वाली मानसिक स्थिति का ज्ञान होता है। आप ऑफिस पहुँचते हैं, पाँच मिनट देर हो गई है। दूसरे कर्मचारी आपसे कहते हैं—"तुम देर करके आए हो, आज ख़ैर नहीं। बड़े साहब का मिज़ाज बिगड़ा हुआ है।" ऑफिस में दिन भर फाइलों से माथापच्ची करनी पड़ती है, साहब के लिए चिट्ठियाँ ड्राफ़्ट करनी पड़ती हैं, आप घर पहुँचते हैं तो अपनी स्त्री पर उबल पड़ते हैं। स्त्री आपको देखते ही समझ जाती है, आज आपका मिजाज बिगड़ा हुआ है। एकाध झिड़की मुन्नू को भी खानी पड़ती है। लेकिन दूसरे रोज आप आते हैं और आते ही 'मुन्नू, मुन्नू' का शोर मचाते हैं, मुन्नू भागा आता है तो एक लड्डू पाता है। आपकी श्रीमती मुस्कराती आँखों से संतोष के साथ देखती हैं कि आपका मिज़ाज आज बड़ा ख़ुश है।

रॉबर्ट लुई स्टीवेन्सन नामक अंग्रेज़ी का एक बड़ा साहित्यकार हुआ है। जिन्दगी भर वह बीमार ही रहा और बिछौने ही पर पड़े-पड़े उसकी अधिकतर क़िताबें लिखी गईं। जब वह समोआ द्वीप में मरा तो उसके बहुत पहले ही से बहुत बुरी तरह बीमार था। लेकिन उसकी कहानियों में, उसके निबन्धों में, कहीं कष्ट, शोक आदि के चिह्न नहीं मिलते। उसकी अधिकतर कहानियाँ साहस से भरी हुई हैं। अपनी बीमारी की हालत में भी वह ख़ुश रहा करता और समोआ के भोले-भाले आदमियों को अपने चारों ओर इकट्ठा कर तरह-तरह की कहानियाँ सुनाया करता। यहाँ तक कि उसका नाम ही "तूसीतला" (Tusitala) 'कहानियाँ कहनेवाला' पड़ गया था। उसने अपने एक निबन्ध में लिखा है—'रास्ते पर पड़ा एक पाँच पाउन्ड (७५ रुपये के लगभग) का नोट पाने की अपेक्षा एक खुशमिजाज आदमी पाना मैं ज्यादा पसन्द करता हूँ।' आगे चल कर वह यहाँ तक कहता है कि अगर आप को रोना ही आता हो तो किसी बन्द कमरे में बैठकर जी भर आँसू बहा लीजिए, लेकिन जब बाहरी दुनिया में आइए तो हँसते ही आइए।

लेकिन स्टीवेन्सन के-से लोग कम मिलते हैं। अधिकतर ऐसे ही आदमी पाए जाते हैं जो ज़रा-सी पेट की गड़बड़ी से चिड़चिड़े हो जाते हैं, थोड़ा भी सिर-दर्द होने से भरमुँह बात तक करना पसन्द नहीं करते, और अगर कहीं बीमार होकर दो-एक रोज भूख-हड़ताल की नौबत आई तब तो फिर आपके मिजाज़ का कुछ पूछना ही नहीं! नौकरों का तो आपके सामने जाना उस समय बिल्कुल मौत के मुँह में पहुँचना है!

कोई काम करने का भी विशेष 'मूड' हुआ करता है। इस मूड का हाल विशेषतर कविगण अधिक जानते हैं।

कभी-कभी ही वे कविता लिखने के 'मूड' में होते हैं। यही हाल अन्य कलाकारों का भी है।

तो आपने देखा कि आदमी के मिजाज पर जहाँ वाह्य वातावरण का अत्यधिक प्रभाव है वहाँ उसके भाव का भी कम प्रभाव नही। इसके अतिरिक्त शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ भी अपना प्रभाव डाले वगैर नहीं रहतीं।

सी० जी० युंग (C. G J ing) नामक मनोविद्या-विशारद ने स्वभाव के दो ही विभाग किए हैं। उसके मत से मनुष्य या तो अन्तर्वृत्त होता है या वहिर्वृत्त। इस तरह स्वभाव के दो पहलू हुए—एक तो अन्तर्वृत्ति (In ro-version), दूसरा वहिर्वृत्ति (Extroversion)। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति के बीच और कोई सीढ़ी ही नहीं। आप ऐसा समझ लें कि एक स्केल है जिसके एक सिरे पर अन्तर्वृत्ति है और दूसरे सिरे पर बहिर्वृत्ति। इन दो छोरों के बीच सैकड़ों तरह के क्रम हो सकते हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं, जो बिल्कुल अंतर ही की ओर लीन रहते हैं अर्थात् अन्तर्वृत्त हैं, जिन्हें बहिर्जगत से बिल्कुल सबध नहीं, जिन्हें अपने सिवा और किसी से कोई मतलब नहीं और जो न किसी से किसी तरह का सम्पर्क रखना पसन्द करते, जिन्हें किसी से बात करने तक में हिचक होती है, जबकि दूसरे प्रकार के ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो अपने में सन्तुष्ट नहीं रह सकते, जो दो मिनट भी चुप बैठ नहीं सकते, अपने अन्दर दृष्टि नहीं डाल सकते, जिनका सारा अस्तित्व ही बाहरी दुनिया है। लेकिन अधिकतर लोग ऐसे ही हैं, जो इन दोनों के बीच हैं। न तो आप उन्हें पूर्ण रूप से अन्तर्वृत्त ही कह सकते हैं और न बहिर्वृत्त ही। सच तो यह है कि किसी का अधिक झुकाव है अन्तर्वृत्ति की ओर और किसी का बहिर्वृत्ति की ओर। जिसके स्वभाव में जिस गुण का आधिक्य है, उसी के अनुसार साधारणतया आप उसे बहिर्वृत्त अथवा अन्तर्वृत्त कह सकते हैं। युंग इन्हें 'मनोवैज्ञानिक टाइप' कहता है।

तो अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति वास्तव में आदमी का जीवन के प्रति उसका प्रतिन्यास (Attitude) मात्र है। अगर आप और भी गहरे जाइए तो पाइएगा कि जीवन को गति देने वाली प्रधान वस्तु मनोवैज्ञानिक भाषा में 'लिबिडो' (Li'ido)—काम-शक्ति—ही है। यह निरन्तर गतिशील है और सारे जीवन को यही चलाती है। लिबिडो की प्राय दो ही चालें हैं, चाहे तो वह आगे की ओर बढ़ती है (यह उसकी अग्रवृत्ति या Progression है) अथवा वह पीछे की ओर हटती है (यह उसकी प्रत्यावृत्ति या Regression है।) मोटे तौर से हम यह कह सकते हैं कि अगर लिबिडो की अग्रवृत्ति हो तो आदमी बहिर्वृत्त होगा और अगर वह प्रत्यावृत्त हो तो आदमी मुख्यत अन्तर्वृत्त होगा। अग्रवृत्ति को आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि यह जीवन-शक्ति की आगे की ओर ठीक वैसी ही चाल है जैसी कि समय की चाल आगे की ओर है। लिबिडो की इन दो गतियों का वाह्यरूप बहिर्वृत्ति तथा अन्तर्वृत्ति है। दूसरी तरह से आप यह भी समझ सकते हैं कि एक आदमी अगर अग्रवृत्त लिबिडो (कामशक्ति) द्वारा परिचालित है तो बाहरी दुनिया मे ही वह अपनी सार्थकता पाएगा। जबकि उसकी लिबिडो की गति अगर उसके अहम् (Ego) की ओर है तो वह बाहरी दुनिया से अपने हाथ खींचकर ही रखना अधिक पसन्द करेगा।

प्रत्यावृत्ति दो रास्तों से चल सकती है। चाहे तो वह बाहरी दुनिया से बिलकुल भागकर अन्तर्मुख होकर रहेगी, अथवा अत्यधिक लापर्वाही के रूप में बहिर्वृत्ति में जा रहेगी। ऐसा आदमी ज़रूरत से ज्यादा हँसनेवाला, बोलनेवाला होगा। बहिर्जगत में असफलता अन्तर्वृत्त को जहाँ अत्यधिक अन्तर्वृत्त कर देती है वहाँ उसे उल्टे बहिर्वृत्त भी कर छोड़ सकती है। ठीक यही बात बहिर्वृत्त के लिए भी लागू है।

आपने कभी शराब पीनेवाली मडली में कुछ समय बिताया है? यदि हाँ तो साधारणत आप पायेंगे कि शराब की कुछ पुरकश घूँटें—फिर चाहे वह स्कॉच ह्विस्की की हों या देशी महुआ-दारू की—जब पेट में पहुँचकर मस्तिष्क पर अपना असर पहुँचाती हैं तो भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न तरह की प्रतिक्रियायें दिखलाते हैं। अधिक बोलक्कड़ आदमी बिलकुल गम्भीर होकर चुप हो रहेगा, जबकि मामूली तरह से बिलकुल चुप रहनेवाला, स्वभावत गम्भीर आदमी बहुत ज्यादा बोलना—बकबक करना—शुरू कर देगा! मतलब यह कि जिसने अपने को बाहरी दुनिया में भुला रखा है, उसका अधिकार जब उसके चेतन मन पर से हट जाता है तो फिर वह अपनी असली अवस्था, यानी अन्तर्वृत्ति, में लौट जाता है। ठीक यही बात बाहरी दुनिया में अन्तर्वृत्त व्यक्ति का भी है। लेकिन इसके अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ बहुत बोलनेवाले और अधिक बोलना भी शुरू कर देते हैं।

अन्त में फिर से एक बात दोहराना चाहता हूँ। स्वभाव, टेम्परामेंट या मिज़ाज आदमी की बड़ी महत्त्व की वस्तुएँ हैं, और उसके सामाजिक जीवन में ये काफी महत्व रखती हैं। स्टीवेन्सन के शब्दों में एक क़ीमती नोट पाने की अपेक्षा एक हँसमुख आदमी को पा लेना सचमुच ही अधिक अच्छा है!

चित्रों की छपाई

पुस्तक तथा समाचारपत्रों की छपाई में चित्रों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। चित्र केवल पुस्तकों के सौंदर्य को ही नहीं बढ़ाते हैं, बल्कि उपयोगिता की दृष्टि से भी वे अनिवार्य समझे जाते हैं। विशेषतया टेक्निकल या वैज्ञानिक पुस्तकों में तो चित्रों के बिना काम ही नहीं चल सकता। मौके के एक चित्र से जो बात समझायी जा सकती है उसे तीन-चार पृष्ठों के भी शब्द स्पष्ट रूप से नहीं व्यक्त कर पाते। अत आधुनिक मुद्रण-कला ने चित्रों की छपाई के क्षेत्र में भी विज्ञान के नूतनतम अनुसन्धानों की भरपूर सहायता ली है।

चित्रों की छपाई के लिए पहले ब्लाक बनाने पड़ते हैं। ये ब्लाक मैटर के फार्म पर उपयुक्त स्थान पर कस दिए जाते हैं। मैटर के टाइप के साथ-साथ वेलन से इन पर भी स्याही फेरी जाती है, और तब अक्षरों के साथ-साथ ये चित्र भी कागज़ पर छप जाते हैं।

साधारणतया चित्र के डिजाइन के अनुसार दो प्रकार के ब्लाक बनाए जाते हैं—लाइन-ब्लाक तथा हाफटोन-ब्लाक। लाइन-ब्लाक उन चित्रो के बनते हैं, जिनमें हलके शेड नहीं होते अर्थात् जिनका निर्माण ठोस रेखाओं द्वारा होता है। इन चित्रों में जहाँ गहरा शेड दिखाना होता है वहाँ रेखाएँ चौडी दिखाई जाती हैं तथा कम शेड वाले स्थान पर रेखाएँ दूर-दूर तथा पतली बनायी जाती हैं। इसके प्रतिकूल फोटोग्राफ मे तथा तैलचित्रों अथवा अधिकाश रगीन चित्रों मे शेड का अन्तर रेखाओं द्वारा नहीं वरन् रग की गहराई द्वारा दिखलाया जाता है। इनके लिए हाफटोन ब्लाक बनाने पड़ते हैं।

यह एक विचित्र बात है कि मुद्रण-कला, जो अन्य सभी कला कौशल के विकास की कहानी को अंकित करती है, स्वयं अपने इतिहास का लेखा न रख सकी। अत ब्लाक द्वारा चित्रों की छपाई के विकास का इतिहास भी प्रामाणिक रूप में हमें कहीं नहीं मिलता। पैरिस के एक मिस्त्री गिलो ने १८५६ ई० में लिथोग्राफ-पद्धति द्वारा पत्थर पर रेखाचित्र का डिज़ाइन स्याही द्वारा सबसे पहले बनाया था। तदुपरान्त उसने जस्ते की प्लेट पर उस डिजाइन को उठाया और उस पर ऐसी स्याही फेरी गई, जिस पर तेज़ाब का असर नहीं होता। अब इसे तेजाब के घोल पर थोड़ी देर तक रक्खा गया तो उन स्थानों पर जहाँ डिज़ाइन नहीं था तेज़ाब ने असर किया और वहाँ का जस्ता तेज़ाब में घुल गया। इस प्रकार डिज़ाइन प्लेट पर उभर आया। अब इस ब्लाक को मैटर के साथ फार्म पर कसकर उससे साधारण रीति से कागज पर चित्र तथा मैटर की छपाई की गई।

बाद में फोटोग्राफी द्वारा गिलो की उपर्युक्त पद्धति को काफी परिष्कृत किया गया। इस प्रकार धातु की प्लेट को तेज़ाब द्वारा खुरचकर ब्लाक बनाने की विधि के आविष्कार का श्रेय हम उस फ्रेंच मिस्त्री गिलो को ही दे सकते हैं।

उत्तम श्रेणी के ब्लाक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्रिया में हर क़दम पर पूरी सावधानी बरती जाय। बढ़िया क़िस्म के रासायनिक द्रव तथा अच्छे कैमरे के बिना ब्लाक ठीक तैय्यार नहीं हो सकते। ब्लाक तैय्यार करने के लिए महँगे दामों के कैमरे काम में लाये जाते हैं। इनके लेन्स रग-दोष आदि से मुक्त तथा शक्तिशाली होने चाहिएँ। कैमरे की भाथी भी खूब लम्बी होनी चाहिए ताकि मुख्य डिजाइन को छोटा-बड़ा करके उसकी फोटो ले सकें और तब इस फोटो के आकार का ब्लाक बना सकें। फोटोग्राफ उतारते समय साधारणतया आर्क-लैम्प के विद्युत्-प्रकाश से काम लेते हैं।

लाइन-ब्लाक—पहले डिज़ाइन को एक बोर्ड पर पिन द्वारा लगाकर कैमरे के सामने उल्टा खड़ा करते हैं।
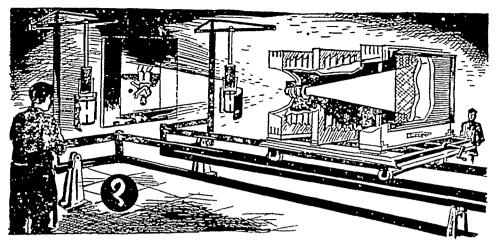
(नं० १) ब्लॉक बनाने के लिए पहला काम है जिस चित्र का ब्लाक बनाना हो, मनचाहे आकार में घटा-बढ़ाकर उसका फ़ोटो उतारना। इसके लिए जो यंत्र काम में लाया जाता है, वह उम्दा लैन्सों और आर्क-लैम्प से युक्त होता है।

डिजाइन पर दोनों ओर से आर्क-लैम्प का तेज़ प्रकाश डालते हैं, ताकि उसके प्रत्येक भाग पर समान रूप से रोशनी पड़े। लैम्प में शेड लगा रहता है, जो किरणों को कैमरे पर गिरने से रोकता है। तब कैमरे के लेन्स को आगे-पीछे खिसकाकर जिस साइज़ का ब्लाक तैय्यार करना हो उस साइज़ का बिम्ब पीछे वाले पर्दे पर फोकस करते हैं और इस पर्दे को हटाकर वहाँ प्लेट लगाकर फोटो उतार लेते हैं। अब एक अंधेरे कमरे में, जिसमें केवल लाल रंग की रोशनी रहती है, फोटो की प्लेट को स्लाइड में से निकालकर रासायनिक द्रवों में धोते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे साधारण फोटो की प्लेट को रासायनिक मसालों में धोते हैं। तदुपरान्त इसे 'हाइपो' में डालकर इस प्लेट के रश्मिचित्र को (जिसे अब 'निगेटिव' का नाम दिया जाता है) स्थायी बना लेते हैं। इस निगेटिव को एक बक्स में रखकर कृत्रिम गर्मी पहुँचा शीघ्र ही सुखा लेते हैं।

अब इस निगेटिव से धातु की प्लेट पर तसवीर उतारनी होती है। साधारणतया लाइन-ब्लाक के लिए जस्ते की प्लेट का प्रयोग करते हैं। जस्ते की इस प्लेट को अच्छी तरह साफ कर लेते हैं, ताकि उस पर चिकनाई आदि मौजूद न रहे। तब उस प्लेट पर एक प्रकार के रासायनिक द्रव का पतला लेप चढ़ाया जाता है, जो प्रकाश-रश्मियों के प्रति विशेष चेतनशील होता है। तब इस प्लेट को कृत्रिम गर्मी द्वारा सुखा लेते हैं और उपरोक्त निगेटिव को उस प्लेट के चेतनशील धरातल से सटाकर इस प्रकार रखते हैं कि निगेटिव का फिल्मवाला रुख़ प्लेट के स्पर्श में रहे। तदनंतर प्रिंटिंग फ्रेम में कसकर उसे पीछे की ओर एक रबड़ के पर्दे से ढक देते हैं और मशीन द्वारा बीच की हवा को खींचकर बाहर निकाल लेते हैं। ऐसा करने से वह निगेटिव जस्ते की प्लेट पर ख़ूब चौरस बैठ जाती है। अब लगभग १५ मिनट तक आर्क-लैम्प की तेज़ किरणें उस निगेटिव पर डाली जाती हैं। साधारण फोटोग्राफी में जिस प्रकार निगेटिव में से छनकर प्रकाश-रश्मियाँ मसालेवाले काग़ज पर फोटो अंकित करती हैं, उसी प्रकार आर्क-लैम्प की किरणें भी जस्ते की प्लेट पर उस डिज़ाइन का चित्र अंकित कर देती हैं। तब प्रिंटिंग फ्रेम में से उस जस्ते की प्लेट को बाहर निकालकर उसे थोड़ी गर्मी पहुँचाते हैं और उस पर एक
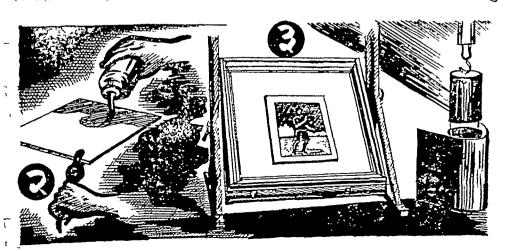
(नं० २) तब फोटो-निगेटिव पर एक पतला रासायनिक लेप चढ़ाया जाता है, जो प्रकाश-रश्मियों के प्रति चेतनशील होता है और (नं० ३) उसे धातु की प्लेट के साथ एक फ्रेम में कसकर प्रकाश दिखाते हैं, ताकि उस पर डिज़ाइन उतर आए।

(नं० ४-५) तदनंतर एक ख़ास क़िस्म की स्याही पोतकर नल में उसे धोते हैं और अस्पष्ट भागों को तूलिका से ठीक कर 'एचिंग' या खुदाई के लिए तेज़ाब के पात्र में रखकर उसे हिलाया जाता है (नं० ६)।
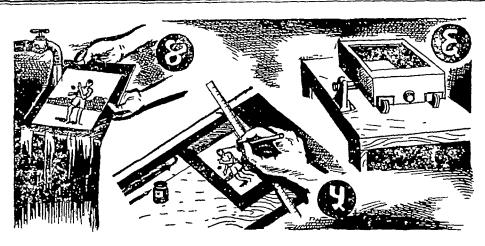
विशेष क़िस्म की स्याही फेर देते हैं। अब प्लेट को नल के पानी में धोते हैं। इस क्रिया में मुलायम सूत की लच्छी से उसे हलके हाथों सहलाते हैं। इस प्रकार उसके उन भागों से रासायनिक लेप धुल जाता है, जहाँ पर प्रकाश की किरणों ने असर नहीं किया था, किन्तु जिन भागों पर प्रकाश-रश्मियों का असर हो चुका होता है, वहाँ का लेप नहीं छूटता। इस प्रकार प्लेट पर डिज़ाइन का रेखाचित्र स्पष्टत बन जाता है। तब उस प्लेट को कृत्रिम गर्मी द्वारा सुखाकर उस पर राल का बारीक चूर्ण डालते हैं, जो कि स्याही से चिपक जाता है। इस राल की वजह से स्याही अपने ऊपर तेजाब का असर नहीं होने देती। तदनतर प्लेट को फिर गर्म करते हैं ताकि राल पिघलकर स्याही पर अच्छी तरह बैठ जाय। अंत में प्लेट जब ठण्डी हो जाती है तब इसे खुदाई के लिए शोरे के तेज़ाब के घोल में रखते हैं। इस घोल में १ भाग तेजाब का और ३० भाग पानी का रहता है। इस क्रिया में तेजाब का बर्तन निरन्तर मशीन या हाथों द्वारा हिलाया जाता है ताकि प्लेट के हर भाग में तेजाब पहुँचता रहे। इस विधि से रेखा-चित्र को छोड़कर प्लेट के अन्य भागों का जस्ता तेजाब के असर से घुलकर खुरच जाता है। इस प्रकार मुख्य डिजाइन का चित्र रेखाओं के रूप में प्लेट के शेष धरातल से ऊँचा उभरा हुआ बन जाता है। तब प्लेट को तेजाब के घोल से निकालकर देखते हैं कि डिजाइन का प्रत्येक भाग ठीक-ठीक उभरा या नही। यदि अब भी कुछ कसर हुई तो उसे दुबारा तेजाब के घोल में डालते हैं। इस घोल में से प्लेट निकालने के उपरान्त विशेषज्ञ स्वयं अपने हाथ से भी कभी-कभी ब्लाक के कतिपय भागों में से जस्ते को खुरचकर निकालता है और उसके अनावश्यक अंश को छील देता है। अन्त में इस प्लेट को लकड़ी के गिट्टक पर जड़कर उसका प्रूफ लेकर देखते हैं कि क्या नतीजा रहा। इस प्रकार उक्त डिज़ाइन का ब्लॉक तैयार हो जाता है।

हाफ़टोन-ब्लाक—फोटोग्राफों अथवा अधिकाश रंगीन चित्रों में रेखाचित्रों की भाँति पूर्णतया काले और सफेद भाग नही होते, बल्कि चित्र के विभिन्न भागों में क्रम से अधिक या कम शेड होते जाते हैं। अत लाइन-ब्लाक की उभरी हुए रेखाएँ इस ढंग के चित्र नहीं छाप सकतीं।

(नं० ७) 'एचिङ्ग' हो जाने पर जब डिज़ाइन का रेखाचित्र धातु-प्लेट पर उभर आता है, तब अनावश्यक भागों को काटकर लकड़ी के गिट्टक पर उसे जड़ देते हैं (नं० ८) और तब उसका प्रूफ़ ले लेते हैं (नं० ६)।
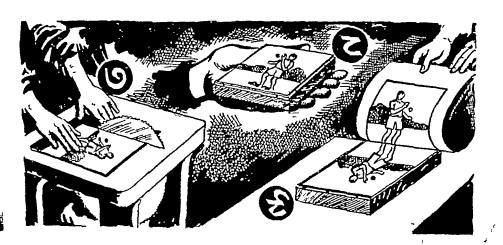
शुरू में जब कभी फोटोग्राफ छापने होते तो पहले चित्रकार द्वारा उस फोटोग्राफ का रेखाचित्र तैयार कराया जाता, तदुपरान्त उसका लाइन-ब्लाक तैयार कराया जाता। स्पष्ट है कि इस क्रिया में व्यय भी अधिक होता तथा मूल फोटोग्राफ अपने असली रूप में छप भी न पाता, साथ ही देर भी लगती। हाफटोन-ब्लॉक के आविष्कार ने इस कमी को पूरा कर दिया।

हाफ़टोन-ब्लाक के निर्माण की पद्धति समझने के लिए अच्छा होगा, यदि आप किसी समाचार-पत्र में छपे हुए फोटो का एक बढ़िया अणुवीक्षण यंत्र द्वारा निरीक्षण करें। तब आप देखेंगे कि यह चित्र काले-काले बिन्दुओं से बना हुआ है। जिन स्थानों पर फोटो का शेड हलका है, वहाँ के बिन्दु छोटे और दूर-दूर हैं, तथा जहाँ फोटो का शेड गहरा है अर्थात् जहाँ फोटो काली अधिक है, वहाँ ये काले बिन्दु पड़े हैं तथा वे एक-दूसरे को छूते हुए हैं।

स्पष्ट है कि इस तरह के चित्र छापने के लिए जो ब्लॉक बने होंगे, उनके धरातल पर भी नन्हीं-नन्हीं नोकें उभरी हुई होंगी, जिनमें से कुछ का सिरा बहुत बारीक होगा और कुछ का मोटा। यदि ब्लाक सपाट धरातल का बनाया जाता, जैसे कि फोटोग्राफर के यहाँ के चिकने कागज़ पर उतारा गया फोटो का धरातल, तो स्याही लगाकर कागज़ पर छापने पर चित्र 'छायाचित्र' की तरह पूर्णतया काला छपता और उसमें सर्वत्र एक-सा काला शेड होता। इसी दिक्कत को दूर करने के लिए हाफटोन की विधि सामने आई। उभरे हुए दानेवाले इन हाफटोन ब्लॉकों का निर्माण सबसे पहले १८५२ ई० में फाक्स ताल्बो ने किया था। उसने मूल फोटो को कैमरे के सामने रखकर जब उसकी निगेटिव अन्य फोटो-प्लेट पर उतारी तो उस वक्त उसने ठीक प्लेट के सामने समानान्तर रेखाओंवाला एक पर्दा रख लिया था। उस फोटो-प्लेट पर प्रकाश-दर्शन देते समय आधे वक्त के बाद उसने पर्दे को ६० अंश घुमा दिया। इस प्रकार निगेटिव फोटो पर चारखाने की शक्ल में पर्दे की काली लाइनें आ गई और वह निगेटिव फोटो बिन्दुओं में विभाजित हो गई। बस इसी में हाफटोन-पद्धति का रहस्य उसे मिल गया। फोटो या डिज़ाइन को इस प्रकार बिन्दुओं में विभाजित करने की क्रिया को रेटिकूलेशन (Reticulation) कहते हैं।

हाफटोन-ब्लाक तैयार करने की आधुनिक पद्धति में मूल फोटो या डिजाइन की निगेटिव फोटो तैयार करते समय फोटो-प्लेट के सामने काँच का एक पर्दा खड़ा करते हैं जिसमें समान दूरी पर खींची गई कई खड़ी और आड़ी समानातर रेखाएँ बनी रहती हैं। वास्तव में यह पर्दा काँच की दो पतली स्लाइडों को एक दूसरे के साथ सटाकर बनाया जाता है। एक स्लाइड पर खड़ी समानान्तर रेखाएँ खिंची होती हैं, दूसरी पर आड़ी समानान्तर रेखाएँ। इन रेखाओं मे काला रंग भर दिया जाता है। काँच के चिकने धरातल को एक दूसरे से मिलाकर दोनों स्लाइडों को सटा देते हैं। अब पर्दे के आरपार देखने पर चारख़ाने-सा दीखता है, केवल वर्गाकार सूराख़ों से रोशनी छनकर आ पाती है।

फोटो उतारते समय इस पर्दे को फोटो-प्लेट के सामने रखते हैं। यदि समाचारपत्रों में चित्र छापने के लिए ब्लाक तैय्यार करना हुआ तो पर्दे की लाइनें दूर-दूर खींची रक्खी जाती हैं। खुरदरे काग़ज़ पर छापने के निमित्त हाफटोन ब्लाक बनाने के लिए पर्दे पर प्रति इंच ६०-८० तक रेखाएँ खींची जाती हैं। इसीलिए ऐसे ब्लाक से छपे चित्रों के बिन्दु बड़े होते हैं और नंगी आँखों से भी वे दिखाई दे जाते हैं। किन्तु ऐसे चित्र में उसकी नन्हीं-नन्हीं बारीकियाँ नजर नहीं आतीं, केवल समष्टि रूप से ही चित्र का बोध हो पाता है। औसत श्रेणी के चित्रों के लिए, हाफटोन-ब्लाक के निर्माण में, जो पुस्तकों में छापे जाते हैं, पर्दे पर प्रति इच लगभग १५० लाइनें खींची हुई होती हैं।

कैमरे में पर्दे से छनकर प्रकाश-रश्मियाँ फोटो-प्लेट पर पड़ती हैं। अत रासायनिक द्रव में धो लेने के पश्चात् ऐसी निगेटिव प्लेट पर जो फोटो उभरती है, वह नन्हें-नन्हें बिन्दुओं द्वारा व्यक्त होती है। ये बिन्दु शेड के अनुसार साइज़ में काफी छोटे-बड़े होते हैं।

तदुपरान्त लाइन-ब्लाक की तरह ही इस निगेटिव प्लेट से भी धातु की प्लेट पर पाज़िटिव फोटो उतारनी होती है। केवल अन्तर यह होता है कि जस्ते की जगह प्राय हाफटोन-ब्लाक के लिए ताँबे की प्लेट प्रयुक्त करते हैं तथा इस प्लेट पर प्रकाश-किरणों को ग्रहण करने के लिए भिन्न प्रकार के रासायनिक लेप का प्रयोग किया जाता है। ताँबे की प्लेट पर निगेटिव से चित्र उतार लेने पर इसे एनीनील रंग घुले पानी मे धोते हैं। फिर जस्ते की प्लेट की भाँति इसे भी गर्म करते हैं। तदुपरान्त 'आयरन परक्लोराइड' के घोल में डालकर उसे हिलाते हैं। यही घोल प्लेट पर ब्लाक के चित्र का डिजाइन खोदता है। यह क्रिया उस वक्त तक जारी रखी जाती है जब तक कि चित्र के उस भाग में जहाँ शेड अत्यन्त हलका होता है, उभरे हुए बिन्दु एकदम नन्हें-नन्हें न हो जायँ। किन्तु इस बात की सावधानी रखनी होती है कि घोल बिन्दु के अन्दर

घुसकर उसकी जड़ को न खा जाएँ। प्लेट पर डिजाइन जब अच्छी तरह उभर आता है, तब इसे बाहर निकाल लेते हैं और विशेषज्ञ ध्यान-पूर्वक उसका निरीक्षण करता है कि उसका प्रत्येक भाग ठीक से तैय्यार हो गया या नहीं। यदि कुछ कसर हुई तो शेष भाग में वार्निश भरकर केवल उसी जगह पुन घोल लगाया जाता है ताकि उस भाग से भी ताँबा घुलकर निकल जाय।

इसके उपरान्त इस ब्लाक से छापकर काग़ज़ पर प्रूफ देखते हैं और मूल चित्र से उसकी तुलना करते हैं। यदि उसमें कुछ दोष रह गया तो विशेषज्ञ उसे स्वय अपने हाथ से खोदकर दुरुस्त कर लेता है। फिर लाइन-ब्लाक की तरह ही इसे भी ठीक नाप के अनुसार काटकर लकड़ी के गिट्टक पर जड़ देते हैं।

हाफटोन विधि से रंगीन चित्रों के ब्लॉक बनाने के लिए भी उपरोक्त विधि ही काम में लाई जाती है, केवल अतर यही होता है कि इसके लिए फ़ोटो लेते समय कैमेरा में विशेष प्रकार का 'फिल्टर' या छन्ना लगाकर क्रमश. एक ही फोकस पर तीन रगों के अलग-अलग निगेटिव तैयार किए जाते हैं और उनके तीन (पीले, लाल और नीले) रगों के तीन विभिन्न ब्लॉक तैयार किए जाते हैं।

फ़ोटोग्रेवियर-पद्धति

अभी हाल मे चित्र छापने की एक नवीन पद्धति का आविष्कार हुआ है। इसे फोटोग्रेवियर-पद्धति का नाम दिया गया है। यह पद्धति प्राय उन्हीं चित्रों के लिए प्रयुक्त की जाती है, जिनके लिए हाफटोन-श्रेणी के ब्लाक बनाए जाते हैं। फोटोग्रेवियर की विधि से छपे हुए चित्र बहुत ही सुन्दर लगते हैं तथा उनमें एक प्रकार की गहराई-सी होती है। फोटोग्रेवियर प्लेट में वास्तव में हाफटोन की तरह ही चित्र नन्हें-नन्हें भागों में विभाजित रहता है, किन्तु उभरे हुए बिन्दुओं के स्थान पर ऐसी प्लेट में कम और अधिक गहराई के सूक्ष्म गड्ढे-से तेज़ाब की सहायता से खुदे रहते हैं। इन्हीं गड्ढों में छपाई के समय स्याही भर जाती है और ऊपर के शेष भाग से प्लेट पोंछ ली जाती है। छपाई के समय जब प्लेट पर आकर काग़ज़ दबता है तब इन्हीं गड्ढों में से स्याही काग़ज़ पर जा लगती है। गड्ढा यदि अधिक गहरा हुआ तो वहाँ अधिक स्याही लगती है और यदि कम गहरा हुआ तो कम स्याही। इस प्रकार चित्र के विभिन्न शेड छप जाते हैं। प्लेट के वे भाग जहाँ स्याही बिल्कुल नहीं लगी होती काग़ज़ को कोरा ही छोड़ देते हैं। चित्र का यह अंश सबसे अधिक उजला होता है।

फ़ोटोग्रेवियर-प्लेटों के बेलन तैयार किए जा रहे हैं (फ़ो०—'टाइम्स ऑफ़ इंडिया प्रेस' की कृपा से)।

फोटोग्रेविअर विधि से छपाई की जा रही है।

को उस पर फेंककर कार्बन-टिशू पर मूलचित्र की उल्टी कापी छाप लेते हैं। अब प्रिन्टिङ्ग फ्रेम से कार्बन-टिशू को बाहर निकालकर उस पर खड़ी और आड़ी रेखाओं से खचित कॉच के एक पर्दे में से रोशनी फेंकते हैं। इस प्रकार वह चित्र नन्हें-नन्हें विन्दुओं में विभाजित हो जाता है। इस पर्दे में साधारणतया प्रति वर्ग इंच १५० रेखाएँ खिंची रहती हैं। तदुपरान्त कार्बन-टिशू को पानी में भिगोकर उसे तॉवे की साफ प्लेट पर रख देते हैं और वेलन से उसे अच्छी तरह दबाकर बीच से तमाम हवा और नमी को निकाल उसे सुखा लेते हैं।

इस टिशू लगी हुई प्लेट को गुनगुने पानी (तापक्रम १०४ फा०) में रखकर उसे मशीन द्वारा देर तक हिलाते हैं, जिससे कागज गलकर पानी में घुल जाता है तथा उन स्थानों से जहॉ से कि प्रकाश-रश्मियॉ गुजरी थीं जिलैटिन भी घुल जाती है, किन्तु उन स्थानों पर से जिनमें से प्रकाश-रश्मियाँ नहीं गुजर पाई थीं, जिलैटिन कठोर बन जाती है और वह घुलती नहीं। हॉ, मध्यम शेड से जिलैटिन का थोड़ा-बहुत भाग घुल जाता है। अब प्लेट को बाहर निकालकर पुन उसे सुखा लेते हैं।

हाफटोन की भॉति इस प्लेट को भी आयरन-परक्लोराइड के घोल में रखते हैं। स्वभावत जहॉ जिलैटिन की तह हलकी होती है, वहॉ पर घोल का असर अधिक होता है, अत कुछ समय ही में शेड के अनुसार प्लेट में कम और अधिक गहराई के गड्ढे खुद जाते हैं।

फोटोग्रेवियर-प्लेट प्राय वेलन के धरातल के आकार की भी बनाई जाती हैं, जिससे कि रोटरी मशीन के वेलन पर फिट करके उसकी छपाई की जा सकती है।

फ़ोटोग्रेवियर-प्लेट तैय्यार करने की विधि

फोटोग्रेवियर-विधि में फोटो, चित्र या डिजाइन से कैमरे द्वारा पहले निगेटिव प्लेट तैय्यार करते हैं। फिर इस निगेटिव से दुबारा उल्टी पाज़िटिव प्लेट तैय्यार की जाती है ताकि इस पाज़िटिव प्लेट को यदि फोटोवाले कागज पर रखकर उस पर रोशनी फेंकी जाय तो जो चित्र उभरे वह मूल फोटोग्राफ के शेड के लिहाज़ से उल्टा हो, अर्थात् मूल-चित्र में जहॉ शेड गहरा था वहॉ इस प्रति में शेड हलका पडे।

इस उल्टे पाजिटिव को एक विशेप प्रकार के कागज पर रखते हैं, जिसे 'कार्बन टिशू' का नाम दिया गया है और जिस पर जिलैटिन की एक तह चढ़ाई गई होती है, जिसे रासायनिक द्रवों द्वारा प्रकाश-रश्मियों के लिए चेतनशील बना लिया जाता है। फिर इन दोनों को प्रिन्टिङ्ग फ्रेम में कसकर हाफ़टोन-ब्लाक की विधि से आर्क-लैम्प की किरणों

संस्कृत-वाङ्मय—१०

नाटक

प्रवेश

संस्कृत-काव्य को 'दृश्य' और 'श्रव्य' दो भागों में बाँटा गया है। नाटक दृश्य काव्य है। भारतीय नाटक का प्राचीनतम रूप हमे ऋग्वेद में ही देखने को मिल जाता है। ऋग्वेद मे लगभग बीस सूक्तों में पात्रों के कथोपकथन (Dialogue) हैं (म० एक, १६५,१७०, और १७६, म० तीन, ३३, म० चार, १८, म० सात, ३३, म० आठ, १००, म० दस, ११, २८, ५१, ५२, ५३, ८६, ६५ आदि)। इन्हीं सरमा और पणियों, यम और यमी; इन्द्राणी, इन्द्र और वृषाकपि, पुरूरवा और उर्वशी आदि के कथोपकथनों में भारतीय नाटकों का आरभ हुआ है। इनके अतिरिक्त वैदिक यज्ञों (जैसे पारिप्लव, महाव्रत आदि) में जो गायन के साथ नर्तन (नाट्य) आदि का समावेश था वह भी नाटक के विकास में सहायक सिद्ध हुआ होगा। भारत में पुत्तलिका-नाट्य भी बड़े प्राचीन-काल से प्रचलित रहा है। इसका भी उसके काया-निर्माण में काफी हाथ रहा होगा। कतिपय विद्वानों का तो मत है कि वास्तव में इसी पुत्तलिका-नाट्य से ही भारतीय नाटक का स्पष्ट विकास हुआ। इस विचार को पूरा-पूरा स्वीकार करना तो कठिन है, परन्तु इतना माना जा सकता है कि उसके विकास पर इस नृत्य का प्रभाव अवश्य हुआ होगा। पुत्तलिका-नाट्य को दिखानेवाला सूत्रधार कहलाता है और एक सूत्र के द्वारा वह पुत्तलिकाओं को खींच-खींचकर नचाता है। संस्कृत मच पर नाटक का आरभ करनेवाले भी 'सूत्रधार' और 'नटी' होते हैं। दोनों की यह समता आकस्मिक नहीं कही जा सकती। नाटक मे पहले 'सूत्रधार' और उसका सहकारी 'स्थापक' रगमच पर आकर 'वस्तु' (प्लाट), 'नायक' और 'बीज' का निर्देश करते हैं। पुत्तलिकाओं के नृत्य मे भी नर्तन और विविध पात्रों के अभिनय होते हैं। राजशेखर के एक नाटक में इस प्रकार की एक पुत्तलिका सीता का अभिनय करती है। संस्कृत नाटक के विकास का आरभिक सबध प्राचीन छाया-नाटकों से भी रहा होगा। भवभूति के 'उत्तररामचरित' मे छाया-सीता का प्रवेश उसी प्राचीन पद्धति का अवशेष है।

भारतीय नाटक के ऊपर विदेशी विद्वानो ने जो ग्रीक-पद्धति का प्रभाव सूचित किया है वह तो कुछ अंशों में माना जा सकता है परन्तु उनका यह कथन कि भारतीय नाटक ग्रीक नाटक की नक़ल है सर्वथा निर्मूल है। इतना अवश्य है कि ग्रीक-नाटक-रीति का संस्कृत नाटक पर प्रभाव पड़ा। यह सरगुजा राज के रामगढ़-गिरि की सीताबेंगा गुफा मे ग्रीक नाटक के भारतीय अनुकरण, विदूषक, यवनिका आदि से सिद्ध है। यवनिका को ग्रीक न मानकर पारसीक मानना भ्रमपूर्ण है। यह विदेश के अनुकरण-सिद्धान्त की विरोधी मनोवृत्ति का एक उदाहरण मात्र है। पारसीकों के नाटकों का वृत्तान्त हमें ज्ञात नहीं। फिर पारसीक ग्रीकों की भाँति इस देश में कभी रहे भी नहीं। अलीकसुन्दर और दिमित दोनो ने भारत मे ग्रीक-नागरिकों से भरे नगरों की स्थापना की थी और अन्य हिन्दू नगरों में भी आज के हिन्दू-मुस्लिम पड़ोसियों की भाँति हिन्दू-ग्रीक एक साथ रहते थे। अन्तर केवल इतना ही था कि मुसलमान जहाँ धर्म में स्पष्टतया हिन्दुओं से भिन्न हैं वहाँ ग्रीकों ने अपने नामादि तो हिन्दू कर ही लिये थे, उनका धर्म भी वैष्णव हो गया था। तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिखिद के दूत हेलियोदोर द्वारा स्थापित बेसनगर का वैष्णव गरुड़ध्वज आज भी इस बात का साक्षी है। इतना ही नहीं बल्कि ये भारतीय ग्रीक अपने और हिन्दू नगरों में अपने नाटक-अभिनय करते थे, इसके भी अनेक अकाट्य प्रमाण मौजूद हैं। इसलिए ग्रीक नाटक का प्रभाव पश्चात्कालीन संस्कृत नाटक के प्रवाह पर स्वीकार कर लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर विदेशी विद्वानों ने जो ग्रीक सन्धियों की बात कही है वह

अग्राह्य है। भारतीय नाट्य-शैली ग्रीक सन्धियों के प्रतिकूल है। जहाँ ग्रीक नाटकों में काल-सन्धि पूरी-पूरी निभाई जाती है, सस्कृत में ठीक उसके विपरीत है। इनमें दो अकों के बीच कई वर्षों का अन्तर हो सकता है। भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' नाटक के प्रथम दो अकों में बारह वर्ष का अन्तर पड़ता है। फिर सस्कृत नाटकों मे एक स्थान के दृश्यों का नाट्य एक अक में ही होता है। उसका पूरे नाटक में अनिवार्य होना आवश्यक नहीं। 'शाकुन्तल' का छठा अंक दुष्यन्त के राजप्रासाद में परिघटित होता है और सातवें का दृश्य हिमालय के शिखर पर मारीच ऋषि के आश्रम में खुलता है, जिसका एकाश आकाश में संपादित है। अत इस सिद्धान्त को स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है। सत्य यह जान पडता है कि सस्कृत नाटक मूलत. भारतीय मस्तिष्क की ही उपज है, परन्तु इसके विकास में ग्रीक, जैन, बौद्ध और अन्य अनेक शक्तियाँ सहायक हुई हैं, जिनका भारतीय इतिहास के प्रवाह में इस देश से सपर्क होता रहा है।

संस्कृत नाटक की रूपरेखा

भारतीय नाटककारों ने पात्र-चित्रण, वस्तु अथवा रग-मच की आवश्यकताओं से अधिक ध्यान भावप्रदर्शन पर दिया। इसी कारण उनके नाटक अधिकतर आदर्शवादी और रोमाञ्चक हो गए। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें भी जहाँ-तहाँ चरित्र-निर्माण और यथार्थ जीवन के उज्ज्वल चित्र हैं, परन्तु उन नाटककारों ने काव्यपरक विभूतियों को साधारणतया अभिनय-अकन अथवा पात्र-चित्रण की अपेक्षा मुख्य माना। परन्तु इससे यह हरगिज़ न समझना चाहिए कि सस्कृत नाटक अभिनय की 'गति-शीलता' में विशेष कमजोर हैं। वस्तु-निर्माण में भी उनमे पर्याप्त बुद्धि-व्यय हुआ है। आचार्यों ने नाटक 'वस्तु' को निम्नलिखित पाँच 'सन्धियों' में बाँटा है—(१) मुख (आरंभ), (२) प्रतिमुख (प्रसारारंभ), (३) गर्भ (बीज-विस्तार), (४) विमर्श (विराम), और (५) निर्वहण (समाप्ति)। भारतीय नाटकों मे विशेषकर शृंगारिक और वीर भावों की ही केन्द्रीय रूप मे प्रतिष्ठा की गई है। एक विशेष बात इन नाटकों मे ध्यान देने की यह है कि ये 'दु खान्त' नहीं हैं, यद्यपि 'विप्रलम्भ-शृगार' में करुण विरह का प्रचुर समावेश हो जाता है। सस्कृत-रगमंच पर मृत्यु, वध, रक्त, युद्ध, विप्लव आदि का प्रदर्शन निषिद्ध है। संस्कृत-नाटकों में चूँकि भाव-प्रदर्शन मुख्य रहा है, इन्होंने अपना वस्तु जनप्रिय इतिहास (रामायण महाभारतादि) से लिया है। इनके नायक का आदर्श 'धीरोदात्त' है।

विभाजन

यहाँ पर यह कह देना श्रेयस्कर जान पड़ता है कि 'ड्रामा' का संस्कृत पर्याय 'नाटक' नहीं 'रूपक' है, यद्यपि हिन्दी की परम्परा से हमने भी नाटक शब्द का ही प्रयोग किया है। 'नाटक' 'रूपक' का एक विभाग मात्र है। संस्कृत ड्रामा के दो भेद हैं—(१) रूपक, और (२) उपरूपक। इनमें से रूपक के विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में निम्न लिखित दस विभाग किए हैं—(१) नाटक (जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल), (२) प्रकरण (मालतीमाधव), (३) भाण (कर्पूरचरित), (४) व्यायोग (मध्यमव्यायोग), (५) समवकार (समुद्र-मथन), (६) डिम (त्रिपुरदाही), (७) ईहामृग (रुक्मिणी-हरण), (८) अङ्क अथवा उत्सृष्टिकाङ्क (शर्मिष्ठा-ययाति), (९) वीथी (मालविका), और (१०) प्रहसन (मत्तविलास)। इसी प्रकार उपरूपक के भी अठारह विभाग किए गए हैं जो निम्नलिखित हैं—(१) नाटिका (जैसे रत्नावली), (२) त्रोटक (विक्रमोर्वशी), (३) गोष्ठी (रैवत-मदनिका), (४) सट्टक (कर्पूरमञ्जरी), (५) नाट्यरासक (विलासवती), (६) प्रस्थान (शृङ्गारतिलक), (७) उल्लाप्य (देवी-महादेव), (८) काव्य (यादवोदय), (९) प्रेङ्खण (वालिवध), (१०) रासक (मेनकाहित), (११) संलापक (माया-कापालिक), (१२) श्रीगदित (क्रीड़ारसातल), (१३) शिल्पक (कनकावतीमाधव), (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका (बिन्दुमती), (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश (केलिरैवतक), और (१८) भाणिका (कामदत्ता)। ये वर्ग इतने हैं कि विश्वनाथ दो के उदाहरण तक न दे सके। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उदाहरण थे ही नहीं, क्योंकि परिभाषा बाद में बनीं और विभाग भी बाद में हुए, जब कि नाटक पहले रचे गए।

इतिहास

भारतीय नाटकों की रचना पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व से भी पहले आरभ हो गई थी, इसके प्रमाण स्पष्ट हैं। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' (चार, ३, ११०) में नाटकीय 'सूत्रों' का उल्लेख किया है। ये सूत्र उन नाटकों के सबध मे ही बने होंगे जो तत्कालीन समाज में प्रचलित रहे होंगे। 'अर्थशास्त्र' मे प्रयुक्त 'कुशीलव' शब्द भी नाट्यनिरूपित काव्य की सज्ञा हो गया था। पुष्यमित्र शुंग के समकालीन और द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' (तीन, ३०, २३) में दो प्रस्तुत

नाटकों—'कसवध' और 'बलिबन्ध'—का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने पात्रों के प्रसाधन (वर्णचित्रण) और तीन प्रकार के कलाकारों का भी निर्देश किया है। 'रामायण' में 'नाटक' शब्द और 'महाभारत' में 'काष्ठमयी नारी-मूर्त्ति' का उल्लेख है। 'हरिवंश' में स्पष्टतया उस नाटक का उल्लेख है, जिसे कृष्ण के वशजों ने खेला था। इसके अतिरिक्त शुद्ध ऐतिहासिक काल में रचे गए अनेक नाटक भी आज उपलब्ध हैं। मध्य एशिया की तुरफानी मरुभूमि मे सर आरेल स्टाइन ने कुछ सस्कृत ग्रन्थ खोद निकाले थे। उनमें बौद्ध दार्शनिक और कवि अश्वघोष के लिखे 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक एक नाटक (या 'प्रकरण') का कटा-फटा रूप मिला है। उपलब्ध नाटकों में निस्सन्देह यह प्राचीनतम है, प्रथम शताब्दी ईस्वी का। परन्तु इसकी परिमार्जित शैली से सिद्ध है कि यह केवल भारतीय नाटकीय परम्परा में है न कि उसके आरंभ में। अश्वघोष की कोई नाट्यकृति पूरी नहीं मिली है, इससे हम उसका उल्लेख मात्र करके रह जाते हैं, उस पर विचार नहीं कर सकते।

भास

अपने 'मालविकाग्निमित्र' के आरभ में, अनेक प्राचीन नाटककारों की रचनाओं के होते भी, अपनी कृति की सराहना करते हुए कालिदास कहते हैं—"प्रथितयशसा भाससौमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवे कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमान।" इसमें भास, सौमिल्लक और कविपुत्रादिकों को पूर्ववर्ती माना गया है। भास का काल सदिग्ध है। सौमिल्लक और कविपुत्र के तो नाम भी हमें विदित नहीं, परन्तु चूँकि कालिदास ने अपने नाटकों को उनकी कृतियों से श्रेष्ठ घोषित किया है, इसलिए उनके नाटक भी तब उपलब्ध अवश्य रहे होंगे। सभवत वे दोनों ही भास से प्राचीन थे। कुछ आश्चर्य नहीं यदि उनका समय ईसा से पूर्व की शताब्दियों में रहा हो और वे कवि अश्वघोष के भी पूर्ववर्ती रहे हों। प्रमाणों के अभाव में अभी कुछ उनके सबध मे नहीं कहा जा सकता। परन्तु भास की ऐतिहासिकता तो पं० गणपति शास्त्री द्वारा उसके तेरह नाटकों के पुनरुद्धार से स्पष्टतया स्थापित हो गई है। अत अब हम भास के सबध में ही विचार करेंगे। भास पर इधर काफी मनोरजक विचार-संघर्ष हुए हैं। पहले तो उसकी कृतियों के संबध में ही दो मत रहे हैं और अब भी वे सर्वथा एक नहीं हो सके। गणपति शास्त्री द्वारा प्राप्त नाटकों को विद्वानों का एक मत भासकृत मानता ही नहीं। परन्तु अधिकतर प्रवृत्ति कई लोगों की उन्हें भास का ही मानने की ओर है। उनके पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन से भी यह बात प्रमाणित हो जाती है। भास की कृतियों के पुनरुद्धार का श्रेय, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प० गणपति शास्त्री को ही है। उन्होंने ही सन् १९१२ ई० में उनको सम्पादित कर हमारे सामने रखा और अपने सम्पादकीय वक्तव्य में भास का काल लगभग तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व निश्चित किया। परन्तु प्राकृत और अन्य भाषा सबधी तथा दूसरे प्रमाणों के सामने भास तीसरी सदी ईस्वी के पूर्व नहीं रखा जा सकता। भास का उल्लेख कालिदास, बाण, राजशेखर प्रभृति प्राचीनों ने किया है और उसकी विविधमुखी प्रतिभा उसके अनेक नाटकों और भिन्न-भिन्न कथा-वस्तुओं से सिद्ध है। भास की शैली सरल, सशक्त, और वैदर्भी है। परन्तु उसका विशिष्ट सौंदर्य नाटकीय निरूपण, अभिनय क्षमता, और नाट्य-गति में है, जिनका बलिदान उसने काव्य-सौंदर्य की वेदी पर नहीं किया है। भास के तेरहों नाटक तीन भागों में विभाजित किए जा सकते है—(१) रामायण-वस्तु-कथा वाले, (२) महाभारत, हरिवंश और पुराण-वस्तु-कथा वाले, और (३) गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' और इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों से आकृष्ट वस्तु-कथा वाले।

इनमें से रामायणपरक नाटकों मे से 'प्रतिमा' (नाटक) विशेष लोकप्रिय हुआ। यह सात अंकों में है। इसकी कथा दशरथ के मृत्यु-काल से प्रारभ होकर राम के अयोध्या-आगमन तक चलती है। 'अभिषेक-नाटक' की कथा भी रामायण से ही ली गई है और उसमें रामाभिषेक का वर्णन है। महाभारत की कथाओं से लिये गए नाटकों में 'मध्यमव्यायोग' प्रमुख है। यह एक ही अंक मे समाप्त है और आधुनिक एकाकी नाटकों का यह पूर्ववर्ती है, यद्यपि वर्तमान एकाकीयों के लक्षण का यह प्रतीक नहीं। इसमें हिडिम्बा राक्षसी और मध्यम पाण्डव भीम के प्रेम का वर्णन है। 'मध्यमव्यायोग' की ही भाँति 'दूत-घटोत्कच' भी एकाकीय 'व्यायोग' ही है। इसमे घटोत्कच, अभिमन्यु के निधन के बाद ही, कौरवों के प्रति यह सदेश-वहन करता है कि अर्जुन उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था में शीघ्र सजग है। 'कर्णभार' और 'ऊरुभङ्ग' भी दोनों एकाकीय नाटक ही हैं। इनमें से पहले में इन्द्र द्वारा कर्ण के कवच और कुण्डलों का अपहरण है और दूसरे में भीम-दुर्योधन युद्ध तथा दुर्योधन का प्रतिद्वन्द्वी द्वारा ऊरुभजन वर्णित है। कृष्ण का कौरवों के प्रति पाण्डवों की ओर से मैत्री-भाव उत्पन्न करने के अर्थ दौत्य-कार्य 'दूतकाव्य' नामक

एक अन्य एकांकीय का विषय है। 'पञ्चरात्र' तीन अंकों में प्रस्तुत समवकार वर्ग का एक नाटक है। इसमें द्रोण के उस यज्ञ का वर्णन है, जिसकी दक्षिणा में आचार्य पाण्डवों के लिए दुर्योधन से आधा राज्य माँगते हैं। दुर्योधन उसे देना स्वीकार तो कर लेता है, परन्तु उसके बदले वह चाहता है कि पाण्डव अपने अज्ञातवास से पाँच रातों के भीतर ही प्रकट हो जायँ। 'बालचरित' पाँच अंकों में है। इसका सबध कृष्ण के बालपन से है और इसकी वस्तु-कथा सम्भवत 'हरिवंश' और अन्य पुराणों से ली गई हैं। भास के नाटकों में 'स्वप्नवासवदत्ता' सबसे सुन्दर है! इसमें वस्तु-निर्माण ख़ूब हुआ है और इसके अभिनयन तथा पात्रचित्रण में नाटककार की कला खुल पड़ी है। यह नाटक आरम्भ से अन्त तक घटना-वैचित्र्य तथा नाटकीय भावाकन में सुन्दर है। इसके ६ अंकों में मंत्री यौगन्धरायण द्वारा राजनीतिक उद्देश्य से सम्पादित वत्सराज उदयन और मगधराज दर्शक की भगिनी पद्मावती का विवाह वर्णित है। इसे सपन्न करने के अर्थ वत्सराज का मत्री यौगन्धरायण मिथ्यारूपेण यह प्रकाशित करता है कि प्रासाद में आग लग जाने के कारण पूर्वमहिषी वासवदत्ता जल गई है। 'स्वप्नवासवदत्ता' के पूर्वभाग स्वरूप चार अकों मे प्रस्तुत 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाम का एक और नाटक है, जिसमें यौगन्धरायण बन्दी वत्सराज उदयन को उज्जयिनी से छुड़ा लाने की प्रतिज्ञा करता है और उसे तथा उसकी प्रेयसी वासवदत्ता को हाथी पर भगा लाता है। यह हाथी पर भागनेवाला चित्र शुङ्गकालीन (दूसरी शताव्दी ईस्वी पूर्व) के एक ठीकरे पर भी अंकित है, जो उदयन की राजधानी कोशाम्बी से मिला है और जिसके दो नमूने काशी के 'भारत-कला-भवन' मे सुरक्षित हैं। वासवदत्ता अवन्ती के राजा चण्ड प्रद्योत महासेन की कन्या थी। प्रद्योत वत्सविजय करना चाहता था। उसने गजाखेट-प्रेमी उदयन को आखेट के समय धोखे से पकड़कर उज्जयिनी में बन्दी कर लिया। वहाँ वत्सराज और वासवदत्ता का प्रेम हो गया। फिर यौगन्धरायण ने बड़ी युक्तिपूर्वक उनको कोशाम्बी पहुँचाया था। यही इस नाटक का प्रसंग है। उदयन-सबंधी और अन्य शेष नाटकों की कथाएँ 'बृहत्कथा' और 'कथा-सरित्सागर' से ली गई जान पड़ती हैं। 'चारुदत्त' नामक प्रकरण (नाटक) अपूर्ण है। यह चार अक़ों मे है। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' भास के इसी नाटक पर अवलंबित है। इसका नायक ब्राह्मण चारुदत्त और नायिका वेश्या वसन्तसेना है। 'अविमारक' नामक छ अकों के एक अन्य नाटक में कुमार विष्णुसेन (अविमारक) और कुमारी कुरङ्गी का प्रेम-प्रसङ्ग है।

शूद्रक

वामन ने सबसे पहले राजा शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' का उल्लेख किया है। 'मृच्छकटिक' दस अंकों का एक 'प्रकरण' है। 'मृच्छकटिक' के भी रचना-काल और नाटककार के सबंध में विद्वानों में मतभेद है। एक वर्ग का कहना है कि यह नाटक वस्तुत दण्डी का है, जिसने अपने 'काव्यादर्श' में इसका एक श्लोक उद्धृत किया है। परन्तु भास के नाटकों के पुनरुद्धार से पता चलता है कि यथार्थत वह श्लोक मूल रूप में भास के 'चारुदत्त' और बालचरित' में मिलता है। अत 'मृच्छकटिक' चारुदत्त की रचना के शीघ्र ही बाद सभवत प्रथम शताब्दी ईस्वी में लिखा गया। राजा शूद्रक अनेक शास्त्रों का आचार्य कहा गया है। मृच्छकटिक में लिखा है कि शूद्रक ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था और ११० वर्ष की अवस्था में अपने पुत्र को राज्य सौंप अग्निप्रवेश किया था। इससे यह सिद्ध है कि या तो नाटक का यह अश प्रक्षिप्त है या इसका रचयिता कोई अन्य है। अभी इस बात मे भी सदेह किया गया है कि शूद्रक नाम का कोई राजा कभी हुआ भी। राजा शूद्रक का नाम 'राजतरङ्गिणी', 'कथासरित्सागर' और 'स्कन्दपुराण' में मिलता है। कुछ हस्तलिपियों में लिखा है कि शूद्रक पहले शालिवाहन राजा का मत्री था, फिर प्रतिष्ठान का राजा हो गया था। प्रोफ़ेसर स्तेन कोनो ने शूद्रक को आभीरराज शिवदत्त माना है। डाक्टर फ्लीट के मतानुसार शूद्रक के पुत्र ईश्वरसेन ने आन्ध्रों को हराकर २४८-४९ ईस्वी में चेदि सवत् चलाया। 'मृच्छकटिक' नाटक की भाषा सजीव और उसका चरित्रांकन सुन्दर है। चारुदत्त और वसन्तसेना का बड़ा अभिराम चित्रण नाटककार ने इस रचना में किया है।

कालिदास

कालिदास काव्य के क्षेत्र में जिस प्रकार बेजोड़ हैं, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी वह अनुपम हैं। जर्मन कवि और आलोचक गेटे कालिदास के शाकुन्तल पर मुग्ध हो गया था। उसने अपना 'फ़ास्ट' भी उसी से प्रभावित होकर लिखा। कालिदास का मानव-विज्ञान, प्रकृति और चरित्रों का चित्रण अद्वितीय हुआ है। पदलालित्य और प्रसाद के वह आचार्य हैं। संस्कृत भाषा के ऊपर उनका असाधारण प्रभुत्व है। सुकुमार भावों के ऊहापोह में वह अद्भुत नट हैं। थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक और

मृदुल से मृदुल भावों को वह व्यक्त कर सकते हैं। बाद के संस्कृत कवियों और नाटककारों की भाँति वह वाचाल नहीं हैं। उनके शब्द नपे-तुले हैं, अचूक बाण भी हैं और मर्मान्तक आघात की औषधि भी। इसी कारण वह उनके उपयोग में भी अमोघ हैं। उनका प्रत्येक पात्र भीड से पृथक् अपना एक व्यक्तित्व रखता है। उनके नाटकों मे एक असामान्य आकर्षण है।

कालिदास द्वारा प्रणीत नाटक तीन हैं—(१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, और (३) अभिज्ञान शाकुन्तल। सौन्दर्य और रचना-काल की दृष्टि से भी उनका यही क्रम है। 'मालविकाग्निमित्र' युवावस्था का आरम्भिक नाटक है, जो 'ऋतु-सहार' लिखने के समय के आसपास ही लिखा गया होगा। 'विक्रमोर्वशीय' उसके बाद लिखा गया और अन्त में कवि की प्रौढ़ा मेधा की सुन्दर रचना 'शाकुन्तल' है। एक और रचना 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नाम की कालिदास ने की थी, उसके सकेत इधर-उधर मिले हैं, परन्तु यह रचना स्वय उपलब्ध नहीं है, इसलिए हम इस पर विचार नहीं कर सकते। 'मालविकाग्निमित्र' पाँच अकों मे है। मगध के शुग-सम्राट् सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक है। उसके अन्त पुर मे कई रानियाँ हैं। इस नाटक में अन्त पुर के षडयन्त्रों का कुछ सकेत है। फिर मालविका और अग्निमित्र के प्रेम का वर्णन है। इससे दो ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। एक तो पुष्यमित्र के अश्वमेध में उसका पोता और अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र पितामह के अश्व की रक्षा करता हुआ सिन्धुनद के तट पर ग्रीक यवनों की सेना को हराता है। दूसरे उसका पिता अग्निमित्र विदर्भ देश को जीतता है। इनके अतिरिक्त इस नाटक के आरभ में नाट्य का विशद निरूपण है। 'विक्रमोर्वशी' वस्तु के गठन के विचार से निस्सन्देह 'मालविकाग्निमित्र' से उत्तम नाटक (त्रोटक) है। यदि 'मालविकाग्निमित्र' का वेग इसमें नहीं है तो इसके पात्र-चित्रण और भाषा अवश्य उससे श्रेष्ठतर हैं। इस नाटक का वस्तु ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरूरवा-उर्वशी सवाद से लिया गया है। इसके पाँच अको में चन्द्रवंश के पार्थिव राजा पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी के प्रेम और मिलन का चित्रण है। चौथे अक में राजा का वृक्ष-वृक्ष को विक्षिप्त होकर उर्वशी समझना, वाल्मीकि के सीताहरण के बाद राम की दशा का स्मरण कराता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कालिदास की पूर्ण विकसित मेधा की कृति है। देश-विदेश के साहित्यालोचकों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और अनेक योरपीय भाषाओं में इसके अनुवाद प्रस्तुत हैं। इस सात सर्गों के नाटक में राजा दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम, शकुन्तला का त्याग, और दोनों का पुनर्मिलन अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर रीति से वर्णित हैं। इसकी कथा 'महाभारत', 'पद्मपुराण' और पालि जातकों में भी मिलती है। परन्तु कालिदास ने अपनी वस्तु-कथा में महाभारत की कथा से काफी रूपान्तर कर लिया है। महाभारत का लम्पट राजा दुष्यन्त शाकुन्तल मे आदर्श नृपति हो गया है। कालिदास की यह कृति सस्कृत साहित्य की मौलमणि है। कालिदास पाँचवीं सदी ईस्वी में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समकालीन थे।

विशाखदत्त

'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त की रूपरेखा कुछ हद तक उसकी इस अद्भुत कृति से ही अनुमित होती है। वह महाराज पृथु का पुत्र और सामन्त वटेश्वरदत्त का पुत्र था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये नाम अभी तक इतिहासकारो को ऐतिहासिक सामग्री मे नहीं मिले। पर इतना स्पष्ट सा है कि विशाखदत्त गुप्ता के किसी सामन्त घराने के थे। 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्त' उनके दो नाटक हैं, जिनमें दूसरा केवल उद्धरणों में ही इधर-उधर अपूर्णरूपेण प्राप्त है। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' के भरतवाक्य में नाटक के बीज-सकेत के व्याज से शकारि विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय की विदेश-बहिष्कारिणी नीति की सराहना की है। इसके अतिरिक्त 'देवीचन्द्रगुप्त' मे उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय का स्पष्ट वर्णन किया है, इसलिए वह उसका और कालिदास का समकालीन तथा पाँचवीं सदी ईस्वी का नाटककार है।

'मुद्राराक्षस' राजनीति का एक अद्भुत नाटक है और सात अकों में प्रस्तुत है। इसमें अद्भुत शक्ति है और इसके पात्र सजीव और स्पष्ट हैं। राजनीतिक षड्यन्त्रो और दाँव-पेचों का जितना अनोखा, यथार्थ, और पेचीदा चित्रण इसमे है, उतना शायद ससार की और किसी कृति में नहीं! इसका वस्तु-निर्माण इस प्रकार है—राक्षस नन्द का मंत्री है। चाणक्य नन्दवश का ध्वस कर चन्द्रगुप्त मौर्य को राजा बनाता है और स्वय उसका मन्त्री बनता है। फिर दोनों मन्त्रियों के परस्पर चक्र चलते हैं और अन्त में चाणक्य राक्षस को भी चन्द्रगुप्त की ओर करके उसे उसका मंत्री बना देता है। इतना अवश्य मानना होगा कि राजनीतिक दाँवपेच के इस नाटक मे कालिदास की सुकुमार स्वाभाविक कला या भवभूति की गम्भीरता का अभाव है। 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त विशाखदत्त ने 'देवी-

चन्द्रगुप्त' नामक जो एक और नाटक लिखा था वह आज उपलब्ध नहीं है। परन्तु उसके उद्धरण साहित्य के अनेक स्थलों मे बिखरे पड़े हैं। इसका एक अपूर्ण भाग सिलवाँ लेवी ने फ्रेंच 'जर्नल एशियाटिक' में सन् १६२४ में पहलेपहल छापा था। यह नाटक भी राजनीतिक ही है और अत्यन्त मनोरजक है। इसका इतिहास पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसने गुप्तवंश के एक लुप्त सम्राट् का पुनरुद्धार किया है। इससे जान पडता है कि समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के बीच में एक और राजा रामगुप्त भी हो गया है, जो समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का बडा भाई था। परन्तु उसके निन्द्य आचरण के कारण सभवत चन्द्रगुप्त ने उसे मार डाला और स्वय राजा बन गया। इसी घृणित आचरण के कारण गुप्त-काल के लेखों की राजवंशावलियों में रामगुप्त का नाम भी नहीं मिलता। यह निन्दनीय आचरण ही इस 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक का वस्तु-विषय है। प्रसंग इस प्रकार है—समुद्रगुप्त ने जो भारत-दिग्विजय किया था, उसमें शक, मुरुण्ड, शाहिशाहानुशाहि, कुषाणादि विदेशी भी आक्रान्त हुए थे। जब मृत्यु ने समुद्रगुप्त का शक्तिपूर्ण व्यक्तित्व हटा दिया और 'क्लीब' रामगुप्त ने अपने दुर्बल करों में गुप्त सम्राटों का असाधारण राजदण्ड धारण किया तब विदेशी एक बार फिर मगध पर टूटे। शकों की वाहिनी से डरकर रामगुप्त ने सन्धि की बात चलाई। इस पर शकपति ने उससे उसकी सुन्दरी रानी ध्रुवदेवी माँगी। रामगुप्त उसे देकर सन्धि करने को प्रस्तुत हो गया। इस पर उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में जाकर शकपति का वध कर डाला। बाद में उसने शायद भाई को मार डाला और राज्य तथा ध्रुवदेवी दोनों पर अधिकार कर लिया। मनोरंजक बात यह है कि हिन्दू धर्म के प्राण होते हुए भी चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी से विधवा-विवाह किया! ध्रुवदेवी से उसने विवाह किया था, यह इस बात से सिद्ध है कि गुप्त आलेखों में चन्द्रगुप्त के पुत्र सम्राट् कुमारगुप्त को ध्रुवदेवी से उत्पन्न कहा गया है। फिर रामगुप्त को चन्द्रगुप्त ने मार डाला था यह बात भी मध्यकालीन राष्ट्रकूटों के एक उत्कीर्ण लेख से स्पष्ट विदित होती है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से 'देवीचन्द्रगुप्त' अत्यन्त असाधारण रचना है।

हर्षवर्धन

थानेश्वर और कनौज के राजा हर्षवर्धन के नाम से भी तीन नाटक विख्यात हैं। हर्ष ने ६०६ ईस्वी से ६४८ तक राज्य किया। बाणभट्ट उसकी सभा का कवि था और उसने अपने राजा की जीवनी 'हर्षचरित' के नाम से लिखी है। हर्ष के नाटकों के नाम हैं—(१) रत्नावली, (२) प्रियदर्शिका, और (३) नागानन्द। 'रत्नावली' चार अंकों में प्रस्तुत एक नाटिका है, जिसमें राजा उदयन और सिंहल की राजकुमारी रत्नावली का प्रेम-प्रसग है। 'प्रियदर्शिका' भी चार अकों की नाटिका ही है। इसमें भी उदयन के ही प्रणय-प्रसंग का निरूपण है। प्रियदर्शिका अगराज दृढवर्मा की कन्या थी, जिसे वत्सराज उदयन ने व्याहा। 'नागानन्द' पाँच अकों का नाटक है और इसमें विद्याधरों के राजकुमार जीमूतवाहन का आत्मत्याग प्रदर्शित है। हर्ष की शैली में तो विशेष चमत्कार नहीं है, परन्तु उसकी वस्तुकथा का गठन अच्छा है।

महेन्द्रविक्रम

महेन्द्रविक्रम सातवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ और इस प्रकार वह हर्ष, बाणादि का समकालीन रहा होगा। उसका 'मत्तविलास' एक प्रहसन है, जिसमें तत्सामयिक समाज के पतन का नग्न चित्र खींचा गया है। लगभग उसी काल के दण्डी के गद्य-काव्य 'दशकुमारचरित' में भी समाज की इसी पतित दशा का विशद अंकन है।

भवभूति

भवभूति सस्कृत-साहित्य के सबसे सुन्दर नाटककारों में से है। इस संबध में कालिदास के बाद उसी का स्थान है और वर्णन तथा शैली के गाभीर्य में तो वह कालिदास से भी ऊँचा उठ जाता है। कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' में भवभूति को कान्यकुब्ज (कन्नौज) नरेश यशोवर्मन् का राजकवि लिखा है। यशोवर्मन का काल ७३६ ईस्वी के लगभग है। अत भवभूति भी प्राय आठवीं सदी के मध्य का सिद्ध हुआ। उसका उल्लेख वाक्पतिराज ने भी अपने 'गौडवहो' में किया है। 'मालती-माधव' (अक १,८) से प्रमाणित है कि भवभूति को उसके समकालीन आलोचकों ने चैन न लेने दिया और अपने जीवनकाल में उसे यश प्राप्त न हो सका। फि· भी भवभूनि पात्रचित्रण और भाषा के गांभीर्य में असाधारण है। यद्यपि उसका प्रधान रस 'करुण' है, परन्तु 'अद्भुत' और 'वीर' रसों के वर्णन में वह कालिदास से भी ऊपर उठ जाता है। कालिदास की वैदर्भी वृत्ति के विपरीत उसकी शैली 'गौड़ी' है। उसके तीन नाटक हैं—'महावीरचरित', 'मालतीमाधव', और 'उत्तररामचरित'। 'महावीरचरित' सभवत उसकी आरभिक कृति है। इस नाटक में सात अंक हैं, जिसमें वीर रस में राम का बालपन दर्शित है। कथानक रामायण से लिया गया है, परन्तु नाटक-

कार ने अनेक नवीनताएँ भी प्रस्तुत की हैं।'मालतीमाधव' एक 'प्रकरण' है, जिसमें दो प्रेमियों के विरह और समागम का वर्णन है। इसमें नरबलि का एक प्रसग है। 'उत्तररामचरित' भवभूति की सूक्ष्म लेखनी से प्रसूत सर्वोत्तम रत्न है। करुण-रस से ओतप्रोत इस नाटक की जोड़ की अन्य कोई कृति सस्कृत में नहीं है। यह सात अंकों में है और इसमें राम के सीता-त्याग का करुण प्रसंग दर्शित है।

भट्टनारायण

भट्टनारायण सभवत. आठवीं सदी का नाटककार है। वामन और आनन्दवर्धन दोनों ने उसको उद्धृत किया है। उसका 'वेणीसहार' नामक एक ही नाटक ज्ञात है। छः अंकों में इसमें महाभारत का एक प्रसग दर्शाया गया है। भीम ने दुःशासन का वध करके उसके रक्त से द्रौपदी की वेणी बाँधी थी। अन्त में उसने दुर्योधन का भी वध किया था। भट्टनारायण पश्चात्कालीन सस्कृत नाटककारों में विशिष्ट है। वीर रस के चित्रण में वह असामान्य रूप से सशक्त है। 'वेणीसहार' के प्रथम तीन अंकों में अद्भुत प्रवाह है और उसमें 'उत्साह' रस की प्रधानता है। इस कृति से नाटककार की नाटकीय कला का असाधारण ज्ञान प्रकट है।

मुरारी

नवीं सदी के आरंभ में मुरारी ने अपना 'अनर्घराघव' लिखा। सात अंकों में प्रस्तुत यह नाटक पर्याप्त रोचक है, यद्यपि वास्तव में भवभूति के सूक्ष्म प्रयास के बाद राम-कथा के ऊपर और कोई नाटककार सफलता-पूर्वक लेखनी न उठा सका।

राजशेखर

अपनी 'काव्यमीमासा' की शक्ति से राजशेखर काफी प्रसिद्ध हो गया है। वह कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (८९३-९०७ ईस्वी) का गुरु था। उसके चार नाटक उपलब्ध हैं। उनमें से 'बालरामायण' दस अंकों में प्रस्तुत किया गया है। 'बालभारत' के केवल दो अंक ही प्राप्य हैं। इनके प्लाट रामायण और महाभारत से लिए गये हैं। 'विद्धशालभञ्जिका' चार अंकों की नाटिका है और 'कर्पूरमञ्जरी' चार ही अंकों में प्राकृत में एक 'सट्टक' (नाटक का वर्ग विशेष) है। राजशेखर की शैली अत्यन्त कृत्रिम है, परन्तु वह स्वय अपने को उच्च कोटि का कवि मानता है।

क्षेमीश्वर

क्षेमीश्वर का 'चण्डकौशिक' नामक पाँच अंकों का एक नाटक है। नाटककार ने इसे कन्नौज के राजा महीपाल के समय में लिखा था। महीपाल का राज्याभिषेक ९१४ ईस्वी में हुआ। इस प्रकार क्षेमीश्वर दसवीं सदी के आरंभ का है। उसके नाटक का प्लाट राजा हरिश्चन्द्र की कथा है।

दामोदर

दामोदर ने अपना 'महानाटक' अथवा 'हनुमन्नाटक' ग्यारहवीं सदी में लिखा। यह नाटक तीन रूपों में उपलब्ध है। एक में नौ अंक हैं, दूसरे में दस, और तीसरे में चौदह। प्लाट रामायण से लिया गया है और नाटककार की श्लोक-रचना सुन्दर है।

कृष्णमिश्र

'प्रबोधचन्द्रोदय' चौदहवीं सदी के कृष्णमिश्र द्वारा प्रणीत हुआ। यह नाटक अध्यात्मपरक है। इसके पात्र 'विवेक', 'मनस', 'बुद्धि' आदि हैं। छः अंकों का यह नाटक 'शान्त' रस का अकेला उदाहरण है।

इन प्रधान नाटकों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नाटक सस्कृत में रचे गए। श्वीलर ने तो प्रायः ५०० नाटकों के रचे जाने की बात कही है! इनमें से कुछ एक नाटकों का निर्देश कर देना उपादेय होगा। वे ये हैं—

नाम नाटक	नाटककार	काल	विशेषता
भगवदज्जुकीय	बोधायन कवि	पहली से चौथी सदी ईस्वी	बौद्ध प्रहसन
तापसवत्सराजचरित	अनङ्गहर्ष मात्रराज	संभवत. ७वीं सदी	
लोकानन्द	चन्द्र (चन्द्रक) = वैयाकरण चन्द्रगोमिन्	सातवीं सदी	
उदात्तराघव	मायुराज	भवभूति और राजशेखर के बीच	
स्वप्नदशानन	भीमट	राजशेखर से पूर्व	राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट
धर्माभ्युदय	मेघप्रभाचार्य	अज्ञात	छाया नाटक
कर्णसुन्दरी	बिल्हण	११वीं सदी	नाटिका

नाम नाटक	नाटककार	काल	विशेषता
चित्रभारत	क्षेमेन्द्र	११वीं सदी	अप्राप्य
प्रबुद्धरौहिणेय	रामभद्रमुनि	१२वीं सदी	षडाङ्कीय
कौमुदीमित्रानन्द	रामचन्द्र	,,	प्रकरण (दशांकीय)
लटकमेलक	शंखधर कविराज	,,	प्रहसन
मुद्रितकुमुदचन्द्र	यशश्चन्द्र	,,	जैन
निर्भयभीमव्यायोग	रामचन्द्र	,,	अनेक नाटकों का रचयिता जैन
किरातार्जुनीय	वत्सराज	,,	व्यायोग
रुक्मिणीहरण	,,	,,	ईहामृग (चतुरकीय)
त्रिपुरदाह	,,	,,	डिम (,,)
समुद्रमथन	,,	,,	समवकार (तीन अंकों में)
कर्पूरचरित	,,	,,	भाण
हास्यचूड़ामणि	,,	,,	प्रहसन (एकांकीय)
पार्थपराक्रम	प्रह्लादनदेव	,,	व्यायोग
प्रसन्नराघव	जयदेव (विदर्भ का)	,,	नाटक (सप्तांकीय)
हरकेलिनाटक	वीसलदेव विग्रहराज	,,	शिलालेख में अंशत सुरक्षित
कुन्दमाला	दिग्नाग (?) धीरनाग	पाँचवीं सदी, तेरहवीं सदी	साहित्यदर्पण में उद्धृत
दूताङ्गद	सुभट	तेरहवीं सदी	छाया नाटक
हम्मीरमदमर्दन	जयसिंह	,,	पञ्चांकीय
मोहराजपराजय	यशपाल	,,	,,
विक्रान्तकौरव	हस्तिमल्ल	,,	षडांकीय
मैथिलीकल्याण	,,	,,	पञ्चांकीय
पार्वतीपरिणय	(बाण ?) वामनभट्ट बाण	चौदहवीं सदी	
सौगन्धिकाहरण	विश्वनाथ	,,	व्यायोग
धूर्तसमागम	कविशेखर	पन्द्रहवीं सदी	प्रहसन
चैतन्यचन्द्रोदय	कविकर्णपूर	सोलहवीं सदी	
विदग्धमाधव	रूपगोस्वामी	,,	सप्तांकीय
ललितमाधव	,,	,,	दशांकीय
कंसवध	शेषकृष्ण	सत्रहवीं सदी	सप्तांकीय
जानकीपरिणय	रामभद्र दीक्षित	,,	
मल्लिकामारुत	उद्दण्डिन्	,,	प्रकरण
अद्भुतदर्पण	महादेव	रामभद्र का समकालीन	दशांकीय
हास्यार्णव	जगदीश्वर	अज्ञात	प्रहसन
कौतुकसर्वस्व	गोपीनाथ	,,	,,
उन्मत्तराघव	भास्कर	,,	अङ्क
माधवसाधन	नृत्यगोपाल कविरत्न	उन्नीसवीं सदी	अन्य नाटकों का रचयिता भी
अमरमङ्गल	पञ्चानन तर्करत्न	उन्नीसवीं का अन्त और बीसवीं का आरंभ	अष्टांकीय

उत्तरी और मध्य एशिया के वीरान प्रदेशों के निवासी—(१)

समूदी, ऑस्तिआक, किरग़ीज़, और कज़्ज़ाक

एशिया महाद्वीप के हिमाच्छादित उत्तराखण्ड तथा मध्यवर्ती वीरान शीतप्रदेशों में जहाँ-तहाँ छुटपुट बसी हुई पीत-वर्णीय मानव-जातियों के प्रतिनिधि आदि काल से ही पर्यटनशील रहे हैं, जिसके कारण संख्या में अधिक न होने पर भी उनका विस्तार काफी अधिक पाया जाता है। मंगोलिया, मंचूरिया, पूर्वीय साइबेरिया, तुर्किस्तान और तिब्बत के आदिम निवासी उन्हीं की कोटि में आते हैं। यद्यपि उनकी विभिन्न शाखाओं में परस्पर अधिक साम्य नहीं है, फिर भी वे हैं एक ही वर्ग के मनुष्य। 'हिन्दी विश्व-भारती' के पिछले अंकों में आप इन जातियों के दो प्रमुख वर्गों, एस्किमो और लॅप, का परिचय पा चुके हैं। अब आइए, हम आपको उन्हीं के भाई-बंधु समूदी, ऑस्तिआक, क़िरग़ीज़ और कज़्ज़ाक तथा तिब्बती लोगों के जीवन की भी थोड़ी-बहुत झाँकी दिखलाएँ, जो कि भूमण्डल के सबसे कठोर, दुर्गम, शीत-प्रधान देशों में प्रकृति से निरन्तर लोहा लेते हुए अपना जीवनयापन कर रहे हैं।

१. समूदी

एशियाई रूस के उत्तरी भाग—साइबेरिया—का पश्चिमी हिमाच्छादित प्रदेश ही जो कि लम्बे चौड़े हिम-पठारों और वनों से घिरा हुआ है, समूदी जाति की आवास-भूमि समझा जाता है। इन प्रदेशों में भी मुख्यत. ओबी नदी के बीच का प्रान्त और आर्कटिक तट पर चेस्काया और खटंगा की खाड़ियों से सीमित प्रदेश में समूदियों की भ्रमणशील टोलियों का ख़ास डेरा है। उनके दक्षिण में प्रकृति के कई उपादान मध्यवर्ती विशाल हिमाच्छादित पठारों और भूमि-खंडों के रूप में एक बृहत प्राचीर बनकर खड़े हुए हैं, जिन्होंने दक्षिण से उठकर आनेवाली सभ्यता की लहर से इन प्रदेशों को सर्वथा अछूता बनाए रखा है। यही कारण है कि समूदी तथा उनके पड़ौस की अन्य जातियाँ अभी तक आदिम-काल का जीवन व्यतीत कर रही हैं।

समूदी जाति के लोग अधिकांश में ख़ानाबदोश होते हैं। वे अपने जीवनयापन की परिमित सामग्री, बर्त्तन-भाँड़े तथा छोटे-छोटे खालों के बने तम्बू, बारहसिंघों से जुती 'स्लेज' गाड़ियों पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते दिखाई देते हैं। परन्तु उनका यह भ्रमण निरर्थक या निरुद्देश्य नहीं होता। ऋतुओं की प्रतिकूलता और आहार की सामग्री का अभाव ही उनकी इन यात्राओं का मुख्य कारण होता है।

शीतऋतु में समूदियों के देश की यात्रा कीजिए। मीलों तक बर्फ़ से ढके मैदान और समतल पठार ही फैले हुए आपको दिखाई देंगे। आस-पास दूर तक जीवन का कोई चिह्न नहीं, कोई शब्द भी नहीं सुन पड़ता, किसी जीवधारी की हलचल का पता नहीं! एक विचित्र स्तब्धता, श्मशान जैसी शून्य नीरवता, सर्वत्र विराज रही है! कभी-कभी इस नीरवता को भंग करती हुई तीव्र बर्फ़ीली आँधी इस प्रदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ जाती है, जिससे यहाँ की ठंढक इतनी बढ़ जाती है कि साँस लेने में भी कठिनाई होने लगती है। यहाँ दिशाओं का ज्ञान भी नहीं रहता, यदि कुतुबनुमा पास न हो। केवल आकाश में इधर-उधर छिटके नक्षत्र ही मार्ग-प्रदर्शक का काम देते हैं। यहाँ के निवासी उन्हीं के द्वारा अपनी यात्रा में दिशा का ज्ञान रखते हैं। गर्मियों में यही बर्फ़ीले पठार और मैदान सुविशाल दल-दलों में परिणत हो जाया करते हैं। उनमें जगह-जगह बड़े-बड़े गढे, झील और तालाब बन जाते हैं। छोटे टीलों पर एक प्रकार की कड़ी और मोटी काईनुमा घास उग आती है। इन दिनों रास्ता चलना कठिन हो जाता है, क्योंकि धरती में कीचड़ के कारण पाँव धँस जाते हैं। इसके बाद पुनः ज्यों-

ही ऋतुपरिवर्त्तन हुआ, त्योंही यहाँ का सारा दृश्य बदल गया ! अब दूर-दूर तक पौधों और झाड़ियों के चिह्न तो नहीं मिलते, हाँ कहीं-कहीं चटकीले रंग के फूल दिखाई दे जाते हैं, जिनका जीवन केवल दो-चार दिनों का ही होता है ! जीव-जन्तुओं के नाम पर यहाँ केवल 'रेनडियर' नामक बारह-सिंघे, सफेद उल्लू और 'लेमिंग' नामक एक बड़ी जाति के चूहे मिलते हैं। गर्मियों में राह चलते जगह-जगह आपको धरती में अनेक छिद्र दिखलाई देंगे। ये छिद्र इन लेमिंगों ने ही बनाए हैं। वह देखिए—दो-चार चूहे उन छिद्रों से गर्दन बाहर निकाले यात्रियों को कौतूहल से देख भी रहे हैं ! पास ही किसी टीले पर सफेद रग का एक उल्लू भी बैठा हुआ है, जो इन चूहों का शिकार करने की ताक में है ! जीव ही जीव का आहार है, विधाता के इस विधान का जीता-जागता दृश्य यहाँ देखने को मिल जाता है !

'समूदी' शब्द का अर्थ रूसी भाषा में 'कच्चा आहार खानेवाला' समझा जाता है। सम्भव है कि किसी युग में वे ऐसे ही रहे हों। मानव-शास्त्र के विद्वानों ने जो खोज की है उससे पता चलता है कि यह जाति निश्चय ही बहुत प्राचीन है, जो किसी ज़माने में अल्टाई की पर्वतमालाओं से लेकर आर्कटिक महासागर तक फैली हुई थी। इसकी प्राचीन सभ्यता के अनेक चिह्न पश्चिमी साइबेरिया में पुराने टीलों के नीचे से निकले हैं। धातुओं की कारीगरी के प्रमाण-स्वरूप ताँबे, टीन, काँसे और सोने की अनेक वस्तुएँ खुदाई करने पर भूगर्भ से निकली हैं, जिनमें बर्तन, अस्त्र-शस्त्र और गहने विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनमें काँसे के बर्तनों पर ऐसी सुन्दर नक़्क़ाशी देखी गई है कि उसे देख आश्चर्य करना पड़ता है। प्राचीन युग में समूदी लोग निश्चय ही ख़ानाबदोश नहीं थे, वरना वे स्थायी रूप से घर बनाकर न रहते। कहते हैं, तुर्कों और तातारों के आक्रमण से पाँचवीं शताब्दी में उनको अपनी आवासभूमि छोड़कर भागना पड़ा और तभी से वे पर्यटनशील बन गए।

अपनी मुखाकृति और शरीर से समूदी स्पष्टत. मंगोल शाखा के सदस्य प्रतीत होते हैं। उनका सिर चौड़ा और चिपटा होता है। चेहरा भी छोटा परन्तु चौड़ा तथा मस्तक पीछे की ओर ढालू होता है। भौंहें धनुषाकार, पलकें बड़ी और कुछ भारी-सी, आँखें गोल और छोटी तथा बदन गठा हुआ होता है। उनकी नाक चीनियों की जैसी सीधी परन्तु चिपटी होती है, उनका वर्ण पीलापन लिये हुए कुछ भूरा होता है,परन्तु कहीं-कहीं ललाई लिये हुए गेहुँए रंग के लोग भी पाए जाते हैं। बचपन और युवावस्था में उनके कपोलों पर झलकनेवाली लाली प्रौढ होने तक लुप्त हो जाती है। उनके होठ मोटे, दाढी बिखरी हुई और मूँछे श्याम रंग की होती हैं। केश प्रायः काले और कड़े होते हैं। क़द में समूदी प्राय. ठिगने होते हैं—पुरुषों की ऊँचाई का औसत ५ फीट २ इंच और स्त्रियों का ४ फीट १० इंच तक पाया जाता है।

समूदी जाति के स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा में अधिक अन्तर नहीं होता। स्त्रियाँ यदि पृथक् पहचानी जाती हैं तो अधिकतर अपने भड़कीले वस्त्रों और आभूषणों के कारण ही। स्त्री-पुरुष, दोनों ही, चर्म-निर्मित जाकिट और पाजामे पहनते हैं। खाल के बने जूतों और मोजों की बनावट में भी उनमें कोई अन्तर नहीं होता। यदि होता है तो केवल इतना ही कि स्त्रियाँ जूतों को घुटने के ऊपर बाँधती हैं और पुरुष घुटनों से नीचे। जाकिट के ऊपर ये लोग अपना वह मुख्य वस्त्र धारण करते हैं, जो चमड़े के लबादे-जैसा होता है। बारहसिंघे की खाल का बना यह लबादा गर्दन से लेकर नीचे तक बन्द ही रहता है और उसे गर्दन डाल कर ऊपर से पहना जाता है। उसका खाल का रोएँदार भाग अन्दर की ओर रहता है। इस लबादे से जुड़ा हुआ एक चुस्त कटोप भी होता है, जिसे ये सिर पर पहनते हैं। लबादे को आस्तीनों के छोर पर ताँत से सिले हुए खाल के दस्ताने भी अक्सर लगा लिये जाते हैं और शीत वायु से बचने तथा शरीर को गर्म रखने के हेतु ये लोग उस लबादे को कमर से ऊपर रस्सियों और चमड़े की पेटियों से कसे रहते हैं। जब ठंढ ज़्यादा पड़ने लगती है, तो वे ऊपर से एक और रोएँदार लबादा पहन लेते हैं, जो इससे कुछ भारी और बड़ा होता है। इस लबादे के नीचे के छोर पर विभिन्न रंगों की मृग-चर्म की पट्टियाँ झालर की भाँति लगा ली जाती हैं, जिनसे वह काफी आकर्षक बन जाता है। स्त्रियों के लबादे पिंडलियों तक लम्बे, ढीले और बिना बटन के बनते हैं। इनको वे पेटियों द्वारा कमर से कसे रहती हैं। इनकी बाँहों पर सफेद मृग-चर्म की आठ या नौ पट्टियाँ सिली जाती हैं, जिनके बीच-बीच में हरे और लाल ऊन की भी पतली पट्टियाँ मिली रहती हैं। इस प्रकार स्त्रियों के लबादे अधिक आकर्षक और भड़कीले बन जाते हैं। बच्चों की वेशभूषा उनके माता-पिता की इच्छा के अनुकूल रहती है।

समूदी, स्वभावत., अत्यन्त गंदे और आलसी होते हैं। शीतप्रधान देश के निवासी होने के कारण स्नान करने या कपड़े धोने का अवसर तो उनके जीवन में कदाचित्

समूदी स्त्री-पुरुष

ही कभी आता हो। अतएव उनके वस्त्रों और केशों में जुओं आदि छोटे-छोटे कीटाणुओं की मानों एक दुनिया ही आबाद रहती है, जिनको अवकाश के समय बड़े चाव से ये लोग यमपुरी पहुँचाया करते हैं! उनके कपड़ों और तम्बुओं से, जो खालों के बनते हैं, ऐसी तीव्र दुर्गन्ध आया करती है कि सभ्य दुनिया का कोई भी मनुष्य देर तक उनके निकट खड़ा नहीं रह सकता। परन्तु उनकी इस दुरावस्था को देखकर हमें यह न भूल जाना चाहिए कि ठण्ढे देश के वे निवासी इस भाँति रहने के लिए प्रकृति द्वारा विवश हैं! उस कड़ाके की सर्दी में, जब मुख से निकली भाप भी हवा में जम जाती हो, और हाथ-पैर चेतना-रहित-से बन रहे हों, भला स्नान करने या वस्त्र धोने का साहस कौन कर सकता है? परन्तु जहाँ उनके शरीर इतने गन्दे होते हैं वहाँ मन सभ्य जातियों के-से मैले कदापि नहीं होते—यह उनकी एक ख़ास विशेषता है। वे अत्यन्त विश्वासपात्र और मिलनसार होते हैं। अतिथियों और अपने पड़ोसियों के प्रति उनका व्यवहार अबाध उदारता और सम्मान का परिचायक होता है। अतिथि-सत्कार तो उनका एक विशेष जातीय गुण है। इसी तरह अवकाश के समय इकट्ठे बैठकर गपशप करने और स्वजाति के व्यक्तियों से मैत्री निभाने में भी कोई जाति उनकी समता नहीं कर सकती। मीलों दूर बसनेवाले जाति-बन्धुओं और परिचितों से मिलने के लिए जाने में वे किंचित मात्र श्रम या कठिनाई का अनुभव नहीं करते। इस मेल-जोल और पारस्परिक भेंट-व्यवहार को बनाए रखने के प्रयत्न में समूदी अपना आवश्यक से आवश्यक कार्य भी छोड़ देता है। बर्बरता और कलह-प्रियता का समूदियों में सर्वथा अभाव पाया जाता है और इस विषय में वे सभ्य-जगत् के मनुष्यों को अच्छा पाठ पढ़ा सकते हैं। उनकी स्त्रियाँ भी आपस में मेल-जोल से रहती हैं और व्यर्थ के प्रपंच में समय नष्ट करना अनुचित समझती हैं। एक-दूसरे की निन्दा करने की उनमें आदत नहीं होती और माता-पिता अपने बच्चों के साथ बड़ी नरमाई का व्यवहार करते हैं, जिसके कारण वे व्यर्थ के लिए भयभीत, आतंकित या दब्बू नहीं हो पाते। बच्चों के खिलौनों में प्राय. "स्लेज" नामक बर्फ़ पर चलने की गाड़ियों की प्रतिमूर्तियाँ और

धनुषबाण होते हैं। समूदी मन्त्र-तन्त्र में गहरा विश्वास करते हैं और भालू के दाँत तथा अन्य कई वस्तुएँ तावीज़ की भाँति अपनी कमर की पेटी में लटकाए रहते हैं। वे एक आदिशक्ति विशेष के उपासक होते हैं, जिसे वे अपनी भाषा में 'नम' कहते हैं। और भी कतिपय देवी-देवताओं की पूजा का रिवाज उनमें प्रचलित है, जिनको प्रसन्न करने के लिए प्राय मन्त्र-तन्त्र और बलिदान का आयोजन किया जाता है। पत्थर और काष्ठ-खण्डों में देवी-देवताओं की भावना करके वे प्राय उनकी पूजा करते हैं।

समूदी लोग प्राय. तम्बुओं में ही रहते हैं, जिन्हें वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर तोड़-मरोड़कर बड़ी आसानी से ले जाते हैं। ये तम्बू लगभग बीस फीट लम्बे बाँसों, बलूत की छाल, बारहसिंगे की खाल और ताँत से बनाए जाते हैं। जाड़े और गर्मी के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के तम्बू बनते हैं। जहाँ तक बाँसों के व्यवहार और आकार का सम्बन्ध है, वहाँ तक उनमें कोई अन्तर नहीं होता। जाड़ों में बलूत की छाल का स्थान मृग-चर्म ले लेता है। नई और सुन्दर खालें रूसी व्यापारियों के हाथों बेचने के लिए ये लोग बचा रखते हैं और अपने तम्बुओं में वे पुराने जूते, मोज़े और फटी-पुरानी खालों का ही व्यवहार करते हैं। ये तम्बू उनको बर्फ और शीत से बचाते हैं तथा आँधियों से उनकी रक्षा करते हैं। तम्बू को गर्म रखने के लिए उसके मध्य भाग में आग जलाकर रखी जाती है और धुआँ निकलने के लिए उसमें ऊपर की ओर एक छेद रखा जाता है, जिसे आवश्यकता के समय एक डोरी खींचकर बन्द भी किया जा सकता है। तम्बू के भीतर अत्यन्त सीमित और उपयोगी सामग्री ही रखी जाती है। उसके मध्य में पत्थर का एक टुकड़ा रखा रहता है, जिस पर आग जलाई जाती है। लकड़ी के काँटिए से लटकती हुई एक केतली, कुछ अन्य पात्र तथा थोड़े से मृग-चर्म, जो ओढ़ने-बिछाने के काम आते हैं, प्रत्येक तम्बू में अवश्य रहते हैं। कुछ सम्पन्न व्यक्तियों के तम्बुओं में इन वस्तुओं के अलावा, कुछ ऊनी कम्बल, दरियाँ और चीड़ के बने संदूक़ भी पाये जाते हैं, जो रूसी व्यापारियों से ख़रीदे होते हैं। समूदी लोगों में रूसियों के सम्पर्क के कारण अब चाय-पान की भी आदत बढ़ने लगी है, अतएव आज-कल उनके पास चीनी के प्याले, तश्तरियाँ, शकर की पुड़ियाँ, तथा चाय और बिस्कुट के टुकड़े भी प्राय' कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

समूदी लोग अधिक काम-काज नहीं करते। एक तो उनका देश ही ऐसा है, जहाँ खेती-बारी नहीं हो सकती और न किसी प्रकार का व्यवसाय ही चल सकता है। उद्योग-धंधों और खानों का भी वहाँ अभाव है। पश्चिम की एक-दो नदियों में मछलियाँ अवश्य पकड़ी जाती हैं। पर इनका मुख्य धन यदि कोई है तो वह है बारहसिंघा। जंगली बारहसिंघों को पकड़ना, आहार के लिए उनका शिकार करना, उन्हें पालना, सिखाना, उन्हीं पर बोझा ढोना, वे ख़ूब जानते हैं। उनकी सम्पत्ति का परिमाण बारहसिंघों की संख्या से ही जाना जाता है। परन्तु सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि समूदी अपने इस अत्यन्त लाभदायक पशु से किंचित मात्र भी स्नेह नहीं करता। हाँ, उसकी मृत्यु पर वह केवल अपनी आर्थिक हानि की दृष्टि से कुछ दु खी अवश्य होता है।

समूदियों के औज़ार और अस्त्रशस्त्र भी विचित्र होते हैं। इस संबंध में मुख्यत तीन वस्तुएँ अधिक काम में आती हैं—कुल्हाड़ी, छेद करने का बर्मा और चाकू। इन्हीं के द्वारा वे अपना सब काम चला लेते हैं। समूदियों की स्त्रियाँ बारहसिंघे की हड्डियों की सुइयाँ बना लेती हैं, जिनसे वे ताँत के डोरे द्वारा पहनने के चर्म-वस्त्र सी लेती हैं। मोजे वे बड़े सुन्दर और आकर्षक बनाती हैं। बारहसिंघे के मास के अतिरिक्त सुलभ होने पर समूदी लोग "राई" नामक एक पौधे के बीजों को पीसकर आटे की तरह गूँधते हैं, जिसकी उनके यहाँ रोटियाँ बनाई जाती हैं। तम्बाकू के आदी न होने पर भी समूदियों में सुँघनी का अधिक प्रचार है। रूस वालों से तम्बाकू ख़रीद कर लकड़ी के खरल में पीसी जाती है, जिससे सुँघनी बनती है। अतिथि को सुँघनी पेश करना उनमें सम्मान का एक अंग समझा जाता है। कालान्तर में अपने पड़ोसी रूसवालों के सम्पर्क में आ जाने से उनमें चेचक, गर्मी और अनेक दुष्ट रोगों का प्रवेश हो गया है, जिनसे उनकी जनसंख्या का बड़ा ह्रास हुआ है। फिर भी इस समय उनकी आबादी लगभग १०,००० के समझी जाती है।

समूदी लोग अपने परिवार के मृत व्यक्तियों का आदर करते हैं और उनकी दिवंगत आत्माओं की शान्ति के लिए बलिदान आदि दिया करते हैं। सम्पन्न व्यक्तियों के घरों में उनके पूर्वजों की काष्ठ-मूर्त्तियाँ भी देखी जाती हैं। शपथ लेना समूदियों में एक पवित्र धार्मिक कृत्य समझा जाता है, जिसको सब मानते हैं। उनमें अपराध का निर्णय करने के लिये शपथ लेना आवश्यक समझा जाता है। "वैगाज़" नामक द्वीप को समूदी एक देवस्थान जैसा पवित्र मानते हैं और प्रत्येक व्यक्ति मरने के पश्चात् वहीं समाधिस्थ किये

जाने की इच्छा रखता है। उनमें ईसाई धर्म काफी फैल चुका है, परन्तु आपत्तिकाल में अथवा रोगाक्रान्त दशा में समूदी सब-कुछ भूलकर स्वभावत पुन अपने देवी-देवताओं को मनाने लगते हैं।

समूदियों में विवाह की प्रथा अत्यन्त मनोरंजक है। दूल्हा अपनी भावी वधू के पैतृक तम्बू में जाकर उसके माता-पिता के कंधों पर अपनी छोटी छड़ी से धीरे-धीरे आघात करके तथा अपनी लाई हुई खाने-पीने की वस्तुएँ वहीं रखकर उन्हें अपने साथ भोजन करने को आमन्त्रित करता है। उत्साहपूर्वक उनके सम्मिलित होने पर सब साथ बैठकर भोजन करते हैं। वधू के माता-पिता वर को उसी समय किसी दिन आने का निमंत्रण देते हैं। दूसरी बार समूदी युवक खूब बन-ठनकर आता है और साथ में बहुत-सी 'वोदका' मदिरा भी लाता है। तम्बू में प्रवेश कर वह अपनी भावी वधू के निकट बैठ जाता है। तदुपरान्त उनका प्रेम-सलाप आरम्भ होता है। कच्चे मास का भोजन और 'वोदका' के दौर भी चलने लगते हैं। युवक स्वय प्याले में मदिरा भरकर अपने बाएँ हाथ के नीचे दायाँ हाथ ले जाकर युवती को देता है। युवती बड़ी सावधानी से प्याले को रिक्त कर देती है। भोजन-सामग्री भी युवक इसी ढंग से युवती को पेश करता है। बाद में, यही क्रिया युवती की ओर से प्रारम्भ होती है। कुछ घटों के बाद विवाह निश्चित समझा जाता है। पुरोहित के आने पर वर से यह आशा की जाती है कि वह अपनी भावी वधू के चरित्र के विषय में प्रश्न करे। पुरोहित यदि इस विषय में अनभिज्ञ होता है अथवा वह जान-बूझकर चुप रहना चाहता है तो मंत्रोच्चारण के बजाय एक ढोल बजा देता है। इस क्रिया के साथ ही विवाह की रस्म पूरी समझी जाती है। वधू के चरित्र के विषय में आपत्तिजनक मत होने पर वर के लिए केवल दो ही मार्ग शेष रहते हैं—या तो वह चुपचाप पूर्ण सम्मान के साथ वापस लौट जाए अथवा अपने उत्तरदायित्व के विचार से उदारतापूर्वक उसे अगीकार करके साथ ले जाए। फिर कुछ समय तक उसके चरित्र की परीक्षा करके असंतुष्ट होने पर माता-पिता के यहाँ वापस भेज दे। समूदियों में थोड़ी अवस्था में ही विवाह कर दिया जाता है। तेरह वर्ष की आयु को पहुँचते न पहुँचते लड़कियों का विवाह कर दिया जाता है और चौदह वर्ष की होते-होते वे माताएँ बन जाती हैं।

रूसियों के सम्पर्क में आने के बाद, नए युग का वातावरण समूदियों में स्थान पाने लगा है। परन्तु परिणाम में वे धीरे-धीरे अपने जातीय गुण खोते जा रहे हैं। गर्मियों के मौसम में रेनडियर की खालें सग्रह करने के लोभ से रूसी लोग उन्हें अपने साथ ले जाते हैं और लोमड़ी, भालू, सील तथा वालरस का शिकार करने पर नौकर रख लेते हैं। इन लोगों को धन के रूप में पारिश्रमिक न देकर उनकी प्रिय वस्तुएँ, जिनका प्रचार सभ्य जगत् में अधिक है, थोड़ी-बहुत दे दी जाती हैं। समूदियों को उतने से ही सतोष हो जाता है, क्योंकि परिश्रम का मूल्य समझने की क्षमता अभी तक उनमें जाग्रत नहीं हुई है। बाहरी दुनिया में समूदी एक पिछड़ी हुई जाति अवश्य कही जाती है, पर उसका संगठन, पारस्परिक व्यवहार और एकता का गुण सभ्य जगत् के लिए ऐसे उदाहरण हैं, जो विश्व-शान्ति का मार्ग दिखा सकते हैं।

२. ऑस्तिआक

समूदियों के पड़ोस में बसनेवाली एक आदिम जाति के लोग ऑस्तिआक नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनकी छोटी-मोटी बस्तियाँ ओबी नदी के किनारे तथा तरेटी मे अधिकतर पाई जाती हैं। अनुमानत ऑस्तिआक लोगों की सख्या २५००० के लगभग है। उनकी आवासभूमि का विस्तार 'समारोव' के इलाके से आगे चलकर उस स्थान से आरम्भ होता है, जहाँ इर्तीस नदी आकर ओबी से मिलती है। सगम से आगे दोनों नदियाँ एक होकर बहती हैं और उनका पाट कहीं चौड़ा और कहीं सकीर्ण बनता हुआ उन्हें अनेक शाखाओं तथा उपशाखाओं मे वितरित कर देता है। एशियाई रूस की ओर भी कई छोटी-छोटी उप-नदियाँ उनमें आकर मिल जाती हैं, जो यूराल पर्वत-मालाओं की पूर्वी सीमा से निकलकर उत्तर की ओर प्रवाहित होती हैं। एक लम्बे-चौड़े मैदान को सींचती हुई ओबी और उसकी सहायक नदियाँ सहस्र धाराओं में छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और बीच-बीच में छोटे-छोटे भूभागों को द्वीपों की भाँति बनाती हुई वे एक विशाल नद के रूप में परिणत हो जाती हैं। ओबी नदी जिस भूभाग से होकर बहती है, वह पर्याप्त लम्बा-चौड़ा है और उसके दोनों तटों पर बराबर झाऊ और लम्बी घास के अच्छे खासे जंगल खड़े दिखाई देते हैं। वह प्रदेश दो दिशाओं से ऊँची पहाड़ियों द्वारा घिरा हुआ है, जो देवदार, सरो और भोजपत्र के वृक्षों से सदैव आच्छादित रहती हैं। इन्हीं ऊँचे तटों के आगे से पठार आरम्भ हो जाते हैं, जिनके किनारे-किनारे नदी सर्पाकार होकर बहती है। इस प्रदेश में भयकर शीत पड़ती है और उत्तर से आनेवाली हवाएँ

प्रायः बर्फ की फुहारें लेकर आया करती हैं। उस समय पेड़ों के पत्ते एकदम लुप्त हो जाया करते हैं, धरनी पर हरियाली और पौधों का नामोनिशान नहीं रहता और चारों ओर एक असीम सूनापन छा जाता है। साइबेरिया की यह आदिम जाति, ऑस्तिआक, इसी प्रदेश को अपनी क्रीड़ा-भूमि बनाए हुए है। यहीं पर उनकी बिखरी हुई बस्तियाँ जो 'यौत्तो' कहलाती हैं, अधिक पाई जाती हैं।

ओबी नदी वास्तव में ऑस्तिआक लोगों के लिए एक वरदान है। वे उसे अपनी 'माता' कहते हैं। वास्तव में, शिकार द्वारा अपना भरण-पोषण करनेवाले इन मनुष्यों का जीवन ओबी पर ही निर्भर है। उसीसे वे मछलियाँ पकड़ते हैं, जिन्हें दूसरों के हाथों बेचकर वे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। छोटी जाति की जो मछलियाँ जाल में आ जाती हैं, उनसे ऑस्तिआक अपना तथा अपने प्रिय पशु कुत्ते का पेट भरता है। पानी से बाहर निकालते ही कच्ची मछली उदरस्थ कर जाने में उसे किंचित् पशोपेश नहीं होता। नदी के किनारों के जंगलों में सारस, जंगली बत्तख़ और हंस भी कभी-कभी सौभाग्य से उसके हाथ लग जाते हैं। जंगली बेर-जैसे छोटे-छोटे फल भी उसके क्षुधा-निवारण में प्रायः सहायता देते हैं। ग्रीष्मऋतु के प्रारम्भ में जब पहाड़ों पर बर्फ पिघलती है तब ओबी और उसकी सहायक नदियों में भयंकर बाढ़ आ जाती है। ऐसा अवसर ऑस्तिआकों के जीवन में बड़ी कठिनाई उपस्थित कर देता है। वे अपनी बस्तियाँ छोड़-छोड़कर जंगलों में भागते हैं, जहाँ कन्द-फूल-फल के अतिरिक्त उन्हें कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। परन्तु संकट से न घबराना इस जाति का विशेष गुण है। बढ़िया शान्त होने पर वे लोग पुनः अपनी बस्तियों में लौट आते हैं और नये सिरे से झोपड़ियाँ बनाकर बसने लगते हैं। ये झोपड़ियाँ एक प्रकार की गुफा-जैसी बनाई जाती हैं। जंगली वृक्षों की बेडौल शाखाओं को काटकर उनका वर्गाकार ढाँचा खड़ा किया जाता है, जिस पर भोजपत्र की छाल मढ़ दी जाती है। पेड़ों की टहनियाँ और छाल छत के पाटने के काम आती हैं। छाल के बड़े-बड़े टुकड़े पानी में उबालकर पीटे जाते हैं। उन्हें बराबर करके छाल के ही रेशों से सी दिया जाता है और इस प्रकार उनकी चटाइयाँ-जैसी तैयार हो जाती हैं। ये चटाइयाँ ओढ़ने और बिछाने के काम भी आती हैं और झोपड़ियों पर भी मढ़ी जाती हैं। झोपड़ी में दरवाज़ा या खिड़कियाँ नहीं रक्खे जाते। झोपड़ी के बाहर पालतू कुत्ते पहरा दिया करते हैं। प्रत्येक ऑस्तिआक कम से कम एक कुत्ता अवश्य पालता है, जो उसके साथ शिकार करते समय यात्रा में और घर में बराबर रहता है। यह कुत्ता पथ-प्रदर्शक, संकट के समय सहायक और चौकीदारी का भी काम करता है। वह बड़ा बुद्धिमान साथी प्रमाणित होता है और उसकी स्वामिभक्ति को ऑस्तिआक अच्छी तरह समझता है। कुत्तों के साहस और वीरता की अनेक कहानियाँ उस प्रदेश के निवासियों में प्रचलित हैं, जिनसे प्रकट होता है कि इस आदिम जाति के जीवन में इस पशु ने कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

ऑस्तिआक शिकारी

ये कुत्ते अवसर पड़ने पर भालुओं से भी लड़ जाते हैं और बुरी तरह से उन्हें खदेड़ते तथा कभी-कभी मार भी डालते हैं।

ऑस्तिआक लोगों की आवश्यकताएँ न्यूनतम होती हैं। आप किसी ऑस्तिआक की झोपड़ी का निरीक्षण करें—भोजपत्र की छाल की बनी एक छोटी-सी पानी भरने की बाल्टी, उसी छाल का एक चौड़ा बर्त्तन, लकड़ी के बने दो-चार चम्मच, कुछ मृगचर्म—बस, यही उनकी सामग्री दिखाई देगी। भीतर फर्श के बीचोबीच में एक छोटा-सा गढ़ा होगा, जिसके चारों ओर थोड़े से बेडौल पत्थर के टुकड़े रखे होंगे। इस गढ़े में आग जला करती है। उस गढ़े के ठीक ऊपर, झोपड़ी की छत में, एक छिद्र दिखाई देगा जो धुआँ निकलने, प्रकाश आने और वायु-प्रवेश के विचार से रखा गया है। झोपड़ी के पास ही, लकड़ी के लट्ठों से बना हुआ भांडारगृह भी दृष्टिगोचर होगा, जिसमें आहार-सामग्री एकत्र होगी। जाड़े के दिनों में ऑस्तिआक लोग पक्की और मजबूत झोपड़ियाँ बनाते हैं, जो कुछ नीची और छोटी होती हैं और उनकी दीवालें बाहर से मिट्टी लगाकर दृढ़ कर दी जाती हैं। ऐसी झोपड़ियाँ जहाँ की तहाँ बनी रहती हैं और यात्रा में साथ नहीं ले जाई जा सकतीं। राई नामक पौधों के बीज, जंगली पक्षी और मछलियाँ ही ऑस्तिआक लोगों का आहार हैं।

ऑस्तिआक लोगों की अनेक शाखाएँ हैं, जो इस प्रदेश के विभिन्न भू-भागों में रहती हैं। उनको पूर्णतया खानाबदोश नहीं कहा जा सकता। आवश्यकता के समय ही वे आहार की खोज में अपना आवासस्थान छोड़कर जंगलों और पहाड़ों की तराइयों में चले जाते हैं, अन्यथा वे मैदानों और नदियों के किनारे ही बसा करते हैं। मछलियाँ और जंगली पक्षियों के शिकार द्वारा जीवनयापन करनेवाले समुदायों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो रेनडियर या जंगली बारहसिंगे पालते हैं और सुदूर उत्तर में आर्कटिक-तट तक पहुँचकर सील मछलियों का शिकार करते हैं। उनकी रहन-सहन समूदियों जैसी होती है। जाड़े में वे जंगलों में लौट आते हैं, जहाँ बर्फ की आँधियों से आंशिक रूप में उनका बचाव हो जाता है। तब वे गिलहरियों, छोटे-छोटे जानवरों और पक्षियों को मार कर उनके मास से अपना पेट भरते हैं। सुदूर दक्षिण में रहनेवाले ऑस्तिआक उन्नत अवस्था को पहुँच चुके हैं, क्योंकि उनका रूसियों से अधिक सम्पर्क रहता है। वे खेती-बारी करते, मवेशी पालते अथवा बोझा ढोने का पेशा करते हैं। उनकी रहन-सहन भी रूसियों-जैसी ही बन गई है, परन्तु रूसी उन्हें निम्न जाति के प्राणी समझते हैं और उनसे नीच काम कराते हैं।

वेषभूषा और आकृति में ऑस्तिआक समूदियों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उनमें से कुछ जातियों के लोगों का वर्ण अधिक साफ और भूरापन लिये होता है। छोटी आँखें, चौड़ी और चिपटी नाक तथा मोटे होंठ ऑस्तिआकों की खास पहचान है। उनके मुख्य शस्त्र बर्छे और धनुषबाण होते हैं, जिनसे वे पशु-पक्षियों का शिकार करते हैं। मछलियाँ पकड़ने के लिए वे जाल का उपयोग अधिक करते हैं। सील के शिकार में वे बर्छे से काम लेते हैं। स्वभावतः ऑस्तिआक लोग सीधे-सादे और सरल होते हैं। ईमानदारी और सचाई के लिए वे विख्यात हैं। ऋण और राजकर चुकाने में वे कभी नहीं चूकते। पारस्परिक एकता भी उनका एक विशेष गुण होता है। समूदियों की भाँति वे शीतप्रधान देश के निवासी होने के कारण प्राय. गन्दे रहते हैं और पानी से स्नान करना जानते ही नहीं। रेनडियर नामक पशु की खाल के वस्त्र धारण करने के कारण उनके शरीर से सदा दुर्गन्धि निकला करती है। खाल को नर्म रखने के लिए वे मछली की चर्बी भी अपने कपड़ों पर मल लेते हैं, जो उस दुर्गन्धि को असह्य बना देती है। परन्तु उनको वैसे ही रहने का अभ्यास हो चुका है। वे अपनी दुर्दशा का अनुभव भी नहीं करते। ग़रीबी और आहार की कमी के कारण ऑस्तिआक जीवित या मृत सभी प्रकार के छोटे-बड़े जन्तुओं, कौओं, गिलहरियों और जंगली पक्षियों का मांस खा लेता है। पड़ोस के रूसी इलाकों में जाकर वह अक्सर भीख भी माँग लेता है और उसीसे उसका पालन-पोषण होता है। उसकी इस निर्धनता ने ही उसे सभ्य जगत् की दृष्टि में हेय और तुच्छ बना दिया है, अन्यथा उसके जातिगत गुणों को पहुँचना दूसरों के लिए इस युग में अत्यन्त कठिन है।

ऑस्तिआक लोग भालू के शिकार में बड़े निपुण होते हैं और उसी समय उनकी असाधारण वीरता और साहस का परिचय मिलता है। भालू का शिकार करने के लिए असाधारण फुर्ती और होशहवास ठीक रखने की आवश्यकता होती है, लेकिन ऑस्तिआक युवक स्वभावत. भालू से नहीं डरता। सबसे पहले वह बर्फीले पठारों पर जाकर उसकी माँद खोज निकालता है। फिर वह अनेक उपायों से उसे छेड़छाड़कर माँद से बाहर निकालने की चेष्टा करता है। अन्त में झुँझलाकर जब भालू अपनी माँद से निकलकर दो पैरों पर चलता हुआ उस पर झपटता है तो

ऑस्तिआक युवक बड़ी फुर्ती से दौड़कर उसके पेट में अपना छुरा भोंक देता है। वह छुरे से बात की बात में उसका पेट फाड़ डालता है और फलत भालू मर जाता है। शिकार करने पर भी ऑस्तिआक लोग भालू को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। वे उसे मारते हैं, उसका मांस भी खाते हैं, उसकी खाल उधेड़कर बेंच लेते हैं, लेकिन यह सब करके भी वे उसके आगे क्षमायाचना करना नहीं भूलते। उसके पजे काटकर वे अपने घर में की देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के आसपास लटका देते हैं।

ऑस्तिआक जातिवाले आदि काल से ही मूर्त्तिपूजक रहे हैं। सभ्यता के प्रसार से पिछली पीढ़ियों मे उन्होंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया है, परन्तु घरेलू जीवन में मूर्त्ति-पूजा उनसे अब तक छूटी नहीं है। शैतान को वे अपना इष्टदेव अब भी मानते हैं और प्रत्येक घर में उसकी मूर्त्ति अवश्य रहती है। उसे वे अपनी सम्पत्ति का रक्षक कहते हैं। प्राय. वे शैतान की मूर्त्ति अपने वस्त्रों में छिपाकर हर वक्त अपने साथ रखते हैं। वह मूर्त्ति मानव-आकृति की लकड़ी की बनी होती है। उसकी कमर में एक पेटी, जिसमें कोई सिक्का बँधा होता है, लिपटी रहती है। फिर ऊपर से अपनी जातीय पोशाक वे उसे पहना देते हैं। कम-से-कम सात जाकिटें और कटोपदार लबादे वे उस मूर्त्ति को पहनाते हैं। पोत आदि की मालायें और आभूषणों से वह अलकृत रहती है। इस प्रकार उसका आकार बहुत बढ़ जाने पर घर के कोने में उसको स्थापित कर दिया जाता है। भोजन तैयार होने पर सबसे पहले उस मूर्त्ति के आगे परोसा जाता है। अदृश्य रूप में उसके खा चुकने पर मेहमान और गृह-परिवार भोजन करने बैठता है। कभी-कभी भक्तिभाव से अधिक प्रेरित होकर भोजन-सामग्री का कुछ अंश मूर्त्ति के होठों पर भी चुपड़ दिया जाता है। ऑस्तिआक लोग पुराने भोजपत्र के वृक्षों की भी पूजा करते हैं, परन्तु उनकी नई पौध इन सब बातों से प्राय. दूर रहती है। धर्मगुरु और पुरोहित को 'शमन' कहा जाता है। वे धर्म के पवित्र गोपनीय रहस्यों के ज्ञाता समझे जाते हैं और उनकी भविष्यवाणियों पर ऑस्तिआक लोग बड़ा विश्वास करते हैं। 'शमन' सम्प्रदाय के लोग जादू-टोने में पारंगत समझे जाते हैं और चमत्कार दिखलाने में उनकी क्षमता अद्भुत होती है। ऑस्तिआक लोग सदैव भेंट-उपहारों से इन धर्म-पुरोहितों को सतुष्ट करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, और उनके कथन में अटूट विश्वास रखते हैं। मृतकों को दफ़नाते समय ये ही धर्म-पुरोहित प्रायः मंत्र-पाठ करने को बुलाये जाते हैं।

ऑस्तिआक जाति के लोगों में विवाह की रस्में भी बड़ी विचित्र होती हैं। ईसाई मत के अनुयायी तो गिरजे में जाकर विवाह करते हैं, परन्तु मूर्त्तिपूजकों को इतनी सुविधा नहीं होती। वर को वधू प्राप्त करने के हेतु उसके माता-पिता को दहेज-रूप में बहुत-कुछ देना पड़ता है। यह दहेज उनकी भाषा में 'कलीम' (Kalım) कहा जाता है। इसकी मात्रा प्राय वर की स्थिति के अनुकूल ही निश्चित की जाती है, फिर भी यदि वह समर्थ नहीं होता तो उतना मूल्य जुटाने के लिए उसे महीनों अथक परिश्रम करना पड़ता है। किसी-किसी प्रदेश में ऑस्तिआक लोग स्त्रियाँ ख़रीदते भी हैं जिसके फलस्वरूप विवाह एक सौदा-मात्र बन जाता है और उसमें प्रेम और उदारता की छाया भी नहीं होती। जिस स्त्री का मूल्य जितना ही अधिक मिलता है उतनी ही वह अपने माता-पिता तथा ससुराल-वालों की दृष्टि में सम्मान योग्य समझी जाती है। मँहगे दामों पत्नी को ख़रीदने का प्रभाव पति पर भी पड़ता है और वह उसे अच्छी तरह सुख से रखना अपना कर्त्तव्य समझता है। धनीमानी व्यक्ति यद्यपि अपनी लड़कियों के ब्याह में 'कलीम' या दहेज वर-पक्ष से स्वीकार करते हैं, फिर भी बदले में अपनी ओर से वे यथाशक्ति भेंट-उपहार कन्या को देना नहीं भूलते। ग़रीब लोग अपनी लड़कियों के बदले थोड़ा-सा दहेज पाकर ही सतुष्ट हो जाते हैं। यह दहेज प्राय एक रेनडियर तक ही सीमित रहता है, जिसका मूल्य पाँच रूबल (रूसी सिक्का) से अधिक नहीं होता। रईसों की लड़कियाँ सौ से दो सौ रूबल तक दहेज पाती हैं।

शमन धर्म के अनुसार ऑस्तिआकों में बहुविवाह अधिकतर प्रचलित है। केवल वे लोग जिन्होंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया है एक विवाह करते हैं। ईसाई मताव-लम्बी हो जाने पर भी स्वभावत ऑस्तिआक लोग अपने प्राचीन रीति-रिवाज, परम्परागत रूढ़ियाँ और अन्य विश्वास नहीं छोड़ सके हैं, क्योंकि उनके बिना वे जीवन-यापन नहीं कर सकते। अपने सीने पर क्रूस का चिह्न लट-काये रहने भी ऑस्तिआक घरेलू जीवन के प्रत्येक कार्य में पूर्वजों का ही अनुकरण करता है। पर वह दोनों धर्मों को निकटतम लाने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है। जो कुछ उसे सुविधाजनक लगता है, उसे ही वह धर्म की परिभाषा दे देता है। ऑस्तिआकों का वैवाहिक जीवन साधारणतया सुखी रहता है और दम्पति आहार-संचय में

एक दूसरे के सच्चे साथी की भाँति संलग्न रहते हैं। कौटुम्बिक कलह और प्रपच की उनमें कभी छाया भी नहीं दिखाई देती। स्त्रियाँ अधिकतर सीना-पिरोना तथा घर का कामकाज करती हैं और अवसर पड़ने पर अपने पति और पुत्रों के साथ शिकार करने भी निकल जाती हैं। प्रत्येक परिस्थिति में शान्त रहना और निर्धनता में भी सुखी जीवन व्यतीत करना उनको स्वभावत आता है। वे सच्ची गृहिणी बनकर गृहस्थी चलाती हैं।

३. किरग़ीज़ और कज़्ज़ाक

मध्य एशिया के सुविस्तृत पठारों तथा आसपास के प्रदेश में, पश्चिम दिशा में वोल्गा नदी के उतार और ओबी नदी की कतिपय शाखाओं से दक्षिण की ओर पामीर तक तथा तुर्कोमान प्रान्त के कुछ भागों में किरग़ीज़ जाति की बस्तियाँ पाई जाती हैं। इस विशाल भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जमानेवाली ख़ानाबदोशों की यह जाति वास्तव में मगोलों और तुर्कों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई है। किरगीजों की समस्त आबादी तीस लाख से कुछ अधिक मानी जाती है। उनकी आकृति मगोलों से अधिक मिलती-जुलती है और उनकी बोली पड़ोस के तातारियों जैसी है। किरगीज जाति की दो मुख्य शाखाएँ प्रसिद्ध हैं—एक तो क़ारा किरगीज़ जो उत्तर-पश्चिम के प्रदेश में बसी हुई है और दूसरी है किरग़ीज़-क़ज़्ज़ाक, जो स्टेपीज़ के मैदानों को अपनी आवास-भूमि बनाए हुए है।

पामीर के पठारों में बसी हुई किरगीजों की शाखा चार उपशाखाओं में बँटी हुई है— (१)निआमान, (२) क़िपचाक, (३) तैइत, (४) क़ज़ाक। फिर इन उपशाखाओं के भी अनेक भेद पाए जाते हैं। किरग़ीज़ों के वास्तविक प्रतिनिधि कारा-किरग़ीज़ ही समझे जाते हैं, जो आदि से ही अपने पड़ोसियों के सम्पर्क में बहुत कम आए हैं।

किरगीज़ शब्द फारसी भाषा का है, जिसका अर्थ होता

किरग़ीज़ों का पड़ाव

है "चालीस पुत्रियाँ"। इस जाति के बड़े-बूढ़ों के मुँह से सुना गया है कि हज़रत नूह के एक पुत्र का नाम किरग़ीज़ था, जो बाढ़ आने के समय तुर्किस्तान में आकर बस गया। उसके चालीस पुत्रियाँ हुईं, जिनकी सन्तान किरग़ीज़ कहलाई।

सच पूछा जाय तो क़िरग़ीज़ की आवास-भूमि यद्यपि स्टेपीज़ की हुकूमत में है, परन्तु तुर्किस्तान से ही उसका सम्बन्ध है। यह भूमि बहुत वर्ष पहले रूस वालों ने जीतकर अपने अधिकार में कर ली है। चीन, साइबेरिया और स्टेपीज़ प्रान्त की सीमाएँ जिस स्थान पर एक कोण के आकार में आ मिली हैं, वह झीलों और पहाड़ियों का एक सुन्दर भू-भाग है। वहीं बैकाल नामक झील है, जिसे वहाँ के लोग 'सागर' कहते हैं। किंचित् नमकीन पानी की यह झील सेमीपालतिंस्क और सेमीरेतर्शिस्क के प्रान्तों के बीच में ३०० मील तक फैली हुई है। इसमें गिरनेवाली अनेक उपनदियों से भी इसमें कभी बाढ़ नहीं आती। इली नामक नदी भी इसी झील में आकर गिरी है, जिसके मुहाने पर भूमि बहुत उपजाऊ है। इली की घाटी का निचला भाग क़िरग़ीज़ की छोटी-छोटी बस्तियों से घिरा हुआ है। यह प्रदेश वास्तव में मध्य एशिया भर में सबसे अधिक सम्पन्न और प्रकृति के वरदानों से पूर्ण है, क्योंकि सात नदियाँ इसे सींचती हैं। यहाँ वर्षा भी अधिक नहीं होती। ग्रीष्म और शीत ऋतु का समान प्रभाव रहता है और पार्श्ववर्ती पहाड़ियों के कारण आँधियों और तूफानों से भी इसका बचाव रहता है। क़िरग़ीज़ों की अनेक उपजातियाँ, जिनमें क़ज़ाक़ भी हैं, इसी प्रदेश में बस गई हैं।

कारा-किरग़ीज़ इतने भाग्यशाली नहीं हैं। वे ऊपर के प्रदेशों में रहते हैं, जहाँ जीवन का संघर्ष अपेक्षाकृत कठिन है। इसी कारण वे ख़ानाबदोश बने हुए हैं और उनमें बहुत कम ऐसे हैं, जो उपजाऊ भूमि पाकर स्थायी रूप से कहीं-कहीं बस गए हैं। 'कारा' शब्द का अर्थ उनकी बोली में 'काला' समझा जाता है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस जाति के लोग श्यामवर्ण होते हैं। वास्तव में काले रंग के नमदों के बने तम्बुओं में रहने के कारण लोग उन्हें कारा-किरग़ीज़ कहने लग गए हैं। किरग़ीज़ जाति के विशुद्ध और प्राचीन प्रतिनिधि यही हैं। इनकी संख्या आठ लाख अनुमान की जाती है। जिस प्रान्त में इनका आवास है, वहाँ की भूमि अधिक उपजाऊ नहीं। अतएव इन लोगों ने पशुपालन ही अपना मुख्य उद्यम बना लिया है। दुम्बा मेढ़े, याक नामक पशु, बकरियाँ, ऊँट और छोटी जाति के किन्तु मज़बूत घोड़े उनके यहाँ पले रहते हैं, जो सवारी और बोझा ढोने के काम आते हैं। मवेशियों के दूध को वे अपना मुख्य आहार मानते हैं। परिस्थिति और भूमि अनुकूल पाकर कहीं-कहीं वे खेती-बारी भी करते हैं। गेहूँ, जौ, बाजरा तथा राई नामक अन्न वे प्रायः उपजाते हैं। इन्हीं से वे कच्ची मदिरा भी तैयार कर लेते हैं, जिसे 'वोडका' कहा जाता है। व्यापार में उनके यहाँ सिक्के का प्रचलन नहीं है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु बदलना मात्र वे जानते हैं और क्रय-विक्रय का यही माध्यम उनको सुविधाजनक लगता है। चीन, तुर्किस्तान और रूस से समय-समय पर व्यापारी तैयार माल लेकर आया करते हैं, जिसके बदले में क़िरग़ीज़ लोग उन्हें मवेशी दिया करते हैं। रोएँदार खाल और कच्चे चमड़े का व्यापार भी यहाँ प्रचलित है।

कारा-क़िरग़ीज़ प्रायः कहा करते हैं कि उनका जन्म ही घोड़े की ज़ीन पर होता है। वास्तव में उनका यह कथन नितान्त सत्य है। वे उच्चकोटि के अश्वारोही होते हैं और बचपन से ही इस कला को सीखने लग जाते हैं। घोड़ों को वे अपनी मुख्य सम्पत्ति मानते हैं। बात भी ऐसी ही है, क्योंकि उनके यहाँ किसी की सम्पन्नता का अनुमान इसी बात को देखकर लगाया जाता है कि उसके पास कितने घोड़े हैं। उनके लम्बे-चौड़े काफ़िले घोड़ों पर चढ़े हुए और अन्य मवेशियों पर सामान लादे, बंजारों की भाँति, कभी स्टेपीज़ पर दिखाई देते हैं, कभी लम्बे-चौड़े मैदानों में, कभी पहाड़ियों के ढाल पर और कभी अपने पालतू पशुओं के लिए चारे की तलाश में नदियों की तराई में। मेढ़ों की ऊन से वे मोटे-मोटे नमदे तैयार करते हैं, जिनसे उनके तम्बू बनते हैं। ऊँटों और बकरियों के बालों को एकत्र कर वे सवारी की ज़ीन के फ़ीते, पट्टियाँ और पहनने के वस्त्र आदि बुन लेते हैं। घोड़े के बालों की रस्सियाँ और रास बनाई जाती है। भेड़ की खाल और ऊन जाड़े के वस्त्र बनाने के काम आती है। शिकार के पशुओं तथा बैलों के चर्म से वे चाबुक, पानी की बोतलें और लम्बे बूट और जूते बना लेते हैं। दूध और मांस उनका मुख्य आहार होता है। दूध प्रायः सभी जानवरों का व्यवहार में आता है। भेड़-बकरियों के दूध से दही, पनीर और मक्खन, तथा घोड़ियों और ऊँटनियों के दूध से "कौमिस" नामक दूधिया शराब तैयार की जाती है। इस शराब का प्रचार योरोप में भी होने लगा है।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, ये लोग अपने फ़ालतू मवेशी देकर विदेशी सौदागरों को धन लेकर, रूसी सरकार

का राजकर चुकाते हैं, बन्दूकें-पिस्तौलें ख़रीदते हैं, तलवारें और छुरे बनाने के लिए लोहा मोल लेते हैं और सजावट का सामान, रेशमी कपड़े, रुई के गद्दे तथा धातुओं के आभूषण भी प्राप्त कर लेते हैं। नमदे के बने एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानो से ले जाने योग्य तम्बुओं के अतिरिक्त इनमें बटे हुए झाऊ और सरकंडों से झोपड़ियाँ बनाने का भी चलन है, जिनमें रहकर सरलता से शीत ऋतु व्यतीत की जा सकती है। जब तक आहार-सामग्री सरलता से उपलब्ध रहती है, तब तक ये प्राणी मौज से रहते हैं। उनका समय अधिकतर घोड़ों की दौड़, कुश्ती और गाने-बजाने तथा शादी-ब्याह के उत्सवों में बीतता रहता है। वधू का मूल्य घोड़ों द्वारा वर को चुकाना पड़ता है। शादियाँ प्राय पूरे समारोह के साथ बड़ी धूम-धाम से हुआ करती हैं। अपनी प्राचीन मूर्त्तिपूजा को छोड़कर किरगीज लोगों ने मुसल्मानी धर्म को अपना लिया है। यद्यपि उनमें मसजिदों और मुल्लाओं की संख्या नाम मात्र को पाई जाती है, फिर भी इस्लाम के अनुयायी वे अवश्य कहे जा सकते हैं।

मृतकों के अन्तिम संस्कार में बन्धु-बान्धव और सम्बन्धियों के अतिरिक्त इष्ट-मित्र तथा जाति के प्रमुख व्यक्ति अवश्य सम्मिलित होते हैं। चाहे कोई पचास मील के फ़ासले पर क्यों न रहता हो, परन्तु क़बीले में किसी की मृत्यु होने पर वह अवश्य आता है और उसके अतिम संस्कार में सम्मिलित होता है। ऐसे अवसर पर मरनेवाले व्यक्ति का सबसे प्रिय घोड़ा क़ब्र के पास लाया जाता है, फिर उसकी दुम काट दी जाती है। एक वर्ष बाद जब मातम की अवधि समाप्त समझी जाती है तब उसी घोड़े का क़ब्र पर बलिदान दिया जाता है। क़ब्र के ऊपर कोई मक़बरा या छत्र अथवा छोटी-मोटी इमारत खड़ी कर देने का इन लोगों में रिवाज है, परन्तु ऐसा करना प्राय. सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही सम्भव होता है। इस काम में लकड़ी अथवा ईंट-गारा का प्रयोग होता है।

किरग़ीज़ लोग क़द में साधारण होते हैं, परन्तु उनका शरीर ख़ूब गठा हुआ, सुडौल और मजबूत होता है। उनके सिर के बाल काले, मूँछ-दाढ़ी बहुत कम, कहीं-कहीं बिल्कुल नदारद, आँखें छोटी और तिरछी, नाक चिपटी, चेहरा चौड़ा, मुँह छोटा, हाथ-पाँव बहुत छोटे और चमड़ी का रँग कुछ भूरा, मटमैला होता है। मगोल शाखा के होने के कारण उनकी आकृति पड़ोस की अन्य जातियों-जैसी ही पाई जाती है। किसी-किसी उप-जाति के लोगों की आँखें भूरी और नीली भी होती जाती हैं। फ़ारसी, अरबी और दक्षिणी साइबेरिया की भाषा के शब्दों का उनकी बोली में समावेश पाया जाता है, यद्यपि वह तुर्की से अधिक मिलनी-जुलती है।

जहाँ तक वेष-भूषा का संबंध है, उसमें अधिक आकर्षण नहीं पाया जाता। जाड़ों में पशु चर्म और उनके मोटे अँगरखे, वैसे ही चुस्त पाजामे, लम्बे जूते, चौड़ी आस्तीनों के लबादे, सिर पर भेड़ के ऊन की भारी टोपी, जिस पर फेंटा बँधा रहता है, एक चौड़ा कमरबन्द, बस यही क़िरग़ीज़ जाति के पुरुषों की पोशाक रहती है। गर्मियों में वे मोटे सूत के अँगरखे और लम्बे कुर्ते पहनते हैं। स्त्रियाँ सिर पर सूती पगड़ियाँ धारण करती हैं, जिनमें भाँति-भाँति के सिक्के और ज़ेवर टँके रहते हैं। लुंगी या घाँघरे के ऊपर कुर्ते और उस पर लबादा पहनने का उनमें रिवाज है। पुरुषों की अपेक्षा क़िरग़ीज़ स्त्रियाँ अधिक मेहनती होती हैं और घर-बाहर का बहुत-सा काम-काज वे ही करती रहती हैं। इसी परिश्रम के कारण उनमें थोड़ी आयु में ही प्रौढ़ता के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं। उनमें पर्दे का प्रचार नहीं है और घूमने फिरने की उनको पूरी स्वतत्रता रहती है।

क़ज़्ज़ाक लोगों की बस्तियाँ अधिकतर स्टेपीज़ और पामीर के पठारों के आसपास पाई जाती हैं। आकृति और वेशभूषा में वे क़िरग़ीज़ लोगों से भिन्न नहीं होते। वे इस्लाम धर्मावलम्बी और सुन्नी मत के पक्षपाती होते हैं। उनमें सिर घुटाने का रिवाज है। दाढ़ी-मूँछें उनके चेहरों पर क़िरग़ीज की अपेक्षा अधिक होती हैं। आर्थिक दृष्टि से भी उनकी दशा अच्छी देखी जाती है। रहन-सहन और आचार-व्यवहार में किरगीज़ से समानता होने पर भी क़ज़्जाक अपने धर्म में कट्टर और अन्ध विश्वासी होते हैं।

पूर्वकाल में, क़ज़्ज़ाक शब्द से उन लुटेरे, खूँख़ार और नृशंस अश्वारोही डाकुओं का बोध होता था, जो पास-पड़ोस के गाँवों और बस्तियों पर छापा मारा करते थे और जो-कुछ उन्हें मिलता लूट-खसोट ले जाते थे। सम्भव है कि क़ज़्ज़ाकों के पूर्वज ऐसे ही रहे हों, जिनके नाम से यह जाति आज भी पुकारी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि कई पीढ़ियों पहले, कज़्ज़ाक लोगों के क़बीले असभ्य होने पर भी ख़ानाबदोशों की ज़िन्दगी बसर करते थे। लूट-मार, डाका और चोरी उनका मुख्य उद्यम था, परन्तु रूसियों के शासन में जब उनका प्रदेश आ गया, तब से वे शान्त प्रजा के रूप में रहने लग गये हैं। उनमें शिक्षा का अभाव उनकी संकीर्ण मनोवृत्तियों के कारण है। वे अन्य धर्मावलवियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और विदेशियों से

अच्छा व्यवहार नहीं करते। अपने यहाँ के फ़क़ीरों और नजूमियों पर उनकी बड़ी श्रद्धा रहती है, जिनको वे त्रिकालज्ञ मानते तथा जिनकी असंभव को भी संभव बना देने की क्षमता पर उनको पूरा विश्वास रहता है। रोग, शोक, जन्म, मृत्यु तथा व्याधियों में वे औलिया या पीर की ही शरण लेते हैं। रोज़ा, वज़ू, नमाज़ की पाबन्दी उनमें नहीं पाई जाती, परन्तु धर्मस्थानों, मज़ारों और मक़बरों की ज़ियारत करने वे दूर-दूर जा पहुँचते हैं। मक्का-मदीना तो शायद ही कभी उनमें से कोई जा सका हो, लेकिन अपने धर्म के प्रति अन्धविश्वास उनकी कट्टरता का मूल कारण है। तुर्किस्तान के पूर्वी इलाक़े में पीर-पैग़म्बरों की असंख्य समाधियाँ पाई जाती हैं, जहाँ क़ज़्ज़ाकों के दल के दल परिवारसहित बराबर भेंट-पूजा चढ़ाने पहुँचते रहते हैं। अपने परिवार के मृतकों के प्रति वे बड़ा सम्मान प्रकट करते हैं और उनकी क़ब्रों पर यथाशक्ति सजावट करते हैं।

पढ़ना-लिखना उनमें कोई भी नहीं जानता। यदि सौभाग्यवश उनमें से कोई रूसियों या पास-पड़ोस के सभ्य लोगों के बीच में कुछ दिन रहकर थोड़ा-बहुत सीख आता है तो वे उसका बड़ा सम्मान करते हैं। क़ुरान का पाठ कर लेनेवालों को वे असाधारण विद्वान् समझते हैं और सलाह-मशविरे के लिए ऐसे व्यक्ति के पास लोगों की भीड़ इकट्ठा रहती है। सभी उसे सम्मान देते हैं और वह मनचाहे ढंग से उनसे लाभ उठा सकता है। अशिक्षित होने पर भी, इस ज़माने में क़ज़्ज़ाक लोग पर्याप्त चतुर और व्यवसाय-निपुण बन गये हैं। स्वभावतः सरल, विश्वस्त और सच्चे रहकर वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।

परिवार का बड़ा-बूढ़ा ही परिवार पर शासन करता है और सारे व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन और उसकी इच्छा का आदर करते हैं। कुछ परिवारों को मिलाकर क़बीला या टोली बनती है, जिसका एक सर्दार या ख़ान चुना जाता है। सब लोग उसको अपना नेता और पथ-प्रदर्शक मानते हैं। वह न्याय करता है, अभियुक्तों को उचित दण्ड देता है, पारिवारिक झगड़े निपटाता है और उसे शासन-सम्बन्धी सारे अधिकार प्राप्त होते हैं। कई क़बीलों की बस्ती होती है, जो केन्द्रीय शासकों के अधीन रहती है। ये केन्द्रीय शासक रूस की सरकार द्वारा निर्वाचित होते हैं। वे राजकर वसूल करके रूसी सरकार को भेजते हैं तथा क़बीलों की बस्तियों पर नियंत्रण रखते हैं।

क़ज़्ज़ाकों की शासन-व्यवस्था बड़ी कटु और अमानुषिक है। लूटमार करनेवाले को प्रायः कठोर दण्ड मिलता है और कभी-कभी उसे मार डाला जाता है। किसी की हत्या या व्यभिचार के अपराधी को गला घोटकर मारना और फाँसी देना वे लोग नियमानुकूल समझते हैं। चोरी करनेवाले को चुराए हुए माल का पचास गुना धन दण्ड-स्वरूप देना पड़ता है और न देने पर उसे कोड़ों से मार-मारकर उसके प्राण तक ले लिये जाते हैं। इस कठिन दण्ड-विधान के फलस्वरूप क़ज़्ज़ाकों के प्रदेश में अपराध कम होते हैं।

घोड़े की सवारी में क़ज़्ज़ाकों की समता कोई नहीं कर सकता। शैशव से ही वे इस कला में दक्ष होने लगते हैं। क़ज़्ज़ाक अपने घोड़े को अपना सबसे विश्वासपात्र साथी समझता है। उसे अच्छे-अच्छे घोड़े पालने का बड़ा चाव होता है। त्योहारों के अवसर पर घुड़सवारी की प्रतियोगिता और खेल-कूद भी होते हैं। कोई एक क़ज़्ज़ाक भेड़ की खाल में पतावर और झाऊ आदि भरकर उसे फुला लेता है, फिर उसे लेकर घोड़े पर बैठ जाता है। संकेत मिलते ही वह भागता है। उसके पीछे पक्ष और विपक्ष की दो अश्वारोही टोलियाँ दौड़ती हैं। इस खेल में यह आवश्यक होता है कि एक निश्चित अवधि तक भेड़ एक पक्ष के क़ब्ज़े में रहे, जिससे विपक्षी उसे छीनने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे अवसरों पर घुड़सवारी के अद्भुत करतब क़ज़्ज़ाक लोग दिखलाते हैं। ८-६ साल के बालक भी ऐसी अच्छी घुड़सवारी करते हैं, जिसे देखकर ताज्जुब होने लगता है।

आइए, हम आपको क़ज़्ज़ाकों के एक तम्बू में ले चलें। समतल भूमि पर एक ओर बना हुआ वह गोलाकार तम्बू लाल रंग का है। लकड़ियों का सुन्दर ढाँचा बनाकर क़ज़्ज़ाकों ने उसे ऊनी नमदों से मढ़ दिया है। पास ही उनके घोड़े बँधे हैं। इधर-उधर कुछ भेड़ें चरती दिखाई देती हैं। एक कुत्ता उनकी रखवाली कर रहा है। हम तम्बू के द्वार पर पहुँचते हैं, जिस पर चित्र-विचित्र नमदे का पर्दा-जैसा पड़ा है। हमारे पैरों की आहट पाकर तम्बू का मालिक एक बूढ़ा क़ज़्ज़ाक, जिसकी दाढ़ी सन-जैसी सफ़ेद है, बाहर निकलता है और हमारा स्वागत करता है। हम उसके पीछे-पीछे तम्बू के भीतर प्रवेश करते हैं। भीतर, एक ओर दो-तीन बूढ़ी औरतें गृहस्थी का काम कर रही हैं। उनमें से एक ऊन कात रही है। दो बच्चे भी हमें देखकर आश्चर्य से उठ खड़े होते हैं। तम्बू के बीच में एक गड्ढा है, जिसमें आग जल रही है। आग पर एक केतली रखी है, जिसमें कुछ पक रहा है। गड्ढे के ठीक ऊपर तम्बू में एक छेद दिखाई देता है, जो शायद हवा पाने के अभिप्राय से

रखा गया है। एक ओर पड़े हुए नमदों के ढेर पर हम जाकर बैठ जाते हैं। हमारा मेज़बान चीनी के चौड़े प्यालों में गरम दूध लाकर हमें पीने को देता है। दूध वास्तव में बड़ा स्वादिष्ट और मीठा है। इस सत्कार के बाद हम लोग आपस में कुशल-प्रश्न पूछते हैं। बातों-बातों में पता चलता है कि बूढ़ा क़ज़्ज़ाक़ एक मेले में सम्मिलित होने जा रहा है, जो यहाँ से लगभग तीस मील पर एक क़स्बे में लगता है। वहाँ रूसी व्यापारी बहुत आते हैं, जिनसे उसे कुछ सामान ख़रीदना है। बुड्ढे के दो सयाने लड़के हैं—जो मवेशियों की ख़रीदारी करने बाहर गए हैं, वे कल वापस लौटेंगे। हमारी दृष्टि तम्बू के चारों ओर जाती है। एक कोने में लकड़ी की एक पेटी रखी है, जिसमें शायद ज़रूरत का सामान रहता है। इधर-उधर चीनी और मिट्टी के दो-चार बर्त्तन दिखाई देते हैं। दीवालों के पास एक किनारे घोड़ों की ज़ीनें रखी हुई हैं। एक ओर पानी का पात्र रखा है, जो मिट्टी का है। थोड़ी देर बाद हमारा मेज़-वान हमें बड़े सम्मान से विदा देता है और ईश्वर को धन्य-वाद देता हुआ हमसे पुनः भेंट होने की कामना करता है। हम बाहर आते हैं और हमारी दृष्टि उन ऊँचे पठारों पर पड़ती है, जो चारों ओर दूर तक फैले हुए हैं और जिनकी तराई में हरियाली दिखाई दे रही है।

दूसरी मुसलमान जातियों की अपेक्षा क़ज़्ज़ाक़ लोग अपनी स्त्रियों से अच्छा व्यवहार रखते हैं, परन्तु उनके बच्चों पर उचित शासन नहीं रहता, जिससे वे हठी और आवारे हो जाते हैं। स्त्रियों में पर्दा नहीं होता और उनको बाहर निकलने तथा घूमने-फिरने की पूरी स्वतंत्रता रहती है। वे उच्च कोटि की गृहणियाँ और कर्त्तव्यशील माताएँ प्रमाणित होती हैं। ग़रीब क़ज़्ज़ाक़ों को विवाह करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि इस देश में वधू का पर्याप्त मूल्य चुकाना वर के लिए अनिवार्य होता है। वर को कम-से-कम एक 'याम्बू' चाँदी, जो १६०) के लगभग होती है, दो घोड़े, दो ऊँट, आठ बैल (याक), बीस भेड़ें और एक बन्दूक़ साधारणतया वधू के मूल्य में अवश्य देनी पड़ती है।

विवाह की प्रारम्भिक रस्में क़बीले के तीन प्रमुख व्यक्तियों द्वारा आम तौर पर अदा की जाती हैं। वरपक्ष की ओर से वधू के माता-पिता से मिलने के लिए भेजे जाते हैं। वे ही वधू के दहेज का सामान भी साथ ले जाते हैं। यदि वधू का पिता उस सामान को पर्याप्त समझकर स्वीकार कर लेता है तो शादी तय हो जाती है। प्रस्ताव की स्वीकृति का परिचय वधू का पिता उन तीनों मध्यस्थों को एक-एक 'ख़िलत' अर्थात् लम्बा चोग़ा भेंट करके देता है। तब वे वर के पास लौट कर अपनी सफलता की सूचना देते हैं। इसके बाद 'छोटी शादी' अथवा मँगनी का दिन नियत किया जाता है, जिसके लिए क़बीले के बड़े-बूढ़ों से सलाह ली जाती है। उस दिन वर लगभग दस दुम्बे ज़िबह करके ऊँट पर लादकर अपने भावी श्वसुर के घर ले जाता है, जहाँ कन्या-पक्ष के समस्त सम्बन्धी और बन्धु-बांधव एकत्रित होते हैं और यह भेंट उन्हें दावत के लिए देता है। तब पूरी टोली घोड़ों पर सवार होकर पास के मैदान में जाती है और वे अपने साथ एक बकरा भी ले जाते हैं। फिर एक व्यक्ति बकरे को बीच मैदान में ले जाकर ज़िबह करता है, बाक़ी सब लोग घोड़े दौड़ाते हुए बकरे को छीनने की चेष्टा करते हैं। उनमें भयंकर छीनाझपटी होती है। उसके बाद घुड़दौड़ का नम्बर आता है। जीतनेवाले को साधारणतया एक ऊँट या बैल इनाम में मिलता है।

एक किरग़ीज़ स्त्री

एक किरगीज़ पिता-पुत्र

यह सब खेल-तमाशा समाप्त होने के बाद, वर अपने दोस्तों के साथ डेरे पर लौट आता है। वहाँ से वधू के ज़ेवर तथा अन्य उपहार लेकर वह ससुराल पहुँचता है और सारी चीज़ें श्वसुर के आगे रख देता है। वर और उसके मित्रों को भी श्वसुर की ओर से ख़िलत या चोगे प्रदान किये जाते हैं। इसके बाद फिर घुडदौड और दावतें होती हैं। रात में नाच-गाने का समारोह चलता है। अन्त में शादी की रस्म पूरी की जाती है। एक अलग 'अकोई' या तम्बू वर-वधू के लिए तैयार किया जाता है, जिसमें शादी के बाद वे जाकर आराम करते हैं। उस तम्बू से तीन दिन बाद वे बाहर निकलते हैं। चौथे दिन वर अपनी वधू को लेकर अपने क़बीले में वापस लौट आता है और फिर वे पति-पत्नी की भाँति रहने लगते हैं।

क़ज़ाक लोग भी किरगीज़ों की भाँति अपने यहाँ "कौमिस" नामक दुधिया शराब तैयार करके पीते हैं। दैनिक श्रम के पश्चात् रात को वे ख़ूब आनन्द मनाते हैं। काव्य और संगीत की रुचि उनमें विशेष रूप से पाई जाती है। उनके कुछ अपने जातीय गीत हैं, जिनका प्रचार एक दूसरे से सुनकर ही होता आया है। इन गीतों में उनके पूर्वजों की वीरता, विजय और पराक्रम तथा प्रेम-प्रसंगों का वर्णन पाया जाता है।

धातुओं के काम में क़ज़ाक जाति के लोग निपुण नहीं होते, अतएव वे धातु की बनी वस्तुएँ विदेशी व्यापारियों से ख़रीदते हैं। दरियाँ, कालीन और नमदे तथा ऊन के वस्त्र बनाना उनका मुख्य व्यवसाय होता है। किसी-किसी इलाक़े में वे खेती-बारी भी करने लगे हैं।

सोवियट रूस के शासन में आ जाने के पश्चात् क़ज़ाकों ने बड़ी उन्नति की है। उनके ही प्रदेश में रूस ने भाँति-भाँति के उत्तम केन्द्र स्थापित कर दिये हैं, जहाँ बड़ी संख्या में क़ज़ाक लोग काम करने लगे हैं। उनकी वीरता और साहस के ही कारण उनको रूसी सेना में भी स्थान मिल गया है। क़ज़ाकों की कितनी ही पल्टनें तैयार हो गई हैं। अलावा इसके, जन-मार्गों, सीमा-प्रदेशों और नव-अधिकृत इलाक़ों की देख-भाल तथा सुरक्षा का प्रबन्ध रूसवाले अब क़ज़ाकों को सिपुर्द करने लगे हैं। उनमें शिक्षा और कला-कौशल दिनो-दिन विकास पाता जा रहा है। अपने पूर्वजों की भाँति वे डकैती और लूटमार का पेशा छोड़कर अच्छे नागरिक बनते जा रहे हैं, जो उनकी समृद्धि और उन्नति का मूल कारण है। यह सब होने पर भी क़ज़ाक लोग अपनी प्राचीन वेशभूषा नहीं बदल सके हैं। आज भी वे लम्बे चोगे, पाजामे, पगड़ी, और कमरबन्द से सुशोभित दिखाई देते हैं। उनका जातीय स्वभाव आज भी वैसा ही है। वे बड़े साहसी, परिश्रमी, वीर और दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं।

रूस ने अनेक युद्धों में क़ज़ाकों की अश्वारोही सेनाओं का उपयोग करके अपूर्व सफलता प्राप्त की है। संग्राम में आगे बढ़कर पीछे पाँव हटाना तो क़ज़ाक सैनिक जानना ही नहीं, मारना और मर जाना ही उसका सिद्धान्त रहता है।

विश्व की कहानी
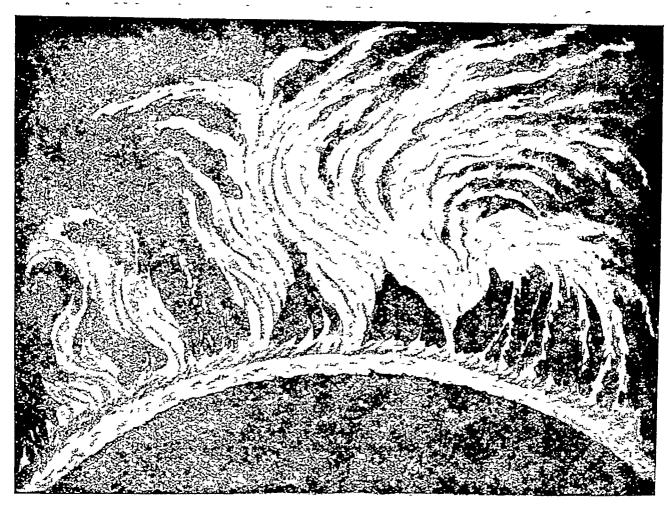
तारों के अध्ययन के लिए सूर्य बहुत अधिक सहायक हो सकता है, क्योंकि वह भी एक तारा ही है। आरंभ ही से यह प्रश्न उठा था कि इतनी प्रचण्ड अग्नि अपने अन्तराल में बसाए रहनेवाला यह तेजस्वी ज्योतिष्पिण्ड किस प्रकार निरंतर तप्त बना हुआ है? केल्विन ने इस प्रश्न के उत्तर में यह मत प्रस्तुत किया था कि सम्भवतः सूर्य उन उल्काओं से तप्त रहता है, जोकि प्रति वर्ष उस पर गिरती रहती हैं (दे० निचला चित्र)! परन्तु बाद में उन्हें अपना मत बदलना पड़ा!
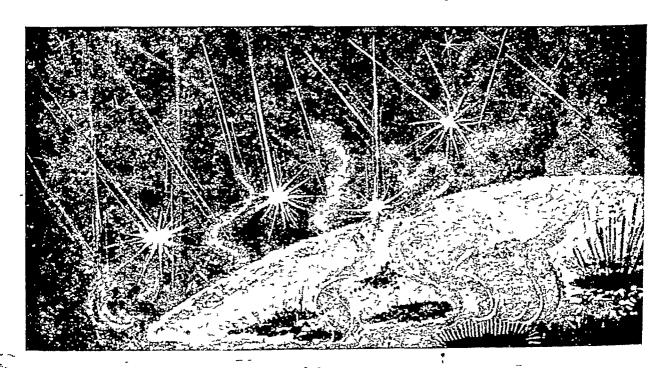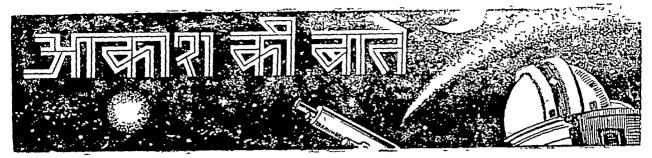
तारों की भीतरी बनावट

आरंभ में लोगो ने तारों को मात्र अग्निपिंड समझा था। सूर्य भी आग का गोला समझा जाता था। परतु वैज्ञानिक युग के आरभ होने पर लोगों ने इस विषय पर विशेष रूप से ध्यान दिया कि सूर्य और तारे ठडे क्यों नहीं हो जाते, उनमें गरमी कहाँ से आती है? यदि वे अग्निमय पिड हैं तो जलकर भस्म क्यों नहीं हो जाते? सन् १८५४ ई० में लार्ड केल्विन ने इन प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार किया। उन्होंने कहा कि यह समझना कि सूर्य लकड़ी या कोयले की तरह है और बाहर से मिली ऑक्सिजन में जलता है उचित न होगा, क्योंकि जलने से बनी गैस और धुएँ से सूर्य की अग्नि को शीघ्र बुझ जाना चाहिए था। अथवा यदि सूर्य बारूद की तरह किसी ऐसे पदार्थ का बना हुआ है, जिसमें ऑक्सिजन भी है तो कुछ ही हज़ार वर्षों मे उसे जलकर भस्म हो जाना चाहिए था। यह भी नहीं हो सकता कि सूर्य आरभ ही से ऐसा तप्त था और वही गरमी उसमें अभी तक बनी है। यदि उसमे गरमी कहीं से उत्पन्न नहीं हो रही है तो अवश्य वह अब तक ठडा हो जाता। अत मे केल्विन ने सोचा कि सभवत सूर्य उन उल्काओं से तप्त रहता है जोकि उस पर लाखों की सख्या मे प्रति वर्ष गिरती हैं।

हेल्महोल्ट्ज का सिद्धान्त

सन् १८६२ ई० में केल्विन ने इस विषय पर अपना दूसरा लेख छापा। उस समय तक उनके विचार बदल चुके थे। उन्होंने गणना से देख लिया था कि सूर्य पर इतनी उल्काएँ नहीं गिर सकतीं कि वे उसे ठडा होने से बचा सकें। अत अब उन्होंने हेल्महोल्ट्ज के सिद्धान्त को ठीक माना, जिसके अनुसार सूर्य सिकुड़ने के कारण गरम होता रहता है। यह अनुभवसिद्ध बात है कि गैस जब संकुचित होती है तो तप्त हो जाती है। बाइसिकिल में हवा भरते समय पप गरम हो जाता है, इसे सभी ने देखा होगा। सूर्य में सकुचन आकर्षण के कारण ही होता होगा। केन्द्रीय पदार्थ बाहरी स्तरों को गुरुत्वाकर्षण के नियमों के अनुसार बराबर अपनी ओर खींचता रहता होगा। इसी से सूर्य धीरे-धीरे छोटा होता जाता है और उसमें गरमी उत्पन्न होती रहती है। केल्विन ने आँका कि इस प्रकार सूर्य कुल मिलाकर लगभग दो करोड़ वर्ष तक गरम रह सकता है। कुछ समय तक यही सिद्धान्त प्रचलित था। परतु धीरे-धीरे भूगर्भ-विज्ञान की उन्नति के साथ पता चला कि पृथ्वी दो अरब वर्षों से कम आयु की न होगी और सूर्य की आयु भी कम से कम इतनी ही होगी। अत उसकी दो करोड़ वर्ष की आयु बहुत कम है। तब हेल्महोल्ट्ज के सिद्धान्त को भी बदलना पड़ा। सच तो यह था कि इस प्रश्न के समाधान के लिए विज्ञान के अन्य अंगों की प्रगति भी

लार्ड केल्विन
जिनकी आरंभ में धारणा थी कि सूर्य उन उल्काओं से तप्त रहता है, जोकि उस पर गिरती रहती हैं।

अपेक्षित थी, केवल ज्योतिष ही की उन्नति काफी न थी। अब ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, सभी शाखाओं की उन्नति होने से हम सूर्य की गरमी के वास्तविक कारण की एक झलक पा सके हैं। उधर ज्योतिषी अरब-खरब मील पर स्थित आकाशीय पिंडों का अध्ययन करते रहे हैं और इधर भौतिक विज्ञान के पंडित अनत सूक्ष्म परमाणुओं को तोड़ने की चेष्टा में लगे रहे हैं। सबके प्रयास का फल यह हुआ है कि अब हम सूर्य के रहस्य का भेद प्राय जान गए हैं। अब वैज्ञानिकों ने केवल इतनी ही प्रगति नहीं की है कि हम समझ सकें कि वहाँ गरमी कैसे उत्पन्न होती है, परन्तु वे यहाँ तक पहुँच गए हैं कि जब चाहें तब वैसी ही गरमी — यद्यपि बहुत छोटे पैमाने पर—पृथ्वी पर भी वे उत्पन्न कर सकें। इसका प्रमाण है वह परमाणु-बम (ऐटम-बॉम्ब) जिसके द्वारा पिछले युद्ध मे जापान को परास्त किया गया तथा जिसके द्वारा उत्पन्न किए गए कृत्रिम ताप से हज़ारो आदमी जल गए। जटायु अपनी मूर्खतावश जला था, परन्तु जैसी दुर्दशा उसकी हुई होगी, उससे कहीं बुरी मौत वे मरे जो कि इस परमाणु-बम के चपेट में आ गए।

तारों का रहस्य समझने में परमाणुओं की रचना-विषयक आधुनिक खोजों ने बड़ी मदद की है। वस्तुतः प्रत्येक परमाणु सूक्ष्म रूप में हमारे सौर जगत् के समान है। प्रत्येक के केन्द्र में एक केन्द्रक (न्यूक्लियस) रहता है (जो धन-विद्युत्-संयुक्त होता है) और उसके चारों ओर एक या अधिक इलेक्ट्रॉन चक्कर काटते रहते हैं (जो ऋण-विद्युत्वाले होते हैं)। इन इलेक्ट्रॉनों की सख्या विभिन्न पदार्थों के परमाणुओं में भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत चित्र मे ऊपर बाईं ओर एक इलेक्ट्रॉनवाले हाइड्रोजन और दाहिनी ओर दो इलेक्ट्रॉनवाले हीलियम के परमाणु का मानचित्र है। नीचे बाईं ओर ११ इलेक्ट्रॉनवाला सोडियम का परमाणु और दाहिनी ओर २० इलेक्ट्रॉनोंवाला कैल्शियम का परमाणु प्रदर्शित है।

पदार्थ की बनावट

सूर्य-ताप के रहस्य को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पदार्थ की बनावट क्या है। प्राचीन काल के लोग समझते रहे होंगे कि किसी भी पदार्थ को हम कितनी भी सूक्ष्मता से चूर्णित क्यो न करें, एक एक कण का गुण वही रहेगा जो उस पदार्थ का है। परतु यूनानी दार्शनिक डिमॉक्रिटस का विचार था कि पदार्थ अणुओं से बने हैं और यदि हम किसी पदार्थ के अणुओं को पृथक्-पृथक् कर डालें तो इस पृथक्करण की क्रिया मे अणु से आगे हम नहीं बढ़ सकते। अर्थात् अणुओं से अधिक सूक्ष्म चूर्ण हमें प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हम किसी अणु को तोड़ेंगे तो हमें विभिन्न ही पदार्थ प्राप्त होंगे। यह तो केवल दार्शनिक विचार था, परतु धीरे-धीरे रसायनज्ञों की भी सम्मति यही हो गई। उन्होंने देखा कि उनके लाखों-करोड़ों अनुभव सभी इस सिद्धान्त से समझाए जा सकते हैं कि विश्व मे कुल ९२ मौलिक पदार्थ हैं और उन्हीं के विभिन्न सयोगों से ससार के असख्य यौगिक पदार्थ प्राय बने हैं। उदाहरणत पानी वस्तुत ऑक्सिजन और हाइड्रोजन के रासाय-

निक सयोग से बना हुआ और नमक सोडियम धातु तथा क्लोरीन गैस के संयोग से बना हुआ एक यौगिक पदार्थ है। सिद्वान्त यह था कि प्रत्येक द्रव्य के अणु में इन मौलिक पदार्थों के 'परमाणु' ही रहते हैं।

आधुनिक सिद्वान्त

इधर पचास वर्षों मे पदार्थों की भीतरी बनावट के सबध में आश्चर्यजनक ज्ञानवृद्धि हुई है। केल्विन के समय में मौलिक पदार्थों के परमाणु ठोस गोले माने जाते थे, या यों कहिए कि परमाणु की भीतरी बनावट पर किसी ने विशेष ध्यान ही न दिया था। परतु अब हम अनेक प्रयोगों के आधार पर यह जानते हैं कि परमाणु (जिसे अग्रेजी मे 'ऐटम' कहते हैं) ठोस नहीं है। इसकी रचना आश्चर्य-जनक है। वस्तुत, प्रत्येक पर-माणु हमारे सौर जगत् के समान है। केंद्र मे एक 'केंद्रक' (न्यूक्लियस) रहता है और उसके चारों ओर एक या अधिक इलेक्ट्रॉन चक्कर काटते रहते हैं। केंद्रक अत्यन्त नन्हा सा होता है। ऑका गया है कि इसका व्यास इतना सूक्ष्म है कि १,००,००,००,००,००,००० केंद्रकों को एक पक्ति में एक दूसरे से सटाकर रखने से एक इच लबी पक्ति बनेगी। ऊपर की संख्या मे १ के ऊपर १३ शून्य हैं। पाठक संभवत कल्पना न कर सकेंगे कि यह कितनी बड़ी संख्या है। परंतु हिसाब लगाकर वे देख सकते हैं कि यदि कोई व्यक्ति एक प्रति सैकड के हिसाब से दिन-रात गिनता चला जाय तो इस सख्या को गिन सकने के लिए उसे कई बार जन्म लेना पड़ेगा।

लार्ड रदरफोर्ड

मूल पदार्थों के रूपान्तरीकरण एवं शक्ति-विकिरण विषयक जिनकी खोजो से नक्षत्रों की बनावट के ज्ञान के आगे बढ़ने में काफी सहायता मिली है।

प्रत्यक्ष है कि केंद्रक अत्यत छोटे होते हैं, परतु इलेक्ट्रॉन तो उनसे भी कहीं अधिक छोटे होते हैं। एक इलेक्ट्रॉन का द्रव्यमान केन्द्र के द्रव्यमान (तौल) का लगभग कुल दो हजा-रवाँ भाग होता है। यह भी आश्चर्य की बात है कि ९२ मौलिक पदार्थों की साधारण अवस्था मे इलेक्ट्रॉनों की संख्या १ से लेकर ९२ तक होती है। उदाहरणत, हाइड्रोजन मे एक इलेक्ट्रॉन रहता है, जो केंद्रक के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, हीलियम में दो इलेक्ट्रॉन रहते हैं, इत्यादि। पहले तो लोगों ने यह समझा कि सभवत इलेक्ट्रॉनों की सख्या मे कमी-बेशी के कारण ही मौलिक पदार्थों मे विभिन्नता आती है, परतु पीछे पता चला कि केंद्रकों में भी विभिन्नता होती है और असाधारण अवस्थाओं मे एक ही पदार्थ के इलेक्ट्रॉनों की सख्या में कमी-बेशी भी हो जा सकती है, जिससे पदार्थ के गुण में भी थोडा-बहुत अतर पड़ता है। कुछ केंद्रकों के विशेष नाम पड़ गए हैं, जैसे हाइड्रोजन के केंद्रक को उसके द्रव्यमान और विद्युत् के अनुसार 'प्रोटॉन' या 'ड्यूट्रान' कहते हैं।

विभिन्न पदार्थों के परमा-णुओं के बाहरी इलेक्ट्रॉनों के उलझ जाने से यौगिक पदार्थों के अणु बनते हैं। यह केवल सरल भाषा मे कही जानेवाली बात है। सच्ची बात तो यह है कि ये सब क्रियाएँ अत्यत गूढ़ हैं और वैज्ञानिक भी सब बातें नहीं जान सके हैं।

रेडियम

प्राचीन रसायनज्ञ इस चक्कर में थे कि सस्ती धातुओं से सोना कैसे बनाया जाय! जब बहुत प्रयास करने पर भी सफलता नहीं मिली, तब उन्होंने यह समझा कि एक मौलिक पदार्थ दूसरे में परि-वर्तित किया ही नहीं जा सकता। यह सिद्धान्त कई सौ वर्षों तक प्रचलित था। फिर देखा गया कि कुछ मौलिक पदार्थ स्वतः इस प्रकार बदलते रहते हैं कि अंत में वे दूसरे मौलिक पदार्थ मे रूपान्तरित हो जाते हैं। इस क्रिया मे उनसे किरणें निकलती हैं। उदाहरणत, रेडियम नामक धातु बदलकर अंत मे सीसा धातु हो जाती है। एक बार वैज्ञानिकों के मन मे यह भी विचार उठा कि संभवत इसी प्रकार की किरणों से सूर्य तप्त रहता होगा, परंतु अत मे पता चला कि इन किरणों से उतनी गरमी सूर्य मे नहीं आ सकती, जितनी की आवश्यकता है।

रदरफोर्ड के प्रयोग

अंत में वैज्ञानिक ऐसे प्रयोगों में भी सफल हुए, जिनमे एक भौतिक पदार्थ बदलकर दूसरा हो जाता है। ऐसे प्रयोगों मे केंद्रक ही बदल दिया जाता है। रदरफोर्ड और उनके शिष्यों ने इन प्रयोगों में बडी सफलता प्राप्त की। ऐसे भी केंद्रक बने जो क्षणभगुर हैं, वे शीघ्र ही अन्य रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं और इस परिवर्त्तन मे उनसे बहुत-सी शक्ति निकलती है। परंतु हमारे वैज्ञानिकों को इस बात से असुविधा रहती है कि पार्थिव भट्ठियों का तापक्रम कभी भी उतना नहीं हो पाता जितना सूर्य का है—वहाँ तो सूर्य के आश्चर्यजनक अधिक द्रव्यमान के कारण अकल्पनीय चाप (दबाव) और तापक्रम दोनों विद्यमान हैं, विशेषकर केंद्र के आसपास। इसलिए वहाँ पर पदार्थों के सब इलेक्ट्रॉन अपने निर्धारित मार्गों से हटकर एक दूसरे के बहुत पास पहुँच जाते होंगे। इसलिए हम कह सकते हैं कि वहाँ परमाणु चूर्ण हो जाते हैं, जिसका केवल यही अर्थ है कि केंद्रक तथा इलेक्ट्रॉन सब प्राय सट जाते हैं। इस सटने के कारण वहाँ विविध केंद्रकों में ऐसी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ हो सकती होंगी, जिन्हें हम अपनी प्रयोगशालाओं में आँच की कमी के कारण प्रयोग द्वारा करके नहीं दिखा सकते। परतु अब हम इतना अवश्य जान गए हैं कि गणित तथा अनुमान द्वारा कल्पना कर सकें कि सूर्य पर क्या होता होगा। विश्वास किया जाता है कि केंद्रकों के बीच क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से इतना ताप उत्पन्न होता रहता है कि सूर्य बराबर चारों दिशाओं मे प्रकाश और गर्मी बिखेरता रहता है और फिर भी ठडा नही होने पाता। सूर्य के उपरी पृष्ठ के प्रत्येक वर्ग इच से ५० अश्व-बल के बराबर विकिरण निकलता रहता है। जब हम सूर्य के महान् विस्तार पर विचार करते हैं और समूचे सूर्य से निकली शक्ति की गणना करते हैं, तब हम देखते हैं कि यह शक्ति-विकिरण वस्तुत. कितना अद्भुत है।

एडिंगटन की खोजे

जिस रीति से सूर्य में ताप उत्पन्न होता है उसी रीति से तारों में भी होता होगा। सूर्य एक तारा ही है। परतु चाहे ताप उत्पन्न होने की रीति कुछ भी हो, हम तारों की भी भीतरी बनावट के सम्बन्ध मे अन्य कई एक बातें गणना और अनुमान से जान सकते हैं। इस विषय पर सबसे महत्त्वपूर्ण खोजे सर आर्थर एडिंगटन (१८८२-१९४४ ई०) ने की हैं और उनकी पुस्तक 'दि इन्टरनल कान्स्टिट्यूशन आफ स्टार्स' बहुत प्रसिद्ध हो गई है। एडिंगटन ने सिद्ध कर दिया कि बिना यह जाने भी कि सूर्य और तारो में ठीक किस जगह या किस प्रकार ताप उत्पन्न होता है, हम उनकी बनावट का अच्छा अनुमान कर सकते हैं। सन् १९१६ ई० से एडिंगटन की खोजें आरंभ हुई। एडिंगटन ने बताया कि तारों मे विकिरण-भार बड़े महत्त्व का है। जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है तो उस वस्तु पर कुछ चाप (दबाव) पड़ता है, जिसे 'विकिरण-भार' कहते हैं। पृथ्वी की साधारण वस्तुओं पर यह चाप इतना कम पड़ता है कि कोई उसकी परवाह नहीं करता। कारण यह है कि यहाँ चटक-से-चटक प्रकाश भी इतना कम है कि उसका विकिरण-भार उपेक्षणीय है। केवल विशेष उपाय करने पर यह भार प्रदर्शित किया जा सकता है। उदाहरणत, यदि वायुरहित शीशे के बरतन मे एक समतुलित चरखी रहे, जिसके डडों पर पत्तियाँ जड़ी रहें, तो एक ओर की पत्तियों पर प्रकाश पडने से पत्तियाँ घूमने लगेंगी। यद्यपि प्रकाश-भार पृथ्वी की वस्तुओं पर इतना कम है तो भी तारों मे यह अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है, क्योंकि वहाँ प्रकाश कहीं अधिक प्रचड रहता है।

एडिंगटन की कल्पना मे तारे का द्रव्य गुरुत्वाकर्षण के कारण सिमिटना चाहता है और प्रकाश-भार के कारण प्रसरित होना चाहता है। इन्हीं दोनों बलों के समतुलन से तारा प्राय अपने निश्चित नाप का रह जाता है। यदि तारा पूर्णतया पारदर्शक होता तो सारा विकिरण ऊपरी पृष्ठ तक पहुँच जाता। परन्तु तारा अपारदर्शक होता है। इसलिए केवल कुछ विकिरण ऊपर तक पहुँचता है और वही तारे को ठंढा होने से बचाए रखता है। एडिंगटन ने एक प्रसिद्ध नियम भी बताया, जिससे तारे का द्रव्यमान (तौल) ज्ञात रहने पर हम बता सकते हैं कि उसकी चमक क्या होगी।

यह किसी को ज्ञात नहीं है कि तारे में कहाँ पर कितनी शक्ति (गरमी) उत्पन्न होती है। इसलिए एडिंगटन ने दो रीतियों से गणना की, एक तो यह मानकर कि कुल शक्ति केंद्र पर उत्पन्न होती है; दूसरी यह बात मानकर कि शक्ति सर्वत्र उत्पन्न होती है, परतु ज्यों-ज्यों हम केंद्र से दूर जाते हैं, शक्ति-उत्पादन एक निश्चित सूत्र के अनुसार कम होता जाता है। सच्ची बात अवश्य ही इन दोनों के बीच मे की होगी।

एडिंगटन की गवेषणाओं के अनुसार तारों के केंद्र का तापक्रम लगभग दो करोड़ डिग्री सेंटीग्रेड होगा। साधारण व्यक्ति भला इस भीषण ताप का क्या अनुमान कर सकेगा! ५ डिग्री तापक्रम बढ जाने से तो मनुष्य को ज़ोर का बुख़ार चढ आता है और लगभग १००० डिग्री के तापक्रम पर सोना

पिघल जाता है तथा बिजली की भट्ठी का तापक्रम भी केवल, ३००० डिग्री के लगभग होता है। तो पृथ्वी के और तारों के तापक्रमों की क्या तुलना हो सकती है?

सन् १६२६ ई० में एडिंगटन ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन मिलकर नष्ट हो जाते हैं और उनके नष्ट होने से विकिरण उत्पन्न होता है। इसके पहले आइन्स्टाइन ने यह सिद्ध कर ही दिया था कि शक्ति और द्रव्य दोनों एक हैं, इसलिए द्रव्य का मिटना और उसके बदले शक्ति का उत्पन्न होना अप्राकृतिक नहीं गिना जा सकता।

एडिंगटन के बाद कई वैज्ञानिकों ने नवीन-नवीन कल्पनाएँ लेकर फिर से गणना की है। सबका परिणाम यही निकलता है कि एडिंगटन की गणना प्राय ठीक थी। न्यूनतम परिणाम यह है कि सूर्य के केन्द्र का तापक्रम लगभग ढाई करोड़ डिग्री सेंटीग्रेड होगा और वहाँ आपेक्षिक घनत्व ११० होगा।

पृथ्वी पर भारी से भारी पदार्थ प्लैटिनम है, जो पानी से लगभग साढ़े इक्कीस गुना भारी है। सोना पानी से कुल साढ़े उन्नीस गुना भारी है। ११० गुना भारी पदार्थ तभी मिल सकता है, जब तापक्रम इतना हो कि परमाणु चूर हो जाएँ और चाप इतना हो कि टूटे हुए केन्द्र और इलेक्ट्रॉन सब एक दूसरे से प्राय सट जाएँ। यदि द्रव्य के साधारण परमाणुओं की उपमा बताशों से दी जाय तो साधारण द्रव्य की उपमा एक मटका भर बताशों से दी जा सकती है और सूर्य के केन्द्र के पास के द्रव्य की उपमा उस ठोस-प्राय जमे बूरे के मटके से दी सकती है, जो बताशों को कूट-कूटकर भरने से प्राप्त होगा।

सर आर्थर एडिंगटन
तारों में विकिरण-भार विषयक जिनकी गणनाओं ने उनकी रचना, तापक्रम आदि के संबंध में जानकारी पाने में अमूल्य योग दिया है।

तारों की भीतरी बनावट

विश्वास किया जाता है कि सूर्य की तरह सभी तारों में एक बाहरी वातावरण होगा, जो पारदर्शक होगा और एक भीतरी 'प्रकाशमंडल' होगा, जो प्राय अपारदर्शक होगा। वातावरण अवश्य ही उस स्थान पर, जहाँ वह प्रकाशमंडल से मिलता है, अत्यन्त तप्त होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों हम प्रकाशमंडल से दूर चलेंगे, त्यों-त्यों तापक्रम कम होता जायगा।

प्रकाशमंडल का घनत्व अपेक्षाकृत कम ही होगा, परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि वह पारदर्शक होता होगा। गणना से पता चलता है कि यदि अधिक तापक्रम के कारण परमाणुओं के इलेक्ट्रॉन छिन्न-भिन्न दशा में रहें तो हमारे वायुमंडल के दस हज़ारवें चाप पर भी गैसें प्राय अपारदर्शक रहेंगी। अधिक चाप पर वे और भी अधिक अपारदर्शक हो जाएँगी। गणना से अनुमान किया जाता है कि प्रकाशमंडल की ऊपरी स्तर पर चाप हमारे वायुमंडल के चाप का लगभग दस हज़ारवाँ भाग ही होता होगा, परंतु भीतर, ज्यों-ज्यों हम केन्द्र की ओर बढ़ेंगे, चाप बढ़ता जायगा। केन्द्र के पास चाप हमारे वायुमंडल के भार का लगभग करोड़ गुना अधिक होगा।

तारों की एक-सी बनावट

आश्चर्य की बात है कि तारों में प्राय वे ही पदार्थ मिलते हैं, जो हमारे सूर्य में हैं। ये ही पदार्थ हमारी पृथ्वी में भी हैं। केवल न्यूनाधिक तापक्रम, द्रव्यमान, चाप आदि के कारण तारे विभिन्न

दिखलाई पड़ते हैं। जो मौलिक पदार्थ हमारी पृथ्वी में अधिक मात्रा में विद्यमान हैं, वे ही सूर्य और तारों में भी अधिक मात्रा में हैं—सिलिकन, सोडियम, मैगनीसियम, कैल्शियम, अल्युमिनियम और लोहा। इसका भी कोई कारण होगा। संभव है, तारे एक ही अनंत दूरी तक फैली हुई गैस-राशि से संकुचित होकर बने हों।

सारांश

वर्तमान परिस्थिति यह है कि कुछ थोड़े-से व्यापक नियमों के आधार पर हम तारों की बनावट गणित द्वारा सिद्ध कर सकते हैं और वेध से भी तारों की वैसी ही बनावट जान

पड़ती है, जैसी सिद्धान्त से निकलती है। ये नियम हैं गुरुत्वाकर्षण, विकिरण, परमाणुओं की बनावट, और चाप तथा तापक्रम के गैसों के आयतन पर प्रभाव से सम्बन्ध रखनेवाले नियम। इन नियमों के आधार पर हम कह सकते हैं कि केवल पदार्थ तभी तत रह सकता है जब वह अधिक मात्रा में हो, पृथ्वी की अपेक्षा कम से कम दस हजार या लाख गुना अधिक। हम यह भी कह सकते हैं कि यदि कहीं भी इतना पदार्थ एक साथ होगा तो वह अवश्य इतना गरम हो जायगा कि वह चमकने लगेगा। उसका केन्द्र अत्यन्त तप्त हो जायगा और सारा पदार्थ गैसीय रूप मे रहेगा—अधिक ताप के कारण वह ठोस या तरल रूप में न रहेगा। पदार्थ के छोटे पिण्ड सदा इतने गरम नहीं रह सकते कि वे बराबर चमकते रहें—अवश्य ही वे धीरे-धीरे ठंडे हो जाएँगे।

हम छोटे-बड़े तारों के तापक्रम, चाप आदि की भी गणना कर सकते हैं और हमारा परिणाम वास्तविक तारों के अनुसार ही निकलता है। हम तारों के विकास का ज्ञान भी अपने नियमों के आधार पर पा सकते हैं और गणितसिद्ध विकास भी प्राय वैसा ही है जैसा आकाश में तारो के देखने से जान पड़ता है। हमारी आयु इतनी लम्बी नहीं है कि हम तारों का विकास वस्तुत देख सकें, परंतु जिस प्रकार जंगल के पेड-पौधों के एक घंटे के अध्ययन से हम देख सकते हैं कि बीज से अकुर कैसे निकलता है, अंकुर से कैसे पौधा बनता है, पौधा कैसे बढ़ता, मोटा होता, फ़लता-फलता है और अत मे उसका कैसे क्षय होता है, उसी प्रकार तारों के आधुनिक अध्ययन से हम उनका विकास जानते हैं और सतोष की बात है कि गणित और वेध मे अतर नही है।

सर आर्थर एडिंगटन की गणना के अनुसार तारों के केन्द्र का औसत तापक्रम दो करोड डिग्री सेंटीग्रेड होगा। जरा अनुमान कीजिए कि केवल ५ डिग्री तापक्रम बढ़ जाने से मनुष्य को जोर का ज्वर चढ़ आता है (चित्र का सबसे ऊपरी भाग देखिए), १००० डिग्री पर सोना पिघल जाता है (दे० उससे नीचे का चित्र), बिजली की भट्ठी का तापक्रम भी केवल ३००० डिग्री होता है (दे० उससे नीचे का चित्र), परन्तु तारा तो अपने केन्द्र में २ करोड़ डिग्री ताप लिये रहता है (दे० सबसे निचला चित्र)। कैसा भीषण ताप वह होगा।

मिल्ने की गवेषणाएँ

इंगलैंड के प्रोफेसर मिल्ने ने भी तारो की भीतरी बनावट के संबंध में बहुत अच्छी गवेषणा की है। उनमें और एडिंगटन में कुछ मतभेद है। सन् १६४५ ई० में रॉयल ऐस्ट्रॉनामिकल सोसाइटी के सभापति-पद से व्याख्यान देते हुए उन्होंने साराश रूप मे यो बताया था —

'तारों की बनावट के सम्बन्ध मे एडिंगटन की गवेषणाओं की प्रशसा में, उनके विस्तृत और तिमिरभेदी प्रसार, उनकी मर्मभेदी शक्ति और उनकी भौतिक उपयुक्तता के कारण, मै दूसरों से एक पग भी पीछे हटनेवाला नहीं हूँ। परन्तु अपने सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम मे मेरी राय है कि एडिंगटन ने भूल की है। उन्होंने चमक के लिए जो सूत्र निकाला है उससे भीतरी नहीं, बाहरी अपारदर्शकता निकलती है।'

परन्तु इन मतभेदों का परिणाम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि तारों की बनावट के सम्बन्ध मे एडिंगटन के बताए नियमो मे उथल-पथल मच जाय। पता नहीं भविष्य के अन्वेषणों का क्या प्रभाव पड़ेगा, परन्तु वर्त्तमान समय मे तारों की जो बनावट पिछले पृष्ठों में प्रदर्शित की गई है, वही सच्ची मानी जाती है।
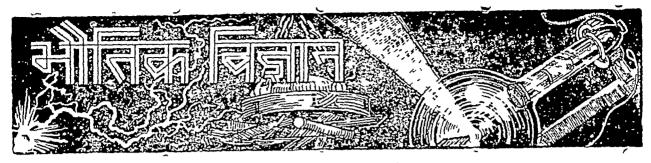
विद्युत्-धारा का रासायनिक प्रभाव

जिन दिनों वोल्टा सेल-सम्बन्धी प्रयोगों में लगा हुआ था, उन्हीं दिनों एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने विद्युत्-धारा के सम्बन्ध में एक अनोखी बात देखी। विद्युत् सेल के साथ वह प्रयोग कर रहा था कि अकस्मात सेल से जुड़े तार के दोनों छोर मेज़ पर रखे हुए पानी में गिर गए। फौरन् ही पानी में से बुलबुले उठने लगे। उस वैज्ञानिक ने अब की बार अलग से पानी लेकर उसमें गन्धक के तेज़ाब की दो-तीन बूँदें डालीं, ताकि पानी विद्युत् का संचालक बन जाय (विशुद्ध पानी विद्युत् का संचालक नहीं होता)। तदुपरान्त उसने पात्र में तीन विद्युत् सेलों की बैटरी से धनात्मक और ऋणात्मक तार के छोर डाले। अन्त में दोनों छोर से उठनेवाली गैसों को एकत्रित कर उसने जब उनकी जाँच की तो यह देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया कि उनमें की एक गैस हाइड्रोजन थी और दूसरी ऑक्सीजन। पानी एक यौगिक पदार्थ है, जो हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन से बना है। अत उक्त प्रयोग में विद्युत् धारा ने पानी का रासायनिक विश्लेषण करके उसे उसके मूलतत्त्वों में विभाजित कर दिया। विद्युत्-धारा के इस रासायनिक गुण के महत्त्व को सम्भवत. वह वैज्ञानिक पूरी तरह आँक न पाया होगा कि कुछ ही वर्ष उपरान्त इसी गुण के आधार पर निकल तथा पीतल आदि की वस्तुओं पर सस्ते दामों में चाँदी की बढिया कलई चढाने का बृहत् व्यवसाय निर्मित किया जा सकेगा।
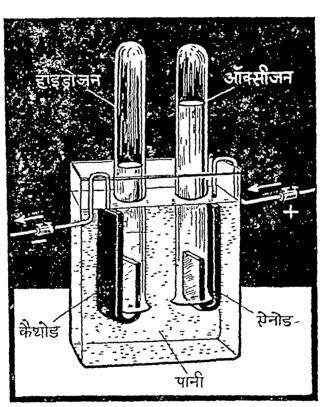
विद्युत्-धारा द्वारा पानी का रासायनिक विश्लेषण

सीसे की दो मुड़ी हुई प्लेटों को, जिनके साथ ताँबे के तार जुड़े हों, एक काँच के पात्र में खड़ा कर दो, जिसमे हल्के गंधकाम्ल से युक्त पानी भरा हो। अब दो समान आकार की टेस्ट ट्यूबों को पानी से भरकर इन पर उलटी रख दो और दोनों तारों को एक विद्युत्-बैटरी से संयुक्त कर दो। शीघ्र ही आप देखेंगे कि इन प्लेटों से (जो क्रमश: कैथोड और एनोड का काम देंगी) गैसें उठकर ट्यूबों में भर गई हैं, जिनमे एक हागी ऑक्सीजन और दूसरी हाइड्रोजन! यह पानी के विश्लेषण का स्पष्ट प्रमाण है।

इस क्षेत्र में प्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक फैरेडे ने विशेष अनुसंधान किए। विद्युत्धारा की सहायता से किए जानेवाले इस ढग के रासायनिक विश्लेषण को 'एलेक्ट्रोलिसिस' (Electrolysis) का नाम दिया गया है। वास्तव में किसी भी नमक या क्षार अथवा अम्ल के घोल में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर उसका रासायनिक विश्लेषण हो जाता है। उदाहरणार्थ नीला तूतिया को, जो ताँबे का सल्फेट है, पानी में घोलकर काँच के

चौरस बर्त्तन में रख लीजिए और उसमें दो ताँबे की प्लेट डाल दीजिए। एक को तार द्वारा सेल की धनात्मक प्लेट से जोडिए, दूसरी को ऋणात्मक प्लेट से। जिस प्लेट द्वारा विद्युत्-धारा घोल में प्रवेश करती है, उसे 'ऐनोड' (Anode) कहते हैं, तथा दूसरी प्लेट, जिसके सहारे विद्युत् धारा घोल से बाहर निकलती है, 'कैथोड' (Cathode) के नाम से पुकारी जाती है। थोडी देर उपरान्त आप देखेंगे कि कैथोड पर ताँबे की एक पतली तह समान रूप से बैठ गई है तथा ऐनोड में से कुछ ताँबा निकल गया है। दोनों प्लेटों को तौलने पर आप देखेंगे कि ऐनोड के भार में जो कमी हुई है, ठीक उतना ही भार कैथोड का बढ गया है। यह क्रिया इस पृष्ठ के ऊपरी चित्र में दिग्दर्शित की गई है, जिसमें बताया गया है कि किस प्रकार ताँबे के सल्फेट में से ताँबा (Cu) और सल्फेट (SO_4) पृथक् पृथक् होकर बँट जाते हैं। धातुएँ धनात्मक होती हैं, अत ताँबा आकृष्ट होकर कैथोड पर जा लगता है तथा सल्फेट ऋणात्मक होने के कारण ऐनोड से आकृष्ट होकर उससे जा लगता है और उस पर रासायनिक क्रिया करके उसमें से कुछ ताँबा घोल में ला ताँबे का सल्फेट बना लेता है। अत ऐनोड में से कुछ ताँबा घोल में आ जाता है और उतना ही ताँबा कैथोड पर चढ़ जाता है।

एलेक्ट्रोलिसिस की क्रिया

इस मानचित्र में दिखाया गया है कि किस प्रकार नीले तूतिये अर्थात् ताँबे के सल्फ़ेट ($CuSO_4$) के घोल में विद्युत्-धारा प्रवाहित की जाने पर उसके प्रभाव से ताँबा (Cu) और सल्फ़ेट (SO_4) पृथक् होकर बँट जाते हैं और ताँबा कैथोड प्लेट पर एक तह के रूप में जमा हो जाता है तथा ऐनोड में से उतना ही कम हो सल्फेट के साथ मिल जाता है।

इसी ढग की क्रिया द्वारा विद्युत्-धारा की सहायता से बर्त्तनों पर क़लई की जाती है। यदि उपर्युक्त प्रयोग में कैथोड किसी अन्य धातु का बनाया जाय तो निश्चय ही उस पर ताँबे की एक हलकी परत समान रूप से बैठ जायगी। घडी के केस, फाउन्टेनपेन की क्लिप तथा टाईपिन पर सोने की क़लई विद्युत्-धारा की मदद से ही की जाती है। इस व्यवसाय को 'एलेक्ट्रोप्लेटिंग' का नाम दिया गया है। निकल के बने हुए चाय के सेट पर चाँदी की सुन्दर क़लई इसी रीति द्वारा की जाती है। सायकिल और मोटर के पुर्जों पर भी एलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा ही क्रोमियम या निकल की श्वेत चमकदार पालिश की जाती है, जो सौंदर्य्य प्रदान करने के अतिरिक्त उनकी रक्षा भी करती है, क्योंकि निकल या क्रोमियम के धरातल पर मोर्चा नहीं लग सकता। चाँदी की पालिश करने के लिए घोल के लिए पोटैशियम साय

एलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा ब्लॉक की प्रतिमूर्त्ति तैयार करने की क्रिया

इसके लिए ब्लॉक का एक मोम का ठप्पा बनाकर उस पर ग्रैफाइट का चूर्ण लगा दिया जाता है। इस ठप्पे 'क' को तूतिये के घोल में लटकाकर कैथोड बना देते हैं और ऐनोड के लिए ताँबे की एक मोटी प्लेट काम में लाते हैं। तब डैनियल सेल से संयुक्त कर कई घंटों तक इस घोल में विद्युत्-धारा प्रवाहित की जाती है, जिससे ठप्पे के डिज़ाइन पर ताँबे की एक हलकी परत चढ़ जाती है। बाद में मोम को अलग करके उसके स्थान में सीसा ढाल दिया जाता है। इस तरह उक्त ब्लॉक की एक हूबहू प्रतिमूर्त्ति तैयार कर ली जाती है।

नाइड तथा सिल्वर सायनाइड का मिश्रण काम में लाया जाता है, जो पानी में घोल लिया जाता है। काठ के एक बड़े हौज़ में, जिसकी भीतरी दीवाल पर सीसे की चद्दर चढ़ी होती है, यह घोल रक्खा जाता है। ऐनोड के स्थान पर चाँदी की प्लेटें लटकाई जाती हैं तथा कैथोड के स्थान पर निकल या पीतल के वे बर्त्तन लटकाए जाते हैं, जिन पर चाँदी की क़लई चढ़ानी होती है। फिर डायनमो से विद्युत् धारा इस बर्त्तन में प्रवेश कराई जाती है। इस हौज में बर्त्तन को लटकाने के पूर्व उसे एमरी से रगड़ कर पहले अच्छी तरह साफ कर लेना होता है। तदुपरान्त उसे कॉस्टिक सोडा के हलके घोल में धो लेते हैं, ताकि उस पर चिकनाई का कोई अंश बाक़ी न रहे। ऐसा करना अत्यावश्यक है, वरना क़लई की परत कहीं मोटी होगी, कहीं पतली।

स्पष्ट है कि सोने की क़लई चढ़ाने के लिए ऐनोड की जगह हमें सोने की प्लेट काम में लानी होगी। यहाँ हौज का घोल पोटैशियम सायनाइड और गोल्ड सायनाइड के मिश्रण से तैयार किया जायगा।

खुदे हुए ब्लॉक की प्रतियाँ तैय्यार करने के लिए भी एलेक्ट्रोप्लेटिंग का सिद्धान्त काम में लाया जाता है। क़ीमती अथवा अलभ्य ब्लॉक को इस डर से छपाई के लिए नहीं काम में लाते कि कहीं वह खराब न हो जाय। अत एलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा पहले उसकी नक़्ल या ठीक प्रतिमूर्त्ति तैय्यार की जाती है। ऐसा करने के लिए पहले धातु के उस ब्लॉक पर तेल की एक अत्यन्त हलकी परत चढ़ाते हैं, तब उसे एक चौखटे में रखकर उस पर पिघलाई हुई मोम डाली जाती है, जो बहुत अधिक गर्म न हो। मोम के ठंडी होने पर सावधानी के साथ उसे ब्लॉक से अलग कर लेते हैं। अब मोम के ठप्पे पर ब्लॉक का डिजाइन उलटे रूप में ठीक-ठीक उभर आता है। इस डिजाइन पर मुलायम ब्रुश से ग्रेफाइट के चूर्ण की एक हलकी तह समान रूप से फेर देते हैं। ऐसा करना इसलिए आवश्यक होता है कि मोम विद्युत् का संचालक नहीं है, अत मोम के ठप्पे को अकेले लेकर उस पर एलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा धातु की क़लई नहीं जमाई जा सकती। ठप्पे पर ग्रेफाइट का चूर्ण लगा देने से उसमें विद्युत् के सचालन की शक्ति आ जाती है, क्योंकि ग्रेफाइट वस्तुत कार्बन का ही एक विशेष रूप है और कार्बन विद्युत् का एक अच्छा सचालक है।

एलेक्ट्रोप्लेटिंग द्वारा क़लई करने की विधि

काठ के एक हौज़ 'छ' में जिसकी भीतरी दीवाल पर सीसे की चद्दर मढ़ी रहती है, सिल्वर और पोटैशियम सायनाइड का जलमिश्रित घोल भरा रहता है। उसी में ऐनोड 'क' से चाँदी की प्लेटें 'ग' तथा कैथोड 'ख' से चम्मच आदि वे वर्त्तन ('च') लटका दिए जाते हैं, जिन पर क़लई चढ़ाना होती है। चित्र में 'ज' इन्स्यूलेटरों का सूचक है। तब विद्युत-धारा के प्रवाहित किए जाने पर एलेक्ट्रोलिसिस की क्रिया के अनुसार लटकाए हुए वर्त्तनों पर घोल में की चाँदी की एक परत जम जाती है एव प्लेट में की उतनी ही चाँदी कम होकर घोल में मिल जाती है।

अब इस ठप्पे को ताँबे के सल्फेट के घोल में लटकाकर कैथोड बना देते हैं, और ऐनोड के लिए ताँबे की एक मोटी प्लेट काम में लाते हैं। तब कई घंटों तक इस घोल में से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराई जाती है, जिससे ठप्पे के डिज़ाइन पर ताँबे की एक हलकी परत ($\frac{1}{8}$ इंच से लेकर $\frac{1}{12}$ इंच मोटी) चढ़ जाती है। इसे बाहर निकालकर गर्म पानी में रखते हैं, जिससे सारी मोम पिघलकर अलग हो जाती है। इसके बाद ब्लॉक के

डिज़ाइन की पीठ पर पिघला हुआ सीसा ढालकर उसके पृष्ठ भाग को मोटा कर लेते हैं, ताकि टाइप की मुटाई के बराबर वह भी मोटा हो जाय। इसे ही फर्मे पर सेट करके छपाई के लिए काम में लाते हैं।

एलेक्ट्रोलिसिस (विद्युत्-विश्लेषण) की क्रिया ही वास्तव में सेल में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने के लिए उत्तरदायी है। उदाहरण के लिए डेनियल सेल को लीजिए, जिसके अन्दर नीला तूतिया तथा गन्धक के तेजाब के घोल पृथक् बर्तनों मे भरे होते हैं। इन दोनों बर्त्तन के बीच एक रन्ध्रमय दीवाल होती है। इसमें विद्युत् धारा प्रवाहित कराने के लिए जब इसके धनात्मक तथा ऋणात्मक सिरों को तार से जोड़ते हैं, तब गन्धक के तेजाब के अणु के हाइड्रोजन (H_2) तथा सल्फेट (SO_4) अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार नीला तूतिया के अणु के अन्दर से भी ताँबा (Cu) तथा सल्फेट (SO_4) अलग हो जाते हैं। तेजाब का सल्फेट जस्ते से सयोग कर जिंक सल्फेट बनाता है तथा हाइड्रोजन रन्ध्रमय दीवाल के छिद्रों में से होकर उस पार निकल आती है और बाहर तूतिया के सल्फेट से पुन. सयोग करके गधक का तेजाब (H_2SO_4) बनाती है। इधर ताँबा (Cu) विमुक्त होकर बाहरवाले बर्त्तन के ताँबे की दीवाल पर जम जाता है। यही कारण है कि साधारण सेल में जस्ता धीरे धीरे घुलता रहता है, तथा डेनियल सेल में तूतिया के घोल को
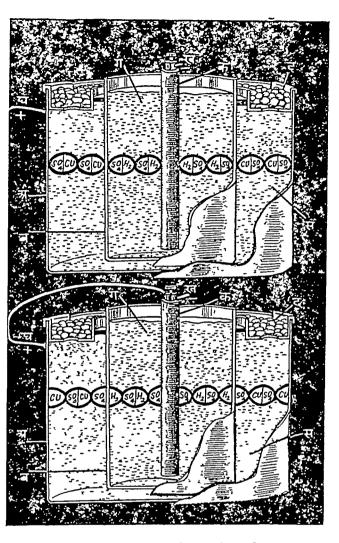
डेनियल सेल में क्या क्रिया होती है ?

डेनियल सेल मे 'अ' और 'ब' इन दो पृथक् बर्त्तनों में क्रमशः नीला तूतिया 'स' ($CuSO_4$) और गंधकाम्ल 'ग' (H_2SO_4) के घोल भरे रहते हैं। बीच के पात्र की दीवाल 'ग' रन्ध्रमय होती है और उसके बीचोबीच जस्ते की एक छड़ 'क' रहती है, जिसका ऊपरी सिरा 'ख' ऋणात्मक विद्युत् से आविष्ट होता है। तब इसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने के लिए जब इसके धनात्मक सिरे 'घ' और ऋणात्मक सिरे 'ख' को तार से जोड़ते हैं तो गंधक के तेज़ाब के अणु में से हाइड्रोजन (H_2) तथा सल्फ़ेट (SO_4) अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार नीला तूतिया के अणु के अंदर से ताँबा (Cu) तथा सल्फ़ेट (SO_4) भी अलग हो जाते हैं। तेज़ाब का सल्फ़ेट 'क' के जस्ते से संयोग करके ज़िंक सल्फ़ेट बनाता है तथा हाइड्रोज़न रन्ध्रमय बर्त्तन के सूक्ष्म छिद्रों में से होकर उस पार निकल आती है और बाहर तूतिया के सल्फ़ेट से पुनः संयोग करके गंधक का तेजाब (H_2SO_4) बनाती है। इधर ताँबा (Cu) विमुक्त होकर बाहरवाले बर्त्तन की दीवाल 'अ' पर जम जाता है। इस प्रकार तूतिया के घोल में जो कमी पड़ती है, उसकी पूर्त्ति करने तथा उसको पूर्ववत् गाढ़ा बनाए रखने के लिए सेल के बाहरी पात्र के ऊपरी भाग में एक ख़ाना-सा बनाकर उसमें तूतिया के टुकड़े 'द' रखे जाते हैं। प्रस्तुत चित्र के ऊपरी भाग में डेनियल सेल की उस समय की दशा चित्रित है, जिस समय कि उसके धनात्मक और ऋणात्मक सिरे 'ख' और 'घ' दोनों खुले रहते हैं और फलतः जस्ते या ताँबे में कोई रासायनिक प्रतिक्रिया नहीं होती। नीचे के चित्र में वह दशा चित्रित है जब कि सेल के धनात्मक और ऋणात्मक दोनों सिरे परस्पर तार द्वारा जोड़ दिए जाते हैं और सेल के भीतर ऊपर उल्लिखित रासायनिक क्रिया होने लगती है।

पूर्ववत् गाढ़ा बनाए रखने के लिए बाहरी बर्त्तन के ऊपरी भाग में एक खाना बनाकर उसमें तूतिया के टुकड़े रखे जाते हैं।

बार-बार रासायनिक पदार्थों को सेल मे डालने के झंझट से बचने के प्रयत्न में ही 'सेकण्डरी सेल' का आविष्कार हुआ। ये ही सेल मोटर-गाड़ियों मे बत्ती जलाने के लिए काम मे लाई जाती हैं। सेकण्डरी सेल की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके अन्दर बार-बार रासायनिक पदार्थों को डालने की आवश्यकता नहीं होती। साथ ही इसकी विद्युत्-धारा साधारण सेल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती है और इसकी शक्ति जल्दी क्षीण भी नही होने पाती, क्योंकि इसमे 'पोलराइज़ेशन' के दोष भी नहीं पाये जाते।

सेकण्डरी सेल का सिद्धान्त इसी पृष्ठ के चित्र मे प्रदर्शित प्रयोग द्वारा भलीभाँति व्यक्त किया जा सकता है। काँच के एक बर्त्तन में गन्धक का तेजाब लेकर उसमें सीसे की दो प्लेट अ ब डाल दीजिए और अ को साधारण सेल का बैटरी के धनात्मक सिरे से तथा ब को ऋणात्मक सिरे से जोड़ दीजिए। स्पष्ट है कि तेजाब में से होकर विद्युत् धारा अ से ब की ओर प्रवाहित होगी। कुछ देर के उपरान्त बैटरी को अलग कर दीजिए, और दोनों प्लेटों को एक तार द्वारा सीधे जोड़ दीजिए। साथ ही इस सर्किट (घेरे) में एक गैल्वैनोमीटर (विद्युत्-धारा-मापक यंत्र) भी रख दीजिए। आप देखेंगे कि गैल्वैनोमीटर मे से होकर विद्युत्-धारा अ से ब की ओर तथा बर्त्तन के भीतर ब से अ की ओर प्रवाहित होती है। कुछ देर के उपरान्त विद्युत्-

सेकण्डरी सेल का सिद्धान्त
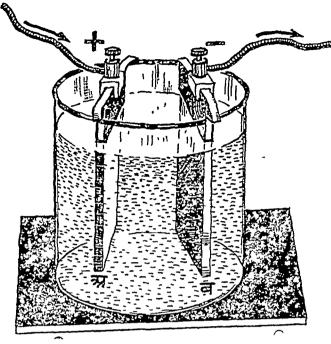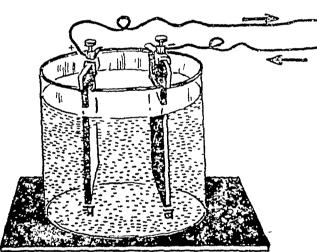
काँच के एक बर्त्तन में हल्का गंधक का तेज़ाब भरकर उसमें सीसे की दो प्लेट 'अ' और 'ब' डाल दीजिए और 'अ' को किसी साधारण सेल की बैटरी के धनात्मक सिरे से तथा 'ब' को उसके ऋणात्मक सिरे से जोड़ दीजिए। स्पष्ट है कि अ से ब की ओर गंधकाम्ल मे से होकर विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगेगी (दे० ऊपरी चित्र)। तब कुछ समय बाद, बैटरी को अलग कर दीजिए और दोनों प्लेटों को एक तार से सीधे जोड़ दीजिए। साथ ही इस सर्किट (या घेरे) मे एक गैल्वेनोमीटर (या विद्युत-धारा-मापक यंत्र) भी रख दीजिए। अब आप देखेंगे कि गैल्वेनोमीटर मे से होकर विद्युत-धारा अ से ब की ओर तथा बर्त्तन के भीतर ब से अ की ओर प्रवाहित होती है (दे० निचला चित्र)। कुछ देर के उपरान्त यह प्रवाह रुक जाता है। इस प्रयोग के प्रथम भाग मे एलेक्ट्रोलिसिस की क्रिया द्वारा प्लेट अ मे सीसे की ऑक्साइड बन जाती है तथा प्लेट ब सीसा ही बना रहता है। प्रयोग के दूसरे भाग मे विद्युत्धारा सेल के अंदर उल्टी दिशा में प्रवाहित होती है और इस बार के एलेक्ट्रोलिसिस में अ तथा ब दोनों ही पर सीसे का सल्फ़ेट बन जाता है। अ पर मौजूद सीसे की ऑक्साइड जब पूर्णतया सीसे की सल्फ़ेट में परिवर्त्तित हो जाती है तभी विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाता है। इसी सिद्धान्त पर एक्यूम्युलेटर या सेकेण्डरी सेलों का निर्माण किया गया।

धारा का प्रवाह रुक जाता है (दे० पिछले पृष्ठ का निचला चित्र)। इस प्रयोग ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिकों को यह बात सुझाई कि इस तरह के बर्तन में सीसे की प्लेटों तथा गन्धक का तेज़ाब प्रयुक्त कर पहले उसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित कराकर हम बाद में उससे पुन उसी विद्युत् को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रयोग के प्रथम भाग मे एलेक्ट्रोलिसिस की क्रिया द्वारा प्लेट **अ** में सीसे की ऑक्साइड बन जाती है तथा प्लेट **ब** सीसा ही बना रहता है। प्रयोग के द्वितीय भाग में विद्युत्-धारा सेल के अन्दर उलटी दिशा मे प्रवाहित होती है, और इस बार के एलेक्ट्रोलिसिस में **अ** तथा **ब** दोनों ही पर सीसे का सल्फेट बन जाता है। **अ** पर मौजूद सीसे की ऑक्साइड जब पूर्णतया सीसे की सल्फेट में परिवर्त्तित हो जाती है, तभी विद्युत्धारा का प्रवाह भी रुक जाता है। यदि पहले भाग की क्रिया पुन दोहरायी जाय तो एक बार फिर **अ** पर सीसे की ऑक्साइड बन जाती है तथा **ब** विशुद्ध सीसा बन जाता है। इस हालत में सेल पूर्णतया तैयार (चार्ज्ड) हो जाती है और उससे विद्युत्-धारा प्राप्त की जा सकती है।

इसी सिद्धान्त पर सबसे पहले प्लान्टे नामक वैज्ञानिक ने १८६० ई० में सीसे की प्लेट तथा गन्धक के तेज़ाब से सेकण्डरी सेल तैय्यार की थी। तदुपरान्त दूसरे एक वैज्ञानिक फौरे ने इस सेल मे अन्य सुधारों का समावेश किया। इन सुधारों के फलस्वरूप आधुनिक सेकण्डरी सेल के निर्माण के लिए प्लेटें यद्यपि सीसे की ही ली जाती है, किन्तु धनात्मक प्लेट-पर गन्धक के तेज़ाब तथा सीसे की रेड ऑक्साइड का गाढ़ा लेप चढ़ाते हैं तथा ऋणात्मक प्लेट के अन्दर जालियाँ कटी होती हैं, जिसमें सीसे की मॉनोक्साइड तथा गन्धक के तेज़ाब का लेप चढ़ाया होता है। सेल को चार्ज करने के लिए लगभग ४८ घण्टे तक इसमें से उपयुक्त शक्ति की विद्युत्-धारा प्रवाहित करानी होती है —इस तरह कि विद्युत् धारा सेल के अन्दर धनात्मक प्लेट द्वारा प्रवेश करे और ऋणात्मक प्लेट की ओर से वह बाहर निकले। सेकण्डरी सेल को अग्रेजी मे 'स्टोरेज सेल' (Storage Cell) तथा 'एक्युम्युलेटर' (Accumulator) के नाम से भी पुकारते हैं, जिसके अर्थ होते हैं सचित करनेवाली सेल। वास्तव में यह नाम अर्थ के अनुसार इस तरह के सेल के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि विद्युदाविष्ट (चार्ज्ड) करते समय जो विद्युत्-धारा सेल मे प्रवाहित करायी जाती है, वह ज्यों की त्यों उसमे संचित नहीं होती है, बल्कि एलेक्ट्रोलिसिस द्वारा वह रासायनिक शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। पुन यही रासायनिक शक्ति विद्युत्-शक्ति में परिणत होने पर हमें विद्युत्-धारा देती है।

'एक्युम्युलेटर' या 'स्टोरेज सेल' की व्याख्या अथवा परिभाषा एक ही वाक्य में करना कठिन है। साथ ही जो लोग रसायन विज्ञान की बारीकियों से अनभिज्ञ हैं, उनके लिए उसकी तह मे काम करनेवाले सिद्धान्त एव क्रिया-प्रक्रियाओं का समझ पाना भी आसान नहीं है। सक्षेप मे इस प्रकार की सेल और पिछले अक में वर्णित लेक्लैंची आदि 'प्राइमरी' सेलों का भेद यों कहकर हम स्पष्ट कर सकते हैं कि जहाँ प्राइमरी सेल किसी बाहरी स्रोत का अवलब लिये बिना स्वतत्र रूप से रासायनिक क्रिया द्वारा विद्युत्-शक्ति का उत्पादन करती है, वहाँ 'सेकण्डरी' सेल या 'एक्युम्युलेटर' की विशेषता यह रहती है कि वह किसी बाहरी स्रोत से अपने में प्रवाहित विद्युत्-शक्ति को आभ्यन्तरिक क्रिया-प्रक्रिया द्वारा एक प्रकार की रासायनिक शक्ति में परिवर्त्तित कर उसे मानों 'संचित' कर लेती है तथा पुन आवश्यकतानुसार उसको विद्युत्-शक्ति में परिणत कर विद्युत्-धारा के रूप में उसकी हमें भेंट दे देती है! अब आइए, आपको इस वर्ग की एक प्रख्यात एक्युम्युलेटर सेल—जो 'एक्साइड' सेल के व्यापारिक नाम से आज के दिन हर कहीं प्रचलित है—की रचना और उसकी भीतरी क्रिया-प्रक्रिया का कुछ हाल बताकर थोड़े में यह जानकारी करा दें कि वस्तुत किस प्रकार सेकण्डरी सेल विद्युत्-शक्ति का 'संचय' करके आवश्यकतानुसार हमारा काम पूरा करती है। जैसा कि पिछले पैरा में बताया जा चुका है, इस प्रकार की सेल में सीसे की दो प्लेटें होती हैं, जो यथारुचि भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की बनाई जाती हैं। सामने के पृष्ठ पर इस प्रकार के लेड एक्युम्युलेटर का जो मानचित्र उसकी प्लेटों के पृथक् चित्रों सहित दिग्दर्शित है, उससे आप जान सकते हैं कि इन प्लेटों में 'निगेटिव' या ऋणात्मक प्लेट किस प्रकार जालीनुमा साँचे की बनी होती हैं और पाजिटिव या धनात्मक प्लेट भी छलनी की तरह छिद्रयुक्त होती है। इन निगेटिव और पाज़िटिव प्लेटों के जालीनुमा खाँचों एवं छिद्रों में सीसे की मॉनोक्साइड तथा रेड ऑक्साइड और गधकाम्ल के मिश्रण से बने हुए दो स्पंजनुमा लेप क्रमश चढ़ाए हुए रहते हैं। अब प्रक्रिया यों होती है कि जब इस सेल की प्लेटों के सिरे किसी बैटरी से संयुक्त कर दिये जाते हैं

तो ऐनोड की ओर से विद्युत्-धारा का प्रवाह पात्र में भरे हुए तरल में होता हुआ कैथोड की ओर जारी हो जाता है, जिससे कि कैथोड और ऐनोड के समीप विश्लेषण द्वारा हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन मुक्त हो जाती हैं। इनमें से ऐनोड पर विमुक्त ऑक्सीजन उसकी सीसे की प्लेट पर आक्रमण करती है और फलत उस पर ऑक्सीजन तथा सीसे के एक भूरे मिश्रण 'लेड पराक्साइड' की तह चढ़ जाती है, जबकि दूसरी प्लेट अभी शुद्ध सीसे ही की बनी रहती है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि सेल के पात्र के तरल घोल में सल्फेट के ऋणात्मक 'इऑन' (ions) रहते हैं, जिनमें गंधक का प्रत्येक परमाणु चार ऑक्सीजन के परमाणुओं से संयुक्त रहता है। साथ ही उसमें धनात्मक 'हाइड्रोक्सोनियम इऑन' भी रहते हैं, जिनमें एक धनात्मक प्रोटॉन पानी के एक अणु के साथ सयुक्त होता है। अब यदि दोनों प्लेटों को परस्पर तार द्वारा जोड़ दिया जाय तो यह होगा कि सीसे के परमाणु दो-दो इलेक्ट्रॉन छोड़ देंगे तथा 'लेड इऑन' में परिणत हो जाएँगे। ये घोल में के सल्फेट के एक-एक इऑन से मिलकर प्लेट पर श्वेत लेड सल्फेट के रूप में जा जमेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि तेज़ाब के घोल में से सल्फेट के भारी इऑन बाहर निकल आवेंगे और यही कारण है कि सेल से विद्युत्-धारा का निर्यात होते समय अम्ल का आपेक्षिक घनत्व कम हो जायगा।

अब सेल में एक नई पुनर्व्यवस्था-सी हो जायगी, क्योंकि दोनों प्लेटों के सयुक्त होने पर विमुक्त इलेक्ट्रॉन धनात्मक हाइड्रोक्सोनियम इऑनों को प्लेट के प्रति आकर्षित करेंगे और इस प्रकार उनके सयोग से पुन पानी तथा हाइड्रोजन का सर्जन होगा। हाइड्रोजन लेड पराक्साइड से ऑक्सीजन को निकाल लेगी और विशुद्ध सीसा शेष बचा रह जायगा। यह क्रिया प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहेगी, जब तक कि एक्युम्युलेटर का इतना अधिक व्यय न हो जाय कि उसका सारा लेड पराक्साइड शुद्ध सीसे में परिणत हो जाय। जब एक्युम्युलेटर इस प्रकार संपूर्णतया 'डिस्चार्ज्ड' या विद्युत् शून्य हो जाता है, तब किसी विद्युत्-उत्पादक स्रोत (यथा डायनमो) से उसे सयुक्त करके पुन उसे चार्ज्ड या विद्युदाविष्ट कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया के समय विद्युत् धारा के इलेक्ट्रॉन प्लेट के लेड सल्फेट के लेड इऑनों को पुन शुद्ध सीसे मे परिवर्त्तित कर देते हैं तथा सल्फेट के इऑन घोल में जाकर तैरने लगते हैं। ये और दूसरे सल्फेट इऑन चूँकि ऋणात्मक होते हैं अत. शुद्ध सीसे की प्लेट के प्रति आकृष्ट हो उसे अपने इलेक्ट्रॉन दे देते हैं। ये इलेक्ट्रॉन डायनमो के चार्ज से दूसरी प्लेट की ओर पीछे धकेल दिए जाते हैं। इस प्रकार अपने चार्ज से विमुक्त जो सल्फेट इऑन बचा रह जाता है, वह गधक के एक परमाणु तथा ऑक्सीजन के चार परमाणुओं का योग होता है। यह दो और अतिरिक्त इलेक्ट्रॉनों के बिना रह नहीं सकता, अत वह इन इलेक्ट्रॉनों को पानी के एक अणु में से खींच लेता है और उसे इलेक्ट्रॉन-रहित दो हाइड्रोजन तथा एक ऑक्सीजन के परमाणुओं में बदल देता है। ये ऑक्सीजन के परमाणु सीसे की प्लेट को लेड पराक्साइड में परिणत कर देते हैं और इलेक्ट्रॉन-रहित

१ एक्युम्युलेटर　२ निगेटिव प्लेट　३ पॉज़िटिव प्लेट
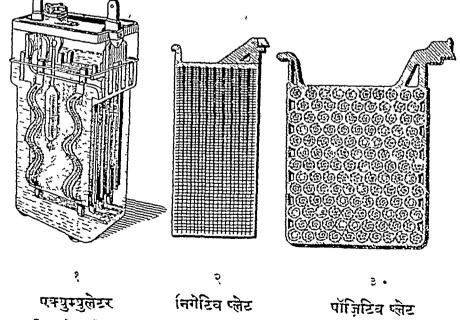
प्रस्तुत चित्र मे प्रसिद्ध 'एक्साइड' सेल का एक मानचित्र उसकी भीतरी रचना-सहित दिग्दर्शित किया गया है। साथ ही ऋणात्मक (निगेटिव) और धनात्मक (पॉज़िटिव) प्लेटों के अलग से भी चित्र दे दिए गए हैं।

हाइड्रोजन के उपर्युक्त परमाणु पानी के एक-एक अणु के साथ सयुक्त हो हाइड्रोक्सोनियम इऑन की रचना कर देता है। इस प्रकार एक्युम्युलेटर पुनः पहले की भाँति चार्ज्ड (विद्युदाविष्ट) हो जाता है।

सेकण्डरी सेल की देखरेख में पूरी सावधानी बरतनी पड़ती है। उदाहरण के लिए इसके अन्दर पूर्णतया विशुद्ध गन्धकका तेज़ाब डालना चाहिए और इस तेज़ाब में परिस्रवित जल (Distilled Water) मिलाकर इसका आपेक्षित घनत्व १.२ बना लेना चाहिए। फिर सेल के अन्दर तेज़ाब हर समय इतना होना चाहिए कि दोनों प्लेटें उसमें अच्छी तरह डूबी रहें। इसके अलावा विद्युदाविष्ट करते समय सेल में, इस विचार से कि वह जल्दी तैयार हो जाय, बहुत तेज़ विद्युत्-धारा प्रवाहित नहीं करानी चाहिए। वास्तव में प्लेट के आकार की दृष्टि से प्रत्येक सेल के लिए यह निश्चित रहता है कि अमुक शक्ति की विद्युत् धारा ही उसे विद्युदाविष्ट करने के लिए प्रवाहित कराई जाय। यह मालूम करने के लिए कि सेल पूर्णतया विद्युदाविष्ट हो गई या नहीं, तीन बातों की जॉच करनी होती है। पूरी तौर पर विद्युदाविष्ट हो जाने पर सेल के तेज़ाब का आपेक्षित घनत्व १.२ हो जाना चाहिए तथा सेल की प्लेटों के बीच २.२ वोल्ट का अन्तर होना चाहिए। इनके अतिरिक्त जिस समय सेल विद्युदाविष्ट हो रही हो, उसके पूर्णतया आविष्ट हो जाने पर दोनों प्लेटों पर से गैस के बुलबुले छूटने लगते हैं। सेकण्डरी सेल जब काम में न आ रही हो तब भी इसे हर महीने विद्युदाविष्ट कराना आवश्यक होता है, वरना प्लेट के रासायनिक पदार्थ खराब हो जाते हैं।

सीसे की सेकण्डरी सेलें भारी भरकम होती हैं। फिर इनमें गन्धक का तेजाब भरा होता है। अत इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में बड़ा कष्ट होता है। इन कमियों को दूर करने के उद्देश्य से एडिसन ने अपेक्षाकृत हलकी सेकण्डरी सेल बनाई, जो 'एडिसन सेल' कहलाती हैं। इन सेलों की प्लेटें इस्पात की होती हैं, जिनमें जाली कटी होती है। धनात्मक प्लेट में निकल-हाइड्रो-ऑक्साइड भरी होती है तथा ऋणात्मक प्लेट में लौह चूर्ण। सेल के अन्दर कास्टिक पोटाश का २१ प्रतिशत घोल भरा होता है। इस ढंग की सेल को विद्युदाविष्ट करने में अधिक समय नहीं लगता, क्योंकि अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली विद्युत् धारा इसमें प्रवाहित करायी जा सकती है। किन्तु एडिसन सेल की प्लेटों के बीच केवल १.२५ वोल्ट का ही अन्तर होता है, अत. समान शक्ति की विद्युत् धारा प्राप्त करने के लिए सीसेवाली सेकण्डरी सेल की तुलना में उसकी दूनी संख्या की आवश्यकता पड़ती है।

विभिन्न क्षेत्रों में सेकण्डरी सेल एक बड़े पैमाने पर काम में लाये जाते हैं। देहातों में, जहाँ बिजली के पावरहाउस नहीं हैं, सेकण्डरी सेल की बैटरी द्वारा ही रेडियो के सेट परिचालित किए जाते हैं। सबमैरीन (पनडुब्बियों) का तो सेकण्डरी सेल की बैटरी के बिना काम ही नहीं चल सकता, क्योंकि पानी के अन्दर डुबकी लगाने के बाद इसी बैटरी की विद्युत्-धारा से ही सबमैरीन अपने विद्युत्-मोटर के लिए चालकशक्ति प्राप्त करती है। जब सबमैरीन पानी की सतह पर आती है, तब पेट्रोल-इंजिन को चालू करके डायनमो से सेलों को विद्युदा-विष्ट कर लेते हैं।

एक स्टोरेज बैटरी, जिसमें २७६ सेकण्डरी सेलें लगी हैं।
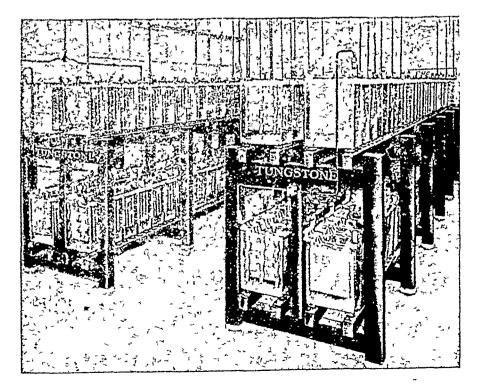
कोयले और पानी के तत्त्वों से बने हुए अद्भुत यौगिक—'कार्बोहाइड्रेट'

हमारे दैनिक जीवन की अनेक अनिवार्य वस्तुओं—भोजन, कपड़ा, कागज़, लकड़ी आदि—में रहनेवाले प्रमुख पदार्थों की रासायनिक कहानी

जिस प्रकार 'हाइड्रोकार्बन' शब्द का अर्थ 'कार्बन और हाइड्रोजन का यौगिक' होता है, उसी प्रकार 'कार्बोहाइड्रेट' शब्द का अर्थ 'कार्बन और जल का यौगिक' होना चाहिए। वास्तव में, यह शब्द रसायन मे जिन पदार्थों के लिए प्रयुक्त होता है, वे सभी कार्बन और जल के तत्त्वों के सयोग से बने होते हैं। गन्ना, कन्द-मूल-फल-फूल, दूध, आदि मे रहनेवाली नाना प्रकार की शकरें, आलू, आटा और चावल का मुख्य अवयव स्टार्च, तथा रुई, घास, भूसा, सन, जूट, लकडी, आदि वस्तुओं का प्रधान अश सेलुलोज इन्हीं कार्बनिक यौगिकों—कार्बोहाइड्रेटों—के प्रमुख उदाहरण हैं।

यदि आप शकर को गर्म तवे पर छोड़ें तो देखेंगे कि वह पहले पिघलती है, फिर उसमें से भाप रूप मे पानी निकलने लगता है और अत मे 'शकर का कोयला' बच रहता है। आटा, चावल, रुई, जूट, लक्ड़ी, आदि वस्तुएँ इस प्रकार गर्म करने पर पिघलती नहीं, किंतु विच्छिन्न होकर पानी के निकल जाने के पश्चात् कार्बन मे परिणत हो जाती हैं। इन पदार्थों पर प्रबल सल्फ्यूरिक ऐसिड की क्रिया भी उनके कार्बन और पानी के अवयवों का यौगिक होना सिद्ध करती है (दे० पृ० २१७६–८१)।

मनुष्य और जानवरों के शरीर रूपी इंजिनों के लिए उनके भोजन में रहनेवाले कार्बोहाइड्रेट वही महत्त्व रखते हैं, जो भाप के इंजिनों के लिए कोयले का, अथवा तेल के इंजिनों के लिए तैलीय हाइड्रोकार्बनों का होता है। मनुष्य को अपने शरीर की गर्मी और शक्ति प्रायशः रोटी और चावल में रहनेवाले स्टार्च से और शाकाहारी पशुओं को वही घास-चारे में रहनेवाले सेलुलोज़ से मिलती है।

कार्बोहाइड्रेटों को हवा मे जलाने से जिस प्रकार के रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं, उसी प्रकार के परिवर्त्तन प्राणियों के उदर में उनके पहुँचने पर भी हुआ करते हैं, अर्थात् जल के अवयव जल के ही रूप में पृथक् हो जाते हैं, और कार्बन फेफड़ों द्वारा ग्रहण की जानेवाली हवा की ऑक्सीजन से संयुक्त होकर कार्बन डाइऑक्साइड के रूप मे साँस द्वारा निकल जाता है। इस ऑक्सीकरण मे जो ताप का उत्पादन होता है, वही शरीर को गर्म रखता और प्राणियों की कार्य-शक्ति मे परिणत होता रहता है। संसार की मानवीय हलचल अधिकतर कार्बोहाइड्रेट-प्रदत्त शक्ति पर ही अवलंबित है।

नाना प्रकार के कार्बोहाइड्रेट

कार्बोहाइड्रेटों का वर्गीकरण तीन विभागों मे किया जाता है—

(१) मॉनोशर्कराइडें
(२) डाइशर्कराइडें
और (३) पॉलीशर्कराइडें

मॉनोशर्कराइडें

द्राक्ष-शर्करा और फल-शर्करा इस वर्ग की शकरों के प्रमुखतम उदाहरण हैं। कार्बोहाइड्रेटों मे इनके अणुओं की बनावट सरलतम होती है। इनके अणुओं में कार्बन के छः परमाणुओं की शृंखला के साथ पानी के छः अणुओं के परमाणु संबद्ध रहते हैं, या यों कहिए कि इनका अणु-

सूत्र $C_6H_{12}O_6$ होता है। तथापि अंगूर की शक्कर और फल की शक्कर विभिन्न पदार्थ होते हैं, कारण उनके अणुओं की भीतरी परमाणु-व्यवस्था विभिन्न होती है। दूसरे शब्दों में ये दोनों शक्करें एक दूसरे की आइसोमर होती हैं (दे० पृ० २८४२, फुटनोट)।

अंग्रेज़ी मे अंगूरी शक्कर को ग्रेप-शुगर, ग्लूकोज़ अथवा डेक्स्ट्रोज़, और फल की शक्कर को फ्रूट-शुगर, फ्रुक्टोज़ अथवा लीवुलोज़ भी कहते हैं। अंगूर के रस का मीठापन विशेषत: ग्लूकोज़ के कारण होता है; वैसे तो सभी मीठे फलों, जैसे आम, सेब, आदि मे दोनों ही मिश्रित रहती हैं। शहद में द्राक्ष और फल-शर्कराओं की बराबर मात्राओं के साथ लगभग २० प्रतिशत पानी मिला रहता है।

दोनों शर्कराएँ सबसे अधिक सरलता से पच जानेवाली भी होती हैं। आपने रोगी एवं निर्बल मनुष्यों को ग्लूकोज़, शहद, आदि का व्यवहार करते बहुधा देखा होगा। इन दोनों शक्करों मे अधिक सामान्य, सस्ती एवं प्रचलित द्राक्षशर्करा अथवा ग्लूकोज़ है। दैनिक उपयोग मे आनेवाली यह 'अंगूरी शक्कर' अंगूरों अथवा अन्य फलों से नहीं, बल्कि स्टार्च से रासायनिक रीतियों द्वारा बनाई जाती है। कैसे ?—यह आगे बताया जायगा।

डाइशर्कराइडें

इस वर्ग की शक्करों में गन्ने की शक्कर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें और योरप की चुकंदर की शक्कर में कोई भेद नहीं—रासायनिक दृष्टि से ये दोनों एक ही पदार्थ हैं। दूध और माल्ट की शक्करें इस वर्ग के दो अन्य सुविख्यात उदाहरण हैं। इन शक्करों के अणु मे कार्बन के १२ परमाणुओं से पानी के ११ अणुओं के परमाणु सबद्ध रहते हैं; अर्थात् इनका अणु-सूत्र $C_{12}H_{22}O_{11}$ होता है। इस प्रकार ये शक्करें भी एक दूसरे की आइसोमर होती हैं। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण अर्थात् गन्ने या चुकंदर की शक्कर के अणु का चित्र-सूत्र पृष्ठ २६७२ पर दिया जा चुका है।

इस वर्ग की प्रत्येक शक्कर ग्लूकोज़ तथा एक अन्य मॉनोशर्कराइड की रासायनिक सधि से बनी समझी जा सकती है; कारण, उसका अणु कतिपय निश्चित अवस्थाओं मे पानी से संयुक्त होकर सदैव ग्लूकोज़ और एक कोई अन्य मॉनोशर्कराइड में खंडित होता है। उदाहरणार्थ, गन्ने की शक्कर के घोल को किसी हलकी ऐसिड—यथा हलकी हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड—को उसमें छोड़कर यदि उबाला जाय तो वह द्राक्ष और फल शर्कराओं के मिश्रण मे विच्छिन्न हो जायगी—

$$\underset{\text{ईक्षु-शर्करा}}{C_{12}H_{22}O_{11}} + \underset{\text{पानी}}{H_2O} \rightarrow \underset{\text{द्राक्ष-शर्करा}}{C_6H_{12}O_6} + \underset{\text{फल-शर्करा}}{C_6H_{12}O_6}$$

इसीलिए इस वर्ग की शक्करों का नाम 'डाइशर्कराइड' (अर्थात् दो मॉनोशर्कराइडों की सधि से बनी हुई शक्कर) पड़ा।

आधुनिक युग मे गन्ने की शक्कर देश विदेश के मनुष्यों के लिए एक अपरिहार्य खाद्यवस्तु हो गई है। दूध, चाय आदि पेयों की क़द्र इसके बग़ैर नहीं होती, शर्बतों और मिठाइयों की तो वह प्राण ही है। बिना शक्कर का रसगुल्ला!—ऐसा निरर्थक विचार किसी के मस्तिष्क में उपजा भी न होगा! ग्लूकोज़ से यह न केवल अधिक मीठी, बल्कि कहीं अधिक सस्ती भी होती है।

इस अद्भुत पदार्थ की मिठास पुरातन काल में केवल भारतीयों को ही प्राप्त हुई थी। उन्हीं ने पहले पहल गन्ने उगाए और उनके रस से शक्कर बनाई थी। उस समय योरप के निवासियों को शक्कर-सी मीठी केवल एक ही वस्तु उपलब्ध थी, अर्थात् शहद। सिकंदर के आक्रमण के बाद, अर्थात् ईसा से लगभग सवा तीन सौ वर्ष पहले, जब भारतीय शक्कर यूनान पहुँची तो वहाँ के चिकित्सकों ने उसे 'भारतीय लवण' कहकर पुकारा—मीठा नमक! कितना आश्चर्य !! भारतवर्ष की दो वस्तुओं पर वे विशेषत: अपना महान् आश्चर्य प्रकट करते थे। वे जब भारत के विषय मे अन्य योरपवालों को उपाख्यान सुनाते और कहते—"वहाँ तो ऐसे पौधे उगते हैं, जिनमें बिना भेड़ों के ऊन जमती है, और ऐसे सरकंडे होते हैं, जिनमें कि बग़ैर मधुमक्खियों के शहद एकत्र हो जाता है"—तो लोग दाँतों तले उँगली दबाते, उन्हें विश्वास ही नहीं होता! लेकिन जब यहाँ से 'पौधों के शहद' से निकाली हुई मिश्री और पौधों की ऊन से बनी हुई कालीकट की छींट वहाँ पहुँची, तो उन्हें विश्वास करना ही पड़ा। उस समय यह छींट योरप के राजा-रानी ही पहन सकते थे, और शक्कर केवल बीमारी के समय में ही पथ्य के रूप में उन्हें दी जाती थी! और ये दोनों भारतीय आश्चर्यजनक वस्तुएँ दो विभिन्न प्रकार की कार्बोहाइड्रेट ही थीं—रुई की बनी छींट तो थी सेलुलोज़ और शक्कर सुक्रोज़* ! योरप में तो अब मे

* गन्ने की शक्कर का रासायनिक नाम।

केवल २०० वर्ष पहले, अर्थात् सन् १७४७ में, मार्ग्राफ नामक एक रसायन-वैज्ञानिक ने चुकंदर से शक्कर निकाल सकने की सभावना का आविष्कार किया था। गन्ना और चुकंदर के अलावा यह शक्कर मॉनोशर्कराइडों के साथ-साथ अनेक फलों में भी रहती है।

दूध की शक्कर (लैक्टोज) सभी स्तनवाले प्राणियों के दूध में रहती है, वनस्पति-जगत् मे यह नहीं पाई जाती। मॉ के दूध में यह छ. से आठ प्रतिशत और गाय के दूध में चार प्रतिशत रहती है। इस शक्कर मे होम्योपैथिक और वायोकेमिक गोलियॉ बहुत बनाई जाती हैं। यह गन्ने की शक्कर से बहुत कम मीठी होती है।

माल्ट की शक्कर (माल्टोज) अनाजों—विशेषत जौ—के अकुरित होते हुए बीजों में रहती है, और अकुरित जौ तथा अन्य स्टार्ची पदार्थों से बनाई जाती है। दानों के रूप में यह बहुत कम निकाली जाती है, बल्कि 'माल्ट सिरप', 'माल्ट एक्स्ट्रैक्ट' आदि नामो से शर्बतों के रूप मे बाज़ार में बिकती है। गन्ने की शक्कर से यह लगभग एक-तिहाई मीठी होती है।

यदि हम गन्ने की शक्कर की मिठास को १०० मान लें तो विभिन्न शक्करों की मिठास की माप इस प्रकार होगी—

गन्ने की शक्कर	१००
अंगूरों की शक्कर	७४
फलों की शक्कर	१७३
दूध की शक्कर	१६
माल्ट की शक्कर	३२

यहाँ पर यह बता देना असगत न होगा कि 'शक्करिन' नाम का मीठा करनेवाला सफेद रासायनिक पदार्थ, वास्तव में, किसी भी प्रकार की शक्कर या कार्बोहाइड्रेट नहीं है, और न उसमें भोजन ही का कोई शक्तिजनक अथवा वृद्धिकारक गुण होता है। उसकी विचित्रता और उपयोगिता केवल इसी बात मे है कि वह गन्ने की शक्कर से ५५० गुना अधिक मीठा पदार्थ होता है, अर्थात् उपर्युक्त आधार पर उसकी मिठास की माप ५५,००० होगी। जितनी वस्तु को ६॥ सेर शक्कर मीठा करती है, उतनी ही के लिए केवल १ तोला शक्करिन पर्याप्त होगी। शक्करिन का अणु-सूत्र निम्न प्रकार से है —

$$C_6H_4 \lessgtr \begin{matrix} CO \\ SO_2 \end{matrix} \gtrless NH$$

इससे यह प्रकट है कि यह एक 'सुरभित' (यद्यपि गधहीन) यौगिक है (दे० पृ० २६७२), जिसमें बेन्ज़ीन कुण्डल के साथ कार्बन, गधक, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के परमाणु उपर्युक्त सूत्र के अनुसार सबद्ध रहते हैं। प्रमेह के रोगी, जिनके लिए शक्कर हानिकारक होती है, शक्करिन प्रयुक्त करते हैं, और बहुधा सस्ते शर्बतों को बनाने के लिए भी इसका व्यवहार होता है, यद्यपि ऐसा शर्बत वास्तव मे कोरा मीठा पानी ही होता है—उसमें शक्तिप्रदायिनी कोई भी वस्तु नहीं रहती। शक्करिन कोलतार से स्रवण द्वारा निकाले जानेवाले 'टाल्वीन' नामक पदार्थ से रासायनिक विधियों द्वारा बनाया जाता है। अमेरिकन रसायनशास्त्री द्रा रेम्सेन ने १८७९ ई० मे इसका आविष्कार अकस्मात् किया था। प्रयोगशाला मे काम करने के पश्चात् जब वह अपने शिष्यो के साथ चाय पीने बैठा तो उसे वह बहुत ही अधिक मीठी लगी। कारण खोजने पर एक अत्यंत मीठा नया पदार्थ उसकी अँगुलियों में लगा हुआ पाया गया, जो शक्करिन कहलाया। शक्करिन स्वय पानी मे कम घुलती है, अतएव उसका सोडियम लवण, जो अधिक घुलनशील होता है, काम मे लाया जाता है। इस लवण का अणु सूत्र निम्न प्रकार से है.—

$$C_6H_4 \lessgtr \begin{matrix} CO \\ SO_2 \end{matrix} \gtrless N\,Na$$

पॉलीशर्कराइडें

स्टार्च और सेलुलोज़ इस वर्ग के कार्बोहाइड्रेटों के प्रमुख उदाहरण हैं। स्टार्च हरे पौधों, विशेषत कदों, मूलों और बीजों में रहता है। चावल मे स्टार्च ७५ से ८० प्रतिशत तक, मक्का मे ६५ से ७० प्रतिशत तक, गेहूँ में ६० से ६५ प्रतिशत तक, और आलू मे १५ से २० प्रतिशत तक रहता है। सागो वृक्ष के गूदे मे, जिससे साबूदाना बनता है, और अरारूट मे भी मुख्यत स्टार्च ही रहता है। सेलुलोज़ वनस्पति-जगत् का सबसे प्रचुर और व्यापक पदार्थ है। पौधों के कोष्ठों की दीवालें इसी की बनी होती हैं, अथवा यों कहिए कि पौधों का पजर सेलुलोज़ का ही होता है। अग्रेजी मे कोष्ठ को 'सेल' कहते हैं, इसका नाम सेलुलोज़ इसीलिए पड़ा। रुई सबसे शुद्ध प्राकृतिक सेलुलोज़ होती है। शुद्ध की हुई रुई मे ९९.६ प्रतिशत सेलुलोज़ रहता है। इसे प्राय सर्वथा शुद्ध सेलुलोज ही समझिए। इसके अलावा लकड़ी, जूट, सन, भुस, अनेक घासें, आदि वस्तुएँ सेलुलोज़ के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रभव हैं।

स्टार्च और सेलुलोज, अर्थात् पॉलीशर्कराइडें, कुछ निश्चित अवस्थाओं मे पानी से सम्बद्ध होकर, कभी तो सीधे मॉनोशर्कराइडों (ग्लूकोज़, आदि) मे, और कभी

[आलू]

[चावल]

[गेहूँ]
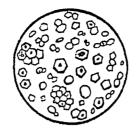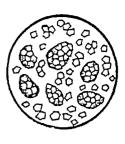
[मक्का]

विभिन्न प्रभवों में स्टार्च की कणिकाओं का स्वरूप

प्रस्तुत चित्र में आलू, चावल, गेहूँ और मक्का के स्टार्चों की कणिकाओं की आकृतियाँ दिग्दर्शित की गई हैं, जैसी कि सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखने पर वे दिखाई देती हैं।

पहले डाइशर्कराइडों और फिर मॉनोशर्कराइडों मे खंडित हो जाते हैं। वास्तव मे, उनके अणु मॉनोशर्कराइडों के अनेक अणुओं की संधि से बने होते हैं। इसीलिए तो वे पॉलीशर्कराइड कहलाए (पॉली = अनेक)। स्टार्च और सेलुलोज़ दोनों ही कई प्रकार के होते हैं, किन्तु इनमें से किसी की भी अणु-रचना अथवा उनका अणु-भार निश्चित रूप से ज्ञात नहीं किया जा सका है। तथापि इनमें विभिन्न तत्त्वों के भारात्मक अनुपातों को निर्धारित करके यह सिद्ध किया जा सका है कि इनका सामान्य अणु सूत्र $(C_6H_{10}O_5)\,n.\,H_2O$ होता है, जिसमें n का मान १२ से लेकर लगभग २०० तक हो सकता है। अतएव, यह स्पष्ट है कि पॉलीशर्कराइडों के एक अणु में कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणुओं की संख्या सैकड़ों से लेकर हज़ारों तक पहुँच सकती है। किसी पॉली शर्कराइड के विषम अणु का चित्र-सूत्र यदि वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा निर्धारित कर लिया जाय तो उसे पूर्णत किसी पुस्तक के पृष्ठ पर छोटे अक्षरों मे भी छापना असंभव होगा। किंतु इतना बड़ा अणु भी अभी तक प्रबल से प्रबल सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा न जा सका है! फिर परमाणुओं और परमाणुओं की भी रचना करनेवाले विद्युत्-कणों के लघुत्व के संबंध में कहना ही क्या! सृष्टि मे महत्व और लघुत्व दोनों की ही कोई सीमा नहीं!

स्टार्च अपने विभिन्न प्रभवों में भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की कणिकाओं मे एकत्र पाया जाता है। आलू, चावल, गेहूँ और मक्का के स्टार्चों को सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखने से उनकी कणिकाएँ जिन आकृतियों की दिखाई देती हैं, वे इसी पृष्ठ के चित्र में प्रदर्शित हैं। जब स्टार्च पानी के साथ गर्म किया जाता है तो उसकी कणिकाओं की दीवालें फूलकर फूट जाती हैं और उनके भीतर रहनेवाला स्टार्च घुल जाता है, किन्तु जिस स्टार्च से कणिकाओं की दीवालें बनी होती है, वह घुलता नहीं। परन्तु पानी के साथ कलायडल* मिश्रण के रूप मे परिणत हो जाता है।

विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त होनेवाले सेलुलोजों की रचना भी सूक्ष्मदर्शक यंत्र में भिन्न भिन्न दिखाई देती है, तथापि सभी प्रकार के सेलुलोज सफेद खोखले रेशों के रूप मे रहते हैं, जो वास्तव में मूल वनस्पति कोष्ठों के अवशेष होते हैं। यदि आप इस काग़ज को सूक्ष्मदर्शक के नीचे रखकर देखें, तो आपको सफेद महीन रेशों का एक उलझा हुआ जाल-सा दृष्टिगोचर होगा। सेलुलोज़मय पदार्थों से काग़ज, कपड़ा, डोरे, डोरियाँ, रस्से, आदि वस्तुएँ इसी लिए बनाई जाती हैं कि उनके रेशे सरलता और दृढ़ता से परस्पर उलझकर सूत्र रूप में हो जाते हैं। सेलुलोज पानी में नहीं घुलता और न गर्म करने पर पिघलता ही है।

सूर्य-शक्ति का संचय

हम यह कह चुके हैं कि प्राणियों का शरीर-ताप और उनकी क्रियाशीलता अधिकतर कार्बोहाइड्रेटों से उपलभ्य शक्ति पर ही अवलम्बित है। लकड़ी (सेलुलोज) और उसके कोयले से प्राप्य ताप को हम नित्य नाना प्रकार से प्रयुक्त किया करते हैं, और पुरातन जंगलों की लकड़ी से ही बने हुए पत्थर के कोयले से इञ्जिनों को चलाते और

* कुछ पदार्थ पानी मे घुलते नहीं, परन्तु उसमे इस प्रकार एक समान फैल जाते हैं कि न तो उनके कण नीचे ही बैठते हैं और न वे साधारण छन्नों से छानकर अलग किए जा सकते हे। ऐसे पदार्थों को 'कलायड' कहते हैं और द्रवों के साथ उनके इस प्रकार के मिश्रण को 'कलायडल' घोल अथवा मिश्रण कहते हैं। दूध, रक्त, आदि तरल पदार्थ इसके कुछ सर्वज्ञात उदाहरण हैं।

बिजली को पैदा करते हैं। कार्बोहाइड्रेटों में संचित यह शक्ति आई कहाँ से? आप जानते हैं कि सूर्य की रश्मियों के बिना पौधे बढ़ते नहीं। पत्तियों के हरे पदार्थ, क्लोरोफिल, के अणु-सूत्र द्वारा उनमें यह परिवर्त्तन होता है—

हवा से शोषित कार्बन डाइऑक्साइड   **जड़ द्वारा शोषित पानी**   **सूर्य-रश्मियों से ली हुई**

$$CO_2 + H_2O + \text{सौर शक्ति} = HCHO + O_2$$

फार्मैल्डिहाइड   **हवा में लौट जानेवाली ऑक्सीजन**

आपको ज्ञात है कि कार्बन से कार्बन डाइऑक्साइड के बनने में शक्ति उत्पन्न होती है, अतएव कार्बन डाइऑक्साइड से ऑक्सीजन के निकलने में शक्ति शोषित होगी ही। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोयले में समाविष्ट यह अतिरिक्त रासायनिक शक्ति सूर्य से ही प्राप्त हुआ करती है।

यह क्रिया यहीं तक नहीं रुकती। फार्मैल्डिहाइड, क्लोरोफिल की उपस्थिति में, अपने छ-छ अणुओं के संयोजन द्वारा मॉनोशर्कराइडों में बदल जाता है—

$$6\,HCHO = C_6H_{12}O_6$$

फिर मॉनोशर्कराइडों के दो-दो अणुओं से डाइशर्कराइडें—

$$2C_6H_{12}O_6 = C_{12}H_{22}O_{11} + H_2O$$

और उनके अनेकों अणुओं से पॉलीशर्कराइडें, अर्थात् स्टार्च, सेलुलोज़ आदि पदार्थ बनते हैं—

$$n\,C_6H_{12}O_6 \rightarrow (C_6H_{10}O_5)\,n.\,H_2O + (n\text{-}1)\,H_2O$$

पौधों की प्राकृतिक रासायनिक व्यवस्था में सौर शक्ति के समावेश से ये परिवर्त्तन स्वतः होते चले जाते हैं। यदि मनुष्य कृत्रिम उपायों द्वारा ये परिवर्त्तन सरलता से कर सका होता, तो धरती पर आज अन्न-मिष्ठान्न की कमी ही न रहती, मनुष्य खेती पर इतना निर्भर ही न रहता।

और जब ये कार्बोहाइड्रेट प्राणि कलेवरों, भट्टियों, आदि में जलते हैं, तो वे उन्हीं मूल पदार्थों—कार्बन डाइऑक्साइड और पानी—में फिर परिणत हो जाते हैं, और सूर्य की वही शक्ति ताप, प्रकाश, आदि शक्तियों के रूप में मुक्त हो जाती है। वास्तव में कार्बन डाइऑक्साइड चक्र (दे० पृ० २७५०-५१) सूर्य की शक्ति को शोषित और मुक्त करने का भी चक्र है। धरती पर जीवन का तथा मनुष्य द्वारा संचालित इंजिनों और मशीनों का कोलाहल सब सूर्य की शक्ति ही के द्वारा तो संभव हो रहा है। फिर हम यदि भास्कर को भगवान् कहें तो क्या आश्चर्य!

विभिन्न शर्कराइडों की तैयारी

अंगूरी शक्कर अथवा **ग्लूकोज़**, जो हमें बाजार में 'ग्लूकोज डी', 'डेक्स्ट्रासाल' आदि के नामों से चूर्ण अथवा टिकियों के रूप में मिलती है, अंगूरों अथवा फलों से नहीं, बल्कि स्टार्चमय पदार्थों अर्थात् चावल, मक्का और आलू से बनाई जाती है। बनाने से बिगाड़ना कहीं अधिक सरल होता है। वैज्ञानिक के लिए पानी और कार्बन डाइऑक्साइड से द्राक्षशर्करा आदि मॉनोशर्कराइडों अथवा मॉनोशर्कराइडों से स्टार्च, सेलुलोज़ आदि पॉलीशर्कराइडों का निर्माण कर लेना अभी तक संभव नहीं हो सका, किंतु पॉलीशर्कराइडों को डाइ तथा मॉनोशर्कराइडों में अथवा डाइशर्कराइडों को मॉनोशर्कराइडों में खंडित कर लेना और सभी कार्बोहाइड्रेटों को जलाकर कार्बन डाइऑक्साइड और पानी में तोड़ देना कदापि कठिन नहीं। ग्लूकोज प्रायः स्टार्च को जल के साथ विश्लिष्ट करके बना ली जाती है। इस प्रकार के विश्लेषण को जल-विश्लेषण (अंग्रेजी में हाइड्रॉलिसिस) कहते हैं, कारण यह क्रिया जल के अणु-भागों के संयोग से सम्पन्न होती है—

स्टार्च   **पानी**   **ग्लूकोज़**

$$(C_6H_{10}O_5)\,n + n\,H_2O = n\,C_6H_{12}O_6$$

यह जल-विश्लेषण थोड़ी-सी सल्फ्यूरिक ऐसिड अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड की उपस्थिति में, अर्थात् अम्लों के उत्प्रेरक प्रभाव में, सरलता से हो जाती है। अतएव स्टार्च और जल के मिश्रण में इन ऐसिडों का छोड़ा जाना आवश्यक होता है। पिसे हुए स्टार्ची पदार्थ में पहले तिगुना पानी और ½ प्रतिशत सल्फ्यूरिक अथवा हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड का हलका घोल मिला लिया जाता है। इस मिश्रण को ४ से ५ वायुमंडलों तक के दबाव में गर्म करते हैं, जिससे लगभग डेढ़ घंटे में स्टार्च पूर्णतः ग्लूकोज़ में परिणत हो जाता है। इस प्रकार प्राप्त ग्लूकोज के घोल के अम्लीय अंश को पहले आवश्यक परिमाण में सोडा छोड़कर निराकृत कर लेते हैं, फिर उसे छानकर हड्डी के कोयले में से होकर प्रवाहित किया जाता है, जिससे वह बिल्कुल निर्मल और रंगहीन हो जाता है। उस घोल को वैकुअम पैनों में इतना वाष्पीभूत करते हैं कि वह गाढ़ा शर्बत-सा हो जाता है। ठंडा करने पर यह द्रव मणिभ

ठोस में जम जाता है। यह देखने के लिए कि स्टार्च पूर्णत ग्लूकोज़ मे बदल गया है कि नहीं, थोड़ा-सा घोल परीक्षा-नली में लेकर उसमें आयडिन के घोल का एक बूँद छोड़ दिया जाता है। यदि मिश्रण नीला हो जाता है तो स्टार्च की उपस्थिति का, और यदि नहीं होता तो ग्लूकोज में परिवर्त्तन की समाप्ति का बोध होता है। स्टार्च के ठडे घोल को आयडिन सदैव नीला कर देती है। यह रंग गर्म करने पर उड जाता है और ठंढा करने पर फिर प्रकट हो जाता है। स्टार्च अथवा आयडिन की उपस्थिति को पहचानने के लिए यह एक बड़ी ही सूक्ष्म परीक्षा है। यदि आप चाहें तो टिंक्चर आयडिन, मैदा और पानी लेकर यह परीक्षा स्वय कर सकते हैं।

अनेक देशों मे ग्लूकोज़ का निर्माण एक बहुत बड़ा धधा है। सन् १६३५ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने ३५ करोड़ पौण्ड से अधिक ग्लूकोज़ और ७८ करोड़ पौंड से अधिक ग्लूकोज़ का शर्बत तैयार किया था। भारतवर्ष में ग्लूकोज़ नहीं के बराबर बनाया जाता है और उसके लिए वह विदेशों का मुँह ताकता है!

फल-शर्करा अथवा **फ्रुक्टोज़** गन्ने की शक्कर से भी अधिक मीठी होती है। प्रमेह के रोगी उसे गन्ने की शक्कर के स्थान पर प्रयुक्त करते हैं। यह शक्कर ऊपर दी हुई विधि से 'इनुलिन' नामक स्टार्च के जल-विश्लेषण से बनाई जाती है। यह स्टार्च दालिया और जेरुसलम आर्टिचोक नामक पौधों के कदों में रहता है और अम्लों की उपस्थिति मे जल-विश्लेषण द्वारा केवल फल-शर्करा मे ही विच्छिन्न होता है।

यदि हलके अम्लों की उपस्थिति मे गन्ने की शक्कर का घोल गर्म किया जाय तो उसका अणु जल-विश्लेषण द्वारा द्राक्ष और फल-शर्कराओं के एक-एक अणु मे वियुक्त होता है। इस प्रकार साधारण शक्कर से इन दो मॉनोशर्कराइडों का मिश्रण तैयार हो सकता है।

गन्ने की शक्कर का निर्माण आजकल संसार के सबसे बड़े उद्योगो में से एक है। भारतवर्ष से गन्ने की खेती अनेक उष्ण देशों में फैली और वहाँ पाश्चात्य वैज्ञानिक विधियों से उससे शुद्ध सफेद शक्कर बनाई जाने लगी। सन् १६३२ के पहले हमारे देश भर मे केवल ३२ शक्कर की मिलें थीं, और प्राय सभी शक्कर जावा से आया करती थी। इसका कारण यह था कि जावा मे शक्कर की तैयारी की लागत यहाँ की लागत से आधे से भी कम थी। न यहाँ गन्ना ही अच्छा होता, न उसकी उपज ही अच्छी होती और न शीरे का उपयोग ही अल्कोहल बनाने मे किया जाता। बहुत-सी मिलें तो शीरे को नालियों के रास्ते बहा देती थीं। भारतीय गन्ने से अब भी केवल लगभग १२ प्रतिशत शक्कर होती है जब कि जावा मे यह प्रतिशताक १६ तक पहुँचा हुआ है। सन् १६१८-१६ मे भारतवर्ष ने लगभग १४ करोड़ रुपयों की शक्कर बाहर से मँगाई थी। भारत सरकार ने जब अपने शक्कर के उद्योग की रक्षा करने के लिए बाहरी शक्कर पर चुगी बढा दी तो यहाँ की मिलों की सख्या बढकर १६३७-३८ ई० मे १५८ हो गई। यद्यपि इस वर्ष लगभग ६,३०,००० टन शक्कर बनी, तथापि भारत की आवश्यकता की पूर्त्ति न हो सकी—इसी वर्ष यहाँ ११,५६,००० टन शक्कर की खपत हुई थी। आज भी मिलों की शक्कर से हमारा पूरा नही पड़ रहा है, और यह तब जब कि हम लोग अन्य अनेक सभ्य देशों की अपेक्षा कम शक्कर ख़र्च करते हैं। सन् १६३८-३६ मे जहाँ आस्ट्रेलिया मे प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति ११३ पौण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका मे १०३ पौण्ड और योरप मे ३७ पौण्ड शुद्ध सफेद शक्कर की खपत थी, वहाँ भारत के निवासी को सालभर में प्रति व्यक्ति केवल ६ पौण्ड से भी कम शक्कर प्राप्त हुई थी।

आधुनिक शक्कर की मिलों मे पहले मशीनों द्वारा गन्ने को कतर, कुचल और पेलकर उससे प्राय सारा रस निकाल लिया जाता है। इस रस मे शक्कर (लगभग १५ प्रतिशत) और पानी के अलावा 'कलायड' रूप मे प्रोटीन, पेक्टिन नामक कार्बोहाइड्रेट, रजक पदार्थ तथा खनिज लवण रहते हैं। यदि वह कुछ समय के लिए रक्खा रहने दिया जाय तो पेक्टिक पदार्थ मडीकरण द्वारा पेक्टिक अम्लों मे बदल जाते हैं और अम्लो की उपस्थिति मे गन्ने की शक्कर द्राक्ष और फल-शर्कराओ मे विपर्यस्त हो जाती है, जो सरलता से दानों के रूप मे पृथक् नहीं होती और शीरे मे ही बनी रहती है। अतएव ताजा रस तुरत ही शोधन-टैंकों मे ले जाकर भाप की नलियों द्वारा गर्म किया जाता है और उसमें २ से ३ प्रतिशत तक चूना छोड दिया जाता है। इससे प्रोटीन फटकर नीचे बैठ जाते हैं और पेक्टिक पदार्थ चूने से सयुक्त होकर कैल्शियम पेक्टेट नामक अघुलनशील लवणो मे बदल जाते हैं, जो ऊपर उतराकर एकत्र हो जाते हैं।

इसके पश्चात् रस मे सल्फर डाइऑक्साइड गैस प्रवाहित की जाती है। इससे दो लाभ होते हैं—एक तो बाकी बचा हुआ चूना उससे सयुक्त होकर कैल्शियम
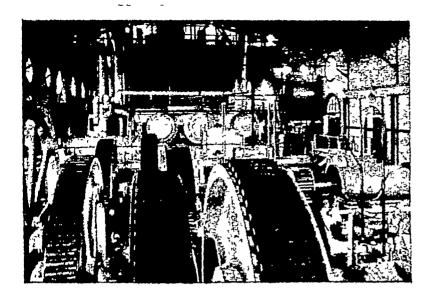
आधुनिक शक्कर की मिलों में सबसे पहले गन्ने को कतर, कुचल और पेलकर उससे रस निकालने की क्रिया होती है। यह क्रिया कोल्हूनुमा मशीनों के द्वारा संपन्न की जाती है। प्रस्तुत चित्र में इसी कार्य को बनानेवाले यंत्रों का दृश्य अंकित है।

कोल्हू से निकलने के बाद ताज़े रस को तुरन्त ही बड़े-बड़े शोधन-टैंकों में ले जाकर भाप की नलियों द्वारा गर्म किया जाता है। इसके पश्चात् रस में सल्फ़र डाइऑक्साइड प्रवाहित की जाती है। इस तरह साफ़ हो जाने पर वह रस छाना जाता है और एक हौज़ में इकट्ठा कर लिया जाता है। तब वहाँ से वैकुअम-पनों (वायुशून्य पात्रों) की एक श्रेणी में एक से दूसरे में वह प्रवाहित किया जाता है, जिसके फलस्वरूप वह एक गाढ़े शर्बत के रूप में परिणत हो जाता है।
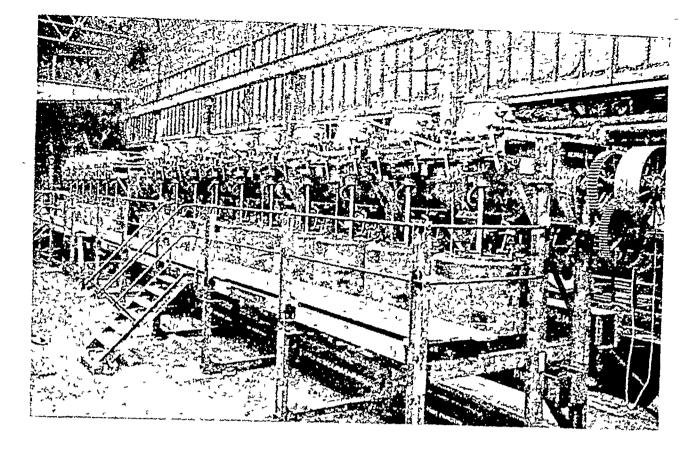
वैकुअम-पैनों (वायुशून्य पात्रो) की श्रेणी में से निकला हुआ गाढ़ा रस अब एक प्रकार की केन्द्रापसारी (सेन्ट्रीफ़्यूगल) मशीनों में से प्रवाहित किया जाता है, जिनका कि दृश्य प्रस्तुत चित्र में अंकित है। इन मशीनों के पात्र तेज़ी से अपनी धुरी पर घूमते हैं और इस घुमाव की शक्ति द्वारा रस में से शक्कर के दाने निकलकर पात्रों के भीतरी पृष्ठ पर मोटी तह के रूप में जम जाते हैं एवं रस का बचा हुआ भाग शीरे के रूप में बाहर निकल जाता है।

सल्फाइट नामक अघुलनशील लवण में बदलकर पृथक् हो जाता है; दूसरे सल्फर डाइऑक्साइड रंगविनाशक होने के कारण उसके मैले रंग को साफ कर देता है। इस साफ रस को छानकर एक हौज में इकट्ठा कर लिया जाता है।

वहाँ से यह रस वैकुअम पैनों (वायुशून्य पात्रों) की एक श्रेणी में एक से दूसरे में प्रवाहित होता है (दे० चित्र)। इन पात्रों में रस भाप की नलियों द्वारा गर्म किया जाता है। पहले पात्र की नलियों में ब्वॉयलर की और अन्य पात्रों में उनके पहलेवाले पात्रों से आती हुई भाप प्रवाहित होती है। के बल द्वारा रस में से शक्कर के दाने निकलकर पात्रों के भीतरी पृष्ठ पर मोटी तह में जम जाते हैं और शीरा बाहर निकल जाता है।

गन्ने से शक्कर के दानों के अलावा दो अन्य वस्तुएँ भी उपफल के रूप में प्राप्त होती हैं—(१) गन्ने का रेशेदार खोजट, जिसे 'बगास' कहते हैं, और (२) शीरा। बगास में अधिकतर सेलुलोज रहता है। भारतवर्ष में वह ब्वॉयलरों में ईंधन की भाँति जला डाला जाता है, लेकिन संयुक्त राज्य (अमेरिका) में उससे गृह-निर्माण में काम में आनेवाला बोर्ड 'सीलोटेक्स' बनाया जाता है। शीरा एक
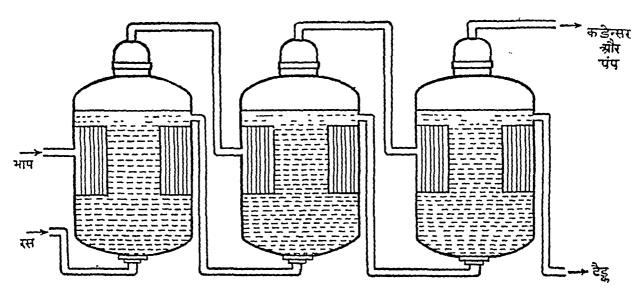
गन्ने का रस स्वच्छ हो जाने के बाद वैकुअम-पैनों या वायुरहित शून्य पात्रों की इस श्रेणी में से प्रवाहित किया जाता है।

इन पैनों में रस भाप की नलियों द्वारा गर्म किया जाता है। प्रथम पात्र की नलियों में ब्वॉयलर की और अन्य पात्रों में उनके पहलेवाले पात्रों से आती हुई भाप प्रवाहित होती है। अंतिम पात्र से एक शीतक (कंडेन्सर) और एक शून्यकारी पम्प जुड़े रहते हैं। दबाव के कम हो जाने से इन पात्रों में रस नीचे तापक्रमों पर ही उबलकर भाप छोड़ने लगता है। यह भाप शीतक में पानी के रूप में एकत्र होती रहती है और अंतिम पात्र से रस गाढ़े शर्बत के रूप में निकलने लगता है।

अंतिम पात्र से एक शीतक (कंडेन्सर) और एक शून्यकारी पंप जुड़े रहते हैं। दबाव के कम हो जाने से वैकुअम पात्रों में रस नीचे तापक्रमों पर ही उबलकर भाप छोड़ने लगता है। यह भाप शीतक में पानी के रूप में एकत्र होती रहती है और अंतिम पात्र से रस गाढ़े शर्बत के रूप में निकलने लगता है।

इस गाढ़े रस को अब केन्द्रापसारी (सेण्ट्रीफ्यूगल) मशीनों की एक श्रेणी में प्रवाहित करते हैं। इन मशीनों के पात्र सवेग अपनी धुरी पर घूमते हैं, और इस घुमाव बहुमूल्य पदार्थ है। इसमें लगभग ५० प्रतिशत शर्कराएँ रहती हैं, जिनसे शराब, स्पिरिट अथवा अल्कोहल बनाए जा सकते हैं। हमारे देश में थोड़ा-बहुत शीरा पीने की तम्बाकू के बनाने में काम आता है और कुछ से अल्कोहल भी बनता है, किंतु दुर्भाग्यवश अब भी बहुत-सी मिलों में अल्कोहल बनाने के कारखाने नहीं हैं और बहुत-सा शीरा बरबाद जाता है।

योरप में शक्कर चुकंदर से निकाली जाती है। ये चुकंदर तौल में आधा सेर से एक सेर तक होते हैं और

लगभग १५ प्रतिशत शक्कर रहती है। जिस समय योरप में चुकंदर से शक्कर निकालने की बात चली थी, उस समय उसमें केवल ६ प्रतिशत शक्कर पाई गई थी, परंतु कृषि-संबधी वैज्ञानिक विधियों द्वारा वहाँ चुकंदर मे शक्कर का प्रतिशतांक १८ प्रतिशत तक बढा लिया गया है।

चुकंदर से शक्कर का निर्माण करने के लिए वह पहले धोकर साफ कर लिया जाता है। फिर मशीनों द्वारा महीन टुकड़ों मे तराश कर ६०°C तक गर्म किए हुए पानी मे भिगो दिया जाता है। इस प्रकार शक्कर उन टुकड़ों से निकलकर पानी में आ जाती है। इस घोल से शक्कर उसी प्रकार निकाल ली जाती है, जैसे गन्ने के रस मे शक्कर को साफ और सफेद (विरंजित) करने के लिए हड्डी के कोयले का विशेषत: विदेशों मे बहुत व्यवहार होता है (दे० पृ० २६६७)। लोहे के एक वेलनाकार पात्र मे २० टन या इससे भी अधिक प्राणि-चारकोल भर दिया जाता है। इसमें से निकले हुए शक्कर के दाने बिलकुल सफेद होते हैं।

माल्ट-शर्करा अथवा माल्टोज़ के निर्माण के लिए अँखुएदार जौ का उपयोग होता है। जौ के अकुरित बीजों में 'डायस्टेस' नामक एक पदार्थ रहता है, जो ६०° C के तापक्रम पर शीघ्रता से जल-विश्लेषण द्वारा उसे माल्ट शर्करा में परिणत कर देता है—

$$2(C_6H_{10}O_5)n + n\,H_2O = n\ C_{12}H_{22}O_{11}$$

स्टार्च पानी माल्ट-शर्करा

भिगोया हुआ जौ अँधेरे कोठों के फर्श पर लगभग ५ इंच मोटी तह मे बिछा दिया जाता है और तापक्रम लगभग १५°C रक्खा जाता है; अर्थात् जौ लगभग उन्हीं दशाओं में रक्खा जाता है, जिनमें वह खेतों मे उगता है। कुछ ही दिनों में जौ मे अँखुए निकल आते हैं और उनमे डायस्टेस उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद जौ को केवल इतना गर्म किया जाता है कि अँखुओं की वृद्धि रुक जाय; अधिक गर्म करने से डायस्टेस के नष्ट हो जाने की सभावना रहती है। इस प्रकार के जौ को, जिसमें स्टार्च के अलावा डायस्टेस भी रहता है, 'माल्ट' कहते हैं। बहुधा इसे मोटा पीसकर उसमें गर्म पानी मिला दिया जाता है, जिससे स्टार्च माल्ट-शर्करा मे परिणत हो जाता है और माल्ट-शर्करा और डायस्टेस घुलकर पानी में निकल आते हैं। इस घोल को 'माल्ट-एक्स्ट्रैक्ट' कहते हैं।

अब कुचले हुए आलू अथवा चावल, मक्का या जौ के आटे और पानी के मिश्रण मे अति तप्त भाप प्रवाहित की जाती है, जिससे इनका स्टार्च पानी में मिलकर एक लसलसे द्रव के रूप में हो जाता है। इसमें कुछ पिसा हुआ माल्ट अथवा माल्ट-एक्स्ट्रैक्ट छोड़ देते हैं और तापक्रम ६०°C तक बढ़ा दिया जाता है, जिससे लगभग २० ही मिनट में सारा स्टार्च माल्टोज़ मे बदल जाता है। फिर इस द्रव को उबालकर डायस्टेस की क्रिया समाप्त कर दी जाती है। प्रोटीनयुक्त कलायडल पदार्थ, जो उबालने से फटकर पृथक् हो जाते हैं, छानकर दिए जाते हैं, और घोल को वाष्पीकरण द्वारा गाढ़ा कर लिया जाता है। इस गाढे शर्बत से या तो माल्ट-शर्करा के दाने निकाल लिये जाते हैं, अथवा वह स्वयं बाज़ार मे 'माल्ट-सिरप', 'माल्ट-एक्स्ट्रैक्ट' आदि नामों से बेचा जाता हैं।

दुग्ध-शर्करा अथवा **लैक्टोज़** बड़े परिमाण मे गाय के दूध से बनाई जाती है। क्रीम (मलाई) निकाले हुए दूध को फाड़कर पहले उससे उसकी सफेदी अलग कर ली जाती है, फिर बचे हुए तोड को वैकुअम पैनों मे गाढ़ा करके उससे शक्कर सामान्य विधि से मणिभित कर ली जाती है। दूध की सफेदी से पनीर, नम्य पदार्थ, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ निर्मित की जाती हैं।

स्टार्च का निर्माण सयुक्त राज्य (अमेरिका), जर्मनी, इङ्गलैण्ड, जापान आदि उद्योगी देशों में एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है। सन् १९३५ ई० मे केवल संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने ही लगभग ३,४०,००० टन स्टार्च मक्का से निकाला था। जर्मनी मे स्टार्च आलू से, इङ्गलैंड में गेहूँ और चावल से, और जापान में चावल से निकाला जाता है। यह स्टार्च कपड़ों पर कलफ देने और मिल के कपड़ों में मॉड देने के लिए बहुत बड़े परिमाणों मे उपयुक्त होता है। उससे ग्लाय (अर्थात् अग्रेजी लेई) भी बनाई जाती है, जो स्टाम्पों और लेबिलों के पीछे तथा लिफाफों में लगाने और कागजों के चपकाने के काम आता है। इसे बनाने के लिए स्टार्च को साइट्रिक ऐसिड (नींबू का तेजाब) के १ प्रतिशत घोल के साथ कम दबाव की भाप द्वारा गर्म करते हैं, जिससे स्टार्च का कुछ अंश 'डेक्स्ट्रिन' नामक एक अन्य पॉलीशर्कराइड मे बदल जाता है। पानी के साथ यह एक लसलसे कलायडल मिश्रण मे परिणत हो हो जाता है, जिसमे चपकाने का अद्भुत गुण होता है। ग्लाय में स्टार्च और डेक्स्ट्रिन के अलावा थोडा सा मैग्नीशियम क्लोराइड भी मिला रहता है। साधारण लेई मैदा और पानी के मिश्रण को उबालकर बनाई जाती है। उबालने से स्टार्च का कुछ अंश डेक्स्ट्रिन मे बदल जाता
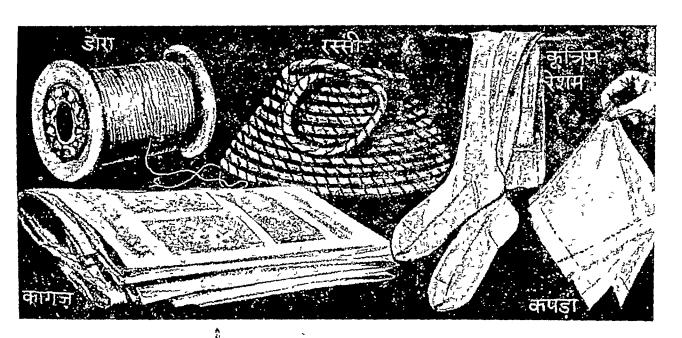
इस चित्र में दिग्दर्शित कागज़, कपड़ा, डोरा, रस्सी, कृत्रिम रेशम, सभी सेलुलोज़ द्वारा निर्मित हैं।

है। इसमें बहुधा थोड़ा-सा तूतिया भी मिला दिया जाता है, जिसकी उपस्थिति से वह सड़ती नहीं।

भारतवर्ष मे प्रतिवर्ष विदेशों से लगभग ३३ लाख रुपए का स्टार्च खरीदा जाता है, जिसकी खपत कपड़े की मिलों में हुआ करती है। भारत-सरीखे कृषिप्रधान देश में स्टार्च तक का न बनाया जाना दुर्भाग्य की बात है। स्टार्च आलू अथवा अनाजों से यात्रिक विधियों द्वारा निकाला जाता है। आलू को पहले धोकर साफ कर लेते हैं, फिर मशीन द्वारा वह भरता कर लिया जाता है। इस भरते को पानी में मिलाकर तार की महीन जाली द्वारा छान लेते हैं, जिससे स्टार्च के कण पानी के साथ नीचे आ जाते हैं। इस दूधिया रंग के मिश्रण को कुछ समय के लिए रक्खा रहने देने से स्टार्च नीचे बैठ जाता है और सेलुलोज आदि के रेशे ऊपर आ जाते हैं, जहाँ से वे अलग कर दिए जाते हैं। इस क्रिया को दोहराने से स्टार्च और भी शुद्ध हो जाता है। अन्त में इसे छानकर सुखा लिया जाता है। चावल से स्टार्च निकालने के लिए उसे पीसकर बहुत ही हलके कास्टिक सोडा के घोल के साथ मिलाया जाता है, जिसमें उसका प्रोटीन, जिसे ग्लुटेन कहते हैं, धुल जाता है और स्टार्च नीचे बैठ जाता है।

गेहूँ का ग्लुटेन एक नम्य पदार्थ होता है। यदि आप मलमल की एक पोटली में थोड़ा-सा गेहूँ का आटा लेकर उसे पानी में मींजें तो स्टार्च पानी में आ जायगा और चोकर मिला हुआ ग्लुटेन पोटली मे रह जायगा। गेहूँ के आटे से स्टार्च निकालने के लिए वह पहले गूँध डाला जाता है; फिर तार की महीन जाली पर उसे फैलाकर उस पर बेलन फेरते हुए पानी का छिड़काव किया जाता है। इससे स्टार्च पानी के साथ छनकर दूधिया रंग के द्रव के रूप में नीचे आ जाता है और ग्लुटेन ऊपर रह जाता है। यह संयुक्त राज्य (अमेरिका) में मवेशियों को खिलाने और कुछ विशेष प्रकार की रोटियों के बनाने मे प्रयुक्त होता है। मक्का मे स्टार्च और प्रोटीन के अलावा तेल भी रहता है, अतएव स्टार्च निकालने के पहले उससे इन दोनों को ही अलग कर देना आवश्यक होता है। मक्का के दाने, दलने के पहले, तीन दिन तक सल्फर डाइऑक्साइड के एक प्रतिशत घोल में भिगोये जाते हैं। कारण, ऐसा करने से दली हुई मक्का को पानी से मिलाने पर उसके तेलयुक्त अंकुर उतरा आते हैं और स्टार्च नीचे बैठ जाता है। सन् १६३५ में संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने मक्का से स्टार्च के अतिरिक्त १२,७०,००० पौण्ड तेल निकाला था। स्टार्च के महान् प्रभव जौ, आलू और चावल न केवल खाद्य पदार्थ ही हैं, बल्कि बड़े परिमाणों में शराब बनाने में भी प्रयुक्त होते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, रुई शुद्धतम प्राकृतिक सेलुलोज होती है। उससे सर्वथा शुद्ध सेलुलोज़ निकालने के लिए उसे पहले अल्कोहल-बेन्जीन मिश्रण में भिगो दिया जाता है, जिसमें उसके तेल और रालयुक्त पदार्थ धुलकर पृथक् हो जाते हैं। फिर उसे पेक्टिन पदार्थ से मुक्त करने

के लिए कॉस्टिक सोडा के १ प्रतिशत घोल में उबाल लिया जाता है। इसके बाद वह क्रमश. हलके ऐसेटिक ऐसिड और हाइड्रोफ्लुओरिक ऐसिड से धो डाली जाती है, जिनमें उसके खनिज अपद्रव्य और सिलिका घुलकर पृथक् हो जाते हैं। उस रुई को अब पानी से धोकर सुखा लेने से वह शत प्रतिशत शुद्ध सेलुलोज़ हो जाती है।

लकड़ी, जूट, घास, आदि में सेलुलोज़ 'लिग्निन' नामक एक विषम चिपचिपे पदार्थ से रासायनिक ढंग से सयुक्त रहता है। इस यौगिक को 'लिग्नोसेलुलोज़' कहते हैं। लिग्निन का कार्य सेलुलोज़ के रेशों को परस्पर मज़बूती से जोड़े रहना होता है। समाचारपत्रों तथा अन्य घटिया मेल के कागज़ इसी लिग्नोसेलुलोज़ के बने होते हैं। यह कागज देवदारु, चीड, आदि मुलायम लकड़ियों के भरते से बनाया जाता है, जो इन लकड़ियों को पानी की उपस्थिति मे पीसकर तैयार कर लिया जाता है। यह सर्वथा सफ़ेद नहीं होता, क्योंकि लिग्नोसेलुलोज़ को विरजित करना कठिन होता है। इसके अलावा वह कुछ ही समय मे हवा और प्रकाश की उपस्थिति में पीला पड़कर भंगुर हो जाता है।

पुस्तकों तथा अन्य कार्यों के निमित्त अच्छे कागज़ को बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि लिग्नो-सेलुलोज़ से शुद्ध सेलुलोज़ निकाल लिया जाय। अतएव लकड़ी के भरते, एस्पार्टो घास, बाँस, आदि से लिग्निन अलग कर देने के लिए इनको कॉस्टिक सोडा के हलके घोल के साथ ६ से ८ वायुमंडलों के दबाव में कई घंटे तक उबालते रहते हैं, जिससे लिग्निन पृथक् होकर घुल जाता है और सेलुलोज भरते के रूप मे रह जाता है। बहुधा, कॉस्टिक सोडा के स्थान पर कैल्शियम बाइसल्फाइट भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार सेलुलोज़ को निकालकर पहले उसे, ब्लीचिंग पाउडर अथवा सोडियम हाइपोक्लोराइट से विरजित कर लेते हैं और फिर धोकर कागज़ बनाने के काम मे लाते हैं।

सेलुलोज़ के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान कर लेना भी कठिन है। हम सेलुलोज़ के ही फर्निचर पर बैठते-उठते, सेलुलोज़ के ही बिछौनों मे सोते, और सेलुलोज के ही कपडे पहनते हैं! मनुष्य का सारा ज्ञान-भाण्डार सेलु-लोज़ पर ही मुद्रित है—हम सेलुलोज़ पर ही पढ़ते और सेलुलोज पर ही लिखते हैं! हमारी पेन्सिल का अधिकतर भाग सेलुलोज ही है। हमारे फाउण्टेनपेन की बॉडी सेलु-लोज़ से ही निर्मित नम्य पदार्थों की बनी हुई है। हमारी छड़ी सेलुलोज़ की है, और बन्दूक की कारतूसों मे न केवल गत्ता ही सेलुलोज़ का है बल्कि उसके भीतर रहनेवाले विस्फोटक कार्डाइट में भी सेलुलोज़ 'गनकाटन' के रूप मे नाइट्रो-ग्लिसरीन के साथ मिला हुआ है। हम सेलुलोज़ से बनी कृत्रिम रेशम पहनते, उसी से बनी हुई फिल्मों पर फोटो खींचते, और उसी से बने हुए सेलुलायड के विभिन्न सामान—कंघे, खिलौने, डब्बे, आदि—नित्यप्रति काम में लाते रहते हैं। वास्तव मे, हवा और पानी के पश्चात् हमारे सपर्क में जो वस्तु सबसे अधिक रहती है वह सेलुलोज है।

ये सभी वस्तुएँ सेलुलोज़ से बनी हुई हैं!

अव्यय तत्त्व

मनुष्य को दार्शनिक मनन-चिन्तन की ओर प्रेरित करनेवाली मूल शक्ति उसकी प्रबल जिज्ञासा-वृत्ति है और उस अदम्य ज्ञान-पिपासा की तह में युग-युग से जो प्रेरक भावना निरन्तर काम करती आ रही है वह है अपूर्णता अथवा ससीम के प्रति उसका गहन असंतोष। वह एक नित्य, शाश्वत, चिरन्तन एवं निरपेक्ष पूर्ण तत्त्व का साक्षात्कार करने तथा उस ध्रुव तत्त्व की पूर्णता में अपनी प्रगति का चरम लक्ष्यविन्दु सिद्ध करने के लिए निरन्तर लालायित रहा है। वह इस मायारूप दृश्यमान् जगत् की क्षणभंगुरता से परे के अविनश्वर, अव्यय तत्त्व को जानने के लिए चिरकाल से उत्कंठित है। यही उसका चिरवांछित 'अमृत-तत्त्व' है और यही है उसका 'परब्रह्म' अथवा 'अलख निरंजन'! किन्तु इस सृष्टि-प्रपंच के मायावी अवगुण्ठन की ओट में छिपे हुए 'अलख' को लखा कैसे जाय? कैसे उस अनिर्वचनीय तत्त्व का वर्णन किया जाय? कैसे इस दृश्यमान् जगत् के प्रतिभासों का अतिक्रमण कर उस अपरोक्ष तत्त्व का साक्षात्कार किया जाय? कैसे उसकी सही-सही व्याख्या की जाय और किस प्रकार उसे परिभाषा की परिधि में बाँधा जाय? यह विषम पहेली युग-युग से मनुष्य के जिज्ञासु मन को आन्दोलित-उद्वेलित करती रही है और उसको हल करने के प्रयास में तर्क-युक्तियों द्वारा तरह-तरह अटकल लगाने का प्रयास उसने किया है। इस संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण और सफल छानबीन की है भारतवर्ष के तत्त्वचिन्तक महामनीषियों ने, जिन्होंने कई एक सहस्राब्दियों तक इसी एक प्रश्न का अनुसंधान किया है। प्रस्तुत लेख में इसी विषय का सारगर्भित विवेचन आप पाएँगे।

मननशीलता एवं दृश्य प्रपञ्च

मानव अपनी मननशीलता के कारण प्रत्येक वस्तु को प्रज्ञा-शक्ति की कसौटी पर कसने का चिर-अभ्यस्त है। फलत उसने दृश्यमान् संसार की एक-एक वस्तु की—अर्थात् धन-धरा, पुत्र-कलत्र तथा मान-मर्य्यादा समस्त वस्तुओं की—समीक्षा परीक्षा की; और सबमें उसे क्षणिकता, अस्थैर्य एवं नश्वरता उपलब्ध हुई। कैसे उपलब्ध हुई, सुनिए! यों तो स्थूल दृष्टि से देखने पर दृश्य पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं, किन्तु ज्योंही उनकी सूक्ष्म परीक्षा की जाती है, त्योंही उनकी विशालता का महाप्रासाद ध्वस्त हो जाता है। आइए, इस सूक्ष्म परीक्षा की विवेचन-पद्धति का दिग्दर्शन करें।

सत्य का लक्षण बतलाते हुए, एक स्थान पर भगवान् शंकराचार्य कहते हैं —

'यद्रूपेणनिश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।'

(अर्थात् जिस रूप से जो वस्तु दृष्टिगत होती है, यदि उसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्तन (व्यभिचार) न हो, तो वह सत्य है।)

यही बात आधुनिक तत्त्ववेत्ता श्री हर्बर्ट स्पेंसर महोदय भी कहते हैं :—

'By reality we mean persistence in consciousness.'

(अर्थात् सत्य से हमारा अभिप्राय पदार्थ-विषयक परिज्ञान की स्थिरता से है।)

सत्य के सम्बन्ध में इन दोनों ही दार्शनिकों की धारणा है कि जो वस्तु जैसी देखी जाय, यदि वह अजस्र वैसी ही बनी रहे, तो सत्य है। विवेचन करने पर उक्त युगल दार्शनिकों की बात पूर्ण तर्क-सङ्गत सिद्ध होती है।

बात यह है कि जगत् के परिदृश्यमान् पदार्थ काल-परिच्छिन्न हैं। वे आज हैं, तो कल नहीं हैं। क्या मानव, क्या पशु पक्षी, क्या राजप्रासाद और क्या झोंपड़ी सभी कभी भी सन्तृप्त न होनेवाले काल महाराज के महा उदर में पड़कर भस्मीभूत हो जानेवाली वस्तुएँ हैं। यह प्रत्यक्ष सत्य है। इसी प्रकार देश परिच्छिन्नता की भी बात है। जो वस्तु यहाँ है, वह वहाँ नहीं है। यदि आप काशी में बैठे हुए हैं, तो कलकत्ते में नहीं हैं। इसे कहते हैं एक-

देशीयता। एकदेशीय वस्तुओ की सत्ता सार्वभौम नहीं होती। फलस्वरूप वे कहीं 'सत्' (स्थूल दृष्टि से) प्रतीत होती हैं, तो कहीं 'असत्'।

यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि स्थल-विशेष में जो उनकी सत्ता 'सत्' भी प्रतीत होती है, वह भी कुछ ही काल के लिए ; सर्वदा के लिए वह सत् प्रतीत नही होती। कोई भी वस्तु कालगत परिच्छिन्नता से बच नहीं सकती। कारण, देश-परिधि की अपेक्षा काल-परिधि कहीं सूक्ष्म एव व्यापक है। भले ही कोई वस्तु एकदेशीयता की सीमा का अतिक्रमण करके अनेकदेशीय बन जाय, किन्तु उसका नाश तो होना ही है। आज नहीं तो कल अवश्य वह नष्ट होगी।

पदार्थों के सत्ता-परीक्षण के सम्बन्ध में देश एव काल की कसौटी के अतिरिक्त एक और कसौटी है। वह है वस्तुगत परिच्छिन्नता। इसे समझना चाहिए कि यह है क्या! प्रत्येक वस्तु में तीन परिच्छेद होते हैं—सजातीय, विजातीय तथा स्वगत। सजातीय का भाव है—सवर्णीय। मानव एक जाति है। किन्तु एक जाति होते हुए भी सब मनुष्यों की अपनी-अपनी एक पृथक् सत्ता है। राम श्याम नहीं और श्याम राम नही। यह है सजातीय परिच्छेद। विजातीय का अर्थ है—अन्य जातीय। संसार में जीवधारियों की अनेक जातियाँ हैं, जैसे मानव और पशु-पक्षी इत्यादि। मानव पशु नहीं और पशु मानव नहीं। एक जाति का दूसरी जाति से भेद है। इसी को विजातीय परिच्छेद कहते हैं। अपने शरीर में ही अनेक अङ्ग हैं, जैसे हाथ, पैर, सिर और गर्दन इत्यादि। सिर का गर्दन से जो भेद है, वह स्पष्ट है। इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। इन अङ्गों का जो अपना पारस्परिक भेद है, वही स्वगत परिच्छेद के नाम से अभिहित है। देश, काल तथा वस्तु के परिच्छेद की इस मीमासा से स्पष्ट हो जाता है कि दृश्य पदार्थों का स्वरूप एवं सत्ता परिवर्त्तनशील एवं असार्वभौम है। जो सदा परिवर्त्तनशील एवं असार्वभौम होगा, वह अभावात्मक होगा, यह निर्विवाद है। कहना न होगा कि अभाव का ही नाम नाश है।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम अभावों की भी कुछ मीमासा कर लेना आवश्यक समझते हैं। भारतीय दार्शनिकों ने कई प्रकार के अभाव माने हैं। उनमें से कुछ के नाम ये हैं—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योऽन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव। प्रत्यक्षीभूत वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व अदृश्य होती है। यह है प्रागभाव। इसी प्रकार जन्म और जीवन के पश्चात् उसका ध्वंसीकरण हो जाता है ; इसे कहते हैं प्रध्वसाभाव। नाश होने के पश्चात् भी उस वस्तु का उपादान तत्त्व अवशिष्ट रहता है। उसका भी जब पूर्ण अभाव हो जाता है, तब उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु में जो अभाव होता है, उसका नाम है, अन्योऽन्याभाव। विच्छेदों के प्रकरण में जिसे विजातीय विच्छेद कहते हैं, प्राय उसी को अन्योऽन्याभाव भी कहते हैं।

कहना न होगा कि इन अभावों की कसौटी पर कसने से कोई भी दृश्य पदार्थ अव्यय नहीं ठहरता है। यहाँ सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु का अभाव होता ही नहीं। उसके उत्तर में महाप्रज्ञ अभाववादियों का यह कहना है कि नाम एव रूप का अदर्शन तो होता ही है। तो फिर इसे क्या कहेंगे, भाव? कदापि नहीं। प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में भी दृश्य का लयीकरण होता है। यह प्रक्रिया भी अभाववाद की परिपुष्टि करती है। इसके अतिरिक्त पूर्णावस्था में (ज्ञान की अवस्था में) दृश्य का कोई अस्तित्व रहता ही नहीं। उस अवस्था में उसका अत्यन्ताभाव हो जाता है। जो वस्तु कभी 'अभाव' के गर्भ में विलीन हो जाती है, वह कैसे सत् कहला सकती है? अत 'सत्कार्य्यवाद' का सिद्धान्त भ्रामक एवं स्थूल विवेचन के स्तर पर अवलम्बित है। ज्योंही अनाविल दृष्टि से तत्त्व-विश्लेषण किया जाता है, सत्कार्य्यवाद का मनोरम भवन ढह जाता है।

इस प्रकार जब मनन-शक्ति (सत्यान्वेषिणी शक्ति) ने यह देखा कि यह सारा दृश्य प्रपञ्च 'असत्' है, तब उसका असन्तोष तीव्र से तीव्रतर हो गया। फलत मनन-शक्ति की वाणी बोल उठी कि विश्व में 'आत्म-तुष्टि' की कोई भूमि नहीं। व्यष्टि भी क्षणिक है और समष्टि भी। मानव भी नश्वर है और सारा ब्रह्माण्ड भी। थोड़े ही में यह बात यों कही जा सकती है कि एक दिन मनुष्य का यह आकर्षक जीवन और उसकी रची हुई यह सारी आश्चर्यप्रद सृष्टि रज कण मे मिल जानेवाली है।

प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर

जब दृश्य प्रपञ्च से इस प्रकार असन्तोष एव वैरस्य हो गया, तब मनन-शक्ति की धारा प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर प्रवाहित हुई। पहले परोक्ष मे भी कई वस्तुएँ सामने आईं—अर्थात् मन और बुद्धि, प्रभृति। किंतु सत्य के पूर्व-लिखित लक्षण के अनुसार मन एव बुद्धि भी सत्य न सिद्ध हो सके। क्षण-क्षण मे मन की परिवर्त्तनशीलता तथा विकृति

को कौन नहीं जानता ? आज मन का प्रसार है, तो कल उसका सङ्कोच। जो वस्तु घटती-बढ़ती रहती है, वह पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार कैसे 'सत्य' कहला सकती है ? यही बात बुद्धि के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। अत कहना न होगा कि इन परोक्ष इन्द्रियों से भी मनन-शक्ति आप्यायित नहीं हुई और क्रमश उसका अन्वेषण आगे बढ़ता ही गया। इस क्रमिक अन्वेषण का सुन्दर परिचय निम्नलिखित श्रुति में मिलता है.—

'मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।'

तथा—

'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'
पुरुषान्नपरं किञ्चित्साकाष्ठा सा परा गतिः।'

(कठोपनिषद्)

(अर्थात् मन से उत्कृष्ट बुद्धि है और उससे भी उत्कृष्ट है महत्तत्त्व। महत्तत्त्व की अपेक्षा अव्यक्त (मूल प्रकृति) 'पर' है और उससे महान् 'पुरुष' (परम पुरुष) है। परम पुरुष सब से महान् है। वह प्रशस्यतम है। वह सूक्ष्मतम है। वही परागति है।)

प्रस्तुत श्रुति में मन एव बुद्धि के अतिरिक्त 'महत्तत्त्व' तथा 'अव्यक्त' को भी हीन और निम्न बतलाया गया है। बात यह है कि ये भी 'प्रकृति-विकृति शील' हैं, उत्पादक और उत्पाद्य हैं। यह बात और स्पष्ट यों है कि वे सब रूपान्तरित होनेवाले हैं। सारा 'निसर्ग' (Creation) इन्हीं का तो कार्य्य है। यह एक दार्शनिक तथ्य है कि कार्य में कारण विद्यमान होता है। बिना रूपान्तर के विद्यमानता ही क्योंकर सिद्ध हो सकती है ? यद्यपि परोक्ष की परिधि में ये दोनों (महत्तत्त्व और अव्यक्त) अपना विशेष स्थान रखते हैं, तथापि उक्त उपपत्तियों के अनुसार वे हैं विकृतिधर्म्मा ही। श्रुति के अन्तिम चरण में अविकारी और शाश्वत-धर्म्मा होने के कारण पुरुष को 'काष्ठा' (चरम सीमा) और 'परागति' शब्दों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

परोक्षतत्त्व का उपदेश करते हुए एक अन्य श्रुति कहती है'—

'यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम-
चक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः'

(मुण्डकोपनिषद्)

(अर्थात् जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र तथा अवर्ण, नेत्र तथा कर्णविहीन, इसी प्रकार से बिना हाथ-पैर का है, यहीं नहीं, जो नित्य, विभु, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म एवं अव्यय भी है और है सम्पूर्ण प्राणियों का उत्पादक, ज्ञानी उसी का सम्यक् साक्षात्कार करते हैं।)

इस श्रुति का उत्तरार्द्ध कुछ व्याख्या की अपेक्षा रखता है। श्रुति मे आए हुए नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म एवं भूत-योनि शब्द विशेष सारगर्भित हैं। नित्य का तात्पर्य्य अक्षर-तत्त्व है। यदि वह व्यापक न होगा, तो वह स्थूलता की परिधि मे आ जायगा। अत उसे विभुताविशिष्ट होना ही चाहिए। विभुता (व्यापकता) भी एकदेशीय नहीं सर्वदेशीय होनी चाहिए। अन्यथा वह देश-परिच्छिन्नता से परिच्छिन्न हो जायगी। इसीलिए श्रुति मे 'सर्वगत' शब्द की योजना की गई है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। सर्वगत तो 'शून्य' भी है, पर वह अनुपास्य एवं अध्यातव्य है। सुतराम्, श्रुति में आगे 'सुसूक्ष्म' शब्द रखकर 'परतत्त्व' की उससे उदात्तता एव महनीयता दिखलायी गयी है। 'सुसूक्ष्म' शब्द का अर्थ है, अत्यन्त सूक्ष्म। श्रुति को 'सुसूक्ष्म' शब्द से भी सतोष न हुआ। अत. वह आगे बढकर कहती है—'अव्यय'। जिसमें कभी किसी प्रकार का कोई विकार न हो, वह है अव्यय-तत्त्व—'न व्यतीत्यव्ययम्'।

अव्यय-तत्त्व और पाश्चात्य मनीषी

अव्यय-तत्त्व के सम्बन्ध मे पाश्चात्य मनीषियों का क्या मत है, तनिक इस पर भी विमर्श करना चाहिए। पाश्चात्य दार्शनिक जगत् मे हेकल और ग्रीन दोनों ही पर्य्याप्त प्रख्यात हैं। ये दोनों भी सत्य को अव्यय ही मानते हैं। हेकल का कहना है—

"Whatever anything is really, it is unalterably."

(अर्थात्, जो कुछ भी सत्य है, वह अव्यय है।)

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्कले का कहना है कि हमारे आन्तरिक विचार किसी बाह्य तत्त्व की प्रतिकृति या प्रतिबिम्ब नहीं हैं, वे तो केवल मानस संवेदन हैं। सवेदन एवं भौतिक तत्त्व (स्थूल) सवर्णीय नहीं, विजातीय हैं। अत. वे दोनों असदृश (विषम) हैं। उनका परस्परत कोई सामञ्जस्य-समन्वय नहीं है।

ज्ञान का उपास्य 'अन्तर तत्त्व' है, भौतिक तत्त्व नहीं। उक्त दार्शनिक महोदय की दृष्टि मे परमात्म तत्त्व शाश्वत एवं अव्यय है। बाह्य सृष्टि निर्मूल एवं भ्रामक है। यदि बर्कले के दार्शनिक मनन पर विचार किया जाय, तो यह

विशुद्ध अध्यात्मवादी सिद्ध होगा। अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारानुसार भौतिकता की आंशिक सत्ता तो किसी-न-किसी प्रकार कुछ मानी ही गई है। किन्तु बर्कले महोदय तो अव्यय तत्त्व के अतिरिक्त भौतिकता को कोई स्थान देते ही नहीं। यही उनकी अपनी विशेषता है।

विश्व-विश्रुत जर्मन दार्शनिक काण्ट महोदय अपने 'Critique of Pure Reason' नामक ग्रन्थ मे 'दृश्य' को सत्य अवश्य मानते हैं, किन्तु वह भी उसके 'अन्तर' में एक अज्ञेय 'वस्तु-तत्त्व' स्वीकार करते हैं। उनके मत का थोड़े ही में सार यह है कि दृश्य का सन्निकर्ष इन्द्रियों से होता है। इन्हीं के द्वारा मानव मन दृश्य पदार्थों के आकार-प्रकार एव गुण-परिमाण प्रभृति का परिज्ञान प्राप्त करता है।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रियॉ तो दृश्य का बाह्य रूप ही ग्रहण करती हैं, आभ्यन्तर रूप नहीं। अतः मन को दृश्य के केवल बाह्य रूप का ही बोध होता है। स्पष्ट है, इन्द्रियॉ जो ग्रहण करेंगी, वही तो मन को देंगी। जहॉ इन्द्रियों की कोई पहुँच ही नहीं, वहाँ की कोई वस्तु वे ला ही कैसे सकती हैं? ऐसी दशा में इस बात का मानना आवश्यक हो जाता है कि भौतिक पदार्थों का 'अन्तरतम' अज्ञेय है, मन की पहुँच के परे हैं। काण्ट ने 'अन्तरतम' को Thing-in-itself (Ding-an-Sich) अर्थात् 'वस्तु-तत्त्व' कहा है। उनका कहना है कि भले ही वस्तु-तत्त्व अज्ञेय हो, किन्तु वह तो है ही। यदि कोई वस्तु हमारी समझ में नहीं आती तो उसका यह अर्थ नहीं कि वह वस्तु अस्तित्व-विहीन है। इस तर्क पद्धति के अनुसार काण्ट ने परमात्मा एवं आत्मा को इन्द्रियातीत (Transcendental) माना है और उन्होंने इन्हीं को उपास्य स्वीकार किया है। काण्ट के दर्शन के इस संक्षिप्त अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वह अव्यय-तत्त्व (वस्तु-तत्त्व) को नाम-रूप के परे मानते थे। विचारशील पाठकों से यह कहना अनावश्यक है कि काण्ट की इस अव्यय तत्त्व-सम्बन्धी धारणा से अनेक भारतीय दार्शनिकों का स्पष्टतया मत-सामञ्जस्य है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो इमर्सन ने जिसे 'ओवर-सोल' (Over-soul) परमात्मा, प्लेटो ने जिसे 'गुड' (Good) (शिव-तत्त्व), स्पिनोज़ा ने जिसे 'सार-तत्त्व' (Substantia), शोपेनहर ने जिसे परमशक्ति (Will), हर्बर्ट स्पेन्सर ने जिसे 'अज्ञेय', एवं अर्नेस्ट हेकल ने जिसे 'सत् तत्त्व' (Substance) के नाम से अभिहित किया है, वह अव्यय तत्त्व ही है। उक्त दार्शनिकों ने अपनी-अपनी शैली और भाषा में कही है शाश्वत एव अपरिवर्त्तनशील तत्त्व (अव्यय तत्त्व) की ही बात।

जिन पाश्चात्य दार्शनिकों ने दृश्य को 'सत्' माना है, वह गत्यात्मक (Dynamic) रूप से ही। इसका स्पष्ट भाव यह है कि वे दृश्य पदार्थों का रूपान्तर तो मानते हैं, किंतु प्रवाह रूप से उनकी सत्ता भी स्वीकार करते है। उदाहरणस्वरूप यह बात यों कही जा सकती है कि एक महल भले ही ढह जाय, किन्तु अणु-परमाणु के रूप में उसकी सत्ता तो सदा-सर्वदा रहती ही है। हमारे यहाँ भी 'सत्कार्यवादी' दार्शनिकों की यही धारणा है। किन्तु इसके प्रतिकूल अन्य अनेक विश्व-विश्रुत भारतीय दार्शनिक (श्री शङ्कर आदि) इसका प्रबल खण्डन करते हैं। वे वस्तुओं की केवल प्रतिभासिक सत्ता ही मानते हैं, पारमार्थिक नहीं। इसके अतिरिक्त अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए वे उद्घोषित करते हैं कि प्रतिभासित होनेवाले नाम एवं रूप विकारी है। अत' आत्म-तुष्टि के कारण वे नहीं बन सकते। संक्षेप में, यह है कुछ पाश्चात्य एवं प्राच्य दार्शनिको का तुलनात्मक दृष्टिकोण। यहॉ इस बात का विस्तृत विवेचन अप्रासङ्गिक होगा। अत यहीं इसे पर्यवसित किया जाता है।

वेद और अव्यय तत्त्व

वेदों मे अव्यय तत्त्व का वर्णन बडे ही सुन्दर एव तात्त्विक रूप में उपलब्ध होता है। एक श्रुति कहती है—

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।'

(यजुर्वेद अ० ४०, म० ८)

(अर्थात् वह अव्यय तत्त्व सर्वव्यापक, ज्योतिष्मान्, शरीर - रहित, अक्षत, स्नायु - विहीन, निर्मल, निष्पाप, सर्व-द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ एवं स्वयम्भू है।)

प्रस्तुत श्रुति में अव्यय तत्त्व का निरूपण 'निषेध मुख' एव 'विधि-मुख' शैली में किया गया है। अव्यय तत्त्व शरीर-त्रय (लिङ्ग, स्थूल तथा कारण) से रहित है। यदि शरीर त्रय-युक्त होगा, तो वह 'अव्यय' क्योंकर सिद्ध हो सकता है? अतः श्रुति कहती है कि वह 'अकाय' है अर्थात् लिङ्ग-शरीर से भिन्न है। 'अव्रण' और 'अनाविर' (स्नायु-रहित)

शब्दों के द्वारा उसमें 'स्थूल-शरीर' का राहित्य प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार 'शुद्ध' शब्द 'कारण-शरीर' से वैभिन्न्य व्यक्त करता है। एक ही वाक्य में यह बात इस रूप में कही जा सकती है कि 'अव्यय तत्त्व' शरीर-त्रय से सर्वथा असम्पृक्त है।

उक्त तत्त्व का यहाँ तक तो 'निषेध-मुख' शैली में निरूपण किया गया है, इसके आगे विधि-मुख शैली के अनुसार उसके स्वाभाविक स्वरूप का मनोहर एवं मननीय चित्र अंकित किया गया है। श्रुति पहले ही 'कवि' शब्द का विन्यास करती है। 'कवि' का अर्थ है कान्त-द्रष्टा। 'क्रान्त-द्रष्टा' 'सूक्ष्म-द्रष्टा' तो हो सकता है, किन्तु 'सर्वज्ञ' नहीं हो सकता। अत इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिए आगे 'मनीषी' अर्थात् 'सर्वज्ञ' शब्द कहा गया है। भगवान् शङ्कराचार्य 'मनीषी' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं —

'मनीषी मनसे ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः।'

(अर्थात् मनीषी है मन का ईशन करने वाला—सर्वज्ञ, ईश्वर।)

'परिभू' शब्द सर्वश्रेष्ठ अथवा सर्वोपरि सत्ता का अभिव्यञ्जक है। इसके पश्चात् श्रुति इस बात की ओर मुड़ती है कि वह सत्ता कार्य्य एवं कारण के झगड़े से परे है। तत्त्वत वह न तो किसी का कार्य्य है, न कारण। अन्य शब्दों में वह 'प्रकृति-विकृति-शील' नहीं है। कहना न होगा कि ऐसा ही तत्त्व—अव्यय—सदा एक ही रूप मे रहनेवाला होता है। उत्पादक एवं उत्पाद्य दोनों ही विकारशील होते हैं, यह निष्पन्न (सिद्ध) है। ऋग्वेद मे भी 'अव्यय तत्त्व' का बड़ा ही सारगर्भित वर्णन है। दृश्य प्रपञ्च वैविध्य परिपूर्ण है। इसमें अनेक आकार-प्रकार की विविध वस्तुएँ हैं। किन्तु सबके 'अन्तरतम' में 'निर्लेप'—'अव्यय तत्त्व'—विद्यमान है। उसी अधिष्ठान में सारा दृश्य प्रपञ्च भासित होता है। वैसे ही, जैसे आकाश मे नीलिमा। कहना न होगा कि नीलिमा अवास्तविक है। इसी को दार्शनिक भाषा मे 'विवर्त' कहते हैं—'अतात्त्विकोऽन्यथा भावो विवर्त'—अर्थात् किसी वस्तु में भ्रामक, मिथ्या एवं अस्वाभाविक वस्तु की प्रतीति विवर्त है। अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारक जिस दृश्य को सत्य मानते हैं, उसका निरसन करते हुए निम्न श्रुति कहती है—

'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते,
युक्ताह्यस्य हरयः शतादश।'

(ऋ० वे० अ० ४, अ० ७, व० ३३, मं० १८)

स (परमात्मा) एवाकाशादि मायाशक्तिभिर्वियदादि जगदात्मना विवर्तते, शब्दादि विषय हरणशीला इन्द्रिय-वृत्तयश्च तेनैव सम्बद्धाः। एतासर्वं तस्य परमात्मनो यद्वास्तवं रूपं तस्य दर्शनायेति।

(सायण-भाष्य)

(अर्थात् वही परमात्मा अपनी माया से आकाश आदि के द्वारा जगती का विवर्तन करता है। अनेक इन्द्रिय वृत्तियाँ उसके आधिपत्य में ही विषय-ग्रहण करती हैं।)

इस श्रुति से यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप मे लक्षित होती है कि परम तत्त्व तो सदा सर्वदा अपरिवर्तनीय है, नाम-रूपात्मक दृश्य माया-मूलक है, अर्थात् विवर्त (Delusion) है। ससार के सारे विषयोपभोग इन्द्रियों तक ही पहुँच पाते हैं। वह तो केवल एक निरपेक्ष द्रष्टा मात्र है। जहाँ उसमे किसी प्रकार की अपेक्षा स्वीकार की गई नहीं कि वह वहीं विकारी सिद्ध हुआ नहीं। ऋग्वेद मे 'अव्यय तत्त्व' को अनेक नामों से पुकारा गया है। किन्तु उन सबमें 'ऋतम्' शब्द अपेक्षाकृत समधिक प्रयुक्त है। एक श्रुति कहती है —

'ऋतजा अद्रिजा ऋतम्।'

(ऋ० सं० अष्ट १, अ० ७, व० १४, मन्त्र ५)

अव्यय तत्त्व का व्यवधान

यहाँ तक तो अव्यय तत्त्व की संक्षिप्त मीमासा हुई। अब प्रश्न यह उठता है कि अव्यय तत्त्व व्यवहित क्योंकर हो जाता है? बाधाएँ क्या हैं? जो तत्त्व अनेक नहीं, एक है, एकदेशीय नहीं, सर्वदेशीय है, उसका सन्दर्शन क्योंकर दुर्लभ हो जाता है? होना तो सुलभ चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए कुछ गहराई मे प्रवेश करना पड़ेगा।

सृष्टि मे अनेक वस्तुएँ हैं। सबकी अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है। क्यों? इसलिए कि सबकी अपनी एक पृथक् जाति है और है पृथक् एक सीमा। जाति एव सीमा का आविर्भाव कहाँ से होता है? 'अहम्' से। 'अहम्' ही वह विकार है, जो सारी सृष्टि को वैभिन्न्य एव वैविध्य की कक्षा मे विभक्त कर देता है। यदि 'मैं' ('अहम्') हो ही नहीं, तो जड़ एवं चेतन में कोई भेद—व्यतिरेक—ही न रहे। अत्यन्त स्पष्ट बात यह है कि 'मैं' ही वह सीमा है, जो न केवल जड़ चेतन को पृथक् पृथक् करती है, प्रत्युत चेतन को भी चेतन से पृथक् करती है। उदाहरण-स्वरूप यह बात तो है कि श्याम नाम का व्यक्ति 'मैं' के कारण ही

अपने को पुरुष-विशेष मानता है। वह मानता है कि मैं मनोहर नहीं, श्याम हूँ।

इसी बात को दृष्टि में रखकर शकर इस दृश्य को 'अहम्'-प्रतिष्ठित मानते हैं। उनका मत है कि यह सारी विविधता एव अनेकता 'अहम्' मे ही आश्रित है। 'अनेकता' का मूल बाहर नहीं, भीतर है। स्थूल दृष्टि से भले ही आँखों की अनेकता को देखनेवाली कहीं जायँ, किन्तु वस्तुतः द्रष्टा तो मन है—

'चक्षुः पश्यति रूपाणि न तु चक्षुषा, अपितु मनसा।'

(महाभारत)।

मन क्या है? 'अहम्' का एक कार्य्य—

'महदाख्यमाद्य' कार्य्यं तन्मनः।'

(योग-दर्शन)

महत्तत्व का आद्य कार्य ही मन है। अब यह स्पष्ट हो गया कि सारा पार्थक्य 'अहम्' अथवा मन का उत्पन्न किया हुआ है।

अव्यय तत्त्व और ज्ञान

अब विवेचन इस बात का करना है कि नानात्व (पार्थक्य) का विनाश क्योंकर हो? यदि हम उसके नाश के लिए किसी ऐसे शस्त्र को हाथ मे लेंगे, जो स्वत. नश्वर एवं स्थूल होगा, तो यह स्पष्ट है कि उसका नाश नहीं होगा। देखना यह है कि ऐसा शस्त्र है कौन? जगत् में जितने भी भ्रम हैं, उन सबका नाश वास्तविक ज्ञान से होता है। यदि हम समझते हैं कि दो और दो मिलकर पाँच होते हैं, तो इस भ्रम का नाश भी यथार्थ ज्ञान ही से होगा।

विवेच्य विषय है, 'नानात्व' का नाश। इसकी मीमासा करते हुए गीता कहती है—

'सर्वभूतेषु येनैकं, भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।'

(अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा यह ज्ञात हो कि सम्पूर्ण विभक्त प्राणियों में एक ही अविभक्त अव्यय तत्त्व है, वह सत् ज्ञान है।)

उक्त श्लोक मे ज्ञान-विशेष के साथ सात्त्विक विशेषण जुड़ा हुआ है। इसका अभिप्राय है, अन्य प्रकार के ज्ञानों से (साधारण ज्ञान से) असाधारण ज्ञान का उत्कर्ष प्रदर्शित करना। वस्तुत यही ज्ञान वह महान् साधन है, जिसके द्वारा 'नानात्व' का नाश होता है। इसी के सम्बन्ध में श्रुति कहती है:—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

(अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती।)

यहाँ थोड़ा इस बात पर विमर्श करना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'अव्यय-ईक्षण' को ही 'सत्-ज्ञान' क्यों कहा गया है? बात यह है कि नानात्व-दर्शन में ज्ञान पूर्णता के आसन पर समासीन नहीं होता। ऐसी दशा में यदि वह उसकी परिधि एवं संकुचित सीमा के कारागार में आवद्ध होना स्वीकार करेगा, तो वह आत्म-विनाश का आह्वान स्वयं करेगा। यह कहना अनावश्यक है कि ससीम तो एकदेशीयता की परिधि में घिरा होता है।

उपनिषदों ने बड़ी गम्भीरता से इस बात का वर्णन किया है कि तत्त्वत. जगती में 'नानात्व' है ही नहीं—

'नेह नानास्ति किञ्चन।'

यही नहीं उन ग्रन्थों में 'नानादर्शी' को जन्म-मरण के पाश मे सर्वदा ही फँसा रहनेवाला भी बतलाया गया है।

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'।

(बृ०४.४.१६; कठ ४.११)

इस प्रकार तत्त्व-दर्शियों ने नानात्व अथवा पार्थक्य को मृत्यु का कारण बतलाकर ज्ञान को ही अव्यय तत्त्व की उपलब्धि का पवित्रतम एवं समर्थतम साधन माना है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

(गीता)

(अर्थात् यहाँ ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु नहीं।)

यही नहीं, उन तत्त्वदर्शियों ने ज्ञान की अकल्पनीय परिधि की व्यापकता की चर्चा करते हुए यह भी कहा है—

'सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते।'

(गीता)

(अर्थात् सभी कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है।)

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जो ज्ञान निम्नावस्था में (साधनावस्था में) अव्यय तत्त्व की प्राप्ति का साधन है, वही अन्त मे उसके प्रकाश मे चलकर साध्य के रूप मे परिणत हो जाता है। ज्यों ही नानात्व का नाश होता है, त्योंही अव्यय तत्त्व से उसका तादात्म्य हो जाता है। यथा—

'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।'

(रामचरितमानस)

उसी अवस्था का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

(अर्थात् ब्रह्म तत्त्व सत्य, ज्ञान एवं अनन्त है।)

दूसरे शब्दों मे सत्य-ज्ञान-रूप वह अनन्त ब्रह्म ही अव्यय तत्त्व है।

मनुष्य
की कहानी

मानव-शरीर की मुख्य-मुख्य रसिक अथवा नलिकाहीन ग्रंथियाँ
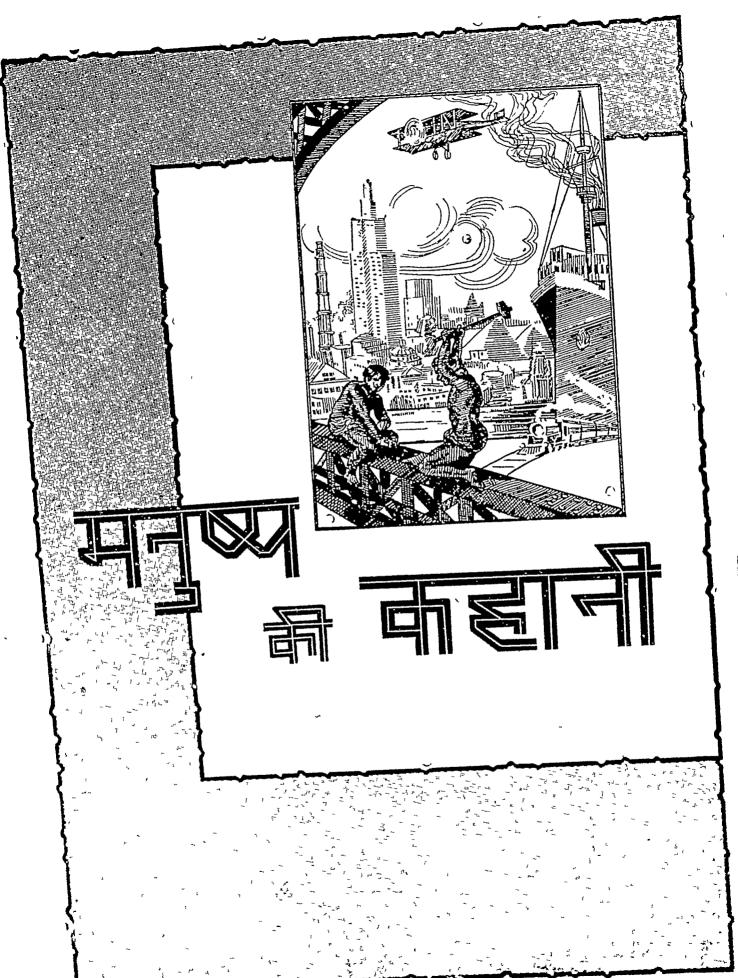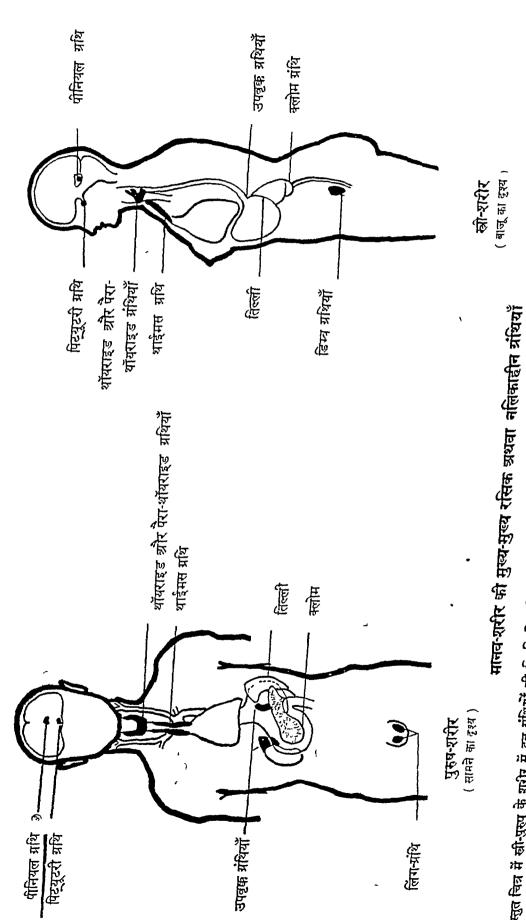
प्रस्तुत चित्र में स्त्री-पुरुष के शरीर में इन ग्रंथियों की स्थिति दिखाई गई है। स्त्री-शरीर का बाजू का दृश्य दिग्दर्शित किया गया है। उसमें क्लोम, तिल्ली और उपवृक्क ग्रंथियाँ दिखाई नहीं देतीं—उनकी केवल स्थिति सूचित की गई है। यकृत भी एक ग्रंथि है, किन्तु वह नलिकाहीन ग्रंथि नहीं मानी जाती। इसीलिए यहाँ नहीं दिखाई गई है।

रसिक अथवा नलिकाहीन ग्रन्थियाँ

उनकी रचना और क्रियाएँ

प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को यह जानने की उत्कंठा बनी रहती है कि क्यों कुछ लोग कम अवस्था ही में वृद्ध दिखाई देने लगते हैं और क्यों दूसरे अधिक आयु के हो जाने पर भी हट्टे-कट्टे तथा तरुण जैसे ही प्रतीत होते हैं ? क्यों कोई व्यक्ति ताड़ की तरह लंबा होता चला जाता है और क्यो कोई निपट बौना ही रह जाता है ? क्यों कोई वेहद फुर्तीला और चपल होता है और क्यो कोई एकदम सुस्त प्रकृति का होता है ? क्यों कोई बात की बात में क्रोध से मानों तमतमा उठता और क्यों कोई विषम परिस्थिति में भी शान्त-स्थिर बना रहता है ? यह कैसे होता है ? वस्तुतः इसका कारण हमारे शरीर ही में है। आइए, इस लेख में इसी का रहस्य आपको बताने का यत्न करें।

पिछले लेखों में शरीर की दो बड़ी ग्रंथि—यकृत और गुर्दे—के विषय में लिखा जा चुका है। ये ऐसी ग्रंथियाँ हैं, जो अपने में बननेवाले रस को नलिकाओं द्वारा शरीर के किसी विशेष भाग में पहुँचाती हैं। परंतु हमारे शरीर में एक और प्रकार की ग्रंथियाँ भी पाई जाती हैं, जिनसे कोई प्रणाली या नलिका नहीं निकलती और जिनका रस सीधा हमारे रक्त में पहुँचकर शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को उत्तेजित करता तथा उन्हें उचित ढंग से अपनी क्रियाएँ पूर्ण करने में सहायता देता है। इन ग्रंथियों को **नलिकाहीन** या **रसिक ग्रंथियाँ** कहा जाता है और जो रस उनसे निकलकर रक्त में प्रवेश करते हैं, उन्हें **अंगोत्तेजक रस** कहते हैं।

हमारे शरीर में ऐसी कई छोटी-छोटी ग्रंथियाँ हैं, जैसा कि सामने के चित्र में दिग्दर्शित हैं। इन ग्रंथियों का अस्तित्व यों तो बहुत समय से ज्ञात था, परन्तु उनके विषय में ठीक-ठीक ज्ञान पिछले थोड़े ही वर्षों में हुआ है। दो ही दशक पूर्व यह कहा जाता था कि "मनुष्य उतना ही तरुण होता है, जितनी कि तरुण उसकी धमनियाँ होती हैं।" परन्तु अब इसके बदले यह कहा जाता है कि "वह उतना ही तरुण होता है, जितनी तरुण उसकी नलिकाहीन ग्रंथियाँ होती हैं!" अब यह निश्चित हो गया है कि इन ग्रंथियों में उत्पन्न होनेवाले उत्तेजक रस हमारे शरीर की वृद्धि, पोषण, यौन संतुलन, स्वाधीन मांसपेशियों के सञ्चालन तथा अन्य ग्रंथियों की क्रियाओं के नियंत्रण में महत्त्व का भाग लेते हैं। इसीलिए शरीर में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है एवं उनके संतुलन में थोड़ी ही गड़बड़ी हो जाने से बहुत बड़ा प्रभाव पड़ सकता है। पिछले कुछ वर्षों में पशुओं और रोगी मनुष्यों के शरीर में से इन ग्रंथियों को निकालकर या उनके शरीर पर इनके पैवन्द लगाकर इन अद्भुत अंगों की क्रियाओं और प्रभावों का भली भाँति अध्ययन किया गया है और उनके विषय में बड़ी अनोखी बातों का पता लगाया गया है। अब यह निश्चित हो चुका है कि इनमें से किसी-किसी ग्रन्थि के रस की कमी या अधिकता से न केवल साहस, मातृप्रेम, मानसिक योग्यता जैसे गुण ही घट-बढ़ जाते, बल्कि व्यक्ति का समस्त व्यवहार और चालचलन ही परिवर्त्तित हो जाता है! ये छोटी-छोटी ग्रंथियाँ इतनी अधिक शक्तिशाली होती हैं कि किसी भी पुरुष या स्त्री को वे बना-बिगाड़ सकती हैं!

जैसा कि सामने के चित्र में प्रदर्शित है, मस्तिष्क से नीचे की ओर जाते हुए हमारे शरीर में सात मुख्य ग्रंथियाँ पाई जाती हैं :—

(१) शंकपिंड या पीनियल (Pineal) ग्रंथि—
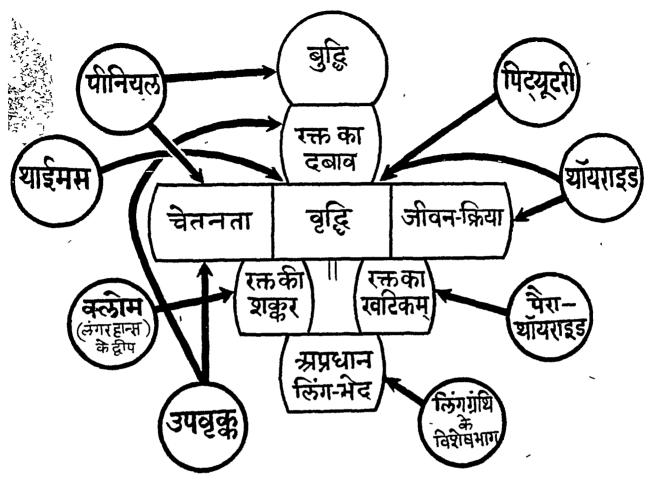
भिन्न-भिन्न नलिकाहीन ग्रंथियों का हमारे शरीर की विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं से जो संबंध है तथा उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, वही इस मानचित्र द्वारा दिग्दर्शित किया गया है। तीर के चिह्न द्वारा प्रत्येक ग्रंथि की क्रियाओं की सूचना दी गई है।

यह मस्तिष्क के ऊपर अर्ध-गोलार्द्धों के पीछे होती है। इस ग्रन्थि में छोटी-छोटी नलिकाएँ और थैलियाँ होती हैं, जिनके भीतर एक प्रकार का लवण, जिसे 'मस्तिष्क का रेत' कहते हैं, उपस्थित रहता है। इस ग्रंथि में नाड़ी-सूत्र बहुत कम पाए जाते हैं, परंतु रक्त-नलिकाएँ बहुत होती हैं और ये नलिकाएँ मस्तिष्क से संयुक्त रहती हैं। युवा व्यक्तियों की अपेक्षा बालकों में और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह बड़ी होती है। जब तक मनुष्य काफी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता, यह मस्तिष्क की तरुणावस्था बनाए रखती है। इस ग्रन्थि का कुछ संबंध उत्पादक अंगों से भी अवश्य है। कम से कम स्त्रियों के जनन-संस्थान को इसके रस अवश्य उत्तेजना पहुँचाते हैं। इसके अतरिक्त इस ग्रन्थि की कोई और विशेषता नहीं है। मध्ययुग में जब यह पहलेपहल देखी गई थी तो उसे शरीर में आत्मा का निवासस्थान समझा गया था।

सम्भव है कि यह हमारे प्राचीन पूर्वजों के तीसरे 'नेत्र' का बचा हुआ भाग हो। कारण, गिरगिट और कुछ अन्य उरगमों में यह ग्रन्थि काफी बडी होती है और सूत्रों द्वारा एक साधारण आरम्भिक नेत्र से सम्बन्धित होती है, जो सिर के ऊपर रहता है।

(२) **पिट्यूटरी ग्रंथि**—इस ग्रंथि का आकार मटर से भी छोटा होता है, परन्तु उसका हमारे शरीर की वृद्धि पर विशाल प्रभाव पड़ता है। यह ग्रंथि शरीर की हड्डियों की बाढ़ को वश में रखती है। इसमें अधिक रस बनने के कारण हड्डियाँ असाधारणतया वृद्धि करने लगती हैं और मनुष्य दैत्याकार बन जाता है।

बड़ी-बड़ी हड्डियोंवाले जो असाधारण पुरुष कभी कभी प्रदर्शिनियों में दिखाए जाते हैं, वे इसी ग्रंथि के दुराचार के परिणाम होते हैं। इन दैत्यों के धड़ की लम्बाई तो साधारण होती है, परन्तु उनकी भुजाएँ और टाँगें बहुत

लम्बी होती हैं और पैर भी अपेक्षाकृत बड़े होते हैं। जब यह ग्रंथि सुस्त पड़ जाती है तो हड्डियों की बाढ़ कम अवस्था में ही पूरी हो जाती है और फलतः मनुष्य नाटा रह जाता है। इस प्रकार बौनेपन का कारण भी यही ग्रंथि है। बौनों और दैत्यों में कोई मानसिक खराबी नहीं होती, केवल इस ग्रंथि का ही संतुलन बिगड़ जाता है। इससे स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति की ऊँचाई पिट्यूटरी ग्रंथि के ऊपर ही निर्भर है। अगर आप सड़कों पर आते-जाते व्यक्तियों पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि उनके क़द में भेद विशेषकर टाँगों ही के बड़ी-छोटी होने के कारण होता है। एक नाटे व्यक्ति का धड़ वस्तुत. लम्बे मनुष्य के धड़ के मुक़ाबले में लम्बान में कोई अधिक कम नहीं होता।

इस छोटी-सी ग्रंथि में तीन-चार प्रकार के रस बनते हैं और वह तीन भागों में बँटी होती है, जिनकी रचना में एक-दूसरे से काफी भिन्नता होती है। सबसे आगे के भाग में तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के कोष होते हैं और उसमें रक्त-नलिकाएँ अधिकता से होती हैं। तीनों में यही सबसे प्रधान भाग है, और जो रस उसमें बनता है, वह मस्तिष्क के तीसरे कोष्ठ में पहुँचकर मस्तिष्क और सुषुम्ना के द्रव्य में मिल जाता है। यह ग्रंथि अन्य ग्रंथियों के सहयोग से शरीर में शक्कर के पचन का नियन्त्रण करती तथा चर्बी की बाढ़ को रोके रहती है। बालकों का उत्पन्न होना, उनके शरीर में कैल्शियम का बनना और उनकी हड्डियों का लम्बा होना भी उसी के अधीन है। इस के मध्यवर्ती भाग में दो प्रकार के कोष होते हैं और उसमें उतना रुधिर नहीं होता, जितना पहले में। तीसरे भाग में सबसे न्यून रक्त होता है, परन्तु उसमें कई नाड़ीसूत्र पाये जाते हैं। इसके रसस्राव से रक्त का दबाव, मानसिक प्रतिभा, जनन-संस्थान की वृद्धि और क्रिया, तथा स्त्री-पुरुष के अप्रधान यौन लक्षणों एवं जननेन्द्रियों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। पिछला भाग भी रक्त के दबाव को ठीक रखता है और उससे निकला हुआ उत्तेजक रस विशेषकर शरीर के भीतरी अंगों की स्वाधीन मांसपेशियों पर अधिकार रखता है।

जब किसी रोगी का हृदय बंद हो जाने का खटका होता है तो पिट्यूटरी पिंड का सत उसे दिया जाता है, ताकि उसके हृदय में उत्तेजना आ जाय। मूत्र के घटने-बढ़ने पर भी इस अंग के रस का कुछ प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि यदि किसी कुत्ते की पिट्यूटरी ग्रंथि निकाल दी जाय तो उसकी गति पर काफी प्रभाव पड़ता है, जो आरम्भ में मन्द होकर अन्त में जोर पकड़ जाती है। प्रारम्भ में उसके बदन में कँपकँपी - सी आती है, तत्पश्चात् उसकी पेशियों में संकोच होने लगता है और फिर उसके पिछले पुट्ठे कड़े पड़ जाते हैं, उसकी पीठ टेढ़ी हो जाती है तथा अन्त में उसमें ज़ोर का अंग-संकोचन होने लगता है, जिससे कि वह कुत्ता मर जाता है।
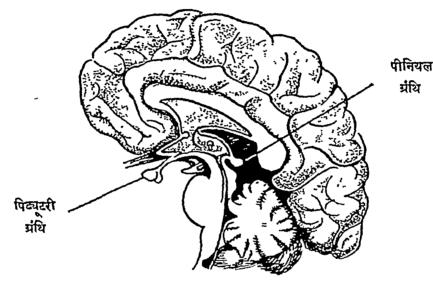
मानव मस्तिष्क की दो महत्त्वपूर्ण नलिकाहीन ग्रंथियाँ

इनमें से 'पीनियल' ग्रंथि संभवत. हमारे आदिम पूर्वजों की किसी आवश्यक ज्ञानेन्द्रिय का अवशेष है, जो कि समय बीतते लुप्त हो चुकी है। दूसरी 'पिट्यूटरी' ग्रंथि का हमारे शरीर के आकार-प्रकार, वृद्धि-ह्रास, आदि से इतना गहरा संबंध है कि वह मानव-शरीरस्थ सभी रसिक ग्रंथियों की नेता कही जा सकती है।

इसीलिए यह छोटी-सी ग्रंथि शरीर का एक महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है और यह कहना अनुचित न होगा कि उसे समस्त रसिक ग्रंथियों का नेतृत्व का स्थान प्राप्त है। संभव है कि इसीलिए प्रारम्भिक शरीरशास्त्रियों ने उसे प्राण का स्थान माना था! कहा जाता है कि स्त्री की पिट्यूटरी ग्रंथि पुरुष की ग्रंथि से बड़ी होती है, विशेषकर अपने अगले भाग के कारण। गर्भावस्था में यह ग्रंथि और

भी बड़ी हो जाती है और उसके बाद भी कुछ दिन तक बड़ी बनी रहती है। बारम्बार प्रसूत होने की दशा में उस पर इकट्ठा प्रभाव पड़ता है और मासिक धर्म के बंद हो जाने के बाद भी वह बड़ी हो जाती है। परन्तु पुरुषों में एक बार पूर्णता प्राप्त करने पर यह ग्रंथि न डील में और न बोझ ही में बढ़ती है।

(३) थॉयराइड या चुल्लिका ग्रंथि—यह कंठ के नीचे गले की जड़ में होती है। इसे तेजस्विता या शक्ति प्रदान करनेवाली ग्रंथि भी कहा गया है, क्योंकि यही शरीर को फुर्तीला बनाती और मानसिक तथा शारीरिक बाढ़ से भी सरोकार रखती है। यह हमारे शरीर की संश्लेषण-क्रिया का नियंत्रण करती है, अर्थात् जो भोजन हम ग्रहण करते हैं, उसे भस्म करने के लिए जिस हिसाब से रक्त के कोष ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं, उनकी गति का वह नियंत्रण करती है। जिस मनुष्य की यह ग्रंथि फुर्ती से काम करती है, वह साधारणत. अधिक चुस्त और उत्सुक प्रवृत्ति का होता है। जब यह ग्रंथि अत्यधिक तीव्र होकर अधिक रस फेंकने लगती है तो मनुष्य चंचल हो जाता और उसका क्रोध शीघ्र भड़क उठता है। उसके विचारों में तेज़ी होती है और किसी भी काम को चटपट वह कर डालता है, चाहे उसका फल अच्छा अथवा बुरा हो। उसके हृदय पर हर बात का कड़ा प्रभाव पड़ता है और प्रेम-संबंधी बातों में वह निधड़क तथा निर्लज्ज होता है। उसके भाव अस्थिर होते हैं। थॉयराइड ग्रंथि की सुस्ती मनुष्य को कामचोर और काहिल बना देती है तथा ऐसा मनुष्य स्वभावतया मोटा हो जाता है। किसी किसी बालक में यह ग्रंथि जन्म से ही अकर्मण्य होती है और उसकी बाढ़ मारी जाती है, जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति की मानसिक शक्ति और उसके जनन-अंग पूर्णता नहीं प्राप्त कर पाते। ऐसे मनुष्य को
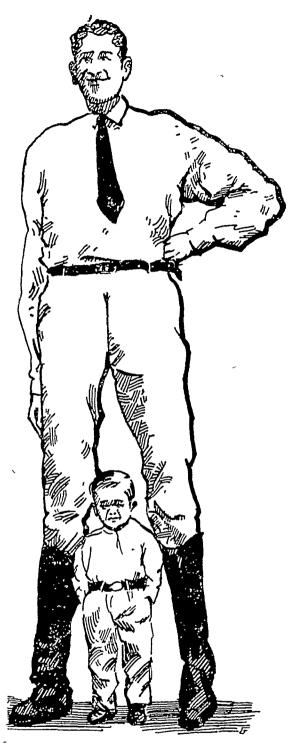
पिट्यूटरी ग्रंथि का प्रसाद !

अब यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है कि मनुष्य के क़द के बढ़ाव-घटाव की कुंजी वस्तुतः उसके मस्तिष्क में स्थित इस छोटी-सी ग्रंथि में ही छिपी है। कभी-कभी ताड़ की तरह लंबे या शिशुओं की तरह बौने जो असाधारण व्यक्ति प्राय दिखाई दे जाते हैं, वे सब इसी ग्रंथि के दुराचार के परिणाम होते हैं। जब यह ग्रंथि अति उत्तेजित हो जाती है तो मनुष्य दैत्याकार बन जाता है और उसके सुस्त पड़ जाने पर वह बौना हो जाता है। प्रस्तुत चित्र में दो ऐसे व्यक्तियों की तस्वीरें दी गई हैं, जिनके क़द क्रमशः ८ फ़ीट ७ इंच और २ फ़ीट २ इंच हैं। इनमें जो बौना व्यक्ति है, वह आयु की दृष्टि से काफ़ी प्रौढ़ है। उसकी उम्र है तीस साल !

किसी भी बात के समझने में अधिक समय लग जाता है, और साधारण प्रश्नों तक का उत्तर वह अटककर देता है। साथ ही वह व्यक्ति अति साधारण और संतोष का जीवन व्यतीत करता है। उसको अपने जीवन में परिवर्त्तन करने की कोई अभिलाषा ही नहीं रहती। वह केवल सीधे-साधे सरल कार्य ही कर सकता है, और स्वयं किसी कार्य में अगुआ नहीं बन सकता तथा कोई भी आकस्मिक घटना आ पड़ने पर व्याकुल हो जाता है।

एक प्रसिद्ध ग्रंथिवेत्ता का कथन है कि यह ग्रंथि दाम्पत्य-जीवन में विशेष खटपट करानेवाली होती है, क्योंकि ऐसे दो व्यक्ति जिनकी कि ये ग्रंथियाँ एक-दूसरे के विरुद्ध हों कभी दाम्पत्य-नाता नहीं निभा सकते। यदि स्त्री-पुरुष में से एक साधारण हो और दूसरे की थॉयराइड ग्रंथि अति उत्तेजित हो तो भी दोनों का निर्वाह होना कठिन है; क्योंकि अति उत्तेजित थॉयराइड ग्रंथिवाली स्त्री चतुर, अभिमानी और चिड़चिड़ी होगी। वह संयोग से यदि गुणी भी होगी तो भी जोशीली और गर्म रक्तवाली होने के कारण घोर शीत की दशा में भी खिड़की बंद करके घर में न रह सकेगी, चाहे उसका स्वामी शीत से सिकुड़कर ही क्यों न रह जाय। वह बँधकर घर में नहीं रह पाएगी, उसे तो भ्रमण करने या सिनेमा देखने का ही अधिक चाव होगा। परन्तु भली बात केवल इतनी ही होगी कि ऐसी स्त्री प्रेमी होगी। वह अपने स्वामी को सदन पर अकेला छोड़कर नहीं जाना चाहेगी, बल्कि उसे भी अपने साथ इधर-उधर घसीटकर ले जाना चाहेगी। इसके विपरीत यदि पति उत्तेजित थॉयराइड ग्रंथिवाला हो तब तो उसकी पत्नी की आफत ही आ जाय! क्योंकि पर्याप्त मात्रा में खाने पर भी उसका पेट खाली का खाली ही रहेगा, साथ ही महाशयजी रहेंगे दुर्बल के दुर्बल। दुर्भाग्य से यदि पत्नी मंद ग्रंथिवाली हुई तो उसकी ैर भी विपत्ति आ गई, क्योंकि अपने मुटापे के कारण वे तो उत्तम और पर्याप्त भोजन करने में सकोच करेंगी ताकि उसकी चर्बी कहीं अधिक न बढ जाय—परन्तु अपने स्वामी के हेतु उसे पेट भरकर खाना ही पड़ेगा!

इसलिए विरुद्ध थॉयराइड ग्रंथिवाले स्त्री-पुरुष का साथ उत्तम नहीं होता! परन्तु इसकी पहचान क्या है? ऐसा व्यक्ति जिसकी कि यह ग्रंथि बढ़ी हो गई हो, साधारणत लम्बा तथा दुबला-पतला होता है और उसका मुख भी लम्बा और पतला व नेत्र निकले हुए होते हैं। जब किसी व्यक्ति द्वारा ग्रहण किए जानेवाले जल या भोजन में आयोडिन की न्यूनता होती है और उसकी थॉयराइड ग्रंथि आवश्यकता से अधिक कार्य करती है तो वह ग्रंथि उस द्रव्य की कमी की पूर्त्ति के लिए शीघ्रता से बढ़ने लगती है। किसी-किसी मनुष्य में तो वह इतनी बढ़ जाती है कि सामने गर्दन में दूर से ही दिखाई पड़ती है। इस रोग को 'गलगंड' रोग कहते हैं।

थॉयराइड ग्रंथि का रंग गहरा लाल होता है और उस पर पीली धारियाँ होती हैं। इसका बोझ लगभग १ औंस होता है और उसके भीतर एक लसदार चिपचिपा पीला पदार्थ भरा होता है। उसमें रक्त और लसिका की वेशिकाएँ अधिकता से होती हैं, जिनमें वसा के दाने और आयोडिन तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इस विलक्षण ग्रंथि का थोड़ा-सा भाग यदि काटकर निकाल दिया जाय तो उससे प्राणी के समस्त चालचलन पर प्रभाव पड़

बताइए, इन दोनों व्यक्तियों में (जो सहोदर भाई हैं) आयु में कौन बड़ा है? आप यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि इनमें आगे खड़ा बौना ही बड़ा भाई है और पीछेवाला उससे आयु में छोटा है। यह केवल पिट्यूटरी ग्रंथि का ही प्रताप है, जिसके कारण यह व्यक्ति इस प्रकार ठिगना रह गया, यद्यपि इसके मानसिक विकास में इससे कोई अंतर नहीं आ पाया, कारण यह ज्योतिष और वैद्यक का पंडित है।

सकता है। क्या यह प्रकृति की एक अद्‌भुत लीला नहीं है और सम्पूर्ण अलिफलैला की कथा में भी क्या इससे अधिक आश्चर्यजन-- कोई बात हमें लती है कि मनुष्य की गर्दन का एक छोटा-सा भा देने से ही वह बिल्कुल बदल जाता है? यदि बिल्कुल निकाल दी जाय तो मनुष्य को और लूम होने लगती है, उसकी भुजाओं और टाँगों में भारीपन मालूम होता है, और टाँगों में दर्द होने लगना है। कभी-कभी यह पीड़ा हड्डियों से उठती हुई प्रतीत होती है। चार-पाँच माह बाद चेहरे तथा हाथ-पाँव में सूजन आ जाती है, मासपेशियों में अतर पड़ जाता है और कभी-कभी तो वे कड़ी हो जाती हैं तथा हाथ ठीक से काम नहीं देते। ऐसे व्यक्तियों की स्मरण-शक्ति भी घट जाती है, वे बहरे हो जाते हैं और उन पर उदासी का भाव छा जाता है। वे अपनी ही धुन में लगे रहते हैं। उनकी खाल सूख जाती है। शरीर भारी हो जाता है एवं बाल सफ़ेद होकर गिरने लगते हैं।

कहा जाता है कि यह ग्रंथि भी पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कुछ अधिक बड़ी होती हैं और मासिक धर्म, गर्भावस्था तथा रजोनिवृत्ति के दिनों में यह बढ़ जाती है। यह भी देखा गया है कि स्त्रियों की थॉयराइड ग्रंथि में प्रति-शत आयोडिन का भाग अधिक होता है।

थॉयराइड ग्रंथि के पीछे सटी हुई चार छोटी-छोटी और ग्रंथियाँ पाई जाती हैं, जिन्हें पैरा-थॉयराइड ग्रंथि कहा जाता है। इनमें से एक जोड़ा तो थॉयराइड के पीछे उसके मध्य में घुसा रहता है और दूसरा ठीक उसके ऊपर होता है। ये ग्रंथियाँ बहुत हल्की होती हैं और इनमें वसा-कोष तो होते हैं, परन्तु आयोडिन नहीं होती। ये शरीर के सबसे अधिक रक्तमय अंग हैं। ये ग्रंथियाँ रक्त के कुछ रसायनों को ठीक रखने में सहायक होती हैं।

पिट्यूटरी ग्रंथि की विकृति द्वारा होनेवाले कुपरिणाम का एक और उदाहरण।

इस २७ वर्षीया महिला के शरीर की यह कुदशा (अर्थात् उसका यह बेडौलपन) उसकी पिट्यूटरी ग्रंथि के ही बिगाड़ का कुपरिणाम है।

(४) लुप्त हो जानेवाली थाईमस ग्रंथि—गर्दन के नीचे हृदय से कुछ ऊपर एक छोटी-सी ग्रंथि होती है, जो मनुष्य में केवल गर्भावस्था और बाल्यावस्था में ही पूर्ण रूप से विकसित पाई जाती है। इस ग्रंथि को 'थाईमस' ग्रंथि कहते हैं। यह अधिक से अधिक दो वर्ष की आयु में विकसित होती है और चौदह वर्ष की आयु तक धीरे-धीरे लुप्त होने लगती है। जैसा कि चित्र में प्रदर्शित है, यह ग्रंथि कई छोटे-छोटे गोल पिंडों की बनी होती है, जिनमें संयोजक तन्तु, रक्त-लसिका, नलिकाएँ तथा नाड़ियाँ पाई जाती हैं। प्रत्येक पिंड के बाहरी भाग की रचना भीतरी भाग की रचना से कुछ भिन्न होती है। इस ग्रंथि का रंग श्वेत होता है। कहा जाता है कि यह ग्रंथि शरीर की वृद्धि में भाग लेती है और कदाचित् जननेन्द्रियों की बाढ़ का भी नियंत्रण रखती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य युवावस्था को प्राप्त होता है, इस ग्रंथि के पिंड धीरे-धीरे छोटे होने लगते हैं और चर्बी में छिप जाते हैं, यहाँ तक कि अन्त में उनका पता भी नहीं चलता। यदि यह ग्रंथि बनी रहे तो मनुष्य में एक बड़ा विकार हो जाता है, जिसके कारण वह धक्का या तनाव नहीं सह सकता और छोटी से छोटी चोट भी उसके प्राण ले सकती है।

(५) उपवृक्क या एड्रिनाल (Adrenal) ग्रंथि—प्रत्येक गुर्दे से लगी हुई ऊपर की ओर टोपी की भाँति एक छोटी-सी ग्रंथि होती है, जिसे 'उपवृक्क' कहते हैं। ग्रंथियों का यह जोड़ा बहुत ही रक्तमय होता है और प्रत्येक मिनिट में अपने से पाँच-छः गुना रुधिर इसमें होकर निकल जाता है। ये ग्रंथियाँ भी जनन-स्थान से विशेष संबंध रखती हैं। इनके बाहरी भाग से जो रस निकलता है, वह इन अंगों की वृद्धि पर सीधा प्रभाव रखता है। जिन बालकों में इनका बाहरी भाग अधिक बढ़ जाता है, वे समय से पूर्व ही तरुणावस्था

को प्राप्त हो जाते हैं। बालिकाओं में ये ग्रंथियाँ बालकों की अपेक्षा कुछ भारी होती हैं, लेकिन युवावस्था में पूर्ण यौवन प्राप्त होते-होते वे पिछड़ने लगती हैं। ३० वर्ष की आयु के पश्चात् पुरुष की उपर्युक्त ग्रंथि स्त्री की ग्रंथि से कुछ बड़ी और भारी हो जाती है तथा इसके बाद आजीवन वह ऐसी ही बनी रहती है।

इन दोनों ग्रन्थियों का बोझ आधे तोले के लगभग होता है। इनका भी रस हमारे शरीर के लिए कम उपयोगी नहीं है। जो रस इनसे निकलता है, वह जीवन और शक्ति के लिए अति आवश्यक है। यह रस हमारे रक्त के दबाव पर तथा स्वाधीन मांसपेशियों पर गहरा प्रभाव डालता है। कितना रस रुधिर में जाना चाहिए, यह हमारे व्यायाम करने तथा भय और क्रोध की भावना पर निर्भर है। एकाएक किसी संकट या खतरे का सामना करने में ये छोटी ग्रन्थियाँ अपनी क्रियाशीलता से अनमोल सहायता करती हैं। वे हमारे रुधिर के दबाव को बढ़ाकर मांसपेशियों को कड़ा कर देती हैं और आए हुए संकट का सामना करने योग्य हमें बनाती हैं। क्रोधित मनुष्य का बड़बड़ाना, उसका पीला चेहरा, धड़कता हृदय, फूले हुए नेत्र और खड़े केश इन ग्रन्थियों की उत्तेजना के लक्षण हैं। ये ही प्राणी को युद्ध करने या पीछे भागने के लिए तैयार करती हैं और अचानक खतरा आ पड़ने पर इन्हीं की सहायता से निर्बल मनुष्य भी कभी-कभी असाधारण साहस और बल दिखाता है।

यदि इन ग्रन्थियों के रस की मात्रा में न्यूनता आ जाय तो मांसपेशियाँ निर्बल हो जाती हैं, रुधिर का दबाव कम हो जाता है और नाड़ियों में भी उपद्रव होने लगता है। इनका अधिक रस बनना भी रक्त के दबाव बढ़ जाने का रोग है। किसी प्राणी के शरीर से यदि ये ग्रन्थियाँ निकाल दी जाएँ तो वह मृत्यु की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इन ग्रन्थियों के रस की विशेषता के कारण ही डॉक्टरों द्वारा इनके रस का सत साधारणतः इंजेक्शन के रूप में शरीर में दिया जाता है, जिसके कारण रक्त की छोटी [illegible]लिकाएँ सिकुड़ जाती और घाव या चोट से [illegible] का बहना थम जाता है, या रक्त के द[illegible]व की पू[illegible] [illegible]ती है। इस रस के इंजेक्शन का प्रभाव तुरन्त ही हो[illegible] है।

(६) **क्लोम (Panc‚eas) ग्र[illegible]**—छोटी आँत के आरम्भिक भाग पक्वाशय (Du‚denum) के मध्य में एक पतला चिपटा ग्रन्थिमय अंग है, जिसमें एक पाचक रस बनकर एक नली द्वारा आँत में जाता है, जैसा कि आप पहले जान चुके हैं। यह क्लोम ग्रन्थि के नाम से पुकारा जाता है। इस अंग के बीच बीच में अनेक रसिक ग्रन्थियाँ पाई जाती हैं, जिन्हें **लैंगरहान्स के छोटे द्वीप** के नाम से पुकारा जाता है। इन ग्रंथियों में 'इंसुलिन (Insulin) नामक रस बनता है, जिसका अधिकार शरीर में शक्कर के उपयोग पर है। शारीरिक अंग इसी रस की सहायता से उस शक्कर को, जो रक्त में पाई जाती है, कार्य में लाते हैं। यदि यह रस अंगों को पर्याप्त मात्रा में न मिले तो वे उस शक्कर से काम नहीं ले सकेंगे और लहू में वह शक्कर इतनी मात्रा में एकत्र हो जाएगी कि मूत्र में होकर निकलने लगेगी। ऐसा होने से 'बहुमूत्र' या 'मधुमेह' रोग हो जाता है।

सन् १६३२ ई० में कैनाडा के एक युवक डॉक्टर ने इस बुरे रोग की सर्वप्रथम सफल औषधि निकाली। उसने अन्य पशुओं की क्लोम ग्रन्थि का सत्व निकालकर सुई द्वारा बहुमूत्र के रोगियों के शरीर में भर दिया। इस औषधि ने ऐसा जादू का काम किया कि रोगी अच्छे हो गए। इस औषधि का नाम 'इंसुलिन' रक्खा गया और इसी दान

थाँयराइड ग्रंथि के ठीक से न काम करने पर माइक्सोडीमा नामक रोग मनुष्य को हो जाता है। यह रोग उक्त ग्रंथि का रस शरीर में प्रवेश कराकर बहुत-कुछ अच्छा किया जा सकता है! प्रस्तुत चित्र में बाईं ओर ऐसे रोग से पीड़ित एक व्यक्ति की तस्वीर दी गई है और दाहिनी ओर थाँयराइड ग्रंथि के रस द्वारा उपचार करने के बाद की उसकी दशा चित्रित की गई है।

पर उस डॉक्टर को संसार-प्रसिद्ध नोवेल-पुरस्कार दिया गया। अब तो इंसुलिन काफी मात्रा में बनायी जाने लगी है और मधुमेह रोग पर उसका काफी प्रयोग होने लगा है, यद्यपि कई अवस्थाओं में इस रोग में उससे लाभ नहीं भी होता।

उपर्युक्त ग्रन्थियों के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष के मुख्य उत्पादन-संस्थानों में भी ऐसी कुछ ग्रन्थियाँ हैं, जो एक प्रकार का रस बनाती हैं। यह रस अन्य ग्रन्थियों के सहयोग से स्त्री-पुरुष में भेद करनेवाले लक्षणों और शरीर में चर्बी के बँटवारे का नियंत्रण करता है। इस रस की न्यूनता से शरीर पर दूर-दूर तक बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि युवावस्था प्राप्त होने के पूर्व ही किसी प्राणी के अंडकोश निकाल दिए जाएँ तो उसके पुरुषवाची अप्रधान लक्षण (जैसे मूँछ इत्यादि) का उभार न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त पिट्यूटरी, पैरा-थॉयराइड तथा उपवृक्क ग्रन्थियों पर भी प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार यदि प्रौढ़ स्त्री की डिम्ब ग्रन्थियाँ निकाल दी जाएँ तो उसका मासिक धर्म बंद हो जायगा और स्तन से दुग्ध बनना भी बंद हो जायगा। वृद्ध पशुओं में युवा जानवरों की जनन-ग्रन्थियों के पैबन्द लगाने से कुछ समय के लिए वे फिर स्वास्थ्य और प्रौढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

यकृत

इन मुख्य नलिकाविहीन ग्रन्थियों के अतिरिक्त कुछ और ऐसी ग्रन्थियाँ हैं, जिनमें भी उत्तेजक रस बनते हैं। इनमें से एक यकृत है, जिसका वर्णन हम पिछले एक लेख में कर ही चुके हैं और जो शरीर में सबसे बड़ी ग्रन्थि है। यकृत की गणना नलिकाविहीन ग्रन्थियों में नहीं की जाती, क्योंकि उससे पित्त ले जानेवाली नली निकलती है। परंतु उस में भी बहुत कुछ भीतरी रस बनते हैं। इन रसों में विशेषकर एक प्रकार की शक्कर होती है, जिसे ग्लूकोज़ कहते हैं। हम दिन भर जो कार्य करते हैं, उसके लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति कहाँ से आती है? उसी शक्कर से, जो हमारे रुधिर के एक हज़ार भाग में एक भाग रहती है। शरीर के कोष इस शक्कर से ईंधन का कार्य लेकर यह शक्ति प्राप्त करते हैं। यह शक्कर ही हमारे शरीर-रूपी इंजिन का कोयला है और वही उसे गर्मी और शक्ति प्रदान करती है। ज्यों-ज्यों काम में आने से रक्त में इसकी मात्रा घटती है, त्यों-त्यों यकृत में इकट्ठा किया हुआ ग्लूकोज़ उसके कोषों द्वारा शक्कर में परिवर्तित हो रक्त में मिलता रहता है और उस में शक्कर की मात्रा स्थिर रखता है। प्राय ग्रहण की हुई मॉडी या स्टार्च भी ग्लूकोज़ बनकर रक्त में मिल जाती है तथा यकृत के कोषों में जमा रहकर आवश्यकतानुसार फिर रुधिर में मिलती रहती है।

सात वर्ष की आयुवाला बूढ़ा!

चार्ल्स चार्ल्सवर्थ नामक इस अजीब व्यक्ति का जन्म इंगलैण्ड के स्टैफर्ड-शायर नामक ज़िले में मार्च १४, १८२९, को हुआ था। प्रकृति की विचित्रता देखिए कि चार वर्ष का होने पर ही इस बालक में युवावस्था के लक्षण प्रकट होने लगे, उसके दाढ़ी-मूँछें निकल आईं और इसके बाद वह तेज़ी से बूढ़ा होने लगा! सात वर्ष का होने पर उसके बाल सफ़ेद हो गए और वह मर गया! उसकी यह अनहोनी और अप्राकृतिक कुदशा उसकी ग्रंथियों के दुराचार के कारण ही हुई थी।

एक और ग्रन्थि, जिसका वर्णन बहुधा इसी संबंध में किया जाता है, तिल्ली है, जो पेट में बाईं ओर आमाशय के नीचे सटी रहती है। यह एक नलिकाविहीन ग्रन्थि है। परन्तु जहाँ तक पता चला है, इसमें कोई भीतरी रस नहीं बनता। इसके विषय में वैज्ञानिकों में मतभेद है। यह निश्चित है कि रुधिर के लाल कण जब अपने कार्य के लिए व्यर्थ हो जाते हैं तो तिल्ली में लाकर वे नष्ट कर दिए जाते हैं, ताकि ये निकम्मे कण रक्त की सूक्ष्म केशिकाओं में इकट्ठे हो उसका प्रवाह न रोक सकें। तिल्ली प्रत्येक रक्तकण को देखती है और इस प्रकार उनके लिए वह एक छलनी का काम देती है। यह भी कहा जाता है कि तिल्ली नवीन रक्तकण भी बनाती है। इसमें संदेह नहीं कि वह बाहरी छूत से रक्षा करने का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। एक सम्मति यह है कि तिल्ली में रक्त के श्वेत कण बनते हैं। कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि इस अंग का हमारे शरीर में बड़ा महत्त्व का स्थान है।

ऊपर जिन ग्रन्थियों का उल्लेख किया गया है, उनके अस्तित्व की जानकारी तो कई शताब्दियों से हमें थी, परन्तु इनमें बननेवाले उत्तेजक रसों, उनके रासायनिक प्रभाव और उनकी ठीक-ठीक क्रियाओं का अध्ययन हाल में ही हुआ है, जिससे मनुष्य और पशुओं की वृद्धि और बर्ताव को वश में करने के नवीन ढंग ज्ञात हुए हैं। डाक्टर अब अनेक रोगों पर इन ग्रन्थियों या इनसे बने हुए सत्वों का उपयोग करने लगे हैं। कभी-कभी इनका प्रभाव बहुत तीव्र और त्वरित होता है।

पीछे जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे यह भी स्पष्ट है कि कोई-कोई नलिकाविहीन ग्रन्थि अपने उत्तेजक रस द्वारा अन्य ग्रन्थियों पर भी विचित्र प्रभाव डालती है। प्रथम तीन-चार ग्रन्थियाँ तो बहुधा एक दूसरे से गहरा सहयोग रखती हैं। इसका एक अद्भुत उदाहरण हमें स्त्रियों के जीवन में मिलता है, क्योंकि ज्योंही कोई स्त्री गर्भवती होती है, त्योंही उसका मासिक धर्म बन्द हो जाता है और उसकी डिम्ब ग्रंथियों में एक रस बनने लगता है, जो थॉयराइड ग्रन्थि में पहुँचकर उसे ऐसा प्रभावित करता है कि स्तन में दुग्ध की ग्रन्थियाँ बढ़ने लगती हैं तथा बच्चा उत्पन्न होने के दो दिवस पश्चात् ही उसके लिए वे भोजन तैयार करने लगती हैं।

बालक की बढ़ती हुई थाईमस ग्रंथि से काटा गया एक पर्त्त
यह ग्रंथि गर्दन के नीचे हृदय से कुछ ऊपर होती है और केवल गर्भावस्था तथा बाल्यावस्था ही में पाई जाती है।

ये सब उचित क्रियाएँ भीतरी रसों और ग्रन्थियों के सहयोग से ही ठीक समय पर होती हैं। इस सबंध में एक मनोरंजक प्रश्न पुरुषों के छोटे-छोटे स्तनों के सबंध में उठता है कि जब स्त्रियों के ऐसे स्तन, जिन्होंने कि गर्भावस्था के पूर्व कभी दुग्ध नहीं दिया और जो उनके युवती होने से पहले पुरुषों के स्तनों की भाँति छोटे थे, समय आने पर इन भीतरी उत्तेजक रसों के द्वारा बढ़ने तथा दूध बनाने लगते हैं तो फिर उचित उत्तेजक रसों द्वारा क्या पुरुष के स्तन भी यही कार्य नहीं कर सकते? वैज्ञानिकों का विचार है कि युवावस्था प्राप्त करने से पूर्व अथवा प्रौढ़ हो जाने पर यदि पुरुषों को भी उचित उत्तेजक-रस दिए जायँ तो उनके भी स्तन बड़े होकर स्त्रियों के सदृश दुग्ध बनाने लगेंगे।

इन रस-ग्रन्थियों और उनके उत्तेजक रसों के विषय में ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि ये भी हमारे शरीर के जटिल संस्थान हैं, जो रक्त-संचारक तथा वात-संस्थानों से मिलकर शरीर को सुन्दर तथा स्वास्थ्यप्रद रखने में अपना पूरा भाग लेते हैं। इन संस्थानों को ठीक से समझना अभी हमने आरम्भ ही किया है, तो भी यह कहा जा सकता है कि जब तक ये ग्रन्थियाँ उचित ढंग से कार्य करती हैं, तब तक ही स्वास्थ्य, बल और सौंदर्य ठीक बने रहते हैं। यदि इनमें से एक या अधिक ग्रन्थियाँ मन्द पड़ जायँ या बेकार हो जाएँ तो निश्चय ही सम्पूर्ण ग्रन्थि-संस्थान में गड़बड़ी फैल जाती है और नाना प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ हमारी चैतन्यता में न्यूनता आ जाती है, हमारा स्वास्थ्य गिर जाता है और समय से पूर्व ही हम में वृद्धावस्था छा जाती है। हमारी खाल पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, केश श्वेत हो जाते हैं, निद्रा में कमी आ जाती है तथा हृदय, मस्तिष्क और स्मरणशक्ति में भी कमज़ोरी आ जाती है।

यदि इन अंगों के उत्तेजक रसों का हमारे आचरण को ठीक रखने में इतना बड़ा भाग है, तो फिर प्रश्न उठता है कि नाड़ी-संस्थान (विशेषकर मस्तिष्क) और रक्त-संस्थान (हृदय) को हमारे शरीर में क्यों इतनी श्रेष्ठ पदवी दी गई है? डाक्टर बमफोर्ट स्टेनली ने इस प्रश्न का उत्तर इन सरल शब्दों में दिया है—"ग्रंथियाँ वहाँ से अपना कार्य आरम्भ करती हैं, जहाँ से रक्त और नाड़ियाँ उसे छोड़ती हैं।" यदि नलिकाविहीन ग्रंथियाँ रक्त संचालन और नाड़ी-प्रतिक्रिया से पूर्ण सहायता न पाएँ तो शरीर को स्वस्थ रखने की उनकी शक्ति घटने लगती है तथा वे क्षुब्ध भी जाती हैं। उनके उत्तेजक रस और नाड़ी-क्रिया की यन्त्र-रचना इस प्रकार की है कि जो रक्त इन ग्रंथियों में पहुँचता है उससे वे कुछ तत्त्व ले लेती हैं और अपने में

उनसे अनोखे मिश्रण बना लेती हैं। इन्हीं को हम 'अंगोत्तेजक रस' कहते हैं। तब नाड़ियाँ अपना खेल खेलती हैं। वे ग्रंथियों में कम्पन और उत्तेजना करती हैं, जिसके कारण यह नवीन रस उनमें से निकलकर रक्तधारा में आकर इधर उधर बँट जाता है। यही वह ढंग है, जिससे हमारा यौवन स्थिर रहता है और इसीलिए ये ग्रंथियाँ शरीर में ऐसे उपयुक्त स्थानों पर स्थित हैं कि इनमें से प्रत्येक ग्रंथि मस्तिष्क के मैदान में प्रमुख भाग लेती है और शरीर के किसी भाग पर अपना प्रभाव डालती है। ये ग्रंथियाँ मस्तिष्क और शरीर के मध्य की कड़ियाँ हैं और इनमें मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य की कुंजी छिपी है। उचित स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए इन ग्रंथियों को क्रियाशील रखना अत्यावश्यक है और इसकी कुंजी उचित व्यायाम है। इन ग्रंथियों के क्रियाशील रहने से शारीरिक कोष ठीक बनते रहते हैं और शक्ति प्रदान करनेवाले उनके उत्तेजक रस स्थान-स्थान पर पहुँचकर हमें तरुण, सुन्दर और बलवान बनाये रहते हैं।

इन ग्रंथियों का हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बनाने-बिगाड़ने में जो गहरा हाथ है तथा हमारे यौवन को बनाए रखने में उनके द्वारा उत्पादित उत्तेजक रसों से जो योगदान मिलता है, उससे प्रभावित होकर ही पिछले कुछ वर्षों से कतिपय पाश्चात्य चिकित्सकों ने आशापूर्वक इस बात का प्रयत्न करने की ओर क़दम बढ़ाया है कि शरीर में इन ग्रंथियों के नए पैवंद लगाकर मनुष्य का एकदम कायाकल्प कर दिया जाय और एक निश्चित अवधि के बाद देह में फिर से नई ग्रंथियाँ रोपकर चिर-यौवन का स्वप्न साकार बनाया जाय! इस सबंध में सब से मशहूर नाम विएना (ऑस्ट्रिया) के एक शल्य-चिकित्सक प्रो० वॉरोनॉफ का है, जो कि सन् १९३५ ई० में एक बार भारतवर्ष भी आए थे। इस विशेषज्ञ ने बदरों के शरीर में से निकाली हुई लिंग-ग्रंथियों (अंडकोश की ग्रंथियों) को मानव-शरीर में रोपकर एक नियत अवधि के लिए बूढ़ों को फिर से जवान बना देने का चमत्कार कर दिखाया है और इस प्रकार उसका नाम विश्वविश्रुत हो चुका है। प्रो० वॉरोनॉफ के अतिरिक्त लिन्स्टन, स्टैनले, बोकर आदि अन्य कई एक वैज्ञानिकों ने भी इस सबंध में उल्लेखनीय प्रयोग किए हैं। वॉरोनॉफ के कथनानुसार इस प्रकार के ग्रंथि-पैवंद का प्रभाव लगभग दस वर्ष तक रहता है, अर्थात् पैवंद लगाने के बाद आगामी दस वर्षों के लिए व्यक्ति का यौवनकाल मानों आगे बढ़ जाता है। इस बीच रोपी गई ग्रंथि से नूतन रस स्रवित होकर उसकी रक्तधारा में मिलते रहते हैं। इन रसों का स्रवण जब बद हो जाता है, तब स्वभावतया पुन. शरीर में यौवन के ह्रास का क्रम आरंभ हो जाता है और तेज़ी से बुढ़ापे के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। सन् १९३६ में इस अद्‌भुत प्रयोगकर्त्ता ने विएना में काम करते हुए ग्रंथि-रोपण की एक नवीन विधि का आविष्कार किया था, जिसके कि संबध में उसने यह घोषणा की थी कि यदि यह विधि सफल हो गई तो एक ऐसी जाति उत्पन्न की जा सकेगी जो अतिमानवीय होगी। इस संबध में प्रयाग के 'लीडर' दैनिक पत्र में नवम्बर सन् १९३६ ई० में निम्न रोचक समाचार छपा था —

इस ४२ वर्षीया महिला के चेहरे पर जो मूँछें-सी निकल आई हैं, ये उसके शरीरस्थ ग्रंथियों के ही दुराचार का परिणाम है!

"ये प्रयोग अब उस मंज़िल पर पहुँच चुके हैं जब कि इस प्रस्थापना की जाँच करने के लिए' ' प्रोफेसर को सामान्य स्वास्थ्य के एक दस वर्षीय लड़के की आवश्यकता है, जिसमें कि बदर से निकाली हुई ग्रंथियाँ रोपी जा सकें। यह ऑपरेशन न केवल उस बालक ही के शारीरिक और मानसिक विकास के भावी क्रम पर गंभीर प्रभाव डालेगा, प्रत्युत उसकी भावी सतान पर भी उससे ऐसा असर पड़ेगा कि वे आज के दिन पाए जानेवाले मनुष्यों से कहीं अधिक ऊँचे क़द के और कहीं अधिक शक्तिशाली नर-नारी होंगे!"

यद्यपि इस संबंध में किए गए दावे अतिशयोक्तिपूर्ण भी रहे हैं, फिर भी यह बात निर्विवाद है कि इन रसिक ग्रंथियों का हमारे शरीर में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है और आश्चर्य नहीं कि भविष्य में इनके द्वारा चिरयुवावस्था का अपना स्वप्न मूर्त्तिमान बनाने में हम मूल्यवान् योग प्राप्त कर सकें।

आदत अथवा अभ्यास

हमारे नित्यप्रति के जीवन में कितने ही काम केवल इसलिए होते हैं कि हमें उनकी आदत पड़ जाती है, अथवा उनका हमें अभ्यास हो जाता है। यह 'आदत' या 'अभ्यास' क्या वस्तु है? निश्चय ही इस संबंध में हम समुचित उत्तर मनोविज्ञान ही से प्राप्त कर सकते हैं। प्रस्तुत लेख में इसी विषय का विवेचन किया गया है। इसमें बताया गया है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का इस संबंध में क्या मत है। एक ओर आचरणवादी हैं, जो आदत या अभ्यास को एक प्रकार का स्नायविक गठन मात्र मानते हैं। दूसरी ओर मैकडूगल का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार आदत या अभ्यास सबसे कम रुकावटवाले मार्ग का अनुसरण करने की सहज प्राकृतिक प्रवृत्ति का ही एक रूप है। आइए, देखें कि दोनों में कौन-सा मत अधिक बुद्धिसंगत प्रतीत होता है।

परसों जब हमारे दफ़्तर के सेक्रेटरी साहब पधारे तो मैंने कहा—'टेबुल पर दुनिया भर की निरर्थक चीज़ें इकट्ठा हो गई हैं। इन्हें साफ करना ज़रूरी है। .. .. और यह सिगरेट की राख झाड़ने की तश्तरी मुफ़्त में जगह छेके हुए है, इसे भी यहाँ से हटा दीजिए!'

उन्होंने 'जी' कहकर हुक्म की तामील करना शुरू किया कि मैंने पूछा—'आप तो सिगरेट पीते हैं न?'

वह पुन 'जी' कहकर कुछ शरमा गए।

मैंने कहा—'आप इस वाहियात चीज़ को छोड़ क्यों नहीं देते? पैसे से लेकर फेफड़े तक का नुक़सान होता है इससे!'

उन्होंने कहा—'जी, आदत ही ऐसी पड़ गई है कि ... ।'

मैंने कहा—'छोड़े से नहीं छूटती, क्यों?'

'जी!'

आदत अथवा अभ्यास ऐसी ही बला है। पहले मनुष्य स्वयं इस आदत को बनाता है, फिर उसके जाल में ऐसा फँस जाता है कि चाहकर भी छूट नहीं पाता।

हमारे दैनिक जीवन में अभ्यास का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। अधिकतर कामों की हमें आदत होती है और बिना अधिक प्रयास के वे आप से आप होते रहते हैं। न केवल सिगरेट पीने की ही हमें आदत होती है, बल्कि समय पर ऑफिस न जाने और देर से घर पहुँचने के भी हम आदी होते हैं।

तो हमें देखना यह है कि यह आदत वास्तव में है क्या? मतलब तो यों सभी समझ लेते हैं, लेकिन बहुत ही ढीले अर्थ में प्राय' इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। अत्यधिक गर्म पानी या ठंढी बर्फ पीते समय पहले तो तकलीफ होती है, लेकिन शीघ्र ही इसकी हमें आदत पड़ जाती है। तो क्या इसके यह मानी हुए कि हर काम हम अभ्यास से ही करते हैं?

अगर अभ्यास शब्द केवल वर्णनात्मक होता तो वैसी कुछ हानि नहीं थी, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान में इसका व्यवहार अधिकतर कितनी ही क्रियाओं के कारण-रूप में किया जाने लगा है। आचरणवादी मनोवैज्ञानिक बहुत-सी शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया कलापों का कारण अभ्यास को ही बताते हैं और अभ्यास को वे एक ऐसा स्नायविक गठन समझते हैं, जो मशीन की तरह स्वयं अपना कार्य किए जाता है।

उनके विचार में हमारा स्नायुसंस्थान (Nervous System) अपने अन्दर चालक नाड़ियों (Motor Nerves) का एक बहुत बड़ा जाल बनाए हुए है। इन

चालक नाड़ियों का संबंध भिन्न-भिन्न पेशियों से लगी हुई और-और चालक नाड़ियों से है। जब कभी संवेदन-नाड़ियों में किसी प्रकार का स्पन्दन होता है, तभी कुछ शक्ति चालक नाड़ियों में होकर वह चलती है, जो ऐक्सन (नाड़ी-केन्द्र) से होती हुई चालक नाड़ियों के द्वारा किसी एक पेशी अथवा अनेक पेशियों मे पहुँचती है और विशेष प्रकार की क्रिया उत्पन्न करती है। अब जब कभी उसी प्रकार का स्पन्दन उन्हीं संवेदन-नाड़ियों मे होगा, उन्हीं चालक नाड़ियों से होकर उसी पेशी अथवा पेशियों मे वैसी ही या उन्हीं प्रकार की क्रियाएँ हुआ करेंगी। जितनी ही अधिक बार यह काम दुहराया जायगा, उतनी ही अधिक उसी तरह से उन्हीं रास्तों से स्नायविक शक्ति की बहने की प्रवृत्ति दृढ होती जायगी। इसे ही आचरणवादी कहते हैं 'अभ्यास'।

यह बात नहीं है कि यह सिद्धान्त बिल्कुल ग़लत हो। अगर सच ही यह पूरी तरह ग़लत होता तब तो फिर भी कुछ उपाय हो सकता था। पर चूँकि इसमें सत्यता का काफी अंश है, इसीलिए इसके अत्यधिक उपयोग का ख़तरा बढ गया है!

बचपन में हमने 'अभ्यास' पर एक लेख पढ़ा था। यह लेख हमारे पाठ्यक्रम की किसी पुस्तक में था और हमारे हिन्दी के अध्यापक ने अच्छी तरह इसे हम लोगों को समझाया था। तब से अभ्यास के संबंध में अभी तक हमने जो भी लेख देखे हैं, प्राय सभी में उसी एक सिद्धान्त को घुमा फिराकर दुहराया गया है। साधारणतया ऐसे लेखकों का यह सिद्धान्त है कि हमारा मस्तिष्क पुटीन की तरह बना हुआ है। जिस प्रकार पुटीन पर उँगलियों के निशान पड़ जाते हैं और जितनी ही अधिक बार उस पर उँगलियाँ उसी विधि से रखी जाएँगी, उतने ही गहरे वे निशान बनते जाएँगे, ठीक उसी प्रकार हम जो कुछ भी करते हैं उनके निशान हमारे मस्तिष्क में पड़ते जाते हैं, और उन कामों को जितनी ही अधिक बार हम दुहराते हैं उतने ही गहरे वे निशान होते जाते हैं। फिर तो ऐसा हो जाता है कि वे निशान स्वय ही हमें कार्य करने पर मजबूर करते हैं और जिन कार्यों की हमें आदत पड़ जाती है, वे बड़ी आसानी से हो जाते हैं।

उस विशेष लेख और उसके बाद के वैसे ही लेखों के पढ़ने से हमारे मन में अभ्यास का एक ऐसा ही चित्र बन गया था कि बस कार्य किया नहीं कि चट-से दिमाग़ पर चिह्न पड़ा, और फिर उसे किया नहीं कि चिन्ह और भी गहरा हो गया। और बावजूद काफी परीक्षणों और अध्ययन के अभी भी उस चित्र को जड़-मूल से मन से हटा देने में कभी-कभी काफी दिक्क़त होती है।

यह कहना अनावश्यक है कि यह सिद्धान्त बिल्कुल ही भ्रममूलक है तथा इसके पीछे कुछ भी तथ्य नहीं। फिर भी यह सिद्धान्त जोरों से प्रचलित है, जिससे कि यह सिद्ध होता है कि एक असत्य बहुत बार दुहराने पर 'सत्य' हो उठता है!

ठीक ऐसा ही सिद्धान्त आचरणवादियों का है। उन्होंने अपने विज्ञान की नींव खड़ी करने के पहले ही यह स्वयं-सिद्ध मान लिया कि मन नामक कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसमें सोचने, विचारने, इच्छा करने और निश्चय करने की शक्ति हो। उनके लिए मन केवल स्नायु-संस्थान के सम्मिलित कार्यों का एक दूसरा नाम है; यानी मानव (या पशु) एक यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इतनी बात तो आप जानते ही हैं कि मनुष्य के साथ कुछ सहजात प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो जन्म से ही उसके साथ होती हैं और समय पाकर अपने आपको प्रकट करने लगती हैं। बाक़ी काम वह शिक्षा के द्वारा करना सीखता है। आचरणवादियों का मत है कि सहज प्रवृत्तियाँ प्रतिवर्त्तों (Reflexes) की लड़ी है, जो बहुत समय से बनती चली आई है। एक के बाद दूसरे प्रतिवर्त्त इसी कारण घटित होते चले जाते हैं, क्योंकि उनका क्रम बनते-बनते पक्का हो चुका है। इनके अलावा जो कुछ भी हम करते हैं, वे सापेक्ष प्रतिवर्त्त (Conditioned Reflex) हैं।

संक्षेप में हम यह बता दें कि प्रतिवर्त्त स्नायुओं की उस क्रिया को कहते हैं, जो स्वयं हो जाती है—जिसके लिए हमें इच्छा करने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे आँख पर धूलि-कण का उड़कर आना और आप से आप पलक का झपक जाना। आपने ठीक जाना भी नहीं कि कब धूलि-कण आपकी ओर बढ़ा, कब ठीक आकर आँख से लगा और कब पलक झपक गया! अगर आपने यह भी ऐच्छिक क्रियाओं की तरह किया होता—यानी आपने कण को देखा होता, अर्थात् आपकी संवेदन-नाड़ियों ने मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र पर इस समाचार को पहुँचाया होता, फिर आपके विचार-केन्द्र ने सोचा होता कि चूँकि पहले भी इसी तरह के एक कण (यद्यपि यह कण पहलेवाले से कुछ छोटा लगता है, और कुछ और तरह का भी!) के आँख पर लगने से (और वह तो बाईं आँख पर लगा था, तथा यह दाहिनी आँख की ओर उड़ा आ रहा है!) आँख को कष्ट हुआ था और इसलिए पलक झपकानेवाली क्रिया-नाड़ी को पलक झपकानेवाली पेशियों को उद्दीप्त करने का आदेश

देना पड़ा था और चूँकि इस बार भी वह कण आ रहा है (चाहे आँख दूसरी ही हो फिर भी तकलीफ होने की संभावना तो है); तो ऐसी हालत में फिर पलक की ओर जानेवाली क्रिया-नाडी को पलक झपकानेवाली पेशियों को उद्दीत करने का आदेश दिया जाय, और तब कहीं उन नाडियों ने पलक को झपकने के लिए मजबूर किया होता—तो इन सारी लम्बी चौड़ी क्रियाओं के होने के बहुत पहले ही आपकी आँख में कण घुस भी जाता और फिर आगे के लिए नए क्रिया-कलापों के ऊपर विचार विमर्श करने की आवश्यकता आ पडती,जिनमें एक यह भी तय करना होता कि आया इसमें गुलाब-जल डाला जाय या डॉक्टर को बुलाया जाय। प्रकृति ने इसी कारण बहुत सारे प्रतिवर्त्त बना रक्खे हैं, या यों कहिए कि कालक्रमानुसार अनुभूतियों और परिस्थितियों से विवश होकर ही इन सारे प्रतिवर्त्तों का निर्माण हो गया है।

रूसी वैज्ञानिक पावलोव के परीक्षणों ने साबित किया कि नए प्रतिवर्त्त भी बनाए जा सकते हैं। उसके इतिहास-प्रसिद्ध परीक्षण में, जो एक कुत्ते पर किए गए थे, यह देखा गया कि कुत्ते की जीभ से लार साधारणत तभी टपकती है जब कि उसके सामने खाना लाया जाता है। यह स्वाभाविक है। लेकिन खाने के साथ-साथ अगर एक घंटी भी बजाई जाय, और इसे अनेकों बार दुहराया जाय, तो पीछे सिर्फ घंटी की आवाज़ से भी लार का बहना आरम्भ हो जाता है, यद्यपि घंटी के बजने से साधारणत लार के टपकने का कोई सबध नहीं। इस तरह यह देखा गया कि इसी प्रकार के उपायों से नए-नए प्रतिवर्त्त भी तैयार किए जा सकते हैं और खास खास आदमियों तथा जानवरों में ऐसे प्रतिवर्त्त तैयार भी किए गए।

आचरणवादियों को बस ऐसे ही किसी सिद्धान्त की तलाश थी, इसलिए इस आविष्कार पर वाटसन और उसके अनुयायी तपाक से टूट पड़े और सापेक्ष प्रतिवर्त्त के सिद्धान्त द्वारा मानव और पशु के हर कार्य कलाप को वे समझाने लगे। फलत उनके मतानुसार चाहे वह कार्य हुआ तो सापेक्ष प्रतिवर्त्त कहलाया और वह कार्य हुआ तो भी सापेक्ष प्रतिवर्त्त ही उसका प्रत्युत्तर हुआ।

इस तरह उन्होंने बताया कि अभ्यास भी एक तरह के सापेक्ष प्रतिवर्त्त के सिवा और कुछ नहीं है। और उस सापेक्ष प्रतिवर्त्त के निर्माण के तरीके जो उन्होंने जो समझाया कि एक बार जिन नाड़ियों से होकर स्नायु-शक्ति (Nervous Energy) बह जाती है, आगे चलकर भी उन्हीं नाड़ियों से वह बहना पसन्द करती है। इस तरह दो काम एक साथ संयोजित हो उठते हैं, जैसे कमीज़ का पहनाया जाना और हाथ का बटनों पर आपसे आप चला जाना।

थोड़ा और आगे बढ़िए। मनुष्य सामाजिक नियमों को मानकर चलने का बहुत जल्दी अभ्यस्त हो जाता है। समाज ने न जाने कितने युगों में कितने ही प्रकार के नियम बनाए हैं, लेकिन हर मनुष्य पैदा होने के बाद प्रत्येक नियम का विश्लेषण करके तब उसे मानने लगता हो ऐसा नहीं पाया जाता। नियमों को हम एक बार औरों की देखा-देखी मानने लगे। बस वैसे ही उन्हें मानने की हमें आदत पड़ गई। इसे आप सामाजिक अथवा सामूहिक अभ्यास कह सकते हैं।

यदि वाटसन से हम पूछें कि यह कैसे होता है तो उत्तर में वह कहेगा—सापेक्ष प्रतिवर्त्त। वह कहेगा कि नई पीढ़ी के व्यक्ति ने भी देखा कि लोग ऐसा ही करते हैं, अत उसने भी ऐसा ही किया, और जितनी ही अधिक बार उसने ऐसा किया, उतने ही मजबूत उसके प्रतिवर्त्त होते गए।

मान लिया यह हमने। लेकिन यह याद रखिए कि प्रत्येक सापेक्ष प्रतिवर्त्त के बनने के लिए पहले कुछ समय तक उस प्रकार की संयोजित क्रियाओं के होने की आवश्यकता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि कोई भी क्रिया (ऊपर के मतानुसार) चाहे तो सहजात प्रतिवर्त्त (प्रवृत्ति) है, या फिर बना हुआ सापेक्ष प्रतिवर्त्त। तो वाटसन साहब ने जो यह सिद्धान्त बनाया अथवा जिस दिन पहलेपहल उनके दिमाग़ में कुत्ते के ऊपर घंटी बजवाकर लार टपकवानेवाला परीक्षण करने का ख्याल आया था (जो अवश्य ही सापेक्ष प्रतिवर्त्त रहे होंगे!) तो उनके बन जाने के पहले ठीक इसी प्रकार की क्रियाएँ कब हुई थीं? और अगर पहले ऐसी क्रियाएँ हुए बिना ही ये कार्य हो गए तो फिर उनका सापेक्ष प्रतिवर्त्त वाला सिद्धान्त कहाँ चला गया?

फिर से हम याद दिला दें कि ये आचरणवादी न तो मनुष्य (न किसी जानवर) में किसी प्रकार के विचार करने, इच्छा करने, समझने आदि की शक्ति का होना मानते हैं!

बहुत-कुछ इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त मैकडूगल का है। लेकिन मैकडूगल का सिद्धान्त अधिक सही तथा बुद्धिमत्तापूर्ण प्रतीत होता है। वह मन का अस्तित्व भी मानता है और इस बात पर भी विश्वास करता है कि प्रत्येक कार्य के पीछे एक प्रयोजन भी है। उनका कहना है कि—

प्रकृति का नियम ही है कि हर बहनेवाली शक्ति सबसे कम बाधावाले रास्ते का ही अनुसरण करती है। अगर

ज़मीन पर पानी ढलका दीजिए तो जिधर अधिक ढालू मार्ग होगा, या रुकावट सबसे कम होगी, उधर ही वह बह निकलेगा। इसी कारण जब कभी पानी किसी ख़ास ओर नहीं बह रहा हो, उस समय चूँकि सतह हर तरफ़ एक प्रकार की ही होगी, तो आप जिधर धारा मोड़ देंगे उधर ही वह बह चलेगा। दो तारों के बीच होकर बहती विद्युत् धारा उसी तार में और अधिक आसानी से जाती है, जिसकी कि बाधक-शक्ति (Resistance) कम होती है। ठीक यही हाल प्राणियों की नाड़ियों का भी है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि शरीर मे दो प्रकार की नाड़ियाँ हैं—एक सवेदन (Sensory) नाड़ियाँ, दूसरी क्रियात्मक (Motor) नाड़ियाँ, जिन्हें क्रमशः Afferent और Efferent Nerves भी कहते हैं। सवेदन-नाड़ियाँ वे हैं, जो बाहर से बृहत् मस्तिष्क तक सवेदनाएँ ले जाती हैं। क्रियात्मक नाड़ियाँ वे हैं, जो बृहत् मस्तिष्क से पेशियों तक उद्दीपन पहुँचाती हैं। मस्तिष्क से पेशी तक एक ही नाड़ी लगातार नहीं पहुँचती, बल्कि उनके बीच-बीच में कई नाड़ी-केन्द्र बने हुए हैं, जिन्हें ऐक्सन कहते हैं। ये ऐक्सन एक प्रकार के जक्शन हैं, जहाँ एक से अधिक नाड़ियाँ मिलती हैं। इन्हीं ऐक्सनों से होकर भिन्न-भिन्न पेशियों में उद्दीपन पहुँचता रहता है और पेशीय कार्य होते रहते हैं। मान लीजिए कि मन ने चाहा कि मैं लिखूँ। ऐसी दशा मे जो क्रिया-प्रक्रिया होगी वह इस प्रकार की होगी। मस्तिष्क उचित मात्रा मे स्नायु-शक्ति (अथवा उसे आप लहर कह लें) उस नाड़ी (या नाड़ियों) मे भेज देगा, जो हाथ तथा उँगलियों की लिखने-संबंधी पेशियों की ओर जाती हैं। यह लहर एक ऐक्सन से दूसरे ऐक्सन या ऐक्सनों से होकर हाथ तथा उँगलियों की पेशियों में पहुँच जाती है। बीच में उन्हीं ऐक्सनों से दूसरी ओर भी नाड़ियाँ गई होती हैं, लेकिन वह लहर अपनी वाछित नाड़ियों ही की ओर जायगी।

जब इसी लिखने के काम को हम फिर दुहराते हैं तो चूँकि कई बार क्रियाओं की यह लडी काम मे आ चुकी है, इसलिए उपर्युक्त नाड़ी-लहर के लिए एक रास्ता बन चुका है, और ऐक्सन पर की बाधा (या रुकावट) बहुत कुछ कम हो चुकी है। इसलिए दूसरी नाड़ियों में जाने के बजाय उन्हीं ख़ास नाड़ियों से होकर उसका जाना आसान हो गया है। अतः जितनी ही अधिक बार यह कार्य अब दुहराया जायगा उतनी ही कम बाधा का मार्ग तैयार होता चला जायगा, और उस कार्य के होने मे आसानी होती चली जायगी। ऐसा होते-होते ऐसा एक समय आयगा जब ऐक्सनों पर की बाधा अत्यधिक कम हो जायगी, और लिखने की इच्छा होते ही स्वतः ही लिखने का कार्य सम्पन्न हो जायगा। इस प्रकार जहाँ शुरू-शुरू 'क' लिखने मे भी ऐच्छिक प्रयास की आवश्यकता पड़ेगी, वहाँ जैसे-जैसे काम के दुहराने की सख्या बढती जायगी, वैसे वैसे ऐच्छिक प्रयास की आवश्यकता भी कम होती जायगी और अब तो बिना प्रयास ही सभी अक्षर और उनके सैकड़ों प्रकार के योग आपसे आप कलम की नोक पर उतरते जाएँगे! यही है अभ्यास!

पहलेपहल जब क्रे मछली को टब में छोड़ा गया तो वह कभी मार्ग क की ओर गई और कभी ख की ओर। स्पष्ट है कि क की ओरसे जाने पर बाधा घ के कारण वह अपनी इच्छित वस्तु ग को नहीं पहुँच सकती थी, और ख की ओर जाने से ग तक पहुँच जाती थी। लेकिन यह बात नहीं देखी गई कि एक बार ही क की ओर से निराश होकर वह फ़ौरन् ख की ओर दौड़ी गई अथवा ख की ओर से अपनी इच्छा के पूर्ण होने पर दुबारा क की ओर गई ही नहीं। इसके बजाय कई बार ऐसा होने के बाद भी यह पाया गया कि यद्यपि कभी-कभी वह क की ओर भी चली जाती है, किन्तु अब ख की ओर ही उसका जाना अधिक होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि धीरे-धीरे एक ओर से बार-बार बाधा पड़ने तथा दूसरी ओर से आसानी से इच्छापूर्त्ति होने के कारण ही ख की ओर जाने का उसे अभ्यास होता गया।

अभी तक अभ्यास के संबंध में जितने भी सिद्धान्त हमने देखे हैं, उनमें मैकडूगल का यह सिद्धान्त अधिक बुद्धि-गम्य मालूम पड़ता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार आदत कैसे पडती है, इसका एक मनोरजक परीक्षण नीचे दिया जाता है:—

क्रे-मछली नामक एक बहुत ही छोटी मछली होती है और उसमें अधिक बुद्धि का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। प्रयोग के लिए पानी का एक चतुष्कोण टब लिया गया, जिसके एक किनारे पर क्रे मछली को रखा गया और दूसरे

किनारे पर उसके खाने योग्य कुछ सामग्री **ग** रखी गई। बीच में एक लम्बी दीवार दे दी गई, जिसके कि एक ओर शीशे की तख्ती **घ** देकर रास्ता रोक दिया गया। इस तरह मछली **क** को खाद्य **ग** तक पहुँचने का एक ही रास्ता रहा—**ख** की ओर से होकर। अब जब उसे पहलेपहल छोड़ा गया तो वह कभी **क** की ओर गई और कभी **ख** की ओर। स्पष्ट है कि **क** की ओर से जाने पर वह अपनी इच्छित वस्तु **ग** को नहीं पहुँच सकती थी, और **ख** की ओर से जाने से **ग** तक पहुँच जाती थी। लेकिन यह बात नहीं देखी गई कि एक बार ही **क** की ओर से निराश होकर वह फौरन् **ख** की ओर दौड़ने लगी हो, अथवा **ख** की ओर से अपनी इच्छा के पूर्ण होने पर दुबारा **क** की ओर जाती ही न हो, या फौरन् **ख** की ओर से ही जा निकलती हो। किन्तु कई बार ऐसा होने के बाद यह पाया गया कि यद्यपि कभी-कभी वह **क** की ओर भी चली जाती है, किन्तु अब **ख** की ओर ही उसका जाना अधिक होता है।

अर्थात् एक ओर से बार-बार बाधा तथा दूसरी ओर से आसानी के साथ इच्छापूर्त्ति होने के कारण ही धीरे-धीरे **ख** की ओर जाने का अभ्यास उसे होता गया!

आचरणवादी इसकी कैफियत क्या देंगे, यह तो हमारे ऊपर के विवाद से ही आप समझ जाएँगे और मैकडूगल के सिद्धान्त के अनुसार कैसे इसे समझा जा सकता है, यह भी सुस्पष्ट है।

लेकिन यह बात नहीं कि सिर्फ इतने ही कारणों से अभ्यास-निर्माण का रहस्य समझा जा सकता है।

अभ्यास भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो मानसिक, दूसरे शारीरिक। शारीरिक अभ्यासों के निर्माण का तरीका ऊपर दिया हुआ है, और उन मानसिक अभ्यासों का भी कारण बहुत-कुछ उसीसे समझ लिया जा सकता है, जिनका अस्तित्व अधिकतर नाड़ियों (स्नायु-संस्थान) पर ही है। लेकिन सम्पूर्ण रूप से मानसिक अभ्यास को सिर्फ इन्हीं सिद्धान्तों पर नहीं समझा जा सकता।

उदाहरणत किसी भाषा के सीखने और साइकिल चलाने के अभ्यास को लें। साइकिल चलाना एक ऐसा अभ्यास है, जो आरम्भ में तो बहुत अधिक सक्रिय मानसिक तथा शारीरिक प्रयास की अपेक्षा रखता है, लेकिन जैसे-जैसे शरीर को इसका अभ्यास पड़ता जाता है, मानसिक प्रयास की आवश्यकता कम होती जाती है, यहाँ तक कि अन्त में इतना अधिक अभ्यास हो जाता है कि बिना किसी प्रकार का ध्यान दिए ही हम से आप से आप साइकिल चलने लगती है। लेकिन भाषा सीखने में जहाँ नेत्र, वाग्यन्त्र आदि को भी अभ्यस्त करना पड़ता है, वहाँ किसी ऐसी शक्ति को भी इसका अभ्यस्त बनाना पड़ता है, जिसे यह कहकर शरीर में नहीं दिखाया जा सकता कि देखो, यही वह चीज़ है! इसे ही कहते हैं मन। इस मन को जल्दी तथा आसानी से किसी विशेष चीज़ का अभ्यास पड़ना (और किसी-किसी बात का अभ्यास बहुत बार चेष्टा करने पर भी नहीं पड़ता) उसकी अपनी दिलचस्पी और उसके अन्तर्मन में निहित नाना प्रकार की गूढ़ेपाओं (Complexes) पर निर्भर है। चूँकि हम अपने आगे के लेखों में मनोविश्लेषण के सिलसिले में इन बातों पर प्रकाश डालनेवाले हैं, इसलिए यहाँ अधिक विस्तारपूर्वक उनकी विवेचना की आवश्यकता नहीं समझते। लेकिन मानसिक और शारीरिक अभ्यासों के एक विशेष अन्तर को हम यहाँ बता देना चाहते हैं, जिसे प्राय सभी लोगों ने अनुभव किया होगा।

मानसिक अभ्यास दोहराए नहीं जाने पर आसानी से छूटते जाते हैं, जब कि शारीरिक अभ्यास प्राय एक बार अच्छी तरह जमकर बैठ जाने के बाद बहुत लम्बे अरसे तक भी अगर दोहराए नहीं जायँ तो भी छूटते या भूलते नहीं। आज दस साल की मेहनत के बाद अगर आपने अंग्रेजी पर काबू पाया है और फिर दस साल तक उसे काम में लाना आप छोड़ देते हैं, तो ग्यारहवें साल उसका अधिकांश आपके दिमाग़ से बिल्कुल खिसका हुआ-सा मिलता है। जब कि दस साल के बाद भी सिर्फ थोड़ी-सी हिचक से ही आप मज़े से फिर साइकिल चला सकते हैं! उस समय तनिक झिझक भर ही आपको होगी।

कारण यह है कि प्रकृति का ऐसा नियम देखा गया है कि विकास-क्रम में जो वस्तुएँ सबसे हाल में विकसित हुई हैं, वे ही सबसे पहले नष्ट होती हैं। शरीर का विकास बहुत दिनों से होता आया है और उसी के अनुसार मस्तिष्क के निम्न केन्द्र (Lower Centre) का भी विकास हुआ है, जब कि मस्तिष्क के उच्चतर केन्द्रों का विकास बिल्कुल हाल का है। शारीरिक अभ्यास का संबंध मस्तिष्क के बिल्कुल निम्न केन्द्रों से है, अतएव वे अधिक स्थायी होते हैं, जब कि मानसिक अभ्यास मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों से संबंध रखते हैं, इसीलिए वे जल्दी छूट जाते हैं।

इसीलिए जहाँ हमारे आफिस के सेक्रेटरी साहब बीच-बीच में अंग्रेज़ी के शब्द भूलते जाते हैं, वहाँ सिगरेट पीने की उनकी आदत छूटती नहीं!

संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के काँच के एक कारख़ाने में ढाली गई १०×१२ फीट आकार की बृहदाकार शीशे की प्लेटें। इनसे अनुमान किया जा सकता है कि काँच के निर्माण का व्यवसाय आज के दिन कितना आगे बढ़ चुका है।
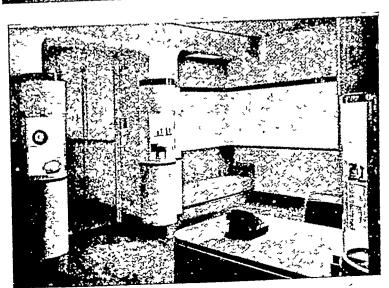
बेकेलाइट नामक प्लास्टिक द्वारा निर्मित प्रवेश-द्वार, दीवार, खम्भे, मेज़-कुर्सी आदि से सुसज्जित एक आधुनिक ऑफ़िस का कमरा। इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि हमारे दैनिक जीवन की आवश्यकता-पूर्ति के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रभुत्व स्थापित करते जा रहे इस कृत्रिम नम्य पदार्थ का भविष्य कितना व्यापक और आशाप्रद है।
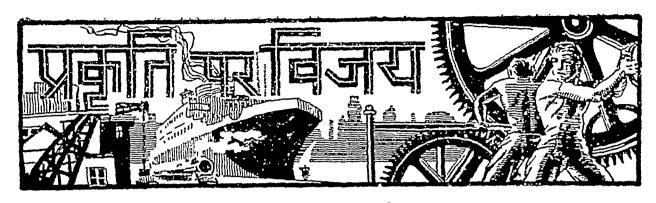
प्लास्टिक (या नम्य पदार्थ) तथा काँच

वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में सबसे अधिक महत्त्व का स्थान यद्यपि लोहे को प्राप्त है, किन्तु क्रमशः ऐसे कुछ नूतन आविष्कृत पदार्थ भी औद्योगिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाने लगे हैं, जो कि आश्चर्य नहीं यदि किसी दिन लोहे से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लें ! इस प्रकार के कृत्रिम नम्य पदार्थ साधारणतया 'प्लास्टिक' के नाम से अभिहित किए जाते हैं। प्रस्तुत लेख में इन्हीं का परिचय दिया गया है, साथ ही हमारे दैनिक जीवन के उनसे मिलते-जुलते अन्य एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ 'काँच' के बारे में भी जानकारी प्रस्तुत की गई है।

मानव इतिहास हमें बतलाता है कि अभी पिछली सदी तक अपने लिए विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करने के निमित्त मनुष्य केवल उन्हीं पदार्थों का उपयोग करता था, जो प्रकृति द्वारा उसे उपलब्ध थे। उदाहरण के लिए लकड़ी, पत्थर, मिट्टी तथा धातुओं को लेकर वह अपने लिए तरह-तरह की चीज़ें बनाता था। परन्तु सदैव से ही इन पदार्थों की कमियों से भी वह अवगत था। लकड़ी की बनी चीज़ों में आग लगने का डर रहता है। दीमक सरीखे कीड़े भी इन्हें क्षति पहुँचा सकते हैं और नमी आदि के कारण भी शीघ्र ही ये नष्ट हो जाती हैं। धातुएँ भारी भरकम होती हैं तथा इनमें से विद्युत् तथा ताप का प्रवाह आसानी से हो सकता है। अतः मनुष्य इस धुन में लगा हुआ था कि एक ऐसे पदार्थ का निर्माण कर ले, जिसमें इस तरह के अवगुण कम से कम मात्रा में मौजूद हों। विज्ञान के नूतनतम अनुसंधानों ने आख़िर उसकी इस आकांक्षा की भी पूर्ति कर दी है। आज वैज्ञानिक ने मानों ब्रह्मा से होड़ लगाकर प्लास्टिक के रूप में एक अद्‌भुत् पदार्थ की रचना कर ली है। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि आज जैसा आदेश दिया जाय, ठीक वैसा ही प्लास्टिक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में तैयार कर सकता है। काँच सरीखा पारदर्शक, रबड़ के समान हलका तथा लचीला, प्रज्वलनशील अथवा अप्रज्वलनशील, और मज़बूती में इस्पात से टक्कर लेनेवाला, हर तरह का प्लास्टिक आज निर्मित किया जा सकता है।

मशीनों के ये 'गियर' या दाँतदार पहिए, फ़ौलाद के बजाय एक प्रकार के प्लास्टिक से बने हुए हैं, फिर भी ये हैं उतने ही मज़बूत !

बेकेलाइट, गटापार्चा तथा सेलूलाइड की जाति के पदार्थों की गणना प्लास्टिक ही में की जाती है। लगभग ३५ वर्ष पूर्व पहली बार प्लास्टिकों के निर्माण का श्रीगणेश हुआ था। रुई, शोरे के तेज़ाब तथा कपूर की पारस्परिक रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप पहले पहल सेलूलाइड बनाया गया था। सिनेमा की फ़िल्में इसी एक

प्लास्टिक-निर्माण का श्रीगणेश—नाइट्रो-सेलूलोज़-पल्प की तयारी

जैसा कि इसी अंक के रसायन-विज्ञान स्तंभ के अंतर्गत आप जान चुके हैं, सेलूलोज़ ही विविध प्लास्टिकों का मूलभूत पदार्थ है। इस चित्र में कच्ची रुई को नाइट्रिक और सल्फ्यूरिक ऐसिड के घोल में मथकर नाइट्रो-सेलूलोज़ तैयार करने का दृश्य अंकित है।

पदार्थ से तैयार की जाती हैं। परन्तु सेलुलाइड का सबसे बड़ा अवगुण यह है कि तनिक-सी आँच पकड़ते ही वह भभककर जल उठता है।

आधुनिक रूप के प्लास्टिकों के आविष्कार का श्रेय बेल्जियम के सुविख्यात रसायनज्ञ डा० बेकेलाइट को प्राप्त है। संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) में इस क्षेत्र में वह अनुसन्धान कर रहे थे। वहीं १९०३ में प्रथम आधुनिक प्लास्टिक तैयार करने में वह सफल हुए। यह कार्बोलिक ऐसिड तथा फार्मेल्डिहाइड की पारस्परिक रासायनिक क्रिया से निर्मित एक ठोस पदार्थ था, जो एक विशेष क्षारीय पदार्थ के साथ गरम करने पर एक लसीले पदार्थ का रूप धारण कर लेता था और ठण्डा होने पर जम जाता था। इसे ही बेकेलाइट के नाम से आज पुकारते हैं। इसे उपयुक्त ठप्पों में रखकर हलकी गरमी पहुँचाकर दबाते हैं, और तब विभिन्न वस्तुओं का रूप दे लेते हैं, अथवा विभिन्न प्रकार के तैल में घोलकर इससे उत्तम श्रेणी का वार्निश तैयार कर लेते है।

प्रायः बेकेलाइट के पाउडर को लकड़ी के बुरादे के सग मिलाकर एक कर लेते हैं। फिर तेज़ गरमी पहुँचाकर तथा दबाव डालकर इसे ठप्पों द्वारा विभिन्न वस्तुओं की आकृति में तैयार कर लेते हैं। इस ढंग से बनाई गई [illegible]लाइट की वस्तुएँ पूर्ण रूप से ठोस बन जाती हैं, इन्हें पुनः पिघलाकर नवीन रूप नहीं दिया जा सकता। इस रूप में ये अत्यन्त सुदृढ़ होती हैं और धातुओं की तरह काटकर इन्हें खराद पर भी चढ़ाया जा सकता है। ठप्पे में दबाव से बनाई गई इन चीज़ों पर अपने आप ही बढ़िया पालिश निखर आती है।

आजकल प्लास्टिक में विशेष दृढ़ता का समावेश कराने के लिए बड़े पैमाने पर एक तीसरी विधि प्रयुक्त की जा रही है। पिघले हुए प्लास्टिक में किर्मिच, कागज या कपड़े की तहें डुबाकर उन्हें एक के ऊपर एक रखकर गरम करते हैं तथा उन पर अतिशय दबाव डालते हैं। फलस्वरूप सभी तहें मिलकर एक ठोस पिण्ड बन जाती हैं। यह पदार्थ दृढ़ता में इस्पात का मुक़ाबला करता है। ऐसे प्लास्टिक द्वारा मशीनों के गियर (अर्थात् दाँतदार पहिए) तक बनाए गए हैं। ये मुश्किल से घिसते हैं, साथ ही उनके काम करने में किसी तरह की आवाज़ भी पैदा नहीं होती।

प्लास्टिक तैयार करते समय रासायनिक द्रवों में थोड़ा हेर-फेर करके उसमें तरह-तरह के गुणों का समावेश कराया जा सकता है। आइसोब्यूटिरिक ऐसिड से प्राप्त प्लास्टिक काँच की भाँति पारदर्शक होता है। इस श्रेणी के प्लास्टिक से बढ़िया लेन्स तैयार किये जा रहे हैं, जो चश्मे, दूरबीन तथा पेरिस्कोप के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। उपर्युक्त प्लास्टिक कुछ बातों में काँच से भी उत्तम ठहरते हैं। इनमें से होकर स्वास्थ्यवर्द्धक अल्ट्रा-वायलेट किरणें आसानी से गुज़र सकती हैं—काँच में से होकर ये किरणें गुज़रने नहीं पातीं। अत अस्पतालों तथा सेनेटोरियम में रोगी के कमरे की खिड़कियों में काँच के स्थान में इस ढंग के प्लास्टिक लगाए जा सकते हैं। काँच की अपेक्षा इन्हें अधिक सुगमतापूर्वक काटकर खराद द्वारा इच्छानुसार आकृति में लाया जा सकता है। इन्हें परस्पर जोड़ने के लिए किसी अन्य पदार्थ की ज़रूरत नहीं पड़ती, केवल पिघलाने

पर ही एक भाग दूसरे भाग से पूर्णतया जुड़ जाता है, जिस प्रकार कि तेज़ आँच में पिघलाकर लोहे के दो टुकड़े एक दूसरे के साथ जोड़ दिए जाते हैं! गत महायुद्ध (१६३६-४५ ई०) मे प्लास्टिक के बने हुए लेन्स लाखों की संख्या में दूरबीनों, सूक्ष्मदर्शक यंत्रों तथा केमरों के अन्दर प्रयुक्त किए गए थे। विशेषज्ञों की धारणा है कि लाखों की संख्या मे काँच के लेन्स इतने कम समय मे कदापि तैयार नहीं किये जा सकते थे।

अभी तक ठप्पों द्वारा प्लास्टिक से छोटे आकार की वस्तुएँ ही (उदाहरणार्थ बिजली की स्विच, केमरे की बॉडी, कलमदान, कंघे, टाईपिन, बटन आदि) तैयार की जाती थीं। किन्तु अमेरिका (जो इस व्यवसाय मे अन्य देशों की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ है) अब इस अनुसन्धान मे लगा हुआ है कि किस प्रकार बड़े आकार की वस्तुएँ भी प्लास्टिक से तैयार की जायँ। कुछ कारखानों में तो प्लास्टिक से कुर्सी, मेज आदि भी तैयार की गई हैं, जिन पर अलग से पालिश करने का बखेड़ा ही नहीं रहता। साबुन और पानी की मदद से धो देने पर इनमे पुनः चमक आ जाती है। शीघ्र ही मोटरकार की समूची बॉडी तथा वायुयान के बाह्यावरण भी प्लास्टिक के बनने लगेंगे। अनुमान लगाया गया है कि प्लास्टिक से ढालकर मोटरकार या वायुयान की बॉडी तैयार करने में समय की भारी बचत होगी और महीनों का काम इस प्रकार एक दिन में पूरा किया जा सकेगा।

इस तरह हम देखते हैं कि प्लास्टिक द्वारा वस्तुओं का निर्माण करने में अन्य पदार्थों की अपेक्षा अनेक सुविधाएँ हैं। इनमें चीज़ों को औजारों की मदद से गढ़ना नहीं पड़ता, केवल साँचे की मदद से एक के बाद एक उन्हें ढालते जाइए! इस क्रिया में अधिक देर भी नहीं लगती। छोटे आकार की वस्तुओं के लिए तो प्लास्टिक को दस-बीस सेकण्ड या अधिक से अधिक मिनट दो मिनट तक ही गरम करना पड़ता है। हाँ, बड़े आकार की वस्तुओं के निर्माण के लिए (उसकी मात्रा अधिक होने के कारण) लगभग एक घंटे तक उसे गरम करना होता है। साँचे से बाहर निकलने पर प्लास्टिक की वस्तुओं पर अपने आप चमकदार पालिश निखर आती हैं, जो पानी आदि के संसर्ग से ख़राब नहीं होती। इच्छानुसार इन चीज़ों में तरह-तरह के रंगों का समावेश भी आसानी के साथ किया जा सकता है। साँचे में ढालने के पहले ही गरम करते समय प्लास्टिक में रंग मिला देते हैं। ये रंग पूर्णतया पक्के होते हैं! इनकी छटा भी अत्यन्त आकर्षक बनायी जा सकती है, जैसे इन्द्रधनुष के सातों रंग एक साथ ही उनमे भरे जा सकते हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि निकट भविष्य मे प्लास्टिक का

बेकेलाइट नामक प्लास्टिक द्वारा निर्मित हज़ारों प्रकार की जो वस्तुएँ आज के दिन हमारे नित्य के व्यवहार में आती हैं, उन में से एक सुपरिचित वस्तु है टेलीफ़ोन का 'चोंगा', अर्थात् उसका वह भाग जिसे कान और मुँह से लगाकर बातचीत की जाती है! चित्र मे उपयुक्त साँचों मे ढालकर तथा ठप्पों मे दबाकर इसी वस्तु को निर्मित करने का दृश्य दिखाया गया है।
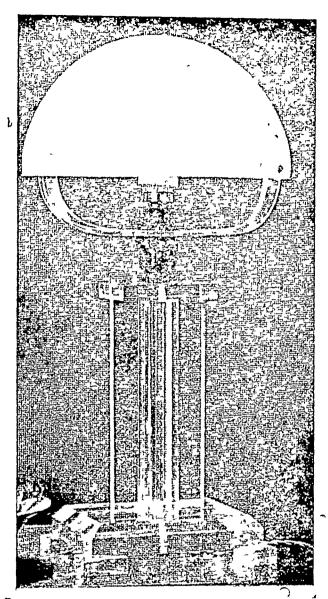
प्लास्टिक का बना हुआ सुन्दर विद्युत्-प्रदीप
जो काँच की तरह पारदर्शी होने पर भी उसकी तरह टूटने-वाला नहीं है।

उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में बड़े भारी पैमाने पर होने लगेगा। आज तो इसके व्यवसाय का शैशवकाल ही है। निश्चय ही भविष्य के अनुसन्धान इसकी उपयोगिता को और भी बढ़ा सकेंगे।

काँच

काँच की भी गिनती हम एक प्रकार के प्लास्टिक ही में कर सकते हैं, क्योंकि तप्त अवस्था में यह भी प्लास्टिक की ही भाँति मुलायम हो जाता है और दबाव डालकर अथवा हवा की फूँक के जोर से इसे मनोवाञ्छित रूप दिया जा सकता है। काँच के निर्माण का गुर लोगों को लगभग २००० वर्ष पूर्व भी मालूम था, किन्तु उन दिनों यह दुष्प्राप्य-सा था—इसे मात्र विलास-सामग्री माना जाता और उसका उपयोग केवल धनी व्यक्ति ही कर पाते थे। मिस्र तथा फारस में उन दिनों काँच के निर्माण का व्यवसाय विशेष उन्नति पर था। किन्तु आठ-दस वर्षों के अनवरत परिश्रम के उपरान्त ही कारीगर इस कला को उन दिनों सीख पाते थे। फिर इस व्यवसाय के कारीगर अपने हुनर के रहस्य की रक्षा अपने प्राणों के समान करते थे। इतिहास से पता चलता है कि एक वेनेशियन काँच की फैक्टरी के कई कारीगरों को केवल इसीलिए प्राणदण्ड दिया गया था कि उन्होंने विदेशियों को प्रसिद्ध वेनेशियन काँच के निर्माण का गुर बताना चाहा था।

आधुनिक समय में तो काँच के व्यवसाय ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है। अब दस-बीस नहीं बल्कि हज़ारों तरह के काँच तैयार किए जा रहे हैं। एक ओर साबुन के झाग के बबूलों जैसे हलके काँच बनाए जा रहे हैं, जो पानी पर कॉर्क की भाँति तैरते रहते हैं, तो दूसरी ओर उसकी इतनी मज़बूत चद्दरें बनाई जा रही हैं, जो कि इस्पात की चद्दरों का मुक़ाबला करती हैं। इन्हें आप आरी से काट भी सकते हैं। उदाहरण के लिए काँच की लगभग १ इंच मोटी चद्दर को काँच के ही बने चार छोटे खम्भों पर टिकाकर उस पर एक हाथी खड़ा कर दिया गया। इस पर वह चद्दर बीच में नीचे को तनिक से लची तो सही, किन्तु उसमें कहीं भी चिटख न आने पाई। एक दूसरे प्रयोग में तीन फीट की ऊँचाई पर से सेर भर वज़न की लोहे की गेंद काँच की चद्दर पर गिराई गई, किन्तु उससे भी उस काँच को क्षति नहीं पहुँची। प्रायः काँच के गिलास में अचानक गर्म चाय उँडेलने पर वह टूट जाता है, पर अब यह कमी भी दूर हो गई है। अब अमेरिकन कारख़ानों में ऐसे काँच बनने लग गए हैं, जिन पर शीत या ताप का कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता। इस श्रेणी के काँच से बने एक गिलास को बर्फ की सिल्ली पर रखकर उसमें पिघला हुआ तप्त सीसा उँडेला गया, पर गिलास चिटखा नहीं। शतप्रतिशत पारदर्शक काँच भी आजकल बनने लग गए हैं। इस तरह के काँच खिड़की में लगा देने पर बिना हाथ से स्पर्श किए यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि खिड़की में काँच लगा भी है या नहीं।

इस स्वच्छ चमचमाते हुए रंग-बिरंगे अद्भुत पदार्थ—काँच—का निर्माण होता है साधारण बालू से! यदि बालू को तेज भट्टी की आँच में गर्म किया जाय तो वह

पिघलकर पारदर्शक कॉँच में परिणत हो जायगी। कहा जाता है कि पुराने ज़माने में मनुष्य को कॉँच के निर्माण की सूझ अकस्मात हुई थी। कहते हैं, कुछ लोग शिकार के उपरान्त रेतीली चट्टान पर मॉस भून रहे थे। तभी आग की गर्मी से बालूमय चट्टान पिघली और उसने पारदर्शक कॉँच का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार मनुष्य को पहलेपहल बालू से कॉँच बनाने की विधि मालूम हुई।

बालू में क्षारीय पदार्थ मिला दिया जाय तो मामूली आँच पर ही इसे पिघला सकते हैं। अत फैक्टरी के अन्दर साफ बालू में साधारण सोडा या पोटाश की नपी-तुली मात्रा मिलाकर उस मिश्रण को कूट लेते हैं। फिर उसमें कॉँच के नन्हे-नन्हें टुकड़े मिलाते हैं। अब इसे विद्युत्-शक्ति से या गैस द्वारा प्रज्वलित भट्टियों में डाल देते हैं। फलतः यह समूचा मिश्रण पिघलकर एकदिल हो जाता है। तब भट्ठी के दूसरे छोर पर इस पिघले हुए कॉँच में से एक लम्बे नल द्वारा आवश्यकतानुसार छोटा-बड़ा लोंदा उठा लेते हैं और इसी नल के दूसरे सिरे की ओर से उसमें फूँक मारते हैं। इस तरह पतले कॉँच का जो गुब्बारा फूलता है, उसे ही साँचे की मदद से बोतल, शीशी या गिलास में परिणत कर लेते हैं। नलके से अलग करने पर कॉँच की इन वस्तुओं को फौरन ही ठण्डी नहीं होने देते। बल्कि इन्हें एक तश्त पर क्रम से रखकर उस तश्त को धीरे-धीरे एक लम्बी मॉँद में से गुजारते हैं। मॉँद के अन्दर हवा का तापक्रम ज्यों-ज्यों अगले सिरे तक पहुँचता है, त्यों-त्यों कम होता जाता है। इस क्रिया को 'अनीलिंग' (Annealing) कहते हैं। यदि यह क्रिया न की जाय तो जल्दी ठण्डी होने के कारण कॉँच के बर्तनों की दीवालों में बल पड़ जाता है। फलस्वरूप ज़रा-सा झटका लगने पर ही वह बर्तन टुकड़े-टुकड़े हो सकता है।

आधुनिक फैक्टरियों में उपर्युक्त नलके के बदले मशीनें काम करती हैं। इस प्रकार की बोतल बनाने की मशीन में अनेक पेचीदा भुजाएँ लगी होती हैं। यह मशीन समान गति से घूमती रहती है, और बारी-बारी से ये भुजाएँ भट्ठी के अन्दर में पिघले हुए कॉँच का लोंदा उठा लेती हैं। फिर भुजा की नलिकाओं में से हवा की सॉंस आकर लोंदे को फुलाती तथा साँचे के अन्दर उसे बोतल का रूप दे देती है। इस मशीन द्वारा स्वयं ही बोतल अलग कर दी जाती है तथा मशीन ही उन्हें तश्त पर क्रम से सजाकर तश्त को अलग सरका देती है। इस प्रकार की मशीनें प्रति मिनट ५००० तक बोतलें तैयार कर लेती हैं। इसी तरह विद्युत् बल्ब तैयार करनेवाली मशीनें प्रति मिनट ६०० बल्बों का निर्माण करती हैं। खिड़की के लिए कॉँच की चद्दरें ठीक उसी प्रकार बेलनों के बीच दबाकर तैयार की जाती हैं, जिस प्रकार कि टाटा के कारखाने में लोहे की चद्दरें। ये मशीनें एक दिन में एक लाख वर्गफीट कॉँच

कॉँच के एक छोटे-से कारखाने में कारीगर फूँक देकर पिघले हुए कॉँच का एक गुब्बारा-सा बना रहा है। इसे ही साँचे की मदद से बोतल, गिलास आदि का रूप यह दे लेता है। इस क्रिया में यह एक लंबी नली से काम लेता है, जिसके कि एक छोर से यह भट्ठी से पिघले हुए कॉँच का एक लोंदा-सा उठा लेता है और तब दूसरे छोर से फूँक मारकर उसका गुब्बारा फुलाता है। इसी गुब्बारे को एक साँचे की मदद से यह अपने मनोवांछित पात्र की आकृति में बदल लेता है। यही काम अब मशीनों से भी होने लगा है!
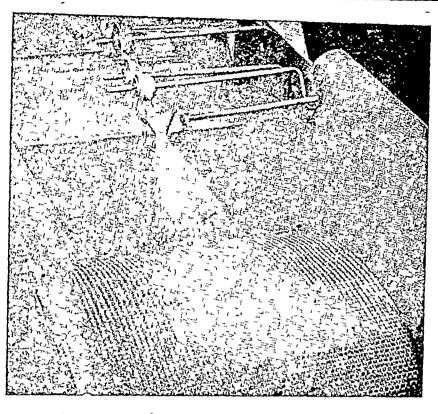
रेशेदार काँच के निर्माण की एक क्रिया, जिसमें एक विशेष प्रकार के शीशे की कंकड़ियों को पिघलाकर उस पिघले हुए द्रव को प्लैटिनम की एक छलनी के बारीक सूराख़ों में से भाप के विशेष दवाव के साथ गुज़ारते हैं, जिससे कि वह लंबे रेशों में परिणत हो जाते हैं। ये रेशे साथ घूमनेवाले एक परेते पर अपने आप लिपटते चले जाते हैं। इन रेशों के धागे इतने वारीक होते हैं कि इनकी मुटाई हमारे सिर के वालों की मुटाई के बीसवें अंश से भी कम होती है। इन्हें मशीन प्रति मिनट एक मील की लंबाई के हिसाब से खींचती है।

की चद्दर वना लेती हैं। बड़ी फैक्टरियों में भट्टी के अन्दर एक बार में लगभग दो टन काँच गलाया जाता है और क़रीव ६० या ७० घण्टे में वालू आदि का वह मिश्रण वहाँ पिघलकर तैयार होता है। इस भट्टी के अन्दर का ताप-क्रम ३००० डिग्री फारेनहाइट तक पहुँच जाता है।

काँच में तरह-तरह के गुणों का समावेश करने के निमित्त भट्टी में डालने के पहले ही वालू के साथ विभिन्न पदार्थ मिलाए जाते हैं। उदाहरण के लिए वालू में जितना अधिक सोडा मिलाया जायगा, उतनी ही अधिक तापवर्द्ध-नीयता उसमें आ जाएगी। ठण्ड पाकर वह अधिक सिकुड़ेगा और ताप पाकर उसमें अधिक प्रसार होगा। फलस्वरूप अचानक गरम या ठंठा होने पर वह टूट जायगा। विशेष चमक लाने के लिए बालू में पोटाश के अतिरिक्त सीसे की ऑक्साइड भी मिलाते हैं। कैमरे के लेन्स तथा त्रिपार्श्व आदि के लिए सीसेवाला काँच ही उपयुक्त ठहरता है।

प्रयोगशाला में प्रयुक्त होनेवाले काँच के बर्त्तनों के लिए ज़रूरी है कि वे साधारण आघात से टूटे नहीं तथा आँच को भी एक सीमा तक वे सह सकें। इन दोनों ही गुणों का समावेश करने के लिए वालू में पोटाश के साथ वोरिक ऑक्साइड तथा अल्यूमीनियम मिलाते हैं। इस श्रेणी के काँच के निर्माण में इतनी अधिक सफलता प्राप्त की जा चुकी है कि अमेरिका में काँच की देगची और कढ़ाइयाँ तक वनने लगी हैं, जिन्हें आँच पर चढ़ा देने से वे टूटती नहीं। इसके अलावा इनके अन्दर रखे हुए पदार्थ में ताप का समावेश भी अपेक्षाकृत अधिक होता है, क्योंकि धातु के वर्त्तन अपनी चमक के कारण चूल्हे की आँच के ताप का अधिकांश भाग (६० प्रतिशत) परावर्त्तित कर देते हैं, जबकि काँच केवल ३ प्रतिशत ताप को ही वापस परावर्त्तित करता है।

काँच में रंग का समावेश करने के लिए वालू के मिश्रण में धातुओं की ऑक्साइड मिलाते हैं। लोहे की ऑक्साइड से हरा रंग पैदा होता है, मैंगनीज़-ऑक्साइड से बैंगनी रंग, तथा कोवाल्ट-ऑक्साइड से नीला रंग उत्पन्न होता है।

वास्तव में प्रत्येक श्रेणी के काँच के लिए निश्चित गुर हैं, जिन्हें प्रत्येक फैक्टरी गुप्त रखती है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध कोर्निङ्ग-ग्लास-वर्क्स में विभिन्न श्रेणी के काँच के निर्माण के लिए ३००० नुस्ख़े आज़माये जा चुके हैं। अपने विभिन्न गुणों के कारण ही काँच की उपयोगिता का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। आजकल काँच से पम्प, विजली का लोहा, मेज़-कुरसी, ग्रामोफोन के रेकार्ड तथा रसोई के वर्त्तन तक वनने लग गए हैं।

पिछले दशक में एक सर्वथा नवीन जाति के काँच का निर्माण हुआ है। इसे रेशेदार या फाइवर ग्लास (Fibre Glass) कहते हैं। वास्तव में इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास जर्मनी ने किया था। प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८ ई०)
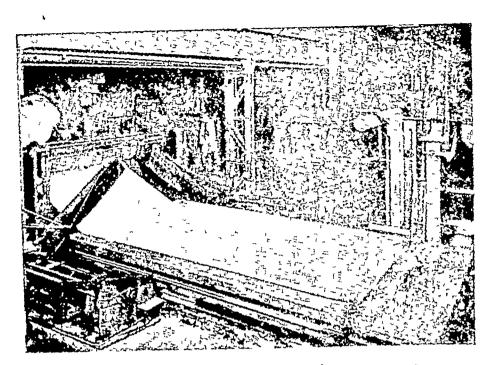
पिघला हुआ काँच मशीन के बेलनों द्वारा फैलाया जा रहा है

यह काँच गैस की भट्टी में पिघलाया जाता है, जिसका तापमान १६०० डिग्री सेंटीग्रेड होता है। बेलनों द्वारा समतल और समान मुटाई का हो जाने पर यह ठंढा किया जाता है। इस प्रकार उसकी प्लेटें बन जाती हैं।
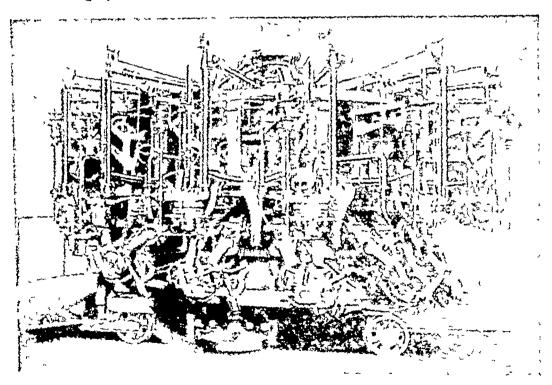
बोतल बनानेवाली अद्भुत मशीन

इस पेचीदा मशीन में कुल मिलाकर दस हज़ार छोटे-बड़े हिस्से होते हैं और यद्यपि इसमें इतनी ताक़त होती है कि दस हाथियों को उनकी दुम से ऊँचे उठाकर या तेज़ी से नाचे और घुमा सकती है, फिर भी इतनी कोमलता के साथ अपना काम पूरा करती है कि पतली दीवार की नाजुक से नाजुक बोतलों को प्रति मिनट सैकड़ों की तादाद में ढालकर तथा फूल की तरह उठाकर धातु में भरती चली जाती है और कभी उनमें बल भी नहीं पड़ने पाता।

कौन कहता है कि काँच नमनीय या लचीला नहीं होता?

संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के काँच के एक कारखाने में यह युवती विशेष प्रकार के काँच की एक प्लेट को लगभग एक फ़ुट भर खींचकर उसकी नमनीयता का प्रदर्शन कर रही है!

काँच का कपड़ा

स्तुत चित्र में रेशेदार काँच का कपड़ा बुना जाते तथा विधिवत् करघे र लिपटते दिखाई दे रहा है, जिस प्रकार कि मिलों के करघों पर साधारण कपड़ा बुना जाता है।

में एस्वेस्टॉस की सप्लाई बन्द हो जाने के बाद जर्मनी के वैज्ञानिकों ने रेशेदार काँच का आविष्कार किया, ताकि एस्वेस्टॉस के स्थान पर इसे ही वे प्रयोग में ला सकें। उन दिनों पिघले हुए काँच में से बारीक धागा धीरे-धीरे हाथ से ही खींचा जाता था, फिर उसे परेते पर लपेट लेते थे। बाद में इस काम के लिए मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा, ताकि काँच के धागे बारीक और एक सी ही मुटाई के खींचे जा सकें। इन दिनों प्राय: दो प्रकार के धागे काँच से तैय्यार किये जाते हैं—एक सूत या रेशम के धागे की तरह पूरी लम्बाई का होता है, जो हज़ारों गज़ की लम्बाई तक पहुँचता है, तथा दूसरा रुई के रेशे की तरह छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में होता है। ये धागे इतने बारीक होते हैं कि इनकी मुटाई सिर के बाल की मुटाई के बीसवें अंश से भी कम होती है। फैक्टरी की मशीनें पिघले हुए काँच से बड़ी तेज़ी के साथ धागे खींचती हैं—प्रति मिनट एक मील की रफ़्तार से! आधा सेर पिघले हुए काँच से इतना लम्बा धागा काता जा सकता है कि वह पृथ्वी के चारों ओर कम से कम एक बार पूरा लपेटा जा सकता है! इस धागे का व्यास एक इंच के ४० हज़ारवें भाग के बराबर होता है। ये धागे सीधे भट्टी के तप्त काँच से नहीं प्राप्त किये जाते। सबसे पहले भट्टी के अन्दर के पिघले काँच से गोलियाँ तैयार की जाती हैं। फिर इनकी जाँच करने के उपरान्त इन्हें पुनः पिघलाते हैं, और तब इस दुबारा पिघलाए गए काँच को प्लैटिनम की छलनी के बारीक सूराख़ मे से विशेष दबाव के साथ गुज़ारने पर ये धागे प्राप्त होते हैं। ये धागे तेज़ी के साथ घूमनेवाले परेते पर अपने आप लिपटे चले जाते हैं। छोटे रेशे प्राप्त करने के लिए पिघले हुए काँच में भारी दबाव की भाप (High Pressure Steam) गुज़ारते हैं। इसके जोर से छलनी के सूराख़ों में से काँच के बारीक रेशों के टुकडे तेजी के साथ निकलते हैं, जो नीचे हरकत करती हुई एक पेटी पर गिरते रहते हैं। ये रेशे उलझी हुई लच्छियों के रूप मे प्राप्त होते हैं।

इस रेशेदार काँच से अब चटाइयाँ, कम्बल आदि भी बनाए जाते हैं। इनमें से होकर न तो विद्युत् ही प्रवाहित हो सकती है और न ताप ही। रेशों के बीच फँसी हुई हवा ताप को एक ओर से दूसरी ओर जाने नहीं देती। यदि आप

काँच के रेशों को विधिवत् बटकर उनका मज़बूत सूत बनाया जा रहा है, जिससे कि आगे चलकर कपड़ा बुना जाने को है। यह सूत इतना बारीक होता है कि आधा सेर पिघले हुए काँच में से जितना धागा बनता है, वह सारी पृथ्वी के आस-पास एक बार पूरा लपेटा जा सकता है। इसकी मुटाई एक इंच के ४० हज़ारवें भाग के बराबर होती है। ये धागे बड़ी तेज़ी के साथ कतते चले जाते हैं और बटने के बाद उसी प्रकार फिरकियों पर लिपटते चले जाते हैं, जैसे कि किसी कपड़े की मिल में सूत!
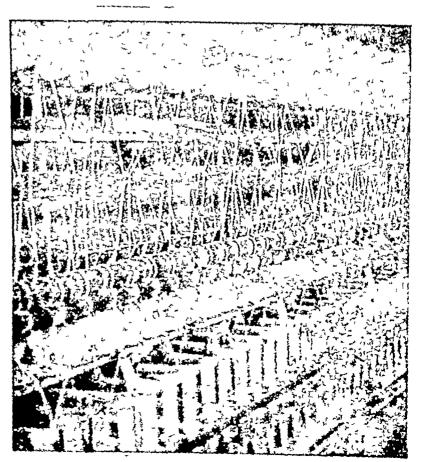
चाहते हैं कि कमरे के अन्दर बाहर से ध्वनि न आ सके, तो दीवालों पर इन काँच के रेशों से बने हुए पर्दे लटका दीजिए। बाहर कितना ही कोलाहल क्यों न होता हो, भीतर पूर्ण शान्ति रहेगी। साथ ही इस काँच के पर्दे में न तो दीमक लग पाएगी और न तेज़ाब या मामूली आग का ही इस पर असर हो सकेगा। इन पर्दों के भीतर धूल भी नहीं समा सकती। बस गीले कपड़े को साबुन की झाग में डुबाकर उसे पर्दे पर एक बार फिरा दीजिए—पर्दा स्वच्छ और साफ हो जायगा।

इस काँच के धागे से मेज़पोश, नेक-टाई आदि भी अब बनने लग गए हैं। इन धागों पर विशेष रीति से तैय्यार किए गए रंग भी चढ़ाए जा सकते हैं। अत काँच के धागों से बनी टाई रंग-बिरंगी और सुंदर होती हैं। कुछ दिन हुए शेफील्ड के ग्लास-टेक्नालाजी के प्रोफेसर टर्नर के विवाह में उनकी पत्नी के लिए विवाह की पूरी पोशाक ही काँच के धागों से तैयार की गई थी—यहाँ तक कि हैट, जूते तथा हैण्डबैग भी काँच के ही बनाए गए थे।

काँच तथा प्लास्टिक के व्यवसाय में कुछ ही वर्ष हुए एक सर्वथा नवीन ढंग का प्रयोग किया गया है। पिघले हुए प्लास्टिक में विशेष प्रकार के यंत्र द्वारा हवा की तीव्र धारा छोड़कर उसे उद्वेलित करने पर प्लास्टिक की समूची मात्रा साबुन की झाग की शक्ल धारण कर लेती है। इसी अवस्था में इसे अचानक ठण्डा कर देने पर प्लास्टिक सख्त हो जाता है—उसके भीतर हवा के असंख्य बुलबुले बन्द हो जाते हैं। इसी कारण इस रूप में प्लास्टिक कार्क से भी दस गुना हलका होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों गोंद सरीखे लसीले पदार्थ के छोटे-छोटे असंख्य बबूले आपस में सटकर सख्त हो गए हों। प्लास्टिक के आवरण पर पानी का भी प्रभाव नहीं होता, अत इस प्रकार के प्लास्टिक से अच्छे लाइफबोट का निर्माण किया जा सकता है, जिसके डूबने की आशंका हो ही नहीं सकती। गत महायुद्ध में डूबने से बचानेवाली इस तरह की नौका के हलके बेड़े अमेरिकन सरकार ने तैय्यार भी किए थे। ऐसे जलयान का सैकड़ों गोलियों से बिंधने पर भी बाल बाँका नहीं हो सकता। ये बबूलेवाले प्लास्टिक हलके होने के बावजूद भी काफी मज़बूत होते हैं। इन्हें बढ़ई के औज़ारों से लकड़ी की भाँति हम काट भी सकते हैं तथा इनके अन्दर कीलें भी ठोकी जा सकती हैं।

यह महिला जिस पोशाक को पहने हुए है, वह रेशेदार काँच के कपड़े द्वारा निर्मित की गई है। यह कपड़ा किसी भी साधारण रेशमी या सूती कपड़े की तरह कतर-ब्योंतकर सिया जा सकता है!

ताप का अधम संचालक होने के कारण इस तरह के प्लास्टिक से होकर एक ओर से दूसरी ओर ताप का आना-जाना नहीं हो सकता। अत उपयुक्त रीति से यदि इसके द्वारा मकान की दीवाल बनायी जाय तो कमरे में बाहर की गर्मी या सर्दी का असर न होगा, साथ ही इसमें से छनकर बाहर से पर्य्याप्त मात्रा में रोशनी भी पहुँच सकेगी।

प्लास्टिक ही की तरह दहकते हुए तप्त काँच में भी उपर्युक्त प्रकार से हवा की धारा प्रविष्ट कराकर उसे झाग का रूप दिया जाने लगा है। इस प्रकार नन्हें-नन्हें लाखों सूक्ष्म बबूले काँच के अन्दर बन जाते हैं। इस ढंग के फुलफुले काँच की ईंटें कार्क की भाँति हलकी होती हैं—इन पर आग, पानी, धूप या कीड़े-मकोड़े का कोई असर नहीं पड़ता! इन्हें भी हम फुलफुले प्लास्टिक की भाँति आरी से काट सकते हैं। अत मकान की छत अथवा दीवालों के निर्माण के लिए ये अत्यन्त ही उपयोगी ठहरती हैं और इस दिशा में उनका प्रयोग भी होने लगा है।

इस प्रकार वैज्ञानिकों की अनूठी सूझ से अत्यन्त सामान्य वस्तुओं द्वारा निर्मित ऐसे अद्भुत पदार्थों का हमारे औद्योगिक और दैनिक जीवन के क्षेत्र में समावेश हो गया है, जो आश्चर्य नहीं यदि भविष्य में हम पर पूरा प्रभाव जमा लें।

सभ्यताओं का उदय—(१०) प्राचीन ग्रीस

३. ग्रीक संस्कृति

इस स्तंभ के पिछले दो लेखों में प्राचीन ग्रीस के दो प्रमुख शक्ति-केन्द्रों—स्पार्टा और एथेन्स के नगर-राज्यों—के राजनीतिक उदय एवं अवसान की गाथा संक्षेप में सुनाई जा चुकी है। साथ ही उन्हीं के पड़ौसी मक्दूनिया राज्य के आकस्मिक अभ्युत्थान तथा सिकन्दर महान् के नेतृत्व में न केवल ग्रीस वरन् उत्तरी मिस्र, एशिया कोचक, फ़ारस (ईरान), एवं पंजाब (भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त) तक उसकी शक्ति के प्रसार का भी उल्लेख सूत्र रूप में किया जा चुका है। किन्तु इस राजनीतिक उतार-चढ़ाव की कहानी से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा गौरव-गरिमामय तो है उस पुरातन युग में संस्कृति के विशद प्राङ्गण में हर दिशा में प्रगति की अनूठी छटा झलकानेवाली महिमाशाली ग्रीक जाति की व्यापक साधना और कमाई की वह अजरामर गाथा, जोकि इतिहास के पृष्ठों पर सदा के लिए उज्ज्वल अक्षरों में अंकित हो चुकी है। तो फिर आइए, वर्तमान प्रकरण में इसी गौरवकथा का सारांश प्रस्तुत कर उस अद्‌भुत जाति की उन्नतावस्था की एक झलक दिखाने का प्रयास करें, जिसने कि योरप को ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता का सर्वप्रथम वरदान दिया तथा जिसका प्रभाव कालान्तर में संसार के अन्य भूभागों में उच्छ्‌वसित सांस्कृतिक धाराओं पर भी पड़े बिना न रह सका, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से उसका भाग्य-मार्तण्ड बाद को अवनति के घटाटोप में छिपकर एकबारगी ही अस्त हो गया।

किसी भी देश की संस्कृति वहाँ के वातावरण और रहनेवालों के जीवन के विकास के साथ घने रूप से सबद्ध रहती है। समय के साथ उत्थान-पतन का क्रम भी चलता है। 'यूनान, मिस्र, रोमा, सब मिट गए जहाँ से'— इस पंक्ति में कवि ने यही भाव ध्वनित किया है। जो यूनान कभी सूर्य की भाँति चमका था, आज उसकी कहानी भर रह गई है।

यूनान या ग्रीस की उस युग की कहानी का पता उसके प्राचीन ध्वंसावशेषों, परम्परागत साहित्य तथा पुरातत्त्व-सामग्री से हमें लगता है।

यूनान के सांस्कृतिक विकास में ओलिम्पस पर्वत का बहुत बड़ा हाथ है। आजकल के ओलिम्पिक खेलों का इतिहास इस पर्वत से ही शुरू होता है। ओलिम्पस की ऊँचाई नौ-हजार सात सौ सत्तर फ़ीट है। इस हिमाच्छादित पर्वत का यहाँ वही स्थान रहा है, जो भारत में हिमालय का है। यूनान का समुद्रतट [illegible] की भाँति [illegible] है। योरप के तीन दक्षिणी पठारों में यूनान अंतिम पठार है। इसके पश्चिम में 'आइओनियन समुद्र' और पूरब में 'ईजियन समुद्र' है। प्राचीन यूनान की परिधि में इन दोनों समुद्रों में स्थित द्वीप भी सम्मिलित थे। इस प्रदेश को उसी तरह बृहत्तर यूनान का सम्मिलित नाम दिया जा सकता है, जिस तरह कि पूर्वीय द्वीप-समूहों सहित भारत को 'बृहत्तर भारत' कहकर पुकारा जाता है।

इस देश में उथली नदियाँ हैं, जो सिंचाई के काम की नहीं हैं, और मैदान भी कटे-फटे हैं। भूमध्यसागरीय जलवायु होने से यहाँ अंगूर, सेब, नासपाती, संतरे, जैतून, अंजीर, अखरोट, नींबू, आदि फल प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं। कठिनाई से कुछ गेहूँ, जौ, चना, तम्बाकू भी उत्पन्न होते हैं। भेड़-बकरियों तथा गाय बैलों के लिए घास यहाँ अच्छी उत्पन्न होती है। इसलिए ये जानवर यहाँ कसरत से पाले जाते हैं। धातुओं में सोना और चाँदी दोनों यहाँ की खदानों से मिलते हैं।
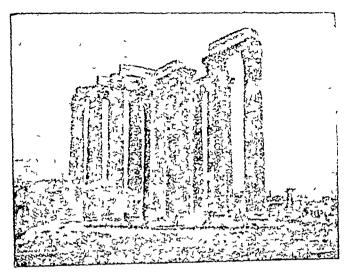
यूनान की पूर्वकालिक राज्यश्री यद्यपि आज फीकी पड़ चुकी है, फिर भी उसके बचे-खुचे स्मारक आज भी उसके बीते गौरव की याद दिलाते हैं! ऊपर ओलिम्पिया में स्थित ज़ीअस के प्रसिद्ध मंदिर के ध्वंसावशेषों का चित्र है। दाहिनी ओर एपिडॉरस की प्रख्यात रंगभूमि है, जो कि प्राचीन यूनान की सबसे सुन्दर नाट्यशाला थी। नीचे थिसीओन के सुन्दर देवालय का चित्र है, जो कि प्राचीन ग्रीक स्मारकों में सबसे अधिक सुरक्षित इमारत है। यह इमारत एक्रापॉलिस के तले के मैदान में खड़ी है और ३६ खंभों सहित उसका संगमरमर का ढाँचा डोरिक शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय सामुद्रिक व्यापार तथा सूती और ऊनी कपड़े का काम रहा है। ये लोग भिन्न-भिन्न देशों में सदैव घूमते-फिरते रहे हैं, जिससे तरह-तरह की संस्कृतियों से इनका संपर्क होता रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके जीवन का विकास उनके देश के वातावरण और उनके निजी स्वभाव के अनुकूल ही हुआ है, जिसकी कि उनकी संस्कृति में पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

भारतवर्ष में जिस समय महाभारत का युद्ध (ई० पू० २००० वर्ष) चल रहा था, कहते हैं, उन्हीं दिनों आर्य लोगों का एक दल यूराल पर्वतों को पार करता हुआ रूस के दक्षिणी भाग से भूमध्य-सागर की ओर बढ़ रहा था। इस समय भूमध्य-सागर के आसपास के देशों में परिपक्व ईजीयन संस्कृति का साम्राज्य था, ठीक उसी तरह जिस तरह कि भारत में आ[illegible]ों के प्रसार से पहले द्रविड़ों की संस्कृति का प्रभुत्व था। भारत में आर्य क्रमश: तीन धाराओं में समय-समय पर फैलते दिखाई दिए और उन तीनों धाराओं के रहन-सहन, बोलचाल तथा व्यवहार में काफी अंतर रहा। वे लोग द्रविड़ों की संस्कृति से स्वयं प्रभावित हुए, उनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा, बदले में उनको प्रभावित किया तथा अन्त मे उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर उन्हें अपना दास बनाते वे नज़र आए। ठीक इसी प्रकार यूनान में भी उनकी तीन प्रमुख धाराएँ उत्तर-पूरब से फैलीं। पहली धारा उज्ज्वलकेशी ऐकियन लोगों की थी, जिन्होंने ईजियन संस्कृति को इतनी शीघ्रता से अपना लिया कि वे उसके अंग जैसे बन गए। दूसरी धारा इओलिक लोगों की आई और तीसरी उन सबसे अधिक शक्ति-संपन्न एवं उग्र डोरिक लोगों की, जिन्होंने पूर्वोल्लिखित ईजियन संस्कृति को पराभूत कर उसके अच्छे अंशों को अपने में आत्मसात कर लिया और इस प्रकार अपने से पहले के लोगों को अपने में मिलाकर नए यूनान
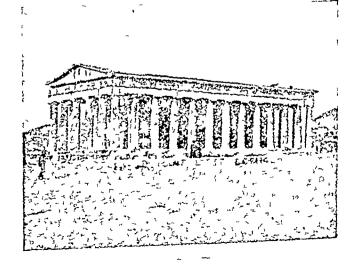
का निर्माण किया। इस कार्य के पूर्ण होते-होते लगभग एक हज़ार वर्ष लग गए। इन बीते एक हज़ार वर्षों का इतिहास आज भी धूमिल है। वही यूनान का प्राचीनतम इतिहास है।

वस्तुत नई यूनानी संस्कृति का इतिहास ईस्वी पूर्व के हज़ार वर्षों का इतिहास है, जिसमें आरंभिक सात सौ वर्ष विशेष महत्त्व के हैं। इन सात सौ वर्षों का इतिहास ही प्राचीन यूनानी इतिहास कहलाता है। यूनान ने अन्य देशों से जो कुछ अपनाया तथा जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण देन विश्व के इतिहास को उसने दी, उसका संबंध इन सात सौ वर्षों से ही है। इस युग में यूनान ने अपने समाज, राज्य-तंत्र, धर्म, व्यापार, कला-कौशल, विज्ञान, साहित्य और दर्शन का बहुमुखी विकास किया और योरप को वे विचारधाराएँ दीं, जिनकी भित्ति पर आज का पाश्चात्य जीवन विकसित हुआ है। यूनानी संस्कृति विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण और समन्वय के परिणाम-स्वरूप विकसित हुई है और भारत ने भी उस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। हमारे देश के उपनिषद्, सांख्य, चिकित्सा-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, गणित, ज्योतिष, न्याय, वैशेषिक, योग और वेदान्त का छाप प्रभाव ऐनेक्सिमेंडर (६१०-५४६ ई० पू०), ऐनेक्सिमेनीस (५६०-५२५ ई० पू०), थेल्स (६४०-५५० ई० पू०), एनेक्सिगोरस (५००-४२८ ई० पू०), पाइथागोरस (५३०-५०० ई० पू०), जेनोफेनीज़ (५००-४०० ई० पू०), हिरैक्लिटस, एम्पिडोक्लीज़, डेमोक्रिटस (४६०-३७० ई० पू०), सुकरात (४६६-३६६ ई० पू०), प्लेटो (४२७-३६० ई० पू०), अरिस्टोटल (३८४-३२२ ई० पू०) आदि पर निश्चित रूप से पड़ा है। पश्चिम के दिग्गज विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है। यूनान की जनश्रुति के अनुसार थेल्स, एम्पिडोक्लीज़, एनेक्सिगोरस और डेमोक्रीटस ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष तक पहुँचे थे। सर विलियम जोन्स ने सुकरात की जैमिनी से, अरस्तू की गौतम से, प्लेटो की व्यास से, पाइथागोरस की कपिल से और ज़ेनो (४६०-४२० ई० पू०) की पतंजलि से समानता दिखलाते हुए यह बताया है कि यूनान की दार्शनिक विचारधाराओं में 'पेरिपेटेटिक' विचारधारा का न्याय से, 'आयोनिक' का वैशेषिक से, 'प्लेटोनिक' का वेदान्त से, 'इटेलिक' का सांख्य से और 'स्टोइक' का योग से अत्यधिक साम्य है। पीकॉक ने 'इंडिया इन ग्रीस' में यूनान पर भारत की बहुमुखी छाप को अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर दिखलाया है और यूनान के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति रिवाज, देवी-देवता, नामकरण, त्योहार, उत्सव, एवं काव्य साहित्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं।

पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व का एक कलापूर्ण ग्रीक पात्र

इस पर समुद्र में से उदय होते हुए रथारूढ़ सूर्य-देवता का चित्र अंकित है।

सुकरात से पहले के यूनानी दार्शनिक मानवेतर बहिर्जगत् के अध्ययन में लगे रहे। उनका चिन्तन भौतिक वस्तुओं का चिन्तन था। उनका दर्शन, उनका धर्म, उनका काव्य समाज तक ही सीमित था, वह व्यक्तिगत नहीं हो पाया था। प्रकृति की भौतिक शक्तियों की उपासना के साथ-साथ अपने यशस्वी पुरखाओं के महान् चरित्रों का नाटकीय गान उनमें चलता था। वे हमारे यहाँ की सिंहवाहिनी दुर्गा की भाँति, गुहावासिनी योगिनी 'नेमेसिस'

के रूप में प्रकृति की उपासना करते थे। कभी-कभी इस देवी के मंदिर मानवीय बस्तियों और राजप्रासादों के निकट भी बनाये जाते थे, किन्तु अधिकाशतः वह उच्च गिरिशिखरों की वासिनी ही होती थी। उसका भूत-प्रेतों पर अधिकार माना जाता था और उसकी उपासना के साथ वृक्षों तथा ध्वज-स्तंभों का भी संबंध था। इन ध्वज-स्तंभों पर उसके प्रतीक प्राय: अंकित किए जाते थे।

ग्रीक लोगों में मृत व्यक्ति जला दिये जाते थे और उनकी राख कभी-कभी बर्तनों में बंद करके मंदिरों में स्थापित की जाती थी तथा उसके ऊपर मृतक की संगमरमर की मूर्त्ति अंकित की जाती थी। इस प्रकार के पितरालय भारत में भी मिलते रहे हैं। भास (ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी) के प्रतिमा नाटक में इसका विशेष उल्लेख है। यूनानियों में मृत पितरों की विशेष अवसरों पर पूजा होती थी और उनके साथ-साथ देवताओं की भी अर्चना की जाती थी। देवता अमर, सर्वव्यापी, सर्वान्तरयामी समझे जाते थे। पितरों और देवों की कृपा प्राप्त करने के लिए उन्हें बलि भी दी जाती थी और उनके भोग बाँटे जाते थे, जिनमें मांस, रोटी, मधु, फल, पनीर आदि सम्मिलित होते थे। उत्सवों के अवसरों पर मछलियाँ भी पकती थीं। ऊनी-सूती वस्त्रों और रंगीन कॉच के आभूषणों को धारण किया जाता था तथा गिटार और बाँसुरी के साथ सामाजिक समारोहों में संगीत और नृत्य का भी क्रम चलता था। इन गीतों में देवों की वंदनाएँ, विवाह आदि के मंगलगीत, पितरों ?र यशस्वी पूर्वजों के गीत, एवं

एथेन्स का प्रसिद्ध कवि और दुःखान्त-नाटककार सोफ़ोक्लीज़
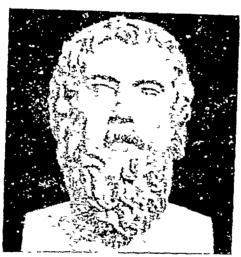
प्राचीन यूनान का सबसे मशहूर प्रहसनलेखक एरिस्टाफेनीज़

ग्रीक दुःखान्त नाटकों का अन्य एक रचयिता यूरीपीडीज़

धरती माता, द्यौपिता आदि के गीत अधिकतर गाए जाते थे।

भारतीय इन्द्र और द्यौपिता का ही समकक्ष यूनान में 'ज़ीअस' नामक देव था, जो उनका मुख्य कुल-देवता था। वह आकाश का स्वामी एवं गर्जना, आँधी और विद्युत् का प्रेरक समझा जाता था। उसका सिंहासन ओलिंपस पर्वत पर था तथा उसकी सभा में हेरा, एथिना, अपोलो, आर्टेमिस, हर्मिज़, हेफेस्टस, एफ्रोडाइट, पोसीडान, डायोनिसस आदि अनेक देवी-देवता विद्यमान रहते थे। वरुण को यूनानी लोग पोसीडान कहते थे। वह समुद्र और भूकंपों का देवता माना जाता था और अश्वों पर भी उसका अधिकार समझा जाता था। सोम को वे लोग डायोनिसस कहकर पुकारते थे। वह सुरा और उन्माद का स्वामी था। अपोलो (या सूर्य-देवता) का मल्लविद्या, संगीत, वैद्यक, धनुर्विद्या और काव्य पर अधिकार समझा जाता था।

यूनान के पर्वतों में संगमरमर का बाहुल्य था और जस्ता सुलभ होने से काँसे को भी वे लोग आसानी से तैय्यार कर लेते थे। मिट्टी भी सब जगह सुलभ थी। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक वस्तुओं से रंग भी वे लोग तैय्यार कर लेते थे। इन्हीं सामग्रियों के उपयोग से यूनानियों ने अपने देवताओं की मूर्त्तियाँ, उनके मंदिर, अपने भवन तथा पात्र, चित्र, आदि तैय्यार किए। इन वस्तुओं को तैयार करने में यूनानियों को प्रचुर धन व्यय करना पडता था, इसलिए आकार-प्रकार का विस्तार बढ़ाने की अपेक्षा कम से कम स्थान और सामग्री मे ही वे अधिक से अधिक सुंदर भावाभिव्यक्ति करने के अभ्यस्त हो गए। इसी से उनकी

कला में पवित्र रूपरेखाओं में निबद्ध संयमशील आदर्श एवं भावनाओं तथा सौन्दर्यानुभूतियों का आनुपातिक दिव्य सौष्ठव पाया जाता है। प्रभविष्णुता उनकी कला की विशेषता रही है। उनकी कला अपने चरम उत्कर्ष पर ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी में पहुँचते दिखाई देती है। यह वह युग था जब एथेन्स का गौरव-सूर्य प्रखर मध्याह्न में चमक रहा था और पेरिक्लीज़ (४६०-४२९ ई० पू०) के संरक्षण में ग्रीस में ललित कलाएँ अपूर्व रूप से फूल फल रही थीं। इस युग में वहाँ कलाकारों को वही सम्मान प्राप्त था जो कि दार्शनिकों और कवियों को मिलता था। इस स्वर्ण-युग में चारों ओर का धन नदियों की धाराओं की तरह एथेन्स में खिंचा चला आ रहा था। अभी-अभी एथेन्स ईरान को सैलमिस के युद्ध (४८० ई० पू०) में हरा चुका था और छोटे-छोटे नगरों का संघ उसके केन्द्र में बँध चुका था। अतः दूर-दूर से लोग अपने झगड़ों का फैसला कराने एथेन्स पहुँचते थे। कहते हैं, उस समय एथेन्स में प्रतिदिन ६ हज़ार न्यायाधीश काम करते थे! इतना बढ़ा-चढ़ा था उसका वैभव कि सामान्य जन भी अदालतों में जाने तथा उत्सवों में भाग लेने के साथ साथ राजनीति, दर्शन एवं ललित कला आदि में उत्साह से भाग लेते थे। उस समय धन-वैभव, शक्ति और स्वतंत्र चिन्तन के कारण एथेन्स का साधारण व्यक्ति भी असाधारण ज्ञानी होता था।

ग्रीस के दो अमर रत्न—प्लेटो और अरिस्टोटल
जिनको प्राचीन यूनान की सांस्कृतिक साधना के सर्वोत्कृष्ट सुफल की संज्ञा हम प्रदान कर सकते हैं। इन अपितुल्य विचारकों का पश्चिम की प्रगति की दिशा निर्धारित करने में गहरा हाथ रहा है!

पेरिक्लीज के संरक्षण में एथेन्स में पारथेनन और इरेक्थियम जैसे भव्य भवन बने थे। इस युग के प्रसिद्ध कलाकारों में माइरान (लगभग ४८० ई० पू०), पोलिक्लीटस (४०० ई० पू०), फीडियस, स्कोपास, प्रैक्सीटीलीज (४०६-३३० ई० पू०), लाइसिपस, पोलिग्नोटस, पैरेहेसियस, एपोलोडोरस आदि के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। पोलिग्नोटस भवन-निर्माण कला का विशेषज्ञ था। जेयूक्सिस, पैरेहेसियस आदि ग्रीस के भित्ति-चित्र बनानेवाले निपुण कलाकार थे। इन लोगों ने फीनिशियनों के हाथ बेबीलान, असीरिया और मिस्र की कलाएँ सीखीं, उनके रूप-चित्र अपनाए और उनके शुल्वसूत्रों का उपयोग मिट्टी, संगमरमर एवं रंगों के मिश्रण से बनाई जानेवाली वस्तुओं में किया। ये नील-लोहित-अरुण रंगों का विशेष रूप से उपयोग करते थे। अपने देश के वातावरण में कुहास के अभाव में इनकी स्थापत्य तथा मूर्ति कलाओं पर उत्तरीय देशों की रोमान्चक रहस्यमयी भावनाओं की छायाएँ नहीं पड़ी हैं, बल्कि दिव्य सरलता में देश-प्रेम, धर्म-प्रेम एवं शरीर और मन की स्वस्थ दशाओं की एकता की ही छाप पड़ी है।

मूर्तिकला में संगमरमर के उपयोग द्वारा आश्चर्य और विस्मय के भावों तथा नाटकीय क्रियाओं की वृहत् रूप में भावाभिव्यक्ति कर सकने में माइरान को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसकी बनाई हुई डिस्कोबोलस की मूर्ति संसारप्रसिद्ध है।

पॉलिक्लीटस ने काँसे की मूर्तियाँ बनाईं, जिनमें तक्षण-कला की यूनानी विशेषताओं की दृष्टि से सबसे श्रेष्ठ मूर्ति डोरिफोरस रही है, जिसको वहाँ के कलाकार शताब्दियों तक आदर्श मानकर चलते रहे हैं।

किन्तु यूनानी मूर्ति-कला में सबसे महत्त्वपूर्ण नाम फीडियस का है, जिसने अपनी मूर्तियों में यूनानी धर्म और जीवन के आदर्शों की दिव्य अभिव्यक्ति की है। उसकी बनाई हुई ऐथीना और ज़ीअस की सोने तथा हाथीदाँत की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। उसकी शैली का अनुकरण अनेक कलाकारों ने किया। उसी की शैली में बाद को मेलो की वीनस (अफ्रोडाइट) की सुंदर मूर्ति बनी, जो कि अब पेरिस में है।

घनीभूत नाटकीय भावाभिव्यक्तियों को मूर्तिमान करने में स्कोपास ने विशेष ख्याति प्राप्त की और भिन्न भिन्न मनोदशाओं को चित्रित करने में प्रैक्सीटीलीज़ ने। प्रैक्सीटीलीज़ की बनाई हुई निडस की मूर्ति यूनानी वीनस की सबसे सुन्दर प्रतिमा मानी जाती है।

इसके बाद एलैक्ज़ैण्डर के समय का प्रख्यात कलाकार लाइसिपस आता है, जिसकी बनाई हुई 'हरक्यूलीज' और 'पदत्राण बाँधते हुए जेसन' की मूर्त्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यूनानी कला पहली बार अधिक से अधिक ऊँची ई० पू० ५वीं शताब्दी में उठती है। तीसरी शताब्दी ई० पूर्व उसमें परिवर्त्तन का क्रम शुरू होता है और रोमनों के आक्रमण के पश्चात् उसमें मानवीय दुखवाद की बहुलता हो जाती है।

प्राचीन यूनान की कला के कुछ नमूने

प्रस्तुत चित्रों में यूनानियों द्वारा पहने जानेवाले सोने के कुछ आभूषण दिग्दर्शित हैं। निचले चित्र के आभूषणों और आधुनिक महिलाओं द्वारा पहने जानेवाले आभूषणों से कितना अधिक साम्य है!

यूनानी लोग मिट्टी, संगमरमर और धातु का उपयोग केवल मंदिरों और मूर्त्तियों के बनाने में ही नहीं प्रत्युत घरों के बनाने में भी करते थे। वहाँ के महाकाव्यों में आए हुए विवरणों और खुदाई द्वारा प्राप्त पुरातत्त्व विषयक सामग्री से मालूम होता है कि घरों को बनाने में वे लोग लकड़ी का भी उपयोग बहुतायत से करते थे। प्राचीन यूनानियों के घर आयताकार दुमंज़िले हुआ करते थे। वे अधिकांशत लकड़ी और ईंटों के बने होते थे। ईंटें आग में पकी नहीं होती थीं, बल्कि धूप में सुखाई जाती थीं। निचली मंज़िल में केवल प्रवेशद्वार होता था। ऊपरी मंज़िल में एक-दो खिड़कियाँ होती थीं, जो गलियों की तरफ थीं। गलियाँ सीधी नहीं बल्कि घुमावदार और तंग थीं। खिड़कियों से लोग गलियों में कूड़ा-कबाड़ फेंक देते थे। घरों में पकाने और आग तापने भर का प्रबंध था। चिमनियों की जगह छत पर छेद होते थे, जिसकी वजह से धुआँ कमरे में भर जाता था। इन्हीं घरों में रहकर स्त्रियाँ काम करतीं, चर्खा कातती, कपड़ा बुनतीं और घर की देखभाल करती थीं। किसी भी बाहरी आदमी के सामने (चाहे वह प्रीतिभोज में ही क्यों न निमंत्रित हो) स्त्रियाँ कभी नहीं आती थीं। घर से बाहर जाने का अवसर उन्हें केवल धार्मिक उत्सवों के समय ही मिलता था या फिर नाटकों के अभिनय के समय। नाटकों में भी केवल दुःखान्त नाटक ही देखने की आज्ञा उन्हें थी—सुखान्त प्रहसन मर्यादा की दृष्टि से उनके लिए छिछोरी चीज़ें समझी जाती थीं।

घर-गृहस्थी तथा बाहर के कामों में हाथ बँटाने के लिए दास होते थे, जिनमें यूनानी भी होते थे और बाहर के लोग भी। जब कभी कोई नगर जीता जाता तो उसके निवासी—विशेषकर बच्चे—दास बना लिये जाते थे। जो उद्योग-धंधों को जानते वे तो शहर में रख लिये जाते थे। जो नहीं जानते थे, उन्हें चाँदी की खानों में काम करने को भेज दिया जाता था। घरों के दास भत्ते पर दूसरों का काम करने के लिए भी भेज दिये जाते थे। यदि मालिक की कृपा हुई अथवा कोई दास अपना मूल्य चुका सका तो
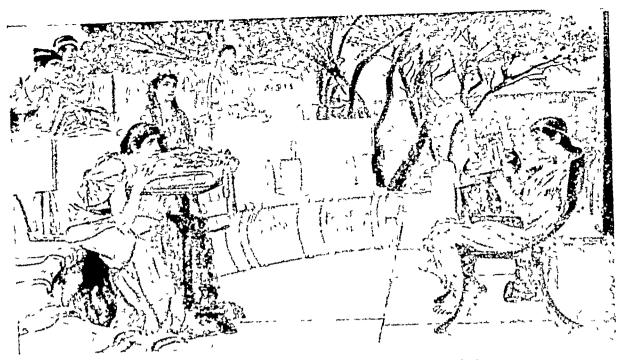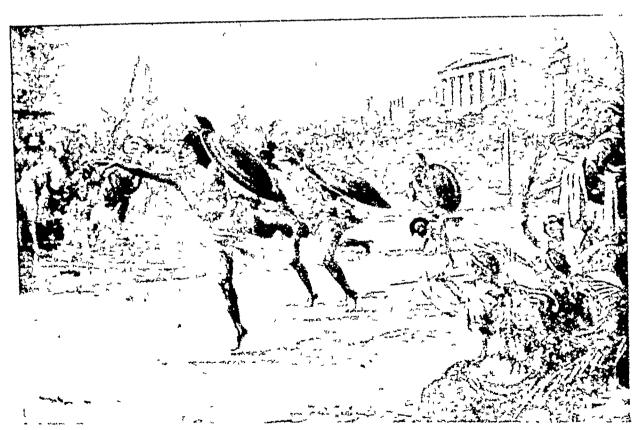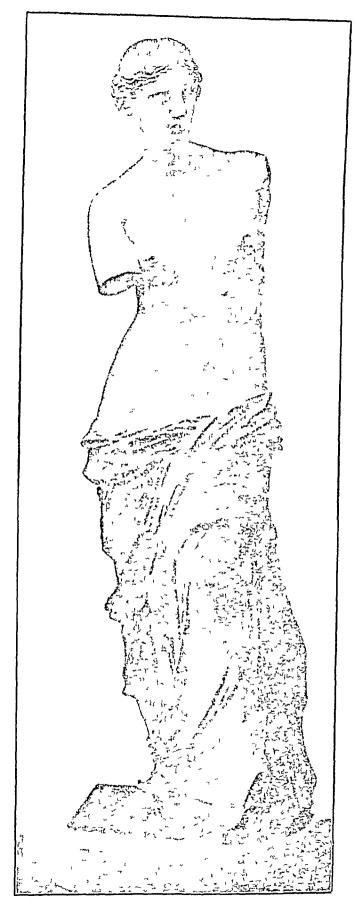
प्राचीन ग्रीस की कला-साधना का एक उत्कृष्ट नमूना
मेलो की वीनस की प्रसिद्ध मूर्त्ति
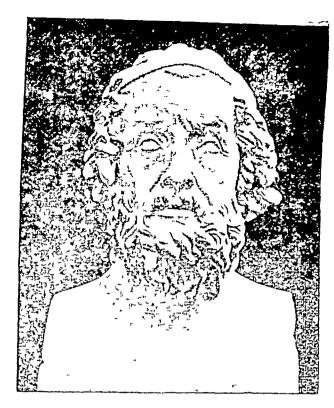
यूनान के आदिकवि—होमर
जिनके 'इलियड' और 'ओडेसी' नामक महाकाव्यों को वहाँ के प्राचीन वाङ्मय में वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, जैसा कि हमारे यहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' को !
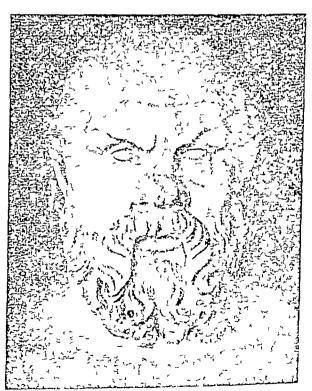
यूनान का महान् शिक्षागुरु—सुकरात
जिसने सत्य की वेदी पर अपने प्राणों की आहुति चढ़ा दी !

वह स्वतंत्र कर दिया जाता था। स्वतंत्र होने पर वह मेटिक कहलाता था।

यूनान ने अपने नगरों में अनेक प्रकार के राज्य-तंत्रों का प्रयोग किया। गण-तंत्र, समिति तंत्र, जन-तंत्र, राज्य-तंत्र, सभी वहाँ चले, किन्तु दास-प्रथा सबमें रही। ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-काव्य-नाटक, ललित कला, आदि का विकास नागरिकों में हो सके और उन्हें इसके लिए पर्याप्त अवसर मिल सके, इसलिए अपने घरेलू तथा सामाजिक उद्योग-धंधों को सँभालने के लिए दासों की प्रणाली उन्होंने चलाई। बिना दासों के उनका काम चल ही नहीं सकता था। यह दूसरी बात थी कि उनके साथ भी सद्व्यवहार किया जाता था। किन्तु राज्य-तंत्रों और समाज-तंत्रों में उन्हें नागरिक अधिकार नहीं दिए जा सकते थे। न नगरों में बसे हुए विदेशियों को ही ये अधिकार प्राप्त थे। यूनान के नगरों में जिस समय जनसत्तात्मक तंत्र चल रहे थे, उस समय उन नगरों की जनसंख्या का दो तिहाई भाग दासों का था और कुछ भाग विदेशियों का भी रहा ही होगा। इस प्रकार यूनान के जनसत्तात्मक गणतंत्र नगर के श्रीमानों-धीमानों के ही जन-तंत्र थे, जिनमें कम संख्या में होने के कारण ऐसे सभी लोग प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते, वाद-विवाद करते, चुनाव द्वारा कर्मचारियों को चुनते और जनता की सहायता से प्रधान अधिकारी को स्थानच्युत भी कर सकते थे।

प्राचीन ग्रीस का महान् वक्ता—डिमास्थिनीज़
जिसकी टक्कर के भाषण देनेवाले संसार में गिने-चुने व्यक्ति ही हुए हैं।

समाज को इस दशा तक लाने में यहाँ के साहित्य, दर्शन, कला, विज्ञान, आदि का महत्त्वपूर्ण हाथ था। साथ ही यहाँ के दार्शनिकों, कलाकारों आदि ने भी उसे आगे बढ़ाने में काफी हाथ बँटाया था।

यूनान के साहित्यिक इतिहास में प्राचीनतम नाम होमर और हेसियड के हैं, जिनके काव्य-ग्रन्थों का वही महत्त्व है, जो भारत में रामायण और महाभारत का है। होमर यूनान के वाल्मीकि और हेसियड व्यास कहे जा सकते हैं। ईलियड और ओडेसी में होमर ने प्राचीन जनवाणी में चली आती हुई दिव्य वीरगाथाओं, जनविश्वासों एवं धार्मिक आदर्शों को सुव्यवस्थित संगीतप्रवाहमय साहित्यिक रूप दिया है। वे जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करनेवाले महान् ग्रंथ हैं। होमर की जन्मभूमि निश्चित नहीं है। लगभग सात भिन्न नगर उन्हें अपनाते हैं। उनका समय भी निश्चित नहीं—वह प्रायः ईस्वी पूर्व १००० से ८०० के बीच के माने जाते हैं। इस प्रकार दो शताब्दियों के बीच उनका व्यक्तित्व फैला हुआ है।

हेसियड को ईस्वी पूर्व की आठवीं शताब्दी का ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाता है। वह बीओलिया प्रदेश के हेलिकान पर्वतशिखर पर स्थित ऐस्क्रा के निवासी थे। उन्होंने अपने काव्य में मानव-जीवन के प्रतिदिन के व्यावहारिक चित्रों को अंकित किया है।

ईस्वी पूर्व सातवीं शताब्दी से यूनानी साहित्य में कई प्रकार की शैलियाँ चलते हुए हम देखते हैं। इस समय से देश-प्रेम, युद्ध-प्रेम, राजनीति, दर्शन-शास्त्र, इतिहास, विज्ञान, नाटक, काव्यशास्त्र, वैद्यक आदि के ग्रंथ रचे जाते हैं। पद्य में छप्पय, मुक्तगीति, गाथा गीति, शोकगीति, विजयगीति आदि की नई-नई शैलियाँ चलती हैं। आर्किलोकस, मिम्नेर्मस, धर्मशास्त्री सोलन आदि इन शैलियों को काम में लाते हैं। मुक्तगीति के क्षेत्र में प्रसिद्ध संगीतज्ञ कवि पिंडार (५२२-४४३ ई० पू०) और लोकप्रिय कवयित्री सैफो (६०० ई० पू०) के नाम उल्लेखनीय हैं।

दुःखान्त नाटकों के रचयिताओं में इस्कीलस, सोफोक्लीज़ (सोफिक्लीज़, जन्म ४९५ ई० पू०) तथा यूरीपीडीज़ के नाम प्रख्यात हैं और सुखान्त नाटक रचनेवालों में एरिस्टोफेनीज़ का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उसने अपने नाटकों में तात्कालिक सामाजिक जीवन की कुरीतियों का प्रभावशाली

प्राचीन यूनान की गौरवगरिमा का प्रतीक—पार्थेनन

संगमरमर की यह भव्य इमारत एथेन्स के एक टीले पर बनी हुई है, जिसे 'एक्रापॉलिस' कहते हैं। संसार के अन्य अनेक महान् कलास्मारकों की भाँति यह इमारत भी ध्वस्तप्राय हो जाने पर भी अद्वितीय सौन्दर्य से युक्त है।

आलोचनाएँ प्रहसनों के रूप में की हैं। इन प्रहसनों का नाट्यशालाओं में विधिवत् अभिनय भी किया जाता था।

दार्शनिकों मे ऐनेक्सिमेंडर ने बतलाया कि जगत् के नियन्ता का स्वरूप असीम है—उसे निश्चित नहीं किया जा सकता। हिरेक्लिटस ने कहा कि विश्व और ईश्वर एक हैं, अनेकता मिथ्याज्ञान का आभास है, तथा मानस शक्ति और वैयक्तिक अस्तित्व दो विभिन्न वस्तुएँ नहीं। एम्पिडोक्लीज़ ने कहा कि प्रकृति अनादि अनन्त है। पाइथागोरस ने पदार्थ की अपेक्षा रूपों को प्रधानता दी। उसने संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन से विश्व में सानुपात का तत्त्व समझा और प्रत्येक क्षेत्र में उसका उपयोग किया। आपस्तंब और बौधायन के शुल्व-सूत्रों का उपयोग उसने रेखागणित में किया, पंचतत्त्वों को माना और पुनर्जन्म में विश्वास प्रकट किया। थेल्स वैज्ञानिक दार्शनिक था। ५८५ ईस्वी पूर्व जो ग्रहण लगा था, उसकी भविष्यद्वाणी उसने ठीक-ठीक रूप में पहले ही कर दी थी। पंचतत्त्वों में उसने जल तत्त्व की प्रधानता मानी। ऐनेक्सिमेनीज़ वायु तत्त्व को महत्त्व देता था। ल्यूसीपस (५००-४३० ई० पू०) ने यूनान में परमाणुवाद को व्यवस्थित रूप दिया। इस सिद्धान्त का विकास उसके शिष्य डेमोक्रिटस (४६०-३७० ई० पू०) ने किया। हेपोक्रिटीज़ ने आयुर्वेदशास्त्र तैयार किया। उसकी प्रमुख रचना 'मेटीरिया मेडिका' भारतीय वैद्यक ग्रंथों के आधार पर बनी थी।

ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी से ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी तक का समय यूनान मे दार्शनिकों, वक्ताओं और अलंकारशास्त्रियो का स्वर्ण-युग माना जाता है। न्यायालयों तथा सभा-समाजों के संभाषणों एवं वादविवादों की चहल-पहल ने उच्च कोटि के वक्ताओं को जन्म दिया। इनमे सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण नाम साक्रेटीज या सुकरात (४६६-३६६ ई० पू०) का आता है। वह सामान्य जनशिक्षा और मानव-सदाचार का विशेष समर्थक था। प्रश्नोत्तर-शैली को उसने अपनाया। उसके प्रश्नोत्तरों को उसके शिष्य प्लेटो या अफलातून ने लिपिबद्ध किया। जनता में भाषण देने की कला मे पटु व्यक्तियों मे डिमास्थिनीज़ (जन्म ३८५ ईस्वी पूर्व), लायसियेस, आइसोक्रेटस आदि के नाम प्रमुख हैं। इनमे डिमास्थिनीज मे आग उगलनेवाली शक्ति थी। उसकी प्रतिभा सूक्ष्म थी। वह दूर की सोचता था। मैसीडोनिया का फिलिप जब ग्रीस को लोलुप दृष्टि से देख रहा था, तब इसने अपने भाषणों मे ग्रीस के क्षितिज पर मँडरानेवाले इस बवण्डररूपी शत्रु की सूचना बारबार चेतावनी के रूप मे लोगों को दी थी। लेकिन लोग चेते नहीं और परिणाम वही हुआ जो होने को था, अर्थात् ग्रीस पर मैसीडोनिया का प्रभुत्व हो गया।

यूनानी भाषा संस्कृत की भाँति अपनी धातुओं के लोच, भावों की बारीकियों तथा समास और समाहार शक्ति के लिए प्रसिद्ध है। उसके गद्य को इतिहास,
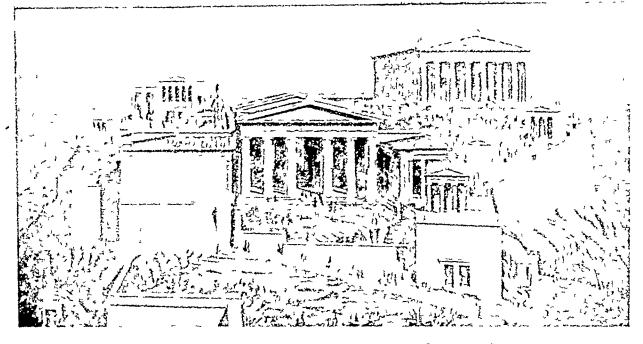
उन्नति के प्रखर मध्याह्नकाल में यूनान का संस्कृति-केन्द्र एथेन्स

आज के उसके ध्वंसावशेषों के आधार पर ही यह कल्पना चित्रकार ने प्रस्तुत की है। चित्र में एक्रोपालिस का दृश्य अंकित है, जिस पर पार्थेनन, इरिक्थियूम आदि इमारतें बनी थीं।

सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करनेवाले महर्षि सुकरात

जैसा कि पिछले एक खंड में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है, प्राचीन ग्रीस के इस अन्यतम महापुरुष को अपने सत्य-विचारों के कारण अंततः विषपान द्वारा मृत्यु का दण्ड भुगतना पड़ा था। चित्र में यही दृश्य अंकित है।

दर्शन तथा विज्ञान के पारंगत विद्वानों का स्थायी वरदान प्राप्त हुआ है।

यूनान के इतिहासकारों ने देश-देश का खूब भ्रमण किया था, अनेक जातियों और संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया था और पुरातन रहस्यों की विवेकसम्मत व्याख्या करके अपने ग्रंथों को प्रस्तुत किया था। हेकेटियस (जन्म ५४६ ई० पू०) ने यूनानियों के उद्भव और आरम्भिक प्रसार का इतिहास लिखा था। हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) ने यूनानियो और पारसियों के युद्ध का इतिहास लिखा। वह यूनान में इतिहास का जन्मदाता माना जाता है। उसके बाद थ्यूसीडिडेस (४७१-३६१ ई० पू०) ने स्पार्टा और एथेन्स के युद्ध का इतिहास प्रस्तुत किया।

क़ानूनी ग्रंथ लिखने में ड्रेको का नाम सबसे पहले आता है। उसने परपरागत यूनानी क़ानूनों का सकलन ई० पू० ६२१ में किया था। उसके क़ानून 'ड्रेकोनिक लॉज़' कहलाते हैं। फिर आगे चलकर सोलन ने उनमें सुधार किया। ५०६ ई० पू० के लगभग क्लीस्थनीज के सुधारों ने उच्च वर्गों की शक्ति को कम कर जनसत्ता की शक्ति को सुदृढ़ बना दिया।

हेरोडोटस

जो यूनान में इतिहास का जन्मदाता माना जाता है।

यूनानी दार्शनिकों में ऐसे व्यक्ति तीन हुए हैं, जिनकी रचनाओं ने सदियों तक योरप के लिए आदर्श का काम किया। ये हैं सुकरात या साक्रेटीज़ (४६९-३९९ ई० पू०), प्लेटो या अफ़लातून (४२७-३६० ई० पू०), और अरस्तू या अरिस्टोटल (३८४-३२२ ई० पू०)। ये तीनों प्राचीन यूनान के त्रिशिखर जैसे हैं और यद्यपि उन्हें हुए आज लगभग दो-ढाई हज़ार वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी उनके विचारों का अनुशीलन आज भी आदरपूर्वक किया जाता है। इनकी वाणी और ग्रंथों ने धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, भौतिक और रसायन विज्ञान, राजनीति और साहित्य के क्षेत्रों में शताब्दियों तक लोगों को चेतना दी है।

प्लेटो ने पदार्थ की अपेक्षा रूपों को महत्त्व दिया। उसने हिरेक्लिटस, पाइथागोरस तथा सुकरात के विचारों का समन्वय अपने चिन्तन में किया और अपने ढग से उन्हें लिपिबद्ध किया। मानव मनोव्यापारों के अध्ययन के परिणामस्वरूप मनोविज्ञान का वैज्ञानिक आरंभ भी इन तीनों के चिन्तन में आरंभ हो जाता है। इनसे पहले के दार्शनिकों के चिन्तन में मनस्तत्त्व को महत्त्व नहीं मिला था। यह याद रखना चाहिए कि प्लेटो अपनी रचनाएँ एथेन्स की चेतना को लेकर रच रहा था। इसी से उसकी रचनाओं में स्पार्टा को भी एथेन्स के रग में रँगने की प्रवृत्ति प्रमुख है। किन्तु एथेन्स अपने प्रभुत्व को खो चुका था—उसे स्पार्टा जीत चुका था। इसलिए उसका ध्यान इतिहास की वास्तविकताओं पर नहीं रहा। प्लेटो आदर्श राज्य की सृष्टि कर रहा था। वह धन-जन पर राज्य का अधिकार चाहता था, किन्तु विवाह और संपत्ति के इस प्रकार के साम्यवाद के विषय में अपनी उत्तरकालीन रचना में उसने अपनी विचारधारा बदल दी थी। वह इस बात को मानता था कि मनुष्य के व्यक्तित्व के तीन अग हैं—ज्ञान, शक्ति और इन्द्रियों की वासना। ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है, शक्ति उसकी सहायक है और इंद्रियजन्य वासना निम्नकोटि की है। समाज में शक्ति ज्ञानी दार्शनिकों के हाथ मे रहे, सैनिक उनकी सहायता करें तथा अन्य सामान्य जन सबकी सेवा करें, यही उसकी योजना का सार था। यह भारतीय वर्ण-व्यवस्था का यूनानी रूप था। उसके अनुसार राज्य-शासन के लिए सत्य ज्ञान, शिव ज्ञान और साधन ज्ञान अपेक्षित थे। वह मानता था कि राज्य धीमानों और श्रीमानों के हाथ में रहे।

अरस्तू, जो कि मैसीडोनिया के सम्राट् के वैद्य का पुत्र था, अपने समय की वास्तविक शासन-प्रणालियों को आँख खोलकर देख रहा था। इसलिए उसने अपनी रचनाएँ इतिहास के ज्ञान और वास्तविकताओं की व्यावहारिकता को देखते हुए रची। वह वैधानिक राजतत्र का समर्थक रहा। उसने सदाचार और नैतिकता से भी ऊपर राजतत्र की व्यवस्था घोषित की। वह एक प्रकार से एथेन्स को स्पार्टा के रग में रँग रहा था। अप्रत्यक्ष रूप से वह मकदूनिया के साम्राज्यवाद का भी समर्थन कर रहा था। पश्चिम की विचारधारा पर उस का काफ़ी प्रभाव पड़ा है।

३७१ ई० पू० के लगभग स्पार्टा की भी शक्ति समाप्त हो जाती है। ३६२ ई० पू० में थेबीज़ भी बैठ जाता है और मकदूनिया के उत्कर्ष तथा कालान्तर में उसके पतन के साथ यूनान और उसकी प्राचीन संस्कृति भी पराजित होकर मानों विस्मृति के गर्भ में चली जाती है।

संस्कृत-वाङ्मय—११

गद्य

किसी भी देश के प्राचीन साहित्य के विषय में जानकारी पाने के लिए परंपरा से प्राप्त सामग्री ही सहायक हुआ करती है। परंपरा के इस बोझ को लोग तब तक ढोये चलते हैं, जब तक कि वह जीवन के लिए कुछ भी लाभदायक रहता है। संस्कृत का वह बोझ भारत तथा बाहर के वे देश जो कभी भारत के प्रभाव में थे किसी न किसी रूप में शिलालेखों, ताम्रपत्रों और प्राचीन ग्रंथों के रूप में अब भी वहन कर रहे हैं। हिन्दचीन, श्याम, मलाया, बाली, आदि देशों में संस्कृत का प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है। भारत में भी उसका बहुमुखी रूप उत्कीर्ण लेखों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों, हस्तलिखित पुस्तकों आदि में और मौखिक रूप में जीवन-संस्कारों में पाया जाता है। तिथिक्रमानुसार इतिहास की आधुनिक परंपरा को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त साहित्य के आलोडन में संस्कृत गद्य के विकास के इतिहास के लिए असंदिग्ध सामग्री भारत में ईसा की दूसरी शताब्दी से पहले की प्राप्त नहीं होती। १५० ई० से १७० ई० के बीच गिरनार पर्वत पर सुदर्शन तड़ाग के जीर्णोद्धार के अवसर पर, शक क्षत्रप रुद्रदामा के पह्लवी प्रतिनिधि सुविशाख ने अपने स्वामी की यशोगाथा के साथ सुदर्शन की गाथा संस्कृत गद्य में उसी तड़ाग की तटवर्ती शिलाओं पर उत्कीर्ण करवाई थी। उसकी शैली पर्याप्त विकसित और अलंकृत होने के कारण अनुमान होता है कि उसके पहले प्रचुर साहित्य अवश्य बन चुका होगा।

साहित्य में गद्य का प्रयोग प्रायः देर से होता है। पद्य में कुछ ऐसी स्मृति-सुलभ एवं भावनात्मक विशेषताएँ होती हैं, जिनके कारण ही साहित्य में गद्य से पहले प्रयोग में [illegible] जाता है। भारत का प्राचीनतम आर्य साहित्य निगमों का और आगम (तांत्रिक आदि) साहित्य आगमों का माना जाता है। आगमों में साहित्य का प्राचीनतम रूप ईस्वी पूर्व तीन हजार वर्ष के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के लेखों में तथा निगमों का ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के लेखों का आगमों की दृष्टि से स्पष्टीकरण कलकत्ते के रामकृष्ण मिशनवालों ने किया है। पुस्तक के रूप में ऋग्वेद पहले पहल कब लिखा गया, यह नहीं कहा जा सकता। आजकल उसकी जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, वे बहुत पुरानी नहीं हैं। छपी पुस्तकों का रूप भी पहलेपहल अठारहवीं शताब्दी में मैक्डानल्ड के प्रयत्नों से ही सामने आ सका। इसलिए आर्य साहित्य में पाये जानेवाले गद्य का असंदिग्ध साहित्यिक रूप पहले पहल रुद्रदामा के लेख में ही हमें मिलता है। उसके बाद दूसरा उदाहरण चौथी शताब्दी के समुद्रगुप्त के प्रयागवाले कीर्ति-स्तंभ के लेख में मिलता है, जिसका रचयिता समुद्रगुप्त का सभासद् कर्मचारी कवि हरिषेण था।

साहित्य के आलोडन के फलस्वरूप जो अनुमान तथा निष्कर्ष विद्वानों ने निकाले हैं, वे संस्कृत गद्य के आदि रूप को वैदिककाल में ले जाते हैं। उनके अनुसार गद्य सबसे पहले कृष्ण यजुर्वेद संहिता में मिलता है और फिर उसका विकास ब्राह्मण-ग्रंथों में होता है। प्राचीनता के क्रम की दृष्टि से पांचविंश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, जैमिनीय और कौषीतकि ब्राह्मण पहले आते हैं, फिर शतपथ, गोपथ आदि। इनमें आधुनिक रूपे रूपों में जो गद्य पाया जाता है, उसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

१—वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।

(तैत्तिरीय संहिता)

२—एतेन च वृत्रेणेन स [illegible] व्याहृतिभि- पंगल्याय [illegible] दिशि ये ते च पंरय

हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैवेत-ऽभिषिच्यन्ते। विराडित्येनानभिषिक्ता ना चक्षत।

(ऐतरेय ब्राह्मण)

३—अथ ब्रह्मैव परार्द्धमच्छत। तत्परार्द्धं गत्वा ऐक्षत. कथंन्विमाँल्लोकान् प्रत्यवेयमिति। तद्द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत रूपेण चैवनात्मा च।

(शतपथ ब्राह्मण)

पहला उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि वैदिक काल मे ही भाषा-विज्ञान का उष काल आरंभ हो गया था। नवीं और सातवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व तो यास्क के निरुक्त और पाणिनि की अष्टाध्यायी की भी रचना हो जाती है, जो कि वैदिक और लौकिक भाषाओं के बीच पड़ी खाई के लिए सेतु का काम देते हैं।

दूसरा उदाहरण उस समय की राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रकाश डालता है। भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रचलित शासन-प्रणालियों का इसी तरह का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।

तीसरा उदाहरण उस युग के आध्यात्मिक चिंतन की गवाही दे रहा है। इसी चिन्तन का विकास आगे चलकर उपनिषदों में विशेष रूप से होता है और अलंकारों, लाक्षणिक कहानियों तथा रहस्यानुभूतियो के साहित्य के बीज भी यहीं से अंकुरित हो जाते हैं। इन्हीं में भक्ति योग आदि धाराओं के मूल भी मिल जाते हैं।

प्राय सभी ब्राह्मण-ग्रंथ गद्य मे हैं। उनका विषय भी एक सा ही है। सभी कर्मकाड की विधि, अर्थवाद तथा अध्यात्मवाद का विवेचन करते हैं। सभी में प्रजापति तथा पुरोहितों का महत्त्व दिखलाई देता है। सभी कर्मकांड की व्याख्याएँ हैं। इसलिए सभी में नीति, आख्यान, इतिहास विद्यमान हैं। ऋग्वेद में पाई जानेवाली पुरुरवा और उर्वशी की वह कहानी, जिसके आधार पर कालिदास ने विक्रमोर्वशी नाटक की रचना की है, शतपथ ब्राह्मण में विकसित रूप में हमें मिलती है।

ब्राह्मण-ग्रंथों में गद्य का विस्तार जब अधिक हो गया तो चिंतनशील लोगों की प्रवृत्ति सूत्रों के रूप मे सक्षेप मे बात कहने की होने लगी। इस प्रकार गद्य मे सूत्र-साहित्य का प्रसार हुआ। सूत्र-साहित्य विषय की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है—(१) श्रौत सूत्र, (२) गृह्य सूत्र और (३) धर्म-सूत्र। धर्म-सूत्रों में गौतम, बौधायन, आपस्तंब और वसिष्ठ के सूत्र अधिक प्रसिद्ध हैं। बहुत से विद्वान् इनका समय खींचकर ईस्वी पूर्व की चौथी शताब्दी तक भी ले आते हैं, किन्तु अधिकाश लोग इन्हें सातवीं शताब्दी से पहले ही आरंभ हुआ मानते हैं। डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार की सम्मति में गौतम और बौधायन के धर्म-सूत्र ईस्वी पूर्व की छठी-पाँचवी शताब्दी के और आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ के धर्म-सूत्र ईस्वी पूर्व पाँचवीं तथा चौथी शताब्दी के हैं।

सूत्रों के साथ-साथ आरण्यक-साहित्य का भी विकास होता है, जिनमें ब्राह्मणों की आध्यात्मिक धारा उपनिषदों के रूप मे विकसित होती है। उपनिषदों में प्रतीक-रूपक अधिक आने लगते हैं। पद्य और गद्य दोनों प्रकार की भाषा-शैलियाँ उपनिषदों मे मिलती हैं। उपनिषद् स्वतत्र चिंतन के गंभीर अनुभवों का साहित्य प्रस्तुत करते हैं। उनका गद्य अलकारों—विशेषकर प्रतीक-रूपकों, कथा-रूपकों, प्रश्नोत्तरों, दृष्टान्तों, उत्प्रेक्षाओं, उपमाओं तथा उदाहरणों—का प्रयोग करते हुए भी शैली की दृष्टि से स्वच्छंद और सरल है। कृत्रिमता से वे मुक्त है। इस युग के गद्य के निर्माण में बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकि, मैत्रायणी, माडूक्य आदि उपनिषदों का विशेष हाथ रहा है। मैत्रायणी और माडूक्य का गद्य साहित्यिक गद्य है। अन्य उपनिषदों का गद्य ब्राह्मण-ग्रंथों के गद्य से मेल खाता है। उपनिषदों के गद्य के कुछ उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं—

१—ततो ह इदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तन् नामरूपाभ्यामेव व्यक्रियते असौ नाम इदं रूपम्।

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

२—स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं, यदि प्राणेनाभिप्राणितं, यदि चक्षुषा दृष्टं, यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं, यद्यपानेनाभ्यपानितं, यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति। स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्।

(ऐत्तरेय उपनिषद्)

३—स प्राणमसृजत। प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप. पृथिवीन्द्रियं मन.। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा. कर्मलोका. लोकेषु नाम च।

(प्रश्नोपनिषद्)

उपनिषदो का चिंतन अनुभूति-आश्रित है, जिसमे निदिध्यासन की प्रवृत्ति प्रधान है। इस रीति से ब्रह्म, जीव और विश्व के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना-कराना उनका लक्ष्य

है। सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वभूतात्मा ब्रह्म से चराचर की उत्पत्ति होती है। उसी में वे स्थित हैं, उसी में लय होते हैं। जीव और ब्रह्म में मूलत कोई मौलिक भेद नहीं। शरीर से भिन्न आत्मा है। स्थूल भौतिक कर्मकांड से काम नहीं चलता। सूक्ष्म आत्मचिंतन की आवश्यकता है। संक्षेप में यही उपनिषदों की चेतना है और यह चेतना युगों तक भारतीय साहित्य की प्रेरणा देती रही है।

अरण्यों में जिस समय उपनिषदों का विकास हो रहा था, उस समय बस्तियों में धर्मशास्त्रों, राजनीतिशास्त्रों तथा अन्य शास्त्रों का प्रणयन चल रहा था। उधर रामायण, महाभारत जैसे महाग्रंथ संस्कृत-साहित्य को संपन्न कर रहे थे तो इधर पालि भाषा में जैन तथा बौद्ध साहित्य बनता चला जा रहा था। राजवर्ग अपनी आवश्यकता के अनुकूल कभी एक भाषा को अपनाता था, कभी दूसरी को।

चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय तक आते आते कात्यायन या वररुचि (वैयाकरण) भास (नाटककार), विष्णुगुप्त चाणक्य कौटिल्य (अर्थशास्त्र प्रणेता) तथा वात्स्यायन (कामसूत्र-रचयिता) के दर्शन होने लगते हैं। इन सभी की रचनाओं में संस्कृत गद्य के दर्शन होते हैं। भास के नाटकों में पाया जानेवाला गद्य वाल्मीकीय रामायण की संस्कृत की तरह सरल, सुबोध और सरस है। अर्थशास्त्र के गद्य की झांकी देखिए—

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यचास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः।

इस समय दूसरी ओर उत्तर-पश्चिम में पालि जातक-कथाओं की ही भांति, प्राकृत भाषाओं में भी कथा साहित्य रचा जाने लगा था। गुणाढ्यकृत बृहत्कथा इसी समय की रचना मानी जाती है और इसी समय पंचतंत्र का भी मूल रूप बन रहा था। पंचतंत्र में गद्य पद्य दोनों हैं।

[illegible] के इस विराम के [illegible] संस्कृत-साहित्य के [illegible] और [illegible] के द्वारा [illegible] में जाने की [illegible] था। इस [illegible] की ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी में पतंजलि ने अपना महाभाष्य लिखना शुरू किया। उनकी इस [illegible] को [illegible] देखिए—

[illegible] प्रयोग [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

इति। इम्मतिः सुराष्ट्रे रंहतिः प्राच्य मध्येषु गमिमेवत्वार्या प्रयुंजते, दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

पहली शताब्दी ईसवी में गांधार-तक्षशिला के केन्द्रों में कनिष्क की सभा का राजपण्डित दार्शनिक बौद्ध कवि स्वर्णाक्षी-पुत्र अश्वघोष, संस्कृत में काव्य तथा अपनी अन्य रचनाएँ लिख रहा था। उसके वज्रसूची ग्रंथ में एक गद्यांश यहाँ दिया जाता है—

गोत्रां ब्राह्मणमारभ्य ब्राह्मणीनां शूद्रपर्यन्तमभिगमन दर्शनात् अतो जाति ब्राह्मणो न भवति। इह हि कैवर्त-रजक-चंडाल-कुलेष्वपि ब्राह्मणाः सन्ति। एक वर्णो नास्ति चातुर्वर्ण्यम्।

ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी से पहले के गद्य के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसके लिए आधार आधुनिक युग में उस साहित्य के प्रकाशित ग्रंथ ही हैं। इन ग्रंथों का संपादन अधिक प्राचीन प्रतियों के आधार पर नहीं हुआ है, इसलिए निश्चित रूप से ये ग्रंथ उस युग की ही भाषा को प्रस्तुत करते हैं, यह असंदिग्ध रूप में नहीं कहा जा सकता। न यही कहा जा सकता है कि जिन व्यक्तियों के नाम से वे ग्रंथ चलते हैं, वस्तुतः उन्हीं की प्रयोग की हुई भाषा उनमें है। दृढ़ भित्ति पर हम अपने-आपको पहली बार गिरनार के रुद्रदामा के (१५०-१७० ई० के बीच उत्कीर्ण हुए) शिलालेख में ही पाते हैं। वह लेख इस प्रकार है—

१—सिद्धं इदं तडाकं सुदर्शनं गिरिनगराद (पि)... (मृ) (त्ति) कोपल विस्तारायामोच्छ्रय निः संधि-बद्ध-सर्व-पालीत्वात्पर्वत-पा

२—द-प्रतिस्पर्द्धि - सुश्लिष्ट (ब) -(बन्धं)... (व) जातेना कृत्रिमेण सेतुबन्धेनोपपन्नं सुप्रति-विहित-प्रनाली परिवाह

३—मीढ विधानं च त्रिस्क (न्धं)... नादिभिरनुग्र (है) र्महत्युपचये वर्तते (।) तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य सु प्रही-

४—त-नाम्न स्वामि-चष्टनस्य पौत्र (स्य) (राज्ञः क्षत्रपस्य सुगृहीत नाम्न स्वामि-जय-दाम्न) पुत्रस्य राज्ञो महाक्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्त नाम्नो रुद्रदाम्नो वर्षे द्विसप्तति म (मे) ७० (२) २

५—मार्गशीर्ष बहुल-प्र (ति) (पदि)... सृष्टि वृष्टिना पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां गिरेरूर्जयत सुवर्णसिकता

६—पलाशिनी प्रभृतीनां नदीनां अतिमात्रो द्रुतं वेगैः (सता) स्यानुरूप [illegible]-रपि गिरि-

तटाट्टाल कोपतं (ल्प) द्वार-शरणोच्छ्रय विध्वंसिना युगनिधन-सद

७—शपरम-घोर (वोगेन) वायुना प्रमथि (त) सलिल-विक्षिप्त-जर्जरीकृताव (ढी) (र्णं)··· (क्षि) प्ताश्य-वृक्ष-गुल्म-लता-प्रतानं आ नदी (त) लादित्युद्घाटित मासीत (।) चत्वारि हस्त-शतानि वीशदुत्तराण्यायतेन एतावंत्येव (वि) स्ती (र्ण) न

८—पंच सप्तति-हस्तानवगाढेन भेदेन निस्सृत-सर्व्व-तोयं मरु ध्वंन्व कल्पमति भृश दु (र्द) · (।) (स्य) र्थे मौर्यस्य राज्ञः (चन्द्र) (गु) (प्त) (स्य) राष्ट्रियेण वै । श्येन पुष्पगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्य्यस्थ (कृ) ते यवन राजेन तु प (।) स्फेनाधिष्टाय

९—प्रण (।) लीभिरल (°) कृत (°) (।) (त) त्कारित (या) च राजानुरूपकृत विधानया तस्मि (भे) दे दृष्ट्या प्रनाड्या वि (स्तृ) त से (तु) · गुणतस्सर्व्व वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृत्तेन (आ) प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्ति-कृत

१०—सत्य प्रतिज्ञेन अन्य (त्र) संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु-प्रहरण वितरणत्वाविगुण रि (पु) त-कारुण्येन स्वयमभिगत जन-पद-प्रणिपति (ता) (यु) ष शरणदेन-दस्यु-व्याल-मृग रोगादिभिर नु पसृष्ट पूर्व्व नगर निगम

११—जनपदानां स्ववीर्य्यार्जितानामनुरक्त-सर्व्व-प्रकृतीनां पूर्व्वापराकरावन्त्य नूपनीवृदानर्त्त-सुराष्ट्र-श्व (भ्र-मरु-कच्छ-सिंधु-सौवी)र-कुकुरापरांत निषादादीनां समग्राणां तत् प्रभावाद्य (थावत्प्राप्त धर्मार्थ)—काम-विषयाणां विषयाणां पतिना सर्व्वक्षत्राविष्कृत

१२—वीर-शब्द-जा (तो) त्सेकाविधेयानां योधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथ-पतेस्सातकर्णेर्द्विरपि नीर्व्याज-मवजीत्यावजीत्य संबंधा (वि) दूर (त) या अनुत्सादना-त्प्राप्तयशसा (वाद)-(प्रा) (प्त) विजयेन भष्टराज-प्रतिष्ठापकेन यथार्त्थ-हस्तो—

१३—च्छ्रयार्जितोर्जित-धर्मानुरागेन शब्दार्थ-गांधर्व्व-न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारण-धारण-विज्ञान-प्रयोगा-वाप्त-विपुल कीर्तिना तुरग-गज-रथचर्य्यासि-चर्म-नियुद्धाद्या—ति-परबल-लाघव-सौष्टव-क्रियेण अहरहर्द्दान-मानान

१४—वमान-शीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्वलिशुल्क-भागैः कानक रजत-वज्र-वैडूर्य-रत्नोपचय-विष्यन्दमान-कोशेन-स्फुट-लघु मधुर-चित्र-कान्त-शब्दसमयोदारालंकृत गद्य-पद्य काव्य-विधान-प्रवीणे) न प्रमाण-मानोन्मान-स्वर-गति वर्णा-सारसत्वादिभिः

१५—परम लक्षण-वंजनैरुपेत-कान्त-मूर्तिना स्वयमधिगत महाक्षत्रप नाम्ना नरेन्द्रक (न्या) स्वयंवरानेक-माल्य प्राप्त दाम्न (।) महाक्षत्रपेण रुद्रदामा वर्ष सहस्राय गो-ब्रा (ह्म) (ण)—(र्थं) धर्मकीर्तिवृद्ध्यर्थं च अपीडयि (त्व) । कर-विष्टि

१६—प्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं स्वस्मात्कोशा महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन त्रिगुण-दृढतर-विस्तारायामं सेतु वि धा (य स) र्व्वं त (टे) · (सु) दर्शनतरं कारित-मिति (।) (अस्मि) न्नर्थे

१७—(च) महा (क्ष) त्रप (स्य) मति सचिवं-कर्मसचिवैरमात्य-गुण-समुद्युक्तै रप्यति महत्वाद्भेदस्यानुत्साह-विमुख-मतिभि (:) प्रत्याख्यातारंभ

१८—पुनः सेतुवन्ध-नैराश्याद्लाहाभूतासु प्रजासु इहाधिष्ठाने पौरजानपद जनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्त-सुराष्ट्रानां पालनार्त्थंन्नियुक्तेन

१९—पह्लवेन कुलैप-पुत्रेणामात्येन सुविशाखेन यथा-वदर्थ-धर्म-व्यवहारदर्शनैरनुरागमभिवर्द्धयता शक्तेन दान्ते-नाचपलेनाचपलेनाविस्मितेनार्य्येणाहार्य्येण

२०—स्वधितिष्ठता धर्म-कीर्ति-यशांसि भर्तुरभिवर्द्धयता-नुष्ठित (मि) (ति)

वैदर्भी शैली मे लिखित इस प्रशस्ति में सुदर्शन झील का इतिहास ही नहीं, प्रत्युत महाकाव्यों के युग की भाषा के प्रयोगों की स्वच्छन्दता भी प्राकृत के प्रभाव सहित विद्यमान है। वीशदुत्तराण्यायतेन, नीर्व्याजभवजीत्यावजीत्य, अन्यत्र संग्रामेषु, प्रत्याख्यातारभम् तथा पर्ज्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां, आदि प्रयोग इसके साक्षी हैं। व्याकरणबद्ध भाषा के साँचों में जीवन को बाँधनेवाला व्यक्ति ही अन्यत्र सग्रामेष्य तथा प्रत्याख्यातारभे आदि लिख सकता है।

वर्णानुप्रास (गिरिशिखरतटतरुतटाट्टाल कोपतल्पद्वार-शरणोच्छ्रय विध्वसिना, गुरुभिरम्यस्तननाम्नो रुद्रदाम्नो, सुप्रवृष्टीना, प्रभृतीना, नदीना, प्रहरणावितरण, प्रकृतीना निपादादीना, कामविषयाणा विषयाणाम्, विधेयाना योधेयानां, नाम्ना, दाम्ना, रुद्रदाम्ना), उत्प्रेक्षा (पर्ज्जन्येन एकार्णव भूतायामिव पृथिव्यां कृतायाम्), श्लेष (अतिभृशपयदुर्दर्शनम्) आदि के प्रयोग इस बात को बतला रहे हैं कि साहित्यिक गद्य भी उन दिनों साहित्यशास्त्र के नियमों से शासित होने लगा था। अच्छे गद्य के लिए आवश्यक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्त शब्दसमयोदारालंकृत काव्य-विधान प्रवीणे' में है।

उपर्युक्त गद्य-प्रशस्ति में क्रियाओं की कमी और सामासिक शब्दों की बहुलता दर्शनीय है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इस समय तक प्राकृत भाषाओं का संस्कृत पर प्रभाव पड़ने लगा था। इसीलिए आगे नाटकों में भी प्राकृत को स्थान मिलता है और बाद को प्राकृत ही अधिक लोकप्रिय स्वीकार कर ली जाती है।

गद्य शैली के लिए समासबहुलता आगे की शताब्दियों में एक आवश्यक गुण माना जाता रहा। इसी कारण हरिषेण-रचित सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में पद्य में सरल भाषा और गद्य में समासबहुला भाषा का प्रयोग हुआ है। रुद्रदामा की सारी प्रशस्ति में जहाँ चार पाँच ही वाक्य हैं, वहाँ प्रयाग-प्रशस्ति संपूर्ण तया पद्य-गद्य-मिश्रित एक ही वाक्य है। शैली और कलात्मकता की दृष्टि से प्रयाग-प्रशस्ति, जो कि रुद्रदामा की गिरनार-प्रशस्ति के लगभग दो सौ वर्ष बाद (३५० ई० में) उत्कीर्ण की गई थी, कहीं अधिक भव्य, मँजी हुई और विकसित है। उसके भी एक अंश का दर्शन कीजिए—

लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य महाराज श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य

लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य सर्व्व-पृथिवी विजय-जनितोदय-व्याप्त-निखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपति

भवन-गमनावाप्त-ललित सुख-विचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रित. स्तम्भः।

यह प्रशस्ति समुद्रगुप्त के गुणों और दिग्विजय का गान है। कालिदास ने इस दिग्विजय के लेख का उपयोग रघुवंश के निर्माण में किया, ऐसी धारणा विद्वानों की है। सुबंधु और बाण में इसकी वैदर्भी शैली का विस्तार दिखाई देता है। उनके लम्बे लम्बे अलंकार-समासबहुल वाक्यों के लिए यह प्रशस्ति आदर्श का काम कर सकती है। गद्य काव्य के रचयिताओं को इससे प्रेरणा मिल सकती है। चम्पू साहित्य का गद्य-पद्य-मिश्रण भी इसके अनुकरण पर रचा प्रतीत होता है। दूसरी ओर संस्कृत के समय से ही नाटकों में भी (उदाहरणार्थ भास के नाटकों में) पद्य का प्रयोग होने लगा था। कथा साहित्य के विकास को भी इस शैली ने कुछ न कुछ योगदान दिया। अलंकार-शास्त्र के प्रमाण में उदाहरणस्वरूप इस प्रशस्ति के उद्धरण लाए है।

[illegible] आर्या, श्लोक, उपेन्द्रवज्रा, [illegible], [illegible], आदि के छन्द उदाहरण इस प्रशस्ति में हैं तथा स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीड़ित, मंदाक्रान्ता और पृथ्वी आदि छंदों का प्रयोग इसमें हुआ है। शब्दों के चयन और गुंफन में हरिषेण ने विशेष कौशल दिखलाया है। गद्य भाग में लम्बी सामासिक पदावली के बीच में निश्चित अवधि के बाद छोटे छोटे वाक्यांश गूँथ दिए गए हैं, जिससे गायक को गाने में और श्रोता को अर्थ समझने में कठिनाई नहीं रह जाती। लम्बे समासों में शब्दावली इस प्रकार चुनी गई है कि भाषा में प्रवाह के साथ लय भी आ जाती है। इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि आवश्यकता, परिस्थिति और भाव के अनुकूल लय बदल जाए। काव्य-साहित्य के मेल में पड़नेवाली शब्दावली भी प्रशस्ति में विद्यमान है। संक्षेप में हरिषेण का गद्य शास्त्रीय तथा आलंकारिकों का साहित्यिक गद्य है। हरिषेण पाटलीपुत्र के रहनेवाले माने जाते हैं।

शिलालेखों और ताम्रपत्रों में संस्कृत का गद्य पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित होता रहा है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में उत्कीर्ण सिकंदर लोदी के राज्यकाल के एक शिलालेख का पद्य-गद्य इस प्रकार है—

सिद्धि संवत् १५४६ वर्षे वैशाख सुदि ६ रविवासरे सुरत्राण बहलोलपुत्र सहि सिक्न्दरः। राजते तस्य खानेन्द्रो गदनो मदनोपमः। तस्य राजस्य महाभार धुरं वहति बुद्धया. तेनाय कारित. सेतुं। न्यायेनोपार्जित धनैः। जातः प्रिथिव्यां बहलीम वंश सुमाहनः तस्य-बभूव पर दी। तस्यात्मज: संप्रति बुडनाग्य: प्रियप्रजानां न द कुद्धिराजते। लि ज पुत्रेण राधा।

पहली शताब्दी से आठवीं शताब्दी के आरंभ तक का समय भारत में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के बहुमुखी विकास को लेकर आता है। मनु (दूसरी शताब्दी) विष्णु (तीसरी शताब्दी), याज्ञवल्क्य (चौथी शताब्दी,) नारद (पाँचवीं शताब्दी) और बृहस्पति (छठी शताब्दी) के स्मृति ग्रंथ; भरत मुनि का नाट्यशास्त्र; अश्वघोष, बुद्धघोष, धर्मकीर्ति, शूद्रक, कालिदास, सुबन्धु, दंडी, बाण, भवभूति, शंकराचार्य के ग्रंथ, और नाना पुराणों शास्त्रों ज्योतिष, गणित तथा ललित कलाओं का साहित्य विभिन्न भूभागों में बनता है। दक्षिणी और उत्तरी भारत दोनों ही केन्द्रों में स्वतंत्र रूप से तथा राजाओं की छत्रछाया में लेकर इन विभिन्न प्रकार के साहित्य के निर्माण में लगे दिखाई देते हैं। कथा, उपन्यास, नाटक, गीति, धर्म, अर्थ, काम, साहित्य-शास्त्र और दर्शन शास्त्र के मौलिक ग्रंथ, टीकाएँ, भाष्य

तटाट्टाल कोपतं (ल्प) द्वार-शरणोच्छ्रय विध्वंसिना युगनिधन-सद्द

७—शपरम-घोर (वोगेन) वायुना प्रमथि (त) सलिल-विक्षिप्त-जर्जरीकृताव (दी) (र्णं)··· (क्षि) साश्य-वृक्ष-गुल्म-लता-प्रतानं आ नदी (त) लादित्युद्धाटित मासीत (।) चत्वारि हस्त-शतानि वीशदुत्तराण्यायतेन एतावंत्येव (वि) स्ती (र्णं) न

८—पंच सप्तति-हस्तानवगाढेन भेदेन निस्सृत-सर्व्व-तोयं मरु ध्वन्व कल्पमति भृश दु (र्द) (।) (स्य)ा र्थे मौर्यस्य राज्ञः (चन्द्र) (गु) (प्त) (स्य) राष्ट्रि-येण वै । श्येन पुष्पगुप्तेन कारितं अशोकस्य मौर्य्यस्य (कृ) ते यवन राजेन तु ष (ा) स्फेनाधिष्टाय

९—प्रण (ा) लीभिरल (°) कृत (°) (।) (त) त्कारित (या) च राजानुरूपकृत विधानया तस्मि (भे) दे दृष्ट्या प्रनाड्या वि (स्तृ) त से (तु) ' गुणतस्सर्व्व वर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृत्तेन (आ) प्राणोच्छ्वा-सात्पुरुषवधनिवृत्ति-कृत

१०—सत्य प्रतिज्ञेन अन्य (त्र) संग्रामेष्वभिमुखागत-सदृश-शत्रु-प्रहरण वितरणत्वाविगुण रि (पु)' त-कारु-ण्येन स्वयमभिगत जन-पद-प्रणिपति (ता) (यु) ष शरणदेन-दस्यु-व्याल-मृग रोगादिभिर नु पसृ ष्ट पूर्व्व नगर निगम

११—जनपदानां स्ववीर्य्यार्जितानामनुरक्त-सर्व्व-प्रकृतीनां पूर्व्वापराकरावन्त्य नूपनीवृदानर्त्त-सुराष्ट्र-श्व (भ्र-मरु-कच्छ-सिंधु-सौवी)र-कुकुरापरांत निषादादीनां समग्राणां तत् प्रभावाद्य (थावत्प्राप्त धर्मार्थ)—काम-विषयाणां विषयाणा पतिना सर्व्वक्षत्राविष्कृत

१२—वीर-शब्द-जा (तो) त्सेकाविधेयानां योधेयानां प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथ-पतेस्सातकर्णेर्द्विरपि नीर्व्याज-मवजीत्यावजीत्य संबंधा (वि) दूर (त) या अनुत्सादना-द्यासयशसा (वाद)-(प्रा) (प्त) विजयेन भ्रष्टराज-प्रतिष्ठापकेन यथार्त्थ-हस्तो—

१३—च्छ्रयार्जितोर्जित-धर्मानुरागेन शब्दार्थ-गांधर्व्व-न्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारण-धारण-विज्ञान-प्रयोगा-वाप्त-विपुल कीर्तिना तुरग-गज-रथचर्य्यासि-चर्म-नियुद्धाद्या-ति-परबल-लाघव-सौष्टव-क्रियेण अहरहर्द्दान-मानान

१४—वमान-शीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्वलिशुल्क-भागै.कानक रजत-वज्र-वैडूर्य-रत्नोपचय-विष्यन्दमान-कोशेन-स्फुट-लघु मधुर-चित्र-कान्त-शब्दसमयोदारालंकृत गद्य-पद्य (काव्य-विधान-प्रवीणे) न प्रमाण-मानोन्मान-स्वर-गति वर्णं-सारसत्वादिभिः

१५—परम लक्षण-व्यंजनैरुपेत-कान्त-मूर्तिना स्वयमधिगत महाक्षत्रप नाम्ना नरेन्द्रक (न्या) स्वयंवरानेक-माल्य प्राप्त दाम्न (ा) महाक्षत्रपेण रुद्रदामा वर्ष सहस्राय गो-ब्रा (ह्म) (ण)—(र्थं) धर्मकीर्तिवृद्ध्यर्थं च अपीडयि (त्व) ा कर-विष्टि

१६—प्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं स्वस्मात्कोशा महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन त्रिगुण-दृढतर-विस्तारायामं सेतु वि धा (य स) र्व्वं त (टे)' (सु) दर्शनतरं कारित-मिति (ा) (अस्मि) न्नर्थे

१७—(च) महा (क्ष) त्रप (स्य) मति सचिवं-कर्मसचिवैरमात्य-गुण-समुद्युक्तै रप्यति महत्वाद्भेदस्यानुत्साह-विमुख-मतिभि (:) प्रत्याख्यातारंभ

१८—पुनः सेतुबन्ध-नैराश्याद्धाहाभूतासु प्रजासु इहा-धिष्ठाने पौरजानपद जनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्त-सुराष्ट्रानां पालनार्थंन्नियुक्तेन

१९—पह्लवेन कुलैप-पुत्रेणामात्येन सुविशाखेन यथा-वदर्थ-धर्म-व्यवहारदर्शनैरनुरागमभिवर्द्धयता शक्तेन दान्ते-नाचपलेनाचपलेनाविस्मितेनार्य्येणाहार्य्येण

२०—स्वधितिष्ठता धर्म-कीर्ति-यशांसि भर्तुरभिवर्द्धयता-नुष्ठित (मि) (ति)

वैदर्भी शैली में लिखित इस प्रशस्ति में सुदर्शन झील का इतिहास ही नहीं, प्रत्युत महाकाव्यों के युग की भाषा के प्रयोगों की स्वच्छन्दता भी प्राकृत के प्रभाव सहित विद्यमान है। वीशदुत्तराण्यायतेन, नीर्व्याजभवजीत्यावजीत्य, अन्यत्र संग्रा-मेषु, प्रत्याख्यातारभम् तथा पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां, आदि प्रयोग इसके साक्षी हैं। व्याकरणबद्ध भाषा के साँचों में जीवन को बाँधनेवाला व्यक्ति ही अन्यत्र सग्रामेष्य तथा प्रत्याख्यातारमे आदि लिख सकता है।

वर्णानुप्रास (गिरिशिखरतटतरुतटाट्टाल कोपतल्पद्वार-शरणोच्छ्रय विध्वंसिना; गुरुभिरभ्यस्तननाम्नो रुद्रदाम्नो, सुप्रवृष्टीना, प्रभृतीना, नदीना, प्रहरणावितरण, प्रकृतीना निषादादीना,कामविषयाणां विषयाणाम्,विधेयाना योधेयाना, नाम्ना, दाम्ना, रुद्रदाम्ना), उत्प्रेक्षा (पर्जन्येन एकार्णव भूतायामिव पृथिव्या कृतायाम्),श्लेष (अतिभृशपथदुर्दर्शनम्) आदि के प्रयोग इस बात को बतला रहे हैं कि साहित्यिक गद्य भी उन दिनों साहित्यशास्त्र के नियमों से शासित होने लगा था। अच्छे गद्य के लिए आवश्यक तत्त्वों का स्पष्ट उल्लेख 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्त शब्दसमयोदारालंकृत काव्य-विधान प्रवीणे' में है।

उपर्युक्त गद्य-प्रशस्ति में क्रियाओं की कमी और सामासिक शब्दों की बहुलता दर्शनीय है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इस समय तक प्राकृत भाषाओं का सस्कृत पर प्रभाव पड़ने लगा था। इसीलिए आगे नाटकों में भी प्राकृत को स्थान मिलता है और बाद को प्राकृत ही अधिक लोकप्रिय स्वीकार कर ली जाती है।

गद्य-शैली के लिए समासबहुलता आगे की शताब्दियों में एक आवश्यक गुण माना जाता रहा। इसी कारण हरिषेण-रचित सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में पद्य में सरल भाषा और गद्य में समासबहुला भाषा का प्रयोग हुआ है। रुद्रदामा की सारी प्रशस्ति में जहाँ चार-पाँच ही वाक्य हैं, वहाँ प्रयाग-प्रशस्ति संपूर्णतया पद्य-गद्य-मिश्रित एक ही वाक्य है। शैली और कलात्मकता की दृष्टि से प्रयाग-प्रशस्ति, जो कि रुद्रदामा की गिरनार-प्रशस्ति के लगभग दो सौ वर्ष बाद (३५० ई० में) उत्कीर्ण की गई थी, कहीं अधिक भव्य, मँजी हुई और विकसित है। उसके भी एक अश का दर्शन कीजिए—

लोकसमय-क्रियानुविधान-मात्र-मानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य महाराज श्री गुप्त प्रपौत्रस्य महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पुत्रस्य

लिच्छवि-दौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य सर्व्व-पृथिवी विजय-जनितोदय-व्याप्त-निखिलावनितलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपति

भवन-गमनावाप्त-ललित सुख-विचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रित· स्तम्भ.।

यह प्रशस्ति समुद्रगुप्त के गुणों और दिग्विजय का गान है। कालिदास ने इस दिग्विजय के लेख का उपयोग रघुवंश के निर्माण मे किया, ऐसी धारणा विद्वानों की है। सुबधु और बाण में इसकी वैदर्भी शैली का विस्तार दिखाई देता है। उनके लम्बे-लम्बे अलकार-समासबहुल वाक्यों के लिए यह प्रशस्ति आदर्श का काम कर सकती है। गद्य-काव्य के रचयिताओं को इससे प्रेरणा मिल सकती है। चपू साहित्य का गद्य-पद्य-मिश्रण भी इसके अनुकरण पर बढा प्रतीत होता है। दूसरी ओर मौर्यों के समय से ही नाटकों में भी (उदाहरणार्थ भास के नाटकों में) पद्य का प्रयोग होने लगा था। कथा-साहित्य के विकास को भी इस शैली ने कुछ-न-कुछ योगदान दिया। अलंकार-शास्त्र के प्रणयन में उदाहरणस्वरूप इस प्रशस्ति के उद्धरण आए हैं।

वर्णानुप्रास, श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, आदि के अच्छे उदाहरण इस प्रशस्ति में हैं तथा स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, मदाक्रान्ता और पृथ्वी आदि छदों का प्रयोग इसमें हुआ है। शब्दों के चयन और गुफन में हरिषेण ने विशेष कौशल दिखलाया है। गद्य भाग में लम्बी सामासिक पदावली के बीच में निश्चित अवधि के बाद छोटे-छोटे वाक्याश गूँथ दिए गए हैं, जिससे गायक को गाने में और श्रोता को अर्थ समझने में कठिनाई नहीं रह जाती। लम्बे समासों में शब्दावली इस प्रकार चुनी गई है कि भाषा में प्रवाह के साथ लय भी आ जाती है। इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि आवश्यकता, परिस्थिति और भाव के अनुकूल लय बदल जाए। काव्य-साहित्य के मेल में पड़नेवाली शब्दावली भी प्रशस्ति में विद्यमान है। सक्षेप मे हरिषेण का गद्य शास्त्रीय तथा आलकारिकों का साहित्यिक गद्य है। हरिषेण पाटलीपुत्र के रहनेवाले माने जाते हैं।

शिलालेखों और ताम्रपत्रों में संस्कृत का गद्य पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न रूपो में विकसित होता रहा है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अत में उत्कीर्ण सिकदर लोदी के राज्यकाल के एक शिलालेख का पद्य-गद्य इस प्रकार है.—

सिद्धि संवत् १५४६ वर्षे वैशाख सुदि ६ रविवासरे सुरत्राण बहलोलपुत्र सहि सिकन्दरः। राजते तस्य खानेन्द्रो गदनो मदनोपमः। तस्य राजस्य महाभार धुरं बहति वुढणः तेनाय कारित. सेतुं। न्यायेनोपार्जित धनैः। जातः ग्रिथिव्यां वहलीम वंश सुसाहनः तस्य-वभूव षर दी। तस्यात्मजः संप्रति वुढनाख्य. प्रियप्रजानां न द कृद्धिराजते। लिः ज पुत्रेण राधा।

पहली शताब्दी से आठवी शताब्दी के आरंभ तक का समय भारत में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श भाषाओं के बहुमुखी विकास को लेकर आता है। मनु (दूसरी शताब्दी) विष्णु (तीसरी शताब्दी), याज्ञवल्क्य (चौथी शताब्दी,) नारद (पाँचवीं शताब्दी) और बृहस्पति (छठी शताब्दी) के स्मृति ग्रंथ, भरत मुनि का नाट्यशास्त्र; अश्वघोष, बुद्धघोष, धर्मकीर्त्ति, शूद्रक, कालिदास, सुबन्धु, दंडी, बाण, भवभूति, शकराचार्य के ग्रथ, और नाना पुराणों, शास्त्रों, ज्योतिष, गणित तथा ललित कलाओं का साहित्य विभिन्न भूभागों मे बनता है। दक्षिणी और उत्तरी भारत दोनों ही के विद्याकेन्द्रों में स्वतंत्र रूप से तथा राजाओं की छत्रछाया में लेखक इन दिनों विविध प्रकार के साहित्य के निर्माण में लगे दिखलाई देते हैं। कथा, उपन्यास, नाटक, नीति, धर्म, अर्थ, काम, साहित्य-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र के मौलिक ग्रंथ, टीकाएँ, भाष्य

आदि पद्य तथा गद्य में बनते हैं। गद्य के महान् कलाकारों में दंडी, सुबंधु, बाण आदि के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। कालिदास, भवभूति और भर्तृहरि महान् कवियों के रूप में अवतरित होते हैं। कालिदास और भवभूति के नाटकों में कवियों के गद्य के दर्शन होते हैं। तदुपरान्त आचार्यों का समय आता है।

कालिदास को विद्वानों ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय (३६० ई०-४१३ ई०) के समय में माना है। कुछ दिनों तक उन्हें ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी में स्थित करने का भी प्रबल प्रयत्न हुआ, किन्तु पिछले वर्षों में इतिहास के विद्वानों ने उस मत का पूर्ण रूप से खंडन कर कालिदास का चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में होना निश्चित रूप से मान लिया है। इस स्थिरता को लाने का श्रेय डाक्टर बरुआ को है। कालिदास के गद्य का दर्शन कीजिए—

राजा—भगवन् इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित्कालस्य बन्धुभिरानीतं स्मृतिशैथिल्यात्प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

मारीच—वत्स अलमात्मापराधशङ्कया। स मोहोऽपि त्वय्युपपन्नः। श्रूयताम्।

राजा—अवहितोऽस्मि।

मारीच—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्ष वैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयक दर्शनावसानः।

—अभिज्ञान शाकुन्तलम् (सप्तम अंक)

भवभूति (श्रीकंठ ७००-७४० ई०) आधुनिक बरार के पद्मपुर नगर में उत्पन्न हुए थे। सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और आठवीं शताब्दी का आरंभ उनका समय माना जाता है। वह करुणरस के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। अपने उत्तररामचरित में उन्होंने दंडकारण्य का सुन्दर वर्णन किया है। उसी नाटक से उद्धृत यह गद्यांश है—

श्रूयताम्। पुरा किल वाल्मीकि तपोवनोपकण्ठात् परित्यज्य गते लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदनात्मानमति दुःखसंवेगात् गंगाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र दारकद्वयं प्रसूता। भगवतीभ्यां पृथ्वी भागीरथीभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता। स्तन्यत्यागात् परेण च तद्दारकद्वयं तस्याः प्राचेतसस्य महर्षेर्गंगादेवी स्वयमर्पितवती।

भवभूति जिस समय इस प्रकार का गद्य अपने नाटकों में लिख रहे थे, उस समय उत्तराखंड में ताम्रपत्रों के उत्कीर्ण लेखों की शैली, ललितशूरदेव के पाडुकेश्वर वाले ताम्रपत्रों में, प्राचीन हरिषेणीय प्रणाली को पाल राजाओं के लेखों की छाया सहित अपना रही थी।

गद्य में आख्यायिका-कथा-साहित्य का आरंभ एक प्रकार से वैदिक तथा उपनिषदीय काल से ही हो जाता है। पतंजलि, जो कि ईसवी सन् की पहली-दूसरी शताब्दी के थे, अपने महाभाष्य में सुमनोत्तरा और वासवदत्ता नामक आख्यायिकाओं का उल्लेख करते हैं। अन्य प्रसगों से विदित होता है कि वररुचि या कात्यायन ने चारुमती आख्यायिका लिखी थी। ईस्वी पूर्व की चौथी शताब्दी में गुणाढ्य पैशाची प्राकृत में अपनी बृहत्कथा लिख रहे थे। उसी समय बौद्ध लोग पालि भाषा में अपनी जातक-कथाएँ रच रहे थे और पंचतंत्र के आदि लेखक भी अपनी कथाएँ संस्कृत भाषा में लिख रहे थे। पहली शताब्दी में हाल की राजसभा का कवि श्रीपालित तरंगावती नामक आख्यायिका लिख रहा था। उसके पश्चात् रामिल्ल-सोमिल्ल की शूद्रक-कथा और हरिश्चन्द्र भद्र की मनोवती तथा शटकर्णीहरण आख्यायिकाओं की रचना हुई। बाण ने हरिश्चन्द्र भद्र का उल्लेख किया है। पंचतंत्र का दूसरा संस्करण चौथी शताब्दी के आसपास बना। पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दी में पंचतंत्र तथा जातक-कथाएँ चीनी, अरबी, पहलवी आदि भाषाओं में भी अनूदित हो जाती हैं। इसी काल में पौराणिक कथाएँ भी लिखी जाती हैं। इन सब कथाओं में गद्य शैली का विकास होता है।

छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दियों में कथाओं एवं आख्यायिकाओं के दिग्गज लेखक दंडी, सुबंधु और बाण दिखाई देते हैं। दंडी और सुबंधु के समय के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ लोग सुबंधु को दंडी से पहले (५५०-६०६ ई०) के मानते हैं। दंडी का साहित्यिक जीवन इनकी सम्मति में ५८५ ई० से पूर्व आता है। दूसरे विद्वान् दंडी का समय ६३५-७०० ई० के बीच और सुबंधु का ६४७ ई० के बाद का तथा ७७० ई० से पहले मानते हैं। बाण हर्ष के समकालीन थे। हर्ष के समय में चीनी यात्री श्वेनच्वांग भारत में ६२९-६५५ ई० तक रहा। उसने अपना भ्रमण-वृत्तांत लिखा है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए बाण के हर्षचरित का रचनाकाल विद्वानों ने ६०७ ई० के आसपास और कादम्बरी का उसके बाद माना है।

सुबंधु की गद्यरचना वासवदत्ता है, जिसे कुछ विद्वान्

आख्यायिका के अंतर्गत और कुछ कथा के अंतर्गत लेते है। तथ्य यह है कि उसमें कथा की भाँति कल्पना को भी खुलकर काम करने का अवसर मिला है और आख्यायिका की तरह इतिहास तथा रूढ़ि का सगठन भी उसमे हुआ है। कल्पना, सौन्दर्य-निर्माण, परिस्थितियों के चित्रण और अलंकारों के विधान मे यह रचना मुक्त विचरण करती है और रूढ़ि तथा इतिहास-कथा के सूत्र को बटने में भी वह पीछे नहीं रहती।

वासवदत्ता की कथा इस प्रकार है —

राजा चिन्तामणि का पुत्र कदर्पकेतु एक दिन स्वप्न में एक नवयौवना सुन्दरी को देखता है। उसके लिए वह जागृत अवस्था में भी विकल हो जाता है। उसकी खोज में वह अपने सखा मकरंद सहित चल पडता है। घूमते-घूमते वह विंध्याचल मे जा पहुँचता है। वहाँ एक रात वह देखता है कि एक मैना अपने तोते को विलम्ब से घर आने के लिए खरी-खोटी सुना रही है। इस पर तोता देर से आने का कारण बताता है और एक कथा सुनाने लगता है। इस कथा से कदर्पकेतु को स्वप्न-सुन्दरी का कुछ पता मिलता है। वह सुनता है कि कुसुमपुर के राजा शृंगारशेखर की इकलौती बेटी वासवदत्ता ने स्वप्न में कंदर्पकेतु को देखा। जगने पर उसके लिए वह विकल हो गई और अपनी सखी तमालिका को उसको खोजने के लिए उसने भेज दिया। कदर्पकेतु कुसुमपुर पहुँचता है। अगले ही दिन वासवदत्ता के विवाह की बात विद्याधर राजकुमार पुष्पकेतु के साथ तय हुई थी। कदर्पकेतु वासवदत्ता से मिलता है। दोनों ही जादू के घोड़े पर बैठकर विंध्याचल पहुँच जाते हैं। दूसरे दिन सुबह कदर्पकेतु वासवदत्ता को ग़ायब पाता है तथा आत्मघात करने के लिए तैयार हो जाता है। इसी समय आकाशवाणी होती है कि 'धैर्य धरो वह तुम्हें मिलेगी।' कदर्पकेतु रुक जाता है। कुछ महीने बाद उसने पत्थर से बनी वासवदत्ता को पाया। यह पाषाणमूर्त्ति कदर्पकेतु का स्पर्श पाते ही फिर चेतन हो उठती है। उसके पाषाण बनने का रहस्य पूछने पर वासवदत्ता बतलाती है कि एक मुनि के शाप से वह पत्थर हो गई। वह बतलाती है कि उसकी प्राप्ति के लिए दो सेनाओं में युद्ध चल रहा था, उसी समय वह उधर जा पहुँची, जहाँ जाने की स्त्रियों के लिए मनाही थी। फलत वह शापग्रस्त हो पाषाण मे बदल गई। यह कथा ज्ञात होने पर कदर्पकेतु वासवदत्ता को लेकर अपनी नगरी में लौट आता है और वहाँ उनके जीवन के शेष दिन सुख से बीतते हैं।

इस कथा पर वाल्मीकि, कालिदास और पचतत्र का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। स्वप्न-दर्शन से प्रेम उत्पन्न हो जाने की बात भास की स्वप्नवासवदत्ता से प्रभावित हो सकती है। वर्जित दिशा में जाने से मुनि का शाप देना 'कुमारसभव' की याद दिलाता है। शापग्रस्त पाषाण मूर्त्ति का स्पर्श पाकर चेतन हो जाना अहल्या के उद्धार की याद दिलाता है। तोता-मैना की बातचीत करना और मनुष्यों का उसे समझना पचतंत्र के प्रभाव को दिखला रहा है। जादू के घोड़े के मूल का पता कहाँ है, कहा नहीं जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने युग के विश्वासों को ही सुबधु इस कथा में प्रकट कर रहे थे।

यह कथा छोटी है, किंतु उसे वातावरण और चित्रों के सामासिक अलकारों की रगीन लम्बी शब्दावली में भरा गया है। इसीलिए सुबंधु की शैली गौड़ीय मानी जाती है। श्लेष, विरोधाभास, परिसख्या, प्रौढोक्ति, मालादीपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अनुप्रास, यमक आदि सुबधु के प्रिय अलकार हैं।

वासवदत्ता में सूर्योदय, सूर्यास्त, पतझड़, वसन्त आदि का वर्णन तथा लोगों के भाव-व्यापारों का चित्रण समासबहुला भाषा में होते हुए भी सजीव, स्वाभाविक और सुन्दर है। वासवदत्ता के आरभ में नौ पद्य हैं, फिर गद्यकथा आरंभ होती है। बीच-बीच में भी पद्य आते हैं। ये पद्य अन्य बातों के साथ सुबधु के साहित्यिक गर्व की सूचना देते हैं। अब सुबन्धु के गद्य के दर्शन कीजिए —

(अथ स प्रबुद्धस) तु विषसरसीव दुर्जनवचसीव निमग्नम् आत्मानम् (अव) धारयितुं न शशाक। तथाहि क्षणम् (आकाशे तदालिंगनाथम्) प्रसारित बाहुयुगलः इह्य येहि प्रियतमे (मा गच्छ मा गच्छे) ती दिक्षु (विदिक्षु च वि) लिखिताम् इवोत्कीर्णाम् इव चक्षुषि निखाताम् इव हृदये प्रियतमाम् आजुहाव ततस तराइव शय्यातले (निलीनो) निषिद्धाशेषपरिजनो दत्त (कवाट·) परिहृत ताम्बूला (हारा) दि सकलोपभोगस तम् (दिवसम अप्य) अनाइषीत्।

सुबंधु की ही भाँति बाण भी परिश्रम-प्रसूत चमत्कारवादी कवि हैं। सस्कृत-साहित्य में बाण को विशेष सम्मान प्राप्त है। पडित लोग 'बाणोच्छिष्ट जगत् सर्वम्' तक कह देते हैं। बाण की रचनाओं की जी भरकर प्रशसा उनके परवर्ती कवियों ने की है। इसका कारण है। बाण में सूक्ष्म निरीक्षण, प्रतिभा, भावप्रवणता, अभिव्यक्ति का कौशल और पाडित्य सब एक साथ ही विद्यमान है। बाण हर्षवर्द्धन

(जन्म ५६० ई०–राज्यकाल ६०६–६४७ ई०) के दरबारी कवि थे। कादम्बरी और हर्षचरित पर उनकी साहित्यिक कीर्ति अधिक अवलम्बित है। हर्षचरित का ऐतिहासिक महत्त्व भी है विद्वानों ने उसका खूब उपयोग किया है। कादम्बरी अपनी कथा और गद्य के टकसालीपन के लिए प्रसिद्ध है। बाण की गद्यशैली को ध्यान में रखकर ही 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' की सार्थकता दिखलाई देती है।

परिस्थिति के अनुकूल ही अपनी भाषा को बदलने का कौशल बाण की रचनाओं में दिखलाई देता है। हर्षचरित और कादम्बरी इस भेद को अत्यंत स्पष्ट कर देते हैं। हर्षचरित का एक गद्यांश देखिए—

मलिनवासा रिपुशरशल्यपूरितेन निखातबहुलोहकीलकपरिकररक्षितस्फुटनेनेव हृदयेन हृदयलग्नैः स्वमिसतकृतैर इव श्रमश्रुभिः शुचम समुपदर्शयत दूरीकृतव्यायाम शिथिल भुजदंडोलायमान मंगलवलयैक शेषालंकृतिर अनादरोपयुक्त ताम्बूल विरल रागेण शोकदहनदह्यमानस्य हृदयस्यांगारेणेव दीर्घं निश्वासवेगनिरगतेनधारेण शुष्यता स्वामिविरह विधृतजीवितापराध वैलक्ष्याद इव वाष्पवारिपटलेन पटेनेव पावृतवदनः विशन्न इव।

और अब कादम्बरी की शैली अथवा बाण की सामान्य शैली का एक गद्यांश भी देखिए—

एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसंपुटभिदि किमिचिदुन्मुक्तपाटलिमनी भगवति सहस्र मरीचिमालिनी राजानम् आस्थान मंडपगतम अंगनाजनविरुधेन वाम पार्श्वावलंबिना कौक्षेयकेण समनिहितविषधरेव चन्दनलता भीषण अरमणीयाकृतिर अभिरल चन्दनानुलेपेन धन वलित स्तनतटोन्मज्जदैरावतकुम्भमंडलेव मंदाकिनी चूडामणि प्रतिबिम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमती राजाभिः शिरोभिरउह्यमाना शरदइव कलहंस धवलाम्बराजामदग्न्यपरशुधारेव वशीकृत सकल राजमंडला विंध्यवनभूमिरेव वेत्रलतावती राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी प्रतिहारी समुपश्त्य क्षितितलनिहित जानु करकमला सविनयम् अब्रवीत।

कादम्बरी को आदर्श मानकर बाद की शताब्दियों में सोमदेव (११ वीं सदी) ने कथासरित्सागर, धनपाल (१०वीं शताब्दी) ने तिलक-मजरी और वादीभसिंह (ओडयदेव जैन) ने गद्यचिन्तामणि तथा अन्य कवियों ने अन्य ग्रंथ लिखे। बाण की कादम्बरी की कथा सक्षेप में इस प्रकार है—

राजा शूद्रक की सभा में एक दिन एक चाडाल-कन्या एक तोते को लेकर आती है। तोता अपनी दुःखभरी कथा सुनाता है—"मेरी माता की मृत्यु मेरे जन्मते ही हो गई थी। मेरे पिता को व्याध पकड़ ले गए। जाबालि मुनि मुझे अचेत पड़ा देख अपने आश्रम में ले गए। वहाँ उन्होंने अपने शिष्यों को मेरे पूर्वजन्म की कथा यों सुनाई— 'उज्जैन में पूर्वकाल में तारापीड नामक एक धर्मात्मा राजा था। राजा की रानी विलासवती अत्यंत रूपवती थी और राजा का मंत्री शुकनास अत्यत बुद्धिमान था। समय बीतने पर राजा के चन्द्रापीड़ नामक पुत्र हुआ। उन्हीं दिनों मंत्री का पुत्र वैशम्पायन भी जन्मा। समवयस्क राजपुत्र और मंत्रीपुत्र मे घनी मैत्री हो गई। १६ वर्ष तक दोनों ने साथ ही सब विद्याओं की शिक्षा पाई। शिक्षा की समाप्ति पर शुकनास ने पुत्र को राज्योपदेश दिया। साथ ही पत्रलेखा नामक अनुचरी और अद्भुत इन्द्रायुध घोड़ा भी उसे दिया गया। राजकुमार दिग्विजय के लिए चल दिया। तीन वर्ष के पश्चात् वह किन्नरवन में पहुँचा, जहाँ उसने सुन्दरी महाश्वेता को तपश्चर्या मे लगा देखा। महाश्वेता ने राजकुमार को अपनी कथा बताई। पुंडरीक उसका प्रेमी था, किन्तु प्राप्ति से पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। देववाणी ने कहा कि वह फिर मिलेगा। उसने अपनी प्रिय सखी कादम्बरी का भी परिचय दिया। राजकुमार तथा कादम्बरी एक दूसरे पर अनुरक्त हो गए। इसी बीच राजा का बुलावा राजकुमार को मिला। राजकुमार पत्रलेखा को पीछे छोड़कर हृदय में व्यथा भरे घर लौट आया। वैशम्पायन भी पत्रलेखा के साथ ही रह गया था। पीछे पत्रलेखा ने आकर राजकुमार को कादम्बरी की विरहविह्वल दशा बताई। राजकुमार अब कादम्बरी की सुधि लेने लौटता है। यहाँ वह पहले वैशम्पायन को ढूँढता है, पर उसे पाता नहीं। महाश्वेता उसे बतलाती है कि किसी ब्राह्मण-पुत्र ने प्रणय का प्रयास किया, जो उस (महाश्वेता) ने अस्वीकार किया। अधिक आग्रह करने पर उसने उसे (ब्राह्मणपुत्र को) शाप दे दिया कि तुम तोता बनो। यह सुनकर चन्द्रापीड़ मूर्च्छित हो गया। महाश्वेता उसे देखकर खिन्न हो गई। इसी समय आकाशवाणी होती है कि निराश न हो तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। इन्द्रायुध ने सरोवर मे प्रवेश किया तो वहाँ से पुंडरीक का सुहृद कपिंजल प्रकट हुआ। उसने बतलाया कि चन्द्रापीड चन्द्रमा का अवतार है, वैशम्पायन पुडरीक है और इन्द्रायुध कपिंजल है।'

मुनि से इस कथा को सुनकर मैंने अपने आपको पहचान लिया। मै समझ गया कि मै पुंडरीक और वैशम्पायन दोनों हूँ। अब मैं चन्द्रापीड को ढूँढने के लिए चल दिया। रास्ते में चांडाल-कन्या ने मुझे पकड़ लिया और अब मैं यहाँ हूँ।"

आगे की कहानी बताती है कि चाडाल-कन्या पुंडरीक की माता है और शूद्रक चन्द्रापीड़ की आत्मा है। अब शाप की अवधि समाप्त होती है। शूद्रक का शरीरान्त हो जाता है। कादम्बरी की गोद में पड़ा हुआ चन्द्रापीड पुन जीवित हो उठता है, मानों गहरी नींद से जगा हो! जल्दी ही पुंडरीक भी वहाँ पहुँच जाता है। युग्म प्रणयी विवाह के बधन में बँध जाते हैं और आनंद में उनके दिन बीतते हैं।

इस रोमाचित प्रेम-कथा को संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों ने रसपूर्ण काव्य माना है। शृ गार के साथ अद्भुत और करुण रस भी इसमें घुल-मिलकर एक हो गए हैं। अलंकारो के रसोपयुक्त प्रयोग के कारण ही जयदेव ने बाण की रचनाओं की मुक्त कठ से प्रशसा करते हुए कहा था—"हृदय वसति पञ्चवाणस्तु बाण." अर्थात् 'हृदय में बसने वाला यह पंचवाण (काम) है अथवा बाण (कवि) है?'

बाण के अनंतर महाकवि दडी (६३५-७०० ई०) को लीजिए। दडी का समय बडा वाद-विवाद का विषय रहा है। छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक लोग उन्हें खींचते हैं। किन्तु इनमें सदेह नहीं कि दंडी बाण के बाद हुए। दडी पर कादम्बरी का प्रभाव स्पष्ट है। फिर दंडी ने बाण की कादम्बरी का उल्लेख भी किया है ('कादम्बरीरसान दृष्टय.')।

दंडी आख्यान-रचयिता भी थे और साहित्य शास्त्री भी। 'काव्यादर्श' उनका अलंकारशास्त्र-विषयक प्रसिद्ध ग्रंथ है। 'अवतिसुन्दरी' कथा उनकी गद्यकहानी है। 'दशकुमारचरित' को लोग पहले से ही संदेह की दृष्टि से देखते रहे हैं। उसके दडीकृत होने में जो संदेह था, वह अब सत्य निकल गया है। दशकुमारचरित दडी की रचना नहीं है। उसका मध्य भाग ही ऐसा है, जिसको दडी की अवंति-सुन्दरी कथा से लेकर किन्हीं व्यक्तियों ने पीछे दशकुमार-चरित की रचना की। अवंतिसुन्दरी ग्रंथ संपूर्ण प्राप्त हो चुका है और दक्षिण भारत के विद्वान् एम० आर० कवि द्वारा संपादित हो चुका है। दशकुमारचरित की मुख्य कथा इस प्रकार है—

मगध के राजा राजहंस के तीन मत्री थे। उनके पुत्र भी राजा के मंत्री बने। मालवा के राजा मानसार से उसका युद्ध छिड़ता है। राजहस अपनी गर्भवती रानी को विंध्या-चल के किसी आश्रम में भेज देता है। युद्ध में राजा घायल होता है। उसके घोड़े खाली रथ को विंध्याचल की ओर ले दौड़ते हैं। रानी उसके घायल होने की खबर सुन उसे मरा हुआ समझ लेती है और एक वृक्ष पर रस्सी लगा आत्मघात करने के लिए उद्यत होती है। इसी समय राजहस पहुँच जाता है। रानी के राजवाहन नामक पुत्र होता है। उसी समय मत्रियों के प्रमति, मित्रगुप्त, मंत्रगुप्त और विश्रुत नाम के पुत्र होते हैं। ये बच्चे राजा के पास पहुँचाए जाते हैं। वयस्क हो आने पर राजा उन्हें दिग्विजय के लिए भेजता है। उधर एक ब्राह्मण मातंग राजा को फुसलाकर एक गुफा में प्रवेश करा पाताल-लोक तक साथ ले जाता है। जब वे वहाँ पहुँचे तो उस देश की रानी ने अपने राज्य-सहित अपने को मातंग को अर्पित कर दिया। मातग राजा हो गया। इस बीच राज-पुत्र उज्जैन में फिर मिलने की बात करके अलग-अलग दिशाओं मे चले गए। राजवाहन उज्जैन की ओर गया और वहाँ राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी से उसने विवाह किया। राजकुमार अपनी-अपनी दिशाओं से लौटकर अपने अनुभव बताते हैं और अत में मालवा विजय कर पुष्पपुर पहुँचते तथा राजा-रानी की सेवा में उपस्थित होते हैं। राजा ने उनके जीते देश उन्ही को दे दिए। राजवाहन पुष्पपुर और उज्जैन का राजा बना। राजवाहन के सरक्षण मे अन्य राजकुमारों ने भी अपने-अपने राज्यों का भली भाँति सचालन किया।

दशकुमारचरित की कथा सहसा आरंभ होती है और सहसा समाप्त होती है। विचित्र-विचित्र लोकों के विवरणों का भाडार वह ग्रथ है।

अवन्तिसुन्दरी कथा में दडी ने अपनी जीवनी के विषय में जो कुछ बातें बताई हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि वह दामोदर के परनाती, मनोरथ के नाती और वीरदत्त के पुत्र थे! गौरी इनकी माता थी और यह काँची के रहनेवाले थे। माता-पिता की मृत्यु के बाद कुछ समय तक बाण की भाँति यह निराश्रय घूमते रहे। अत में पल्लव राजा नरसिंहवर्मन् (६३०-६६० ई०) की सभा में इन्हें आश्रय मिला।

दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में अच्छे गद्य के लिए कुछ आवश्यक गुण बतलाए हैं—'ओज समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।' गद्य वही जीवित रहता है, जिसमें ओज हो। ओज समासबहुला भाषा के प्रयोग से आता है। किन्तु स्वयं दंडी का गद्य कहीं-कहीं इस कसौटी का अतिक्रमण भी कर देता है। वह अपने पदलालित्य के कारण ही जीवित रहा है और प्रिय हुआ है। कहा भी है कि—

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्
दंडिन. पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।

दंडी की शैली में यह पदलालित्य उपयुक्त शब्दों के चुनाव और उनके कौशलपूर्ण गुफन के कारण है। इसी से प्रभाव उत्पन्न करने में भी वह समर्थ हैं। दशकुमारचरित के गद्य से एक अंश यहाँ दिया जाता है—

याते च दिनत्रयेगिरिशिखरगैरिक तटसाधारणच्छायाते-जस्यचल राजकन्यकाकदर्थे नयनान्तरिक्षाख्येण शंकर-शरीरेण संसृष्टायाः संध्याङ्गनाया रक्तचन्दनचर्चितैकस्तन-कलशदर्शनीये दिनाधिनाथे जनाधिनाथः स आगत्य जन-स्यास्य धरण्यिन्यस्तचरणनखकिरणच्छादितकिरीटः कृताञ्ज-लिरतिष्ठत। (दशकुमारचरित)

साहित्य-शास्त्र का अनुसरण करते हुए जब कि कथा-आख्यायिकाकार इस प्रकार का गद्य लिख रहे थे, तब अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्य मे-स्थान पाने के लिए सिर उठाने लगी थीं। नाटककार अपने नाटकों में गद्य का प्रयोग अब भी पूर्ववत् कर रहे थे। 'मुद्राराक्षस' तथा 'देवी-चन्द्रगुप्त' का रचयिता विशाखदत्त (लगभग ६७५ ई०) इन्हीं दिनों में किस प्रकार का गद्य लिख रहा था, इसका एक उदाहरण देखिए—

चाणक्य—'अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नंदवंशस्य किंवा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्त लक्ष्म्याः। (विचिन्त्य) अहो राक्षस्य नंदवंशे निरतिशयो भक्ति गुणः। स खलु कस्मि-श्चिदपि जीवति नन्दान्वयावय वृषलस्य साचिव्य ग्राहयितुं न शक्यते।' (मुद्राराक्षस प्रथम अंक)

जिस दक्षिण देश ने सातवीं-आठवी शताब्दी मे साहित्य-शास्त्र के आचार्य दंडी को उत्पन्न किया था, उसी ने अद्वैत वेदान्त के सूर्य श्री शंकराचार्य को भी इन्हीं दिनों उत्पन्न किया। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों तथा उपनिषदों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या संस्कृत गद्य में की। उनके व्याख्यात्मक गद्य का एक उदाहरण श्वेताश्वतरो-पनिषद् के भाष्य से लीजिए—

नीहारस्तुषारः। तद्रूपाणैः समा चित्तवृत्ति. प्रवर्तते। ततो धूमइवाभाति। ततोऽर्कवत्ततो वायुरिवाभाति। ततो वन्हि-रिवात्युष्णो वायुः प्रकाशदहनः प्रवर्तते। बाह्यवायुरिव संक्षुभितो बलवान्विजृम्भते। कदाचित्खद्योतखचितमिवा-न्तरिक्षमालक्ष्यते। विद्युदिव रोचिष्णुरालक्ष्यते कदाचित्पूर्ण-शशिवत्। एतानि रूपाणि योगे क्रियमाणे ब्रह्मण्यविष्कि-यमाणे निमित्ते पुरः सराण्यग्रगामीणि तदा परमयोग सिद्धिः। (शांकर भाष्य)

शंकराचार्य का गद्य सरल, स्पष्ट और सुबोध है। शंकरा-चार्य के बाद चौदहवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत ने वेदान्त-भाष्य लिखनेवाले संस्कृत-गद्य के अनेक आचार्यों को उत्पन्न किया। निम्बार्क,मध्व, रामानुज, वल्लभ सब दक्षिण के आचार्य थे, जिन्होंने संस्कृत-गद्य को सपन्न किया है। दक्षिण मे संस्कृत-गद्य के उत्कृष्ट लेखक आधुनिक युग में भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित ग्रंथों के विशेष विवरण के लिए डॉक्टर कृष्णमाचार्य द्वारा लिखित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' देखा जा सकता है।

आठवीं शताब्दी से उत्तर भारत मे पश्चिमी सीमा पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो जाते हैं। किन्तु फिर भी काश्मीर, दिल्ली, राजस्थान, पाटण, अजमेर, कन्नौज, काशी, बंगाल तथा हिमवन्त मे गद्य-पद्य-चंपू सभी प्रकार का साहित्य रचा जाता है।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते संस्कृत-साहित्य के केन्द्र इने-गिने स्थान ही रह जाते हैं। काश्मीर, राज-स्थान और बनारस मे ही उसकी रचना होती रहती है। पीछे मुसलमान बादशाहों– विशेषकर मुगलों –के दरबार में भी संस्कृत का गद्य कुछ प्रश्रय पाता है।

दूसरी ओर १२ वी शताब्दी तक आते-आते अपभ्रंश तथा देशी भाषाएँ–जो छठी शताब्दी से ही साहित्य मे स्थान पाने के लिए सिर उठाने लगी थीं—साहित्य में भी पूर्ण सम्मान प्राप्त कर, समस्त उत्तरी भारत मे अपना स्थान बना लेती हैं और संस्कृत-साहित्य अब विरला ही रचा जाता है।

इन दिनों काश्मीर संस्कृत के सब प्रकार के साहित्य का केन्द्र बन जाता है। इतिहास-लेखक, कथा-कहानीकार तथा साहित्य-शास्त्र के आचार्य वहाँ तथा जैन आश्रमों एव तीर्थ-स्थानों मे अपने विविध प्रकार के साहित्य की रचना करते हैं। त्रिविक्रम भट्ट (नलचपू, ९५० ई०, के लेखक) सोमदेव (यशतिलक चंपू, तथा कथासरित्सागर, १०३७ ई०, के लेखक), क्षेमेन्द्र (बृहत्कथामंजरी, १०३७ ई०, के रचयिता), शिवदास, जंगलदास (वेतालपचविंशति, १२०० ई०, के लेखक), आनदवर्द्धन, मम्मट, राजशेखर आदि ऐसी ही परिस्थितियों के लेखक कवि तथा आचार्य हैं।

मम्मट (१०५०-११५० ई०) के काव्य-प्रकाश से एक अंश नीचे दिया जाता है—

सकलप्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादसमु-द्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्द प्रभु संमित शब्द प्रधान वेदादिशास्त्रेभ्य सुहृत्संमितार्थ तात्पर्यवत्पुराण टीर्ती हासे-भ्यश्च शब्दार्थयोर्गुण भावेन रसाङ्गव्यापार प्रवणतया विल-क्षणं यत काव्यं लोकोत्तर वर्णनानिपुण कविकर्म।

नारायण पंडित का हितोपदेश भी ११वीं-१२वीं शताब्दी से बाद की रचना नहीं हो सकती। १३३७ ई० तक आते-आते उसकी टीकाएँ भी मिलने लगती हैं।

चौदहवीं शताब्दी मे मिथिला में विद्यापति (१३६०–१४६० ई०) का संस्कृत गद्य भूपरिक्रमा, लिखनावली, पुरुषपरीक्षा आदि ग्रंथों में मिलता है।

दक्षिण के टीकाकारों में कालिदास के ग्रथों के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ आते हैं, जिनका समय चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। मल्लिनाथ के गद्य के उदाहरण-स्वरूप उनकी रघुवंश की टीका का एक अंश प्रस्तुत किया जा सकता है—

मूल श्लोक—

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहंयतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि॥

टीका— (र० ५-१७)

ततस्मात्तावदन्यकार्य.। 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मान्ये ऽवधारणे' इति विश्व। प्रयोजनान्तर रहितोऽहमन्यतो वदान्यान्तराद्गुर्वर्थं गुरधन माहर्तुमर्जयितुंयतिष्य उद्योच्ये। ते तुभ्यंस्वस्तिशुभमस्तु नम. स्वस्तिस्वाहा स्वधाऽलंवषड्यौ गाच्च, इत्यनेन चतुर्थी। तथाहि। चात कोऽपि। धरणी पतितं तोयं चातकाना रुजाकरम्। इति हेतोरनन्यगतिकोऽपीत्यर्थः। निर्गलितोऽम्बेवगर्भोयस्यतं शरद्घनं नार्दति न याचते। 'अर्दगतौ याचने च' इति धातु.। 'याचनार्थे रणोऽर्दनम्' इति यादवः।

विष्णुशर्मा पडित का समय १६ वीं० शताब्दी माना जाता है। राजनीति सिखानेवाला उनका 'हितोपदेश' ग्रथ आजकल भी खूब प्रचलित है। प्राचीन जातक कथा, पचतत्र तथा हितोपदेश की शैली पर ही पशुपक्षियों की कथा-उपकथाओं के सहारे गद्य पद्यमय संस्कृत में राजनीति के सिद्धांत—मित्रलाभ, सुहृदभेद, विग्रह, सधि—इसके अग बनाए गये हैं। इनके गद्य का एक अश उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत है—

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—तस्मिन्राजवले स पुण्यवान् सारस एव येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः।

पुनः कथारभकाले राजपुत्रैरुक्तम्—आर्य, विग्रह: श्रुतोऽस्माभि। संधिरधुनाऽभिधीयताम्। विष्णुशर्मणोक्तम श्रूयताम्'' ततो राजहंसेन राज्ञा वस्त्रालंकारोपहारै: स मंत्री दूरदर्शी पूजित: प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गत। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुर.सरं संभाषितस्तथाविध संधि स्वीकृत्य राजहंस समीपं प्रस्थापितः। दूरदर्शी ब्रूते 'देव, सिद्ध' नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्यप्रतिगम्यताम। अथ सर्वे स्वस्थानं प्राय मनोभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

विष्णुशर्मणोक्तम्—अपरं किं कथयामि। कथ्यताम्। राजपुत्रा ऊचुः—'तव प्रसादाद्राराज्य व्यवहाराङ्गम् ज्ञातम्। ततः सुखिनो भूता वयम्।'-विष्णुशर्मोवाच—यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदयस्तु—

पन्द्रहवी शताब्दी से योरपवासी भारत में आने लगते हैं और धीरे-धीरे उनका प्रभुत्व हो जाता है। पहली शताब्दी ईस्वी से पहले का संस्कृत गद्य यदि खेतिहर आर्यों, नागरिक द्राविड़ों, अरण्यवासी तपस्वियों, ऋषियों, मुनियों, मनीषियों, आचार्यों द्वारा रचा जाता है तो पहली शताब्दी के बाद का अधिकाश साहित्य राजवंशों की छत्रछाया में पलता है। इन शताब्दियों में उस पर पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशी भाषाओं का रग चढता है। मुसलमानी राज्यकाल मे अरबी तथा फारसी से वह प्रभावित होता है और अठारहवीं शताब्दी से उसे योरपीय जीवन तथा साहित्य से प्रभावित होते हम देखते हैं।

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ से संस्कृत-साहित्य अंगरेज़ी के माध्यम द्वारा योरप मे फैलता और पश्चिम में भी उसके प्रति अनुराग जगता है। पश्चिम के विद्वान् अपने दृष्टिकोण से उसका अध्ययन-विवेचन करते हैं। उनकी चेतना की लहर भारत में लौट कर आती है। इस चेतना से भारत के लोग अपने प्राचीन साहित्य को पढ़ते हैं। किन्तु अपनी संस्कृति की रक्षा करनेवाले लोगों में इससे प्रबल प्रतिक्रिया होती है और युग की परिस्थितियों के बीच भारतीयता की रक्षा करते हुए प्राचीन के उद्धार और नवीन संस्कृत साहित्य के निर्माण में वे लग जाते हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की चेतना इस ढंग की बुद्धि-प्रधान व्याख्यात्मक चेतना है। बीसवीं शताब्दी में ऐतिहासिक चेतना के प्रबल हो जाने से संस्कृत-साहित्य का अध्ययन, शोध, प्रणयन का कार्य दृढ भित्ति पर चलने लगता है, जिसके फलस्वरूप कई सस्थाएँ स्थापित होती हैं। पूना, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, प्रयाग, लाहौर इसके प्रधान केन्द्र बनते हैं। कई पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती हैं। बनारस और अयोध्या से अभी भी संस्कृत भाषा में पत्रिकाएँ निकलती हैं। इस प्रकार परिस्थितियों के अनुरूप संस्कृत गद्य कभी फैलता, कभी सिमिटता, कभी लुप्त होता हुआ आज के युग में भी अपनी धारा प्रवाहित कर रहा है।
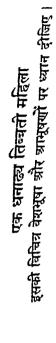
तिब्बत का एक लामा या धर्म-पुरोहित

इन धर्मगुरुओं का अंधविश्वासों के जंजाल में फँसे हुए तिब्बत के नर-नारियों पर असाधारण प्रभुत्व है!

एक धनाढ्य तिब्बती महिला

इसकी विचित्र वेशभूषा और आभूषणों पर ध्यान दीजिए।

उत्तरी और मध्य एशिया के वीरान प्रदेशों के निवासी—(२)

तिब्बती

भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर पर्वतराज हिमालय की दुर्गम, ऊँची, हिमाच्छादित श्रेणियों से घिरा हुआ सुविस्तृत पठारों का एक देश है, जो मंगोलों की एक शाखा—तिब्बती लोगों—की क्रीड़ाभूमि है। इन पठारों की ऊँचाई का औसत १०,००० से २०,००० फीट तक है, और क्रमशः वे अधिक ऊँचे होते गए हैं तथा मध्य एशिया के कुएन्-लुन् पर्वतों से जा मिले हैं। यह विशाल पर्वतीय प्रदेश, जो ऊबड़-खाबड़ बर्फीली पहाड़ियों और घाटियों को अपने में छिपाये हुए है, तिब्बत कहलाता है।

विस्तार की दृष्टि से तिब्बत का क्षेत्रफल ८ लाख वर्ग-मील है, जो रूस के अतिरिक्त योरप के किसी भी देश से अधिक है। यहाँ के निवासियों की संख्या चालीस से लेकर अस्सी लाख तक समझी जाती है। इनमें से अधिकांश लोग अर्ध-सभ्य कहे जा सकते हैं, जिनकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। गुण और दोष सभी में होते हैं, अतएव तिब्बती लोगों को अन्य देशवासियों की तुलना में असामान्य नहीं कहा जा सकता। सीमाओं पर रहनेवाले खानाबदोश मंगोलों के विषय में यह सुना जाता है कि वे डाके और लूट-मार से अपनी जीविका चलाते हैं और उनके इलाक़ों में यात्रा करना निरापद नहीं होता। तिब्बत में जहाँ-तहाँ अनेक दर्रे भी हैं, जिनसे यात्री आया-जाया करते हैं। इस भूभाग का पश्चिमी भाग काश्मीर राज्य के अधीन है।

सन् १९०४ ई० में अंगरेज़ों ने तिब्बत के भीतरी भागों में प्रवेश करने में सर्वप्रथम सफलता पाई और सो भी पर्याप्त रक्तपात के पश्चात् हो पाया। विदेशियों से तिब्बती स्वभावतः दूर भागते हैं—वे उनको अपने देश में आने नहीं देते। शताब्दियों तक यह प्रदेश एक रहस्यमय देश रहा है, जहाँ के निवासियों के विषय में बाहरी दुनिया कुछ भी नहीं जान पाती थी। तिब्बत के शासकों ने आरम्भ ही से इस नीति का अवलम्बन किया कि वहाँ के रहनेवाले दूसरे देशवासियों के सम्पर्क से नितान्त अछूते ही बने रहें। वे चीनवालों का नाम-मात्र का अधिकार मानते थे, लेकिन उन्हें भी अपने देश में पैर न रखने देते थे। न जाने कितने साहसी यात्री तिब्बत-भ्रमण करने जाते रहे, लेकिन उन दिनों उनमें से शायद ही कोई वापस लौट सका हो। तलवार के बल से ब्रिटिश शक्ति ने जब से तिब्बत का मार्ग खोलने में सफलता पाई, तभी से इस देश के विषय में लोग अधिक जानकारी प्राप्त कर सके हैं।

तिब्बती लोग मूल रूप में मंगोलों के ही वंशज हैं, यद्यपि कालान्तर में उनमें पड़ोस की अन्य जातियों का रक्त भी मिश्रित हो चुका है। उनका क़द लम्बा और शरीर दुबला-पतला परन्तु मज़बूत होता है। उनकी आँखें छोटी और काली, केश भूरे, चेहरा प्रायः दाढ़ी-मूँछ विहीन, वर्ण गेहुँआ या गुलाबी और आकृति साधारण होती है। स्वभावतः वे विनम्र, दयालु, सच्चे और मृदुभाषी होते हैं। नाच-गान में उनकी विशेष रुचि होती है। उनका सबसे बड़ा दोष उनकी अकर्मण्यता है। वे परिश्रम से दूर भागते हैं, यद्यपि आवश्यकता के समय कठिन से कठिन कार्य करने में वे नहीं चूकते। वे प्राचीन परम्परा के अनुयायी और धर्म के विषय में कट्टर होते हैं। मृतात्माओं, भूत-प्रेतों, जादू-टोने और मूर्त्ति-पूजा में वे पूर्ण विश्वास रखते हैं। उन्नतिशील न होने के कारण सभ्यता का प्रचार उनमें अब तक पूर्णरूपेण नहीं हो सका है।

तिब्बत में पहाड़ों की उपत्यकाओं में ही कृषि करना सम्भव होता है। लोग एक प्रकार के काले रंग के जौ पैदा करते हैं, जो इन लोगों का मुख्य अन्न समझा जाता है। मक्खन और दूध का ये लोग अधिक व्यवहार करते हैं।

बौद्धमत के अनुगामी होते हुए भी ये ऐसे अहिंसावादी नहीं होते कि मास न खाएँ। ये भेड़, सुअर तथा अन्य पशुओं का मास मिलने पर अवश्य खाते हैं। चारे के अभाव में अपने घोड़ों को भी वे प्राय मास खिलाते हैं। समाज मे सुँघनी या नास का व्यवहार उनमें अधिक प्रचलित है। ये लोग जौ से एक प्रकार की मदिरा भी तैयार करते हैं, जो वहाँ की साधारण पेय वस्तु समझी जाती है। सभी वर्गों के व्यक्ति चाय पीने के आदी पाए जाते हैं और ये उसे मक्खन मिलाकर पीते हैं। चाय अधिकतर उनको चीन से उपलब्ध हो जाती है। कुछ दिन पहले तिब्बत मे सिक्कों की जगह चाय की टिकियों का चलन जारी था। इस प्रदेश में इंग्लैंड, रूस और चीन का बना कपड़ा काम मे लाया जाता है, जिसके बदले में यहाँवाले उन देशों को ऊनी माल तथा ऊन देते हैं। तिब्बत में बहुमूल्य धातुओं की कमी नहीं है, परन्तु अधिकाश में उनकी खपत मन्दिरों और मठों की सजावट में ही हो जाती है। यहाँ की झीलों से नमक और सुहागा निकाला जाता है। कस्तूरी की उपज के लिए तिब्बत विश्वविख्यात है। यहाँ के मन्दिरों में धूप आदि के साथ मिलाकर कस्तूरी देव-मूर्त्तियों के सम्मुख जलाई जाती है तथा हवन में भी उसका व्यवहार होता है।

तिब्बत मे अनेक प्रकार के विचित्र जानवर पाए जाते हैं, जिनमें 'याक' नामक पालतू पशु विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके शरीर पर रेशम जैसे नरम लम्बे बाल होते हैं और सींग आगे की ओर घूमे हुए होते हैं। यह पशु जंगली दशा मे लगभग २०,००० फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है, जहाँ से लोग इसे पकड़ लाते हैं और पाल लेते हैं। याक मुख्यतया बोझा ढोने के काम में आता है। पठारो पर भारी बोझ ले जाने में इसी पशु का और कभी-कभी मज़बूत भेड़ों का उपयोग होता है। तिब्बत के अन्य पालतू पशुओं में बकरियों का महत्त्व भी अधिक समझा जाता है, जो अपने बालों के लिए पाली जाती हैं। यहाँ-वाले अपने घरों और पालतू पशुओं की रखवाली के लिए भयानक आकृति के बड़े-बड़े कुत्ते भी पालते हैं। इनके अतिरिक्त पहाड़ी हिरन, बारहसिंगे, शृगाल, लोमड़ियाँ, जगली कुत्ते और भालू भी इन वन्य प्रदेशों में पाए जाते हैं। चीन के निकटवर्त्ती इलाक़ों में बन्दर, चीते, जगली सुअर तथा अन्य कई जानवर मिलते हैं। उत्तरी प्रान्त में लाल रग के छोटे-छोटे बनमानुस भी बर्फ से ढके स्थानों के आसपास प्राय देखे जाते हैं। तिब्बत में पक्षी कम होते हैं। केवल लवा, मुर्गाबी, गिद्ध और सारस कहीं-कहीं पाए जाते हैं। साँप और गिरगिट भी यहाँ के जगलों में दिखाई देते हैं। झीलों में कई प्रकार की विचित्र मछलियाँ होती हैं।

तिब्बत की खानों से बहुत अच्छा लोहा निकलता है, जिससे वे लोग अपने अस्त्र-शस्त्र बना लेते हैं। धातुओं की मूर्त्तियाँ और पूजा-पात्र भी ये लोग बड़े अच्छे बना लेते हैं। बहुमूल्य रत्नों को धारण करने का तिब्बतियों को बड़ा चाव होता है, लेकिन उनको खानों से निकालना या गढ़ना वे नहीं जानते। उनकी स्त्रियाँ अधिकतर मूँगे या नीलम के आभूषण धारण करती हैं। तिब्बत के निवा-सियों का मुख्य उद्यम ऊन तैयार करना है, जिसके लिए उनके देश की जलवायु बहुत अनकूल है। ऊनी वस्त्र, क़ालीन, मिट्टी के बर्तन आदि बनाकर पास-पड़ोस की मडियों में वे ले जाते हैं और विदेशी व्यापारियों के हाथ उन्हें बेच लेते हैं। ताँबे और लोहे के पात्र बनाकर उन पर बड़ी सुन्दर नक्क़ाशी वे करते हैं, जैसी कि अन्य देशों में नहीं होती। स्त्रियाँ अधिकतर ऊन कातने और उसके वस्त्र बुनने का काम करती हैं। तिब्बत के निवासियों की वेषभूषा विचित्र होती है, जिसे अपने यहाँ की जलवायु के अनकूल ही उन्होंने बना रक्खा है। स्त्री-पुरुष सभी बेहद लम्बे, ढीले-ढाले, घुटनो तक पहुँचनेवाले चोगे पहनते हैं, जिनके ऊपर वे चौड़े कमरबन्द बाँधते हैं। गर्मियो मे ऊन के तथा जाड़ों मे पशु-चर्म के बने चोग़े पहने जाते हैं। ये विभिन्न रग के बनते हैं। पुरुष अपना दायाँ हाथ प्राय. चोग़े की आस्तीन से बाहर रखते हैं। पायजामों के स्थान पर भेड़ों की खालें अपने पैरों और जाँघों पर वे बाँधे रहते हैं। चोग़े के नीचे ऊनी कुर्ते पहने जाते हैं, जो अधिक लम्बे नहीं बनते। स्त्री-पुरुष, दोनो ही, भेड़ों या लोमड़ियों की खाल की बनी भारी-भारी टोपियाँ पहने रहते हैं। टोपियों के अभाव मे कभी-कभी लाल रग के मोटे ऊनी वस्त्रों से भी वे सिर को ढक लेते हैं। पुरुष प्राय कमरबन्द से बाँधकर तलवार लटकाए रहते हैं और उनके दाहिने कन्धे पर एक झोलदार झालर सी होती है, जिस पर ज़री का काम बनाया जाता है तथा मूँगे या नीलम टँके रहते हैं। उसी पर धर्मगुरुओं से प्राप्त तावीज भी बँधे रहते हैं।

तिब्बत का राजनीतिक व सामाजिक जीवन इन्हीं धर्म-गुरुओं द्वारा, जिन्हें लामा कहा जाता है, सचालित है। तिब्बत का निवासी अपने जीवन के प्रत्येक कार्य्य मे धर्म को आगे रखता है तथा लामाओं का आदेश वह मानता है।
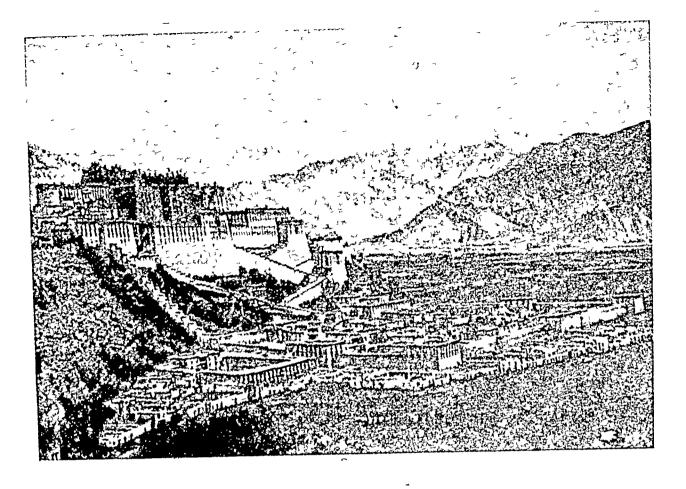
तिब्बत की राजधानी ल्हासा और उसके राजप्रासाद 'पोताला' का दृश्य

यह नगर ११ हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर बसा हुआ है और संसार के सबसे अधिक रहस्यपूर्ण स्थानों में इसकी गणना की जाती है। अभी तक बहुत कम विदेशी इस नगर की यात्रा कर पाए हैं। इसकी प्रमुख दर्शनीय वस्तु 'पोताला' नामक उसका वह राजप्रासाद है, जो एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है। इस दुर्ग जैसी सुदृढ़ इमारत में हज़ारों कक्ष हैं और उनमें असंख्य लामा लोग निवास करते हैं।

तिब्बत के एक बौद्ध मठ की भिक्खुनियाँ
यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि तिब्बत में बौद्ध धर्म का जो रूप प्रचलित है, वह तन्त्र-मंत्र के जंजाल में उलझा हुआ उसका अति विकृत रूप है।

एक तिब्बती व्यापारी और उसका याक
जैसा कि प्रस्तुत लेख में बताया गया है, गाय की जाति का यह पशु तिब्बतवासियों का सबसे महत्त्वपूर्ण पालतू पशु है। वही उनका यातायात का मुख्य साधन है।

वे ही यहाँ के शासक, समाज-नेता और भाग्यविधाता माने जाते तथा पूजे जाते हैं। ये लोग बौद्धमत के अनुयायी हैं, परन्तु इनकी धर्म-व्यवस्था महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों से बहुत भिन्न है। स्थान-स्थान पर घुटे सिरवाले भड़कीले वस्त्र-धारी लामा अपने धार्मिक मंत्र—"ओं मणिपद्मे हुँ" का उच्चारण करते हुए दिखाई देते हैं। उनके हाथों में एक चर्खी-जैसी रहती है, जिस पर यही मंत्र लिखा रहता है। उसे वे हर समय फिराया करते हैं। समस्त तिब्बत में इस प्रकार की छोटी-बड़ी चर्खियाँ और चर्खे, जो धर्म-चक्र कहलाते हैं, लाखों की संख्या में दिखाई देते हैं। शहर, गाँव, जंगल, पहाड़, नदी-तट और बस्तियाँ, कोई भी स्थान ऐसा नहीं, जहाँ पर एक-न-एक ऐसा धर्म-चक्र मौजूद न हो तथा एक-न-एक लामा की आकृति दिखाई न पड़े। बाहर से निर्धनता का प्रदर्शन करते हुए ये लामा लोग ग़रीब जनता की धर्म-भीरुता से लाभ उठाकर निरन्तर उसका शोषण करते रहते हैं। अशिक्षा और अज्ञानता की शृङ्खलाओं में जकड़े हुए तिब्बती दुःसह कष्ट झेलते रहने पर भी अपने इन धर्मगुरुओं की सेवा से मुँह नहीं मोड़ते। उनके सदियों पुराने संस्कार उन्हें निरा विवेकशून्य बना चुके हैं और धर्म की दासता का उन पर पूरा-पूरा प्रभाव देखा जाता है।

अपनी साधारण पोशाक में एक तिब्बती

तिब्बत का सर्वोपरि शासक 'दलाई लामा' कहलाता है, जो ल्हासा में रहता है। यही नगर तिब्बत की राजधानी है, जो ११००० फ़ीट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। दक्षिणी प्रदेश की घनी आबादी के बीच में यह छोटा-सा रहस्यमय नगर शताब्दियों से अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन की मौलिकता को बाहरी दुनिया की आँखों से छिपाए हुए है। यह सत्य है कि अब तक कई बार विदेशियों और कुछ भारतीयों ने इस नगर की यात्रा की है और उसे देखा है, फिर भी वहाँ की अधिकांश बातों की जानकारी वे नहीं प्राप्त कर सके हैं। ल्हासा छोटे-छोटे मकानों और तंग गलियों का नगर है, जहाँ गन्दे पानी के गड्ढे जगह-जगह दिखाई देते हैं। वहाँ के कुछ मकान केवल बैलों और भेड़ों के सींगों ही से बने हुए हैं। नगर से काफी ऊपर ऊँचाई पर दलाई लामा का आवास-भवन 'पोताला' नामक महल है, जिस पर एक सुनहला छत्र लगा हुआ है। इसी के आसपास तिब्बत और तातार-प्रदेश के महन्तों के रहने के बड़े-बड़े मठ बने हुए हैं, जिनमें हज़ारों की संख्या में लामा लोग निवास करते हैं। सुना जाता है कि इन मठों में सोने की मूर्त्तियाँ और अपार धन-राशि भरी हुई है, जो धर्म-भक्तों द्वारा मठों को अर्पित की गई है। ल्हासा की आधी से अधिक आबादी लामाओं की है, जो कि अनुमानतः १५००० हैं। आसपास के देशों के जो लोग यहाँ बसे हुए हैं, वे मुख्यतः सौदागर हैं। ल्हासा में ही तिब्बती सेना की छावनी भी है।

तिब्बत का पश्चिमी भाग, जिसका क्षेत्रफल लगभग ३०००० वर्गमील है, लदाख़ का सूबा कहलाता है और वह काश्मीर राज्य के अन्तर्गत है। इसका मुख्य नगर लेह है, जो समुद्र से १०००० फ़ीट की ऊँचाई पर एक घाटी में बसा हुआ है। यहीं से होकर भारत से तातारी प्रदेशों का व्यापार-मार्ग निकला है, जो सीमान्त पर रहनेवाले लुटेरों से प्रायः आक्रान्त रहता है। धर्म तथा अन्य बातों में इस शीतप्रधान शुष्क पठार के निवासी चीनी तिब्बतियों से मिलते जुलते हैं। वे धनवान् नहीं होते और जीवनयापन के लिए उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता है। भारत-सरकार के प्रभाव मे रहने के कारण लदाख़ की यात्रा अनेक अनुसन्धानकर्त्ताओं तथा शिकारियों ने की है, परन्तु चीन की सीमा तक जाकर उनको बराबर वापस लौटना पड़ा है।

तिब्बत के रहनेवालों के कुछ रीति-रिवाज बड़े ही विचित्र हैं। उदाहरणतः जब दो परिचित व्यक्ति राहचलते मिल जाते हैं तो वे अपनी जीभ मुँह से बाहर निकालकर दिखाते हैं। उनके यहाँ यह साधारण शिष्टाचार समझा जाता है। स्त्रियाँ गोदने गोदाती हैं—उनके मुँह, हाथ, पैर, सभी भाँति-भाँति के चित्रों से अंकित रहते हैं। उनमें पर्दा नहीं होता और स्वच्छन्दता से वे बाहर निकला करती हैं। कुछ प्रांतों के रहनेवाले साधारण तिब्बतियों की अपेक्षा निखरे रंग के और सुन्दर होते हैं, परन्तु उनका चेहरा मंगोलों की आकृति से अवश्य मेल खाता है।

उनमे विवाह की रस्म अन्य जातियों से भिन्न नहीं है। केवल एक ही उनमें विचित्रता है। वह यह है कि यदि कोई लड़का छोटी उम्र मे अनाथ हो जाता है और उसके

माता-पिता यथेष्ट सम्पत्ति छोड़ जाते हैं तो उसके निकट सम्बन्धी तत्काल उसका विवाह किसी सयानी स्त्री से कर देते हैं, जो बचपन मे उसकी देख-भाल और लालन-पालन करती है तथा वयस्क होने पर उसकी सहधर्मिणी का कर्त्तव्य-पालन करती है। पश्चिमी तिब्बत मे एक पुरुष के कई स्त्रियाँ भी होती हैं। विवाह में स्त्री की आयु पुरुष की अपेक्षा अधिक होना अपवाद नहीं गिना जाता और ऐसा संबध सरलता से स्वीकृत कर लिया जाता है।

सारे विवाह-सम्बन्धों मे माता-पिता अथवा सगे-सबधियों द्वारा प्रस्तावित हो जाने के बाद लामा या धर्मगुरुओं से भी परामर्श लिया जाता है, जो भावी दम्पति के भाग्य के विषय में विचार करते हैं। यदि लामा उक्त सबध को अशुभ बतला देता है तो सगाई टूट जाती है और विवाह नहीं होता। विवाह-कार्य अधिकतर शीत ऋतु में ही सम्पन्न होते हैं, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु मे तिब्बती लोग अपने व्यवसाय और खेती-बारी मे अधिक व्यस्त रहते हैं। तिब्बतियों मे विवाह के दो रूप माने जाते हैं—एक तो श्रेष्ठ तथा दूसरा साधारण। साधारण विवाह में कन्या अपने पितृगृह से दहेज के रूप में कुछ नहीं लाती। वर का उद्देश्य अधिक-से-अधिक दहेज प्राप्त करना रहता है। इसी कारण वह प्राय कुल और शील का विचार छोड़कर तथा कन्या के गुण-अवगुण पर ध्यान न देकर सम्पत्ति पाने के लालच से धनी घर में संबंध करने का ही इच्छुक रहता है। विवाह की तिथि निश्चित हो जाने के बाद दोनों पक्षों के बधु-बाधव तथा सम्बन्धीगण एकत्र होते हैं। वधू को तिब्बती लोग 'पक्मा' और वर को 'पक्फो' कहते हैं। वर अपने साथियों को लेकर वधू के घर उसे लेने जाता है। आँगन के पास पहुँचते ही वह द्वार को बन्द देखता है, अत. भीतर प्रवेश करने के लिए वधू के पुरुष-सबधियों को, जो द्वार के आगे खड़े रहते हैं, उपहार के रूप में कुछ-न-कुछ अवश्य देना पड़ता है। भीतर घुसते ही वधू-पक्ष की तमाम स्त्रियाँ वर को छड़ियों से खूब पीटती हैं! उन्हें भी वह उपहार आदि देकर सतुष्ट करता है। इसके बाद भोज होता है और छग नामक मदिरा का दौर चलता है। फिर नाच-गाने की धूम मचती है। परन्तु वधू इन सब बातों में भाग नहीं लेती। सारी रात इसी प्रकार धूम धाम और शोरगुल होता रहता है। इसके बाद वर और वधू पक्ष के लोग एक दूसरे की प्रशसा में कविता-पाठ करते हैं। जो पक्ष उत्तर नहीं दे पाता, उसे पराजित समझा जाता है और उसे जुर्माना अदा करना पड़ता है। इस बीच वधू की माता कपड़े की एक गठरी में बाँधकर रस्सी में दहेज की सामग्री रसोईघर में लटका देती है। फिर वर-पक्ष का कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति वर की प्रशसा के गीत गाता हुआ जाता है और उस गठरी को उठा लाता है। यह सब कार्य रात्रि के चौथे प्रहर में होता है। इसके बाद वर-पक्ष की ओर से अन्य उपहार लड़कीवालों को दिए जाते हैं। सवेरा होने पर वधू अपने घर के लोगों, माता-पिता तथा भाई बहनों के पैर छूती है। तब उसके सिर पर मखमल की एक टोपी पहना दी जाती है, जिसके भीतरी हिस्से में रोएँदार चर्म लगा होता है। टोपी पर एक फेटा भी बाँध दिया जाता है। इसके पश्चात् लड़की का मामा उसे अपनी पीठ पर लादकर बाहर ले जाता है और उसे घोड़े पर बिठा देता है। मामा के अभाव मे यह कार्य चचा को करना पड़ता है। इसके बाद बारात विदा होकर वर के यहाँ लौट आती है। विवाह के बाद वर को भोज देकर सगे-सम्बन्धियों को खिलाना पड़ता है।

तिब्बत में यदि बड़ा भाई विवाह कर लेता है तो उसके सभी छोटे भाई, जो अविवाहित होते हैं, भाई की पत्नी के पति माने जाते हैं! सन्तान का क्रम भी इसी भाँति चलता है। पहली सन्तान बड़े भाई की समझी जाती है। निर्धनता के कारण ही तिब्बत में एक परिवार के कई भाई मिलकर एक ही स्त्री से विवाह कर लेते हैं और उसके भरण-पोषण में उन सभी का उत्तरदायित्व रहता है।

तिब्बत के प्रधान शासक दलाई लामा का अधिकार यद्यपि तिब्बत की सीमाओं तक ही है तथापि तिब्बत के बाहर मंगोलिया के निवासियों द्वारा भी वह पृथ्वी पर बौद्ध धर्म के सबसे महान् पुरोहित के रूप में पूजा जाता है। एक दलाई लामा के मर जाने पर दूसरे का चुनाव विचित्र ढग से होता है। उसके देहान्त के समय देश भर में जितने भी बालक पैदा होते हैं, उनकी तरह-तरह से परीक्षा की जाती है और जिस बालक में दलाई लामा के पद के योग्य सबसे अधिक लक्षण मिल जाते हैं, उसी को उस पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। १९३३ ई० में पिछले दलाई लामा की मृत्यु हुई थी। खोजते-खोजते १९३९ ई० में एक बालक मिला जो उस पद के योग्य माना गया। दलाई लामा की नियुक्ति की स्वीकृति चीन की सरकार से प्राप्त की जाती है और हर साल ल्हासा राजधानी से करस्वरूप बहुत-से मूल्यवान् उपहार भी चीन भेजे जाते हैं

विश्व
की कहानी
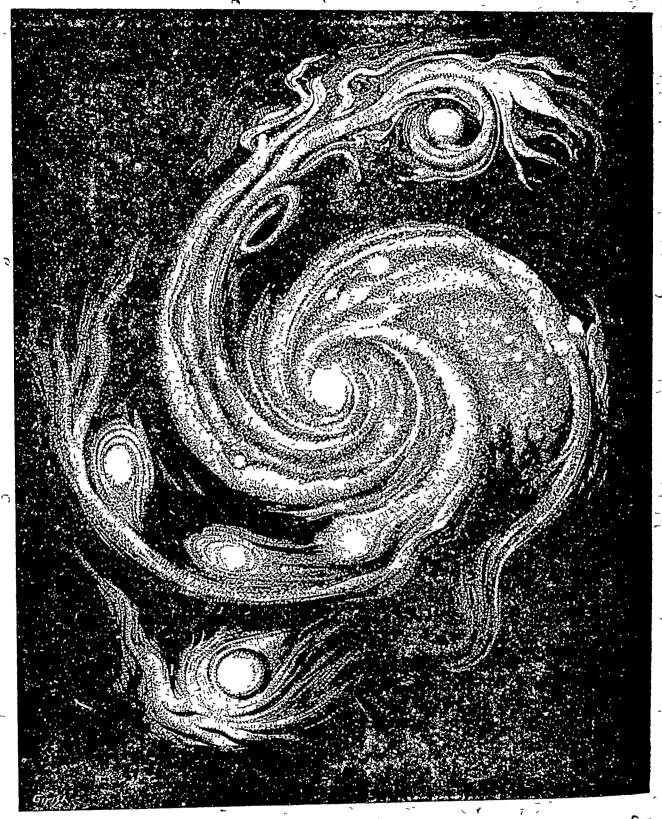
सूर्य और उसके ग्रह-उपग्रह एक ही दिशा में चलते हैं, इस तथ्य के आधार पर लाप्लास ने सृष्टि-विषयक अपना प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। उसका कहना था कि सब आकाशीय पिंड नीहारिकावत् किसी मूल गैसीय पदार्थ से बने हैं, जो आरम्भ में सर्वत्र फैला हुआ था। इस नीहारिका के एक या एक से अधिक केन्द्र रहे होंगे, जिन्होंने क्रमशः पृथक् तारों का रूप ग्रहण कर लिया होगा, जिनमें से एक हमारा सूर्य है। जैसे-जैसे यह नीहारिका ठंढी होकर सिकुड़ी होगी, उसके परिभ्रमण का वेग बढ़ता गया होगा और बाहरी भाग छिटककर पृथक् हो गये होंगे। इसी प्रकार ग्रहों की सृष्टि हुई होगी।
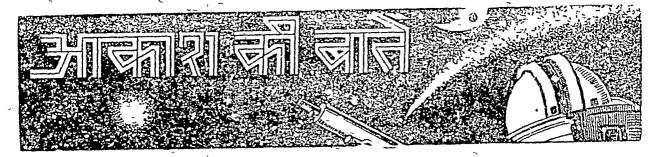
सृष्टि-विज्ञान

इस स्तंभ के अन्तर्गत विगत प्रकरणों में सूर्य, चन्द्रमा, उल्का, केतु, ग्रह, नक्षत्र, तारापुंज, मंदाकिनी संस्था और नीहारिका आदि विविध आकाशीय ज्योतिर्पुंजों का सविस्तर परिचय आपको मिल चुका है। स्वभावतः ही आपके मन में यह जिज्ञासा उमड़ रही होगी कि ये सब किस प्रकार पैदा हुए—कैसे यह सृष्टि बनी? यह प्रश्न न केवल ज्योतिष विज्ञान ही की प्रत्युत दर्शनशास्त्र और भौतिक विज्ञान की भी एक महान् पहेली है। आइए, प्रस्तुत लेख में आपको बताएँ कि आधुनिक ज्योतिष इसका क्या उत्तर हमें देता है।

सृष्टि के संबंध में अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्त रचे जा चुके हैं, परन्तु जो प्रसिद्धि फ्रांसीसी वैज्ञानिक लाप्लास के नीहारिका-सिद्धान्त को मिली है, वह किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं मिल पायी है। नीहारिका-सिद्धान्त केवल अपने निर्माता के नाम के कारण ही नहीं, प्रत्युत निजी उत्तमता के कारण इतना प्रसिद्ध हुआ है। लाप्लास ने स्वयं इसको बहुत महत्त्वपूर्ण न समझा था। उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसका विषय था 'विश्वप्रपंच की व्याख्या'। इसमें ५१ अध्याय थे और अंतिम अध्याय में वह सिद्धान्त था जो पीछे नीहारिका-सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लाप्लास ने अपनी पुस्तक में पहले तो आश्चर्य प्रकट किया है कि सौर परिवार के सभी ग्रह और उपग्रह, जहाँ तक उसे ज्ञात थे, एक ही दिशा में परिभ्रमण और परिक्रमण करते हैं— वे एक ही दिशा में अपनी धुरी पर घूमते हैं और सूर्य या अपने ग्रह के चारों ओर चक्कर काटते हैं। लाप्लास का कहना था कि यह बात केवल संयोगवश घटित नहीं हो सकती। इसके लिए संयोग उतना ही कठिन है जितना रुपया उछालने पर बार-बार रुपए के सिर का ऊपर मुँह रहना। गणित से लाप्लास ने दिखलाया कि सब ग्रहों के एक दिशा में नाचने की संभावना एक अरब में कुल एक है। यह इतनी कम संभावना है कि ऐसी बात को असंभव ही कहना अधिक अच्छा होगा। इसलिए लाप्लास ने कहा कि अवश्य ही कोई कारण होगा कि ग्रह और उपग्रह एक ही दिशा में चलते और घूमते हैं।

सृष्टि-विषयक सर्वप्रथम वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करनेवाला फ्रांसीसी विज्ञानाचार्य लाप्लास

इस महान् वैज्ञानिक के पूर्वोक्त तर्क से ही वैज्ञानिक सृष्टि-विज्ञान का जन्म हुआ। यह अवश्य सत्य है कि लाप्लास के पहले भी कैंट ने सन् १७५५ ई० में और डेकार्ट ने उससे भी पहले (सन् १६४४ ई० में) सृष्टि-विषयक अपने सिद्धान्त उपस्थित किये थे, परंतु उनके सिद्धान्तों में वह दृढ़ता नहीं थी और उन पर विज्ञान की वह छाप नहीं थी जो पक्के सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। लोग उन्हे भूल ही गए थे। स्वय लाप्लास को भी पहले के इन प्रयत्नों का ज्ञान नहीं था।

लाप्लास का नीहारिका-सिद्धान्त

लाप्लास ने अपने सिद्धान्त को विशेष आडंबर के साथ नहीं उपस्थित किया। उसने कुल लगभग १००० शब्दों में ही अपना सिद्धान्त लिख डाला था। उसने कहा कि सूर्य, ग्रहों और उपग्रहों के एक ही दिशा में चलने और घूमने का केवल एक कारण हो सकता है, और यह वह है कि ये पिंड किसी गैसीय पदार्थ से बने हैं, जो आरंभ में सर्वत्र फैला हुआ था और नाच रहा था। यदि कोई व्यक्ति इस प्रारंभिक गैस को दूर से देख सकता तो यह गैस उसे नीहारिका

के रूप में दिखाई पड़ती। संभवतः बीच में एक अधिक चटक केन्द्र भी उसे दिखाई पड़ता या संभव है कि इस नीहारिका में एक से अधिक केन्द्र दिखाई पड़ते। एक से अधिक केन्द्र रहे होंगे तो उस नीहारिका से एक से अधिक तारे बने होंगे, जिसमें से एक हमारा सूर्य है।

लाप्लास ने बताया कि अपनी धुरी पर नाचता हुआ पिंड असीम दूरी तक विस्तृत नहीं रह सकता। ज्यों-ज्यों केन्द्र से हम दूर जाते हैं, पिंड के द्रव्य का परिभ्रमणजनित वेग बढ़ता जायगा। इसलिए वहाँ का पदार्थ उत्तरोत्तर अधिक बल से छिटककर दूर निकलना चाहेगा। साधारणतः गुरुत्वाकर्षण के कारण द्रव्य केन्द्र की ओर खिंचा रहता है। परंतु ज्यों-ज्यों हम केन्द्र से दूर जायँगे त्यों-त्यों गुरुत्वाकर्षण कम होता जायगा। इसलिए एक विशेष दूरी अवश्य ही ऐसी होगी कि वहाँ छिटकने की प्रवृत्ति ठीक-ठीक गुरुत्वाकर्षण के बराबर होगी। उससे अधिक दूरी पर जाने से गुरुत्वाकर्षण और भी मंद पड़ जायगा और द्रव्य वस्तुतः छिटककर दूर निकल जायगा। इसलिए अवश्य ही प्रत्येक नाचता हुआ पिंड सीमित विस्तार का रहेगा।

जैसे-जैसे नीहारिका ठंढी हुई होगी वह छोटी होती गयी होगी। साथ ही उसके परिभ्रमण का वेग बढ़ता गया होगा। यह गणित से सिद्ध है। वेग के बढ़ने से संभव है कि पिंड से बाहरी भाग छिटककर दूर भाग गए हों; ये ही सिमटकर ग्रह हो गये होंगे। केन्द्र सूर्य हो गया होगा। लाप्लास ने यह नहीं सिद्ध किया कि बाहरी द्रव्य का छिटक जाना अवश्यंभावी है। उसने केवल यह सुझा दिया कि ऐसा हो सकता है। उसने यह भी नहीं सिद्ध किया कि ग्रह अवश्य बनेंगे। उसने केवल इंगित कर दिया कि संभवत. वे इस प्रकार बनते होंगे।

एक नई दुनिया के निर्माण की झाँकी

प्रस्तुत फोटोग्राफ में लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित एक सर्पिल नीहारिका का चित्र है। नीहारिका का गैसीय पदार्थ तेज़ी से परिभ्रमण करता हुआ क्रमशः सर्पिलाकार हो जाता है और उससे कुछ पदार्थ छिटककर उसके साथ ही एक ही कोणिक वेग से परिभ्रमण करने लगता है। केन्द्र सिमटकर क्रमशः एक स्वतंत्र तारा बन जाता है।

गणितज्ञों की बेबसी

लाप्लास के बाद कई गणितज्ञों ने गणित द्वारा देखना चाहा कि अक्ष पर घूमती हुई गैस की गति क्या होती होगी। इनमें याकोबी, केलविन, पोइनकारे, जॉर्ज डारविन और जीन्स का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परंतु खेद है कि हमारा गणित इतना समर्थ नहीं है कि बता सके कि गैस का रूप किस प्रकार बदलता रहेगा। यदि सरलता के लिए हम यह भी मान लें कि गैस सर्वत्र एक ही घनत्व की है तो भी हम इस प्रश्न को पूर्णतया हल नहीं कर पाते। उधर हमारे दूरदर्शक भी इतने सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं कि तारों की वास्तविक बनावट हमारी दृष्टि के सामने ला रक्खें। लाप्लास की धारणा थी कि नीहारिका के रूपान्तरों में एक रूप ऐसा भी होगा जैसा शनि का है—बीच में प्रधान पिंड और चारों ओर वलय!

परंतु न तो दूरदर्शक से और न गणित से इसका कोई समर्थन हो सका है कि तारे एक अवस्था में शनि के समान रहते हैं।

नीहारिकाओं से हम अवश्य बहुत-सी बातें सीख सकते हैं। ये विविध रूपों की रहती हैं। यदि हम गणित से कोई स्थूल संकेत भी पा जायँ कि नाचती हुई गैस क्रमानुसार कौन-कौन सा रूप धारण करती हैं तो हम नीहारिकाओं को उनके विकास-क्रम के अनुसार सुगमता से रख सकते हैं और उनके फ़ोटोग्राफ़ों से कुछ नवीन बातों के जानने की आशा कर सकते हैं। कई लाख नीहारिकाओं को दूरदर्शक से देखा गया है या उनका फ़ोटो खींचा गया है।

गणित से क्या पता चला है ?

स्थूल गणित से पता चलता है कि यदि गैसीय पिंड अपनी धुरी पर धीरे-धीरे घूमता रहेगा तो वह कुछ कुछ नारंगी के आकार का हो जायगा। ऐसे पिंड को गणित में न्यूनाक्ष उपगोल कहते हैं। पूर्णतया गोल पिंड के हिसाब से ऐसा पिंड कुछ चिपटा रहता है, जैसी कि नारंगी होती है, या जैसी हमारी पृथ्वी है। हमारी पृथ्वी के समुद्र आज भी न्यूनाक्ष उपगोल का रूप केवल इसीलिए धारण किये हुए हैं कि पृथ्वी नाच रही है। यदि आज पृथ्वी स्थिर हो जाय तो समुद्र पूर्णतया गोले का रूप धारण कर लेंगे—तब समुद्र का पृष्ठ केंद्र से ठीक उतनी ही दूरी पर रहेगा चाहे हम उसे विषुवत् रेखा पर नापें, चाहे ध्रुवों पर।

यदि गैसीय पिंड धीरे-धीरे घूमते रहने के बदले कुछ अधिक वेग से नाचे तो विषुवत् के पास का फुलाव और बढ़ जायगा। एक विशेष वेग के लिए तो उभरा हुआ भाग धारदार हो जायगा।

यदि पिंड इस वेग से भी अधिक वेग से नाचे तो उभरे हुए भाग से कुछ पदार्थ छिटकने लगेगा। यदि पिंड गैसीय है तो छिटका हुआ द्रव्य पूर्णतया अलग नहीं हो पाएगा। वह धीरे-धीरे विस्तृत होता जायगा और एक प्रकार से प्रधान पिंड से लगा ही रहेगा।

इससे भी अधिक वेग का परिणाम क्या होगा, इसकी गणना और भी कठिन है। यदि कई एक बातें केवल इसलिए मान ली जाएँ कि गणना कुछ सुगम हो जाय तो पता चलता है कि छिटका हुआ पदार्थ और प्रधान

विकास-क्रमानुसार दिग्दर्शित नीहारिकाओं के विविध रूप

इन फ़ोटोग्राफ़ों से यह जाना जा सकता है कि ज्यों-ज्यों नीहारिकाओं का परिभ्रमण-वेग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनसे छिटका हुआ पदार्थ दूर तक फैल जाता है। प्रस्तुत चित्र में ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः N G C. 4621; N G. C 3115; N G C 5866; N G. C. 4594, और N G. C 4565 नंबर की नीहारिकाओं के फ़ोटो दिए गए हैं।

के रूप में दिखाई पड़ती। संभवतः बीच में एक अधिक चटक केन्द्र भी उसे दिखाई पड़ता या संभव है कि इस नीहारिका में एक से अधिक केन्द्र दिखाई पड़ते। एक से अधिक केन्द्र रहे होंगे तो उस नीहारिका से एक से अधिक तारे बने होंगे, जिसमें से एक हमारा सूर्य है।

लाप्लास ने बताया कि अपनी धुरी पर नाचता हुआ पिंड असीम दूरी तक विस्तृत नहीं रह सकता। ज्यों-ज्यों केन्द्र से हम दूर जाते हैं, पिंड के द्रव्य का परिभ्रमणजनित वेग बढ़ता जायगा। इसलिए वहाँ का पदार्थ उत्तरोत्तर अधिक बल से छिटककर दूर निकलना चाहेगा। साधारणत. गुरुत्वाकर्षण के कारण द्रव्य केन्द्र की ओर खिंचा रहता है। परंतु ज्यों-ज्यों हम केन्द्र से दूर जायँगे त्यों-त्यों गुरुत्वाकर्षण कम होता जायगा। इसलिए एक विशेष दूरी अवश्य ही ऐसी होगी कि वहाँ छिटकने की प्रवृत्ति ठीक-ठीक गुरुत्वाकर्षण के बराबर होगी। उससे अधिक दूरी पर जाने से गुरुत्वाकर्षण और भी मंद पड़ जायगा और द्रव्य वस्तुत छिटककर दूर निकल जायगा। इसलिए अवश्य ही प्रत्येक नाचता हुआ पिंड सीमित विस्तार का रहेगा।

जैसे-जैसे नीहारिका ठंढी हुई होगी वह छोटी होती गयी होगी। साथ ही उसके परिभ्रमण का वेग बढ़ता गया होगा। यह गणित से सिद्ध है। वेग के बढ़ने से संभव है कि पिंड से बाहरी भाग छिटककर दूर भाग गए हों; ये ही सिमटकर ग्रह हो गये होंगे। केन्द्र सूर्य हो गया होगा। लाप्लास ने यह नहीं सिद्ध किया कि बाहरी द्रव्य का छिटक जाना अवश्यंभावी है। उसने केवल यह सुझा दिया कि ऐसा हो सकता है। उसने यह भी नहीं सिद्ध किया कि ग्रह अवश्य बनेंगे। उसने केवल इंगित कर दिया कि संभवत. वे इस प्रकार बनते होंगे।

गणितज्ञों की बेबसी

लाप्लास के बाद कई गणितज्ञों ने गणित द्वारा देखना चाहा कि अक्ष पर घूमती हुई गैस की गति क्या होती होगी। इनमें याकोबी, केलविन, पोंइनकारे, जॉर्ज डारविन और जीन्स का नाम विशेष उल्लेखनीय है। परंतु खेद है कि हमारा गणित इतना समर्थ नहीं है कि बता सके कि गैस का रूप किस प्रकार बदलता रहेगा। यदि सरलता के लिए हम यह भी मान लें कि गैस सर्वत्र एक-ही घनत्व की है तो भी हम इस प्रश्न को पूर्णतया हल नहीं कर पाते। उधर हमारे दूरदर्शक भी इतने सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं कि तारों की वास्तविक बनावट हमारी दृष्टि के सामने ला रक्खें। लाप्लास की धारणा थी कि नीहारिका के रूपान्तरों में एक रूप ऐसा भी होगा जैसा शनि का है—बीच में प्रधान पिंड और चारों ओर वलय।

एक नई दुनिया के निर्माण की झाँकी

प्रस्तुत फोटोग्राफ में लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित एक सर्पिल नीहारिका का चित्र है। नीहारिका का गैसीय पदार्थ तेज़ी से परिभ्रमण करता हुआ क्रमशः सर्पिलाकार हो जाता है और उसमें कुछ पदार्थ छिटककर उसके साथ ही एक ही कोणिक वेग से परिभ्रमण करने लगता है। केन्द्र सिमटकर क्रमशः एक स्वतंत्र तारा बन जाता है।

परंतु न तो दूरदर्शक से और न गणित से इसका कोई समर्थन हो सका है कि तारे एक अवस्था में शनि के समान रहते हैं।

नीहारिकाओं से हम अवश्य बहुत-सी बातें सीख सकते हैं। ये विविध रूपों की रहती हैं। यदि हम गणित से कोई स्थूल संकेत भी पा जायँ कि नाचती हुई गैस क्रमानुसार कौन-कौन-सा रूप धारण करती है तो हम नीहारिकाओं को उनके विकास-क्रम के अनुसार सुगमता से रख सकते हैं और उनके फोटोग्राफों से कुछ नवीन बातों के जानने की आशा कर सकते हैं। कई लाख नीहारिकाओं को दूरदर्शक से देखा गया है या उनका फ़ोटो खींचा गया है।

गणित से क्या पता चला है?

स्थूल गणित से पता चलता है कि यदि गैसीय पिंड अपनी धुरी पर धीरे-धीरे घूमता रहेगा तो वह कुछ कुछ नारंगी के आकार का हो जायगा। ऐसे पिंड को गणित में न्यूनाक्ष उपगोल कहते हैं। पूर्णतया गोल पिंड के हिसाब से ऐसा पिंड कुछ चिपटा रहता है, जैसी कि नारंगी होती है, या जैसी हमारी पृथ्वी है। हमारी पृथ्वी के समुद्र

विकास-क्रमानुसार दिग्दर्शित नीहारिकाओं के विविध रूप
इन फ़ोटोग्राफ़ों से यह जाना जा सकता है कि ज्यों-ज्यों नीहारिकाओं का परिभ्रमण-वेग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनसे छिटका हुआ पदार्थ दूर तक फैल जाता है। प्रस्तुत चित्र में ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः N G C 4621, N. G C 3115, N. G. C 5866, N. G C. 4594, और N G. C 4565 नंबर की नीहारिकाओं के फ़ोटो दिए गए हैं।

आज भी न्यूनाक्ष उपगोल का रूप केवल इसीलिए धारण किये हुए हैं कि पृथ्वी नाच रही है। यदि आज पृथ्वी स्थिर हो जाय तो समुद्र पूर्णतया गोले का रूप धारण कर लेंगे—तब समुद्र का पृष्ठ केंद्र से ठीक उतनी ही दूरी पर रहेगा चाहे हम उसे विषुवत् रेखा पर नापें, चाहे ध्रुवों पर।

यदि गैसीय पिंड धीरे-धीरे घूमते रहने के बदले कुछ अधिक वेग से नाचे तो विषुवत् के पास का फुलाव और बढ़ जायगा। एक विशेष वेग के लिए तो उभरा हुआ भाग धारदार हो जायगा।

यदि पिंड इस वेग से भी अधिक वेग से नाचे तो उभरे हुए भाग से कुछ पदार्थ छिटकने लगेगा। यदि पिंड गैसीय है तो छिटका हुआ द्रव्य पूर्णतया अलग नहीं हो पाएगा। वह धीरे-धीरे विस्तृत होता जायगा और एक प्रकार से प्रधान पिंड से लगा ही रहेगा।

इससे भी अधिक वेग का परिणाम क्या होगा, इसकी गणना और भी कठिन है। यदि कई एक बातें केवल इसलिए मान ली जाएँ कि गणना कुछ सुगम हो जाय तो पता चलता है कि छिटका हुआ पदार्थ और प्रधान

पिंड प्राय: एक ही कोणिक वेग से परिभ्रमण करेंगे, और उनका सम्मिलित रूप, अक्ष पर स्थित दूरस्थ विंदु से देखने पर, समकोणीय सर्पिलाकार होगा। समकोणीय सर्पिल एक विशेष सर्पिल को कहते हैं, जिसका आकार इसी पृष्ठ के चित्र में दिखाया गया है। अक्ष से समकोण बनाती हुई दिशा से देखने पर प्रधान पिंड और छिटका हुआ पदार्थ दोनों मिलकर मसूर की दाल की तरह चिपटे दिखायी पड़ते हैं। इसके आगे गणित इतना कठिन हो जाता है कि अभी तक किसी ने इस प्रश्न को हल करने में सफलता नहीं पायी है।

नीहारिकाओं के फ़ोटोग्राफ़

परंतु गणित की असफलता से निराश होने की बात नहीं है। गणित ने जो मार्ग दिखा दिया है उसी को पकड़े हुए हम आगे बढ़ सकते हैं और नीहारिकाओं के फोटोग्राफों को क्रमबद्ध कर सकते हैं। इन फ़ोटोग्राफों से पता चलता है कि नीहारिका के परिभ्रमण के बढ़ने पर प्रधान पिंड अधिक छोटा और न्यूनाक्ष उपगोल के रूप का हो जाता है और छिटका हुआ पदार्थ और भी अधिक दूर तक पहुँच जाता है, परंतु वह काफी चिपटा रहता है।

इन फोटोग्राफों से यह भी पता चलता है कि छिटका हुआ पदार्थ समकोणीय सर्पिलों का रूप धारण करता है, वृत्त का नहीं। फिर केन्द्र से एक नहीं, दो सर्पिल निकलते हैं, जो छिटके हुए पदार्थ से बने रहते हैं। कुछ फोटोग्राफों में तो सर्पिलाकार रूप अत्यन्त स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार पिचकारी से निकली पानी की धार अंत में टूटकर विंदुओं के रूप में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार प्रधान पिंड से निकली सर्पिलाकार भुजाएँ सर्वत्र एक मोटाई की नहीं रह पातीं। वे बीच-बीच में सिमटकर उपपिंडों का रूप धारण करती हुई दिखाई पड़ती हैं। कई एक नीहारिकाओं के दो फोटोग्राफों की तुलना से, जो कई वर्षों के अंतर पर लिये गये थे, यह भी प्रदर्शित कर दिया गया है कि नीहारिकाएँ वस्तुत: अपने अक्ष नाचती हैं। उनके नाचने का समर्थन रश्मिविश्लेषक यंत्र से भी हुआ है।

'नाचने' शब्द के प्रयोग से यह न समझना चाहिए कि ये नीहारिकाएँ बड़े वेग से घूम रही हैं। वास्तव में ये नीहारिकाएँ बहुत बड़ी होती हैं और उनके एक बार घूमने में ४५,००० वर्ष से लेकर १६०,००० वर्ष तक का समय लगता है, ऐसा फोटोग्राफों से पता चला है। इन नीहारिकाओं के केन्द्रीय पिंड का घनत्व गणना द्वारा कुल ४×$१०^{-१७}$ ग्राम प्रति घन शतांश मीटर निकलता है, जो इतना कम है कि आश्चर्य होता है! परन्तु समूची नीहारिका का द्रव्यमान इतना निकलता है कि उससे हमारे सूर्य के समान लगभग १ लाख पिंड बन सकें!

यदि गैसीय पिंड अपनी धुरी पर घूमता रहेगा तो ऊपरवाली आकृति का हो जायगा, जिसे गणित में 'न्यूनाक्ष उपगोल' कहते हैं। और भी अधिक वेग से नाचने पर उससे पदार्थ छिटकने लगेगा और वह नीचे के चित्र का सा समकोणीय सर्पिलाकार हो जायगा।

यही आधुनिक सृष्टि-सिद्धान्त है। लाप्लास ने समझा था कि नीहारिका से हमारा सूर्य और इसके ग्रह बने होंगे, परन्तु आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार, जैसे-जैसे समय बीता होगा, नीहारिका में क्रमानुसार वे रूपान्तर हुए होंगे, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। अंत में अनेक तारे बन गये होंगे। हमारा सूर्य और उसके भाई बहन—हमारी मदाकिनी संस्था के सब तारे—इसी प्रकार किसी बृहत्काय नाचती हुई नीहारिका के छिटके पदार्थ से सिमट-सिमटकर बने होंगे।

ग्रह कैसे उत्पन्न हुए

अब प्रश्न यह उठता है कि जब तारों ने (या कहिए कि सूर्यों ने) जन्म लिया तो क्या वे भी सिमटने लगे और उनसे भी पदार्थ छिटकने लगा? गणित उत्तर देता है कि नहीं। नीहारिका इतनी बड़ी थी कि उससे पदार्थ छिटक सकता था, परंतु ये सूर्य अपेक्षाकृत इतने छोटे हैं कि उनके पृष्ठ पर के पदार्थ को गुरुत्वाकर्षण खींचे रहेगा। वह पदार्थ छिटककर अलग न हो सकेगा। इसलिए हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति किसी दूसरे प्रकार से हुई होगी।

युग्म तारों का जन्म

नीहारिकाओं से पृथक् होने पर तारे अपने अक्ष पर नाचते रहेंगे। सिकुड़ने पर उनका वेग और बढ़ेगा। गणित बताता है कि अधिक वेग बढ़ने पर विषुवत् रेखा के पास का प्रदेश वृत्ताकार न रह सकेगा, वह दीर्घवृत्ताकार हो जायगा। और अधिक वेग बढ़ने से पिंड कुछ-कुछ अंडे के रूप का हो जायगा और वह अपनी सबसे छोटी धुरी पर नाचता रहेगा। इससे अधिक वेग बढ़ने से अंडा बीच से पतला पड़ने लगेगा और पिंड का रूप उस लौकी की तरह हो जायगा, जो अपने सिर और पैर दोनों बाजू फूली रहती है। और वेग बढ़ने से कमर बहुत पतली पड़ जायगी। अंत में, कुछ और वेग बढ़ने से पिंड टूटकर दो टुकड़े हो जायगा और इस प्रकार युग्म तारे बन जाएँगे (बाजू का चित्र देखें)। खेद है कि हमारे दूरदर्शकों की प्रवर्द्धनशक्ति इतनी नहीं है कि वे बगल के चित्र की ऊपरी दो आकृतियों के समान तारे हमको दिखा सकें। तारा चाहे किसी भी आकृति का हो, वह तो हमें बड़े-से-बड़े दूरदर्शक में भी विस्ताररहित बिन्दु के समान ही दिखायी पड़ता है! परंतु अंतिम आकृति के समान तारे तो हमें बहुत से दिखाई पड़ते हैं।

युग्म तारों का जन्म
नीहारिका से पृथक् होने के बाद तेज़ी से नाचता हुआ तारापिंड इसी प्रकार बीच से टूटकर क्रमश दो तारों का रूप ग्रहण कर लेगा।

इसके बाद क्या होता है? या तो टूटने के बाद तारे इतने छोटे हो जाते हैं कि वे फिर टूट नहीं सकते, या यदि वे काफी बड़े रहे तो टूटकर और छोटे हो जाते हैं। जब वे टूटेंगे तो नवीन टुकड़ों के बीच की दूरी आरभिक टुकड़ों के बीच की दूरी के चौथाई से कुछ कम होगी—ऐसा गणित से निकलता है। आकाश में दिखाई पड़नेवाले तारों में इस नियम का अवश्य पालन होता है, ऐसा प्रमाणित किया जा चुका है। जहाँ कहीं किसी विशिष्ट तारे में इस नियम का उल्लंघन-सा दिखाई पड़ता है, वहाँ असली बात यह है कि तारा दृष्टिरेखा से समकोण बनाते हुए तल में नहीं है।

सारांश

आरम में सभी तारे अपेक्षाकृत ठंढे और बहुत दूर तक फैले अत्यन्त क्षीण घनत्व की गैस के रूप में रहे होंगे। संभवत प्रारंभ में सर्वत्र एक ही गैस फैली रही होगी और इसी से सब तारे बने होंगे। इसी कारण से सब तारों में प्राय एक-से ही अनुपात में विविध भौतिक पदार्थ पाये जाते हैं। किसी असंतुलन के कारण यह अत्यन्त क्षीण गैस कहीं-कहीं कुछ अधिक घनीभूत हो गई होगी। तब सर्वत्र समान रूप से फैली हुई गैस सिमट-सिमटकर विविध नीहारिकाओं में बँट गयी होगी।

ये नीहारिकाएँ गुरुत्वाकर्षण के कारण सिमटकर अधिक घन तथा तप्त हुई होंगी। उनका परिक्रमण-वेग बढ़ा होगा और उनमें से छिटके पदार्थ ने दो सर्पिल भुजाओं का रूप धारण किया होगा। ये भुजाएँ और केन्द्रीय पिंड धीरे-धीरे सिमटकर विविध तारों में परिवर्तित हुए होंगे। इनमें से बहुत-से तारे अधिक सिकुड़ने पर इतने वेग से नाचने लगे होंगे कि वे टूटकर दो टुकड़े हो गये होंगे। ये टुकड़े भी स्वयं टूटकर कभी-कभी दो-दो खंडों में विभक्त हो गये होंगे।

अत्यंत क्षीण गैस से नीहारिकाओं का बनना इसीलिए सभव हुआ कि गैस प्राय सर्वत्र फैली हुई थी। जीन्स की गणना ने प्रदर्शित कर दिया है कि यदि कई करोड़ मील तक कोई गैस-पिंड फैला रहे तो उससे नीहारिका बन सकती है। परन्तु यदि गैस-पिंड इससे बहुत छोटा हो तो नीहारिका न बन पायेगी। छोटे गैस-पिंड में एक जगह घनत्व के बढ़ते ही, गैस नियमों के अनुसार, घनत्व पड़ोस के भागों में फैल जाता है और शीघ्र ही सर्वत्र घनत्व एक-सा हो जाता है।

यदि आरम्भ में गैस प्राय: सर्वत्र फैली रही हो, और यही आधुनिक ज्योतिषियों का विश्वास है, तो समय पाकर अवश्य ही घनत्व कहीं कम कहीं अधिक हो गया होगा और इस प्रकार बहुत सारी नीहारिकाएँ बन गयी होंगी। फिर

सृष्टि-कथा—(१) नीहारिका का जन्म और विकास

किसी सुदूर अतीत में सारे आकाश में आरंभ में एक क्षीण गैस फैली हुई थी। यह गैस ही वह मूल पदार्थ थी, जिससे आगे चलकर समस्त आकाशीय पिण्ड बने।
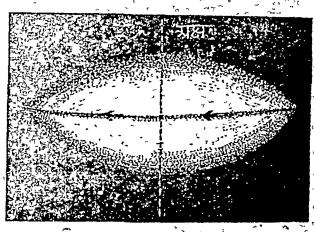
वही गुरुत्वाकर्षण से सिमटकर क्रमशः अधिक छोटी, चिपटी, और तप्त हो गयी और अधिक वेग से नाचने लगी, जिससे उसके मध्य भाग से पदार्थ छिटकने भी लगा।

कालान्तर में घनीभूत होकर वह गैस कई टुकड़ियों में विभक्त हो गयी और प्रत्येक टुकड़ी एक नीहारिका बन गयी।
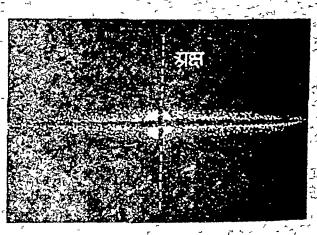
इस प्रकार सिमटने पर नीहारिका का केंद्र बहुत छोटा हो गया, और उससे छिटका हुआ पदार्थ दूर तक फैल गया।
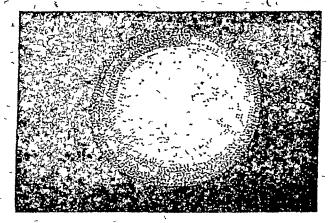
इस प्रकार जो नीहारिकाएँ बनीं, तेज़ी से अपने अक्ष पर परिभ्रमण करते-करते उनमें से प्रत्येक की आकृति सिमट-कर क्रमशः नारंगी की तरह हो गयी।
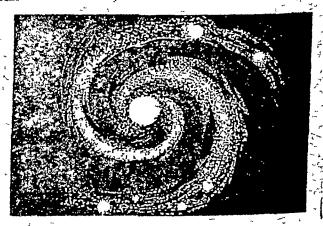
वही नीहारिका, अक्ष से देखने पर, ऐसी दिखाई देने लगी। छिटके पदार्थ ने दो सर्पिलों का रूप धारण कर लिया और वह कहीं-कहीं सिमटने लगा, जिससे नवीन तारे बन गये।

सृष्टि-कथा—(२) तारे का जन्म, विकास और अन्त
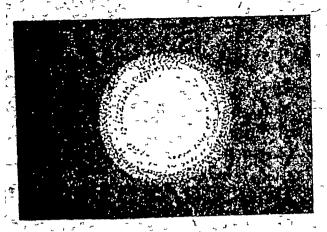
सर्पिल नीहारिका से जो तारे बने, उनमें से प्रत्येक आरंभ में आकृति में नारंगी की तरह और आयतन में बहुत बड़ा था, जिससे कि वह दैत्याकार तारा कहलाया।
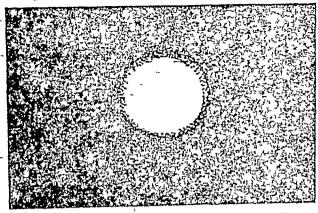
इसके बाद अनेक युगों तक प्रत्येक तारा प्रायः एक चमक से चमकता रहा। परमाणुओं के टूटते रहने से उसके भीतर शक्ति उत्पन्न होती रही। इस अवस्था में तारा वामन तारा कहलाया।
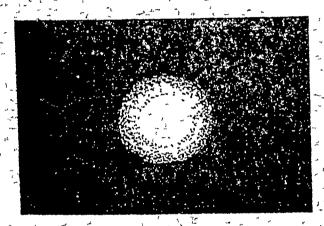
कालान्तर में वह सिमटकर पहले से काफ़ी छोटा और अधिक तप्त हो गया। साथ ही उसके नाचने का वेग भी बढ़ गया।

अब तारा वेग से ठंडा होने लगा। जो परमाणु टूट सकते थे वे सब टूट चुके। प्रकाश भी श्वेत के बदले ललछौंह हो गया।

इस तरह जो तारे पैदा हुए, उनमें से कुछ इतने वेग से नाचने लगे कि टूटकर वे युग्म तारे हो गये।

क्रमशः तारा मरणासन्न हो कर अत्यंत मंद पड़ गया। अंत में वह मर गया, अर्थात् आकाश में तो रहा पर अदृश्य हो गया।

प्रत्येक नीहारिका से लाखों तारे बने होंगे। यही कारण है कि तारे विश्व में सर्वत्र एक घनता से नहीं छिटके हैं। वे विविध समूहों में एकत्रित हो गये हैं, जिन्हें हम मदाकिनी-संस्था कहते हैं।

आज भी तारे बन रहे हैं। कुछ तारों की आयु हमारी पृथ्वी की आयु से भी कम है। लाल दैत्य तारे अवश्य ही अपेक्षाकृत अल्पवयस्क हैं और उम्र में हमारी पृथ्वी से छोटे हैं। जैसा हम पहले देख चुके हैं, वे अभी सिमट रहे हैं और उनका तापक्रम बढ रहा है।

आकाश में आज भी अनेक नीहारिकाएँ हैं। उनसे भी तारे बन रहे हैं। दूसरी ओर कुछ तारे सिमटकर अपनी अंतिम अवस्था पर आ गये हैं। वे धीरे-धीरे ठढे हो रहे हैं और अंत में अदृश्य हो जाएँगे।

आधुनिक विज्ञान जहाँ तक देख सकता है यही देख पा रहा है कि सब तारे अंत में ठढे हो जाएँगे। अवश्य ही परमाणुओं की आतरिक शक्ति के कारण तारे इतने शीघ्र ठंढे नहीं हो रहे हैं, जितना वे शक्तिविहीन रहने पर होते, परन्तु भविष्य में यही होना है कि वे सब एक दिन ठंढे हो जाएँगे।

सभव है कि भविष्य में कोई ऐसी बात निकले कि हमारा सिद्धान्त बदल जाय, परन्तु इस समय तो भविष्य अधकारमय ही दिखायी पडता है। तो भी यह भविष्य इतना सुदूर है कि मनुष्य-जीवन के नन्हे-से विस्तार की तुलना में प्रायः अनंत है। कुछ वैज्ञानिकों ने नीहारिका के जन्म से आज तक की आयु की भी गणना की है। उनकी सम्मति है कि यह लगभग २,०००,०००,००० वर्ष है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार भविष्य में हमारा सूर्य इसके लगभग दस गुने समय तक प्रायः आज ही की तरह तप्त रहेगा, और तब वेग से ठढा होकर वह मृत्यु को प्राप्त होगा।
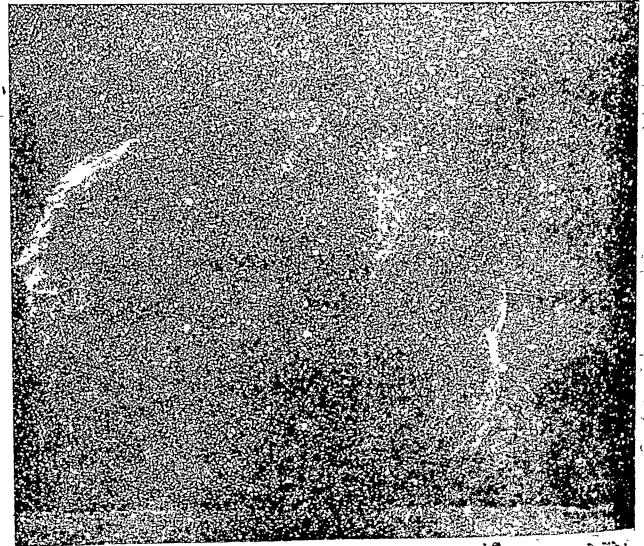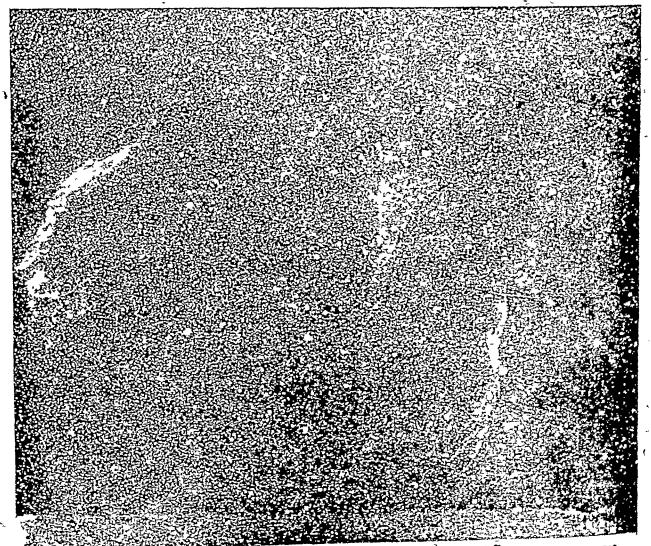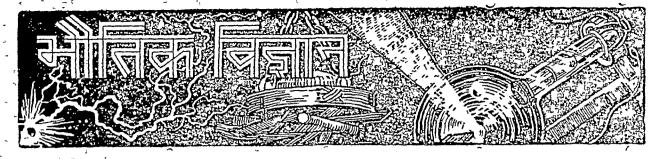
हमारी मंदाकिनी संस्था के ये अगणित तारे सुदूर अतीत में अवश्य ही किसी वृहत्काय नीहारिका से सिमटकर बने होंगे।

विद्युत्-धारा का चुम्बकीय प्रभाव

आज से लगभग सवा सौ वर्ष पहले, सन् १८१६ ई० में, कोपेनहेगेन यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर ऑर्स्टेड ने विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव का सबसे पहले पता लगाया था। उन्होंने देखा कि यदि लौह चूर्ण ताँवे के एक ऐसे तार के निकट लाया जाय, जिसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही हो तो यह चूर्ण उस तार के साथ उसी भाँति चिपक जाता है जिस प्रकार छड़ चुम्बक के साथ चिपकता है। उन्होंने यह भी देखा कि यदि ताँवे के उस तार में से विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाय तो उससे चिपकते हुए लौह चूर्ण के कण पृथक् होकर नीचे गिर पड़ते हैं। अत. उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ताँवे के तार का चुम्बकीय गुण उसमें प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा के कारण ही उत्पन्न होता है।

आम्पेयर का नियम

यदि एक दिशासूचक सुई को लेकर हम मेज़ पर रखें तो उक्त सुई का उत्तरी ध्रुव (लगभग) भौगोलिक उत्तर दिशा की ओर होगा और दक्षिणी ध्रुव भौगोलिक दक्षिण दिशा की ओर। इस सुई के ऊपर उसके समानान्तर ताँवे का तार रखिए और उसमें डेनियल सेल से इस प्रकार विद्युत्-धारा प्रवाहित कीजिए कि धारा दक्षिण से उत्तर को जाय। अब आप देखेंगे कि सुई का उत्तरी ध्रुव पश्चिम दिशा की ओर हट जाता है। तार में यदि विद्युत् धारा के प्रवाह की दिशा उलट दी जाय तो सुई का उत्तरी ध्रुव पूर्व की ओर हटेगा। अत तार में प्रवाहित होने-वाली विद्युत् धारा की दिशा का पता हम यह देखकर लगा सकते हैं कि तार के नीचे दिशासूचक सुई रखने पर उसका उत्तरी ध्रुव किधर को हटता है।

यदि इस प्रयोग में तार को हम दिशासूचक सुई के नीचे रखें तो देखेंगे कि तार में जब विद्युत् धारा का प्रवाह दक्षिण से उत्तर को होता है तो सुई का उत्तरी ध्रुव पूर्व को हटता है और जब प्रवाह उत्तर से दक्षिण को होता है तो सुई का उत्तरी ध्रुव पश्चिम की ओर हटता है।

विद्युत्-धारा से उत्पन्न होनेवाले चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा मालूम करने के लिए फ्रेंच वैज्ञानिक आम्पेयर ने एक सरल नियम बनाया था कि 'यदि कल्पना की जाय कि कोई मनुष्य विद्युत्-धारा के साथ इस प्रकार तैर रहा हो कि उसका सिर उस दिशा में हो जिधर कि धारा जा रही है और उसका मुँह दिशासूचक सुई की ओर; तो सुई का उत्तरी ध्रुव उस मनुष्य के बायें हाथ की ओर हटेगा।' इसे 'आम्पेयर का नियम' कहते हैं।

तार में प्रवाहित विद्युत्-धारा की दिशा का पता यह देखकर लगाया जा सकता है कि तार के नीचे रखी गयी दिशासूचक सुई का उत्तरी ध्रुव किधर को हटता है!

यदि तार को मोड़कर हम वृत्ताकार छल्ला-सा बना लें, तो तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर छल्ला भी चुम्बकीय प्रभाव उत्पन्न करेगा। इस छल्ले में यदि कई घेरे डाले जाँय तो यह सर्पिल वेष्टन बन जाता है और इस वेष्टन में यदि विद्युत्-धारा प्रवाहित कराएँ तो वेष्टन के भीतर केन्द्र के समीप चुम्बकीय बल-रेखाएँ वेष्टन की धुरी के समानान्तर बनेंगी। वास्तव में यह सर्पिल वेष्टन एक प्रकार का छड़ चुम्बक बन जायगा, जिसके दोनों ध्रुव वेष्टन के दोनों सिरों

प्रत्येक नीहारिका से लाखों तारे बने होंगे। यही कारण है कि तारे विश्व में सर्वत्र एक घनता से नहीं छिटके हैं। वे विविध समूहों में एकत्रित हो गये हैं, जिन्हें हम मंदाकिनी-संस्था कहते हैं।

आज भी तारे बन रहे हैं। कुछ तारों की आयु हमारी पृथ्वी की आयु से भी कम है। लाल दैत्य तारे अवश्य ही अपेक्षाकृत अल्पवयस्क हैं और उम्र में हमारी पृथ्वी से छोटे हैं। जैसा हम पहले देख चुके हैं, वे अभी सिमट रहे हैं और उनका तापक्रम बढ़ रहा है।

आकाश में आज भी अनेक नीहारिकाएँ हैं। उनसे भी तारे बन रहे हैं। दूसरी ओर कुछ तारे सिमटकर अपनी अंतिम अवस्था पर आ गये हैं। वे धीरे-धीरे ठंडे हो रहे हैं और अंत में अदृश्य हो जाएँगे।

आधुनिक विज्ञान जहाँ तक देख सकता है यही देख पा रहा है कि सब तारे अंत में ठंडे हो जाएँगे। अवश्य ही परमाणुओं की आंतरिक शक्ति के कारण तारे इतने शीघ्र ठंडे नहीं हो रहे हैं, जितना वे शक्तिविहीन रहने पर होते, परन्तु भविष्य में यही होना है कि वे सब एक दिन ठंडे हो जाएँगे।

संभव है कि भविष्य में कोई ऐसी बात निकले कि हमारा सिद्धान्त बदल जाय, परन्तु इस समय तो भविष्य अंधकार-मय ही दिखायी पड़ता है। तो भी यह भविष्य इतना सुदूर है कि मनुष्य-जीवन के नन्हे-से विस्तार की तुलना में प्रायः अनंत है। कुछ वैज्ञानिकों ने नीहारिका के जन्म से आज तक की आयु की भी गणना की है। उनकी सम्मति है कि यह लगभग २,०००,०००,००० वर्ष है। आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार भविष्य में हमारा सूर्य इसके लगभग दस गुने समय तक प्रायः आज ही की तरह तप्त रहेगा, और तब वेग से ठंडा होकर वह मृत्यु को प्राप्त होगा।

हमारी मंदाकिनी-संस्था के ये अगणित तारे सुदूर अतीत में अवश्य ही किसी वृहत्काय नीहारिका से सिमटकर बने होंगे।

विद्युत्-धारा का चुम्बकीय प्रभाव

आज से लगभग सवा सौ वर्ष पहले, सन् १८१६ ई० में, कोपेनहेगेन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ऑर्स्टेड ने विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव का सबसे पहले पता लगाया था। उन्होंने देखा कि यदि लौह चूर्ण ताँबे के एक ऐसे तार के निकट लाया जाय, जिसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही हो तो यह चूर्ण उस तार के साथ उसी भाँति चिपक जाता है जिस प्रकार छड़ चुम्बक के साथ चिपकता है। उन्होंने यह भी देखा कि यदि ताँबे के उस तार में से विद्युत्-धारा का प्रवाह रुक जाय तो उससे चिपकते हुए लौह चूर्ण के कण पृथक् होकर नीचे गिर पड़ते हैं। अत उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ताँबे के तार का चुम्बकीय गुण उसमें प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा के कारण ही उत्पन्न होता है।

आम्पेयर का नियम

यदि एक दिशासूचक सुई को लेकर हम मेज़ पर रखें तो उक्त सुई का उत्तरी ध्रुव (लगभग) भौगोलिक उत्तर दिशा की ओर होगा और दक्षिणी ध्रुव भौगोलिक दक्षिण दिशा की ओर। इस सुई के ऊपर उसके समानान्तर ताँबे का तार रखिए और उसमें डेनियल सेल से इस प्रकार विद्युत्-धारा प्रवाहित कीजिए कि धारा दक्षिण से उत्तर को जाय। अब आप देखेंगे कि सुई का उत्तरी ध्रुव पश्चिम दिशा की ओर हट जाता है। तार में यदि विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा उलट दी जाय तो सुई का उत्तरी ध्रुव पूर्व की ओर हटेगा। अतः तार में प्रवाहित होनेवाली विद्युत् धारा की दिशा का पता हम यह देखकर लगा सकते हैं कि तार के नीचे दिशासूचक सुई रखने पर उसका उत्तरी ध्रुव किधर को हटता है।

यदि इस प्रयोग में तार को हम दिशासूचक सुई के नीचे रखें तो देखेंगे कि तार में जब विद्युत् धारा का प्रवाह दक्षिण से उत्तर को होता है तो सुई का उत्तरी ध्रुव पूर्व को हटता है और जब प्रवाह उत्तर से दक्षिण को होता है तो सुई का उत्तरी ध्रुव पश्चिम की ओर हटता है।

विद्युत्-धारा से उत्पन्न होनेवाले चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा मालूम करने के लिए फ्रेंच वैज्ञानिक आम्पेयर ने एक सरल नियम बनाया था कि 'यदि कल्पना की जाय कि कोई मनुष्य विद्युत्-धारा के साथ इस प्रकार तैर रहा हो कि उसका सिर उस दिशा में हो जिधर कि धारा जा रही है और उसका मुँह दिशासूचक सुई की ओर; तो सुई का उत्तरी ध्रुव उस मनुष्य के बायें हाथ की ओर हटेगा।' इसे 'आम्पेयर का नियम' कहते हैं।

यदि तार को मोड़कर हम वृत्ताकार छल्ला-सा बना लें, तो तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर छल्ला भी चुम्बकीय प्रभाव उत्पन्न करेगा। इस छल्ले में यदि कई घेरे डाले जाँय तो यह सर्पिल वेष्टन बन जाता है और इस वेष्टन में यदि विद्युत्-धारा प्रवाहित कराएँ तो वेष्टन के भीतर केन्द्र के समीप चुम्बकीय बल-रेखाएँ वेष्टन की धुरी के समानान्तर बनेंगी। वास्तव में यह सर्पिल वेष्टन एक प्रकार का छड़ चुम्बक बन जायगा, जिसके दोनों ध्रुव वेष्टन के दोनों सिरों

तार में प्रवाहित विद्युत्-धारा की दिशा का पता यह देखकर लगाया जा सकता है कि तार के नीचे रखी गयी दिशासूचक सुई का उत्तरी ध्रुव किधर को हटता है।

पर स्थित होंगे। यदि वेष्टन में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा की दिशा मालूम हो तो सहज ही आम्पेयर के नियम की सहायता से यह मालूम किया जा सकता है कि वेष्टन का कौन-सा सिरा उत्तरी ध्रुव होगा और कौन-सा सिरा दक्षिणी ध्रुव। वास्तव में छल्ले में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा मालूम करने के लिए आम्पेयर के नियम के निम्न संशोधित रूप को काम में ले आते हैं—'यदि हम छल्ले के एक सिरे की ओर मुँह करके खड़े हों और विद्युत्-धारा उस सिरे पर घड़ी की सुई की दिशा में जाती हुई हो तो वह सिरा दक्षिणी ध्रुव होगा; इसके प्रतिकूल यदि विद्युत्-धारा का प्रवाह उस सिरे पर घड़ी की सुई की उल्टी दिशा में हो तो वह सिरा उत्तरी ध्रुव होगा।'

यदि कल्पना की जाय कि कोई मनुष्य विद्युत्-धारा के साथ इस प्रकार तैर रहा हो कि उसका सिर धारा की दिशा की ओर और मुँह दिशासूचक की सुई की ओर हो तो सुई का उत्तरी ध्रुव उसके बायें हाथ की ओर हटेगा।

विद्युत्-चुम्बक

यदि उपर्युक्त ढंग के सर्पिल वेष्टन को, जिसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, रेशम के धागे द्वारा हम इस प्रकार लटकायें कि वेष्टन की धुरी पृथ्वी के समानान्तर रहे तो स्थिर दशा में यह छल्ला उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थित होगा—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि छड़ चुम्बक स्वतन्त्र रूप से लटकाये जाने पर उत्तर-दक्षिण दिशा में आकर ठहर जाता है। अतः इस प्रकार का सर्पिल वेष्टन छड़ चुम्बक की ही आचरण करता है। इस वेष्टन के भीतर उसकी धुरी के समानान्तर यदि कच्चे लोहे की छड़ को हम रखें तो वेष्टन में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर लौहयुक्त वेष्टन एक बलशाली चुम्बक बन जाता है। विद्युत्-धारा का प्रवाह बन्द करा देने पर वेष्टन की चुम्बकीय शक्ति भी विलुप्त हो जाती है। इस प्रकार बनाये गये चुम्बक को विद्युत्-चुम्बक कहते हैं।

विद्युत्-चुम्बक का आविष्कार व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विद्युत्-घण्टी, टेलीग्राफ़, टेलिफोन तथा लोहा उठानेवाले क्रेन आदि में विद्युत्-चुम्बक प्रयुक्त होते हैं। विद्युत्-धारा की प्रबलता बढ़ाकर विद्युत्-चुम्बक को अत्यन्त बलशाली बना लेते हैं।

उ द

द उ

(सब से ऊपर) सर्पिल वेष्टन। (बीच में) छल्ले में प्रवाहित विद्युत्-धारा के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा की सूचना; (नीचे) सर्पिल वेष्टन के भीतर लोहे की छड़ रखने से बना हुआ चुम्बक।

विद्युत्-घण्टी

विद्युत्-घण्टी में कच्चे लोहे की छड़ को नाल की आकृति में मोड़ लेते हैं और इस पर तार के वेष्टन को इस तरह लपेटते हैं कि नाल की एक भुजा पर यदि विद्युत्-धारा घड़ी की सुई के घूमने की दिशा में प्रवाहित हो तो दूसरी भुजा पर उसका प्रवाह घड़ी की सुई के घुमाव की उलटी दिशा में हो।

अवश्य ही तार पर रेशम या वार्निश चढ़ी रहती है, ताकि छल्ले के घेरे वैद्युत् दृष्टिकोण से एक दूसरे से पृथक् रहें। विद्युत्-धारा के प्रवाहित होने पर नाल का एक सिरा उत्तरी ध्रुव बनता है और दूसरा सिरा दक्षिणी ध्रुव। यदि लोहे

का टुकड़ा इस विद्युत्-नाल चुम्बक के निकट लाया जाय तो उत्तरी ध्रुव का सिरा लोहे के टुकड़े के निकटवर्त्ती भाग में उपपादन द्वारा दक्षिणी ध्रुव का चुम्बकत्व उत्पन्न करेगा और दूरवर्त्ती भाग में उत्तरी ध्रुव का। और नाल-चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव का सिरा भी उपपादन द्वारा लोहे के टुकड़े में उसी भाग में उत्तरी ध्रुव उत्पन्न करेगा, जिस भाग में कि नाल-चुम्बक का दूसरा सिरा उत्तरी ध्रुव उत्पन्न करता है। अत लोहे का टुकड़ा मजबूती के साथ नाल-चुम्बक के सिरों से चिपक जायगा।

नाल-चुम्बक
विद्युत्-घंटी में ऐसे ही चुवक का प्रयोग होता है।

इसी पृष्ठ के निचले चित्र में विद्युत्-घण्टी के परिचालन की क्रिया समझायी गयी है। बटन उँगली से दबाने पर चुम्बक के वेष्टन का सर्किट (घेरा) लेक्लान्ची सेल के साथ पूरा हो जाता है और वेष्टन में विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। तुरन्त नाल-चुम्बक में चुम्बकत्व का समावेश होता है और कच्चे लोहे की कमानीवाली पत्ती चुम्बक की ओर आकृष्ट होती है, फलस्वरूप पत्ती में लगी हुई हथौड़ी घण्टी पर चोट करती है। ठीक इसी समय पेंच से कमानी के अलग हट जाने के कारण वेष्टन का सर्किट (घेरा) टूट जाता है, अतः विद्युत्-प्रवाह भी रुक जाता है और विद्युत्-चुम्बक का चुम्बकत्व लुप्त हो जाने के कारण कमानी के बल से पत्ती पुनः पीछे हटकर पेंच से वापस जा लगती है। इससे पुनः एक बार सर्किट पूरा हो जाता है और पत्ती चुम्बक की ओर आकृष्ट होती है तथा घण्टी बजती है। जब तक हम बटन दबाये रखेंगे, इसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होगी और घण्टी टनटन करके बराबर बजती रहेगी।
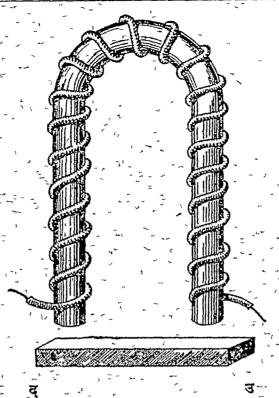
विद्युत्-घंटी
बटन दबाने पर चुम्बक के वेष्टन का सर्किट लेक्लान्ची सेल के साथ पूरा हो जाता है और नाल चुम्बक में चुम्बकत्व का समावेश होने के फलस्वरूप पत्ती में लगी हथौड़ी घंटी पर चोट करती है।

विद्युत्-धारादर्शक

विद्युत्-धारा के चुम्बकीय प्रभाव के आधार पर ऐसे यंत्र भी बनाये गये हैं, जो क्षीण विद्युत्-धारा की भी उपस्थिति बतला सकते हैं। इस यंत्र को विद्युत्-धारादर्शक (गैल्वानास्कोप) कहते हैं। जिस तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, उसे कई फेरे देकर वेष्टन बना लेते हैं और उसके बीच में दिशासूचक सुई को इस प्रकार आरूढ़ करा देते हैं कि वह क्षैतिज धरातल में स्वतंत्र रूप से घूम सके। तार की दिशा में विद्युत्-धारा चलती है। आम्पेयर के नियम के अनुसार सहज ही देखा जा सकता है कि ऊपर चलनेवाली धारा तथा सुई के नीचे चलनेवाली धारा दोनों ही सुई के उत्तरी ध्रुव को एक ही ओर हटायेंगी। वेष्टन का प्रत्येक फेरा अपना बल चुम्बक पर समान भाव से लगाता है। अतः फेरे की संख्या बढ़ाकर क्षीण

विद्युत्-धारा द्वारा भी सुई में पर्याप्त हटाव उत्पन्न किया जा सकता है, और इस प्रकार विद्युत्-धारा की उपस्थिति का पता लग सकता है। सुई के विक्षेप का कोण नापकर विद्युत्-धारा की प्रबलता की नाप भी की जा सकती है। विद्युत्-धारा की प्रबलता नापनेवाले यन्त्र में वेष्टन वृत्त की परिधि के आकार को होता है, तथा दिशासूचक सुई (जो आकार में बहुत छोटी होती है) वृत्त के केन्द्र पर इस प्रकार आरूढ़ की गयी होती है कि वह क्षैतिज धरातल में स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके। विद्युत्-धारा नापते समय यंत्र को इस प्रकार साधते हैं कि वेष्टन का धरातल ऊर्ध्वतल में चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण में स्थित हो। वेष्टन में विद्युत्-धारा के प्रवाहित होने के पूर्व दिशासूचक सुई चुम्बकीय याम्योत्तर में रहती है, किन्तु वेष्टन में विद्युत्-धारा जब प्रवाहित करायी जाती है तो याम्योत्तर से हटकर सुई उसके साथ एक कोण बनाती है। सहज ही यह प्रमाणित किया जा सकता है कि विद्युत्-धारा की प्रबलता इस कोण के स्पर्शज्या की समानुपाती होती है। अतः कोण को नापकर विद्युत् धारा की प्रबलता भी मालूम की जा सकती है। इस यंत्र को 'स्पर्शज्या-विद्युत्-धारामापक' कहते हैं। विद्युत्-धारा की प्रबलता की माप की इकाई 'आम्पेयर' है। इस इकाई की व्याख्या विद्युत्-धारा के रासायनिक प्रभाव की सहायता से की जा सकती है (दे० पृष्ठ २६२६-२६३६)। लवण के घोल में से जब विद्युत्-धारा प्रवाहित की जाती है तो 'कैथोड' तथा 'एनोड' पर पहुँचनेवाले विच्छेदित पदार्थों की मात्राएँ विद्युत्-धारा की प्रबलता की समानुपाती होती हैं। अतः विद्युत्-धारा की प्रबलता की इकाई की

विद्युत्-धारा-दर्शक या गैल्वानास्कोप

यह विद्युत् धारायुक्त तार के कई फेरे देकर उसके बीच दिशासूचक सुई को इस प्रकार आरूढ़ करके बनाया जाता है कि वह क्षैतिज धरातल में स्वतंत्रतापूर्वक घूम सके।

टेलीग्राफी या तारबर्क़ी का सिद्धान्त—(१) एक ओर का सिरा
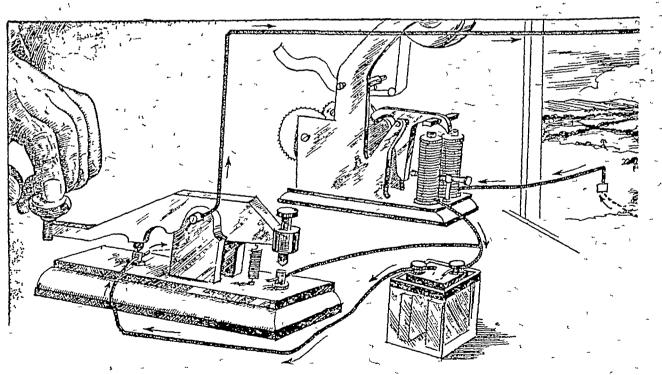
चित्र में बाईं ओर वह कुंजी है, जिसका बटन दबाकर संदेश भेजा जाता है। जिन दो स्थानों के बीच तार द्वारा संदेश भेजना होता है, उन दोनों का परस्पर संबंध लोहे के तार द्वारा स्थापित किया जाता है। इन तारों की लाइन खंभों पर एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रही है। प्रेषक स्थान पर तार का सिरा कुंजी से जुड़ा रहता है।

परिभाषा इस प्रकार की गयी है कि "यदि सिल्वर नाइट्रेट के घोल में से विद्युत्-धारा के प्रवाहित कराने पर एक सेकण्ड में 'कैथोड' पर '००१११८ग्राम सिल्वर (चाँदी) एकत्रित हो तो उस विद्युत्-धारा की प्रबलता एक 'आम्पेयर' होगी।"
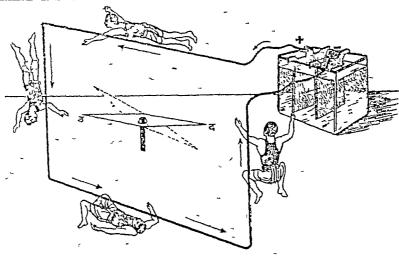
सेल से जुड़े हुए ताँबे के मज़बूत तार को इस प्रकार चौकोर मोड़कर और उस चौखटे के बीच दिशासूचक सुई रखकर सहज ही एक सरल विद्युत्-धारा मापक (गैल्वानोस्कोप) बनाया जा सकता है। यदि हम पृ० ३०२४ के ऊपरी चित्र की कल्पना को यहाँ भी लागू करें तो देख सकते हैं कि यहाँ भी सुई का उत्तरी ध्रुव तैराक के बाएँ हाथ की ओर ही हटता है।

टेलीग्राफी

विद्युत्-चुम्बक के आविष्कार ने टेलीग्राफी (तारबर्क़ी) को भी सम्भव बनाया है। दूरस्थ स्थानों को संकेत भेजने का यह सबसे सस्ता साधन है।

टेलीग्राफी के यन्त्र के मुख्यत: तीन भाग किये जा सकते हैं—एक संकेत भेजने की कुजी, दूसरी तार की लाइन और तीसरा ध्वनि-उत्पादक यंत्र।

जिन दो स्थानों के बीच तार द्वारा
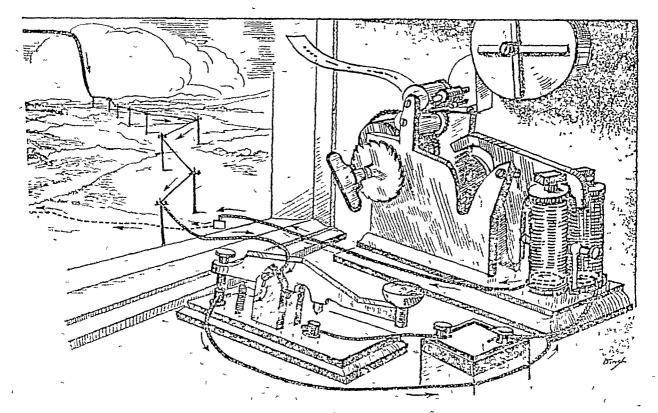
टेलीग्राफी या तारबर्क़ी का सिद्धान्त—(२) दूसरी ओर का सिरा

दूरवर्त्ती स्थान पर जहाँ संदेश ग्रहण किया जाता है, तार का सिरा ध्वनि-उत्पादक यन्त्र से जुड़ा रहता है, जिसमें कभी कभी एक कागज़ का फीता लगा रहता है, जिस पर अपने आप संदेशसूचक बिंदु और रेखाओं के निशान बन जाते हैं। किस प्रकार यह क्रिया-प्रक्रिया होती है, इसका विस्तृत विवरण अगले पृष्ठ पर पढ़िए।

संदेश भेजना होता है, उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध लोहे के तार द्वारा स्थापित किया जाता है। लोहे के खम्भों पर लगे हुए चीनी मिट्टी के लट्टुओं के सहारे तार की लाइन को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाते हैं। प्रेषक स्थान पर तार का सिरा कुंजी से जुड़ा रहता है। दूरवर्ती स्थान पर, जहाँ संदेश ग्रहण किया जाता है, तार का दूसरा सिरा ध्वनि-उत्पादक यंत्र में लगे हुए विद्युत्-चुम्बक के वेष्टन के एक सिरे से जुड़ा रहता है। वेष्टन का दूसरा सिरा ताँबे के एक तार द्वारा ताँबे की एक बड़ी चद्दर से जुड़ा रहता है, जो स्वयं भूमि के अन्दर गीले स्थान पर गड़ी रहती है। प्रेषक स्थान पर कुंजी में बटन के ठीक नीचे धातु की एक घुण्डी होती है, जो श्रेणीबद्ध डेनियल सेलों के एक सिरे से जुड़ी रहती है। सेलों की बैटरी का दूसरा सिरा ताँबे के तार द्वारा एक ताँबे की बड़ी चद्दर से जुड़ा होता है। यह चद्दर भी गीली भूमि में गड़ी होती है।
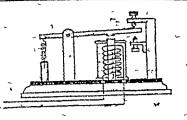
कुंजी का बटन दबाने पर डेनियल सेलों से विद्युत्-धारा खम्मे के तार से होकर संदेश ग्रहण करनेवाले स्थान के ध्वनि-उत्पादक यंत्र के चुम्बक के वेष्टन में से बहती हुई ताँबे की चद्दर तथा पृथ्वी में से होकर पुनः बैटरी तक वापस आ जाती है। अतः ध्वनि-उत्पादक यंत्र के विद्युत्-चुम्बक में चुम्बकत्व उत्पन्न होता है। यह विद्युत्-चुम्बक अपने समीप लगी हुई लोहे की पट्टी को अपनी ओर खींचता है। अपनी इस गति के कारण पट्टी नीचे लगे हुए पेंच से जा टकराती है और 'कट' की आवाज़ उत्पन्न होती है। बटन को छोड़ देने पर विद्युत्-धारा का सर्किट (घेरा) टूट जाता है; अतः ध्वनि-उत्पादक यंत्र का विद्युत्-चुम्बक भी अपना चुम्बकत्व खो देता है और एक सर्पिल कमानी के बल से लोहे की पट्टी पुनः अपनी पूर्वस्थिति पर जा पहुँचती है। इस बार ऊपर लगे हुए पेंच से यह टकराती है और फिर 'कट' का शब्द उत्पन्न होता है। कुंजी को बार-बार दबाने पर बार-बार 'कट' 'कट' शब्द उत्पन्न होता है।

तार द्वारा संदेश भेजने के लिए 'मोर्स संकेत-प्रणाली' को काम में ले आते हैं। इस प्रणाली में विन्दु और रेखा का विभिन्न रीतियों से मिलान करके अंग्रेज़ी के अक्षर बना लिये गये हैं (देखिये इसी पृष्ठ के चित्र की तालिका)। कुंजी को देर तक दबाने का अर्थ एक रेखा होता है और दबाकर तुरंत छोड़ देने का अर्थ होता है विन्दु। तार भेजने के इस यंत्र में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ध्वनि-उत्पादक यंत्र से विद्युत्-धारा को पुनः बैटरी तक वापस लाने के लिए दूसरे तार की सहायता न लेकर भूमि के विद्युत्-संचालन गुण से लाभ उठाते हैं। अतः तार की दुहरी लाइन लगाने का ख़र्च बच जाता है। अवश्य तार द्वारा संदेश यदि बहुत दूर भेजना हो तो प्रेषक स्थान पर बैटरी में सेलों की संख्या बढ़ा देते हैं, ताकि विद्युत्-धारा की प्रबलता अत्यन्त क्षीण न हो जाय। आधुनिक समय में प्रयुक्त होनेवाले तार के यंत्र में प्रेषक तथा संदेश ग्रहण करनेवाले दोनों स्थानों पर कुंजी और ध्वनि-उत्पादक यंत्र मौजूद होते हैं। बैटरी द्वारा ये इस प्रकार तार से जुड़े रहते हैं कि तार की एक ही लाइन पर संदेश पहले स्थान से दूसरे स्थान को अथवा दूसरे स्थान से पहले स्थान को भेजा जा सकता है। इसके अतिरिक्त संदेश ग्रहण करने के लिए ध्वनि-उत्पादक यंत्र में सुधार भी किया गया है, ताकि कागज़ के फ़ीते पर अपने-आप संदेश विन्दु और रेखाओं के रूप में छप जाँय। ध्वनि-उत्पादक यंत्र में ऊपर-नीचे गति करनेवाली लोहे की पट्टी के उस सिरे के सामने, जो विद्युत्-चुम्बक से दूर रहता है, कल-पुर्जों के बल से कागज़ का एक फ़ीता समान गति से सरकता रहता है। पट्टी के सिरे पर एक नुकीली सुई लगी रहती है। विद्युत्-चुम्बक द्वारा आकृष्ट होने पर यह पट्टी जब नीचे आती है तो सुई फ़ीते को स्याही लगे हुए एक रोलर पर दबाती है और स्याही का चित्र उस पर बना देती है। कुंजी यदि दबाकर तुरन्त छोड़ी गयी तो फ़ीते पर विन्दु का चिह्न बनेगा, और यदि उसे आधे-पौन क्षण तक दबाया गया तो फ़ीते पर रेखा (डैश) का चिह्न बनेगा। इस दिशा में और भी सुधार हुआ है।
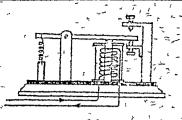
A B C D E F G H I J K L M N O P Q R S T U V W X Y Z 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

(ऊपर) टेलिग्राफ़ ध्वनिउत्पादक यंत्र की पट्टी के ऊपरी या निचले पेंच से टकराने की दो स्थितियाँ। (नीचे) मोर्स संकेत-प्रणाली के चिह्न।

धर्म

धर्म क्या है ?—यह एक जटिल प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर का प्रयास भूमण्डल के प्रत्येक भाग से हुआ है। संसार के विभिन्न सभ्य देशों के अनेकों विद्वानों ने इस विषय पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। विषय नितान्त गूढ़ है और फलस्वरूप विद्वानों की सम्मतियाँ अनेकधा सिद्ध हुई हैं। इस विषय पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है और उन दृष्टिकोणों में इसी कारण सर्वथा मतैक्य भी नहीं हो सका। इन दृष्टिकोणों में दो विशिष्ट वर्ग हैं—प्राच्य और पाश्चात्य।

यह बात प्रायः निर्विवाद सिद्ध है कि पाश्चात्यों का दृष्टिबिन्दु अधिकतर प्रकृतिवादी (Materialistic) रहा है, यद्यपि उनमें भी जब तब अध्यात्मवाद की लहर उठी है। सुकरात, अफलातून और अरस्तू ने अधिकतर अध्यात्मवाद (Spiritualism) की ही शरण ली है। इनसे परे प्रायः धर्म की व्याख्या प्रकृतिवाद पर ही की गई है। इन पाश्चात्य दार्शनिकों के मत के विपरीत प्राच्य दार्शनिकों ने धर्म की वेशभूषा को आध्यात्मिकता के सूत्रों में पिरोया है। उनके विचारों की विवेचना नीचे की जायगी।

धर्म के विषय में पाश्चात्यों के विचार कई प्रकार के हैं। उनके मतानुसार साधारणतः धर्म की परिभाषा दुष्प्राप्य है। यह दुरूहता पूर्वीय व्याख्या में भी दृष्टिगोचर होती है। 'चेम्बर्स एन्साइक्लोपीडिया' में यह निम्नरूप से प्रस्तुत है—

"रिलिजन (Religion) के पर्यायवाची शब्द चीनी, संस्कृत, हिब्रू (यहूदी) या अरबी भाषा में उपलब्ध नहीं हो सकते और असभ्य जातियों की भाषाओं में तो इसकी खोज अनावश्यक ही है। 'रिलिजन' शब्द की परिभाषा बाईबिल में उपलब्ध नहीं और इसके यथार्थ परिभाषा-निर्माण की कठिनाई अतीव दुस्तर है। इसकी परिभाषा ऐसी पूर्ण होनी चाहिए, जिससे 'रिलिजन' से इतर किसी विचार विशेष का बोध न हो और जो उसे अन्य प्रत्येक वस्तु से भिन्न सिद्ध कर दे। उदाहरणतः वह भाव-कल्पना, आदर्शवाद, कला, आचार अथवा दर्शन से भी पृथक् सिद्ध हो जाय।"

धार्मिक विकास का प्रारम्भिक विन्दु विविध प्रकार से और कई नामों से बताया गया है। डी बासे, कास्ते तथा टेलर ने इसे जादूगरी (Fetichism) की उपाधि दी है। ह्यूम, वोल्टेयर, और दुपुई ने इसे अनेकात्मवाद (Polytheism) के नाम से पुकारा है। थोलक, उलरीसी तथा कैरा उसे अद्वैतवाद (Pantheism) के नाम से अभिहित करते हैं। शेलिंग, मैक्समूलर तथा फान हार्टमान उसे एकात्मवाद (Henotheism) की संज्ञा प्रदान करते हैं। उसी प्रकार फ्रूज़र, प्रोफेसर रॉलिन्सन एवं कैनन कूक उसे एकेश्वरवाद (Monotheism) घोषित करते हैं। परन्तु ये सभी परिभाषाएँ अनिश्चित और कल्पित हैं। हमारा आज का ज्ञान इतना सीमित है कि 'धर्म' (Religion) की प्रारम्भिक व्यवस्था का हमें बोध नहीं होता। उसका प्रारम्भिक रूप क्या था, किस प्रकार उसके माननेवाले सभ्यता के उस पूर्व युग में उसकी व्याख्या करते थे अथवा उसकी कौन-सी सीमाएँ उन्होंने खींची थीं—आज यह जानना नितांत असम्भव हो गया है। कल्पना और प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी कुछ आँकड़ों को लेकर जब हम उस ओर बढ़ते हैं तो हमारी बुद्धि एक ऐसी ऊबड़-खाबड़ स्थिति में पहुँचती है जहाँ न तो हम उसका ही प्रयोग कर सकते हैं और न अपनी आँखों का ही। ऐतिहासिक खोज भी इस स्थल पर हमारी कुछ सहायता नहीं करती।

कुछ पाश्चात्यों ने धर्म को भावना-संसार की एक संसृष्टि कहा है। लुक्रेशियस, हॉब्स और स्ट्रास ने धर्म का उद्गम मुख्यतया भय माना है। रीयल के अनुयायी उसका

कारण वह इच्छा मानते हैं, जो पार्थिव दुर्व्यसनों और अनियत अवस्थाओं के मध्य जीवन और उसकी खूबियों को स्वायत्त करने में लगी होती है। जर्मनी के विख्यात-नामा कैण्ट के मतानुसार धर्म सारतः कर्त्तव्य का अंकुश है और मैथ्यू अर्नाल्ड ने धर्म की परिभाषा में कहा है कि "धर्म भावनाओं द्वारा अनुप्राणित सदाचार है।"

अस्तु, पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार धर्म की व्याख्या विचित्र और विविध है। वहाँ के दार्शनिकों के मतानुसार इसकी व्याख्या सर्वथा अनिश्चित-सी है। अब प्राच्य धार्मिक शृङ्खला की मीमांसा विचारणीय है।

भारतीय दार्शनिकों ने धर्म को नितान्त सुलभ और अत्यन्त सुबोध कर दिया है। एक साधारण धर्मोक्ति है—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैव धार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥*

अर्थात्, धर्म के मर्म को सुनो और सुनकर उसे अपनाओ! धर्म का मर्म यह है कि जो वस्तु अपने को वाञ्छनीय न हो उसे दूसरों के मत्थे न मढ़ो। जिस वस्तु का मनुष्य हानिकर जानकर परित्याग करे उसे ही दूसरों के लिए उचित कहकर उनके गले न मढ़े। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का सिद्धान्त अंग्रेज़ी कहावत में इस प्रकार कहा गया है—Do unto others as you would be done by। तात्पर्य यह निकला कि मनुष्य की जो अनुकूल अनुभूति है उसके अनुसार ही अन्य जन से व्यवहार करना 'धर्म' है और उसके विपरीत आचरण 'अधर्म' है।

उपर्युक्त वचन में भारतीय नीतिकार ने धर्म की सार्वभौमिक परिभाषा की है। यह एक ऐसी कसौटी है कि इस पर धर्म की छाप यथातथ्य अपने आप अंकित हो जाती है। इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ संस्कृत के भण्डार में पड़ी हैं। ऊपर की उक्ति उनके प्रतिनिधिरूप से प्रस्तुत की गई है।

धर्म की परिभाषा अनेक प्रकार से की जाती है; परन्तु विशेषत: दो प्रकार की बहुमान्य है—(१) प्राकृतिक और (२) आध्यात्मिक। किसी द्रव्य के विशेष समवायी गुणों को, जो उसके सार हैं, 'प्राकृतिक धर्म' कहते हैं, जैसे अग्नि में उष्णत्व, जल में आर्द्रत्व। 'उष्णत्व' अग्नि का सारपदार्थ है। वह उस द्रव्य का विशिष्ट अवयव है, वह उसका स्वभावज 'धर्म' है। उसके अभाव में अग्नि 'अग्नि' नहीं है। अग्नि 'अग्नि' इसलिए है कि वह अपनी ज्वाला अथवा उष्णता से दग्ध करती है। इस दहन गुण से अपवार्य 'अग्नि' पद की सार्थकता नहीं। इसी प्रकार जल आर्द्रत्व के बिना 'जल' कहलाने का अधिकारी नहीं। आर्द्रता अथवा तरलता जल के स्वाभाविक गुण हैं। अतः उष्णत्व अग्नि का और आर्द्रत्व जल का 'प्राकृतिक धर्म' है। इसी प्रकार सारे विश्व के असंख्य पदार्थ स्वकीय समवायी गुणों के साथ 'धर्मवान्' कहे जाते हैं। अर्थात् उन पदार्थों के सारभूत गुण उन पदार्थों के धर्म हैं।

आध्यात्मिक धर्म की परिभाषा निश्चित तथा सुचारु रूप से निर्धारित करने के पूर्व 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति पर एक दृष्टि डालने की आवश्यकता है। 'धर्म' शब्द संस्कृत ज्ञान के शब्दार्णव का केन्द्र बिन्दु है। 'धृ' धातु से 'मन्' प्रत्यय होकर 'धर्म' शब्द बनता है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार है:—

ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः।
पक्षपातरहितो न्यायः सत्याचारो वा ॥

अर्थात्, सुखप्राप्तार्थ जिसका धारण और सेवन किया जाय वह 'धर्म' है। अथवा, पक्षपातशून्य न्याय तथा सत्याचरण को भी 'धर्म' कहते हैं। यह धर्म का व्याकरण-मूलक शब्दार्थ है।

महर्षि जैमिनि ने अपने विख्यात पूर्व-मीमांसा दर्शन में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है:—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।" अर्थात् वेदविहित तर्क प्रणीत सत्याचरण को धर्म कहते हैं। सारांश यह कि वेदप्रतिपादित कर्मों का यथावत् अनुष्ठान करना ही 'धर्म' है।

यजुर्वेद में धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः॥

अर्थात्, वेदविहित कर्मों का यथावत् सम्पादन करता हुआ मनुष्य संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार कर्मों के सम्पादन से कर्म में मनुष्य कदापि बँध नहीं सकता। तात्पर्य यह हुआ कि वेदविहित अनुष्ठान ही 'धर्म' है।

महर्षि कणाद ने भी अपने वैशेषिक दर्शन में 'धर्म' का निरूपण किया है। चाहे धर्म की परिभाषा कितनी भी कठिन हो, कणाद ने उसकी व्याख्या करने की 'प्रतिज्ञा' की है—"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।"* उनकी परिभाषा इस प्रकार है—

* पञ्चतन्त्र—काकोलूकीयम् १०३

* वैशेषिक दर्शन १।१।१

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।†

अर्थात्, जिस कर्म के आचरण द्वारा इस संसार में मनुष्य भौतिक उन्नति प्राप्त कर सके तथा परलोक में मोक्ष पा सके, उसको 'धर्म' कहते हैं। महर्षि कणादप्रणीत धर्म की यह व्याख्या अत्यन्त विशद है। इस परिभाषा के वस्तुतः दो भाग हैं—(१) इहलौकिक (सांसारिक) उन्नति तथा (२) पारलौकिक निर्वाण। इस प्रकार धर्मरूपी रथ के संचालन के निमित्त उक्त दो चक्रों की अनिवार्य आवश्यकता है। इनमें से किसी एक चक्र का अभाव रथ को बेकार कर देगा। उसके बिना रथ की स्थिति असम्भव हो जाएगी। सर्वाङ्ग धर्म के आचरण के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य कणादनिर्मित धर्मचक्रों पर आरूढ़ होने का अनवरत प्रयत्न करे। वैशेषिकविहित 'धर्म' की यह परिभाषा सर्वथा पूर्ण है। यह याद रखने की बात है कि धर्म की व्यवस्था एक अनोखे ढंग से संसार में प्रतिपादित की गई है। जिन आचार्यों और दार्शनिकों ने धर्म और उसके आचरण पर विचार किया और प्रकाश डाला है उनकी अपनी व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थिति का उनके विचारों और परिभाषाओं पर पूरा प्रतिबिम्ब पड़ा है। स्पिनोज़ा ने एक बार कहा था कि यदि कोई किसी वृत्त (circle) से ईश्वर का आकार पूछे तो वह उसे वृत्ताकार (गोल—circular) बताएगा। एक गाँव की कहानी है कि किसी ज़मींदार ने अपने सेवक से पूछा—'क्यों प्रजा का क्या हाल है?' सेवक ने कहा—'कृपानिधान, प्रजा सुखी है। कोई ऐसा नहीं जिसके पास एक गाय और दो अशर्फियाँ न हों।' ज़मींदार हँसा और उसने अपने सेवक की गाय और अशर्फियाँ अपने आदमियों से छिनवा लीं। फिर उसने कुछ दिनों बाद उसी सेवक से पूछा—'क्यों, क्या हाल है किसानों का?' 'मर रहे हैं किसान। न उनके पास भोजन है, न वस्त्र!'—उत्तर मिला। ज़मींदार हँस पड़ा। मनुष्य अपनी ही अवस्था से औरों की दशा भी आँकता है। ग़रीब ग़रीबी से भागता है और अमीर को दौलत से पूरा सुख नहीं मिलता, असंतोष होता है। दोनों एक दूसरे की अवस्था को अच्छा कहते हैं। परन्तु इन्हीं दोनों की वर्तमान दशा से आचरण के दो रूप प्रस्तुत होते हैं—एक त्याग और कष्ट का, दूसरा कामना और आह्लाद का। सुख की संप्राप्ति के लिए दोनों ने अपनी अपनी स्थितियों की छोरें पकड़ीं—दरिद्र ने अत्यन्त तप का, धनी ने अत्यन्त विलास का, परन्तु सुख दोनों से दूर था। क्योंकि धर्म की कृत्रिम असारता दोनों में उलझी थी। और जिसने दोनों का अवगाहन किया उसने दोनों की पराकाष्ठा को धिक्कारा और एक मध्य का मार्ग ढूँढ़ा। पाश्चात्य संस्कृति ने अत्यन्त भौतिकता (materialism) को अपनाया और सँवारा और पूर्व ने अत्यन्त तप का मार्ग पकड़ा। सत्य, सुख और इन दोनों के प्राणरूप धर्म का स्थान अत्यन्त तप और अत्यन्त विलास के बीच में था। यह पूर्व के गौरव की बात है कि इस धार्मिक सत्य की घोषणा उसने संसार में सर्वप्रथम की। बुद्ध ने इसी 'मज्झिम पतिपदा' (मध्यम प्रतिपदा) को सराहा और जैमिनि ने भी उसी मध्यम मार्ग की स्तुति की। पार्थिव कर्मों से विरक्त होकर जो लोग केवल विराग का बाना धारण करते हैं वे धर्म के केवल एक पहिए पर आरूढ़ होते हैं। उनकी 'गति' असम्भव है, क्योंकि उनका रथ दूसरे चक्र के अभाव में अचल हो रहता है। पारलौकिक निर्वाण और सद्गति के लिए शरीर की आवश्यकता अनिवार्य है, जिसे देही (जीवात्मा) धारण करता है। 'कर्माकर्म' का क्षय भी उसी शरीर की एक दशा विशेष से होता है, इसलिए शरीर का अक्षुण्ण रहना अत्यावश्यक है। इसी को लक्ष्य कर तपस्विनी उमा का अतिथि ब्राह्मण (शिव) 'कुमारसम्भव' में कहता है—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' धर्म के साधन के हेतु स्वस्थ शरीर की स्थिति अनिवार्य है। यह शरीर ही उन इहलौकिक आचरणों को सम्पन्न करेगा, जिनसे पारलौकिक निर्वाण की संप्राप्ति होगी। इसी कारण धर्म की परिभाषा में 'इहलौकिक उन्नति' का निर्देश अपेक्षित हो जाता है। जैमिनि की परिभाषा एक पूर्ण परिभाषा है—जीवन के दोनों अंगों का उसमें समावेश है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश करते हुए कर्ममीमांसा पर प्रचुर बल दिया है—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥"†

इससे कर्म की अनिवार्य वास्तविकता सिद्ध है। कर्मसम्पादन में मनुष्य का अधिकार अवश्य है, यद्यपि उनकी फलप्राप्ति में नहीं। अतः उसे उचित है कि वह विहित कर्मों को फल-कामना छोड़ कर करता जाए; क्योंकि मनुष्य निष्क्रिय होने का अधिकारी मोक्षपर्यन्त नहीं हो सकता। धार्मिक सिद्धान्तों की जटिलता सुगम करने के लिए अनेक शास्त्रों के निर्माण हुए और प्रायः ये सिद्धान्त अपनी

† वैशेषिक दर्शन १।१।२

† गीता २। ४७।

अरुचिकर कक्षा से उतर कर मनोहर सुभाषितों में भी प्रविष्ट हुए। सुभाषित और नीति-ग्रन्थ जनसाधारण को सदा स्पर्श करते थे। उनके उत्कर्ष के निमित्त नीतिकारों ने अपने ओजभरे शब्दों में 'दर्शन' की घोषणा की—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

कर्मपरायण पुरुषरूपी सिंह के सेवानिमित्त लक्ष्मी स्वयं आ उपस्थित होती है। कायर भाग्य की दुहाई दिया करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह भाग्य को ठुकराकर कर्म-सम्पादन में अपनी शक्ति लगाए।

जब ऋषियों ने मनु से 'समस्त वर्णों के धर्म और उसके पारम्परिक क्रम' के विषय में पूछा तो उन्होंने स्मृति से धर्म-शास्त्र का निर्माण करते हुए उसकी परिभाषा की और उसके दश लक्षण नियत किए—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

सन्तोष, क्षमा, दम, परधनहरणाभाव, शरीरशुद्धि, इन्द्रियदमन, शास्त्रानुसार बुद्धि, आत्मज्ञानरूपिणी विद्या, सत्य, और क्रोध का अभाव ये दस धर्म के साकेतिक चिह्न नियत हुए। धर्म की इस प्रशस्त व्याख्या में इहलौकिक और पारलौकिक दोनों दशाओं का आरोप है। इहलौकिक शरीर के द्विधा धर्मों—अपने प्रति और अन्य प्राणियों के प्रति—का विश्लेषण कर मनु ने परलोक-निर्वाण को प्राप्त करानेवाली अध्यात्मविद्या की ओर संकेत किया है। विद्याओं के चारों अथवा चौदहों भेदों में 'त्रयी' (अर्थात् ऋक्, यजुष् और साम वेद) का प्रमुख और प्रथम स्थान है। इसके अतिरिक्त आन्वीक्षिकी अर्थात् अध्यात्म-दर्शनादि की भी उसमें परिगणना है। 'धी' सम्भवत. बुद्धि का वह रूप है, जिसकी ज्ञानार्थ में अद्वैतों ने प्रतिष्ठा की। मनु की इस व्याख्या में जैमिनि का सूत्र प्राय' पूर्णतया उतर आया है। मनु ने अन्यत्र कहा है—

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेदनेतरः॥

इससे अधिक वैज्ञानिक परिभाषा धर्म की नहीं हो सकती। वेदशास्त्रप्रतिपादित तर्कानुसार जो मनुष्य ऋषियों के धर्मोपदेश का मनन करता है वही धर्म को जानता है, अन्य पुरुष धर्म के मर्म को समझ नहीं सकता। इस परिभाषा में शक्ति और निर्भयता का प्राचुर्य है, यद्यपि इस सिद्धान्त में पूर्वपक्ष का आवाहन सुरक्षित है।

एक बात और ध्यान देने की है। धर्माचरण की व्याख्या की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए जब महर्षि मनु ने उसका वर्णन आरम्भ किया तो आरम्भ में उन्होंने सृष्टि की भी विवेचना की—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततःस्वयम्भुभगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥"

अर्थात् आरम्भ मे यह सब अन्धकारमय चिह्नरहित तर्क द्वारा सिद्ध न होने योग्य अज्ञात प्रकृतिलीन समस्त वस्तु निस्तब्ध-सी प्रतीत होती थी। तदनन्तर परमात्मा ने अव्यक्त (Unmanifested) प्रकृति को प्रकट कर दिया, जिससे आकाशादि पञ्च-भूत प्रभृति महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार मनु के अनुसार 'धर्म' एक ऐसा विशद विषय है, जिसमें भौतिक एवं पारलौकिक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान और वेद-प्रतिपादित सत्याचरण आदि सभी सम्मिलित हैं। अन्यथा ऋषियों के धर्म-जिज्ञासा-सम्बन्धी प्रश्न पर सृष्टि-विषयक कथन कदाचित् असंगत होता। इससे यह प्रमाणित है कि 'धर्म' में पृथिव्यादि समस्त ज्ञातव्य विषय और ब्रह्म-ज्ञान संबंधी सारा ज्ञान और अनुष्ठान सम्मिलित है।

'धर्म' संबंधी इस उपर्युक्त वर्णन के प्रति यह कहा जा सकता है कि इस धर्म का केन्द्र स्वयं अजात सर्वजनक एक ईश्वर है। यही सही है और यह होना अनिवार्य है; क्योंकि धर्म का शक्ति विशेष से संबंध, जिसके आचरण में पाप-पुण्य का समावेश है, भारतवर्ष में प्रमुख दर्शनों का एकान्त विषय है। उस धर्म की परिपाटी का निर्माण और उसकी व्याख्या तथा नामकरण एक ऐसे जन-समाज ने किया, जो सर्वथा 'आस्तिक' था—ईश्वर को सृष्टि का कारण, केन्द्र और सर्वव्यापी माननेवाला। जिन प्रकृतिवादी दार्शनिकों ने उस सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म की स्थिति में सन्देह किया, उनमें से भी बहुतेरों ने 'धर्म' की सत्ता उस रूप में स्वीकार की, जो प्रकृति के अवयवों में स्वाभाविक रूप से वर्त्तमान है, जिसका कुछ उल्लेख आरम्भ में किया गया है। अग्नि की उष्णता और जल की आर्द्रता इस प्राकृत धर्म के उदाहरण हैं। आर्ष धर्म का अनुयायी जगत् के आस्तिकों के राग में राग मिलाता है:—

असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

पृथ्वी की कहानी

चि० १—सरसों की मंजरी

चि० ४—पुष्पशेखर

चि० ३—सचूड

चि० २—समशिख

चि० ५

चि० ६
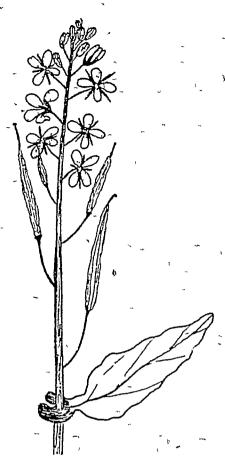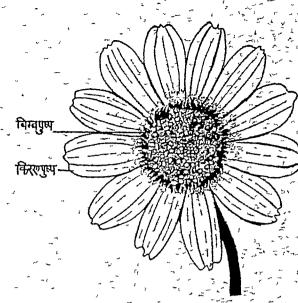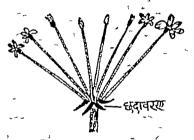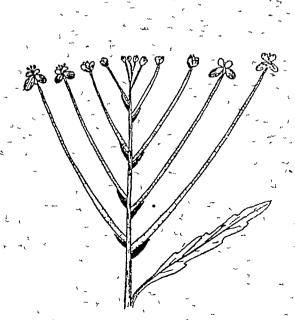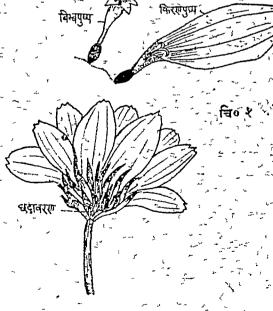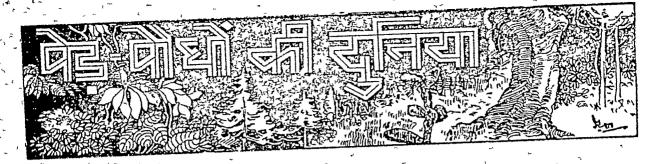
पुष्प-व्यूह

(Inflorescence)

पेड़-पौधों की दुनिया के पिछले दो परिच्छेदों में फूलों की रचना तथा इनके भेदों पर किसी अंश में विचार किया गया है; अब हम आपका ध्यान इनकी सजावट की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

आप देख चुके हैं कि फूल रूपान्तरित शाखाएँ हैं। साधारण शाखों की भाँति इन में भी **पर्व** (nodes), **पोर** (internodes) और पत्तियाँ होती हैं। फूलों की पंखुड़ियाँ ही पत्तियाँ हैं; परन्तु अधिक रूपान्तर हो जाने के कारण पुष्प-पत्र साधारण पत्तियों से बहुत कुछ भिन्न लगते हैं; फिर भी इनमें से किसी-किसी (उदाहरणार्थ पुटपत्र) में साधारण पत्तियों से अधिक समानता मिलती है। यथार्थ में **पुटपत्र** (sepals), **दलपत्र** (petals), **पुंकेसर** (stamens) और **योनिनलिका** (carpels), चारों ही रूपान्तरित पत्तियाँ हैं, जो **स्तम्भक** (thalamus) पर लगी होती हैं। साधारण रूप से ये चार घेरों में क्रमबद्ध होती हैं और इन घेरों के बीच में पोर होते हैं, परन्तु ये पोर अत्यन्त क्षीण हो गए हैं, जिससे इनकी यथार्थ अवस्था का बोध होना कठिन है। कभी-कभी कोई-कोई पोर थोड़ा-बहुत बढ़ जाता है और तब इनकी यथार्थ अवस्था का सुगमता से पता चल जाता है।

किसी-किसी पौधे में फूल **एकाकी** (solitary) होते हैं। एकाकी फूलों के दो भेद हैं; प्रथम वे जो प्रधान शाखा के सिरे पर होते हैं, और जिन्हें **एकाकी अग्रस्थ** (solitary terminal) कहते हैं, और दूसरे वे जो पत्तियों के पार्श्व में होते हैं और जिन्हें हम **पार्श्विक** (axillary) कहते हैं। बहुत-से पौधों में फूल गुच्छों में होते हैं और इनमें ये अनेक प्रकार से क्रमबद्ध रहते हैं। फूलों के ऐसे क्रमबद्ध सुसज्जित गुच्छों को **पुष्प-व्यूह** (inflorescence) कहते हैं। फूलों के इस प्रकार गुच्छों में होने से पौधों को बड़ा लाभ है।

पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है कि फूलों में पौधों की जननेन्द्रियाँ होती हैं। साधारण जीवों की भाँति इनमें भी नर और मादा अंग होते हैं। इनके मेल के बिना बीज नहीं बन सकते। इसलिए **नर पिंड** (male gametes) और **मादा पिंड** (female gametes) का मेल होना आवश्यक है। फूलवाले पौधों के नर पिंड पराग में होते हैं और मादा पिंड गर्भाशय में। इसलिए पूर्व इसके कि बीज बन सकें पराग का, किसी न किसी प्रकार, योनिछत्र पर पहुँचना आवश्यक है। पराग को योनिछत्र तक पहुँचानेवालों में पतिंगों का स्थान बड़े महत्व का है और फूलों के गुच्छों में होने से पतिंगे इन्हें बड़ी सुगमता से देख पाते हैं, क्योंकि ऐसी अवस्था में ये शाखों और पत्तियों के बीच अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं, जिससे सेचन में बड़ी सुविधा हो जाती है।

शाखा-प्रणाली के अनुसार पुष्प-व्यूह के कई भेद हैं। जैसे साधारण शाखा-प्रणाली के दो मुख्य भेद हैं, वैसे ही पुष्प-व्यूह के भी दो मुख्य भेद हैं। ये भेद (१) अपरिमित (racemose) और (२) परिमित (cymose) हैं।

अपरिमित शाखाक्रम में **प्रधान अक्ष** (main axis) बराबर बढ़ता रहता है। इस क्रम में सबसे पहले बाहरी अथवा निचला फूल खिलता है (चि० ५)। यह क्रम **अग्रोत्तर** (acropetal) कहलाता है। इस तरह के पुष्प-व्यूह में नवजात कली शिखर की ओर अथवा केन्द्र के निकटतम होती है। इसके विपरीत परिमित शाखाक्रम अथवा **उत्तराधार** (basipetal) क्रम में नवीन कली सब से बाहर की ओर सबसे पुराना फूल केन्द्र में होता है।

अपरिमित पुष्प-व्यूह का अक्ष बराबर बढ़ता रहता है; परन्तु परिमित पुष्प-व्यूह में अग्रस्थ कली से ही फूल बन जाता है, जिससे प्रधान अक्ष की बाढ़ समाप्त हो जाती है और शिखर पर फूल रहता है।

परिमित पुष्प-व्यूह के ७ भेद हैं:—

(१) **मंजरी** (Raceme)—इस जाति के पुष्प-व्यूह में प्रधान अक्ष बराबर बढ़ता रहता है और सबसे पहले सबसे निचला फूल खिलता है और इसके बाद क्रमशः ऊपर के फूल खिलते हैं। पुष्प **सनाल** (pedicellate) और **वृन्तसहित** (bracteate) अथवा **वृन्तपत्रहीन** (ebracteate) होते हैं (चि० १)। सरषप-श्रेणी (Cruciferae) के पौधों में जैसे सरसों, मूली आदि में मंजरी होती है।

(२) **समशिख** (Corymb)—यह पुष्प-व्यूह मंजरी का ही एक विशेष भेद है। इस जाति के पुष्प-व्यूह में प्रधान अक्ष मंजरी के प्रधान अक्ष से प्रायः छोटा होता है। निचले फूलों के पुष्पनाल विशेष बड़े होते हैं, जिससे पुष्प-व्यूह के सारे फूल एक ही ऊँचाई पर आ जाते हैं (चि०२)। कैन्डीटफ्ट (Candytuft) तथा सरषप-श्रेणी के कुछ दूसरे पौधों में इस प्रकार का पुष्प-व्यूह होता है।
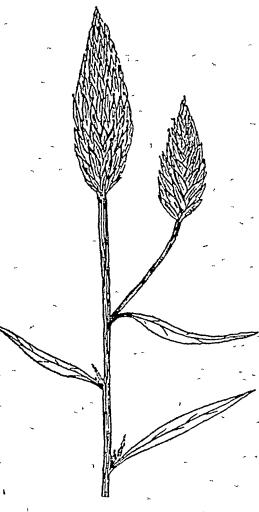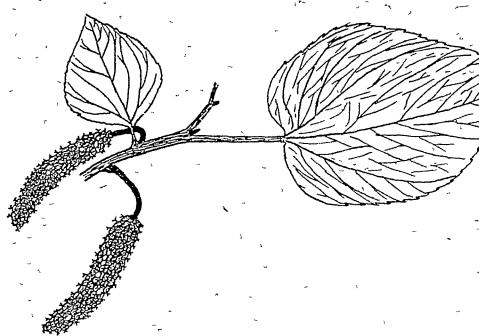
चि० ७—सुरवारी का निदंडिक

(३) **सचूड़** (Umbel)—इस पुष्प-व्यूह में प्रधान अक्ष अत्यन्त छोटा होता है और फूल सनाल होते हैं। संक्षिप्त अक्ष के सिरे पर एक ही स्थान से सारे फूल खिलते हैं (चि० ३)। इन फूलों के पुष्पदंड बराबर होते हैं, जिससे सारे फूल एक ही स्थान पर और एक ही ऊँचाई पर होते हैं। फूल वृन्तपत्र-सहित होते हैं और सारे वृन्तपत्र मिलकर एक वृन्तपत्रों का घेरा बनाते हैं, जिसे **वृन्तपत्रछदक** या **छदावरण** (Involucre) कहते हैं (चि० ३)। प्याज़ और गर्जरादि श्रेणी (Umbelliferae) के पौधों में सचूड़ पुष्प-व्यूह होता है।

(४) **पुष्पशेखर** (Capitulum)—सचूड़ की ही भाँति पुष्प-शेखर में भी प्रधान अक्ष अत्यन्त संक्षिप्त होता है, परन्तु इसमें शिखर फैलकर **बिम्ब** (disc) में परिणत हो जाता है। बिम्ब विस्तृत, समतल, नतोदर, शंक्वाकार

चि० ८—शहतूत की मादा कूर्चमंजरी

(conical) अथवा अन्य भाँति का होता है। फूल बिम्ब के ऊपर उसके फैले भाग पर होते हैं। इनकी संख्या अधिक होती है और ये विनाल और वृन्तपत्र-युक्त होते हैं (चि० ५)। सबसे पहले स्तम्भक के बाहरी फूल खिलना आरम्भ होते हैं और बाद में क्रमशः अन्दर के फूल खिलते हैं। वैसे देखने में पुष्प-शेखर साधारण फूल जैसा लगता है। इसका सबसे बाहरी घेरा, जो वृन्त-पत्रों से बनता है, साधारण फूलों के पुटचक्र जैसा लगता है और अनेक फूलों के दलचक्र साधारण दलचक्र समान जान पड़ते हैं। गेंदा (*Tagetes*), सूरजमुखी (Sunflower) (चि० ४), जंगली गोभी तथा शतपुष्पी श्रेणी (Compositae) के अन्य पौधों में पुष्प-व्यूह पुष्प-शेखर होता है।

फण

चि० ६—मांसल मंजरी

नरपुष्प

नपुंसक पुष्प

मादा पुष्प

चि० १०—मांसल मंजरी
(फण अलग करने के बाद)

पुष्प-शेखर में प्रायः दो प्रकार के फूल होते हैं, जिन्हें किरण-पुष्प (Ray florets) और बिम्ब-पुष्प (Disc-florets) कहते हैं (चि० ५)। किरण-पुष्प बाहर और बिम्ब-पुष्प स्तम्भक के बीच में होते हैं। कभी कभी सारे फूल एक ही प्रकार के होते हैं, अर्थात् किरण-पुष्प अथवा बिम्ब-पुष्प। फूलों के समूह के बाहर की ओर वृन्तपत्रछदक (Involucre) होता है (चि० ६)। यह देखने में पुटचक्र जैसा लगता है। पुष्प-शेखर के फूलों में पुटचक्र का ह्रास हो गया है और पुटपत्रों के परिवर्त्तन से प्रायः रोम बन गए हैं, जिससे इन पौधों के फलों का प्रसारण वायु द्वारा सुगमता से हो जाता है। कभी-कभी साधारण रोमों के स्थान पर कंटकित रोम होते हैं, जिससे ऐसे फल आने-जानेवाले जानवरों के बालों में फँस जाते हैं और इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा पहुँचते हैं।

(५) निर्दंडिक (Spike)—निर्दंडिक भी मंजरी का ही एक भेद है, परन्तु इसमें पुष्प विनाल होते हैं और यही इसमें और मंजरी में विशेष अन्तर है (चि० ७)। अड़ूसा (*Justicia adhatoda*), लटजीरा (*Achyranthes aspera*) तथा सुरवारी (*Celosia argentea*) में पुष्प-व्यूह निर्दंडिक होता है।

(६) कूर्चमंजरी (Catkin)—यह एक विशेष प्रकार का निर्दंडिक है। यह थोड़ा-बहुत लम्बा और लटका (pendulous) होता है और इसमें फूल एकलिंगी होते हैं। नर कूर्चमंजरी (Male Catkin) शीघ्रपाती (deciduous) होता है। भोजपत्र (*Betula bhojputra*), बाँज (Oak) तथा शहतूत (*Morus*) (चि० ८) में पुष्प-व्यूह कूर्चमंजरी होता है। जिन वृक्षों में पुष्प

चि० ११—चक्रवल्लरी

व्यूह कूर्चमंजरी होता है, उनमें पतझड़ के पश्चात् नवपल्लव आने के पूर्व ही फूल आ जाते हैं। नर कूर्चमंजरी सुगमता से झूलती रहती है और पका पराग वायु में बिखरता रहता है। कूर्चमंजरी वाले पौधों में सेचन वायु द्वारा होता है।

(७) **मांसल मंजरी** (Spadix)—यह पुष्प-व्यूह भी निर्दंडिक का ही भेद है। यह स्थूल, भारी और मांसल निर्दंडिक है, जिसमें फूल एकलिंगी और छोटे होते हैं (चि० ९,१०)। ऐसा पुष्प-व्यूह सूरन (*Amorphophallus*), अरुई और करियारी (*Typhonium*) में होता है। मांसल मंजरी में प्राय: बाहर एक बड़ा और रंगदार **फण** (spathe) होता है। यह पुष्प-व्यूह को ढके रहता है। मांसल मंजरी का ऊपरी भाग और यही फण प्राय: पतिंगों को आकर्षित करता है।

परिमित पुष्प-व्यूह

परिमित पुष्प-व्यूह में प्रधान अक्ष की बाढ़ सीमाबद्ध होती है और इसलिए शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। सबसे ऊपर शिखर पर पुराना फूल रहता है और नए फूल नीचे की ओर अथवा परिधि पर होते हैं। फूल के नीचे से शाखें निकलती हैं और प्रधान अक्ष की भाँति इनके शिखर पर भी फूल होते हैं। इस पुष्प-व्यूह में फूल **मध्यताविकासी** (centrifugal) क्रम से खिलते हैं। परिमित पुष्प-व्यूह को **वल्लरी** (Cyme) कहते हैं। वल्लरी के तीन मुख्य भेद हैं:—

(१) **एकभुजवल्लरी** (Monochasial cyme)—इस जाति के पुष्प व्यूह में प्रधान अक्ष तथा इससे उत्पन्न अन्य शाखाओं से केवल एक ही पार्श्विक शाखा निकलती है, जिसके शिखर पर फूल होता है। प्रत्येक शाखा वृन्त-पत्र के पार्श्व में होती है। शाखों का क्रम या तो एक ही ओर को रहता है अथवा क्रमशः दायें-बायें को। जब कभी शाखायें एक ही ओर को होती हैं, जैसा कि मकोय (*Solanum nigrum*) या हैमीलिया (*Hamelia*) में होता है, तो इसे **चक्रवल्लरी** (Helicoid cyme or Bostrix) कहते हैं (चि० ११)। जब कभी फूल दोनों ओर पर्यायक्रम में निकलते हैं तो इसे **वृश्चिक-वल्लरी** (Scorpioid cyme or Cincinus) (चि० १२) कहते हैं, जैसा कि हाथी-सूँड़ (Heliotropium) अथवा बोरेजिनेसी (Boraginaceae) श्रेणी के कुछ अन्य पौधों में होता है।

चि० १२—वृश्चिक-वल्लरी

(२) **द्विभुजवल्लरी** (Dichasial cyme)—इस जाति के पुष्प-व्यूह में प्रधान अक्ष के सिरे पर एक फूल होता है और इसके नीचे दो अभिमुख वृन्त-पत्रों के पार्श्व से दो शाखें निकलती हैं, जिनके शिखर पर भी फूल होता है। द्वितीय शाखों से भी इसी ढंग से शाखें और फूल उत्पन्न होते हैं और ऐसा क्रम इनसे उत्पन्न शाखों और फूलों का भी होता है (चि० १३)। भटोह (*Clerodendron infortunatum*), चमेली तथा कुन्द में इसी प्रकार का पुष्प-व्यूह होता है।

चि० १३—द्विभुजवल्लरी

(३) **अमितभुजवल्लरी** (Polychasial cyme)—

इस जाति के पुष्प-व्यूह में प्रधान अक्ष के शिखर पर एक फूल होता है और इसी के नीचे से तीन अथवा अधिक वृन्तपत्रों के पार्श्व से उतनी ही शाखें निकलती हैं। इन शाखों के शिखर पर भी फूल होते हैं। ऐसा पुष्प-व्यूह आक (*Calotropis*) में होता है।

संयुक्त (Compound) और मिश्रित (Mixed) पुष्प-व्यूह

बहुत-से पौधों के पुष्प-व्यूह संयुक्त होते हैं। लार्कस्पर (Larkspur) या डेल्फिनियम (*Delphinium*) का पुष्प-व्यूह संयुक्त-मंजरी (Compound raceme) है। गर्जरादि श्रेणी के कुछ पौधों में **संयुक्त-सचूड़** (Compound Umbel) होता है। संयुक्त सचूड़ में, प्रधान शाखों के नीचेवाले वृन्तपत्रों के अतिरिक्त, दोयम शाखों के नीचे भी वृन्तपत्र होते हैं, जिनसे वृन्त-पत्रच्छदिका (Involucel of bracts) बनते हैं।

कुछ पुष्प-व्यूह मिश्रित होते हैं। इस प्रकार **सिट्टिका-मंजरी** (Raceme of spikes or Panicle), पुष्प-शेखर-मंजरी (Raceme of Capitulae) इत्यादि अन्य कई ऐसे भेद हैं।

विशेष भाँति के पुष्प-व्यूह

(१) कुछ पौधों में असाधारण ढंग के पुष्प-व्यूह होते हैं। किसी-किसी अवस्था में प्रधान अक्ष अधिक क्षीण हो जाता है अथवा पुष्प इतने घने निकलते हैं कि पुष्प-व्यूह के यथार्थ रूप का पता चलना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था प्रायः तुलसी श्रेणी के पौधों में मिलती है। इनमें पत्तियाँ अभिमुख होती हैं और प्रत्येक पर्व पर पत्तियों के पार्श्व में पुष्प-गुच्छ होता है। फूलों के उन मंडलों को पुष्प-पुंज (Verticellaster) कहते हैं (चि० १४)। इनमें फूल न्यूनाधिक विनाल होते हैं। प्रारम्भ में पत्तियों के पार्श्व में फूल द्विभुज-वल्लरी क्रम में निकलते हैं और बाद में, यह एक ओर की शाखा के लुप्त हो जाने से एक भुज-वल्लरी (वृश्चिक-वल्लरी) क्रम में परिणित हो जाते हैं।

चि० १४—पुष्प-पुंज

चि० १५ गूलर का हाइपैन्थोडियम चि० १६ वही बीच से काट देने के बाद

चि० १७—सायेथियम अ—एक भाग काटकर; ब—एक नरपुष्प

(२) **हाइपैन्थोडियम** (Hypanthodium)—यह भी परिमित पुष्प-व्यूह का ही एक विशेष भेद है। इसमें पुष्प-अक्ष मांसल और नतोदर तथा पोले सेब जैसा होता है। स्तम्भक के अन्दर अनेक नन्हें-नन्हें फूल होते हैं। इस प्रकार का पुष्प-व्यूह गूलर (चि० १५,१६), पाकर, पीपल आदि में होता है।

(३) **सायेथियम** (Cyathium)—यह एक विशेष प्रकार का पुष्प-व्यूह है, जो थूहड़ जाति के पौधों में होता है। देखने में यह साधारण फूल जैसा होता है। पुष्प-व्यूह के बीच में नारी फूल होता है, जो एक लम्बे डंठल के सिरे पर होता है (चि० १७)। नर पुष्प वृन्तपत्रों के पार्श्व में होते हैं। नारी फूल के चारों ओर कई सनाल नर पुष्प होते हैं। नारी पुष्प में केवल गर्भकेसर और नर पुष्प में केवल एक पुंकेसर होता है (चि० १७)। फूलों में **परिसचक्र** (Perianth) नहीं होता।

सायेथियम में बाहर वृन्तपत्रों का घेरा होता है, जिससे वृन्तपत्रच्छदक बन जाता है। यह प्रायः प्याली जैसा होता है और इसकी कोर पर प्रायः ग्रन्थियाँ होती हैं। ग्रन्थियों से मधु संचरित होता रहता है। सायेथियम एकाकी अथवा इकट्ठे द्विभुजवल्लरी के रूप में होते हैं।
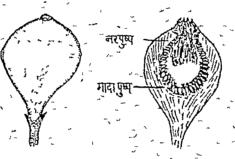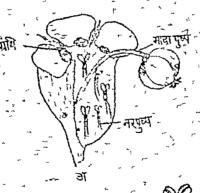
पुष्प-व्यूह के भेद

अ—अपरिमित पुष्प-व्यूह:—

I. प्रधान अक्ष लम्बा—

(i) पुष्प सनाल

१. मंजरी (सरसों, मूली)

२. समशिख (कैन्डीटफ्ट)

(ii) पुष्प विनाल

३. निर्दंडिक (अड़ूसा, गेहूँ, सुरवारी)

४. कूर्चमंजरी (सूरण, घुइयाँ)

II. प्रधान अक्ष छोटा और वृन्तपत्र छदक के रूप में—

(i) पुष्प सनाल

५. सचूड़ (प्याज, गाजर आदि)

(ii) पुष्प विनाल

६. पुष्प-शेखर (सूरजमुखी)

ब—परिमित पुष्प-व्यूह:—

(i) एकभुजवल्लरी (हैमीलिया)

१ वक्रवल्लरी (मकोय)

२. वृश्चिक-वल्लरी (हाथीसूँड़)

(ii) द्विभुजवल्लरी (डायन्थस, भटोह)

(iii) अमितभुजवल्लरी (मदार)

स—संयुक्त अथवा मिश्रित पुष्प-व्यूह:—

१. पुष्प-पुञ्ज (तुलसी)

२. हाइपैन्थोडियम (गूलर)

३ सायेथियम (थूहड़)

[इस लेख के चित्र लखनऊ-विश्वविद्यालय के श्री० रामउदार, एम० एस-सी०, द्वारा बनाये गये हैं ।]

चि० १८—अपरिमित पुष्प-व्यूह के चित्र (अ. मंजरी ; क. समशिख ; ख. सचूड़ ; ग. पुष्प-शेखर ; व-घ. निर्दंडिक)
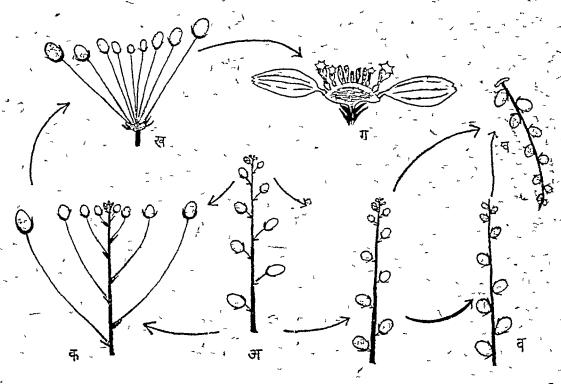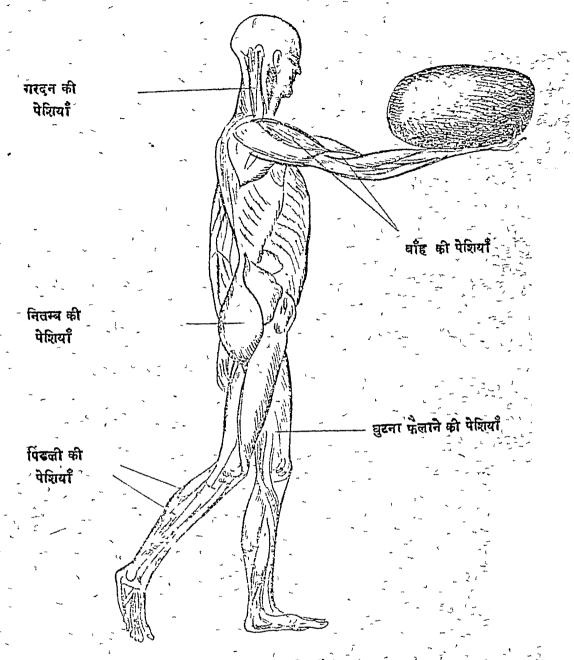
मनुष्य
की कहानी

चि० १—शरीर की मुख्य मांसपेशियाँ या इंजन

यह एक भारी वज़न उठाकर चलने के लिए तत्पर मनुष्य का रेखाचित्र है, जिसमें मानव शरीर की मुख्य-मुख्य मांसपेशियाँ दिखाई गई हैं। इस प्रकार चलने की क्रिया में शरीर के मांसपेशी-रूपी इंजन किस प्रकार कार्य करते हैं तथा इन इंजनों की क्रिया-प्रक्रिया किसी मोटरकार या मोटर-साइकिल के इंजन की क्रिया से किस प्रकार मिलती-जुलती है एवं उससे भी श्रेष्ठ होती है, इसका विवरण आगे के पृष्ठों में पढ़िये।

मांसपेशियों की इंजन से तुलना और उससे उनकी श्रेष्ठता

इस स्तंभ के पिछले एक लेख में अपने शरीर की मांसपेशियों और उनके कार्यों के विषय में बताते हुए हमने यह कहा था कि ये ही वे इंजन हैं, जो उष्णता उत्पन्न करते और शरीर के भिन्न-भिन्न भागों को चलाते हैं।

पेट्रोल की टंकी
आयात-नली
आग लगाने का प्लग
पेट्रोल जलने का स्थान
निर्यात-नली
नली
बंद करने की टिकली
कारबुरेटर
वायु
पिस्टन
सिलिंडर
छड़
धुरी
घूमने का पहिया
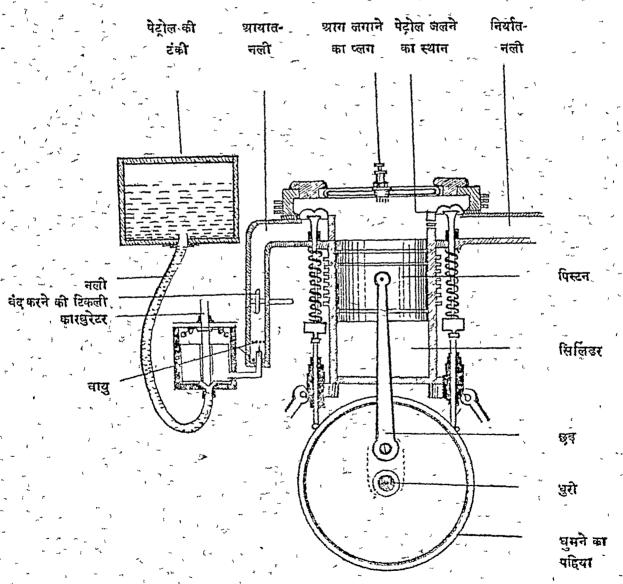
चि० २—भीतरी दहन के सिद्धान्त पर चलनेवाले इंजन की रचना
मोटर-साइकिल, मोटरकार आदि में इसी सिद्धान्त पर निर्मित इंजन प्रयुक्त होते हैं।

प्रस्तुत लेख में विस्तारपूर्वक यह दिखाया गया है कि किस प्रकार वे मोटर के इंजन के समान काम करती हैं और कैसे उनमें आवश्यक ताप उत्पन्न होता है।

आइए, मानवीय शरीर की एक मोटर-साइकिल से तुलना करते हुए हम देखें कि यह बात कहाँ तक ठीक सिद्ध होती है! कल्पना कीजिए कि आप और मैं दोनों देहरादून से मंसूरी के लिए चल पड़े, आप मोटर-साइकिल पर और मैं पैदल। मेरी अपेक्षा आप मंसूरी बहुत पहले पहुँचे, पर किस प्रकार? साइकिल के धड़धड़ाते इंजन ने आपको जल्दी पहुँचा दिया। परन्तु लम्बा डग बढ़ाते हुए भी मैं आप से बहुत पीछे पहुँचा! क्या मेरे पैरों ने शरीर को पहाड़ी के ऊपर पहुँचाने में उतना यांत्रिक कार्य नहीं किया जितना कि आपके मोटर-इंजन ने? सच यह है कि हम अपने शरीर के इंजनों को मांस-पेशियों का नाम देने के कारण वास्तविक रूप में नहीं पहचान पाते। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि मांसपेशियाँ ही वे इंजन हैं, जो शारीरिक यन्त्रों को आगे चलाने में काम आते हैं।
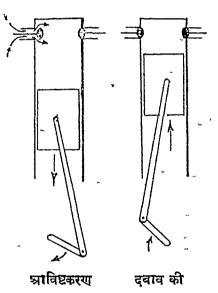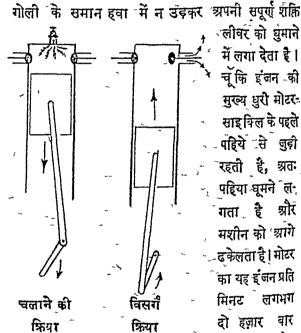
चि० ३—मोटर-साइकिल के इंजन के भरने और चलने की चार क्रियाएँ
बंदूक के भी भरने और चलने के क्रम में इसी प्रकार की चार क्रियाएँ होती हैं।

मांसपेशी तथा मोटर-साइकिल का इंजन

जब हम मोटर-साइकिल के इंजन की तुलना शरीर की मांसपेशियों से करते हैं तो पता चलता है कि उनमें अनेक समानताएँ हैं। आइए, पहले हम साइकिल के इंजन के विभागों और उनकी क्रियाओं पर विचार करें। हमने पिछले पृष्ठ पर उसका एक चित्र दिया है, जिसमें उसके भागों का साधारण रेखाचित्र दिया गया है। इस चित्र के सब भागों पर ध्यान देने से मासपेशियों के इंजन में वैसे ही भागों को ढूँढने में सहायता मिलेगी।

मोटर-साइकिल का इजन एक प्रकार की बन्दूक है, जिसमें मुख्य भाग बंदूक की नली के बदले 'वेलन' कहा जाता है, और बारूद के स्थान पर जिसमें पैट्रोल तथा वायु का विस्फोटक द्रव्य भरते हैं। इस फटनेवाले मिश्रण में बंदूक की टोपी के स्थान पर बिजली की चिनगारी से आग लगाई जाती है। यह एक चिनगारी फेंकनेवाली डाट (प्लग) से निकलती है, जैसा कि आप चित्र नं० २ में वेलन के ऊपर देख सकते हैं। वेलन के भीतर एक पिस्टन या गट्टा है, जो बन्दूक की नली के गोले के समान है। यदि यह गट्टा मुक्त होता तो गोली की तरह वह भी वेलन से निकल भागता, किन्तु वह मुक्त नहीं है। वह एक घूमनेवाले लीवर या धुरी की मोड़ की कील से दाँतोंदार छड़ द्वारा फँसा हुआ है, इसलिए जब विस्फोटक मिश्रण चिनगारी द्वारा दाग़ा जाता है तब पिस्टन गोली के समान हवा में न उड़कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लीवर को घुमाने में लगा देता है। चूँकि इंजन की मुख्य धुरी मोटर-साइकिल के पहले पहिये से जुड़ी रहती है, अतः पहिया घूमने लगता है और मशीन को आगे ढकेलता है। मोटर का यह इंजन प्रति मिनट लगभग दो हज़ार बार छूटता और भरता है, इसी से उसमें से फट-फट की आवाज निकलती है। इसके विपरीत हमारी मांसपेशियाँ एक साथ ही भरती और खाली होती हैं।

अब हम यह देखें कि मोटर के इंजन के मुख्य भाग कैसे काम करते हैं। जब मुख्य धुरी की कीली घूमने पर पिस्टन को नीचे खींचती और फलतः पैट्रोल लानेवाली नली खुलती है, तब वेलन में पैट्रोल और हवा भर जाती है। अब यदि लीवर को थोड़ा और अधिक घुमा दिया जाय तो पिस्टन वेलन में ऊपर उठकर पैट्रोल और हवा के विस्फोटित मिश्रण को दबा देगा और तभी यह कहा जायगा कि इंजन 'चार्ज्ड' हो गया है। पिस्टन की नीचे की गति को चार्ज या आविष्करण क्रिया, और ऊपर की ओर की गति को दबाने

की क्रिया कहते हैं। इस प्रकार जब इंजन भर जाता है तब उसमें चिनगारी द्वारा आग लगाई जाती है। फलतः पिस्टन दूसरी बार नीचे को ढकिलता है। यही फटफटाने और पहिये को चलानेवाला धक्का है। पिस्टन के नीचे आने पर बेलन में जली हुई गैस रह जाती है, जो बाहर निकालनेवाली नली द्वारा तुरन्त बाहर निकल जाती है और बेलन फिर से भरा और चलाया जा सकता है। लीवर की छड़ पर एक घूमनेवाला पहिया लगा देने से वह घूमने लगता है और पिस्टन को ऊपर-नीचे करता जाता है। इस प्रकार इंजन का बेलन बराबर भरता व खाली होता रहता है और मोटर-साइकिल आगे दौड़ती चली जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि इस भाँति के इंजन में एक पूरे चक्र में चार क्रियाएँ या धक्के होते हैं। इनमें से केवल एक विशिष्ट क्रिया ही पहिये को संचालित करती और साइकिल को चलाती है। इसी से इंजन खाली होता और भरता है। शेष तीन क्रियाओं या धक्कों में वह पम्प या पिचकारी के समान कार्य करता है। इसके प्रतिकूल हमारे मांसपेशी-रूपी इंजनों को बनाने में प्रकृति ने बड़ी योग्यता से काम लिया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे—उनमें कोई स्ट्रोक या धक्का बेकार नहीं जाता।

पैरों को चलानेवाले पेशी-रूपी इंजन

पिछले एक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि हमारे शरीर के मांसपेशी-रूपी इंजन हड्डियों के ढाँचे पर लगे रहते हैं। यह ढाँचा मोटर-साइकिल के ढाँचे की तरह दिखाई नहीं देता, वह तो खाल और मांस के भीतर छिपा रहता है। हाँ, एक्स-रे द्वारा लिये गये शरीर के चित्र में आप उसे भली भाँति देख सकते हैं। हड्डियों से सम्बन्धित अध्याय में हड्डियों के इस ढाँचे का एक चित्र दिया जा चुका है। उस पर दृष्टिपात करते हुए अब हम एड़ी को चलानेवाले पेशी-रूपी इंजनों के कार्य करने की रीति पर विचार करेंगे। उनमें से एक है पिंडली की मांसपेशी, जो दो भागों में विभक्त है। वह दो बेलनवाले इंजन के समान है, जैसा कि बहुधा मोटर-साइकिलों में होता है। यह इंजन एड़ी पर काम करता है (जो उसके लीवर या धुरी के मोड़ की कील है) और आगे क़दम रखते समय एड़ी को एकाएक ऊपर उठा लेता है। चित्र नं० १ में आप देख सकते हैं कि यह इंजन एड़ी से उस प्रकार की छड़ द्वारा संयुक्त नहीं होता, जैसी कि पिस्टन और उसकी धुरी की कील के बीच में रहती है। वस्तुतः मांस के इस इंजन को एड़ी से मिलानेवाली एक रस्सी होती है, जो पुट्ठा कहलाती है। यह पुट्ठा चीमड़ और लचीला होता है। इसके अतिरिक्त पेशी-इंजन खींचनेवाले होते हैं, जबकि मनुष्यकृत इंजन ढकेलनेवाले होते हैं। इसमें एक बड़ी सुविधा है। यदि हमारे शरीर में इन लचकदार इंजनों की जगह ढकेलनेवाले इंजन होते तो हम कछुए के समान कड़े और कठोर होते और अपने शरीर की सारी शोभा और कोमलता खो बैठते। इस लेख के आरंभ में दिये गये चलते हुए मनुष्य के चित्र को देखिए। उसमें आपको दिखाई देगा कि शरीर का भार बायें पैर पर है, दाहिने पैर की एड़ी उठी हुई है और वह पैर आगे बढ़कर ज़मीन पर आने ही वाला है। यदि यह चित्रित मनुष्य चल सकता तो हम देखते कि जैसे ही उसका दाहिना पैर ज़मीन पर आता वैसे ही बायीं पिंडली के पेशी-इंजन काम करने लगते। साथ ही बायीं एड़ी उठ जाती और शरीर का बोझ आगे बढ़ जाता। एड़ी के उठते ही वे तीन मांसपेशी-रूपी इंजन, जो पैर के पिछले भाग में होते हैं, चालू हो जाते; साथ ही अपने लम्बे पुट्ठों द्वारा (जो तलवे में होते हुए उँगलियों और अन्य छोटी हड्डियों तक पहुँचते हैं) पैर को स्थिर करने और ऊपर उठाने में अपनी पूरी शक्ति लगा देते। यह ध्यान देने की बात है कि टाँग की बाहरी ओर की मांसपेशियाँ भी पैर को दृढ़ रखने में सहायक होती हैं। एड़ी उठाने पर पैर का अगला भाग ज़मीन पर दब जाता है और उसकी हड्डियों पर अधिक तनाव पड़ता है। इसीलिए ये हड्डियाँ मेहराब की तरह लगी रहती हैं और छोटी-छोटी पेशियों की एक गद्दी से भरी होती हैं। यदि पैर के मांसपेशी-रूपी इंजन उन्हें ऊपर को खींचकर सहारा न देते और तलवे की गद्दी न होती तो सम्भव है
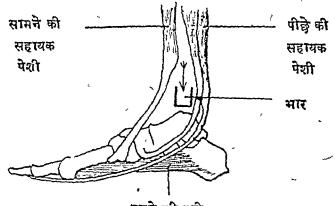
पैर के तलवे के नीचे की गद्दी और पैर का तौल सँभालनेवाली मांसपेशियाँ

कि चलने के परिश्रम से यह मेहराब झुक या टूट जाती। जब हम आगे क़दम बढ़ाते हैं तब एड़ी उठती है तथा घुटने और कूल्हे झुक जाते हैं और आगे बढ़कर जब पैर ज़मीन पर पड़ता है तब पहले एड़ी धरती को छूती है और तब उँगलियाँ। इस क्रिया में इस अंग के ५४ मांसपेशी-रूपी इंजनों में से सभी काम करते हैं—कुछ अल्प समय तक और कुछ अधिक देर तक। पर ये सभी ठीक समय पर अपना काम करते हैं और बिना किसी प्रकार का कष्ट दिये उचित चाल और बल सहित अपनी क्रिया करते हैं। इन सबका नियंत्रण करनेवाली कल कैसी अद्भुत होगी! इसका रहस्य समझने के लिए इस बात पर ध्यान दीजिए कि जब हम चार मील प्रति घंटे के हिसाब से चलते हैं तो एड़ी उठाकर ज़मीन पर रखने में केवल आधा सेकण्ड समय लगता है और उस आधे सेकण्ड में चौवनों इंजन असंख्य बार चलते, रुकते और द्रुत तथा मन्द होते हैं!

इनके अतिरिक्त चलते समय नितम्ब आदि की भी अनेक मांसपेशियाँ कूल्हे के जोड़ पर काम करती हैं। किन्तु इस समय हम इनकी ओर न ध्यान देते हुए एक ऐसे पेशी-समूह का वर्णन करेंगे जो कि पैर को झटके से नीचे गिरने से बचाता है। इन विचित्र मांसपेशियों को, जो पैर की उँगलियों तक फैली हुई हैं, आप टखनों के आगे टटोल सकते हैं। जब ये मांसपेशियाँ चालू होती हैं तो वे छोटी और मोटी होकर उस धुरी के मोड़ की कील या लीवर को खींचती हैं, जिससे कि वे लगी होती हैं। टाँग के सामने की ये मांसपेशियाँ चालू होकर पैर के अगले भाग को ज़मीन पर धीरे से लाकर आगे बढ़ने में सहायता देती हैं। अपनी इस उल्टी क्रिया से ये मांसपेशियाँ मानों साधनेवाली रस्सियों या गतिरोधक यंत्र (ब्रेक) का काम देती हैं। जब हमें किसी बहुत ढालदार पहाड़ी पर से काफी दूर तक या देरी तक उतरना पड़ता है तो हमारी टाँगों के अगले भागों में पीड़ा होने लगती है। इसका कारण यह है कि ढाल के कारण हमें पैर के अगले भाग को हरएक क़दम पर अधिक समय तक साधे रखना पड़ता है। इससे वे पेशियाँ या इंजन, जो उँगलियों को गिराते हैं, थककर दुखने लगते हैं। यही घटना उन स्त्रियों के साथ घटती है, जो पहली बार ऊँची एड़ी के जूते पहनती हैं। जब धीरे-धीरे उनकी पेशियों को इस कार्य को करने का अभ्यास हो जाता है, तब उनमें पीड़ा नहीं होती।

चि० ४—कुहनी पर बाँह को फैलाने और सिकोड़नेवाली मांसपेशियों की उसी प्रकार के काल्पनिक इंजन से तुलना

एक पैर में कितने इंजन काम आते हैं?

अभी तक हमने केवल पैर के उठने की क्रिया ही पर विचार किया है। लेकिन जब हम चलते हैं तब एक टाँग आगे

बढ़ती है और दूसरी स्थिर रहकर शरीर को साधे रहती है। उस समय स्थिर पैर के इंजन क्या करते रहते हैं? आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वे भी चालू होकर एक निपुण नट का-सा अद्भुत् कार्य क्रिया करते हैं। इस स्थिति में शरीर का सारा भाग दाहिनी जाँघ की हड्डी के ऊपरी चिकने गोले पर पड़ता है। इस गोले को साधने में वे पन्द्रह मांसपेशियाँ, जो कूल्हे के जोड़ को घेरे रहती हैं, चालू होकर एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करने लगती हैं। ये साधनेवाले इंजन कूल्हे की हड्डी से लीवर का काम लेते हैं। जैसे ही शरीर आवश्यकतानुसार ज़रा भी इधर-उधर झुकता है, उचित पेशियाँ शीघ्रता से चालू होकर उसे साध कर सीधा कर देती हैं। इन पेशियों को घुटने के जोड़ को भी साधना और वश में रखना पड़ता है।

सहज ही हमारे मन में कुछ देर बैठकर सुस्ताने की इच्छा होती है। इससे हमारी टाँगों और जाँघों की थकी हुई मांसपेशियों (अथवा आवश्यकता से अधिक गरम इंजनों) को विश्राम पाने अथवा ठंडा होकर पुनः अपनी शक्ति प्राप्त करने का सुअवसर मिल जाता है। ऐसी स्थिति में केवल बैठ जाना ही पर्याप्त नहीं होता बल्कि आगे झुककर शरीर को घुटनों पर टेकने या किसी पेड़ या दीवार के सहारे बैठ जाने में हमें अधिक आराम और आनन्द मिलता है। बहुत थक जाने पर हम ज़मीन पर लेट जाते हैं, क्योंकि इससे और भी अधिक सुख मिलता है। इससे यह सिद्ध है कि चलते समय पैरों ही की नहीं बल्कि पीठ की भी मांसपेशियाँ थकती हैं और उन्हें विश्राम पाने की आवश्यकता होती है। यह भी एक मनोरंजक बात है कि केवल खड़े रहने या चलने के

चि० ५—बाँह की द्विशिरीय पेशी या दो बेलनवाला इंजन और उसको चलानेवाले भाग
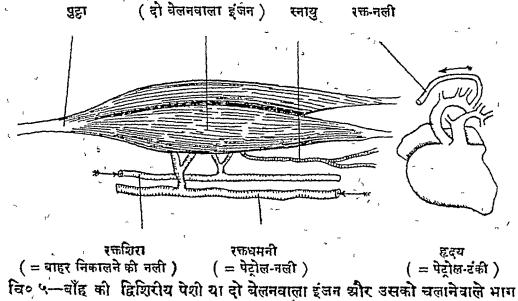
इसलिए जब एक टाँग आगे बढ़ती है तब स्थिर अंग की समस्त मांसपेशियाँ एक आवश्यक निश्चित सीमा के भीतर कार्य करने लगती हैं। इस प्रकार एक क़दम उठाने पर नीचे के अंगों के एक सौ आठ पेशी-रूपी इंजनों में से प्रायः प्रत्येक इंजन एक निश्चित तथा नियमित ढंग से आश्चर्यजनक विधि से चालू हो जाता है।

यह विचार भ्रममात्र है कि चलते समय केवल पैरों की ही मांसपेशियाँ काम करती हैं। वस्तुतः शरीर का एक और अति आवश्यक अंग (अर्थात् रीढ़ की हड्डी) की मांसपेशियाँ भी चलते समय हमें सीधा और संतुलित रखती हैं। जब हमें विशेषकर किसी गर्मी के दिन या कठिन मार्ग पर साधारण से अधिक दूरी तक चलना पड़ता है तब

समय ही पीठ की पेशियाँ काम नहीं करतीं बल्कि बैठे रहने में भी उनका उपयोग होता है। इस बात को सभी जानते हैं कि एक सा सीधा बैठकर देर तक काम करना कितनी कठिन बात है। थोड़ी ही देर में यह इच्छा होती है कि पीछे को झुककर सहारा ले लें या मेज़ पर आगे को झुककर हाथों पर सिर रख लें अथवा इधर-उधर अँगड़ाई लें। इन सब बातों में हमें आराम मिलता है। एकबारगी देर तक सीधा बैठने में हमें इतनी थकान क्यों मालूम होती है? एक पिछले लेख में बताया जा चुका है कि हमारी रीढ़ की हड्डी चौबीस गद्दीदार टुकड़ों से बनी है। चलते समय ये चौबीसों कशेरुकायें, उनके काँटे और उनसे निकली हुई बेड़ी हड्डियाँ एक-दूसरे के ऊपर सधी रहती

हैं। प्रत्येक क़दम पर शरीर का तौल बदलता रहता है। यदि इन चौबीसों जोड़ों को ठीक से साधे रहने का उपाय न हो तो कशेरुकाओं का स्तम्भ इधर-उधर गिर जाय। पेशी-रूपी इंजनों की एक बड़ी संख्या रीढ़ की हड्डी को इधर-उधर घुमा-फिराकर हमारे शरीर को सीधा रखती है। इन मांसपेशियों की सहायता के लिए बीसियों छोटे-बड़े लीवर, दाहिनी और बाँयीं बेडी हड्डियाँ, काँटे और पसलियाँ हैं। प्रत्येक कशेरुका में तीन से पाँच तक लीवर और छः कार्यकर्त्ता इंजन होते हैं, जो उनको आवश्यकतानुसार इधर-उधर आगे-पीछे झुकाते या मोड़ते रहते हैं। इस प्रकार रीढ़ की हड्डी का संतुलन रखने के हेतु एक सौ चवालिस इंजनों का जटिल यन्त्रजाल हमारे शरीर में है, जिसका हम प्रत्येक क़दम पर प्रयोग करते हैं!

हमने पैरों में एक सौ आठ और पीठ में एक सौ चवालिस मांसपेशी-रूपी इंजन गिने! किन्तु चलने में केवल इतने ही प्रयुक्त नहीं होते। सिर को सबसे ऊपर की कशेरुका पर संतुलित रखने के लिए बीस और मांस-पेशियों की आवश्यकता पड़ती है। देर तक चलने, खड़े होने, या बैठने पर हमारे कंधे दुखने लगते हैं और चलते समय बाँहें हिलने लगती हैं। उस समय उनकी मांसपेशियाँ ही उन्हें सीधा रखती हैं।

चि० ६—तने हुए एवं संकुचित मांस-बेलन

नवशिशु को चलना सीखने में क्यों देर लगती है?

इन सब बातों से आप समझ सकते हैं कि वास्तव में हमारा शरीर एक कैसा गूढ़ यंत्र (मशीन) है। यही कारण है कि छोटे शिशुओं को चलना सीखने में काफी समय लगता है। जब तक वे लगभग तीन सौ इंजनों के इस यंत्रजाल का समाधान कर उसे वश में नहीं कर पाते, तब तक ठीक से नहीं चल सकते। हम एक लम्बी यात्रा में उतना क्यों नहीं थकते, जितना कि आधा घंटे ध्यान से सीधे खड़े होने अथवा बैठने में? इसका कारण यह है कि खड़े रहने, दौड़ने, कूदने या इधर-इधर घूमने में हमारी सभी मांसपेशियाँ एक साथ काम नहीं करतीं। यदि एक काम करती है तो दूसरी उसी बीच सुस्ताती है। पर जब हम ध्यान से खड़े रहते या सीधे बैठते हैं तब मांसपेशियाँ बारी-बारी से काम में नहीं आतीं—उस समय ऐसा नहीं होता कि एक काम करे और दूसरी आराम। क़वायद करानेवाला अध्यापक इस बात को भली-भाँति जानता है, इसीलिए थोड़ी-थोड़ी देर में वह विद्यार्थियों और सिपाहियों को 'स्टैंड एट ईज़' का आदेश देता है।

हमने यह तो देख लिया कि मोटर साइकिल और मानवीय शरीर दोनों में ही चलने की शक्ति है और दोनों में लीवर या धुरी पर चलनेवाले इंजन हैं, जिनसे कल या मशीन आगे-पीछे या इधर-उधर चलती है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि इन दोनों में मोटर-साइकिल की रचना साधारण है, कारण उसमें ३०० के स्थान पर केवल एक ही इंजन है। यदि हम अपने शरीर के इन सब इंजनों को इकट्ठा तौल तो उनका बोझ लगभग २८ सेर होगा। इसके विपरीत साधारण मोटर-साइकिल के एक इंजन का भी तौल लगभग इतना ही होता है। किन्तु साइकिल के उस एक इंजन की शक्ति कहीं अधिक होती है, कारण तेज से तेज़ दौड़ने-वाले व्यक्ति की अपेक्षा उसकी गति चौगुनी-पाँच गुनी तेज़ होती है। वह अकेले इतना बोझा खींच सकती है, जिसे बीस मनुष्य भी कठिनाई से खींच सकें। तब प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं हमारा शरीर भी एक ही इंजन लगाकर पहियों पर चलाया गया? इसका उत्तर यह है कि हमें लचीले और अधिक संख्या में इंजनों की आवश्यकता है। यह सम्भव नहीं कि हमारे शरीर का ढाँचा मोटर-साइकिल के ढाँचे के समान कड़ा हो! रही पहियों की बात सो वास्तव में मनुष्य का शरीर भी एक प्रकार के पहियों पर ही सुसज्जित है। अंतर यही है कि ये एक विचित्र प्रकार के पहिये हैं, जिनमें दो ही आरे (या टाँगें) हैं और जिनके नाह कूल्हे के जोड़
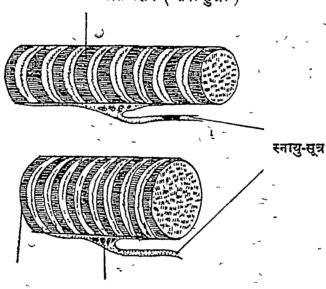
हैं, तथा जिनके घेरे पग हैं। मोटर-साइकिल के पहिये के आरे गोलाई में जड़े होते हैं और क्रमानुसार वे ज़मीन पर आते हैं। इसके विपरीत हमारे दोनों आरे अलग-अलग चलते हैं—पहले एक आगे बढ़ता है तब दूसरा। इस तरह उनसे बारहों आरों का काम निकल आता है। कह सकते हैं कि वास्तव में चक्र के रूप में लगी हुई कई टाँगों और पगों का ही नाम पहिया है। बहुत से आरोंवाला मोटर-साइकिल का पहिया निःसंदेह एक बहुत अद्भुत आविष्कार है। किन्तु दो गतिशील आरोंवाला मानवीय शरीर का पहिया उससे भी अधिक आश्चर्यजनक है! मोटर-साइकिल तेज़ तो अवश्य जा सकती है, किन्तु वह मनुष्यों की तरह हर प्रकार के प्रदेश में नहीं जा सकती। खाइयाँ कूदना, झाड़ियाँ पार करना, पेड़ों पर चढ़ना, इत्यादि मनुष्य के शरीर-यंत्र में लगे हुए पैर रूपी अद्भुत पहियों के ही बस का काम है।

मांसपेशी-रूपी इंजन कैसे काम करते हैं?

आइये, अब हम देखें कि मांसपेशी-रूपी इंजन कैसे काम करते हैं। उदाहरणार्थ, दाहिनी बाँह के सामने की द्विशिरीय पेशी को लीजिये। यदि आप उसको बाँयें हाथ से जोर से दबाकर मोड़ें और दाहिने हाथ को सिर की ओर उठायें तो अनुभव करेंगे कि वह पहले की अपेक्षा अधिक मोटी, कड़ी और छोटी हो गयी। यही दशा प्रत्येक मांस-पेशी की होती है जब कि वह चालू की जाती है। यह मांस-पेशी चित्र नं० ४-५ में प्रदर्शित है। उसके ऊपर के दो छोर कंधे की हड्डी से लगे होते हैं और निचला छोर—पुट्ठा या पिस्टन की छड़—मुख्यत: कोहनी के आगे की बाँह की भीतरी हड्डी से लगा होता है। अगली बाँह उसके लीवर का काम देती है। इसलिए जब हम उसको चालू करते हैं तब वह अगली बाँह और हाथ को ऊपर उठा लेता है, जिससे कि कुहनी मुड़ जाती है। इसके अतिरिक्त बाँह की भीतरी हड्डी को घुमाकर वह हथेली को नीचे-ऊपर भी मोड़ सकता है।

प्रत्येक इंजन के पिस्टन की फेंक (स्ट्रोक) का विस्तार निश्चित है, किन्तु द्विशिरीय जैसे मांसपेशी-इंजनों में यह बंधन नहीं होता। हम उस पेशी से बाँह को पूरी या केवल इंच के बारहवें भाग ही तक मोड़ तथा फैला सकते हैं। इसलिए यांत्रिक इंजनों से वह उत्तम है। हमारे इंजन में एक और रोचक तथा उत्तम विशेषता है। मोटर का इंजन तेज़ी से चलाने पर बहुत गरम हो जाता है और ऐसा बिगड़ जाता है कि फिर उस समय काम नहीं देता। अतः बेलन को बहुत गरम होने से रोकने के लिए उसके चारों ओर ठंडे पानी या ताज़ी हवा को बहाने का प्रबंध किया जाता है। इस पर भी उनमें से एक भी उपाय पूर्ण रूप से ठीक नहीं उतरता। शीतकाल या वर्षा ऋतु में प्रायः भीग जाने पर मोटर का इंजन इतना ठंडा हो जाता है कि पेट्रोल ठीक से जल ही नहीं पाता और मोटर-साइकिल या कार आसानी से चल नहीं पाती। ऐसी दशा में पिस्टन को गरम करने के हेतु कार या साइकिल को कुछ दूर तक ढकिलवाना पड़ता है। इसीलिए चतुर चालक वर्षा या शीतकाल में जब मोटर खड़ी करता है तब इंजन को गरम कपड़े से ढक देता है। अभी तक कोई ऐसा उपाय नहीं ढूँढ़ा जा सका है, जिससे कि धातु का इंजन पर्याप्त ताप पर रक्खा जा सके। परन्तु प्रकृति ने इस समस्या पर भी विजय पा ली है। साधारणतया जीवित शरीर का ताप लगभग ९८°फ़० ही रहता है, चाहे हम लेटे या बैठे रहें, खड़े हों या दौड़ते रहें, अथवा गरम प्रदेश में हों या ठंडे में। इसीलिए मांसपेशी-रूपी इंजन कभी अत्यधिक गरम नहीं हो पाते और कदाचित् ही अति शीतल होते हैं।
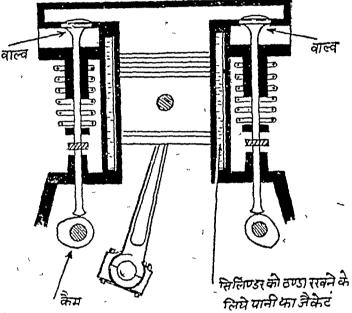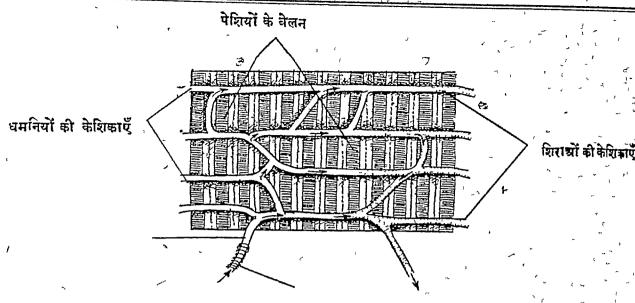
चि० ७—मोटर के इंजन के सिलिण्डर या बेलन को ठंडा रखने की योजना

यह प्रबंध बेलन के आसपास एक खोखली जगह में पानी प्रवाहित करके किया जाता है, जो कि बेलन में उत्पन्न गरमी को खींचता रहता है।

चि० ८—मांस-वेलनों में केशिकाओं का फैलाव

पिछले पृष्ठ पर हमने मोटर-इंजन के सिलिण्डर अथवा वेलन को पानी की मदद से ठंडा रखने की व्यवस्था का एक मानचित्र दिया है। आप पूछ सकते हैं कि हमारे अपने शरीर के मांसपेशी-रूपी इंजनों के वेलनों का भी ताप इसी प्रकार संतुलित बनाए रखने की क्या व्यवस्था प्रकृति ने की है? इसका उत्तर यह है कि अवश्य ही इन पेशी-रूपी इंजनों के ताप-संतुलन की भी एक अति सुंदर व्यवस्था हमारे शरीर में विद्यमान है और हर दृष्टि से वह व्यवस्था मनुष्यकृत इंजनों की उक्त प्रकार की व्यवस्था से कहीं श्रेष्ठतर है। यह व्यवस्था हमारे शरीर भर में विस्तृत धमनियों और शिराओं की अनगिनत महीन केशिकाओं के जंजाल के रूप में की गयी है, जिनके एक अंश का मानचित्र इस चित्र में दिग्दर्शित किया गया है। यद्यपि अब तक हम इस लेख में समूची पेशी की इंजन के वेलन से उपमा देते आये हैं, परन्तु सच पूछिये तो किसी भी पेशी को बनानेवाले अनगिनत सूत्रों में से प्रत्येक एक वेलन है। ये अगणित वेलन अग़ल-बग़ल क़तारों में छोर से छोर मिलाये सजे रहते हैं तथा सब एक ही पिस्टन या पुट्ठे पर काम करते हैं। इन वेलनों में सूक्ष्म केशिकाओं द्वारा जो रक्त-प्रवाह होता रहता है, वही उनका ताप उचित बनाये रखता है।

पेशियों का ताप किस प्रकार ठीक रखा जाता है?

हमारे पास पेशियों के ताप को ठीक रखनेवाली बड़ी अद्भुत् कला है। यद्यपि अभी तक हम द्विशिरीय पेशी को दो वेलनवाले इंजन की उपमा देते आये हैं, परन्तु वास्तव में उसको बनानेवाले अनगिनत सूत्रों में से हरएक एक वेलन है। ये अति सूक्ष्म हज़ारों वेलन अगल-बगल क़तारों में छोर से छोर मिलाये सजे रहते हैं, तथा सब एक ही पिस्टन तथा पुट्ठे पर काम करते हैं। यह स्पष्ट है कि इन वेलनों में कोई दहन कोष्ठ (या कार्बुरेटर) नहीं होता। उसके बदले इनमें एक अर्धतरल सजीव वस्तु भरी होती है। यद्यपि उनमें धातु के इंजनों के वेलनों की-सी कड़ी दीवाल नहीं होती, तथापि निःसन्देह उनमें दहन होता रहता है। इन वेलनों में जिस भाँति रक्त-प्रवाह होता है, उसे चित्र नं० ८ में दिखाया गया है। रक्त की सदा बहनेवाली यह धारा ही प्रत्येक वेलन का उचित ताप बनाये रखती है। जैसे ही वे उस ताप से अधिक गरम होते हैं, रक्त उन्हें ठंडा कर देता है। जब वे उससे अधिक ठंडे हो जाते हैं तो उसी से गरम भी हो जाते हैं। जैसा कि चित्र नं० ६ (संकुचित या फैली हुई मांसपेशी के चित्र) में दिखाया गया है, गद्दी में स्नायु सूत्र समाप्त होते हैं। ये ही नाड़ी-कोष संदेश द्वारा उपर्युक्त दहन-क्रिया को मन्द या तीव्र करते हैं।

अंत में यह याद रखना चाहिये कि हमारे अति सूक्ष्म मांसपेशी-वेलनों में रक्त-केशिकायें, नाड़ी-सूत्र और नाड़ी-कोष की गद्दियों का होना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उन्हें उचित स्थिति में रखना भी अति आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कि हम उनसे अच्छी तरह परिश्रम कराते रहें। इसीलिए नियमानुसार प्रतिदिन व्यायाम करना हमारे लिए आवश्यक है। मांसपेशी-रूपी इंजन के अतिरिक्त दुनिया में अन्य कोई ऐसा इंजन नहीं जो संपूर्णतया काम लिये जाने पर और भी अधिक उत्तम और बलवान होता चला जाय।

बुद्धि
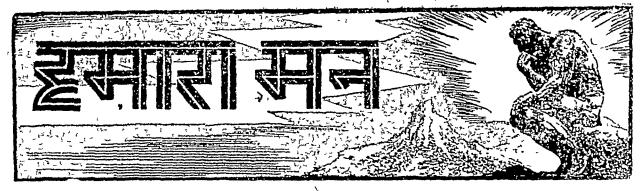
थॉर्नडाइक ने एक बिल्ली को एक विशेष प्रकार के पिंजड़े में बंद कर दिया। पिंजड़े की खूबी यह थी कि उसमें एक जगह एक हुड़का लगा हुआ था, जिसे दबाने से उसका दरवाजा खुल सकता था। पिंजड़े में बंद होने के बाद स्वभावतः बिल्ली बाहर निकलने को व्याकुल हो गई और उसने हर सूराख़ पर अपने पंजे तथा मुँह मारना शुरू किया। आख़िर संयोग से पूर्वोक्त हुड़के पर उसका पैर पड़ गया और फौरन् ही दरवाज़ा खुल गया, जिससे कि बिल्ली बाहर आ गई।

अब दूसरी बार उसे फिर उसी पिंजड़े में बंद कर दिया गया। देखना यह था कि क्या बिल्ली अब बिना इधर-उधर कोशिश किए सीधे उस हुड़के की ओर ही जाती है कि नहीं?

बिल्ली ने इस बार भी फिर इधर-उधर पैर मारना आरंभ किया। उसके आचरण से यह पता नहीं चलता था कि वह किसी निर्दिष्ट स्थान की खोज में हो। इस बार भी संयोग से ही उसका पाँव हुड़के पर पड़ा और वह पिंजड़े से बाहर आ पाई।

कई बार यही क्रम चलता रहा। लेकिन अंत में उस बिल्ली को ऐसा कुछ अभ्यास हो गया कि जैसे ही पिंजड़े में बंद किया जाता वह फौरन् हुड़के की ओर चली जाने लगी। इससे ऐसा ज्ञात हुआ कि हुड़के और दरवाज़े का आपसी संबंध उसकी समझ में आ गया था।

जानवरों की बुद्धि-परीक्षा विषयक थार्नडाइक का प्रसिद्ध प्रयोग
(ऊपर) पिंजड़े में बंद कर दिये जाने पर बिल्ली बाहर निकलने के लिए इधर उधर पंजे मार रही है। (नीचे) कई बार के प्रयोग के उपरान्त हुड़के को दबाकर दरवाज़ा खोलने का अभ्यास उसे हो गया है।

उपर्युक्त प्रयोग से थॉर्नडाइक ने यह परिणाम निकाला कि जानवर जो कुछ भी सीखते हैं, वह सब चेष्टा-और-भूल (Trial and Error) की ही विधि से सीखते हैं। वे बिना किसी विशेष उद्देश्य के कोशिशें किए जाते हैं और अनेकों भूलें करने के बाद कभी-कभी यह होता है कि वे अपनी समस्या का सही समाधान पा लेते हैं। संयोजन के नियमानुसार जिन चेष्टाओं से उन्हें असफलता मिलती है वे आप से आप ही छूटती जाती हैं, और जिन चेष्टाओं से सफलता प्राप्त होती है, वे उनके मस्तिष्क में बैठ जाती हैं।

काफ़ी दिनों तक जानवरों की शिक्षा के संबंध में थॉर्नडाइक का यही सिद्धान्त माना जाता रहा। आचरणवादी मनोविदों ने भी अपने विचारों में बहुत कुछ इसी सिद्धान्त की पुष्टि की। उनके लिए तो आदमी भी केवल उद्दीपन (Stimulus) और प्रतिवेदन (Response) का ही समूह है। युगों तक एक प्रकार के उद्दीपन का एक प्रकार का ही प्रतिवेदन होने के कारण प्रवृत्यात्मक क्रियाएँ एक विशेष ढंग से ही होती चली आई हैं। उनके अनुसार नई सीख भी नये उद्दीपनों के लिए बने हुए सापेक्ष
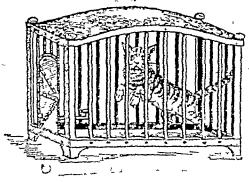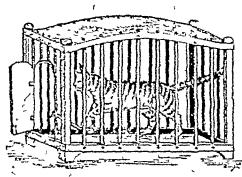
(Conditioned) प्रतिवर्त्त (Reflex) मात्र हैं। स्पष्ट है कि चेष्टावादियों का यह सिद्धान्त आदमी अथवा जानवरों में किसी प्रकार की स्वाधीन मानसिक शक्ति का होना नहीं मानता।

गेस्टाल्ट संप्रदाय के मनोविदों ने थॉर्नडाइक के संयोजन-वाद और वाटसन आदि के उद्दीपन-प्रतिवेदन-वाद को चुनौती दी और उन्होंने दिखलाया कि मस्तिष्क बिल्कुल अक्रिय नहीं, प्रत्युत उसके भीतर काफी सक्रियता है।

कॉयलर नामक एक जर्मन मनोवैज्ञानिक ने कुछ बनमानुषों अर्थात् मानवसम बन्दरों पर प्रयोग किए। प्रथम महायुद्ध के पूर्व जर्मन सरकार ने कैनरी द्वीप-समूह में बन्दरों का एक केन्द्र खोला था, जहाँ १९१३ में कॉयलर को शिम्पैंज़ियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए भेजा गया। इसके बाद ही महायुद्ध आरंभ हो गया और युद्ध की अवधि भर कॉयलर वहाँ से वापस नहीं आ सका। इस प्रकार उसे काफी समय मिला और विस्तार से उसने अपना वह अध्ययन-कार्य पूरा किया। उसने अपने सामने यह समस्या रखी कि जानवरों में सबसे अधिक बुद्धिमान समझा जानेवाला यह जीवधारी भी भला सच ही कुछ 'बुद्धि' रखता है या नहीं? इसकी जाँच के लिए उसने कई तरह के परीक्षण किए। उसके हर परीक्षण का ढंग था शिम्पैंज़ी की निगाह के सामने कुछ खाद्य सामग्री रखना, जिसे पाने की उसके मन में इच्छा हो। लेकिन इस खाद्य सामग्री और बंदर के बीच कोई न कोई बाधा अवश्य होती थी। इस बाधा को पार करके ही वह ईप्सित पदार्थ पा सकता था। उदाहरणार्थ उसने पिंजड़े के बाहर केले रख दिए, जो शिम्पैंज़ी के हाथ की पहुँच के बाहर थे। वहीं पर एक छड़ी भी रख दी। इस छड़ी द्वारा केलों को अपनी ओर खींच लिया जा सकता था। पहले तो शिम्पैंज़ी ने कुछ व्यर्थ प्रयास किए, और तब मानों सहसा उसे 'सूझ' (insight) आ गई हो, उसने छड़ी उठाई और उसकी मदद से केलों को अपनी ओर खींच लिया। इसके बाद जब भी ठीक यही परिस्थिति सामने होती, बिना हिचक के इसी प्रकार का आचरण करना उसके लिए स्वाभाविक हो गया। कॉयलर धीरे-धीरे परिस्थितियों की उलझनों को अधिकाधिक बढ़ाता गया, यहाँ तक कि सुलतान नामक एक शिम्पैंज़ी ने तो दो छोटी छड़ियों को आपस में जोड़कर केलों तक पहुँचाना शुरू किया।

इस शिम्पैंज़ी की बुद्धि-परीक्षा के लिए पिंजड़े से बाहर उसकी हाथ की पहुँच से परे कुछ केले रख दिये गये। पिंजड़े के भीतर एक छड़ी उसकी पहुँच से परे रख दी गई। कोने में लकड़ी का एक बक्स रख दिया गया। चतुर शिम्पैंज़ी ने बिना किसी अनुभव के इस परिस्थिति की विशेषता को ताड़ लिया और उसने बक्से को ढकेलकर तथा उस पर चढ़कर छड़ी उतार ली। तदुपरांत उसकी मदद से बाहर के केलों को अपनी ओर खींच लिया!

जहाँ थॉर्नडाइक ने अपने प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला था कि जानवर अंधे की तरह अपनी विविध चेष्टाएँ करता है और भूलें करते-करते वास्तविक स्थान पर पहुँचता है, वहाँ कॉयलर के परीक्षणों से यह नतीजा निकला कि यद्यपि आरंभ में जानवर व्यर्थ प्रयास करता है, लेकिन

जब समस्या का हल उसे सूझता है तो ऐसा लगता है जैसे उसके मन को परिस्थिति का अर्थ और कार्य-कारण का संबंध भी सूझ गया है। उस समय के उसके चेहरे के भाव आदि से भी इसी बात की पुष्टि होती है। इसके अलावा एक बार सफल होने के बाद—एक बार सम्बन्ध को समझ लेने के बाद—भूलें होने की सम्भावना भी बहुत कम हो जाती है। कॉयलर और थॉर्नडाइक के परीक्षणों मे सबसे बड़ा अंतर यह था कि जहाँ थॉर्नडाइक के जानवर संपूर्ण परिस्थिति को एक साथ देख नही सकते थे, वहाँ कॉयलर के जानवरों की दृष्टि के आगे सपूर्ण परिस्थिति रहती थी, ताकि परिस्थितियों का पारस्परिक "सबंध" समझने में उन्हे आसानी हो।

ऊपर की बातों से यह सिद्ध हुआ कि जानवरों में भी बुद्धि है, अर्थात् वस्तुओ के बीच के संबध को समझ सकने की शक्ति उनमें है। योग्यता और बुद्धि मे यह अंतर है कि जहाँ योग्यता से किसी विशेष प्रकार के काम करने की शक्ति की विद्यमानता का पता चलता है, वहाँ बुद्धि से परिस्थितियों के संबंध को परख सकने की शक्ति का बोध होता है। उदाहरणार्थ यदि हम कहे कि अमुक आदमी में मोटर चलाने की योग्यता है तो इससे ज्ञात होता है कि उसने मोटर चलाना सीखा है और चाहे तो वह उसे चला सकता है। अगर कहे कि अमुक आदमी के अंदर मोटर चला सकने की बुद्धि है तो इससे ज्ञात होता है कि वह चाहे तो मोटर चला सकता है, बशर्ते कि वह उस काम को सीख ले। इसके साथ ही अगर हम कहें कि शिम्पैंज़ी के अंदर मोटर चलाने की बुद्धि नही, तो इसका अर्थ यह होता है कि सीखने की लाख कोशिश के बावजूद भी वह मोटर नहीं चला सकता, क्योंकि मोटर चलाने में जिन क्रियाओं और समझ की आवश्यकता है, वे उसके अंदर मौजूद नहीं। योग्यता प्राप्त की जा सकती है—बशर्ते कि बुद्धि हो—जब कि बुद्धि एक स्थिर वस्तु है (यद्यपि आयु और बीमारी के कारण बुद्धि के परिमाण में भी अंतर आ जाता है।)

बीसवीं सदी के आरभ में फ्रेंच मनोविद् आल्फ्रेद बिने ने यह खोज आरंभ की कि आदमी के अंदर कितनी बुद्धि होती है, और इसे नापा भी जा सकता है कि नहीं? उसने सबसे पहले अपनी छोटी बच्चियों पर ही अपना अनुसंधान आरंभ किया। उसने बहुत-सी बुद्धि-परीक्षाएँ (Tests) तैयार कीं, जो आगे चलकर 'बिने-साइमन बुद्धि-परीक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसने बिल्कुल छोटे बच्चों से लेकर १५ वर्ष की उम्र तक के बच्चों के लिए परीक्षाएँ बनाई और देखा कि हर वर्ष के अंतर पर बच्चे के ज्ञान और बुद्धि में अंतर पड़ता है। लेकिन बुद्धि नामक इस वस्तु को नापने के लिए एक मापदड भी तो चाहिए! इस सिलसिले मे उसने मानसिक आयु का अपना सिद्धान्त निर्मित किया।

कुछ ऐसी परीक्षाएँ बनाई गईं, जिन्हें साधारणतया ३ वर्ष के बच्चे हल कर सकते थे। ३ वर्ष के बच्चों के लिए तो ये परीक्षाएँ ठीक थीं, क्योंकि इन्हे हल करने में उन्हें कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ता था। लेकिन ४ वर्ष के बच्चों के लिए ये बहुत आसान थी। इसलिए ४ वर्ष के बच्चों के लिए इनसे कुछ कठिन परीक्षाएँ तैयार की गई, जो फिर ५ वर्ष के बच्चों के लिए बहुत आसान होती थीं। इसी तरह १५ वर्ष की उम्र तक के लिए परीक्षाओं का निर्माण किया गया। इसके बाद पाया गया कि आयु का मान १५ वें साल तक तो हर वर्ष बढ़ता जाता है, लेकिन इसके बाद बढ़ता नहीं। इसलिए १५ वर्ष को ही अन्तिम मानसिक आयु का मान रखा गया। मानसिक आयु और ऐतिहासिक आयु में यह अंतर है कि चाहे आप जन्म के अनुसार अभी २० वर्ष के हों, लेकिन मानसिक परीक्षा में आपकी (मानसिक) उम्र १२ वर्ष की ही ठहरती हो, या आपकी ऐतिहासिक उम्र १० वर्ष की ही हो, लेकिन आपकी मानसिक आयु १५ वर्ष की हो!

इसी के आधार पर बुद्धि का मापदंड भी निर्धारित किया गया। मानसिक आयु किसी व्यक्ति की बुद्धि की सतह का माप है। उदाहरणार्थ किसी ५ वर्ष के बच्चे की बुद्धि ८ वर्ष के औसत बच्चे जितनी हो सकती है। इससे यह तो पता चल गया कि उसकी बुद्धि कितनी है, लेकिन उसकी बुद्धिमत्ता (Brightness) का पता नही चलता। यानी १२ वर्ष के बच्चे की मानसिक आयु अगर ८ वर्ष की है तो वह बोदा है, लेकिन अगर यही मानसिक आयु किसी ५ वर्ष के बच्चे की है तो वह प्रखर बुद्धिवाला है। बुद्धि की इस प्रखरता का मान बुद्ध्यङ्क (Intelligence Quotient—IQ) है। IQ जानने का एक सुविधाजनक तरीका यह है:—

$$IQ = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{ऐतिहासिक आयु}}$$

मानसिक आयु अगर ८ वर्ष हो और ऐतिहासिक आयु १२ वर्ष, तो IQ $\frac{८}{१२}$ यानी ·६७ है। दूसरे बच्चे की मानसिक

आयु तो वही रहे, किन्तु ऐतिहासिक आयु यदि ५ साल हो तो उसकी प्रखरता बहुत अधिक है। उसका बुद्ध्यंक होगा $\frac{8}{5}$ यानी १·६० । एक औसत बच्चे का IQ १·०० (या १००) समझा जाता है। इससे नीचे IQ वाले मन्दबुद्धि और ऊपरवाले तीव्रबुद्धि होंगे। आम तौर पर दशमलव को हटाकर १०० के ऊपर-नीचे ही IQ लिखा जाता है—

$$\text{अर्थात् IQ} = \frac{\text{मानसिक आयु} \times 100}{\text{ऐतिहासिक आयु}}$$

जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, उम्र के साथ उसकी बुद्धि तो बढ़ती है किन्तु उसका बुद्ध्यङ्क का बढ़ना आवश्यक नहीं होता। अगर एक बच्चे का बुद्ध्यङ्क १०० है, और जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है, यह १०० ही रहता है तो इसका अर्थ यह है कि वह एक साधारण बच्चे की तरह ही विकसित हो रहा है। अगर यह १२५ है, और आगे चलकर भी १२५ ही रहता है तो इसका अर्थ है कि वह साधारण से २५ प्रतिशत तेज़ी से विकास पा रहा है।

ये मानसिक परीक्षाएँ किस तरह की होती हैं, इसका एक साधारण-सा ज्ञान निम्नलिखित उदाहरणों से हो सकता है। ये परीक्षाएँ मुख्यतः बिने से ली गई हैं, यद्यपि इनमें कई और साधनों की भी मदद ली गई है:—

४ मास की सीमा.—पीठ के बल ३० सेकंड तक बैठना।

६ मास की सीमाः—अपनी पहुँच के भीतर किसी चमकीले पदार्थ के लटकाए जाने पर उसे पकड़ने को हाथ बढ़ाना।

१२ मास की सीमाः—परीक्षक अगर सामने घंटी बजाए तो वैसा ही करना।

२ वर्षः—काग़ज़ में लिपटी मिठाई (या चाकलेट) दिए जाने पर काग़ज़ हटाकर मुँह में लेना।

२½ वर्षः—५ तरह के खिलौने दिखलाने पर कम-से-कम ४ के नाम सही बताना।

३ वर्ष.—२ मिनट के अंदर धागे में ४ मनके पिरोना।

६ वर्ष.—किसी चेहरे की तस्वीर में अगर नाक या एक आँख छूटी हुई हो तो उसे बताना। (इस तरह की ४ तस्वीरें दिखलाई जाती हैं, जिनमें कम-से-कम ३ का उत्तर सही होना चाहिए।)

६ वर्ष.—लकड़ी और कोयले में क्या समानता और क्या असमानता है, यह बताना। (परीक्षक इस तरह के ४ जोड़ों के नाम लेता है, जिनमें सभी के संबंध में उत्तर देना पड़ता है।)

१२ वर्षः—किसी घटना-संबंधी चित्र का पूरा वर्णन करना।

१४ वर्षः—किसी चित्र में किसी असंभव पहलू को बता सकना।

बड़ों के लिए चार सीमाएँ हैं—४५-शब्दों की सूची से २०, २३, २६ और ३० शब्दों की परिभाषाएँ बताना।

प्रश्न हो सकता है कि किसी में ५ में से ४, किसी में ४ में से ४ आदि के सही उत्तर बताने संबंधी नियम क्यों? इसका कारण यह है कि हज़ारों परीक्षाएँ करके ये नियम बनाए गए हैं।

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि मानसिक परीक्षाओं का मान निश्चित करने के लिए सर्वप्रथम फ्रांस और तब अमेरिका में काफ़ी व्यक्तियों पर प्रयोग किए गए। भारतवर्ष में सर्वप्रथम कलकत्ता-यूनिवर्सिटी के मनोविज्ञान-विभाग ने इन परीक्षाओं के मान निर्धारित करने के लिए एक अलग विभाग खोला और कई प्रयोग किए। टरमैन के आधार पर यहाँ परीक्षाएँ आरंभ की गई और स्थानीय परिस्थितियों तथा मानसिक गठन आदि के अनुकूल बुद्धि-परीक्षाओं में सुधार किए गए। अभी हाल में पटना-विश्वविद्यालय ने भी बिहार में इसी तरह से परीक्षाओं के मान ठीक करने के लिए काफी ख़र्च करके एक मनोविज्ञान-विभाग खोला है। लेकिन पिछले तीन वर्षों की अवधि में यह विभाग कुछ विशेष प्रगति इस दिशा में नहीं कर सका है। कलकत्ते के मान भी अभी तक मान्य नहीं हो सके हैं और प्रयोग जारी हैं, यद्यपि यह ठीक है कि कलकत्तेवालों ने पटनेवालों से बहुत अधिक परिश्रम करके सामग्री (data) एकत्र की है। प्रसन्नता इस बात की है कि हमारे देश में भी कुछ जगहों में इस दिशा में प्रयास हो रहे हैं। अमेरिका एवं कतिपय यूरोपियन देशों में तो स्कूलों और सेना आदि में बुद्धि-परीक्षाएँ अनिवार्य हो गई हैं।

१९१७-१८ में अमेरिका के मनोविदों ने सेना की बुद्धि-परीक्षा के लिए गोष्ठी-परीक्षा (Group Test) से काम लिया। इसमें एक से अधिक व्यक्तियों को एक साथ ही कोई प्रश्न दिया जाता है, और एक अवधि (जैसे १ मिनट आदि) के अंदर उसका उत्तर देना पड़ता है। ये समस्याएँ उत्तरोत्तर कठिन होती जाती हैं।

उदाहरण :

"नीचे दिए गए अक्षरों को देखो। जैसे ही मैं कहूँ 'जाओ', वैसे ही पंक्ति के अन्तिम अक्षर को काट दो। प के बाद के दो अक्षरों के नीचे रेखाएँ खींच दो और क के चारों

और वृत्त बना दो—क प ट त स ह ल य न भ व छ ढ श श्र र (अवधि १० सेकंड)।"

इस तरह की परीक्षाओं को 'आर्मी अल्फा' (Army Alpha) का नाम दिया गया। इसी तरह की दूसरी एक परीक्षा का नाम 'आर्मी बीटा' (Army Beta) पड़ा, जो निरक्षर तथा उन लोगों के लिए थी जो कि अंग्रेज़ी नहीं जानते थे।

बुद्धि - परीक्षा - विषयक समस्याओं में चित्रांकन भी सम्मिलित है। इस प्रकार की परीक्षा में बच्चे को एक आदमी का चित्र बनाने को कहा जाता है। इससे बुद्धि का कैसे माप किया जा सकता है, इसका अनुमान इसी पृष्ठ के चित्र से आप कर सकते हैं। इस चित्र में गुडएनफ के अनुसार बच्चों द्वारा बनाए गए आदमी के ६ चित्र हैं। इन चित्रों के आधार उनके निर्माताओं की जो मानसिक आयु स्थिर की गई तथा उन्हें परीक्षा में जितने नंबर दिये गये, वे नीचे सूचित किये गये हैं :—

सं० १—नंबर ०। मानसिक आयु ३ वर्ष से कम।

सं० २—नंबर ४ (विशेषतायें—सिर, पैर, हाथ और आँख)। मा० आ० ४ वर्ष।

सं० ३—नंबर ८ (विशेषतायें—सिर, सूत्र पैर, धड़; धड़ कम चौड़ा ज्यादा लम्बा, आँखें, पुतलियाँ, मुँह, ललाट)। मा० आ० ५ वर्ष।

सं० ४—नंबर १४ (विशेषतायें—सिर, पैर, धड़; धड़ कम चौड़ा लम्बा अधिक; हाथ-पैर धड़ से लगे हुए; आँखें, नाक, मुँह, कान, हाथ; धड़ के अनुपात से पैर; कुछ कपड़ा; रेखाएँ दृढ़)। मा० आ० ६½ वर्ष।

सं० ५—नंबर २६। (ऊपर की विशेषताओं के अलावा कंधे, गर्दन; गर्दन सिर से लगी हुई; बाल, अपारदर्शी कपड़े, उँगलियाँ, अँगूठे; हाथों और पाँवों की मोटाई भी दिखलाई गई है; एड़ियाँ और सिर अनुपात से हैं; भौंहें भी हैं)। मा० आ० ८½ वर्ष।

सं० ६—नंबर ४४। (ऊपर की अधिकतर बातों के अलावा ओंठ, नथुने, केहुनी, घुटने, निकली हुई ठुड्ढी, बगल से आँख (४ नंबर); ठीक स्थान और अनुपात से कान; ठीक स्थान पर लगे हुए हाथ; अपारदर्शी और अच्छी तरह दिखलाए गए बाल, सिर का सही अनुपात; हाथ, पाँव, रेखाएँ दुरुस्त (३ नंबर); बग़ैर किसी तरह की गड़बड़ी के संपूर्ण पोशाक (५ नंबर)। मा० आ० १३ वर्ष और ऊपर।

गुडएनफ़ के अनुसार बच्चों द्वारा बनाये गये आदमी के छः चित्र, जिनसे उनकी बुद्धि का अनुमान किया जा सकता है और उनकी मानसिक आयु का पता लगाया जा सकता है।

यह याद रखने की बात है कि बुद्धि-परीक्षा के लिए मनोविद् के लिए काफी शिक्षा की आवश्यकता होती है, ताकि पात्र (जिसकी परीक्षा की जा रही हो) की सहानुभूति और उसका सक्रिय सहयोग वह प्राप्त कर सके, अन्यथा परीक्षा असफल ही रहेगी। परीक्षा में नंबर आदि देने में भी उसे काफ़ी अनुभव होना चाहिए।

इनके अलावा विशेष योग्यता-संबंधी परीक्षाएँ भी होती हैं, जिनसे यह जाना जा सकता है कि पात्र का किस दिशा में और किस विषय में अधिक झुकाव तथा प्रतिभा है। व्यक्तित्व-परीक्षा इसलिए की जाती है कि उसके चरित्र को जानकर ही भविष्य में उसे पेशा चुनने में सहायता दी जा सके।

बुद्धि-परीक्षाओं के जाल में पड़कर शायद आप भूल चुके हों कि वास्तव में बुद्धि है क्या! एक बार फिर बता दें कि बुद्धि मनुष्य (या जानवर) की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह दो या अधिक वस्तुओं का आपसी संबंध समझ सके। उदाहरणार्थ यदि किसी बक्से में एक ताला पड़ा है और वहीं पर एक कंघी, एक क़लम, एक कैंची, एक कटार और एक ताली
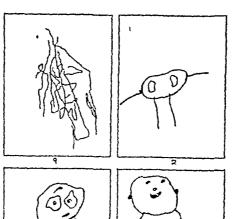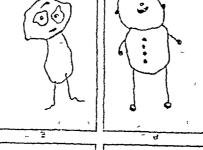
पड़ी है तो ताली से ही ताले को खोलने की चेष्टा की जाय, किसी और पदार्थ से नहीं, अर्थात् यह समझा जा सके कि इन पाँच चीज़ों में ताली ही वह चीज़ है, जिसका संबंध उस ताले के खुलने-लगने से हो सकता है; क़लम का नहीं, कंघी का नहीं, क़ैंची का नहीं और न कटार का ही। अगर एक के बजाय अनेक चाबियों का गुच्छा पड़ा हो तो ताले की बनावट और आकार आदि के अनुसार सबसे अधिक सफलतापूर्वक लग सकनेवाली चाबी का ही प्रयोग किया जाय। पहले से यह ऊँचे दर्जे की बुद्धि का द्योतक है।

गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त है कि प्रकृति को दरार (Gap) पसंद नहीं। मानव मन को भी दरार पसंद नहीं। वह आप से आप दरार को पाट देने की ओर प्रवृत्त होता है। अगर शिम्पैंज़ी के सामने एक केला है, जो उसके हाथ की पहुँच के बाहर है, और वहीं एक छड़ी भी पड़ी हुई है तो जब तक वह इस संपूर्ण वस्तुस्थिति का संबंध नहीं समझ लेता, उसके मन में एक असंतोष रहता है, आकुलता रहती है—क्योंकि वहाँ एक दरार सी पड़ी हुई है। सहसा जब छड़ी और केले का संबंध उसकी समझ में आ जाता है और वह उसकी सहायता से केले को खींचकर अपने मुँह में रख लेता है तो उसकी आकुलता समाप्त हो जाती है, वह दरार पट चुकी होती है।

थॉर्नडाइक की बिल्ली भी यद्यपि आरंभ में भूलें करती थी, लेकिन जब सहसा हुड़के (सिटकिनी) और दरवाज़े के संबंध को समझ जाती थी तो उसकी आकुलता भी समाप्त हो जाती थी, उसकी दरार भी पट जाती थी। तब वह जिस वस्तु से काम लेने लगती थी वह न केवल चेष्टा-और-भूल तथा संयोजन था, बल्कि उसके पीछे बुद्धि भी थी—भले ही वह निम्न श्रेणी की ही क्यों न रही हो!

श्रमिकों की बुद्धि-परीक्षा के कुछ प्रयोग

ज्यों-ज्यों मनोविज्ञान विषयक अनुसंधानों में विशेष प्रगति होती जा रही है त्यों-त्यों शिक्षा के साथ-साथ उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में भी पाश्चात्य देशों में सार्थकतापूर्वक उनका उपयोग किया जाने लगा है। उदाहरण के लिए, बाईं ओर कुछ ऐसी सरल परीक्षाओं के चित्र दिये जा रहे हैं जो कि वहाँ कारख़ानों में काम करनेवाले श्रमिकों की बुद्धि अथवा योग्यता की जाँच के लिए काम में लायी जाती हैं। इनसे यह पता लगाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति स्वभावतः किस प्रकार के कार्य की विशेष योग्यता रखता है। (ऊपरी चित्र) लकड़ी के रंगीन चौकोर घन टुकड़ों को विशेष पद्धति से मिलाकर सजाना। (बिचला चित्र) एक तख़्ती पर खड़ी पिनों के विविध दिशाओं में निर्दिष्ट छिद्रों में धागा पिरोना। (निचला चित्र) एक ओर की लकड़ी की खूँटियों की टोपियाँ उतारकर उसी ढंग से उन्हें दूसरी ओर की खूँटियों को पहनाना।

सभ्यताओं का उदय—(११) चीन की सभ्यता
आदिकाल से ११२३ ई० पू० तक

इस स्तंभ के अंतर्गत पिछले कुछ लेखों में मिस्र, सुमेरिया, बैबीलोनिया, असीरिया, भारत, यूनान, आदि देशों में सभ्यता के उदय और आरंभिक विकास की कुछ झाँकियाँ आपके सम्मुख प्रस्तुत की जा चुकी हैं। आइये, अब महादेश चीन के भी आदि इतिहास पर दृष्टिपात करें, जो कि संसार के प्राचीनतम देशों में से एक है और उपर्युक्त महान् राष्ट्रों की तरह सभ्यता के आदि जन्मस्थलों में जिसकी गणना की जाती है।

चीन की सभ्यता का पुरातन इतिहास अतीत की ओट में छिपा हुआ है। वहाँ के आदिम निवासी कौन थे? कहाँ से वे आए? उनकी मूल संस्कृति क्या थी? इन प्रश्नों का अधिकारपूर्ण उत्तर देना कठिन है। पेकिंग नगर के निकट पायी गयी आदि मानव की खोपड़ी* वहाँ के आदिम मनुष्यों की प्राचीनता की ओर संकेत करती है।

दक्षिण मंचूरिया तथा होनान में पुरातत्ववेत्ताओं ने प्रस्तर-युग के उत्तरकाल की संस्कृति के चिन्ह पाये हैं, जो मिस्र और सुमेरिया के उत्तर प्रस्तर-युग से एक या दो हज़ार वर्ष बाद के माने जाते हैं। कुछ विद्वानों ने इन सांस्कृतिक चिह्नों के आधार पर आदि प्रस्तरयुगीन संस्कृति से ही चीन की संस्कृति का उदय माना है, क्योंकि उनके मत से मिस्र और सुमेरिया की संस्कृति में भी इन विशिष्ट प्रवृत्तियों का समावेश था।

उस समय के अवशेषों में पत्थर के कुछ ऐसे औज़ार मिलते हैं, जो कि आकार-प्रकार में उत्तरी चीन के (आजकल के) फसल काटनेवाले लोहे के हँसियों से मिलते-जुलते हैं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि चीन की सभ्यता लगभग सात हज़ार वर्ष पुरानी है।

पुरातत्ववेत्ता एण्ड्रूज़ के मतानुसार ईसा से २०००० वर्ष पूर्व मंगोलिया में पुरातन मानव की घनी बस्ती थी। वहाँ के निवासियों के औज़ार फ्रांस के मध्य प्रस्तर-युग के औज़ारों के समान हैं।

अनुश्रुतियों और किंवदंतियों के आधार पर सरकारी इतिहास-लेखक सदियों से चीन का इतिहास लिखते आये हैं। अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा चीन के इतिहास की यह विशेषता है कि आदि काल से वर्तमान युग तक लिखित इतिहास की अटूट शृंखला वहाँ बनी हुई है। इसीलिए चीन को "इतिहासकारों का स्वर्ग" कहा गया है।

जगत् की उत्पत्ति के संबंध में पुरातन भारतीयों की भाँति चीन के निवासियों ने भी विराट् पुरुष की कल्पना की थी। आदि पुरुष पआन-गू ने १८००० वर्ष के अथक परिश्रम के बाद ठोंक-पीटकर जगत् को वर्तमान रूप में तैयार किया! उसी विराट् पुरुष की साँस से वायु और मेघ, स्वर से बिजली की कड़क, धमनियों से नदियाँ, मांस से पृथ्वी, रोम से घास और पेड़, अस्थियों से धातुएँ, पसीने से वर्षा तथा शरीर से चिपके हुए कीटों से मानव जाति की सृष्टि हुई।†

दैवी सम्राटों का राज्य-काल

पआन-गू के बाद के तीन सम्राट् दैवी सम्राट् माने गये हैं। इनमें से प्रथम ताएन-हुआंग तथा द्वितीय ति-हुआंग क्रमश: स्वर्ग और पृथ्वी के राजा माने गये हैं। तीसरा सम्राट् जन-हुआंग मनुष्यों का राजा माना गया है। इन तीनों का सम्मिलित राज्य-काल ८१६०० वर्ष समझा जाता है!

अनुश्रुतियों को यदि सत्य माना जाय तो इन्हीं सम्राटों के अथक परिश्रम और अध्यवसाय के द्वारा ही पआन-गू के 'कीट' आधुनिक मनुष्यों में बदल सके हैं! दैवी सम्राटों के पहले लोग पशुओं की भाँति कच्चा मांस खाते थे, अपने

* देखो हि० वि० भा० अंक १, पृष्ठ ७२।

† गोवेन और हाल—चीन के इतिहास की रूप-रेखा—पृष्ठ २६-२७

पिता को न जानकर केवल अपनी माँ को जानते थे और वस्त्र के स्थान पर खाल से शरीर ढकते थे।

चीन के इतिहास के दस युग

मनुष्यों के राजा जन-हुआग के राज्य-काल से चीन में दस युगों का प्रारम्भ होता है। युगों की गणना और राजाओं के नाम के अतिरिक्त इस काल का विशेष वृत्तांत अतीत के गर्त में है। चौथे, पाँचवें तथा छठे युग में विभिन्न पशु-पक्षियों को पालतू बनाने का उल्लेख है। इनमें उड़नेवाले हरिण और सींगदार घोड़े उल्लेखनीय हैं।× सातवें युग के एक शासक ने लोगों को पशुओं की खाल से शरीर ढकना सिखाया। नवें युग में सम्राट् फू-शी (२८५२ ई० पू०) का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने अपनी विश रानी की सहायता से अपनी प्रजा को लिखना, चित्र बनाना, मछलियाँ पकड़ना, पशु-पालन और रेशम के कीड़े पालकर रेशम पैदा करना सिखाया। विवाह की रीति और नियमों की उत्पत्ति भी इसी समय से मानी जाती है। वर के द्वारा भावी पत्नी को हरिण की दो खाल भेंट करने की प्रथा, जो अब भी चीन की कुछ जातियों में पायी जाती है, मूलतः फू-शी द्वारा निर्धारित विवाह-पद्धति से ही निकली है।

फू-शी का उत्तराधिकारी शन-नुंग हुआ, जिसने कृषि का प्रचलन किया और लकड़ी के हल तथा फावड़ों का आविष्कार किया। चीन की सभ्यता के इतिहास में प्रथम कृषक होने के साथ-साथ शन-नुंग सर्वप्रथम चिकित्सक भी था। जड़ी-बूटियों की औषधियों का अनुसंधान करने का श्रेय उसी को है। अपने ही पेट को प्रयोगशाला मानकर उसने विभिन्न वनस्पतियों की परीक्षा की और एक-एक दिन में सत्तर-सत्तर बार विषैली वस्तुओं का शिकार वह हुआ!

दसवें युग का आरम्भ पीत सम्राट् हुआंग-दी की कथा से होता है। हुआंग-दी ने शन-नुंग के उत्तराधिकारी को हटाकर राज्य प्राप्त किया। शक्ति के बल पर राज्य पाने पर भी हुआंग-दी तथा उसके उत्तराधिकारियों ने शक्ति की अपेक्षा सद्गुणों पर अधिक भरोसा किया। चीन की जन-श्रुति में पीत सम्राट् और सम्राज्ञी का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि समाज को सभ्यता और संस्कृति की ओर अग्रसर करने में इन दोनों का प्रमुख हाथ रहा है।

ईंटों के घर बनाना, दिशासूचक यंत्र का आविष्कार तथा प्रयोग, विभिन्न वर्गों की पहचान के लिए भाँति-भाँति के वस्त्रों का उपयोग ये सब पीत सम्राट् की ही देन हैं। उसी के राज्य-काल में (२६९७-२५९७ ई० पू०) वस्तुओं के विनिमय के माध्यम के रूप में धातु के सिक्कों का प्रचलन आरंभ हुआ। नाव और रथ भी उसी काल की उत्पत्ति हैं। बोझ ढोने के लिए पशुओं का व्यवहार भी तभी से हुआ है। सरकारी इतिहास-लेखकों की नियुक्ति सर्वप्रथम हुआंग-दी ने ही की। नक्षत्रों के अध्ययन के लिए वेधशाला की स्थापना तथा समय की माप के लिए जन्त्री भी उसी के समय में बनी। सम्राट् फू-शी द्वारा प्रचलित लिपि में सुधार भी पीत सम्राट् ने ही किया। इन सब सुधारों तथा आविष्कारों के कारण ही हुआंग-दी को "चीनी जाति का पितामह" कहा गया है।

लगभग ढाई सौ वर्ष बाद हुआग-दी के चौथे उत्तराधिकारी दी-चिह की अयोग्यता और दुर्गुणों से चिढ़कर जनता ने उसे राज्य-सिंहासन से हटा दिया और याओ को सम्राट् बनाया। याओ ने सौ वर्ष तक राज्य किया। सौजन्यता और सदाचरण इसके राज्य-काल की विशेषता थी। उसने अपने महल के फाटक पर एक नगाड़ा और एक तख्ती रख दी थी, जिससे उसकी जनता नगाड़ा बजाकर उसे फरियाद सुनने के लिए बुला सके और राज्य-प्रबंध के सुधार के लिए अपने सुझाव सूचित कर सके।

फिर भी याओ का राज्य-काल शांतिमय नहीं रहा। बाढ़ से पीड़ित जनता के कष्ट को दूर करने में ही उसका अधिकांश समय लगा। इस कार्य के लिए उसने शिवन को अपना सहायक नियुक्त किया। याओ ने अपने बाद शिवन को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया।

शिवन ने खेती के लिए जंगल साफ़ कराये। व्यापार और यात्रा के लिए सड़कें बनवाईं। शिक्षा प्रसार के लिए नियम बनाये। सामाजिक क्षेत्र में आचरण-संबंधी नियम भी उसके युग में बनने लगे। राजा और मंत्रियों के आचरण तथा व्यवहार के नियमों ने राज-काज को नैतिक जामा पहनाया। पति-पत्नी के बीच कार्यों का बँटवारा, बड़ों और छोटों के पारस्परिक व्यवहार के नियम तथा मित्रों के प्रति वफ़ादारी का सिद्धान्त शिवन ने ही प्रतिपादित किया। तौलने के बाँट और नापने के मापदंड में भी उसके राज्य-काल में सुधार हुआ।

शिवन की मृत्यु के बाद उसका सहायक यू राजा बना। राज्य की ओर से बड़े पैमाने पर भूमि की नाप-जोख का कार्य उसी के समय से आरम्भ होता है। अनुश्रुति के अनुसार यू के राज्यकाल में पहले-पहल चावल की शराब बनी और उसे भेंट की गयी। सम्राट् ने उसे भूमि पर पटककर भविष्यवाणी की कि "एक दिन इसी के कारण किसी को राज्य से हाथ धोना पड़ेगा।"

× प्रागैतिहासिक युग के जीव।

यू का सबसे बड़ा काम था नदियों को गहरा कराकर तथा पहाड़ों में झीलें बनवाकर नदियों की बाढ़ को काबू में लाना। यू के स्मारक के रूप मे चीन में अब भी एक परम्परागत कहावत प्रचलित है कि "यदि यू न होता तो हम सब मछली होते।"*

लोककथाओं के अनुसार, राजकीय नियुक्ति के द्वारा उत्तराधिकार के सिद्धान्त को न मानकर यू ने शिआह ("सभ्य") राज्य वंश की स्थापना की।

यू की सत्रहवीं पीढ़ी में सम्राट् जी-अग्वे बड़ा आततायी हुआ। एक बार ३००० व्यक्तियों को जी-अग्वे तथा उसकी रानी के मनोरंजन के लिए मदिरा के सरोवर में कूद-कर प्राण देने पड़े! शांग के राजा तांग के नेतृत्व मे जनता ने विद्रोह किया और शिआह् राज्य-वंश की समाप्ति की।

घटना-क्रम तथा समय-गणना की वास्तविकता के आधार पर भले ही सरकारी लेखकों द्वारा प्रस्तुत इतिहास पर विश्वास न किया जाय, किन्तु मानव-सभ्यता के विकास-क्रम पर उससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

दैवी सम्राटों के राज्य-वृत्तात से प्रकट है कि अन्य देशों के आदिम समाज की भाँति चीन में भी मातृप्रधान सामाजिक व्यवस्था थी। तब आग का उपयोग नहीं होता था। कच्चा मांस ही भोजन था और जानवरों की खाल वस्त्र। धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ और आदिम मनुष्य ने शिकार के अलावा पशु-पालन और मछली पकड़ना भी सीखा। उसके बाद लकड़ी के हल और फावड़े के द्वारा खेती की अवस्था आती है। चमड़े के स्थान पर कीड़े पालकर रेशम पैदा करने का प्रयत्न बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने का स्पष्ट प्रयास है।

इस समय तक आते-आते सामाजिक संगठन में भी स्थिरता के लक्षण दिखायी देते हैं। विवाह की उत्पत्ति हो चुकी थी। बहुविवाह की भी प्रथा जारी हो गयी थी। विवाह के नियम तथा संबंधित रस्म-रिवाज भी शुरू हो गये थे।

इसके बाद ही यातायात के साधनों का विकास होता है। विनिमय के माध्यम के रूप मे सिक्कों का चलन तथा तौल-नाप का आरम्भ सभ्यता की प्रगति की ओर संकेत करते हैं।

स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-निवारण के लिए औषधियों का प्रयोग, दिग्दर्शक यंत्र का आविष्कार, वेधशाला द्वारा नक्षत्रों के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न और जन्त्री का निर्माण ये सब "पआन-गू के कीटों" की विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति के परिचायक हैं।

सम्राट् शिवन के समय मे समाज-संगठन में थोड़ा परिवर्त्तन और हुआ। यह था समाज के विभिन्न अगों के पारस्परिक व्यवहार की नीति का निर्धारण। इस युग में निर्धारित राजा और मंत्री के आचरण के नियमों ने राज्य-संस्था को नीतिमय बना दिया।

इस अर्द्ध-सत्य इतिहास से पता चलता है कि चीन की कृषि-प्रधान सभ्यता का उदय पीली नदी के मैदान में हुआ। जनश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि (प्रागैतिहासिक युग के) सभी सम्राटों की राजधानी इसी मैदान में स्थित शान्सी, होनान, होपे और शातुंग के वर्तमान प्रान्तों में रही है। राज्य-प्रबन्ध की दृष्टि से राज्य का विभाजन प्रान्तों में हुआ था या नहीं, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, यद्यपि जनश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पीत सम्राट् हुआंग-दी ने राज्य का विभाजन कर दिया था।

जनश्रुति विचारों की अपेक्षा व्यक्ति के प्रति अधिक उदार होती है, अतएव सदियों की प्रगति का श्रेय कुछ व्यक्तियों को मिल जाना स्वाभाविक है। लोककथाओं के नायक हुआंग दी, याओ, शिवन, यू आदि का अस्तित्व था या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय है। सभ्यता के इतिहास में इन व्यक्तियों का अस्तित्व विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये सब व्यक्ति चीनी सभ्यता की उन्नति के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शांग राज्य-वंश

शिआह राज्य-वंश के अंतिम शासक जी-अग्वे को हटा-कर तांग ने शांग राज्य वंश की स्थापना की। चीन में ऐतिहासिक युग का प्रारम्भ इसी समय से होता है। शांग राज्य-वंश की स्थापना तथा उसके पहले की घटनाओं के समय के बारे में निश्चयात्मक राय देना कठिन है, किन्तु यह पहला राज्य-वंश था जिसके अस्तित्व के प्रमाण अस्थि-लेख तथा भग्नावशेषों के रूप में मिलते हैं।

होनान प्रान्त में स्थित अन्यांग नगर के निकट की खुदाई में प्राप्त अस्थिलेख तथा भग्नावशेष शांग-काल के समाज पर प्रकाश डालते हैं। तत्कालीन समाज की प्रत्येक समस्या के बारे में देवताओं तथा पूर्वजों से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर के रूप में ये अस्थिलेख प्राप्त हैं।

* Giles, H. A.— Gems of Chinese Literature: Prose, p 72

आखेट, मछली का शिकार तथा खेती उन दिनों जीविका-निर्वाह के मुख्य साधन थे। इन कार्यों के लिए उस समय कौन-कौन से साधन उपलब्ध थे, चीनी लिपि की विशेषता के कारण वे हमें चित्र-रूप में ज्ञात हैं। उदाहरणार्थ, इस लिपि में कटिया और जाल से मछली मारने की पूर्ण प्रक्रिया का चित्र उपलब्ध है।

शिकार खेलने के लिए बाण और भाले का व्यवहार होता था। साथ-साथ हरिण, खरगोश, बन्दर इत्यादि के लिए भी जाल लगाए जाते थे।

अस्थिलेखों में से एक में लिखा है कि "आज रात वर्षा होगी और एक हाथी पकड़ा जायगा।" इसके अलावा खंडहरों में पाये गये हाथीदाँत तथा उससे बने औज़ार भी यह सिद्ध करते हैं कि पीली नदी की घाटी में हाथी पाये जाते थे।

हाथी से उस समय काम भी लिया जाता था, क्योंकि चीनी लिपि में हाथी का चित्र ही "काम करने" का चिह्न माना जाता था। पालतू पशुओं में हाथी के अतिरिक्त गाय, बैल, भेड़, कुत्ते और सुअर भी थे। मुर्गियाँ भी पाली जाती थीं। रथ खींचने के लिए घोड़े और संभवतः हाथी का उपयोग होता था। "हाथ में कोड़ा लिये हुए व्यक्ति" का चित्र हाँकने की क्रिया का द्योतक था। खेती के लिए आदिम अवस्था का हल तथा अन्य नुकीले औज़ार काम में लाये जाते थे। हल के चिह्न में परिवर्त्तन हो चुका था और अधिक व्यापक अर्थ 'शक्ति' को प्रकट करने के लिए उसका व्यवहार होने लगा था। "खेत और हल" अथवा "शक्ति और खेत" के चिह्न से "पुरुष" का बोध होता था। पुरुष के लिए व्यवहृत चिह्न (शक्ति और खेत अथवा हल और खेत) से स्पष्ट है कि पुरुष ही खेतों पर काम करते थे। "मनुष्य के सिर पर गेहूँ" का चित्र "वर्ष" का द्योतक था। बाली के साथ 'द्रव' (बहने) का भाव जोड़ने से जौ का अर्थ लगाया जाता था। इससे यह अनुमान लगता है कि जौ का मुख्य उपयोग शराब बनाने में होता था। अन्न के लिए कई प्रकार के चिह्न बनाये जाते थे, जिससे अन्दाज़ लगता है कि शांग-युग में कई प्रकार का अनाज बोया जाता था। रेशम के कीड़ों को पालने के लिए शहतूत भी बहुतायत से होता था। खुदाई में बहुत से धातु के बर्तन मिले हैं। विद्वानों की राय है कि ये बर्तन ढालकर बनाये गये हैं। उस युग के धातु के काम की कारीगरी आश्चर्यजनक है। एक तीर के फल की धातु का विश्लेषण करने से पता लगा है कि उसमें लोहे, चाँदी, राँगा और सीसा का सम्मिश्रण था। मिट्टी के बर्तनों की चमकदार पालिश से पता चलता है कि उद्योग के क्षेत्र में आग का प्रयोग भली प्रकार होने लगा था।

आधुनिक अन्यांग के निकट शांग-राजधानी की खुदाई में दैनिक व्यवहार के बर्तनों और औज़ारों की अपेक्षा बलि तथा अन्य धार्मिक कृत्यों के उपयोग के बर्तन अधिक मिले हैं। किन्तु उनकी धार्मिक पद्धति के बारे में कुछ कहना कठिन है। इनके देवताओं में से एक का नाम "सम्राट्" था। ऐसा जान पड़ता है कि ये लोग अपने किसी प्रथम पूर्वज की इसी भाँति पूजा किया करते थे। पूर्वजों की पूजा उनके (शांग लोगों के) जीवन में प्रधान थी। सब प्रकार के संकटों में पूर्वजों की कृपा-प्राप्ति के लिए भाँति-भाँति की बलि चढ़ाना उनका नियम था। एक अस्थि पर लिखा मिला है कि "वर्षा के लिए मातामही 'यी' की प्रार्थना करो"। बलि के पशुओं में भेड़, सुअर, कुत्ते, गाय-बैल, घोड़े और कभी-कभी मनुष्य भी सम्मिलित कर दिये जाते थे। मनुष्यों में बहुधा विजित शत्रु ही होते थे। बलिप्रदान का कार्य पुरोहित अथवा पुजारी द्वारा सम्पन्न होता था। राजा को सलाह देना तथा अदृष्ट शक्तियों के कोप से उसे बचाये रखना भी पुरोहित का कार्य था।

जन्त्री तैयार करना पुरोहित का ही काम था, जो कि उस समय से लेकर आज तक केवल चीन की सरकार का ही नहीं, वरन् प्रत्येक कृषिप्रधान राष्ट्र का मुख्य कार्य रहा है। यह काम अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण समझा जाता था, क्योंकि जन्त्री के द्वारा ही फसल के बोने और काटने का समय निश्चित होता था, और इसी पर राजा के प्रति प्रजा की कृपा और अकृपा निर्भर थी।

राजा समाज का अगुआ होता था। राजा की एक या अधिक रानियाँ होती थीं, जो उसे राज-कार्य में सहायता देती थीं। युद्ध और आखेट में भी राजा ही नेता होता था। प्रकृति और जनता के बीच वह मध्यस्थ का कार्य करता था। जिस समस्या का हल वह स्वयं नहीं ढूँढ पाता था, उसके बारे में वह पूर्वजों की सलाह पाने का यत्न करता था। कदाचित् यही पूर्वजों की पूजा का सम्भाव्य उद्गम है। राज्य और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी छोटा भाई होता था और उसकी मृत्यु पर सबसे बड़े भाई के लड़के उत्तराधिकारी होते थे।

अन्यांग नगर के निकट की खुदाई में शांग-राजधानी के शासन से सम्बन्धित राजकर्मचारियों के पदों की सूची भी

मिली है, जिससे पता चलता है कि नगर का शासन-प्रबंध सुसंगठित था। कर वसूल करना और उसे खर्च करना, सड़कों तथा क़िलेबन्दी का निर्माण और सिंचाई का प्रबंध करना कर्मचारियों का प्रधान कार्य था।

राजधानी तथा अन्य नगरों का जीवन जटिल हो चला था और कार्यक्षेत्र में किसी कला विशेष में दक्षता-प्राप्ति का रिवाज बढ़ चला था। यह निश्चित है कि कुछ व्यक्ति देहात और दूसरे स्थानों से आयी हुई वस्तुओं की बिक्री और वितरण में विशेष रूप से लग गये थे। दूसरे लोग कपड़े, रस्सियाँ, टोकरियाँ इत्यादि बनाने का काम करते रहे होंगे। इसके अतिरिक्त लकड़ी, पत्थर और हड्डियों के काम करनेवाले भी अवश्य रहे होंगे। धातु के बर्तन बनानेवाले तथा मकान, मन्दिर और मक़बरे बनानेवाले राजकारीगर भी रहे होंगे। शांग-काल की कब्रों में धातु और चीनी मिट्टी के बर्तन, संगमरमर तथा हाथीदाँत की मूर्तियाँ, नीलम और मोती से जड़ी हड्डियाँ, धातु की ढली छोटी-छोटी मूर्तियाँ, ढोल इत्यादि वाद्य-यंत्र, युद्ध के फरसे, रथ के पुर्जे, घोड़े की जीन के साज और सन्दूकों के ढकन उन वस्तुओं में हैं, जिनकी कारीगरी और सुन्दरता पर मानव जाति को सदैव आश्चर्य रहेगा।

ऐसा जान पड़ता है कि आधुनिक चीनियों की लिखने और चित्र बनाने की कूची की तरह उस पुरातन युग में भी बारीक कूची का उपयोग होता था। यह निश्चित है कि उस काल के मिट्टी के बर्तनों पर जितने साफ और बारीक चित्र बने, वे महीन कूची के बगैर नहीं बनाये जा सकते। इतना समय बीत जाने पर भी इन बर्त्तनों पर अंकित चित्र आज भी चटक और स्पष्ट हैं। इससे अनुमान होता है कि चीन में उस समय अमिट स्याही का आविष्कार हो चुका था।

शांग-काल के सामाजिक एवं आर्थिक संघटन को देखकर यह स्पष्ट मालूम होता है कि उन दिनों राजनीतिक सत्ता का विकास इस अवस्था तक हो चुका था कि सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व आ सके। ऊपर लिखा जा चुका है कि राजा समाज का अगुआ था। राजा की छत्रछाया में अनेक छोटे-बड़े सरदार थे, जो कि कृषकों को अपने अधीन किये हुए थे। बाहरी शत्रुओं तथा आंतरिक विद्रोह के मुक़ाबले के लिए पैदल सैनिकों और रथों की सेना तैयार रहती थी। राज्य की ओर से सड़कों इत्यादि का प्रबंध होता था। सम्पूर्ण प्रजा की ओर से राजा धार्मिक कृत्य भी करने लगा था। इन सब बातों से प्रकट है कि जनसंख्या काफी बढ़ गयी थी और सत्ता के केन्द्रीकरण का आरम्भ हो चुका था। अतिवृष्टि और अनावृष्टि के संकट से त्राण पाने के लिए अन्न का संग्रह भी होने लगा था।

शांग-राज्य दूर तक विस्तृत था। जनश्रुति के अनुसार प्रथम शांग सम्राट् ने १८०० सरदारों को पराजित कर उनके नगरों पर अधिकार किया था। इस कार्य मे उसे इन नगरों की सम्मिलित शक्ति का भी सामना करना पड़ा होगा। इससे उसकी सेना की शक्ति और संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। शांग-साम्राज्य की सीमा आधुनिक शक्वान, होनान और हुपे से लेकर पूर्वी समुद्र-तट तक फैली हुई थी। समुद्र के किनारे कोरिया के कुछ भाग तक इसकी हद थी। शांग राज्य की राजधानी की वास्तविक स्थिति अब भी अनिश्चित है। अन्यांग के निकट की खुदाई से अनुमान लगता है कि इस वंश के किसी राजा ने १४०० ई० पू० अपनी राजधानी वहीं पर बनायी थी।

चीन की परिवार-व्यवस्था सदैव अन्य देशों से भिन्न रही है। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता से पुत्र को नहीं, प्रत्युत बड़े भाई से छोटे भाई को मिलता था। सामाजिक परम्परा के अनुसार छोटे भाई के पैदा किए हुए धन तथा सम्पत्ति में बड़े भाई का भी भाग माना जाता था। इससे स्पष्ट है कि परिवार आधुनिक रूप में विकसित नहीं हुआ था। इस समय तक चीन मे सम्पूर्ण जाति को एक ही सम्मिलित परिवार के रूप में मानने, तथा समस्त सम्पत्ति को सम्पूर्ण जाति की ही सम्पत्ति मानने के आदिमयुगीन नियम लागू थे। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, किन्तु यह धनी व्यक्तियों तक सीमित थी।

संगीत के क्षेत्र में काफ़ी उन्नति हो चुकी थी। मक़बरो में पाये गये वाद्य-यंत्र इसके प्रमाण हैं। इसके अलावा बलि के जुलूसों में ढोल और घंटे इत्यादि के साथ नृत्य का भी उल्लेख मिलता है।

शांग राज्य-वंश ने लगभग ६०० वर्ष तक राज्य किया। ईसा से ११२२ वर्ष पूर्व 'जो' प्रदेश के राजा के नेतृत्व में ८०० सरदारों ने विद्रोह किया। अत्याचारपीड़ित जनता ने शांगवंशीय सम्राट् 'जो सिन' का साथ न दिया। निराश होकर उसने अपने महल में आग लगा दी और उसी में वह जल मरा। इसके बाद शांग-साम्राज्य 'जो' राज्य-वंश के अधीन हो गया।
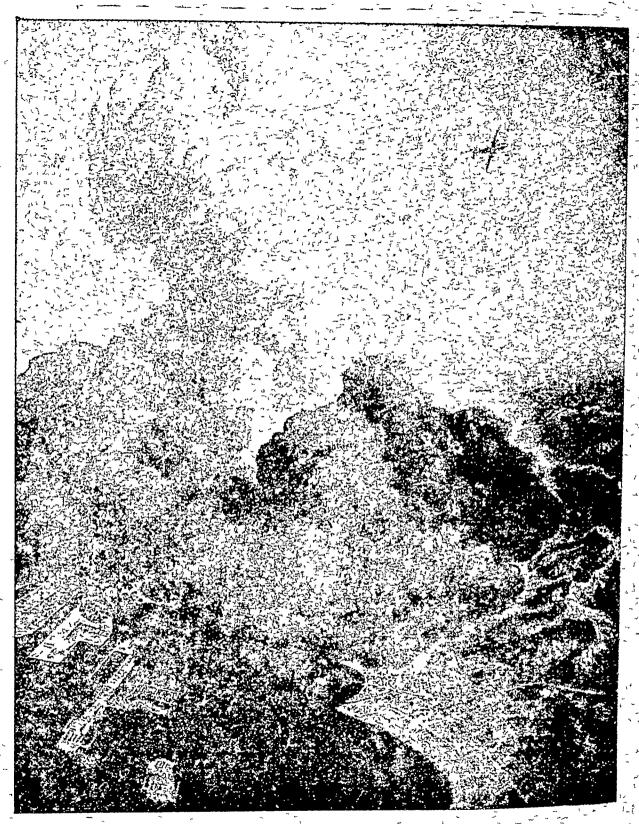
आधुनिक युग के सबसे भयानक युद्धास्त्र 'परमाणु-बम' द्वारा प्रस्तुत विनाश-ताण्डव का दृश्य

इस चित्र में विगत महायुद्ध में संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) द्वारा जापान के हिरोशिमा नामक नगर पर प्रथम परमाणु-बम के प्रयोग के समय के विस्फोट का दृश्य अंकित किया गया है। लगभग एक लाख व्यक्ति तो बम के गिरते ही तत्क्षण मर गये और जहाँ बम गिरा उसके आसपास ६ मील के घेरे में सब मकान धराशायी हो गये। इस विस्फोट से प्रलयंकर धुएँ का जो स्तंभ ऊपर उठा, उसकी ऊँचाई ७॥ मील के लगभग थी!

आधुनिक अस्त्र-शस्त्र
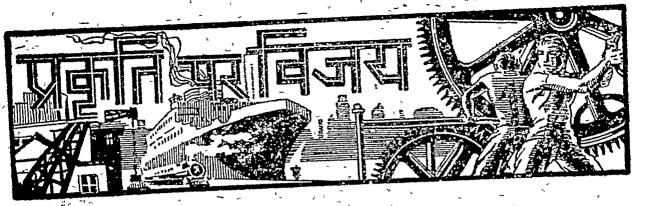
आधुनिक युग के विविध वैज्ञानिक चमत्कारों में उन प्रलयंकर अस्त्र-शस्त्रों का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है, जो कि घोर विनाश के साधन होने पर भी, जहाँ तक मानवीय बुद्धि-कौशल और वैज्ञानिक प्रतिभा के प्रयोग तथा विकास का प्रश्न है, इस युग के महान् आश्चर्यों में से हैं। यही नहीं, आज तो किसी भी राष्ट्र की शक्ति का माप प्रायः इन अस्त्र-शस्त्रों ही के परिमाण पर लगाया जाता है। प्रस्तुत लेख में आधुनिक युद्ध के इन साधनों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है और उनमें से मुख्य-मुख्य अस्त्रों का यथोचित परिचय दिया गया है।

आदि मानव के पास शत्रु के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं अपने हाथ, नाखून और दाँतों के अतिरिक्त अन्य कोई अस्त्र-शस्त्र न थे। कुछ काल-उपरान्त उसने वृक्ष की डाली तोड़कर उसके डण्डे का प्रयोग करना सीखा। तदुपरान्त उसने देखा कि पत्थर के ढेलों से शत्रु को मार भगाने में अधिक सफलता मिलती है; क्योंकि इनका प्रयोग दूर से भी किया जा सकता है। अतः शुरू से ही फेंकनेवाले हथियार पर मानव की आस्था जम गयी। तलवार की अपेक्षा दूर फेंके जानेवाले नेजे या तीर को अधिक महत्त्व का स्थान दिया गया। फलस्वरूप प्राचीन काल के युद्ध में धनुष-बाण का प्रयोग एक बड़े पैमाने पर होता था।

आदि मानव के पास आरंभ में स्वयं अपने हाथ, नाखून और दाँतों के अतिरिक्त अन्य कोई अस्त्र-शस्त्र न थे। कालान्तर में उसने वृक्ष की डाली तोड़कर उसके डण्डे का प्रयोग करना सीखा। तदुपरान्त हड्डियों तथा पत्थरों से तरह-तरह के हथियार बनाये।

बन्दूक

मध्ययुग में बारूद के आविष्कार ने युद्ध के शस्त्रास्त्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर दिया। तोपों की बाढ़ के सामने तीर-कमान से लैस सिपाही मैदान में कहाँ टिक सकते थे? अतः रणक्षेत्र में अब तीर-कमान का स्थान बन्दूकों ने ले लिया। प्रारम्भिक काल की बन्दूकों में गोली भरना तथा उन्हें दागना कम कठिनाई का काम न था। नली के रास्ते से बारूद डालने के उपरान्त उसमें गोली या छर्रे भरे जाते और तब नली के दूसरे सिरे पर बने सूराख के रास्ते पलीता जलाकर बारूद दागी जाती। बारूद के विस्फोटन से उत्पन्न हुई गैसों के धक्के से गोली नली के बाहर तेज़ी से भागती। धनुष द्वारा छोड़े गये बाणों की अपेक्षा इन बन्दूकों की गोली की मार कहीं अधिक दूरी तक पहुँचती, साथ ही ये शत्रु को भारी क्षति भी पहुँचा सकती थीं।

युद्ध-कला के विशेषज्ञों को यह भाँपते देर न लगी कि युद्ध का भविष्य आग्नेय अस्त्रों के विकास में ही

निहित है। अतः आज तक यह प्रयत्न निरन्तर जारी है कि इन आग्नेय अस्त्रों को अधिक शक्तिशाली एवं अधिकाधिक सही निशाना मारनेवाला कैसे बनाया जाय तथा इनकी दागने की गति कैसे बढ़ायी जाय। आरम्भ की इन बन्दूकों में सबसे बड़ा दोष यह था कि पलीता दागते समय यदि पानी बरस जाता तो पलीता सील जाने के कारण बन्दूक का दागना असम्भव हो जाता। अतः पलीते की जगह 'फ़्लिन्ट लाक' का प्रयोग किया गया। फ़्लिन्ट-लाक में घड़ी की कमानी की तरह एक पुर्जे को चाभी से ऐंठते थे। चाभी निकालते ही कमानी खुलती और इसके ज़ोर से फौलाद की एक पत्ती पत्थर के एक टुकड़े पर लगातार चोट करती, जिसके कारण पत्थर से चिनगारियाँ निकलकर नली की बारूद को विस्फोट कराती। कहा जाता है कि रात को डाका डालनेवाले दस्युओं ने योरप में फ़्लिन्ट-लाक का आविष्कार किया था, ताकि पलीता दागने के लिए दियासलाई जलाने की आवश्यकता न पड़े और रात के अँधेरे में किसी को उनकी आहट न मिलने पाये।

रायफल

बन्दूकों की रचना में सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार उस समय हुआ जब कि उसकी नली के अन्दर खाँचे डालने का गुर योरप के एक उत्साही व्यक्ति 'रायफल' ने आविष्कृत किया। अब तक गोलियाँ नली में बाहरी छोर से डाली जाती थीं। अतः उनकी मुटाई नली के व्यास से थोड़ी कम ही रहती, अन्यथा उन्हें भीतर तक ठूँसने में बड़ी कठिनाई होती। किन्तु गोली का आकार छोटा होने के कारण बन्दूक के दगने में दो दोष उत्पन्न हो जाते। एक तो यह कि बारूद के विस्फोटन से उत्पन्न हुई गैसों का कुछ अंश गोली के अगल-बगल से होकर नली के बाहर निकल जाता। अतः गोली को बाहर धक्का देकर भगाने के लिए विस्फोटन की पूरी शक्ति लभ्य न हो पाती। फल यह होता कि गोली की गति अधिक तेज़ न हो पाती—और शत्रु के कवच को भेदने के लिए गोली उस समय तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसकी गति काफ़ी तेज़ न हो। दूसरा दोष यह था कि नली में गोली के ढीली बैठने के कारण जिस समय गोली नली के एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर भागती, तो वह बराबर नली के अन्दर ऊपर से नीचे तथा दाहिने से बायें दीवारों से टकराती जाती और यदि नली के छोर से बाहर निकलते समय वह निचले भाग से टकराती तो निशाना कुछ ऊपर हटकर बैठता, और यदि ऊपरी भाग से टकराती तो निशाना कुछ नीचे की ओर बहक जाता।

इन दोनों ही दोषों को दूर करने के निमित्त रायफल ने एक अनोखा उपाय सोचा। उसने बन्दूक की नली में शुरू से आख़िर तक स्क्रू (पेंच) के दाँतों की भाँति कई चक्करदार खाँचे डाले और गोली के धरातल पर वृत्त की परिधि की तरह एक पतला किनारा चारों ओर उठा दिया। इस किनारे के खाँचे में फँसे रहने के कारण बारूद के विस्फोटन पर जब गोली आगे बढ़ती तो खाँचों के सहारे तेज़ी के साथ नाचती हुई वह बाहर निकलती। इस घुमाव के कारण वह अपने मार्ग पर एकदम सीधी जाती। ऐसी गोली पर विस्फोटन की भी पूरी शक्ति लगती, अतः खाँचेदार नली-वाली बन्दूक की गोली की पहुँच की दूरी में भी सन्तोषजनक वृद्धि हो सकी।

'ली-एनफील्ड' नामक मैगज़ीन-रायफल की आन्तरिक रूपरेखा
इसकी नली का व्यास '३०३ इंच और मार का दायरा ६०० गज़ तक होता है। प्रति मिनिट १५ गोलियाँ इससे आसानी से दागी जा सकती हैं।

आजकल युद्ध में प्रयुक्त होने-वाली सभी बन्दूकों की नालियाँ खाँचेदार होती हैं। अपने आविष्कारक के नाम पर ये बन्दूकें 'रायफल' कहलाती हैं। बन्दूक या रायफल अभी तक फ़्लिन्ट-लाक से ही दागी जाती थीं। तब १८१६ में घोड़ा दबाकर दागने के लिए विशेष प्रकार की पीतल की टोपियाँ आविष्कृत की गयीं।

किन्तु इतने सब सुधार हो चुकने पर भी अभी तक गोलियाँ नली के बाहरी सिरे की ओर से ही लोहे की छड़ की सहायता से ठूँसी जातीं। इस तरह गोली भरने का काम निस्सन्देह झंझट का था और इसमें व्यर्थ की देर भी लगती। रणक्षेत्र में तो क्षण भर की भी देरी भाग्य का निबटारा कर सकती है—अतः इन बन्दूकों में गोली भरने की कठिनाई सभी को खलती थी। फलतः प्रशिया के एक व्यक्ति ने आख़िर रायफल की रचना में कुछ परिवर्तन करके उसकी नली इस ढंग की बनायी कि उसे कुन्दे के पास से मोड़कर वहीं पर नली में गोली डाल दी जाय। इसी बीच

रसायन-विज्ञान ने भी नये ढंग के विस्फोटक पदार्थों की सहायता से पहली बार कार्तूसें तैयार कीं, जिनके भीतर एक ही साथ गोली, बारूद और उसे दागनेवाली टोपी तीनों ठीक क्रम से सजायी रहती हैं। अब गोली के स्थान पर यह कार्तूस ही नली के शुरूवाले सिरे में लगा दी जाने लगी। घोड़ा दबाने पर उसके खटके मे लगी पिन कार्तूस की टोपी पर चोट करती है और कार्तूस फौरन् विस्फोट कर जाती है। फलत. कार्तूस की गोली नली के खाँचे मे से चक्कर काटती हुई तीव्र वेग से बाहर भागती है। कार्तूसों के आविष्कार ने रायफल को एक मशीन के दर्जे तक पहुँचा दिया और अब उसके दागने की गति में भी काफ़ी वृद्धि हो सकी।

मैगज़ीन रायफल

रायफल की गोली चलाने की गति को और भी तेज़ बनाने के उद्योग में मैगज़ीन-रायफलें बनीं। अभी तक तो रायफल में एक बार में एक ही कार्तूस भरी जा सकती थी। उसके दग चुकने पर सैनिक बोल्ट को खींचता, तब दूसरी कार्तूस नली में लगाता, फिर बोल्ट बन्द करता। इस में अवश्य देर लगती। मैगज़ीन-रायफल में घोड़े के पास ही टिन का एक केस, जिसे मैगज़ीन कहते हैं, लगा रहता है। इस मैगजीन में १० कार्तूस एक साथ सजाकर रख दी जाती हैं। बोल्ट को खींचने और बन्द करने की क्रिया में नली से खाली कार्तूस बाहर निकल जाती है और भरी हुई कार्तूस मैगज़ीन से निकलकर नली में लग जाती है। मैगज़ीन के पेंदे में लगी हुई कमानी कार्तूसों को दबाकर ऊपर की ओर नली मे जाने के लिए तैयार रखती है। घोड़ा दबाते ही खटका 'स्ट्राइकर' को स्वतंत्र बना देता है और वह तार की कमानी के ज़ोर से आगे बढ़कर कार्तूस के बीचोबीच चोट करके उसे विस्फोट कराता है।

आधुनिक सेना में पैदल दस्ते का मुख्य अस्त्र रायफल ही है। ब्रिटिश सेना में प्रयुक्त होनेवाली 'ली-एनफील्ड' नामक मैगज़ीन रायफल की नली का व्यास '३०३ इंच होता है। यह रायफल कुल १३० अलग-अलग हिस्सों से मिलकर बनी होती है। इस रायफल की गोली की पहुँच वैसे तो १००० गज़ तक होती है और इस दूरी को तय करने में उक्त गोली को ६ सेकण्ड लगते हैं; किंतु ६०० गज़ की दूरी तक इसके निशाने पर शत प्रतिशत भरोसा किया जा सकता है। जब सैनिक पेट के बल लेटकर रायफल चलाता है तो गोली अपने रास्ते में ६०० गज़ तक धरती से ६ फीट की ऊँचाई के भीतर ही रहती है। अत इस सीमा के अन्दर वह शत्रु को अवश्य आहत करेगी। इससे आगे बढ़ने पर गोली ऊँची चढ़ जाती है और १००० गज़ की दूरी तक पहुँचते-पहुँचते वह बहुत अधिक ऊँचाई तक पहुँच जाती है। ऐसी रायफल से निशाना साधकर प्रति मिनट १५ गोलियाँ आसानी के साथ चलायी जा सकती हैं।

मशीनगन

पैदल सेना का दूसरा महत्त्वपूर्ण अस्त्र मशीनगन है। इस अस्त्र से एक के बाद एक गोलियों की अनवरत बाद दागी जा सकती है। इसे रायफल का ही परिष्कृत रूप कह सकते हैं। मशीनगन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें खाली कार्तूस को निकालने और नई कार्तूस को भरने के लिए बोल्ट खींचने और बन्द करने की आवश्यकता नहीं—बस उसमे लगी हुई एक हलकी सी बटन दबाये रखिये, अपने आप गोलियाँ दनादन छूटती चली जाएँगी।

विकर्स मशीनगन की आन्तरिक रचना

यह एक भारी मशीनगन है, जिसमे रायफलवाली ३'०३ आकार की कार्तूसें ही काम में लायी जाती हैं। यह २५०० गज़ की दूरी तक गोली मार सकती है और प्रति मिनट ७५० बार फायर करती है।

आधुनिक मशीनगनों के विकास के पीछे भी एक लम्बी कहानी छिपी हुई है। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम मशीनगन 'गैट-लिंग गन' बनी थी। इस गन में १० नलियाँ लगी हुई थीं, जो एक केन्द्रीय शेफ्ट के चारों ओर रिवाल्वर की भाँति घूम सकती थीं। हाथ से ही उन्हें घुमाना पड़ता, किन्तु इनके अन्दर कार्तूस अपने आप भर जाती थीं। प्रति मिनट १००० गोलियाँ यह मशीनगन दाग सकती थी।

मैक्सिम-गन

इसके उपरान्त 'मैक्सिम-गन' बनी। हम इसे ही वास्तविक अर्थ में मशीनगन मान सकते हैं, क्योंकि इसमें अकेली एक ही नली होती है। इसके आविष्कारक सर हिरम मैक्सिम ने नली में से खाली कार्तूस निकालने और उसमें भरी हुई कार्तूस पहुँचाने के लिए एक अनोखा उपाय निकाला। उन्होंने इस मशीनगन में एक ऐसा पुर्जा लगाया, जो गोली दगने के बाद पीछे की ओर नली को लगनेवाले धक्के के ज़ोर से काम करता था।

लगातार गोली दागने के कारण मशीनगन की नली शीघ्र ही गर्म हो जाती है, क्योंकि गोलियाँ इतनी तेज़ी के साथ छूटती रहती हैं कि नली को ठण्डा होने का अवसर ही नहीं मिलता। अतः नली को बेहद गर्म होने से बचाने के लिए अलग से प्रबन्ध करना पड़ता है। इसके लिए नली के चारों ओर एक जेकेट बना होता है, जिसमें ठण्डा पानी लगातार फेरा लगाया करता है—ठीक उसी भाँति जिस तरह कि मोटर के इंजिन में ठण्डे पानी को सिलिण्डर के चारों ओर फिराकर उसे अधिक गर्म होने से बचाते हैं। लगभग ६०० बार दगने पर पानी उबलने लगता है और १००० बार दगने के उपरान्त तो दूसरा पानी डालना नितान्त आवश्यक हो जाता है। मैक्सिम गन पूर्णतया आटोमैटिक (स्वयंक्रिय) बंदूक है, अर्थात् वह अपने आप काम करती है, सैनिक केवल एक बटन दबाये रखता है।

विकर्स-मैक्सिम-गन

मैक्सिम-गन में कुछ और सुधारों का समावेश करके एक नया मॉडल 'विकर्स-मैक्सिम' तैयार किया गया है। एक बार घोड़ा दबा देने पर यह मशीन उस समय तक बराबर गोली दागती रहती है, जब तक कि कार्तूसों की पेटी ख़त्म नहीं हो जाती। प्रति मिनट यह ७५० बार दाग सकती है। मैक्सिम-गन की तुलना में यह हलकी भी पड़ती है। इसका कुल वज़न ६३ पौण्ड होता है। यह २५०० गज़ की दूरी तक गोली मार सकती है। एक विशेष पुर्जे की सहायता से इसकी दागने की गति को घटा-बढ़ा भी सकते हैं। विकर्स-मैक्सिम की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि इसके लिए '३०३ इंच वाली कार्तूसें, जो रायफलों में काम आती हैं, प्रयुक्त की जा सकती हैं। हर मशीनगन के पीछे साधारणतया ३५०१ कार्तूसों का प्रबन्ध रहता है।

लूइस-गन, ब्रेन-गन तथा टामी-गन

मशीनगनों की उपयोगिता देखकर यह सोचा गया कि यदि मशीनगन के ढंग की हलकी रायफलें बनायी जा सकें तो इन्हें अकेला सिपाही भी आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जा सकेगा। इस प्रयत्न के सिलसिले में हलकी मशीनगनों का जन्म हुआ। ये मशीनगनें दो बातों में भारी मशीनगनों से भिन्न होती हैं—एक तो यह कि नली में से खाली कार्तूस बाहर निकालने और उसमें भरी हुई कार्तूस लगाने के लिए कार्तूस के ही विस्फोटन से उत्पन्न हुई गैस इनमें काम में लायी जाती है; दूसरी यह कि नली को ठण्डा करने के लिए पानी का प्रयोग इनमें नहीं किया जाता, बल्कि प्रत्येक गोली दगने के बाद हवा का एक झोंका नली में से होकर गुजरता है, जो उसे ठण्डा बनाये रखता है। पिछले जर्मन युद्ध में मित्र-पक्ष ने इस ढंग की प्रसिद्ध लूइस-गन का प्रयोग
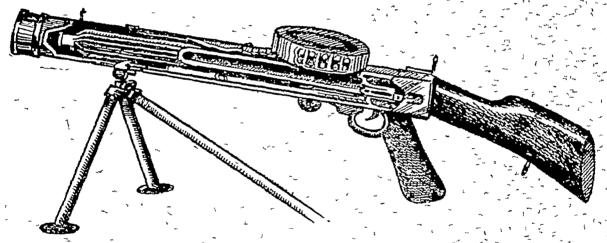
सुप्रसिद्ध लूइस-गन, जोकि एक हलकी जाति की मशीनगन है!

यह अपनी कार्तूसों के विस्फोट से उत्पन्न गैस से ही परिचालित होती है। इसकी मैगज़ीन में ४७ कार्तूसें एक बार में भरी जाती हैं। प्रस्तुत मानचित्र में इसकी नली तथा मैगज़ीन के कुछ अंश की भीतरी रचना भी दिखायी गयी है।

एक बड़े पैमाने पर किया था। इसका वज़न केवल २७ पौण्ड होता है, अतः वायुयानों पर यह मशीनगन आसानी के साथ लगायी जा सकती है। इसकी मैगज़ीन में एक बार में ४७ कार्तूसें भरी जा सकती हैं। बाद में इससे भी हलकी 'ब्रेन-गन' बनायी गयी। यह वजन में केवल २१ पौण्ड ठहरती है। खाइयों में या मैदान में अकेला एक सैनिक भी ब्रेन-गन आसानी से चला सकता है। इसकी मैगज़ीन का डिब्बा सीधा खड़ा होता है, जिसमें ३० कार्तूसों की दुहरी पाँत सजायी रहती है। सैनिक चाहे तो धीरे-धीरे एक-एक कार्तूस दाग सकता है या फिर सबकी सब एक के बाद एक तेज़ रफ़्तार से फायर कर सकता है। चार सैनिक ब्रेन गन से घण्टों गोलियों की लगातार वर्षा जारी रख सकते हैं। साधारण रायफल की तरह इसके कुन्दे को कन्धे से भिड़ाकर फायर कर सकते हैं या कंधे पर टेककर इसे चला सकते हैं। सुविधा होने पर इसे तिपाई पर भी लगा लेते हैं। ६०० गज़ की दूरी तक ब्रेन-गन का निशाना बिल्कुल ठीक बैठता है। प्रति मिनट यह ५०० बार फायर कर सकती है। इसमें भी रायफल वाली '३०३ इंच की कार्तूस प्रयुक्त की जाती है। इसके हलकी और उपयोगी होने के कारण ब्रिटिश पैदल-सेना के प्रत्येक सैनिक को ब्रेन-गन चलाना सीखना पड़ता है।

लूइस गन की भाँति ब्रेन-गन की नली को भी हवा द्वारा ही ठण्डी रखते हैं। देर तक फायर करते रहने पर यदि नली अत्यधिक गर्म हो जाय तो कुछ ही क्षणों में उस नली को हटाकर वहाँ दूसरी नली फ़िट कर सकते हैं। ऐसा करने के लिए किसी हथियार की ज़रूरत नहीं पड़ती। ब्रेन-गन की नली के बाहरी सिरे पर 'सायलेन्सर' के ढंग का एक पुर्जा अलग से फिट किया होता है, जिसे 'फ्लैश प्रोटेक्टर' कहते हैं। गोली छूटने पर जो चिनगारी निकला करती है, उसे यह रोकता है; वरना रात के अँधेरे में इस चिनगारी को देखकर शत्रु फ़ौरन् पता पा जायगा कि फायर करनेवाली मशीनगन कहाँ पर स्थित है।

ब्रिटिश सेना की प्रसिद्ध हलकी मशीनगन 'ब्रेन-गन' की रचना
इसका दायरा ६०० से १००० गज़ तक का है। यह प्रति मिनट ५०० बार फायर कर सकती है।
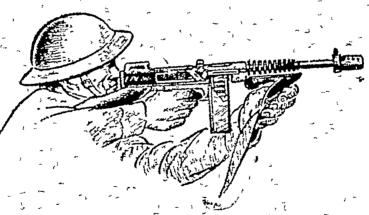
हलकी जाति की एक और ब्रिटिश मशीनगन 'टॉमी-गन' की रचना
यह प्रति मिनट ६५० गोलियाँ दाग सकती है। किन्तु इसका दायरा केवल ६० गज़ तक होता है।

ब्रेन-गन से भी हलकी 'टॉमी-गन' होती है। इसे सबमशीन-गन की श्रेणी में रख सकते हैं। कन्धे से भिड़ाकर इससे ६० गज़ की दूरी तक निशाना मारा जा सकता है। एक मिनट में यह ६५० बार फायर कर सकती है! इसके अन्दर '४५ इंच की कार्तूसें प्रयुक्त की जाती हैं।

कहते हैं, पिछले युद्ध में प्रयुक्त हलकी जाति की जापानी मशीनगनों में तो संगीनें भी लगी रहती थीं, ताकि आवश्यकता पड़ने पर सैनिक बंदूक हाथ में उठाकर उन संगीनों का प्रयोग कर शत्रु पर धावा बोल सके।

विशालकाय तोपें

तोप नाविक बेड़े का मुख्य अस्त्र है। यही कारण है कि आज की सभी विशालकाय तोपें युद्धपोतों पर आरूढ़ की हुई मिलती हैं। ये तोपें बड़ी आसानी के साथ पन्द्रह बीस मील की दूरी तक गोले फेंक लेती हैं। अवश्य ही सौ सवा सौ वर्ष पहले की तोपों और आज की तोपों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

शुरू-शुरू की तोपें इतनी शक्तिशाली नहीं होती थीं। इनके अन्दर पत्थर के गोले भरे जाते, जिनके ऊपर सीसे की चद्दर मढ़ी रहती। पुराने ज़माने की बन्दूकों की तरह इन तोपों में भी गोले तोप की नली के बाहरी छोर से भरे जाते। दूसरे छोर पर रखे हुए बारूद को पलीते से दागकर तोप दागी जाती। दागने पर पीछे की ओर तोप को बड़ा गहरा धक्का लगता। तोप धक्का खाकर कई गज़ पीछे हट जाती और बेचारे सैनिक उसे फ़ौरन् खींचकर अपनी जगह पर ले आते, ताकि उसे दूसरी बार दागा जा सके। तोप की नली को बारूद के विस्फोटन से बचाने के लिए विशेष सुदृढ़ बनाना आवश्यक था। अत. कच्चे लोहे के एक मोटे स्तंभ के बीचोबीच बर्मी से सूराख करके उन दिनों तोप की नली तैय्यार की जाती। अक्सर ऐसा होता कि कच्चे लोहे के स्तम्भ के किसी भाग में यदि कोई कमज़ोरी रह गयी होती तो दागते समय नली उसी जगह से फट जाती और बेचारे तोपचियों की जान पर आ बनती! अवश्य फ़ौलाद के युग ने तोपों की इस कमी को भी दूर किया। अब नली फ़ौलाद की बनती है। एक के ऊपर दूसरी कई नलियाँ चढ़ाकर फ़िट की जाती हैं। ऐसा करने से नली का वज़न भी व्यर्थ में नहीं बढ़ता, साथ ही वह बारूद के विस्फ़ोटन के ज़ोर को भी सँभाल सकती है।

ब्रीच-लोडिंग गन

तोपों की रचना में अभी तक कोई विशेष सुधार नही हो पाया था, क्योंकि सामने की ओर से गोले भरे जाने के कारण उस नली को अधिक लम्बी नहीं बना सकते थे। किन्तु सामने से गोला भरने में देर भी अधिक लगती और कठिनाई भी होती। अत रायफल की तरह तोप में भी अन्दरवाले सिरे पर गोला भरने का प्रबन्ध किया गया। ऐसी तोपों को 'ब्रीच-लोडिंग गन' कहते हैं। तोप की नली के पिछले सिरे पर एक सुदृढ़ दरवाज़ा-सा बना होता है। गोला और बारूद भीतर रख देने पर दरवाज़ा अच्छी तरह एकदम एयर-टाइट बन्द कर दिया जाता है। ब्रिटिश और अमेरिकन तोपों मे ये दरवाजे कब्ज़ेदार होते हैं, किन्तु जर्मन तोपों में ऊपर से नीचे सरकानेवाले दरवाज़े लगाये जाते थे।

ब्रीच-लोडिंग ढंग की तोपों की नली भी अब ख़ूब लम्बी बनायी जाने लगी। नली की लम्बाई कम होने के कारण गोले बारूद के विस्फोटन के पूरा होने के पहले ही नली की लम्बाई पार कर जाते थे। अत. वे बारूद की पूरी शक्ति प्राप्त नहीं कर पाते थे। अब नली की लम्बाई बढ़ा देने से बारूद की पूर्ण विस्फोटन-शक्ति गोले को प्राप्त हो सकी। अतः गोले की गति और उसकी पहुँच की दूरी, दोनों में वृद्धि हुई। ब्रीच-लोडिंग के आविष्कार के पहले तोप की नली की लम्बाई नली के मुँह की चौड़ाई की अधिक से अधिक १६ गुनी होती थी। किन्तु अब नली की लम्बाई इसके मुँह की चौड़ाई की ५० गुनी तक होती है।

आजकल की तोपों की नली में भी राइफ़लों की भाँति सर्पिल खाँचे पड़े रहते हैं। गोलों के स्थान पर इन तोपों में 'शेल' भरे जाते हैं। शेल को हम कार्तूसों का बृहत् संस्करण कह सकते हैं। आगे विस्फोटक पदार्थों के वर्णन में शेल पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है। जिस समय चक्कर खाते हुए ये शेल तोप की नली से बाहर निकलते हैं तब इनकी गति अत्यधिक तेज़ होती है। गत महायुद्ध में "बिग बर्था' नामक भीमकाय जर्मन तोप ने तो ८० मील की दूरी पर शेल फेंके थे। ८ इंच चौड़े मुँह की तोप का शेल जिस क्षण नली में से बाहर निकलता है, तब यह प्रति मिनट ५८०० बार चक्कर खाता हुआ लक्ष्य की ओर भागता है! उस समय इसकी रफ़्तार लगभग २००० फीट प्रति सेकण्ड होती है!

तोपों के आकार-प्रकार

तोपें अपने आकार और वज़न के विचार से तीन श्रेणियों में रखी जा सकती हैं—१.भारी; २. औसत, तथा ३.हलकी तोपें। भारी तोपों में उनकी गिनती होती है, जिनकी नली का मुँह १८ इंच, १६ इंच, १४ इंच या ९'२-इंच तक होता है। इनके शेल की पहुँच क़रीब २० मील तक होती है। अवश्य अपने भारी-भरकम वज़न के कारण १८ इंच, १६ इंच और प्राय १४ इच वाली तोपें केवल जलपोतों पर ही प्रयुक्त की जाती हैं, अथवा सुदृढ़ क़िलेबन्दी पर इन्हें लगा सकते हैं। इन्हें साथ लेकर स्थल-सेना के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना युद्ध की दृष्टि से असुविधाजनक है।

औसत श्रेणी की तोपों में ४'७ इच, ६० पौंड की शेल फेंकनेवाली और ६ इंच शेलवाली 'हाउट्ज़र' शामिल हैं। इन औसत श्रेणी की तोपों की मार १० हज़ार से २१ हजार गज़ तक पहुँच सकती है। आपने तोपों के सिलसिले में 'हाउट्ज़र' का नाम अवश्य सुना होगा। ये तोपें ख़ास ढंग की बनायी गयी होती हैं—इनकी नली की लम्बाई अपेक्षाकृत छोटी होती है, अतः ये अपने शेल

आसमान में बहुत ऊपर तक मार सकती हैं। साथ ही ये शेल दूर के फासले तक जा पहुँचते हैं। अपने लक्ष्य पर ऊँचाई पर से तिरछे गिरने के कारण ये अधिक क्षति पहुँचाने में भी समर्थ होते हैं।

४·७ इंच से कम चौड़ी नली वाली तोपें तृतीय श्रेणी में रखी जाती हैं। इनमें 'पाम पाम' नामक गन विशेष उल्लेखनीय है। इसकी नली केवल एक इंच चौड़ी होती है।

पिछले महायुद्ध में ब्रिटिश जल-सेना में १८ इंच की कुछ तोपें अवश्य प्रयुक्त की गयी थीं, किन्तु अब १४ या १६ इंच से बड़ी तोपें जलपोतों पर आरूढ़ नहीं करायी जातीं, क्योंकि आकार के बढ़ने पर तोप का वज़न बहुत बढ़ जाता है—साथ ही जितनी बड़ी तोप होगी उतनी ही देर उसमें शेल भरकर दागने में लगेगी। १५-२० मील की दूरी पर फेंके गये सभी शेल ठीक निशाने पर नहीं बैठते—अधिक से अधिक १० में से १ का निशाना ठीक बैठता है।

ऐसी दशा में अपेक्षाकृत हलकी तोपें, जो जल्दी-जल्दी शेल फेंक सकें, शत्रु को अधिक क्षति पहुँचा सकती हैं, और उनका वज़न कम होने के कारण जहाज़ पर उनके अतिरिक्त छोटी-छोटी ऐण्टी-एयर-क्राफ्ट तोपें भी लगायी जा सकती हैं, जो सिर पर मँडराते हुए वायुयानों को अपने गोले का निशाना बना सकती हैं। यह अवश्य है कि तोप का आकार जितना बड़ा होगा, उतना ही भारी शेल वह फेंक सकेगी और यह ध्यान में रखने की बात है कि शेल की विध्वंसक शक्ति उसके वज़न पर निर्भर करती है।

निम्नलिखित तालिका में प्रत्येक आकार की तोप के लिए प्रयुक्त होनेवाले शेल का वज़न दिया गया है। ६ इंच वाली तोप तक के शेल (वज़न १०० पौण्ड) हाथों से उठाकर तोपों में भरते हैं, किन्तु इससे बड़े आकार के शेल को मशीनों द्वारा ही उठाकर तोप में भरा जाता है:—

तोप का मुँह (कैलिबर)	शेल का वज़न	शेल की पहुँच
१६ इंच	२४६१ पौंड	२० मील
१५ ,,	१६२० ,,	
१४ ,,	१५६० ,,	१६ ,,
८ ,,	२५६ ,,	१६ ,,
७·५ ,,	२०० ,,	
६ ,,	१०० ,,	११ ,,

(दाहिनी ओर)

स्थल-सेना द्वारा आधुनिक युद्ध में काम में लायी जानेवाली चौड़े मुँह की एक भीमकाय तोप का सामने की ओर से लिया गया फ़ोटो। रायफलों की तरह आजकल की इन भारी तोपों की नली में भी सर्पिल खाँचे बने रहते हैं।

तोप का मुँह (कैलिबर)	शेल का वज़न	शेल की पहुँच
५·५ इंच	८१ पौंड	
४·७ ,,	४५-५० ,,	८ मील
४·५ ,,	४० ,,	
४ ,,	३१ ,,	
३ ,,	१२-१६ ,,	
१ ,, (पाम-पाम)	२ ,, (४ मील की उँचाई तक)	

युद्धपोतों पर तोपें दो-दो और तीन-तीन के गुट्ट में आरूढ़ करायी जाती हैं। वायुयानों को निशाना बनानेवाली तोपें छोटे आकार की होती हैं। ये आसानी से आकाश की ओर लगभग एकदम सीधी घुमाई जा सकती हैं—धरती के संग ८० अंश का कोण बनाते हुए। इनमें से कुछ तो ८ मील की ऊँचाई तक शेल फेंक सकती हैं।

एक ही आकार की दो-दो तीन-तीन तोप एक ही जगह पर स्थापित की जाती हैं। जहाँ पर तोप में शेल भरे जाते हैं, वह जगह मज़बूत फ़ौलाद की चद्दरों से घिरी रहती है। इसे 'गन-टरेट' कहते हैं। लक्ष्य पर शेल फेंकने के लिए तोप का मुँह जब उस ओर घुमाना होता है तो शक्तिशाली मशीनों द्वारा समूचे गन-टरेट को ही घुमाते हैं। टरेट के नीचे तहख़ाने में शेल रखे रहते हैं। एक लोहे के पीपे में से होकर शेल ऊपर पहुँचते हैं। प्रत्येक शेल एक टन से भी अधिक भारी हो सकता है। अतः इसे नीचे तहख़ाने से ऊपर गन-टरेट में पहुँचाने के लिए यांत्रिक शक्ति का प्रयोग करते हैं।

बड़े आकार की तोपों में शेल को चालक शक्ति प्रदान करने के लिए धीमी गति का विस्फ़ोटक 'कार्डाइट' भी अत्यधिक मात्रा में काम में लाया जाता है। १६ इंच वाली तोप के लिए ४ मन कार्डाइट एक रेशमी थैले में भरकर शेल के पीछे विस्फोट कराया जाता है। रेशमी थैला इसलिए प्रयुक्त किया जाता है कि विस्फोटन के उपरान्त इससे कोई राख नहीं बचती, जिससे नली गन्दी नहीं होने पाती। कार्डाइट के पीछे ही थोड़ी-सी बारूद रखी जाती है। इस बारूद में एक पतला-सा तार पड़ा रहता है। खटका दबाते ही विद्युत्-धारा तार में प्रवाहित होती है। अत तार गर्म होकर लाल तप्त हो जाता है और बारूद भभक उठती है। यही बारूद फिर कार्डाइट को विस्फोट कराती है।

बड़ी तोपों की नली बेहद लम्बी होती है। तोप का मुँह जितना चौड़ा होता है, उससे ४०-४५ गुनी लम्बी यह नली हुआ करती है। उदाहरण के लिए १६ इंच मुँहवाली तोप की नली १६ × ४५ इंच लम्बी होती है—पूरे ६० फीट लम्बी! नली को इतनी अधिक लम्बी रखने से कार्डाइट के विस्फोटन की पूरी शक्ति शेल पर पड़ती है। अतः शेल की गति ख़ूब तेज़ हो जाती है—लगभग १८०० मील प्रति घण्टा!

इस तीव्र गति से जब एक-एक टन के शेल नली से बाहर निकलते हैं तो तोप की नली को प्रबल धक्का पीछे की ओर लगता है। तोप की नली अपने ढाँचे पर इस तरह आरूढ़ करायी रहती है कि नली ढाँचे को बिना धक्का दिये ही पीछे को सरक सकती है। किंतु नली कुछ अधिक पीछे जा नहीं पाती। नली के पिछले भाग से एक मज़बूत पिस्टन जुड़ा होता है, जिसमें कुछ नन्हें-नन्हें छिद्र बने रहते हैं। यह पिस्टन एक तेल से भरे हुए सिलिण्डर में खिसकता है। यह सिलिण्डर तोप के ढाँचे में लगा होता है। नली को जब धक्का लगता है तो यह पिस्टन तेल के सिलिण्डर में पीछे को हटना चाहता है। उसके दबाव से पिस्टन के सूराख़ों में से तेल दूसरी ओर धीरे-धीरे निकलता है और इस तरह धक्का तेल में जज्ब हो जाता है। इस योजना के कारण तोप की नली अधिक से अधिक ३ फ़ीट पीछे सरक पाती है। इस धक्के को स्प्रिङ्ग में जज्ब करके उसी की शक्ति से नली को फिर पूर्ववत् अपने स्थान पर ले आते हैं।

ऐण्टी-एयरक्राफ़्ट या वायुयान-निरोधक तोपें

ऐण्टी-एयरक्राफ़्ट या वायुयान-निरोधक तोपें छोटे मुँहवाली होती हैं, किन्तु वे तीव्र-गति से फ़ायर करनेवाली होती हैं। इस श्रेणी की एक 'पाम पाम' तोप तेज़ी से सेर-सेर भर के शेल फेंकती है। इस तरह की आठ तोपें एक टरेट (बुर्ज) में स्थापित होती हैं। यह टरेट इच्छानुसार किसी भी दिशा में घुमाई जा सकती है। फ़ायर की रफ़्तार बढ़ाने के उद्देश्य से इन तोपों के अन्दर शेल भी पेटियों द्वारा पहुँचाये जाते हैं, ठीक मशीनगन की कारतूसों की तरह। ये आठों पाम-पाम तोपें आसमान में विस्फोटक शेल की एक टट्टी-सी खड़ी कर देती हैं, जिसे भेदकर कोई वायुयान आगे बढ़ने का साहस नहीं कर सकता।

दूर तक शेल फेंकनेवाली तोपों के लिए विशेष निशाना साधने का काम भी कम दुस्तर नहीं होता। मान लीजिए कि शेल तोप से २० मील की दूरी तक फेंका जा रहा है। जितनी देर में शेल अपना रास्ता तय करेगा उतनी देर में पृथ्वी अपनी कीली पर कुछ-न-कुछ घूम ही जायगी। अतः
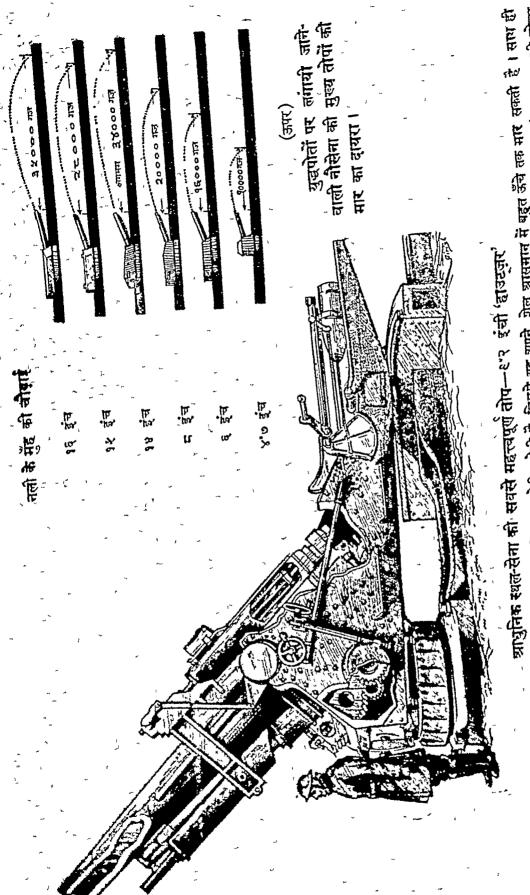
(ऊपर) युद्धपोतों पर लगायी जाने-वाली नौसेना की मुख्य तोपों की मार का दायरा।

आधुनिक स्थल-सेना की सबसे महत्त्वपूर्ण तोप—९·२ इंची 'हाउट्ज़र'

यह तोप ख़ास ढंग की बनी होती है। इसकी नली की लंबाई अपेक्षाकृत छोटी होती है, जिससे यह अपने शेल आसमान में बहुत ऊँचे तक मार सकती है। साथ ही इसके शेल काफी दूरी तक भी मारे जा सकते हैं। प्रस्तुत चित्र में ९·२ इंच चौड़ी नली वाली इस ढंग की जिस तोप की रूपरेखा दिग्दर्शित की गयी है, उसका भारी गोला आठ मील दूरी तक फेंका जा सकता है। यह गोला या शेल इसमें यांत्रिक उपकरणों द्वारा अपने आप भर दिया जाता है। चित्र में तोप की नली के कुछ अंश को काटकर उसकी भीतरी रचना दिखायी गयी है। इस तोप द्वारा दागे गये गोले अपने लक्ष्य पर बहुत ऊँचाई से तिरछे जाकर गिरते हैं, जिसके कारण वे लक्ष्य को कहीं अधिक क्षति पहुँचाने में समर्थ होते हैं।

निशाना साधते समय पृथ्वी के घुमाव का भी ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक होता है।

ज़हाज़ पर की तमाम तोपों के लिए निश्चित दिशा में फ़ायर करने का आदेश कप्तान से मिलता है। कप्तान जहाज़ के सबसे ऊँचे 'कन्ट्रोल-रूम' मे बैठा हुआ दूरवीक्षण-यन्त्र से शत्रु के जहाज़ की गति का निरीक्षण करता रहता है। 'टरेट' पर लगे हुए 'रेन्ज-फाइन्डर' (दूरी बतानेवाले यन्त्र) से शत्रु के जहाज़ की दूरी का ठीक-ठीक पता लग जाता है। 'टरेट' से 'कन्ट्रोल-टॉवर' में ख़बर भेजी जाती है कि शत्रु का जहाज़ कितनी दूरी पर है। अब कन्ट्रोल-टॉवर' से जहाज़ की विभिन्न 'गन-टरेटों' के नियन्त्रकों को आदेश दिया जाता है कि अमुक दिशा में अमुक कोण की ऊँचाई पर अमुक दूरी के लिए फायर करो।

जिस समय तोपें फ़ायर करती रहती हैं, उस समय भी कन्ट्रोल-अफ़सर दूरवीक्षण यन्त्र लगाये देखा करता है कि शेल लक्ष्य से आगे पीछे तो नहीं गिर रहे हैं। यदि ऐसा हुआ तो वह फौरन् तोपचियों को फिर से आदेश भेजता है कि शेल की दूरी बढ़ाओ या घटाओ। दस पन्द्रह मील की दूरी पर शेल फ़ायर करते समय प्राय स्वपक्ष के वायुयानों से भी काफी सहायता मिलती है। ये वायुयान रेडियो द्वारा कन्ट्रोल-अफ़सर को सूचना देते रहते हैं कि शेल ठीक अपने लक्ष्य पर गिर रहा है या कुछ आगे-पीछे। इस सूचना के अनुसार कन्ट्रोल-अफ़सर फ़ायरिंग की दिशा और दूरी में सुधार कर लेता है।

कवचधारी युद्ध-शकट—आर्मर्ड कार और टैंक

आधुनिक स्थल-सेना का यंत्रीकरण एक बहुत बडे अंश तक किया जा चुका है। पुराने युग की अश्वारोही सेना का स्थान आजकल टैङ्क-डिविजन और आर्मर्ड कारों ने ले लिया है। आर्मर्ड कार और टैङ्क में मुख्य अन्तर उनके पहियों का है। आर्मर्ड कार के पहिये मोटर-लारी के पहियों की भाँति टायरवाले होते हैं, अत. ये सड़कों पर या मैदानों में ही प्रयुक्त की जा सकती हैं। रेगिस्तान के युद्ध में आर्मर्ड कारें विशेष रूप से प्रयुक्त होती हैं। किन्तु टैङ्क में पहियों के स्थान पर लोहे की एक प्रकार की दाँतदार ज़ंजीर की बेल्ट लगी होती है। बेल्ट के भीतर दाँतदार पहियों के घूमने से यह बेल्ट भी चक्कर लगाता है और टैङ्क उबड़-खाबड़ भूमि पर भी आगे बढ़ता जाता है। सच यह है कि टैङ्क स्थल-सेना की सबसे अधिक पेचीदा मशीन है। मोटरकार से इसने इंजन लिया, कृषि-ट्रैक्टर से पहिये और बेल्ट लिये और युद्धपोत से अपने को ढकने के लिए मज़बूत इस्पात की चद्दरों का कवच उधार लिया। इसके अन्दर की तनिक-सी जगह में लगभग आधे दर्जन व्यक्ति अपनी-अपनी ड्यूटी पर लगे रहते हैं। कोई मशीनगन सँभालता है, कोई हलकी तोपों का परिचालन करता है, कोई शत्रु की गतिविधि का पता लगाने के लिए पेरिस्कोप पर आँख लड़ाता है तो कोई रेडियो सेट के 'हेडफ़ोन' पर कान लगाये हेडक्वार्टर के आदेश को सुनने का प्रयत्न करता है। इसकी 'गन-टरेट' विद्युत्शक्ति से घुमाई-फिराई जा सकती है।

टैङ्क वास्तव में शत प्रतिशत ब्रिटिश आविष्कार है। प्रथम जर्मन महायुद्ध में १५ सितम्बर, १६१६, को पहली बार फ्रान्स की रणभूमि में मित्र-सेना द्वारा टैङ्क प्रयुक्त हुए थे। अचानक जब रणभूमि में टैङ्क की बन्द गाड़ियाँ जर्मन मशीनगनों की गोलियों की कुछ भी परवा न करते हुए, निर्द्वन्द्व भाव से गोलियों की बौछार करते हुए, आगे बढ़ने लगीं तो जर्मन सैनिक होशहवास खो बैठे। उन्होंने ऐसे विचित्र दानव पहले कभी देखे भी न थे। टैङ्क की गाड़ियाँ गड्ढों और खाइयों को भी आसानी से पार करती हुई आगे बढ रही थीं।

टैङ्क के आविष्कार की ख़बर अंतिम क्षण तक एकदम गुप्त रखी गयी थी। जिस समय जहाज़ पर लादकर ये फ्रान्स भेजे जा रहे थे उस समय ये जिन केसों में बन्द किये गये थे, उन पर लिखा गया था—"रूस के लिए टैङ्क"। अंग्रेज़ी में 'टैङ्क' का अर्थ होता है पानी का हौज। इस नाम से लोगों को भ्रम में डाला गया था। किन्तु बाद में ये गाड़ियाँ इसी नाम से प्रसिद्ध हो गयीं।

हलके, भारी और औसत दर्जे के टैंक

आधुनिक टैङ्क साधारणतया तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—भारी, औसत दर्जे के तथा हलके टैङ्क। युद्ध-स्थल पर इन तीनों श्रेणियों के टैङ्कों के काम अलग-अलग तरह के होते हैं।

ब्रिटिश सेना के हलके टैङ्कों (लाइट टैङ्कों) का वज़न ५ से ६ टन तक होता है। इन पर एक 'विकर्स गन' और एक ५ इंच वाली मशीनगन लगी होती है। साधारणतया शत्रु की सेना की टोह लगाने के लिए ये दूर-दूर तक दौड़ लगाते तथा मुख्य पैदल सेना के आक्रमण के समय शत्रु पर बगल या पीछे से आक्रमण कर सकते हैं। ये ऊबड़-खावड़ धरती पर भी काफ़ी तेज़ गति से आगे बढ सकते हैं।
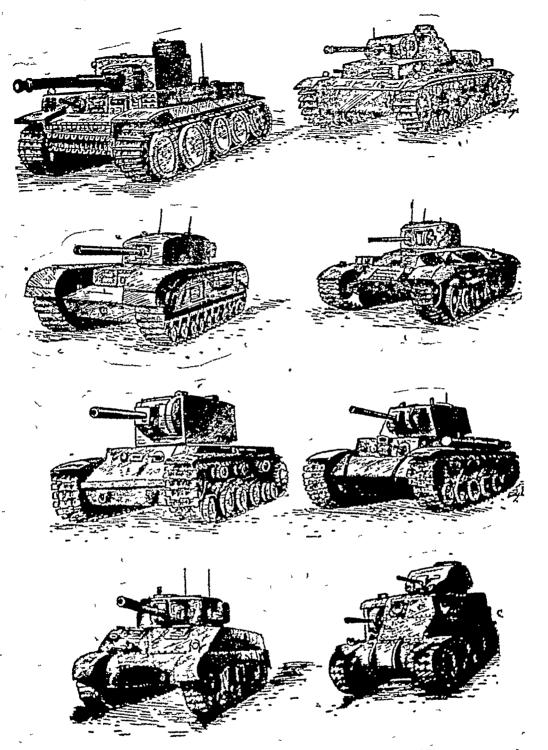
पिछले महायुद्ध में उभयपक्ष द्वारा प्रयुक्त भारी वज़न के प्रमुख टैंकों के कुछ नमूने

प्रथम पंक्ति—जर्मन टैंक 'पांज़र IV' (२२ टन) और 'मार्क VI' या 'टाइगर टैंक' (५४-६० टन)।

द्वितीय पंक्ति—ब्रिटिश टैंक 'वेलेंटाइन' (१६ टन) और चर्चिल' (२७ टन)।

तृतीय पंक्ति—रूसी टैंक 'K.V.I (४३ टन) और 'K.V.II' (५२ टन)।

चतुर्थ पंक्ति—अमेरिकन टैंक 'ग्रांट' (३० टन) और शेरमेन' (३० टन)।

औसत श्रेणी (मीडियम) के टैङ्क का वज़न लगभग १६ टन होता है। इस पर तीन 'विकर्स गनें' लगी होती हैं और एक तीन पौण्ड शेल वाली तोप भी। टैङ्क-रेजिमेण्ट के मुख्य आक्रमणकारी टैङ्क इसी श्रेणी के हुआ करते हैं। इन टैङ्कों पर मॉर्टर नामक तोपें भी लगी होती हैं, जिनसे धुएँवाले बमों को दागकर धुएँ का परदा खड़ा कर दिया जाता है। इसी पर्दे की आड़ में पैदल सेना तथा अन्य टैङ्क आगे बढ़ सकते हैं। ये समतल ज़मीन पर ४० मील प्रति घंटे के हिसाब से दौड़ सकते हैं।

भारी टैङ्क (इन्फैन्ट्री टैङ्क) स्थल-सेना के दानव हैं। फ्रांस में इस ढंग के टैङ्क के निर्माण पर अधिक ज़ोर दिया गया है। इनका मुख्य काम पैदल सेना के मुख्य आक्रमण के लिए रास्ता साफ़ करना है। इनकी फौलाद की मोटी चद्दर एक प्रकार से अभेद्य ही होती है। पैदल सेना के आगे आगे ये शत्रु की गोलियों की परवा किये बिना निधड़क धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाते हैं। सामने के तार की रुकावट तथा अन्य बाधाओं को अपने भारी वज़न द्वारा ही नष्ट करते हुए ये आगे बढ़ते हैं। साथ ही अपनी गोलियों की बौछार के ज़ोर से ये पीछे आती हुई सेना की रक्षा भी करते हैं। रूस के भारी वज़नवाले टैङ्क वास्तव में विशालकाय होते हैं। इनका वज़न ७०-८० टन तक पहुँचता है, फिर भी समतल ज़मीन पर बीस-पचीस मील की रफ़्तार से ये भागते हैं। ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर उनकी रफ़्तार ६ मील प्रति घण्टे ठहरती है। इनके कार्यक्षेत्र की परिधि २०० मील के घेरे तक पहुँचती है। रूस के हाल के वृहत् टैङ्कों का वज़न १२० टन तक पहुँचता है। इनमें तीन मंज़िलें होती हैं तथा उन पर शक्तिशाली तोपें आरूढ़ की गई होती हैं। विशेषज्ञों का अनुमान है कि पिछले युद्ध मे रूस के कम से कम १० हज़ार टैङ्कों ने भाग लिया था। रूस के युद्ध-विशेषज्ञों ने 'एम्फिबियन टैङ्क' भी बनाये हैं, जो जल तथा थल दोनों पर चल सकते है। पानी पर ये टैङ्क प्रोपेलर की सहायता से चलते हैं और धरती पर चेन चढ़े हुए पहियों की सहायता से। अमेरिका ने भी 'एम्फिबियन टैङ्क' बनाये हैं। ये टैङ्क हलकी श्रेणी के होते हैं। धरती पर ये ६० मील प्रति घण्टे के हिसाब से दौड़ सकते हैं, पानी पर ये क़रीब १२ मील प्रति घण्टे की गति से जाते हैं। रूसी टैङ्क पर ६ इंच वाली तोप लगी रहती हैं, ताकि शत्रु के टैङ्कों की फ़ौलादी चद्दरों को इस तोप के शेल आसानी से भेद सकें। कहा जाता है कि विगत युद्ध में कई बार जर्मन टैङ्कों पर आक्रमण करके रूसी टैङ्कों ने केवल अपने भारी भरकम वज़न के ज़ोर से ही उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। जब ये टैङ्क मैदान में आगे बढ़ते हैं तो उनके अन्दर इतना अधिक कोलाहल होता है कि एक दूसरे की बात सुनाई नहीं पड़ती। अत: अन्दर के सैनिक टेलीफोन द्वारा ही एक दूसरे से बातचीत करते हैं। बाहर का समाचार ग्रहण करने के लिए रेडियो का प्रयोग किया जाता है।

प्रत्येक टैङ्क-डिविजन के साथ विशेषज्ञ मिस्त्रियों और इञ्जीनियरों का एक दल भी चलता है। युद्ध के क्रम में टैङ्क, आर्मर्ड कार, मशीनगन, तोप या अन्य किसी मशीन में यदि कोई ख़राबी हुई तो उसे फ़ौरन् दुरुस्त करने का उत्तरदायित्व इस दल के ऊपर होता है। आवश्यकता पड़ने पर आधी रात को विस्तर पर से उठकर इन मशीनों की मरम्मत करने के लिए इन्हें जाना पड़ता है। हर तरह की मरम्मत का काम इन्हे करना पड़ता है। सम्भव है कि किसी टैङ्क के पहिये की बेल्ट टूट गयी है या उसके अन्दर इंजन मे कोई ख़राबी पैदा हो गयी है। या सम्भव है कि रेडियो सेट में किसी तरह की गड़बड़ी पैदा हो गयी है। इन सब को ठीक करना इन्हीं विशेषज्ञों का काम है। कभी-कभी तो रात-रात भर ये लोग सो नहीं पाते, क्योंकि सूर्योदय होते ही ये टैङ्क शत्रु से लोहा लेने के लिए फिर आगे बढ़ेंगे।

टैङ्क के अफसर और ड्राइवर को नित्य शाम को रणस्थल से लौटने पर टैङ्क को धो-पोंछकर साफ़ करना पड़ता है। दिन भर टैङ्क की चेन कीचड़ और रेत को मथती रही है, अत: उसकी एक-एक कड़ी मे कीचड़ जम जाती है। धूल की इंचों मोटी तह भी इन पर इकट्ठी हो जाती है। अगले दिन का काम आरम्भ करने के पहले इन्हें हटाना अनिवार्य होता है। टैङ्क के पुर्जों में यदि धूल चली जाय तो वे जल्दी ही ख़राब हो जाते हैं। पेट्रोल की टङ्की भी उस समय तक नहीं खोलते जब तक कि टैंक पूर्णतया साफ़ न हो जाय, अन्यथा धूल के कण पेट्रोल की टङ्कियों में जाकर काव्र्यूरेटर के छिद्र को बन्द कर देते हैं। दिन भर के परिश्रम से ये लोग चाहे कितने ही थक गये हों, फिर भी सबसे पहले ये टैंक की सफ़ाई करते हैं। फिर पानी और पेट्रोल की टङ्कियाँ भरते हैं, टैङ्क के पेरिस्कोप की जाँच करते हैं, मशीनगनों की देख-रेख करते हैं, इंजन की भी परीक्षा कर लेते हैं। इस प्रकार अगले दिन के लिए टैङ्क को पूर्णतया 'रेडी' या तत्पर करके ही ये लोग अपने नहाने-धोने तथा खाने का प्रबन्ध करते हैं।

टैङ्क जिस समय रणस्थल पर अपनी खिड़कियों को बन्द

करके आगे बढ़ता है, तब उसके अन्दर बैठे हुए व्यक्ति जिनकी (संख्या पाँच-छः के लगभग होती है) नितान्त कोलाहल में अपना काम करते हैं। टैङ्क के अन्दर मशीनगन, रेडियो सेट, दिशासूचक यंत्र, शेल और गोले आदि का जमघट-सा रहता है। कुछ लोगों का ख़याल होगा कि टैङ्क के अन्दर बन्द जगह में बड़ी गर्मी रहती होगी, किन्तु बात ठीक इसके विपरीत है। टैङ्क के इंजन को ठण्डा रखने के लिए हवा पंखे द्वारा भीतर खींची जाती है। अत: हवा के निरन्तर झोंके के कारण टैङ्क के अन्दर का भाग ठण्डा ही रहता है। इसीलिए टैङ्क के अन्दर बैठनेवाले व्यक्ति प्रायः ऊनी कपड़े और मोजे पहने रहते हैं। ये लोग सिर पर गद्देदार टोप भी पहनते हैं ताकि ऊँची-नीची ज़मीन पर टैङ्क के उछलने से इनके सिर उसकी छत से टकरा न जाँय।

बम तथा अन्य विस्फोटक अस्त्र-शस्त्र

आधुनिक युद्ध की प्राणशक्ति विस्फोटक पदार्थों में निहित है, इसमें सन्देह करने की गुंजायश नहीं है। तेरहवीं शताब्दी में बारूद के आविष्कार ने युद्धास्त्रों में सर्वप्रथम क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किया। पलीते से दागी जानेवाली बन्दूकों और तोपों ने बारूद के ज़ोर से वह काम कर दिखाया जो तलवार, बर्छे, भाले आदि के बूते का न था। कालान्तर में विस्फोटक पदार्थों को और भी शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न किये गये और फलस्वरूप आजकल के नये-नये विस्फोटक पदार्थों का निर्माण हुआ।

आइए, देखें कि विस्फोटक पदार्थ होते क्या हैं? बारूद को ही ले लीजिए। सीमित जगह में बारूद को चिनगारी दिखलाने से यह धड़ाके के साथ भभककर जल उठता है—इस क्रिया को 'विस्फोटन' का नाम दिया गया है। विस्फोटन के कारण तनिक-सी बारूद बहुत अधिक गैस के रूप में परिवर्तित हो जाती है। बन्दूक के अन्दर यह गैस नली में बन्द होने के कारण गोली को धक्का देकर तीव्र
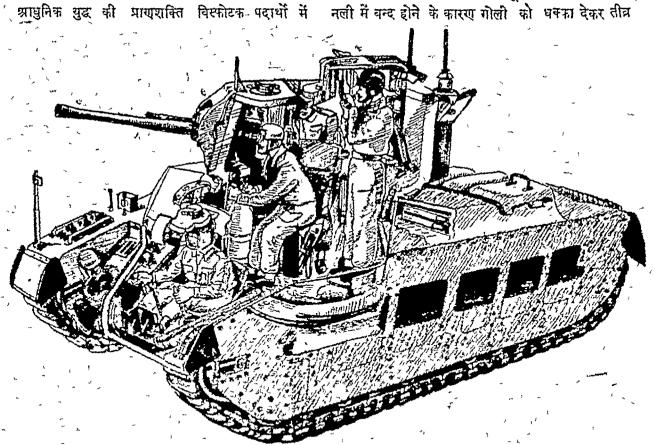
टैंक की भीतरी रचना का मानचित्र

प्रस्तुत चित्र में एक टैंक के ऊपरी फ़ौलादी आवरण को हटाकर उसके भीतर का दृश्य दिग्दर्शित किया गया है। देखिये, किस प्रकार लौह दीवार के भीतर कक्ष की सीमित जगह में चार-पाँच या उससे भी अधिक व्यक्ति मानों क़ैद-से होकर अपना-अपना काम करते हैं। कोई टैंक को मोटर-ड्राइवर की तरह उचित दिशा में चलाता है तो कोई पेरिस्कोप में निशाना साधकर तोप या मशीनगन चलाता है। कोई रेडियो द्वारा हेडक्वार्टर के साथ बातचीत करता है तो कोई गोला-बारूद सँवारता है।

वेग से बाहर भगाती है। वास्तव में विस्फोटन और साधारण जलने में काफी अन्तर है। कोयला या लकड़ी जब जलते हैं तो वे हवा की ऑक्सीजन लेते हैं। साथ ही यह जलने की क्रिया धीरे-धीरे सम्पादित होती है। किन्तु विस्फोटन में जो चीज़ें जलती हैं, उन्हें स्वयं अपने अन्दर से ही ऑक्सीजन प्राप्त होती है। इसी कारण विस्फोटन की क्रिया तीव्र वेग से सम्पादित होती है। बारूद में कोयला, गन्धक और शोरा रहता है। शोरा अपने अन्दर की ऑक्सीजन गन्धक और कोयले के जलने के लिए आसानी से दे देता है।

रसायन-विज्ञान की उन्नति के साथ अनेक प्रकार के नये विस्फोटक पदार्थों का निर्माण हुआ। यहाँ तक कि बीसवी शताब्दी के विभिन्न विस्फोटक पदार्थों की गिनती सौ से भी ऊपर पहुँचती है। किन्तु ये सभी तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। प्रथम धीमी गति से विस्फोट करनेवाले, द्वितीय वे जिनका विस्फोटन अतीव तीव्र गति से होता है और तीसरे वे जो हलके आघात से ही विस्फोट कर जाते हैं।

बारूद प्रथम श्रेणी का विस्फोटक पदार्थ है। इसका विस्फोटन अपेक्षाकृत धीमी गति से होता है। बन्दूक की नली में बारूद धीमी गति से विस्फोट करता हुआ गोली को अपनी गैसों के ज़ोर से आगे बढ़ाता है। गोली या तोप के गोले को नली के अन्दर चालक शक्ति प्रदान करने के लिए धीमी गतिवाले ही विस्फोटक प्रयुक्त किये जाते हैं। बारूद के विस्फोटन में धुआँ अधिक उत्पन्न होता है, अत बन्दूक की नली शीघ्र ही गन्दी हो जाती है। इसी-लिए अब बन्दूक और तोप के अन्दर बारूद की जगह "स्मोकलेस पाउडर" का प्रयोग होता है। 'स्मोकलेस पाउडर' शोरे के तेज़ाब में सूत के रेशों को डालकर तैयार किया जाता है। इसके विस्फोट से बहुत कम सफेद सा धुआँ निकलता है। इसके प्रतिकूल बारूद से काला धुआँ इतनी अधिक मात्रा में निकलता है कि दूर से इस धुएँ को देखकर शत्रु पता लगा लेता है कि तोप किस स्थान पर दागी जा रही है। इस पाउडर की विस्फोटन-गति प्रति सेकेण्ड तीन-चार इंच होती है। बन्दूक की नली के अन्दर गर्मी के कारण इसकी विस्फोटन-गति थोड़ी-बहुत अवश्य ही बढ़ जाती है। अपनी धीमी गति के विस्फोटन द्वारा ही यह नली के अन्दर से धक्का देकर गोली को बाहर निकालता है। जितनी देर में गोली नली के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचती है, उतनी देर तक बराबर इस पाउडर का विस्फोटन जारी रहता है। अतः पाउडर के विस्फोटन का ज़ोर धीरे-धीरे बढ़ता है। यदि इस धीमी गतिवाले विस्फोटक के स्थान पर तीव्र गति का कोई विस्फोटक नली में रख दिया जाय तो यह तमाम का तमाम क्षणमात्र में विस्फोट कर जायगा और चूँकि गोली अभी आगे सरक नहीं पायी थी, अतः विस्फोटन की गैस का सारा ज़ोर तनिक-सी सँकरी जगह में पड़ेगा और नली के टुकड़े-टुकड़े उड़ जायँगे। आजकल कार्तूस और शेल के अन्दर चालक शक्ति प्राप्त करने के लिए 'कार्डाइट' का प्रयोग होता है—यह भूरे रंग का पदार्थ नाइट्रोग्लि-सरीन, गनकाटन और खनिज 'जेली' से तैयार किया जाता है।

तीव्र गति के विस्फोटक कार्तूस या शेल के अगले भाग में रखे जाते हैं। हम इनकी उपमा सोते हुए कुम्भकर्ण से दे सकते हैं, क्योंकि धीमी गति के विस्फोटकों की अपेक्षा ये अधिक कठिनाई से विस्फोट करते हैं। किन्तु जब ये विस्फोट करेंगे तो अत्यन्त तीव्र वेग से अपने आस-पास की चीज़ों का सर्वनाश करके छोड़ेंगे। चालक विस्फोटक के विस्फोट करने पर उसके धक्के से जब 'शेल' आगे को बढ़ता है, तब इसके अन्दर का तीव्र-गति वाला विस्फोटक सुषुप्त पड़ा रहता है। जब शेल अपनी नाक के बल लक्ष्य से टकराता है तो नाक पर लगी हुई 'फ्यूजपिन' सहायक विस्फोटक में धड़ाका उत्पन्न करके इस सोते हुए दानव को जगाती है और तब यह अत्यन्त तीव्र गति से विस्फोट करके शेल तथा उसमें भरी गोलियों या कील-काँटों को अपने चारों ओर तीव्र वेग से बिखरा देता है। इनके रास्ते में जो कुछ आए उसका सर्वनाश ही समझिये। तीव्र गति के विस्फोटकों में 'टी. एन. टी.' और 'डायनमाइट' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी विस्फोटन-गति प्रति मिनट ५ मील से भी अधिक है। अर्थात् यदि टी. एन. टी. की एक ५ मील लम्बी छड़ ली जाय और यदि उसके एक सिरे पर विस्फोट कराया जाय तो एक सेकण्ड के अन्दर विस्फोटन की क्रिया दूसरे सिरे तक पहुँच जायगी!

चालक शक्ति प्रदान करनेवाले तथा फटनेवाले तीव्र गति के विस्फोटक—ये दोनों ही कम चेतनशील होते हैं। मामूली धक्का लगने से ये विस्फोट नहीं करते अन्यथा कारख़ानों में, जहाँ ये तैयार किये जाते हैं, इनको एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में बहुत भारी ख़तरे का सामना करना पड़ता। इन्हें उपयुक्त अवसर पर विस्फोट

कराने के लिए तीसरी श्रेणी के विस्फोटकों का प्रयोग किया जाता है। इन्हें 'प्राइमर' के नाम से पुकारते हैं। ये इतने अधिक चेतनशील होते हैं कि फायरिंग पिन के हलके आघात से या बन्दूक के घोड़े के गिरने से ही ये विस्फोट कर जाते हैं। 'प्राइमर' ही विस्फोटन के लिए उत्तेजक का काम करते हैं। इस श्रेणी के विस्फोटकों में लेड अज़ाइड (Lead Azide) और मर्करी-फलमिनेट (Mercury Fulminate) विशेष उल्लेखनीय हैं। ज़रा-सा धक्का लगा, या ज़रा-सा किसी चीज़ से ये घिसे नहीं कि ये विस्फोट कर जाते हैं—सिगरेट की तनिक-सी चिनगारी भी इन्हें विस्फोट कराने के लिए काफी है। इसी कारण आर्डिनेन्स फैक्टरियों में, जहाँ 'प्रायमर' तैयार किये जाते हैं, हद दर्जे की सावधानी बरतनी पड़ती है। एक चुटकी भर 'लेड अज़ाइड' पर यदि आपका पैर पड़ जाय तो इसके विस्फोटन से आपके पैर की उँगलियाँ उड़ जायँगी। सूखी अवस्था में तो लेड अज़ाइड और भी ख़तरनाक होता है, अत कारख़ानों में इसे सदैव पानी से भरे टब में रखते हैं और जिस कमरे में ये टब रखे जाते हैं उस कमरे में भी पानी भरा रहता है। इस टब में से सुखाने के लिए लेड अज़ाइड को हमेशा बहुत थोड़ी मात्रा में ही निकालते हैं। शेल की टोपी में भरने समय तो हद दर्जे की सावधानी बरतनी पड़ती है। बड़े आकार के शेल में लेड अज़ाइड की नपी-तुली मात्रा भर देने पर शेल को उस स्थान से हटाकर दूसरी जगह ले जाने के लिए गाड़ियों पर लगी रस्सी द्वारा उसे दूर से खींचते हैं, ताकि लेड अज़ाइड के आकस्मिक विस्फोटन से कर्मचारी उसने को सुरक्षित बनाये रख सकें।

रायफ़ल की कारतूसों का आकार छोटा होता है, अत कारतूस के पिछले सिरे पर लगे हुए ढक्कन में प्राइमर के

२॥ फीट १० पौंड — १०॥ फीट १२४० पौंड — १३॥ फीट ३६६० पौंड

वायुयानों से गिराये जानेवाले बमों के आकार और वज़न का एक तुलनात्मक मानचित्र

ऊपर बायें कोने में एक 'आग्नेय बम' का चित्र है। चित्र में बम का कुछ अंश काट कर भीतर की मैग्नीशियम धातु की नली दिखाई गयी है।

दगने पर भीतर का 'स्मोकलेस पाउडर' विस्फोट कर जाता है। किन्तु बड़ी तोपों के 'शेल' में सात तरह के विभिन्न विस्फोटकों की लड़ी सजाकर रखी जाती है। फायरिंग पिन पहले 'मर्करी फल्मिनेट' को दागती है। उसके इन शेलों में दगने पर सहायक विस्फोटक 'ब्लेक पाउडर' दगता है, और तब चालक विस्फोटक 'स्मोकलेस पाउडर' ज़ोरों के साथ विस्फोट करके शेल के अगले भाग को तीव्र गति से आगे को भगाता है। शेल के इस अगले भाग में भी ठीक इस क्रम से विस्फोटक रखे रहते हैं। केवल स्मोकलेस पाउडर के स्थान पर तीव्र विस्फोटक भरा रहता है। लक्ष्य पर टकराने पर शेल की नाक पर लगी हुई फ्यूज़पिन भीतर घुसकर प्राइमर को विस्फोट कराती है। फिर ब्लैक पाउडर और सहायक विस्फोटक द्वारा यह विस्फोटक प्रमुख तीव्र विस्फोटक तक पहुँचता है, जबकि शेल पूरी शक्ति के साथ फट जाता है। शेल के फटने पर उसके अन्दर की गोलियाँ, छर्रे तथा केस की दीवाल के टुकड़े आदि वेग के साथ जब इधर-उधर बिखरते हैं तो उनके आघात से मनुष्य या मकान आदि को तो भारी क्षति पहुँचती ही है, साथ ही विस्फोटन के धक्के से वायु में तीव्रतम वेग की कम्पन पैदा होती है, जो बड़ी-बड़ी इमारतों को भी धराशायी बना देती है। इस कम्पन के धक्के से मनुष्य के कान के पर्दे फट जाते हैं और उसके मस्तिष्क की रक्त शिरायें भी फट जाती हैं जो उसकी मृत्यु का सहज ही कारण बन जाती हैं। जिस जगह इस तरह का शेल फटता है, उसके चारों ओर चौथाई मील के घेरे तक वायु का यह धक्का अपना असर पैदा करता है।
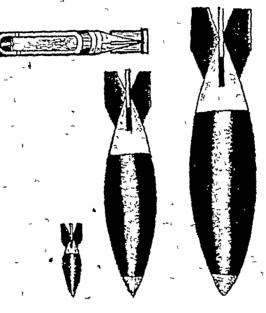
टैंक की फौलादी चद्दरों को या जहाज़ के मज़बूत पेंदे को भेदने के लिए विशेष ढंग के शेल बनाए जाते हैं। उपर्युक्त ढंग के शेल चद्दर से टकराते ही फट जायँगे, अतः

ये चद्दर को भेद न पायँगे और न अन्दर विशेष क्षति ही पहुँचा पायेंगे। इसलिए चद्दर भेदनेवाले (आर्मर पियर्सिंग शेल) के अगले सिरे पर बहुत ही मज़बूत क़िस्म के लोहे का केस चढ़ा होता है तथा इसकी फ्यूज़पिन में इस तरह का प्रबंध रहता है कि चद्दर से टकराने के एकाध सेकंड या एकाध मिनट बाद फ्यूजपिन अपने 'प्राइमर' का विस्फोट कराये। ज्योंही शेल की नाक चद्दर से टकराती है, नाक के अन्दर लगा हुआ एक छोटा-सा पहिया पेंचदार कील पर घूमने लगता है। कुछ चक्कर लगा लेने पर इससे लगी हुई फ्यूज़पिन नीचे सरककर प्राइमर से जा लगती है और उसे विस्फोट करा देती है। फिर अन्य सहायक विस्फोटकों द्वारा मुख्य तीव्र विस्फोटक तक यह विस्फोट पहुँच जाता है। ऐसे फ्यूज़ को टाइम-फ्यूज़ कहते हैं। यह यंत्र इतना मज़बूत होता है कि तोप में चालक विस्फोटक के धक्के से शेल जब आगे बढ़ता है उस वक्त भी इस यंत्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

रायफल और मशीनगन की कार्तूसों में प्राइमर और चालक विस्फोटक 'कार्डाइट' तो रहते हैं, किन्तु फटनेवाले तीव्र गति के विस्फोटक इनके अन्दर नहीं रहते, क्योंकि इन कार्तूसों का काम लक्ष्य को भेदना होता है। लक्ष्य से टकराकर ये फटते नहीं। इनका आकार इतना छोटा होता है कि इनके फटने से विशेष क्षति नहीं पहुँच सकती। साधारणतया ये कार्तूसें तीन तरह की बनायी जाती हैं। एक जिसमें सामनेवाले भाग में नुकीली गोली भरी रहती है; दूसरी चद्दर भेदनेवाली 'आर्मर पियर्सिंग' कार्तूस, जिसके अगले भाग में विशेष रीतियों द्वारा कड़ी की गयी फौलाद की गोली रहती है और तीसरी 'ट्रेसर बुलेट', जिसके अगले भाग में सीसे की गोली के पीछे कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्य भरे रहते हैं, जो रास्ते भर जलते हुए रोशनी पैदा करते जाते हैं। अत रात को मशीनगन चलानेवाला 'ट्रेसर बुलेट' की सहायता से पता लगा सकता है कि उसकी गोली निशाने पर ठीक लग रही है या नहीं।

ठीक इनके प्रतिकूल वायुयान से गिराये जानेवाले बम में प्राइमर तथा तीव्र विस्फोटक तो रहते हैं, किन्तु उनके अन्दर चालक शक्ति प्रदान करनेवाले धीमी गतिवाले विस्फोटक (कार्डाइट या स्मोकलेस पाउडर) नहीं होते। इसका कारण यह है कि वायुयान से गिरने पर बम ज्यों-ज्यों नीचे की ओर आते हैं, त्यों-त्यों पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण इनकी गति स्वयं बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए १२००० फ़ीट की ऊँचाई पर से यदि बम गिराया जाय तो धरती पर पहुँचते-पहुँचते उसकी गति लगभग ७०० मील प्रति घण्टे तक पहुँच जायगी! बम की पूँछ पर पतवार की तरह चार 'वेन' लगे रहते हैं। जब बम नीचे को गिरता है तो ये पतवार ही उसकी नाक को नीचे धरती की ओर बनाये रखते हैं। अपने लक्ष्य से टकराते ही नाक की फ्यूजपिन धक्का खाकर भीतर के प्राइमर से टकराकर उसे विस्फोट कराती है और फिर फटनेवाला मुख्य विस्फोटक पूरे वेग के साथ विस्फोट कर जाता है। मकान की छत भेदकर अन्दर जाकर फटनेवाले बम की नाक पर टाइम-फ्यूज़ लगाते हैं। विस्फोटक बम विभिन्न आकार के बनते हैं। ये सवा दो फीट से लेकर साढ़े तेरह फीट की लम्बाई तक पहुँचते हैं। इनका वज़न भी मन सवा मन से लेकर ५० मन तक पहुँचता है। विस्फोटक बम के अतिरिक्त आग्नेय बम भी वायुयानों द्वारा शत्रुप्रदेश पर गिराये जाते हैं। आग्नेय बम लगभग एक फुट लम्बे होते हैं। इनके अन्दर फटनेवाले विस्फोटक के स्थान पर 'थर्माइट' नाम का रासायनिक मसाला भरा रहता है, जो मैग्नीशियम की नली के अन्दर बन्द रहता है। विस्फोट करने पर थर्माइट बहुत ही तेज़ आँच के साथ जलता है और इसकी गर्मी से मैग्नीशियम की नली लगभग २० मिनट तक जलती रहती है। पानी डालने से यह और भी तेज़ी के साथ भभककर जलता है। आग्नेय बम का वज़न सेर-डेढ़ सेर के लगभग होता है, अतः प्रत्येक बमवर्षक वायुयान अपने साथ लगभग ५० हज़ार आग्नेय बम ले जा सकता है। दस-दस बीस-बीस के झुण्ड में ये शत्रुप्रदेश के नगरों पर गिराये जाते हैं। अतः अकेला एक वायुयान इनके द्वारा सारे नगर में जगह-जगह हज़ारों स्थान पर भीषण आग लगा सकता है।

जल तथा थल-सुरंगें

आधुनिक युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले अस्त्र-शस्त्रों में सुरंग की गणना महत्त्वपूर्ण हथियारों में होती है। इसका प्रयोग मुख्यत आक्रमण के लिए नहीं वरन् अपने बचाव के निमित्त किया जाता है। पिछले योरपीय महायुद्ध में जल-सुरंगों का प्रयोग एक बड़े पैमाने पर किया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि जल-सुरंगों के प्रयोग में जर्मनों ने विशेष दक्षता प्राप्त की थी।

जल-सुरंगें एक भारी बम की तरह होती हैं। इन्हें पानी में एक निश्चित गहरायी पर तैरने योग्य बनाने के लिए बम के अन्दर बहुत-सी जगह एकदम खोखली रखनी पड़ती

है, ताकि उसमें हवा के मौजूद रहने से समूचे बम का घनत्व पानी के घनत्व से कम ठहरे, अन्यथा बम पानी में एकदम नीचे पेंदे से जा लगेगा। जल-सुरंग लोहे के चद्दर के गोल पीपे में बन्द रहती है। इस पीपे के बीचोबीच में विस्फोटक पदार्थ भरा रहता है। इसे विस्फोट कराने के लिए 'डेटोनेटर' इस तरह रखा रहता है कि ऊपर निकले हुए सींगों पर ज़रा-सा आघात पहुँचने पर डेटोनेटर जल उठता है और यह सुरंग के विस्फोटक को विस्फोट करा देता है। इस तरह की सुरंगें स्पर्श-सुरंगें कहलाती हैं, क्योंकि जब तक जहाज़ का पेंदा इनके सींगों से लगे हुए तार को छू न ले, ये सुरंगें विस्फोट नहीं करतीं। ये सुरंगें समुद्र के अन्दर सतह से एक निश्चित गहराई पर तैरती रहती हैं, तथा समुद्र के पेंदे पर रखा हुआ लंगर मजबूत तार के सहारे इन्हें अन्यत्र बहक जाने से रोके रखता है। स्पर्श-सुरंगों में लंगर डालने में भी हद दर्जे के बुद्धि-कौशल से काम लिया जाता है। लंगर की रील में लिपटे हुए तार की लम्बाई का घेरा बढ़ाकर चाहे जितनी गहराई पर इन सुरंगों को समुद्र के अन्दर तार के सहारे खड़ी कर सकते हैं। इन सुरंगों में एक ऐसा पुर्जा लगा रहता है, जिससे यदि लंगर का तार टूट जाने से सुरंग पानी की सतह पर तैरने लगे तो अपने आप सुरंग में डेटोनेटर निष्क्रिय बन जाता है। उस हालत में इसके सींग यदि किसी जहाज़ के पेंदे से छू भी जायँ तो सुरंग विस्फोट नहीं करेंगी। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार जल-सुरंगें लंगर द्वारा किसी निश्चित स्थान पर रखी जानी चाहिए। किन्तु गत युद्ध में कई जगह समुद्रों में ऐसी सुरंगें भी मिली थीं जो पानी के अन्दर-अन्दर तैरती रहती थीं, उन्हें एक स्थान पर बाँधकर रखने के लिए कोई लंगर काम में नहीं लाया गया था। ऐसी सुरंगों को पानी के अन्दर एक नियत गहराई पर बनी रखने के लिए सुरंग के पेंदे में हाइड्रोस्टैटिक वाल्व लगे रहते हैं, जो पानी के दबाव के जोर से सुरंग को ऊपर सतह पर जाने नहीं देते।

अपने बन्दरगाहों को सुरक्षित बनाने के लिए ऐसी स्पर्श-सुरंगें प्रयुक्त की जाती हैं, जिन्हें तट पर बैठे हुए सैनिक विद्युत्धारा द्वारा निष्क्रिय या सक्रिय बना सकते हैं। स्वपक्ष के जहाज़ों के आने-जाने के समय ये सुरंगें बिजली का बटन दबाकर निष्क्रिय बना दी जाती हैं। फिर शत्रु के जहाज़ों का प्रवेश रोकने के लिए पुनः उन्हें सक्रिय बना देते हैं। इन्हें नियंत्रित सुरंगों के नाम से पुकारते हैं।

स्पर्श-सुरंगों के अतिरिक्त जर्मनों ने युद्ध आरम्भ होने के कुछ ही दिनों उपरान्त एक और ढंग की सुरंगों का निर्माण किया। ये 'चुम्बकीय सुरंगें' कहलाती हैं। स्पर्श-सुरंगों की भाँति इनमें यह आवश्यक नहीं कि जहाज़ का पेंदा इनके सींगों को छू ले तभी ये विस्फोट करें। बल्कि जहाज़ का पेंदा यदि ५० फ़ीट की दूरी पर हो तब भी ये चुम्बकीय सुरंगें अपने आप फट जाती हैं और उस जहाज़ को नष्ट भ्रष्ट कर देती हैं। चुम्बकीय सुरंग के अन्दर डेटोनेटर विद्युत्शक्ति से जलाया जाता है। जिस समय कोई जहाज़ चुम्बकीय सुरंग के निकट से गुज़रता है, उस समय जहाज़ की लोहे की चद्दरों के कारण उत्पन्न हुए चुम्बकीय प्रभाव के कारण सुरंग के अन्दर रखी हुई चुम्बक-सुई में हरकत पैदा होती है। फलस्वरूप एक खटका दबता है और सुरंग की विद्युत्-बैटरी का सर्किट पूरा हो जाता है, अर्थात् विद्युत्धारा का प्रवाह जारी हो जाता है। बस यह धारा डेटोनेटर को जला देती है। डेटोनेटर के जलते ही सुरंग का सारा विस्फोटक पदार्थ विस्फोट कर जाता है।

चुम्बकीय सुरंग साधारणतः बृहताकार होती है। बैटरी आदि अन्दर रखी होने के कारण इसका वज़न भी अधिक होता है। इसी कारण इसके अन्दर इतनी खाली जगह नहीं होती कि वहाँ हवा रह सके जो सुरंग को इस योग्य बना सके
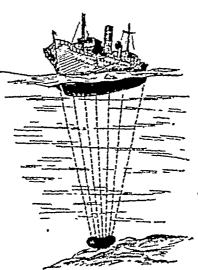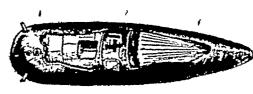
चुंबकीय सुरंग

(ऊपर) समुद्र के तले पर एक चुंबकीय सुरंग रक्खी है। उसके ऊपर से जहाज़ के गुज़रने पर किस प्रकार विद्युत्-तरंगें सुरंग को प्रभावित करती हैं यह रेखाओं द्वारा दिग्दर्शित है। (नीचे) चुंबकीय सुरंग की भीतरी रचना।

कि वह पानी में तैर सके। यह एक मोटे सिगार की शक्ल की होती है। इसके पेंदे में खूँटियाँ लगी होती हैं, जो इसे समुद्र के पेंदे पर उपयुक्त स्थिति में टिकाये रखती हैं। चुम्बकीय सुरंग के अन्दर साधारणतः आठ मन विस्फोटक पदार्थ भरा जाता है। इसीलिए चुम्बकीय सुरंगें समुद्र के पेंदे पर जा बैठती हैं। जहाज़ का पेंदा यदि ५० फीट की दूरी तक इसके निकट आए तो इसकी सुई आन्दोलित हो उठती है। अतः साधारणतः चुम्बकीय सुरंगें छिछले पानी के समुद्र में ही डाली जाती हैं।

चुम्बकीय सुरंगों से बचने के लिए बृटिश युद्ध-विशेषज्ञों ने शीघ्र ही एक अनोखी और सफल युक्ति निकाली। इसके लिए जहाज़ को मोटे तार के कई फेरे से लपेट देते हैं। इस तार में से हलकी विद्युत्धारा प्रवाहित कराने से जहाज़ की लोहे की चद्दरों से उत्पन्न हुई चुम्बकीय शक्ति का प्रभाव नष्ट हो जाता है और निकट पड़ी हुई चुम्बकीय सुरंग की सुई ऐसे जहाज़ के आने-जाने से प्रभावित नहीं हो पाती। तार लपेटकर जहाज़ को इस ढंग से चुम्बकीय सुरंगों के ख़तरे से सुरक्षित बनाने को 'डीगॉसिंग' कहते हैं।

जर्मनों ने चुम्बकीय सुरंगों को बेकार होते देख ध्वनि-सुरंगें बनायीं। ये सुरंगें जहाज़ के इंजिनों की ध्वनि मात्र से सजग होकर फट जाती थीं। मित्र-पक्ष के विशेषज्ञों ने इन सुरंगों से बचने की तरकीबें भी निकालीं किन्तु युद्ध-विभाग ने इस भेद को प्रकट नहीं किया है।

अवश्य ही सुरंगों का विध्वंसकारी प्रभाव अत्यन्त प्रबल होता है, किन्तु जिस समय ये विस्फोट करती हैं, उनके अन्दर के लोहे के टुकड़े जहाज़ के पेंदे पर जाकर चोट नहीं पहुँचाते बल्कि सुरंग के विस्फोटन से पानी के अन्दर जो उद्वेलन होता है, उससे उत्पन्न हुई तरंगों के तीव्र आघात से ही जहाज़ के पेंदे दियासलाई की डिबिया की भाँति चूरमूर हो जाते हैं।

समुद्र में सुरंग बिछाने के लिए जहाज़, सबमैरीन तथा वायुयान सभी काम में लाये जाते हैं। शत्रुप्रदेश में स्थित समुद्र में या शत्रु के बन्दरगाहों में सुरंग बिछाने के लिए या तो सबमैरीन का प्रयोग करते हैं या वायुयानों का। स्पर्श-सुरंगें तो अधिक संख्या में लादी जा सकती हैं, किन्तु चुम्बकीय सुरंगें इतनी भारी भरकम होती हैं कि वायुयानों पर ये दो से अधिक नहीं रखी जा सकतीं। वायुयान यदि पानी पर उतरनेवाली श्रेणी के नहीं हुए तो ये सुरंगों को पेराशूट के सहारे पानी में गिराते हैं।

इस बात का पता चलने पर कि अमुक क्षेत्र में शत्रु ने सुरंगें बिछायी हैं, विशेष ढंग के हलके जलपोत इन सुरंगों को अपने लंगर से काटने के लिए उस क्षेत्र में भेजे जाते हैं। इन्हें 'माइन-स्वीपर' के नाम से पुकारते हैं। सुरंगों का पता लगाकर उन्हें अपने लंगर से काटने तथा ऊपर सतह पर लाने का काम निस्सन्देह अत्यधिक ख़तरनाक होता है। इस काम के लिए चतुर और अनुभवी नाविक ही चुने जाते हैं। सुरंग हटाने के लिए ये जलपोत दो-दो के गुट्ट में काम करते हैं। मज़बूत तार के दोनों सिरे इन दोनों जलपोतों पर रहते हैं, बीच का भाग पानी में डूबा रहता है। एक भारी लोहे का टुकड़ा उक्त तार (केबुल) को पानी के अन्दर नियत गहराई पर रखता है। जब दोनों जलपोत आगे बढते हैं तो पानी के अन्दर तार भी खिंचता हुआ आगे बढता है। तार के बीच के भाग में एक तेज़ धार लगी रहती है। जब रास्ते में सुरंग के तार इस तिकोनी धार पर पड़ते हैं तो पतंग की डोर की भाँति वे तुरन्त कट जाते हैं और सुरंग फौरन् ऊपर सतह पर आकर तैरने लग जाती है। अब नाविक दूर से अपनी रायफल का निशाना बनाकर उस सुरंग को विस्फोट करा देते हैं। पानी की सतह पर विस्फोट कराने के कारण उसके आघात से जलपोत को किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचता।

अकेला जलपोत भी सुरंग हटाने का काम कर सकता है। इसके लिए जलपोत से एक लम्बा तार पानी में खिंचा हुआ आगे चलता है। तार के दूसरे सिरे पर सिगार की शक्ल का एक 'फ्लोट' लगा होता है। यह फ्लोट तार के दूसरे सिरे को जलपोत के बगल से दूर रखता है। तार में लगी हुई धार सुरंग के तार को काट देती है।

माइन-स्वीपर कभी-कभी स्वयं ही सुरंगों से भिड़ जाते हैं, जिससे तत्काल ही उस जलपोत के टुकड़े-टुकड़े उड़ जाते हैं। इसीलिए इनके नाविक हर समय कार्क के बने 'लाइफसेवर' पहने रहते हैं, ताकि जलपोत के नष्ट हो जाने पर वे कुछ काल तक समुद्र पर उतराते रह सकें।

स्थल के युद्ध में भी सुरंगें प्रयुक्त की जाती हैं। वास्तव में ये सुरंगें अपने विस्फोटन से शत्रु को उसी प्रकार की क्षति पहुँचाती है जिस प्रकार कि बम फूटने पर नुकसान पहुँचता है। थल-सुरंगें दो श्रेणी में विभाजित की जा सकती हैं—एक व्यक्तियों को क्षति पहुँचानेवाली, दूसरी टैंकों अथवा फौज़ी लारियों को नुकसान पहुँचानेवाली। ये दोनों तरह की सुरंगें एक ही सिद्धान्त पर काम करती हैं—ये पैर के नीचे दबने पर या गाड़ी के पहिये के नीचे आने पर विस्फोट कर जाती हैं। इनके अन्दर भरे हुए कील-काँटे,

काँच के टुकड़े आदि वेग के साथ उक्त वाहनों पर आघात करके भारी नुकसान पहुँचाते हैं।

प्रत्येक थल-सुरंग के अन्दर ढेर-सा मुख्य विस्फोटक पदार्थ भरा रहता है और साथ ही उसे विस्फोट करानेवाला डेटोनेटर भी रहता है। व्यक्तियों के विरुद्ध काम में लायी जानेवाली सुरंगों में कील-काँटे या बम नहीं भरे जाते हैं—सुरंग के विस्फोटन मात्र से व्यक्ति को काफी हानि पहुँच जाती है। ऐसी सुरंगें 'एण्टी-परसनेल' कहलाती हैं। ऐण्टी-टैंक सुरंगों में कील-काँटे और बम अधिक मात्रा में भरे जाते हैं।

जर्मनों द्वारा बनायी गयी दोनों श्रेणी की सुरंगें अत्यन्त ख़तरनाक होती थीं। जर्मन 'टेलर माइन' ऐण्टी-टैङ्क सुरंग होती थी। यह एक चकरी की भाँति गोल शक्ल की थी—इसका व्यास १६ इंच था और मुटाई थी ७ इंच। इसके अन्दर साढे पाँच सेर टी. एन. टी. विस्फोटक पदार्थ भरा रहता था। ऊपर की प्लेट पर जोर पड़ते ही फायरिंग पिन नीचे धँसकर डेटोनेटर को जलाती थी, जो फिर टी. एन. टी. के चार्ज को विस्फोट कराता था। 'टेलर माइन' अमेरिकन 'जीप' मोटरगाड़ी के टुकड़े-टुकड़े उड़ा सकती थी तथा टैङ्क की फौलादी चद्दरों को फाड़कर उसके अन्दर बैठे हुए सैनिकों का काम तमाम कर सकती थी।

इटैलियन सुरंगें, जो सड़कों पर टैङ्कों के विरुद्ध प्रयुक्त की जाती थीं, इतनी पेचीदा नहीं होती थीं। लोहे के एक ४ फ़ीट लम्बे और ८ इंच चौड़े बक्स में दोनों किनारों पर दो-दो सेर टी. एन. टी. रखा रहता था। ढक्कन के दबने ही धातु की तेज़ धार भीतर एक रस्सी को काट देती थी। रस्सी के कटते ही फायरिंग पिन टी. एन. टी. पर 'आघात' करती और यह विस्फोट कर जाता। इटैलियन सुरंग में अलग से डेटोनेटर नहीं लगाते थे।

फ्रेन्च सुरंग में टी. एन. टी. के स्थान पर पिक्रिक ऐसिड का प्रयोग करते हैं। यह भी आयताकार बक्स की शक्ल की होती है। ऊपर के ढक्कन पर ज़ोर पड़ते ही फायरिंग पिन, जो स्प्रिंग के सहारे उठी रहती है, दबकर डेटोनेटर से जा लगती है और इस तरह सुरंग विस्फोट कर जाती है।
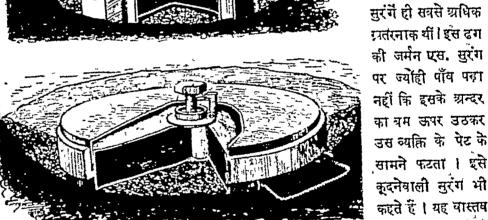
पिछले युद्ध में प्रयुक्त दो प्रसिद्ध थल-सुरंगें
(ऊपर) ब्रिटिश सेना की प्रसिद्ध मार्क-V थल-सुरंग; (नीचे) जर्मन सेना की सुप्रसिद्ध 'टेलर माइन' नामक थल सुरंग। दोनों के कुछ अंश काटकर भीतरी रचना दिखायी गयी है।

जापानी ऐण्टी-टैङ्क सुरंगें जर्मन सुरंगों की तरह होती थीं। इन्हें जर्मन सुरंगों का छोटा संस्करण समझ सकते हैं। ऐण्टी-परसनेल सुरंगों में भी जर्मन सुरंगें ही सबसे अधिक ख़तरनाक थीं। इस ढंग की जर्मन एस. सुरंग पर ज्योंही पाँव पड़ा नहीं कि इसके अन्दर का बम ऊपर उठकर उस व्यक्ति के पेट के सामने फटता। इसे कूदनेवाली सुरंग भी कहते हैं। यह वास्तव में एक बम सरीखी होती थी। लगभग आधा सेर टी. एन. टी., जिसके चारों ओर आधा इंच व्यास की लोहे की गोलियाँ सजायी रहती थीं, धातु के एक खोले में रखा रहता था। यह बम एक बेल की शक्ल की खोखली नली में रखा जाता था। बम के नीचे पेंदे पर थोड़ी बारूद होती थी। फ़ायरपिन के दबने पर बारूद विस्फोट करती और उसके धक्के से बम ऊपर को उछल जाता तथा ऊपर पहुँचने पर बम में लगे हुए टाइम फ्यूज़ के जलने से वह फट जाता और नज़दीक खड़े हुए व्यक्ति को बुरी तरह आहत कर देता। इस एस. सुरंग से निकली हुई गोलियाँ १०० गज़ पर खड़े

व्यक्ति को घातक चोट पहुँचा सकती थीं। फिर भी विशेषज्ञों का कहना है कि ठीक जहाँ सुरग फटती उस स्थान के चारों ओर ६ गज़ के दायरे में यदि कोई व्यक्ति फौरन् लेट जाता तो वह घायल होने से अपने को बचा सकता था।

इटैलियनों ने पिकेट सुरंगें बनायी थीं, जिनके चारों ओर पतले तार लिपटे रहते थे। ऐसी सुरग के फटने पर तार के छोटे-छोटे टुकड़े चारों ओर तीव्र गति से उड़ते और आसपास के व्यक्तियों को बुरी तरह घायल कर देते। किन्तु यह सुरंग नीचे ही फट जाती, ऊपर नहीं उछलती थी।

सुरंगें आगे बढ़ती हुई शत्रु-सेना की प्रगति रोकने के लिए बहुत बड़ी संख्या में अपने बचाव के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। उदाहरण के लिए एक आध मील लम्बे और चौथाई मील चौड़े क्षेत्र में जर्मनों ने ५००० टेलर-माइन बिछायी थीं। ये सुरंगे टैंक के रास्ते में धूल की एक पतली तह के नीचे छिपा दी जाती थीं। प्राय इन सुरंगों को दूर पर बैठा हुआ सैनिक बिजली के तार द्वारा विस्फोट करा देता है। आगे बढती हुई सेना के रास्ते में से इन सुरंगों का पता लगाकर उन्हें हटाना आवश्यक होता है। अवश्य ही यह काम भी जल-सुरंग हटाने जितना ही ख़तरनाक होता है। थल-सुरग का पता लगाने के लिए एक विशेष ढंग का विद्युत्-यंत्र प्रयुक्त किया जाता है। बॉस के एक लम्बे डण्डे के दूसरे छोर पर एक प्लेट लगी होती है। जब प्लेट सुरंग के लोहे के केस के उपर आती है तो इसमें विद्युत्-तरगें उत्पन्न होती हैं, जो टोह लगानेवाले व्यक्ति के कान पर लगे फोन में आवाज़ पैदा करती है। इस तरह इन सुरंगों की स्थिति का ठीक-ठीक पता लग जाता है। फिर सावधानी के साथ इसे उस स्थान से उठा लेते हैं और फायरपिन हटाकर उसे निरापद बना देते हैं। इटली में जब मित्र-सेनाओं ने प्रवेश किया तो इन्हें एक नये प्रकार की थल-सुरंग का सामना करना पड़ा था। इस सुरंग का पेंदा तथा उसकी दीवालें कन्क्रीट सीमेन्ट की बनी थीं। इनका ढकन प्लैस्टिक (गटापार्चा) का बना था। अतः ये विद्युत्-यंत्र को प्रभावित नहीं करतीं और हेडफ़ोन वाला यंत्र इनका पता लगाने मे असमर्थ रह जाता। इनकी स्थिति का पता लगाने के लिए साहसी सैनिक को नुकीले डण्डे से धरती को इधर-उधर कुरेदना पड़ता था। जहाँ नोक किसी कड़ी चीज़ से टकरायी कि वह फौरन् सतर्क होकर सुरंग को निकालने का प्रयत्न करता था।

थल-सुरंगों का पता लगाकर उन्हें अपने रास्ते से हटाने की क्रिया

यह काम एक विशेष प्रकार के विद्युत्-यंत्र द्वारा संपन्न किया जाता है। इसका विवरण इसी पृष्ठ पर बाईं ओर के कॉलम में पढ़िये।

सबमैरीन या पनडुब्बी

समुद्र के गर्भ में स्वच्छन्दतापूर्वक विचर सकने की महत्त्वाकांक्षा मनुष्य के लिए उतनी ही जटिल थी जितनी मीलों ऊँचे आकाश में उड़ने की लालसा और इसी कारण सबमैरीन के आविष्कार की कहानी भी वायुयानों के इतिहास से कम रोमांचक नहीं है, क्योंकि दोनों ही के विकास के सिलसिले में बीसियों उत्साही आविष्कारकर्ताओं ने अपनी जान की बाज़ी लगायी है। कहते हैं, लगभग ३०० वर्ष पूर्व इङ्गलैण्ड के बादशाह जेम्स प्रथम के ज़माने में, एक व्यक्ति ने पानी के भीतर चलने योग्य एक जलयान तैय्यार किया था। यह जलयान डाँड़ के ज़ोर से चलता था, किन्तु दो-चार घण्टे से अधिक देर तक यह पानी के अन्दर नहीं रह सकता था। यह जलयान टेम्स नदी के अन्दर चलाया गया था। १२ नाविक इसके अन्दर बैठकर डॉड चलाते थे। कुछ काल उपरान्त 'डे' नाम के एक व्यक्ति ने एक पनडुब्बी तैय्यार की और इस बात की बाज़ी लगायी कि अपने इस जलयान को लेकर वह पानी के अन्दर २४ घण्टे तक डूबा हुआ रह सकता है। पर अपनी सबमैरीन को लेकर पानी में गोता लगाने के बाद वह पानी के अन्दर से निकला ही नहीं।

वैसे तो दोषरहित सबमैरीन के निर्माण के लिए इक्के-दुक्के प्रयत्न निरन्तर जारी रहे, किन्तु अमेरिकन गृहयुद्ध के दौरान में ही वास्तव में निरापद ढग की उपयोगी सबमैरीन बन पायी। शत्रु के जहाज़ों को क्षति पहुँचाने का एक नया साधन युद्ध के अधिकारियों ने सबमैरीन में देखा। फलस्वरूप १८९३ में अमेरिका की स्टेट कांग्रेस ने २ लाख डालर सबमैरीन-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए ख़र्च करना स्वीकार किया। १८९४ में हालैण्ड तथा लेक नामक दो व्यक्तियों ने अपनी-अपनी सबमैरीन के डिजाइन अमेरिकन गवर्नमेन्ट को पेश किये। आधुनिक सबमैरीन इन्ही डिज़ाइनों का परिष्कृत रूप है।

आइए, आजकल की सबमैरीन का ज़रा ध्यानपूर्वक निरीक्षण करें। इसके एक-एक पुर्जे भौतिक तथा रसायन-विज्ञान के गूढ़तम सिद्धान्तों के आधार पर बनाये गये हैं। सबसे पहले इसके आकार को ही देखिये। पानी के अन्दर हद दर्जे का दबाव पड़ता है, अतः दबाव सह सकने के लिए सबमैरीन का आकार गोल पीपे सरीखा होना चाहिए। किन्तु पानी के अन्दर तीव्र गति से सरसराते हुए भागने के लिए इसे तीर का आकार धारण करना चाहिए, वरना इस पर पानी की अवरोधक शक्ति अधिक पड़ेगी। इन दोनों विरोधी शर्तों को पूरी करने के उद्योग में सबमैरीन का आकार सिगार की शक्ल का बनाया गया। इसके दोनों छोर नुकीले बनाये गये, ताकि ये आसानी के साथ पानी को चीरते हुए तीव्र गति से आगे बढ़ सकें।

डुबकी लगाते समय सबमैरीन को अपना संतुलन बनाये रखने में भी दिक्कत होती थी। हालैण्ड ने भाप के इंजिन की जगह पेट्रोल के इंजिन का प्रयोग किया। इसी बीच विद्युत्-स्टोरेज-बैटरी का भी निर्माण हो चुका था, अतः उसने पानी के अन्दर सबमैरीन के लिए चालक शक्ति विद्युत्-बैटरी से प्राप्त की। पेट्रोल-इंजिन भाप के इंजिन की अपेक्षा बहुत हलका होता है। किन्तु यह भी सर्वथा दोषरहित साबित नहीं हुआ। पेट्रोल-इंजिन के अन्दर से अनेक विस्फोटक गैसें निकलती हैं, जिनके कारण सबमैरीन में आग लग जाने का ख़तरा सदैव बना रहता है। अतः पेट्रोल-इंजिन को हटाकर अब डिज़ेल ऑयल इंजिन का प्रयोग सबमैरीन में किया जाता है। इस इंजिन में क्रूड ऑयल ईंधन का काम देता है। आटा पीसने की मशीनों में प्रायः इसी ढग का इंजिन लगा रहता है। नाविकों के साँस लेने के लिए सबमैरीन के अन्दर संकुचित वायु से भरे हुए पीपे रक्खे रहते हैं। जिस समय पानी की सतह पर सबमैरीन डिज़ेल इंजिन की शक्ति से चलती है, उसी समय उक्त इंजिन एक विद्युत्-डायनमो चलाकर विद्युत्-बैटरी में विद्युत्-शक्ति का संचय भी करता है। पानी के अन्दर बैटरी इसी शक्ति से सबमैरीन को चलाती है।

आधुनिक सबमैरीन अपने साथ इतना क्रूड ऑयल ले जाती है कि वह पानी की सतह पर ४००० मील तक दौड़ लगा सकती है। पानी के अन्दर भी अपनी बैटरी की शक्ति से वह दो दिन तक आसानी के साथ घूम-फिर सकती है।

सबमैरीन के अन्दर दिशा ज्ञात करने के लिए साधारण ढंग की दिग्दर्शक सुई नहीं काम में ला सकते, क्योंकि ऐसी सुई बैटरी की विद्युत्धारा से प्रभावित होकर गलत दिशा बताने लगती है। अतः दिग्दर्शक की जगह
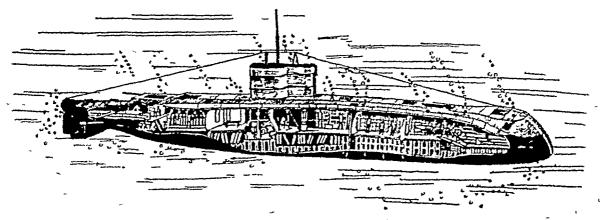
पनडुब्बी या सबमैरीन

इस मानचित्र में एक विशाल सबमैरीन के बगल के अंश को काटकर उसके भीतर की रचना दिखायी गयी है। देखिये, थोड़ी-सी जगह में कितनी पेचीदा व्यवस्था इसमें की गयी है। ऊपर मध्य की बुर्ज में पेरिस्कोप लगा है।

जायरोस्कोप नाम का एक यंत्र सबमैरीन में काम में लाते हैं, जो दिशा बताने का काम तो करता है किन्तु विद्युत्-धारा से प्रभावित नहीं होता।

सबमैरीन ने अपने लिए आँखें भी बना ली हैं। सबमैरीन की आँख पेरिस्कोप है। इसकी सहायता से समूची सबमैरीन को पानी की सतह पर ले आये बिना ही कैप्टेन बाहर की चीज़ों को देख सकता है। पेरिस्कोप पन्द्रह-बीस फीट लम्बी धातु की एक नली होती है। इसका व्यास लगभग ४ इंच होता है। इसके अन्दर काँच के समकोण प्रिज्म तथा कई एक लेन्स दूरदर्शक यंत्र के सिद्धांत पर लगे रहते हैं। नली के सिरे पर लगी हुई खिड़की के रास्ते बाहर के दृश्य का बिम्ब नली के नीचे एक काँच के पर्दे पर बनता है। इस पर्दे पर नन्हा-सा पैमाना भी बना रहता है, जिसकी सहायता से कैप्टेन बाहर की चीज़ों के आकार और दूरी का अनुमान लगा सकता है। यह पेरिस्कोप सबमैरीन के बीचोबीच एक बुर्ज में लगा होता है। पेरिस्कोप का दृष्टिक्षेत्र काफी विस्तृत होता है। यदि वह पानी से २ फीट ऊँचा निकला हो तो कैप्टेन ढाई मील दूर तक की चीज़ों को स्पष्ट देख सकता है।

सबमैरीन को पानी के अन्दर डुबकी लगाने के लिए अपना बोझ बढ़ाना होता है। ऐसा करने के लिए समुद्र के पानी को ही सबमैरीन में भर लेते हैं। किन्तु सबमैरीन के अन्दर स्थान की बड़ी कमी रहती है। थोड़ी-सी जगह मे पचीसों तरह के यंत्र आदि रखने पड़ते हैं। नाविकों के उठने-बैठने का स्थान, इंजिन-रूम, विद्युत्-बैटरी, इंजिन के लिए ईंधन का सामान तथा शत्रु के जहाज़ों पर आक्रमण करने के लिए टारपीडो आदि सभी के लिए नन्ही-सी सबमैरीन के अन्दर प्रबन्ध करना पड़ता है। अतः बोझ के लिए पानी बढ़ाने के निमित्त सबमैरीन में दुहरे पेंदे बनाये गये। इसी बाहरी और खाली पेंदे के बीच की खाली जगह में पानी भरकर सबमैरीन गोता लगाती है।

प्रत्येक सबमैरीन के लिए यह आवश्यक है कि वह पलक मारते-मारते पानी में डुबकी लगा सके, अन्यथा शत्रु के हाथों उसे अपनी जान खोना पड़ेगी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक सबमैरीन में इस बात का प्रबन्ध रहता है कि दो-चार सेकण्ड के अन्दर वह आवश्यकतानुसार पानी की मात्रा अपने बाहरी पेंदे में भर सके। किन्तु अकेले बोझ बढ़ाने मात्र से ही सबमैरीन तीव्र गति से पानी के गर्भ में प्रवेश नहीं कर सकती। अतः उसकी पूँछ पर दो पतवारें लगे रहते हैं, जो साधारण अवस्था में समुद्र-जल के धरातल के समानान्तर रहते हैं। इन्हें झुकाने पर सबमैरीन आसानी के साथ सरसराती हुई तीव्रगति से पानी के नीचे चली जाती है। शत्रु का संकट दूर हो जाने पर सबमैरीन को जब ऊपर आना होता है तब संकुचित वायु के ज़ोर से पानी को पेंदे में से बाहर उलीच देते हैं और पतवार को उलटी दिशा में झुकाते हैं—शीघ्र ही सबमैरीन ऊपर पानी की सतह पर आ जाती है। डुबकी लगाने के निमित्त सबमैरीन में पानी प्रवेश कराने के पहले कैप्टन हिसाब लगा चुका रहता है कि उसे कितना पानी पेंदे में भरना है, क्योंकि यदि बहुत अधिक पानी सबमैरीन में आ गया तो वह इतनी भारी हो जायगी कि एकदम समुद्र की तह में जा बैठेगी, जहाँ से सम्भवतः अपने आप वह ऊपर कभी भी नहीं आ सकती! और यदि बहुत कम पानी पेंदे में प्रवेश कराया गया तो वह पानी में डूबेगी ही नहीं।

सबमैरीन के लिए उपयुक्त इंजिन के ढूँढने में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उदाहरण के लिए अमेरिका की सर्वप्रथम सबमैरीन में भाप के इंजिन लगाये गये। पानी के ऊपर यह इंजिन साधारण रीति से सबमैरीन को चलाता। किन्तु डुबकी लगाने के पूर्व इंजिन की चिमनी उतारी जाती और बॉयलर की भट्ठी की आग बुझायी जाती। निस्सन्देह इसका अर्थ यह था कि शत्रु की आहट पाते ही पलक मारते सबमैरीन पानी में गोता नहीं लगा सकती थी। फिर भाप के इंजिन का वज़न भी बहुत ज़्यादा होता था। व्यर्थ में कई टन कोयला और पानी सबमैरीन को लादना पड़ता था। पानी और कोयले के अत्यधिक बोझ के कारण डुबकी लगाते समय सबमैरीन का संतुलन भी बिगड़ जाता था। पेट्रोल-इंजिन के आविष्कार ने इस दोष को अवश्य दूर किया, क्योंकि पेट्रोल-इञ्जिन भाप के इञ्जिन की अपेक्षा बहुत हलका होता है। न इसमें अलग से बॉयलर या भट्ठी की आवश्यकता पड़ती और न इसके लिए कोयला-पानी ही लादना पड़ता। किन्तु पेट्रोल-इञ्जिन की सबसे बड़ी ख़राबी यह है कि इसके अन्दर से विस्फोटक गैसें निकलती हैं, जो सबमैरीन के अन्दर की बन्द जगह में किसी भी क्षण भभककर आग लगा सकती हैं। विद्युत्-शक्ति द्वारा चलनेवाले इञ्जिन भी अब तक तैय्यार हो चुके थे, अतः पानी के अन्दर सबमैरीन को चलाने के लिए विद्युत्-इञ्जिन लगाने की बात सोची गयी। विद्युत्-इञ्जिन को चलाने के लिए विद्युत्धारा की आवश्यकता होती है—और विद्युत्धारा उत्पन्न करने के लिए डायनमो का प्रयोग पानी के भीतर नहीं कर सकते, क्योंकि डाय-

नमो के परिचालन के लिए भी किसी न किसी इञ्जिन की ज़रूरत पड़ती है। इस कठिनाई को दूर करने में अधिक दिक्कत नहीं हुई। बजाय डायनमो के स्टोरेज-बैटरी से विद्युत्-धारा प्राप्त करके विद्युत् इञ्जिन में भेजने की योजना कर ली गयी। साधारण मोटरकार में काम आनेवाली बैटरी में कुल तीन 'सेल' होती हैं, किन्तु सबमैरीन की बैटरी में ४०० सेल होती हैं—इनका वज़न लगभग साढ़े चार हज़ार मन होता है। इसी बैटरी से तार द्वारा सबमैरीन के किसी कोने में बिजली ले जा सकते हैं और उससे तरह-तरह के काम ले सकते हैं। बल्ब जलाकर रोशनी कर सकते हैं। कमरा गर्म रख सकते हैं। पंखा चला सकते हैं तथा रेडियो-सेट का परिचालन कर सकते हैं।

पानी के धरातल पर विद्युत्-मोटर बन्द करके डिज़ेल आयल (क्रूड आयल) का इञ्जिन चलाते हैं। डिज़ेल इञ्जिन पानी की सतह पर सबमैरीन के लिए चालक शक्ति प्रदान करता है तथा स्टोरेज-बैटरी की सेलों को चार्ज करके उनकी खोई हुई विद्युत्-शक्ति को उन्हें पुनः प्रदान करता है ताकि पानी के अन्दर जाने पर बैटरी पुनः विद्युत्धारा समुचित मात्रा में दे सके। विद्युत्-इञ्जिन का सम्बन्ध सबमैरीन के प्रोपेलर से रहता है। प्रोपेलर पानी को तेज़ी के साथ काटता है, फलस्वरूप सबमैरीन आगे को बढ़ती है। उपयोगिता की दृष्टि से विद्युत्-इञ्जिन का सबसे बड़ा गुण यह है कि पेट्रोल-इञ्जिन या डिज़ेल-इञ्जिन की तरह इसके चलने में किसी प्रकार का शोर नहीं होता। पानी के अन्दर-अन्दर चुपचाप सरसराती हुई मछली की तरह सबमैरीन शत्रुप्रदेश में टोह लगाने के लिए आ-जा सकती है।

सबमैरीन को हम जलयुद्ध का गुरिल्ला कह सकते हैं—शत्रु की आँखों से बचकर यह उनके विशालकाय जहाजों को बात की बात में विध्वस्त कर सकती है। गत युद्ध में जर्मनी की सबमैरीनों ने मित्र-राष्ट्रों के सैकड़ों जहाज़ों का नाश किया था। आजकल की कुछ सबमैरीनें तो तीन-चार सौ फ़ीट लम्बी बनायी गयी हैं। इनके अन्दर बड़े मुँह वाली तोपें भी लगायी गयी हैं, जो किसी भी क्षण पानी के ऊपर आने पर शत्रु के जहाज़ों पर गोले उगल सकती हैं।

सबमैरीन का प्रमुख अस्त्र—टारपेडो

चित्र में कुछ अंश काटकर इसकी भीतरी रचना दिखायी गयी है। यह एक स्वयंचालित बम होता है, जो अपने इंजिनों की शक्ति से पानी के भीतर सरसराता हुआ शत्रु-जहाज़ की दीवार से जा टकराता है और उसका सर्वनाश कर देता है।

सबमैरीन का आक्रमण करने का प्रमुख अस्त्र सिगार की शक्ल का एक विशेष प्रकार का विस्फोटक हथियार होता है, जिसे 'टारपेडो' के नाम से पुकारते हैं। इस अस्त्र की रचना बड़ी पेचीदा होती है। युद्ध में सबमैरीन का मुख्य कार्य बड़े-बड़े जंगी जहाज़ों पर आक्रमण करके उन्हें डुबोने का होता है और यह काम जहाज़ की फौलादी दीवाल को भेदकर ही किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सबमैरीन को अपना यह काम पानी के भीतर ही भीतर घुसके से जहाज़ के समीप पहुँचकर करना
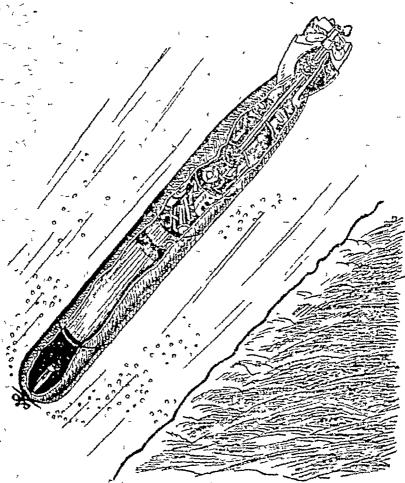
पड़ता है—ऊपरी सतह पर तो उसकी कुशल नहीं। अतः इसके लिए अस्त्र ऐसा होना चाहिये कि दागे जाने पर तेज़ी से भीतर ही भीतर पानी को चीरता हुआ वह जहाज़ की दीवार पर ठीक निशाने पर चोट करे और उससे टकराकर विस्फोट करे। इन्हीं सब आवश्यकताओं को ध्यान में रख-कर 'टारपेडो' का आविष्कार किया गया है। जैसा कि पिछले पृष्ठ के चित्र से आप जान सकते हैं, यह भयंकर विस्फोटक अस्त्र कोरा एक बम ही नहीं बल्कि एक स्वयं-चालित यंत्र-सा होता है। उसके भीतर हवा के दबाव से चलनेवाले इंजिन लगे रहते हैं, जो उसे पानी में अपना रास्ता काटने के लिए गति प्रदान करते हैं। एक जायरो-स्कोप भी लगा रहता है, जो उसकी दिशा-निर्धारण करते हुए ठीक निशाने की ओर बढ़ने में उसे सहायता देता है। कई एक वाल्व और पेंडुलम आदि भी रहते हैं, जो उसे समुद्र में उचित गहरायी पर रखने में मदद देते हैं और इन सबके उपरान्त होता है लगभग एक हज़ार पौंड टी. एन. टी. नामक प्रबल विस्फोटक, जोकि जहाज़ से टकराते ही अपनी प्रलयंकर ताण्डव-लीला प्रस्तुत करता है। अपने इस पेचीदा स्वरूप के कारण ही टारपेडो एक बड़ा ख़र्चीला और मूल्यवान् अस्त्र माना जाता है। कहते हैं कि एक टार-पेडो के निर्माण में लगभग एक लाख रुपया ख़र्च बैठता है। यह भीषण अस्त्र सबमैरीन की दुम में एक लंबी नली में सधा हुआ तैयार रहता है और जब किसी जहाज़ पर निशाना ताककर दागा जाता है तो ५० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से भीषण वेग से पानी के भीतर ही सरसराता हुआ निशाने की ओर लपकता है। निशाने पर पहुँचने से पहले ही रास्ते में किसी साधारण वस्तु से टकराकर कहीं वह विस्फोट न कर जाय इसके लिए एक विशेष प्रकार का 'सैफ़्टी फैन' या पेंचदार पंखा उसके अगले छोर पर लगा रहता है। यह पंखा पानी की प्रतिक्रिया से जब घूमता है तो उसके पेंच खुलते जाते हैं। क्रमश. एक निश्चित समय में वह खुलकर गिर पड़ता है। जब तक ऐसा नहीं होता, टारपेडो का विस्फोट नहीं होता।

युद्ध में प्रयुक्त होनेवाली विषाक्त गैसें

आधुनिक युद्ध में विषाक्त गैसें एक ज़बर्दस्त अस्त्र साबित हो सकती हैं—विशेषतया एक ऐसे देश के विरुद्ध, जोकि इस सम्भावना के लिए तैय्यार न हो। मुसोलिनी ने अबीसीनीया के युद्ध में तथा जापानियों ने शुरू में चीन के विरुद्ध विषाक्त गैसों का प्रयोग करके शत्रु-पक्ष को अत्य-धिक परिमाण में क्षति पहुँचायी थी। गैसों का आक्रमण अचानक शत्रु को आहट दिये बिना किया जा सकता है तथा इससे शत्रु-पक्ष को युद्ध के लिए कम से कम कुछ काल के लिए अवश्य असमर्थ बनाया जा सकता है।

समान वज़न के विस्फोटक बम तथा गैसवाले बम की यदि तुलना की जाय तो आप देखेंगे कि गैसवाले बम अधिक विस्तृत क्षेत्र में अपना प्रभाव डाल सकते हैं। उदाहरण के लिए मध्यम श्रेणी का एक बमवर्षक वायुयान यदि ७ मन वाले चार बम लेकर शत्रु-प्रदेश पर उड़े और इन बमों में फास्जीन श्रेणी की गैस भरी हो तो प्रत्येक बम को गिराकर वह ३०० गज़ के घेरे में हानिकारक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार चारों बम गिराकर वह ऐसे-ऐसे चार क्षेत्रों की वायु को दूषित बना सकता है। फिर विषाक्त गैसों की पहुँच भी ऐसे स्थानों तक हो जाती है, जहाँ विस्फोटक बम किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा सकते। उदाहरण के लिए साधारण रक्षागृहों, खाइयों और कमरों में ये गैसें बन्द दरवाज़े की दरारों द्वारा पहुँच जाती हैं। कुछ गैसें देर तक धरती पर बनी रहती हैं। मस्टर्ड गैस इसी श्रेणी की है—यह गैस गर्मी के दिनों में कई घण्टे तक धरती पर छायी रहेगी तथा जाड़े में कई दिन तक अपना हानिकारक प्रभाव डालती रहेगी।

गैस-आक्रमण का साधारण नागरिकों तथा सैनिकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी कुछ कम नहीं पड़ता। मनुष्य अदृश्य चीज़ों से सदैव से ही भय खाता रहा है। अतः गैस—जो अधिकांशतः अदृश्य ही होती है—जनता के मस्तिष्क के अन्दर अज्ञात भय का सञ्चार करके उन्हें व्याकुल और परेशान बना देती है। उनका नैतिक बल क्षीण हो जाता है और इस कारण युद्ध-उद्योग में भारी बाधा पहुँ-चायी जा सकती है।

गैस-आक्रमण के इस महत्त्व के कारण सभी उन्नतिशील देशों में सैनिकों तथा नागरिकों को गैस-आक्रमण से बचाने के निमित्त उपयुक्त प्रचार तथा साधन का आयोजन किया जाता है। सबसे पहले उन्हें इस बात की जानकारी दी जाती है कि युद्ध में प्रयुक्त होनेवाली कौन-कौन सी गैसें हैं तथा उनमें क्या-क्या गुण तथा अवगुण हैं और उनसे बचने के कौन से साधन हो सकते हैं।

आइए, इन गैसों की विस्तृत परीक्षा करें। युद्ध में प्रयुक्त होनेवाली गैसें दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं—एक स्थायी (देर तक बनी रहनेवाली) और दूसरी अस्थायी (शीघ्र ही उड़ जानेवाली)। अपने प्रभाव के अनुसार भी ये विभिन्न श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं।

स्थायी गैसें वास्तव में गैस-रूप में नहीं होतीं, ये द्रव होती हैं, जिनसे विषाक्त भाप प्रचुर मात्रा में निकला करती है। अस्थायी श्रेणी की गैसें वास्तव में गैस-रूप में हुआ करती हैं। इनमें से कुछ आँखों में कष्ट पैदा करती हैं—इन्हे अश्रु गैस के नाम से पुकारते हैं। कुछ गैसें नाक की कोमल त्वचा में जलन उत्पन्न करती हैं, तथा कुछ फेफड़ों पर अपना घातक प्रभाव डालती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गैसें शरीर की त्वचा को क्षति पहुँचाकर उस पर फफोले उत्पन्न कर देती हैं। पृ० २०८८-८९ पर दी गई तालिका में विभिन्न गैसों की गन्ध, उनका प्रभाव तथा उनसे बचने के उपाय दिये हुए हैं। उक्त तालिका में हम देखते हैं कि क्लोरीन तथा फास्जीन गैसें अधिक मात्रा में घातक साबित हो सकती हैं, किंतु बढ़िया प्रकार के गैस-मास्क इनसे आपकी पूर्ण रक्षा कर सकते हैं। त्वचादाहक गैसें मस्टर्ड तथा लूसाइट हैं, जो नाक और फेफड़ों को क्षति पहुँचाती हैं, साथ ही शरीर के अन्य भागों की त्वचा पर भी फफोले उत्पन्न कर देती हैं। इन फफोलों के अन्दर संखिया का विष भर जाता है, जिसे डाक्टर की सहायता से तुरन्त ही निकलवा देना चाहिये, अन्यथा ये शीघ्र ही अपना विषैला प्रभाव दिखाती हैं। इनसे बचने के लिए गैस-मास्क के अतिरिक्त शरीर की त्वचा को ढके रखने के लिए विशेष ढंग के रबड़ के वस्त्र भी पहनने पड़ते हैं।

रणक्षेत्र में विषाक्त गैस के आक्रमण का एक दृश्य

आगे रक्खे हुए पीपों से विषाक्त गैस के बादल उठ रहे हैं और शत्रु-सेना की दिशा में बढ़ रहे हैं। पीछे तीन पंक्तियों में सैनिक गैस के आक्रमण के बाद धावा बोलने की प्रतीक्षा में हैं। यह चित्र गत युद्ध में जर्मनी द्वारा रूसियों के विरुद्ध विषाक्त गैस के प्रयोग के समय का है।

गैस के आक्रमण से नागरिकों की रक्षा करने के लिए हलके ढंग के गैस-मास्क और गैस-प्रूफ तहखाने (रक्षा-गृह) का प्रयोग किया जाता है। अवश्य सैनिकों के लिए यह वाञ्छनीय नहीं कि गैस-आक्रमण के अवसर पर वे रक्षा गृहों में भागकर शरण लें, क्योंकि गैस-आक्रमण का प्रधान उद्देश्य ही यह होता है कि शत्रु-पक्ष के सैनिक रणक्षेत्र से हटने पर मजबूर हो जायँ ताकि अपनी सेनाएँ मौक़ा पाकर आगे बढ़ सकें। इसीलिए सैनिक गैस-आक्रमण के समय गैस-मास्क के अतिरिक्त रबड़ के वस्त्र भी अर्थात् घुटनों तक रबड़ के बूट और सिझे हुए चमड़े के कोट तथा पतलून पहने रहते हैं। सिर और गरदन ढकने के लिए भी इसी ढंग के परिधान तथा दस्ताने धारण किये जाते हैं। गैस-आक्रमण के उपरान्त रक्षा-विभाग के कर्मचारी गैस-मास्क तथा ऐण्टी-गैस वस्त्र धारण करके गैस को सड़कों एवं गलियों तथा नालियों आदि से हटाने के लिए बाहर निकलते हैं। जब उन्हें इस बात का विश्वास हो जाता है कि शहर में अब कहीं ये विषाक्त गैसें अधिक परिमाण में मौजूद नहीं हैं, तभी ख़तरा दूर होने की घण्टी बजायी जाती है।

सैनिकों के लिए बनाये गये गैस-मास्क के तीन मुख्य भाग होते हैं—चेहरे का भाग, गैस शुद्ध करनेवाला डिब्बा और होज़-पाइप, जो इन दोनों को जोड़ता है।

आधुनिक युद्ध में प्रयुक्त होने वाली मुख्य-मुख्य विषाक्त गैसों की तालिका

लौकिक नाम	वैज्ञानिक नाम	गन्ध	गुण	प्रभाव	रक्षा के साधन
अश्रुगैस	क्लोरएसिटोफिनोन (अस्थायी)	फर्श की वार्निश जैसी महक	श्वेत रंग के चमकीले कण, जो गरम किये जाने पर वाष्प रूप धारण कर लेते हैं।	इसके स्पर्श से आँखों में तुरन्त पीड़ा उत्पन्न होती है, पलकें भारी हो जाती हैं तथा हजामत की दाढ़ी में चुनचुनाहट होने लगती है।	गैस-मास्क द्वारा पूर्ण रक्षा हो सकती है।
अश्रुगैस	एथिल आयडो-एसीटेट (स्थायी)	नासपाती की गन्ध	भूरे रंग का द्रव।	उपर्युक्त प्रभाव। अधिक मात्रा में फेफड़ों में पीड़ा उत्पन्न करती है।	”
नाक की त्वचा दाहक गैस	डाइफेनिल क्लोर-आर्सीन (अस्थायी)	कोई गन्ध नहीं	संखिया की जाति के चमकीले कण, जो गरमी पाकर गन्धहीन तथा अदृश्य वाष्प देते हैं।	इसका प्रभाव ५ मिनट के बाद होता है। छींक आने लगती हैं। सीने, नाक, गले और मुँह में जलन होने लगती है। चित्त में खिन्नता आ जाती है। बाद में खुली हवा में जाने पर या गैस-मास्क पहनने पर ये लक्षण और भी बढ़ जाते हैं।	”
फेफड़े को कष्ट पहुँचानेवाली गैस	क्लोरीन (अस्थायी)	तीखी गन्ध	हरे रंग की गैस, जो पानी में खूब घुल सकती है। इसके स्पर्श से कपड़ा या धातु खदर जाती है।	इसके स्पर्श से तुरन्त आँखें, नाक और गले में जलन होने लगती है। श्वास-नलिका और फेफड़ों में बेहद तकलीफ होती है। फेफड़े की त्वचा में क्षति पहुँचाकर यह मृत्यु भी ला सकती है।	”
”	फास्जीन (अस्थायी)	सड़े हुए आलुओं की गन्ध	अदृश्य गैस। धातु को खदर डालती है। वर्षा में इसका प्रभाव कम हो जाता है।	क्लोरीन की तुलना में दस गुनी अधिक प्रभावशाली। गले, नाक और आँख पर उतना घातक प्रभाव नहीं पड़ता, जितना फेफड़ों पर। यह अश्रु-उत्पादक भी है। इसका प्रभाव देर में प्रकट होता है।	”

रुधिर को [illegible] पहुँचाने वाली गैस	आर्सीन (संखिया का यौगिक) (अस्थायी)	लहसुन की गन्ध	गैस के रूप में अदृश्य। पाउडर के रूप में भूरे रंग का पदार्थ।	उलटी होने लगती है और रुधिर में विष व्याप जाता है।	"
ब्लिस्टर गैस (फफोले उत्पन्न करने वाली)	मस्टर्ड गैस (डाइ-क्लोरोडाइएथिल सल्फाइड) (स्थायी)	लहसुन, प्याज़ और सरसों की मिश्रित गन्ध	गाढ़े तेल सरीखा द्रव। स्पिरिट और तेल-घी में घुलनशील। द्रव तथा गैस दोनों हालतों में ख़तरनाक। इस द्रव का उबाल २१७° सें० ग्रे० पर होता है तथा यह ६° सें० ग्रे० पर जमता है। अत. विशेष रूप से स्थायी। है इसका पता पाना कठिन होता है, क्योंकि इसकी भीनी-भीनी गन्ध दूसरी चीज़ों की महक में छिप जाती है।	इसका प्रभाव देर में प्रकट होता है, इसलिए यह गैस अपेक्षाकृत अधिक ख़तरनाक समझी जाती है। आँख की पुतली, फेफड़ों तथा शरीर की त्वचा के स्पर्श में आने पर यह उन्हें क्षति पहुँचाती है। प्राय. आँखें सदैव के लिये दृष्टिहीन हो जाती हैं। फेफड़ों पर इसका प्रभाव होने से पहले गला बैठ जाता है, फिर खाँसी का ज़ोर बढ़ता है और २४ घण्टे मे ब्रान्काइटिस हो जाती है और इस कारण आहत व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। त्वचा के स्पर्श में आने पर फौरन् ही तो कुछ मालूम नहीं पड़ता, किन्तु दो-तीन घण्टे बाद उस पर फफोले उभड़ आते हैं। इस गैस के स्पर्श में आये हुए खाद्य द्रव्य के खाने से पेट और आँतों को भी क्षति पहुँचती है। यह अन्दर जाकर सूजन पैदा कर देती है।	गैस-मास्क के अतिरिक्त ऐण्टीगैस परिधान अंगों की रक्षा के लिए आवश्यक है।
ब्लिस्टर गैस	लूसाइट क्लोरोविनिल-डा क्लोरआर्सीन (स्थायी)	तीव्र गन्ध	तेल सरीखा द्रव, जिसमें संखिया मिली होती है। पानी इसे फौरन् ही नष्ट कर देता है। इसका उबालविन्दु १९०° सें० ग्रे० पर है और इसके जमने का तापमान बर्फ़ के पिघलने के तापमान से २ डिग्री नीचे।	तुरन्त नाक में तीव्र चुनचुनाहट पैदा होती है। आँखों को भी फौरन् ही क्षति पहुँचाती है। त्वचा को छूते ही एक मिनट के भीतर उस पर फफोले उभड़ आते हैं। इस फफोले के भीतर जो पानी इकट्ठा हो आता है, उसमें संखिया मौजूद होती है, जिसे डाक्टर द्वारा फौरन् ही निकलवाना पड़ता है।	"

चेहरे का भाग मज़बूत मोटे रबड़ का बना होता है, जो चेहरे पर ठीक-ठीक बैठ जाता है। आँख के सामने ऐसे काँच का पर्दा लगा होता है, जिस पर चोट लगने से वह टुकड़े-टुकड़े नहीं होता, बल्कि चिटख भर जाता है। चेहरे पर मास्क को बाँधने के लिए ६ तस्मे लगे रहते हैं, जो सिर के पीछे बाँधे जाते हैं। सामनेवाले भाग पर धातु का एक थूथन लगा रहता है, जिसमें एक वाल्व रहता है, जिसमें फिर एक वाल्व रहता है। इसी वाल्व के रास्ते श्वास से निकली हुई दूषित वायु बाहर जाती है। इसी रास्ते डिब्बे में से शुद्ध की गयी वायु भी प्रवेश करती है, जो साँस लेने के काम आती है।

डिब्बे से चेहरे तक आनेवाले रबड़ के होज़-पाइप के ऊपर तार के छल्ले चढ़े रहते हैं, जिससे इधर-उधर सिर हिलाने से पाइप में बल नहीं पड़ता और डिब्बे से वायु के आने में किसी तरह की रुकावट उत्पन्न नहीं होने पाती।

सिविलियन ड्यूटीवाले मास्क में केवल चेहरे का भाग और डिब्बा रहता है—होज़-पाइप इसमें नहीं रहता। इस मास्क के चेहरे पर बायीं ओर का भाग कुछ उठा रहता है—इसी ठौर टेलीफ़ोन का बोलनेवाला यंत्र फिट किया जा सकता है। इस तरह ड्यूटी के समय गैस-मास्क पहने हुए ही टेलीफोन द्वारा बातचीत जारी रखी जा सकती है।

सिविलियन मास्क में डिब्बा थूथन पर ही लगा रहता है—साँस लेते समय विषाक्त वायु जब डिब्बे में से होकर गुज़रती है तो रास्ते में ही वह शुद्ध हो जाती है। श्वास से निकलनेवाली दूषित वायु चेहरे के रबड़ के पर्दे के भीतर आकर उसके किनारों को गालों के पास थोड़ा-सा उठा देती है और इस तरह बाहर निकल जाती है। किन्तु बाहर की हवा इस रास्ते मास्क के भीतर नहीं जा पाती। सिविलियन मास्क इतने हलके इसलिए बनाये जाते हैं कि इन्हें पहननेवाला नागरिक गैस-आक्रमण के समय खुले स्थान से भागकर सकुशल गैस-प्रूफ रक्षा-गृह में पहुँच जाय। विषाक्त गैस के प्रभाव से गैस-मास्क का उपयोग कर केवल इतनी ही देर इन्हें बचाना होता है।

हर श्रेणी के गैस-मास्क का डिब्बा एक ही सिद्धान्त पर बना होता है—डिब्बे के बाहरी सिरे पर एक वाल्व लगा होता है, जो श्वास के भीतर खींचते समय खुल जाता है। किन्तु जब श्वास बाहर निकाली जाती है तो यह वाल्व बन्द हो जाता है। अतः श्वास के साथ बाहर आई हुई दूषित वायु मास्क में लगे हुए दूसरे वाल्व के रास्ते बाहर निकल जाती है। डिब्बे के अन्दर वाल्व के पीछे ही मलमल सरीखे पतले कपड़े का एक छनना लगा होता है, जो धुएँ के साथ मिश्रित विषाक्त गैस के नन्हें-नन्हें कणों को भीतर जाने से रोकता है। इस छनने के पीछे डिब्बे में विशेष रीति से स्वच्छ किया हुआ लकड़ी का कोयला भरा रहता है, जो फास्जीन एवं मस्टर्ड सरीखी गैसों को अपने में पूर्णतया सोख लेता है। यह कोयला मास्क के अन्दर बहुत दिनों तक ख़राब नहीं होता।

युद्ध में विषाक्त गैसों से बचाव करने के लिए काम में लाया जानेवाला गैस-मास्क
(इसके संबंध में विशेष विवरण इसी पृष्ठ पर पढ़िये)

चालकहीन विमान तथा वी-२

गत महायुद्ध में राकेट-बम का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मनी द्वारा रूस के विरुद्ध हुआ था। परिष्कृत और उन्नत रूप में उड़नबम का प्रयोग १९४४ में इङ्गलैंड के विरुद्ध जर्मनी

द्वारा हुआ था। निस्सन्देह इस श्रेणी के बमों की गणना जर्मनी के उन गुप्तास्त्रों में की जाती है, जिनके सहारे नाजी लीडरों ने मित्रराष्ट्रों को नीचा दिखाने की आशा कर रखी थी।

राकेट-बम या चालकहीन विमान का मूल सिद्धान्त आतिशबाज़ी के अग्निबाण जैसा है। इस बाण की पूँछ में बारूद भरी होती है। इसी बारूद में आग लगा देने पर वह विस्फोट करती है तथा विस्फोट से बनी हुई गैसें तीव्र वेग से पूँछ के रास्ते भागती हैं। उनके भागने की प्रतिक्रिया के धक्के के ज़ोर से बाण सामने की ओर तीव्र वेग से उड़ता है। जब तक पूँछ की सारी बारूद समाप्त नहीं हो जाती, तब तक बाण को आगे बढ़ने के लिए बराबर शक्ति मिलती रहती है।

इस युद्ध के छिड़ने के कई साल पहले से ही अमेरिका और जर्मनी में राकेट-सम्बन्धी अनुसन्धान किये जा रहे थे।

का भी नाम दिया गया है। वायुयान की भाँति इसमें भी पंख लगे होते हैं। पंख की लम्बाई १७॥ फीट होती है। इसके मुख्य ढाँचे के ऊपर सिगार की शक्ल की एक मोटी नली लगी रहती है। चालक शक्ति का सर्जन इसी नली में होता है। नली की लम्बाई ११ फीट से कुछ ऊपर होती है। नली की पूँछ खुली होती है, किन्तु सामनेवाले भाग में झिरीदार खिड़कियाँ बनी रहती हैं। खिड़कियों की झिरी स्प्रिङ्ग के जोर से खुलती और बन्द होती है।

उड़नबम के अग्रभाग में लगभग ३० मन तीव्र विस्फोटक भरा रहता है। लक्ष्य से टकराने पर यही विस्फोट करता है। विस्फोटक-कक्ष के पीछे ही पेट्रोल की टङ्की होती है। इस टङ्की में एक बार में १५० गैलन पेट्रोल भरा जा सकता है। टङ्की के पीछे दो विशालकाय पीपों में संकुचित वायु कसकर भरी रहती है। सबसे पिछले भाग में जायरोस्कोप के सिद्धान्त पर बने अनेक स्वयंक्रिय यन्त्र लगे
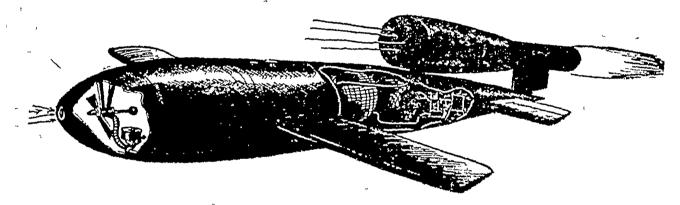
चालकहीन विमान या उड़नबम

पिछले महायुद्ध में जर्मन लोगों ने इंगलैण्ड के विरुद्ध इस प्रकार के उड़नबमों का प्रयोग पहले-पहल किया था। साधारण वायुयानों की तरह इनमें भी पंख लगे होते थे, परन्तु इनमें कोई चलानेवाला व्यक्ति नहीं रहता था। अपने भीतर लगे हुए यंत्रों की सहायता से ये स्वयं ही उचित दिशा में बढ़ते हुए ठीक निशाने पर जाकर गिरते और साथ में लिये हुए विस्फोटक पदार्थ के धड़ाके से काफ़ी हानि पहुँचाते थे।

अमेरिका के प्रोफेसर गोडार्ड का नाम इस सिलसिले में विशेष उल्लेखनीय है। आप कई वर्षों से ऐसे राकेट-विमान की तैयारी में लगे हुए हैं, जो ऊर्ध्वाकाश की विरल वायु में भी आसानी से उड़ सकेगा। आकाश में छः-सात मील की ऊँचाई पर हवा इतनी पतली हो जाती है कि वायुयान के प्रापेलर की पकड़ में वह नहीं आती। अतः प्रापेलर हवा को काटकर आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त नहीं कर पाते। इतनी ऊँचाई पर तो प्रापेलरविहीन राकेट-वायुयान ही उड़ने में समर्थ हो सकते हैं।

चालकहीन राकेट-बम (उड़नबम) वास्तव में एक छोटे वायुयान की शक्ल के होते हैं। इसी कारण इन्हें चालकहीन विमान

रहते हैं, जो इस चालकहीन विमान के पतवार को हिला-डुलाकर उसे अपने निर्दिष्ट मार्ग पर साधे रहते हैं। चालक-शक्ति उत्पन्न करनेवाली नली में पहले अलग से एसटीलीन गैस डालकर उसे विद्युत्-चिनगारी से दागते हैं। इसके विस्फोटन के ज़ोर से उड़नबम अपने स्टैण्ड को छोड़कर १८० मील प्रति घण्टे के वेग से ऊपर उड़ जाता है। एसीटीलिन गैस के विस्फोटन से इतनी अधिक गर्मी उत्पन्न होती है कि नली की दीवाल, जो इस्पात की चादर की बनी होती है, लाल तप्त हो जाती है। उड़नबम जब तीव्र गति से आगे बढ़ता है तो नली की खिड़की की झिरियाँ हवा के धक्के से खुल जाती हैं, अतः बाहर की हवा नली

में घुस पड़ती है। ठीक उसी क्षण कक्ष से पतली नली द्वारा पेट्रोल का फव्वारा भी यहाँ आता है। चूँकि नली की दीवाल लाल तप्त रहती है, अतः पेट्रोल की फुआर और हवा का मिश्रण इसके स्पर्श में आते ही विस्फोट कर जाता है। विस्फोट करने पर इतनी अधिक मात्रा में गैसें बनती हैं कि उनके ज़ोर से सामनेवाली खिड़की की झिरी और पेट्रोल के आने का रास्ता दोनों ही बन्द हो जाते हैं। गैसें केवल पीछे की ओर ही भाग पाती हैं। उनके धक्के से समूचे उड़नबम को आगे बढ़ने के लिए शक्ति मिलती है। गैसों के बाहर निकल जाने पर नली के भीतर दबाव हलका पड़ जाता है और बाहर की हवा फिर झिरी को खोलकर भीतर पहुँचती है तथा पेट्रोल का भी रास्ता खुल जाता है। विस्फोटन-क्रिया की इस प्रकार बार-बार पुनरावृत्ति होती है। प्रति मिनट ४५ बार इस नली में विस्फोटन होता है। इसके इंजिन की शक्ति ६०० अश्वबल आँकी गयी है।

बम की उड़ान पर नियंत्रण रखने के लिए जायरोस्कोप स्वयंक्रिय पायलट का प्रयोग किया जाता है। इस ढंग के दो पायलट पीछे लगे रहते हैं—एक बम को दायें-बायें घुमानेवाले पतवार को साधता है, और दूसरा ऊपर-नीचे उठानेवाले 'एलीवेटर' पर नियन्त्रण रखता है। उड़नबम के अग्रभाग में मास्टर जायरोस्कोप लगा होता है, जो इन दोनों पायलटों पर इस प्रकार नियत्रण रखता है कि ये अपने काम में किसी प्रकार की त्रुटि न कर सकें।

बम की उड़ान की दूरी निश्चित करना भी आवश्यक होता है ताकि वह अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँच सके। इसके लिए बम की नाक पर एक छोटा-सा प्रापेलर लगाते हैं। प्रापेलर का सम्बन्ध बम की नाक पर लगे एक काउन्टर से होता है। काउण्टर की सुई को घुमाकर किसी नियत अंक पर लगा देते हैं। उड़नबम के रवाना होते ही प्रापेलर हवा के धक्के से घूमने लगता है। प्रापेलर के तीस बार घूमने पर काउण्टर एक अंक पीछे खिसक जाता है। जिस क्षण काउण्टर शून्य पर पहुँचता है, ठीक उसी वक्त विद्युत्-प्रवाह द्वारा बम की पूँछ के नीचे दो छोटे पटाखे फटते हैं, जिनके आघात से पूँछ के एलीवेटर को उठानेवाला एक यन्त्र चालू हो जाता है। फलस्वरूप बम की पूँछ ऊपर उठ जाती है और उसकी नाक नीचे को झुककर अपने लक्ष्य की ओर गोता लगाती है। ठीक इसी समय पतवार और एलीवेटर को साधनेवाले जायरोस्कोप-पायलट से इनका सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये एक नन्हा-सा चाकू उस रबर की नली को काट देता है, जो उन दोनों के सम्बन्ध को जोड़ती है। बम के गोता लगाते समय टङ्की का पेट्रोल ऊपर उठ जाता है और विस्फोटक चैम्बर में पेट्रोल का पहुँचना रुक जाता है। अतः इंजिन भी अपना काम करना रोक देते हैं। इङ्गलैण्ड में जब ये बम उड़ते हुए पहुँचते थे तो नागरिक इनके इंजिन की आवाज़ के बन्द होते ही सतर्क होकर रक्षागृहों में शरण लेने के लिये भाग जाते थे। इस प्रकार उड़नबम अपने गिरने की स्वयं ही सूचना दे देते थे। साधारणतया उड़न-बमों में रेडियो यंत्र फिट नहीं किये जाते। किन्तु इङ्गलैण्ड पर आक्रमण करनेवाले उड़नबमों में प्रति १०० पीछे ३ बमों में रेडियो यंत्र लगे हुए पाये गये थे। नीचे गिरने पर रेडियो-ट्रान्समिटर यंत्र रेडियो-संकेत ब्राडकास्ट करने लग जाते थे। उद्गमस्थान पर इन संकेतों को रीसीवर पर ग्रहण करके जर्मन लोग यह पता लगा लेते थे कि बम कहाँ पर गिरे हैं।

ये उड़नबम रेल की पटरियों पर से दागे जाते हैं। पटरियों की लम्बाई २०० फीट होती हैं। सामने की ओर ये ७ अंश पर उठी होती हैं। उड़नबम को पटरियों के सिरे पर रखकर विद्युत् करेन्ट द्वारा इसे दागते हैं। फायर किये जाने पर एक निश्चित ऊँचाई पर आकाश में उठकर ये धरती के समानान्तर हो जाते हैं; फिर अपने लक्ष्य की ओर ये अग्रसर होते हैं। इनकी रफ़्तार लगभग ४०० मील प्रति घण्टे होती है।

उड़नबम से भी भयानक अस्त्र वी-२ का निर्माण जर्मनी ने उस समय किया जब वह अपनी अंतिम साँसें गिन रहा था। उड़नबम की भाँति वी-२ को अपने इंजिन में बाहर से वायु सुड़कनी नहीं पड़ती। इस कारण आकाश में चालीस-पचास मील की ऊँचाई पर भी, जहाँ वायु लगभग नहीं के बराबर होती है, इसका इंजिन काम करता रहता है। वी-२ में पंख नहीं होते— यह सिगार की शक्ल का एक ट्यूब होता है, जिसकी पूँछ का सिरा खुला होता है और सामने का सिरा बन्द। ट्यूब की लम्बाई ५६ फीट तक पहुँचती है तथा मुटाई लगभग ५ फीट। वज़न में यह १२ टन ठहरता है। ट्यूब के अग्रभाग में ३० मन विस्फोटक पदार्थ भरा होता है और पीछे टङ्कियों में इंजन का ईंधन। अकेले ईंधन का वज़न ६ टन रहता है। उड़ान में प्रति सेकण्ड ३ मन ईंधन जलता है। ईंधन के विस्फोटन का तापक्रम ७००० अंश फारेनहाइट तक पहुँचता है। इन टङ्कियों में ऐसे रासायनिक पदार्थ भरे रहते हैं, जो उड़ान के दौरान में ही निरन्तर अबाध रूप से द्रव आक्सीजन का

निर्माण करते रहते हैं। इस द्रव ऑक्सीजन का संयोग अलकोहल से होता है। इस रासायनिक संयोग के द्वारा उत्पन्न हुए विस्फोटन से राकेट के सिद्धान्त पर वी-२ को आगे बढ़ने के लिए शक्ति मिलती है। इस अपरिमित शक्ति के कारण वी-२ की रफ्तार शीघ्र ही हद से ज्यादा बढ़ जाती है। अपने वेग के कारण आकाश में यह ६० मील की ऊँचाई तक पहुँच जाता है। वहाँ से तोप के गोले की तरह वक्र मार्ग का अनुसरण करते हुए जब यह अपने लक्ष्य पर गिरता है तो पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण इसकी रफ्तार बढ़ते-बढ़ते ३००० मील प्रति घण्टे तक पहुँच जाती है—ध्वनि की गति से भी कहीं अधिक! (ध्वनि की गति प्रति घण्टा लगभग ७०० मील है।)

अपनी तीव्र गति के कारण ये जब उड़ते हैं तो इनके इंजिन की आवाज पीछे ही छूट जाती है। अत विद्युत् वेग से उड़नेवाले वी-२ बमों के आगमन की सूचना इनकी ध्वनि से नहीं प्राप्त हो पाती।

वी-२ नामक जर्मनों का स्वयं-चालित अस्त्र

(चित्र में आसपास का आवरण हटाकर भीतरी रचना दिखायी गयी है।)

इसीलिए ये विशेष रूप से खतरनाक होते हैं। अपने मंच से एक बार छूट जाने पर इन्हें किसी प्रकार से भी बेकार बना सकना सम्भव नहीं—न वायुयान इन्हें पकड़ सकते हैं और न विमानभेदी तोपें ही इन पर निशाना लगा सकती हैं। इनके उपद्रव को रोकने का एकमात्र उपाय है इनको दागने के केन्द्र और मंच को नष्ट करना। वी-२ की उड़ान २०० मील तक पहुँचती है। इस फासले को यह लगभग ४ मिनट में तय करता है। जिस समय यह अपने लक्ष्य से टकराता है, इसके विस्फोट की आवाज़ २० मील तक सुनाई पड़ती है।

परमाणु-बम

६ अगस्त, १९४५, का दिन विज्ञान-संसार में सदैव के लिए चिरस्मरणीय रहेगा, क्योंकि इसी दिन परमाणु-बम के रूप में भौतिक विज्ञान ने संसार को शक्ति का एक नवीन स्रोत प्रदान किया। परमाणु-बम में निहित शक्ति का अनुमान लगाना सहज कार्य्य नहीं है। परमाणुओं के अन्दर की शक्ति जब मुक्त होती है तो अपरिमित शक्ति लभ्य होती है। आधा सेर पदार्थ के परमाणुओं में निहित शक्ति यदि मुक्त की जा सके तो एक अरब यूनिट शक्ति लभ्य होती है। सुविधार्थ हमने शक्ति की वह इकाई ली है, जिसका प्रयोग घरों और कारखानों में विद्युत्-शक्ति नापने के लिए किया जाता है। परमाणुओं से शक्ति प्राप्त करने के लिए हमें उनके केन्द्रपिण्ड को ही छिन्न-भिन्न करना पड़ता है—तभी परमाणु के भीतर संचित शक्ति को मुक्त होने का अवसर मिलता है।

इस सम्बन्ध में परमाणुओं पर भी थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक होगा। १९ वीं शताब्दी में ब्रिटिश रासायनिक डाल्टन ने अनेक उक्तियों द्वारा प्रमाणित किया था कि संसार का प्रत्येक मूलतत्त्व नन्हें-नन्हें अविभाज्य कणों से मिलकर बना है, जिन्हें 'परमाणु' का नाम दिया गया। उन दिनों लोगों की धारणा थी कि परमाणु रासायनिक क्रियाओं तथा अन्य अवस्थाओं में अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं, इन्हें किसी विधि तोड़ा नहीं जा सकता।

किन्तु विज्ञान की प्रगति ने नूतनतम अनुसन्धानों द्वारा उक्त धारणा को सर्वथा गलत साबित कर दिखाया। प्रसिद्ध वैज्ञानिक नील बोर और स्वर्गीय लार्ड रदरफोर्ड ने प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया कि परमाणु वास्तव में धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत्कणों के संयोग से बना

होता है। सबसे हलके तत्त्व हाइड्रोजन के परमाणु में एक धनात्मक विद्युत्कण तथा एक ऋणात्मक विद्युत्कण होते हैं। धनात्मक विद्युत्कण (प्रोटान) केन्द्र में स्थित होता है, किन्तु ऋणात्मक विद्युत्कण (एलेक्ट्रान) कुछ दूरी पर प्रोटान की परिक्रमा करता है। परमाणु का लगभग समूचा भार उसके केन्द्र में ही स्थित होता है।

इसी प्रकार अन्य मूल पदार्थों के परमाणुओं में भी कई प्रोटान केन्द्र में होते हैं और उतने ही एलेक्ट्रान बाह्य परिधियों में उनकी परिक्रमा करते हैं। मूल पदार्थ जितना भारी होता है उतने ही अधिक प्रोटान तथा एलेक्ट्रान उसके परमाणु में विद्यमान होते हैं।

परमाणुओं के केन्द्र के बारे में अधिक जानकारी पाने के निमित्त वैज्ञानिक अवश्य ही उत्सुक थे। रेडियो-प्रक्रिया के अनुसन्धानों ने इस समस्या पर विशेष प्रकाश डाला। बेकेरेल तथा मैडम क्यूरी ने प्रयोग द्वारा यह दिखलाया कि रेडियम में से निरन्तर ऋणात्मक तथा धनात्मक विद्युत्कणों की बौछार निकला करती है—कोई भी शक्ति इस बौछार को निकलने से रोक नहीं सकती। चूँकि धनात्मक कण केवल परमाणु के केन्द्र में ही मौजूद रहते हैं, अत: यह स्वीकार करना पड़ा कि रेडियोऐक्टिव पदार्थ के परमाणुकेन्द्र अपने आप अबाध गति से छिन्न-भिन्न होते रहते हैं। केन्द्रपिण्ड के टूटने से रेडियोऐक्टिव पदार्थ में से निरन्तर शक्ति भी विकीर्ण होती रहती है। इस नवीन अनुसन्धान ने पहली बार वैज्ञानिकों को यह सुझाया कि परमाणुओं के केन्द्र में अपरिमित शक्ति आबद्ध है। काश वे इसे अपने वश में कर सकते!

इस सिलसिले में १६३२ में प्रसिद्ध अंग्रेज़ वैज्ञानिक सर जेम्स चैडविक ने एक नवीन परमाणु-कण—न्यूट्रान—का पता लगाया। न्यूट्रान में विद्युत्-चार्ज बिलकुल नहीं होता, यद्यपि इसका वज़न प्रोटान के बराबर होता है। पदार्थों के परमाणु के केन्द्र में वास्तव में प्रोटान और न्यूट्रान प्रबल आकर्षणशक्ति द्वारा आबद्ध रहते हैं। संसार के भिन्न भिन्न मूलतत्त्वों में जो अन्तर देख पड़ता है वह उनके परमाणु के केन्द्र में स्थित प्रोटान और न्यूट्रानों की संख्या के कम या अधिक होने के कारण ही है। सबसे भारी तत्त्व 'युरैनियम' के परमाणुकेन्द्रपिण्ड में ६२ प्रोटान और १४३ न्यूट्रान होते हैं।

परमाणु की केन्द्रस्थित शक्ति को मुक्त करने के निमित्त सर्वप्रथम लॉर्ड रदरफोर्ड ने रेडियम की बौछार से प्राप्त धनात्मक विद्युत्-चार्ज वाले अल्फा-कणों की सहायता से परमाणु के केन्द्र के विश्लेषण का प्रयत्न किया। तदनन्तर अमेरिका के प्रोफेसर लारेन्स ने परमाणुकेन्द्र के विश्लेषण के लिए तीव्र गति के धनात्मक विद्युत्कण उत्पन्न करने के निमित्त साइक्लाट्रोन नाम का विशालकाय चुम्बकयंत्र तैय्यार किया। इस चुम्बक की आकर्षणशक्ति के बल से विद्युत्कण वृत्ताकार परिधि में कई बार चक्कर लगाते हैं। प्रत्येक में इन विद्युत्कणों की गति बढ़ती जाती है। अन्त में एक खिड़की के रास्ते से ये विद्युत्कण बाहर निकलकर शीशे की नली में रखे हुए पदार्थ के परिमाणुओं से जा टकराते हैं। अपनी तीव्र गति के कारण ही ये विद्युत्कण परमाणु के भीतर घुसकर उनके केन्द्रीय पिण्ड से टकराकर उसके कतिपय अवयवों को पृथक् कर देते हैं।

न्यूट्रान की खोज ने परमाणु वैज्ञानिकों के हाथ में मानों एक नये प्रकार की कार्तूस दे दी, क्योंकि इनमें विद्युत्-चार्ज न होने के कारण ये धनात्मक विद्युत्मय-केन्द्रपिण्ड में बिना किसी तरह का विकर्षण अनुभव किये हुए आसानी के साथ प्रवेश कर जाते हैं। साथ ही न्यूट्रान का वजन प्रोटान के बराबर होने के कारण ये अपने आघात से परमाणु के केन्द्र को विभाजित करने में भी समर्थ होते हैं।

१६३६ में इटली के वैज्ञानिक फर्मी ने न्यूट्रान-कणों की बौछार युरैनियम के परमाणुओं पर डाली। फल-स्वरूप युरैनियम के परमाणुओं में से कुछ विद्युत्कण बाहर निकले तथा उसमें से विकीर्ण शक्ति भी बाहर निकली। फर्मी ने समझा कि उसने एक नवीन तत्त्व का निर्माण इस प्रयोग द्वारा किया। सात-आठ वर्ष तक वह इसी गलतफहमी में रहा। तदुपरान्त बर्लिन के क़ैसर विल्हम इन्स्टीच्यूट में जर्मन वैज्ञानिक डा० आटो हान और डा० फ्रान्ज़ स्ट्रासमैन ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किये और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब यूरैनियम के परमाणु पर मन्दगामी न्यूट्रानों की बौछार डाली जाती है तो उसका केन्द्रपिण्ड दो बड़े भागों में विभाजित हो जाता है और इस प्रकार बेरियम और क्रिप्टन के परमाणु उत्पन्न होते हैं। साथ ही कुछ न्यूट्रान केन्द्रपिण्ड से पृथक् होकर बाहर तीव्र गति से भागते हैं और ये नवीन टुकड़े भी अस्थायी होते हैं—इनमें से भी न्यूट्रान तथा अन्य कण बाहर निकलते रहते हैं। इन नवजात न्यूट्रानों द्वारा भी अन्य यूरैनियम-परमाणु विभाजित होते हैं, किन्तु अधिकांश ये ऐसा करने में सफल नहीं होते। इसका कारण यह है कि इन न्यूट्रानों की गति तीव्र होती है और परमाणुकेन्द्रभेदन के निमित्त मन्दगामी न्यूट्रान ही विशेष रूप से सफल होते

है। १९३८ में नील बोर ने इस क्षेत्र के अनुसन्धानों पर विशेष प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि न्यूट्रान के आघात से यूरेनियम के परमाणु के केन्द्र दो भाग में विभक्त हो जाते हैं तथा इस क्रिया में केन्द्र के पदार्थ का एक सूक्ष्म अंश पूर्णतया शक्ति में परिवर्त्तित हो जाता है—अतः इस क्रिया के फलस्वरूप ढेर-सी शक्ति लभ्य होती है। प्रति पौण्ड यूरेनियम के पीछे कई करोड़ यूनिट शक्ति उत्पन्न होती है!

युद्ध प्रारम्भ होने पर युद्धसंलग्न राष्ट्रों का ध्यान परमाणु-शक्ति पर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) में इस ढंग के अनुसन्धान के लिए सबसे अधिक उपयुक्त क्षेत्र मिला। अमेरिका में उत्तम श्रेणी की प्रयोगशालाएँ तथा परमाणुभंजन के अन्य साधन पहले से ही मौजूद थे। साथ ही वहाँ की राजनीतिक स्थिति इस ढंग की थी कि इङ्गलैण्ड, नार्वे, फ्रांस के वैज्ञानिक तथा जर्मनी और इटली के निर्वासित वैज्ञानिक वहाँ एकत्र होकर परमाणु-शक्ति के रहस्योद्‌घाटन के निमित्त अपना सहयोग दे सकते थे। अतः विभिन्न देशों के प्रमुख वैज्ञानिकों की टोली ने परमाणु-शक्ति को वश में करने का गुर तीन वर्षों के अन्दर-अन्दर मालूम कर लिया। इस समस्या के हल करने के निमित्त २० करोड़ डालर खर्च करने पड़े थे!

परमाणु-बम में विस्फोटन यूरेनियम-परमाणु के केन्द्र-पिण्ड से प्राप्त होता है। यूरेनियम सबसे भारी तत्त्व है। यूरेनियम-परमाणु हाइड्रोजन परमाणु से साधारणतया २३८ गुना भारी होता है। किन्तु कुछ यूरेनियम-परमाणु वजन में थोड़े हलके होते हैं—हाइड्रोजन से २३५ गुना भारी। ये अपेक्षाकृत हलके परमाणु ही वास्तव में विस्फोटन-शक्ति के उत्पादक हैं। परमाणु-बम के अन्दर यूरेनियम के अतिरिक्त रेडियम का एक छोटा टुकड़ा तथा बेरिलियम और मोम रहते हैं। रेडियम से स्वयमेव निकलनेवाले अल्फा-कण बेरिलियम पर आघात करके उसमें से न्यूट्रान की बौछार उत्पन्न करते हैं। तदुपरान्त ये न्यूट्रान मोम की तह में से गुजरते हैं, अतः ये मन्दगामी बन जाते हैं। ये मन्दगामी न्यूट्रान-कण ही यूरेनियम केन्द्रपिण्ड का विस्फोटन कराते हैं। पुनः विच्छिन्न यूरेनियम-केन्द्रपिण्ड से निकले हुए न्यूट्रान स्वयं मन्दगामी बनकर अन्य परमाणुओं का भी विस्फोट करते हैं। इस प्रकार यूरेनियम-परमाणुओं के विस्फोटन की एक शृंखला बँध जाती है। एक क्षण के सहस्रांश भाग में पूरा बम विस्फोट कर जाता है!

यूरेनियम परमाणुबम वजन में लगभग ५ मन होता है, किन्तु इसका ध्वंसकारी प्रभाव २० हजार विशालकाय टी० एन० टी० बमों से भी अधिक होता है। हिरोशिमा नगर पर केवल एक परमाणु-बम गिराया गया था, किन्तु उस बम के विस्फोटन से इतनी अधिक उष्णता उत्पन्न हुई कि जो लोग घरों के बाहर थे वे एकदम भुन गये! घरों के भीतर लोग उष्णता तथा वायु की विस्फोटन-तरंगों के आघात से मरे। जिस ठौर बम गिरा, वहाँ से धुँए का स्तम्भ ७॥ मील ऊँचा आकाश में उठा तथा उस जगह से १ मील के घेरे के तमाम मकान धराशायी हो गये! हिरोशिमा तथा नागासाकी के दो परमाणु बमों ने २ लाख जापानियों को मौत के घाट उतारा! इनके अतिरिक्त कई हजार व्यक्ति बुरी तरह आहत हुए। परमाणु-बम के विस्फोट से उत्पन्न हुए न्यूट्रान-कणों की बौछार दूर-दूर तक पहुँचती है। ये कण नमक, मकान की दीवालों आदि में प्रविष्ट होकर उन्हें कृत्रिम रूप से रेडियोऐक्टिव बना देते हैं। अतः कई दिनों तक इन पदार्थों में से भी रेडियम की तरह ही हानिकारक रश्मियों तथा विद्युत्-कणों की बौछार निकलती रहती है। ये इतनी तीव्र होती हैं कि एक मील की दूरी पर भी शरीर के अंगों पर पड़कर त्वचा को भेद देती हैं तथा घातक प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

यदि राष्ट्रों ने स्वार्थवश भविष्य के युद्ध में इस दानव बम का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया तो आश्चर्य नहीं कि इस धरती की सभ्यता का समूल नाश हो जाय। विज्ञान की इस अपरिमित शक्ति के साथ मूर्ख तथा स्वार्थी मानव यदि नादान बच्चों की तरह खेलेगा तो यह शक्ति उसका नाश किये बिना न रहेगी! परन्तु यदि वैज्ञानिक इसी परमाणु शक्ति पर उसी भाँति नियंत्रण प्राप्त कर सके जिस तरह कि वाष्प-शक्ति अथवा विद्युत्-शक्ति पर तो इसमें संदेह नहीं कि वे आधुनिक सभ्यता की रूपरेखा बदलने में समर्थ हो सकेंगे। मुट्ठीभर यूरेनियम की शक्ति बड़े से बड़े समुद्री जहाज़ को हजारों मील का रास्ता तय करा सकेगी! विशालकाय कारखानों के इंजिन में तब परमाणु-शक्ति का ही प्रयोग होगा। सम्भवतः परमाणु-शक्ति से परिचालित राकेट-विमानों द्वारा तब लोग चन्द्रमा, मङ्गल, आदि सौर परिवार के अन्य सदस्यों (ग्रह-उपग्रहों) तक की यात्रा भी कर सकेंगे!

हाइड्रोजन-बम

परमाणु-बम के रूप में विनाश के एक अभूतपूर्व प्रलयंकर शस्त्र का आविष्कार कर लेने पर भी मनुष्य को अभी संतोष नहीं हो पाया है और अब उससे भी अधिक भीषण शस्त्र 'हाइड्रोजन-बम' के निर्माण के प्रयत्नों

की चर्चा सुनाई पड़ रही है। कहते हैं—इस नवीन अस्त्र-'हाइड्रोजन बम'—का प्रभाव परमाणु-बम से कई गुना अधिक विनाशकारी होगा और ऐसे केवल एक ही बम के विस्फोटन से लगभग ३००० वर्गमील के दायरे में महाप्रलय का दृश्य प्रस्तुत हो जायगा! इस हाइड्रोजन-बम की कल्पना अब कोरी कल्पना नहीं रह गयी है, प्रत्युत संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) में राष्ट्रपति ट्रूमैन के आदेश से विधिवत् उसके निर्माण-कार्य का श्रीगणेश भी हो गया है! बात यह है कि अब यह पूरी तरह पता चल चुका है कि परमाणु-बम केवल अमेरिका ही की बपौती नहीं रह गयी है—उसका गुर सोवियत रूस के भी हाथ लग गया है और वहाँ उसका निर्माण भी हो चुका है। अतः भयग्रस्त अमेरिकावाले अब पिछले परमाणु-बम से भी अधिक भयंकर और शक्तिशाली इस हाइड्रोजन-बम को बनाने में जुट पड़े हैं। आश्चर्य नहीं कि यही बात सोवियत रूस में भी हो रही हो और वहाँ के वैज्ञानिक भी अब तक इस दिशा में अपनी पूरी शक्ति के साथ हाथ लगा चुके हों।

हाइड्रोजन-बम की निर्माण-योजना यद्यपि अभी एक गूढ़ रहस्य है, परन्तु उसका मूलभूत सिद्धान्त तो विज्ञान-जगत् के लिए एक सर्वविदित बात है। वस्तुतः अनंत आकाश में जो लाखों नक्षत्र प्रति रात्रि को हमें चमचमाते दिखाई देते हैं वे सब एक प्रकार के अपने-अपने ढंग के भीमकाय हाइड्रोजन-बम ही हैं! इसी प्रकार हमारी पृथ्वी को प्रकाश के रूप में जीवनदान देनेवाला सूर्य भी एक विशाल हाइड्रोजन बम ही है, जिसमें प्रति क्षण वही क्रिया होती रहती है, जोकि प्रस्तावित हाइड्रोजन-बम में होगी। सूर्य में प्रति क्षण हाइड्रोजन के असंख्य परमाणु एक रहस्यमय ढंग से हीलियम नामक अन्य एक तत्त्व के परमाणुओं में परिवर्त्तित होते रहते हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप ही सूर्य अपनी शक्ति तथा ताप को अक्षुण्ण बनाये हुए है। इस क्रिया को वैज्ञानिकों की भाषा में 'फ्यूजन' का नाम दिया गया है। यह 'फ्यूजन' की क्रिया एक पेचीदा भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया है, जिसमें कि परमाणुओं के केन्द्र में स्थित प्रोटान महत्त्व का भाग लेते हैं। यह प्रक्रिया केवल असाधारणतया भयंकर तापक्रम और घोर दबाव की स्थिति में ही होना संभव है, जोकि सूर्य तथा अन्य महान् नक्षत्रों में सहज ही उपलब्ध है। हल्के पदार्थ के भारी पदार्थ में परिवर्त्तन की इस प्रक्रिया के लिए दस लाख डिग्री से भी अधिक तापक्रम तथा पृथ्वी पर के वायुभार से कई करोड़ गुना अधिक दबाव का होना आवश्यक है। इस भीषण ताप और दबाव की दशा में परमाणु के केन्द्र में स्थित प्रोटानों के फ्यूजन या समन्वय द्वारा पदार्थ का जो रूपान्तरीकरण होता है, उसके क्रम में एक महत्त्व की बात यह होती है कि प्रति चार प्रोटानों के फ्यूजन से शक्तिमूलक एक 'अल्फा-कण' का उत्पादन होता है! इस प्रकार इस प्रक्रिया द्वारा कुल मिलाकर शक्ति का एक अपरिमित नवीन स्रोत उमड़ पड़ता है। सूर्य से प्राप्त ताप एवं प्रकाश रूपी अनन्त शक्ति के निरंतर उत्पादन के मूल में यही गूढ़ रहस्य छिपा है। इसी तथ्य में निहित सिद्धान्त को अपनाकर वैज्ञानिकों ने परमाणु-बम से भी अधिक शक्तिशाली हाइड्रोजन-बम के निर्माण की योजना बनाई है। इस बम का परिचय संक्षेप में यों कहकर दिया जा सकता है कि इसके विस्फोट द्वारा क्षण भर के लिए एक सीमित क्षेत्र के भीतर वैज्ञानिक मानों प्रचण्ड सूर्य का ही एक अंश इस पृथ्वी पर उत्पन्न कर देना चाहते हैं!

यह बात किस प्रकार सिद्ध की जाय और एक सीमित दायरे में क्योंकर उतना भीषण ताप या दबाव इस धरातल पर उत्पन्न किया जाय, जितना कि फ्यूजन कि प्रक्रिया के लिए आवश्यक है—यही इस बम के निर्माणकर्ताओं के लिए एक माथापच्ची की वस्तु बनी हुई है। कहते हैं कि इस कार्य को सिद्ध करने के लिए यूरेनियम तथा प्लूटोनियम द्वारा निर्मित पूर्वोल्लिखित परमाणु-बम से सहायता लेने की योजना वैज्ञानिकों ने बनाई है, अर्थात् हाइड्रोजन बम के भीतर की प्रसुप्त शक्ति को जगाने या उसके भीतर फ्यूजन की क्रिया को जाग्रत करने के लिए उसके विस्फोटक के रूप में महाशक्तिशाली परमाणु-बम का उपयोग करने की बात सोची गयी है। यह परमाणु-बम इस हाइड्रोजन-बम के गर्भ में रक्खा जायगा और उसका विस्फोट कराकर ही क्षण भर के लिए उसमें वह भीषण ताप और दबाव की स्थिति प्रस्तुत की जायगी, जिससे कि बम में भरी हुई हाइड्रोजन-गैस के परमाणु केन्द्र के भीतर फ्यूजन की क्रिया जग पड़ेगी। इस प्रकार अनंत अल्फाकणों के उद्भव द्वारा शक्ति का एक प्रचण्ड स्रोत उमड़ पड़ेगा और फलतः आक्रमण-क्षेत्र पर महाप्रलयंकर विस्फोटक के रूप में विनाश की वह ताण्डव-लीला जग पड़ेगी, जोकि परमाणु बम के विनाश-ताण्डव से न जाने कितनी गुनी अधिक प्रचण्ड और व्यापक होगी! यदि सचमुच यह बात कभी घटित हो पायी तो फिर इस पृथ्वी पर सभ्यता का अंत ही हुआ समझिये।

विश्व की कहानी
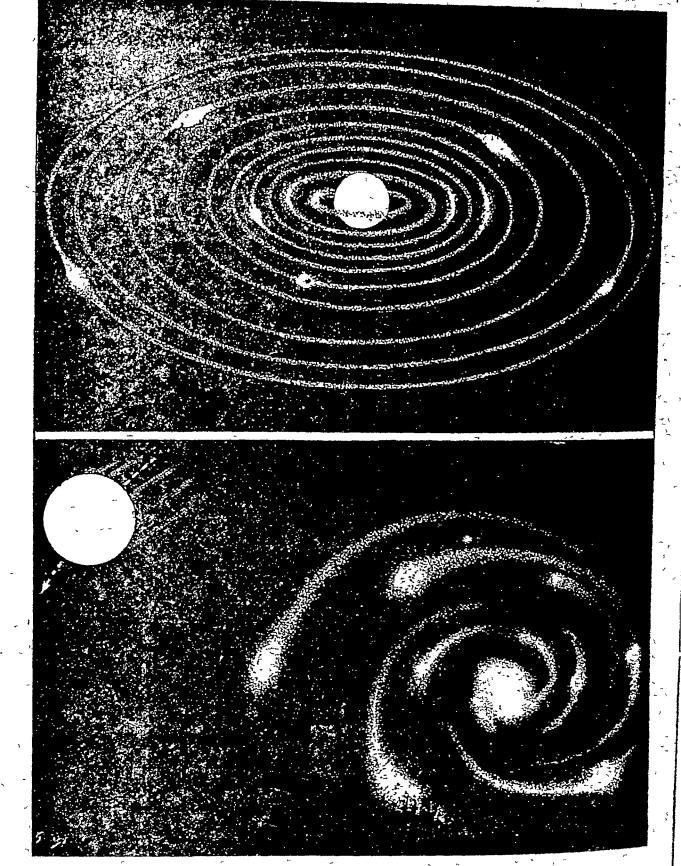
(ऊपर) लाप्लास का सिद्धान्त, जिसके अनुसार एक नीहारिका से बारी-बारी से बहुत-सा पदार्थ छिटक गया, जिसने आसपास चक्कर लगाते हुए गोलाकार पिंडों का रूप ले लिया। इन्हीं पिंडों को आज हम ग्रहों के रूप में देखते हैं और केन्द्रीय पिण्ड सूर्य है। (नीचे) आधुनिक सिद्धान्त, जिसके अनुसार किसी सुदूर अतीत में एक तारा हमारे सूर्य के काफ़ी निकट होकर निकला, जिससे सूर्य से बहुतेरा पदार्थ खिंचकर छिटक गया। इसी छिटके पदार्थ के सिमटने से विविध ग्रह बन गये।

आकाश की बातें

पृथ्वी एवं अन्य ग्रहों की उत्पत्ति

जगत के आदि-अंत की निगूढ़ समस्या का हल खोजनेवाले वैज्ञानिक के लिए—चाहे गणित के आँकड़ों की डोर पकड़कर चाहे तर्क का आश्रय ग्रहण कर— आगे बढ़ने का कोई और चारा नहीं है सिवाय अटकल के। उसे तो देश और काल के पर्दे के उस ओर हाथ बढ़ाकर तथा 'प्रत्यक्ष' की भूमिका से छलाँग भरकर डुबकी लगाना है 'परोक्ष' के अनजान गर्त में! ऐसी स्थिति में एक प्रश्न के विभिन्न समाधानों का प्रस्तुत किया जाना स्वाभाविक ही है। इसका किंचित् आभास पिछले लेख में आप पा ही चुके हैं। आइये, अब प्रस्तुत प्रकरण में भी इसकी एक झाँकी देखिए।

पिछले लेख में हमने देखा है कि आधुनिक विज्ञान के अनुसार हमारे सूर्य का जन्म कैसे हुआ। आरंभ में सर्वत्र गरम गैस फैली हुई थी (वह कहाँ से आई इसे कोई जानता नहीं)। यह गैस कहीं-कहीं घनीभूत हो गयी और पास-पड़ोस का द्रव्य वहीं सिमट आया। इस प्रकार नीहारिकाएँ बन गयीं। सिमटने के कारण तापक्रम बढ़ गया और उनके नाचने का वेग भी बढ़ा। सिमटना और वेग बढ़ना कुछ काल तक जारी रहा। अंत में वेग इतना बढ़ा कि मध्यरेखा के पास से पदार्थ छिटकने लगा। छिटके हुए पदार्थ ने सर्पिल भुजाओं का रूप धारण किया। फिर इन भुजाओं का पदार्थ यत्र-तत्र संचित हो गया। ये ही गाँठें सूर्यों में रूपान्तरित हो गयीं। हमारा सूर्य भी इसी प्रकार बना।

अब प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वी कब बनी और कैसे?

जो विज्ञान और गणित नहीं जानते उनके लिए कई संतोषजनक उत्तर उपस्थित किये जा सकते हैं, परंतु आज तक जितने भी सिद्धान्त बने हैं सब में गणित और विज्ञान की दृष्टि से कोई न कोई त्रुटि रह गयी है। प्रसिद्ध सिद्धान्तों का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

नीहारिका-सिद्धान्त

प्रसिद्ध फ्रांसीसी गणितज्ञ लाप्लास की धारणा थी कि सूर्य और फिर ग्रह किसी

सर जेम्स जीन्स
ग्रहों की उत्पत्ति-विषयक जिनके सिद्धान्त को आज सबसे अधिक मान्यता प्राप्त है।

नीहारिका से बने हैं। परंतु जब इस सिद्धान्त को गणित के काँटे पर तौला गया तो उत्तर निकला कि सूर्य तो नीहारिका से बन सकता है, परंतु पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों का भी नीहारिका से बनना संभव नहीं है। बात यह है कि पृथ्वी तथा अन्य ग्रह इतने वेग से सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते हैं कि वेग के समझने में नीहारिका-सिद्धान्त असमर्थ हो जाता है। पृथ्वी तथा ग्रहों में घूमने का इतना वेग कहाँ से उत्पन्न हुआ? यदि प्रारंभिक नीहारिका ही इतने वेग से नाचती थी तो फिर सूर्य भी क्यों नहीं वेग से अपनी धुरी पर नाचता? नाचने के वेग को नापने के लिए गणितज्ञों ने एक इकाई निकाली है जिसे वे 'आवेग-घूर्ण की इकाई' कहते हैं। [अंग्रेज़ी में आवेग-घूर्ण को 'मोमेंट ऑफ मोमेन्टम' कहते हैं।] सूर्य आदि पिंडों के आवेग-घूर्णों की गणना करने से पता चलता है कि सौर जगत् के सारे आवेग-घूर्ण का कुल २ प्रतिशत सूर्य में है, शेष ग्रहों में! यह क्यों? द्रव्य-मान तो प्रायः सारा सूर्य में है; उसके आगे सब ग्रह पासंग (पसंगा) में गिने जा सकते हैं। परंतु क्यों आवेग-घूर्ण ही सूर्य को इतना कम मिला है?

कोई भी सिद्धान्त इस परख पर टिक नहीं पाता, जब तक इसकी कल्पना न की जाय कि किसी बाहरी शक्ति ने ग्रहों को इस प्रकार वेगशील कर दिया है कि वे सूर्य की परिक्रमा करने लगे हैं। स्मरणीय

रहे कि यदि वे जनमते ही पर्याप्त वेग से सूर्य की परिक्रमा न करने लगते तो सूर्य की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति उनको अपनी ओर खींच लेती और कुछ ही समय में वे जाकर सूर्य में विलीन हो जाते।

अन्य तारे से मुठभेड़

जीन्स, जेफ़रीज़, चेंबरलेन और मूलटन ने पृथक्-पृथक् सिद्धान्त दिये हैं, जिनमें कई बातों में अंतर है, परंतु सभी मानते हैं कि पृथ्वी तथा ग्रहों का जन्म सुदूर भूतकाल में किसी दूसरे सूर्य के हमारे सूर्य की बगल से, या तो बिना छुये ही, या उसे रगड़ते हुए, या सचमुच धक्का देते हुए निकलने से हुआ। जेफ़रीज़ का कहना है कि बाहरी सूर्य वस्तुत. हमारे सूर्य को धक्का देता हुआ निकल गया, परंतु दूसरों का कहना है कि केवल यह मान लेना ही पर्याप्त है कि बाहरी सूर्य हमारे सूर्य के पास से होता हुआ निकल गया।

सच्ची बात चाहे जो रही हो, गणित से यह परिणाम निकलता है कि यदि कोई बाहरी सूर्य हमारे सूर्य के काफी नज़दीक आ जाय तो, केंद्र की अपेक्षा पृष्ठ पर अधिक आकर्षण-शक्ति पड़ने के कारण, हमारा सूर्य लँबोतरा हो जायगा। बाहरी सूर्य भी लँबोतरा हो जायगा। अधिक पास आने पर (सूर्य-व्यास के तिगुनी-चौगुनी दूरी पर) कुछ पदार्थ हमारे सूर्य से और कुछ बाहरी सूर्य से नुच जायगा। परिणाम यह होगा कि दोनों सूर्यों के बीच पुल-सा बन जायगा। अंत में बाहरी सूर्य अपने प्रारंभिक वेग की झोंक में दूर निकल जायगा। परंतु तब तक दोनों सूर्यों से निकला पदार्थ छिन्न-भिन्न होकर कुछ बाहरी सूर्य के साथ चला जायगा, कुछ हमारे सूर्य के साथ रह जायगा। जो पदार्थ हमारे सूर्य के साथ रह जायगा, उसमें से बहुत-सा भाग तो हमारे सूर्य में जा गिरेगा, परंतु कुछ भाग बाहरी सूर्य से पर्याप्त मात्रा में खिंच जाने के कारण इतना वेगमय हो जायगा कि सूर्य की परिक्रमा करने लगेगा। ऐसी ही कोई घटना हुई होगी और मुठभेड़ से बने खंड ही अंत में ग्रह हो गये होंगे। इन्हीं में से किसी से पृथ्वी बनी होगी।

जीन्स का 'ज्वारभाटा-सिद्धान्त'
इस सिद्धान्त के अनुसार जब अन्य नक्षत्र सूर्य के नज़दीक से होकर निकला, तो उसके आकर्षण से सूर्य का पदार्थ खिंचने लगा, जो नुचकर पृथक् हो गया। चित्र में बाईं ओर सूर्य और दाहिनी ओर समीप गुजरनेवाले नक्षत्र की तीन स्थितियाँ दिग्दर्शित हैं।

पहले तो यह एक अनियमित प्रचंड अग्निमय गैस-सी जान पड़ती रही होगी, परंतु धीरे-धीरे ठंढे होने पर केंद्र गैसीय के बदले तरल हो गया होगा। समय पाकर ऊपर पपड़ी बन गई होगी। तब इस पर पौधे उगे होंगे (उनके बीज कहाँ से आये यह अभी न पूछिये), तब जीव-जंतु पैदा हुए होंगे और तब प्रारंभिक मनुष्य। पीछे सभ्यता आयी होगी और अन्त में पृथ्वी आज जैसी हुई होगी। भूतकाल की अपेक्षा भविष्य बहुत लंबा है। संभवतः भविष्य लाखों गुना अधिक लंबा है। संभवतः सृष्टि अभी बच्ची ही है; उसकी यौवनावस्था, प्रौढ़ता और वृद्धावस्था अभी आने को है।

जीन्स का सिद्धान्त
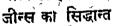
ऊपर बतायी गई बातें ब्रिटिश ज्योतिषी जीन्स के मतानुसार हैं। जीन्स का कहना है कि दोनों सूर्यों से निकला पदार्थ सिगार या मछली की आकृति का रहा होगा, बीच में मोटा और सिर तथा पूँछ पर पतला; लंबाई बहुत अधिक। ऐसा पिंड अस्थाई होता है। जब वह टूटा होगा तो स्वभावत. बीच के भाग से बना ग्रह बड़ा और भारी बन गया होगा और ओर-छोर के ग्रह क्रमानुसार छोटे और हल्के। जब हम वर्तमान ग्रहों पर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हम देखते हैं कि वस्तुत. बुध बहुत छोटा है; उसके बाद शुक्र कुछ और बड़ा है। तब पृथ्वी और मंगल प्राय. बराबर नाप के हैं। तब बृहस्पति है, जो ग्रहों के प्रायः बीच में है। यह सब से बड़ा और भारी है। फिर क्रमानुसार उतरती हुई नाप में शनि, यूरेनस, नेपच्यून, और

प्लूटो पड़ते हैं। मछलीनुमा पिंड के टूटने से बहुत-से ढोंके और रोड़े भी बन गये होंगे। वे ही केतु हो गये होंगे।

अवश्य इन सब बातों से जीन्स के सिद्धान्त का समर्थन होता है। परंतु आवेग-घूर्ण की कमी-बेशी की बात इस सिद्धान्त से भी पूर्णतया हल नहीं होती। फिर चंद्रमा कैसे बन गया और पृथ्वी के चारों ओर वह क्यों नाचने लगा, ये सब प्रश्न अच्छी तरह से इस सिद्धान्त से हल नहीं हो पाते। यह भी पता नहीं चलता कि क्यों सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर प्रायः गोल कक्षा में चलते हैं। यदि बाहरी सूर्य के आकर्षण से उनमें वेग उत्पन्न हुआ है तो उनका वेग सूर्य और ग्रह को मिलानेवाली रेखा से समकोण क्यों बनाने लगा? उचित तो यही जान पड़ता है कि वेग अंड-बंड किसी भी दिशा में होता। तब कोई ग्रह गोल कक्षा में चलता और कोई ग्रह, वर्तमान केतुओं की तरह, बहुत लँबोतरे दीर्घ वृत्त में चलता।

दूसरी आपत्ति यह है कि सूर्य से निकला पदार्थ अत्यन्त तप्त रहा होगा। गणना से पता चलता है कि ऐसी अवस्था में प्रकाश-भार गुरुत्वाकर्षण से कहीं अधिक रहा होगा। वस्तुतः प्रत्येक वर्ग-इंच पर प्रकाशभार लगभग ४०० मन रहा होगा। इसलिए ऐसे पिंड को तो सिमटने के बदले फैलकर उड़ जाना चाहिये था। ठंडा होते होते भी उसे इतना बिखर जाना चाहिये था कि उसके टुकड़े छिन्न-भिन्न हो जाते। फिर ये सिमटे कैसे? सिद्धान्तकार इन आक्षेपों का उत्तर नहीं दे सका है।

चेंबरलेन और मूल्टन का सिद्धान्त

चेंबरलेन और मूल्टन के सिद्धान्तों में इतना कम अंतर है कि उन दोनों को मोटे हिसाब से एक ही समझा जा सकता है। इनके सिद्धान्त को 'ग्रहलव-सिद्धान्त' (अंग्रेज़ी में 'प्लैनेटेसिमल थिओरी') कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब बाहरी सूर्य हमारे सूर्य की बगल से होता हुआ निकल गया तो जो पदार्थ निकला वह एक बार में नहीं, कई बार में और बड़े-बड़े पिंडों के रूप में, निकला। अवश्य ही कई छींटे भी उछले, जो शीघ्र जमकर ठोस हो गये। अंशतः दोनों सूर्यों के आकर्षण से, और अंशतः आपस में बार-बार टक्कर खाने से, अधिकांश छोटे पिंड चूर-चूर हो गये और चिपटे धरातल में फैल गये। उनमें से अधिकांश पिंड सूर्य के आकर्षण से उस में जा गिरे; बहुत से, जिनमें वेग अधिक था, सूर्य के आकर्षण-पाश में बँधकर, उसकी परिक्रमा करने लगे; कुछ जो बहुत बड़े थे, हमारे ग्रह हुए; शेष पदार्थ गैस या धूल, रोड़े और ढोंके के रूप में रह गये। जो पिंड अंत में ग्रह हो गये, उन्हें हम ग्रह-बीज कहेंगे। आरंभ में ये छोटे थे। परंतु सूर्य के चारों ओर असंख्य ग्रहलव बिखरे हुए थे। सूर्य की परिक्रमा करते समय इन ग्रह-बीजों में असंख्य ग्रहलव सिमटते चले गये होंगे—इनमें भी तो आकर्षण-शक्ति थी। इस प्रकार इनका आयतन और द्रव्यमान बढ़ गया होगा। समय पाकर हमारे ग्रह वर्तमान रूप में आ गये होंगे। प्रायः सभी ग्रहलव तब तक किसी न किसी ग्रह में जा समाये होंगे। इन ग्रहलवों के आ गिरने से ग्रहों का वेग कुल मिलाकर पहले से कम ही हो गया होगा, परंतु उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई होगी कि लँबोतरे दीर्घवृत्तों में चलनेवाले ग्रह अधिक वृत्ताकार कक्षाओं में चलने लगे होंगे। गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि ग्रहलवों और ग्रहबीजों के सम्मिलन का परिणाम
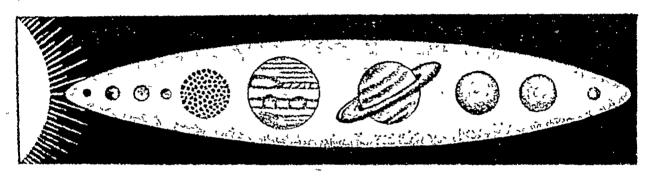
जीन्स के कथनानुसार सूर्य से निकला हुआ पदार्थ एक सिगार या मछली की आकृति का रहा होगा। यह पिंड जब टूटा होगा तो बीच के भाग से बना ग्रह बड़ा और भारी और ओर-छोर के ग्रह क्रमानुसार छोटे रहे होंगे। जब हम ग्रहों के वर्तमान आकार और स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि वे बहुत-कुछ इसी प्रकार व्यवस्थित हैं। बीच में बृहस्पति जैसा सबसे बड़ा और भारी ग्रह है और आसपास क्रमशः उत्तरोत्तर छोटे ग्रह हैं।

होगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त से एक बात यह भी समझ में आ जाती है कि क्यों सब ग्रह प्रायः वृत्ताकार कक्षाओं में चल रहे हैं।

परंतु नोलके ने इस सिद्धान्त पर भी आपत्ति की है। उसका कहना है कि किसी ग्रह की कक्षा को लँबोतरे से वृत्ताकार करने के लिए ग्रह के द्रव्यमान को लगभग दूना हो जाना चाहिए ; दूसरे शब्दों में, ग्रह-बीज में जितना द्रव्य आरंभ में था उतना ही द्रव्य उसे ग्रहलवों में से खींच लेना चाहिए। परंतु ग्रहलवों में रहेगा क्या ? अवश्य ही हाइड्रोजन, क्योंकि यही पदार्थ सूर्य में अधिक है। हलका होने के कारण यही पदार्थ देर तक बिखरा भी रहेगा। तब तो ग्रहों के वायुमंडलों में पर्याप्त मात्रा में हाइड्रोजन रहना चाहिए। परंतु वास्तव में ग्रहों के वायुमंडलों में इस गैस की मात्रा बहुत कम रहती है। केवल वायुमंडल के हाइड्रोजन के बदले यदि हम समुद्र के जल के हाइड्रोजन की भी गणना कर लें तो भी काम नहीं बनता। पृथ्वी के सब समुद्रों के जल के हाइड्रोजन का द्रव्यमान पृथ्वी के द्रव्यमान का कुल १/३८८०८वॉं भाग है। इसलिए यह संभव नहीं जान पड़ता कि पृथ्वी ने अपने द्रव्यमान का लगभग आधा पीछे से समेटा हो। पृथ्वी को जो कुछ भी मिला जन्म के समय ही।

फिर, यह भी दुविधा की बात है कि सूर्य से रह-रहकर बड़े-बड़े लोंदे निकले, जो अन्त में ग्रह बन गये।

मुठभेड़ की संभावना

वास्तव में तारे एक दूसरे से इतनी दूर-दूर पर हैं कि एक तारे के दूसरे से जा भिड़ने की संभावना बहुत कम है। गणित से पता चलता है कि यदि एक अरब तारे एक अरब वर्ष तक विचरते रहें तो कुल दो मुठभेड़ने की संभावना है। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि सूर्य और तारे की मुठभेड़ से हमारे सौर जगत् की उत्पत्ति होने की संभावना एक अरब वर्षों में १/५०,००,००,००० है। हमारे सूर्य के पास ग्रह हैं; यही प्रमाणित कर सकता है कि ऐसी घटना घटी। संभावना के कम होने से यही समझना चाहिए कि अन्य तारों के साथ ग्रहों के होने की संभावना बहुत कम है। करोड़ों तारों में कहीं एक-दो के ग्रह होंगे।

अन्य सिद्धान्त

जीन्स और जेफरीज़ के सिद्धान्तों में इतना कम अन्तर है कि मोटे हिसाब से इनको भी एक समझा जा सकता है। प्रमुख अन्तर यही है कि जेफरीज़ के मतानुसार बाहरी सूर्य हमारे सूर्य को टक्कर मारता हुआ निकल गया और इसलिए हमारे सूर्य से बहुत-सा द्रव्य बाहर छलक पड़ा। इसलिए जेफरीज के सिद्धान्त को 'संघात-सिद्धान्त' कहते हैं।

जीन्स के सिद्धान्त को 'ज्वार-भाटा सिद्धान्त' कहते हैं, क्योंकि जीन्स के मतानुसार बाहरी सूर्य कुछ दूर पर से ही निकल जाता है। उसके आकर्षण से सूर्य का पदार्थ उसी प्रकार उठता है जिस प्रकार समुद्र में चन्द्रमा के कारण जल। यदि बाहरी सूर्य अधिक हलका होता या और दूर से ही होता हुआ निकल जाता तो हमारे सूर्य से द्रव्य न छिटकता। केवल इतना ही होता कि हमारे सूर्य का वह भाग कुछ अधिक फूल जाता जो बाहरी सूर्य की दिशा में पड़ता ; ज्यों-ज्यों बाहरी सूर्य समीप आता त्यों त्यों हमारा सूर्य कुछ अधिक लँबोतरा हो जाता, बस। जब बाहरी सूर्य दूर जाने लगता तो हमारा सूर्य फिर अपनी पुरानी आकृति का हो जाता। इस प्रकार बाहरी सूर्य के आने से हमारे सूर्य मे बस एक लहर दौड़ जाती ; एक हलचल मच जाती, और फिर शांति हो जाती। परन्तु बाहरी सूर्य के भारी होने और निकट से होकर जाने से ही सूर्य-पदार्थ उछल पड़ा, यद्यपि इसे आगंतुक का कोई धक्का नहीं लगा।
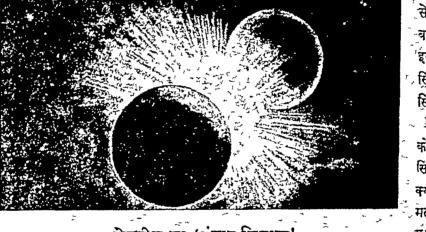
जेफ़रीज़ का 'संघात-सिद्धान्त'

जेफ़रीज़ का सिद्धान्त मोटे तौर पर जीन्स से मिलता-जुलता ही है। अंतर केवल यही है इसके अनुसार बाहरी सूर्य या तारा दूर से नहीं निकला बल्कि सचमुच इसे टक्कर मारता हुआ निकल गया, जिससे कि बहुत-सा द्रव्य बाहर छलक पड़ा। इसी पदार्थ से हमारे ग्रह बने।

चन्द्रमा की उत्पत्ति

चन्द्रमा की उत्पत्ति के विषय में भी एक ज्वार-भाटा सिद्धान्त है, जो और भी रोचक है। आरंभ में पृथ्वी अत्यन्त लाल और इसलिए तरल रही होगी। जल उस समय वाष्प के रूप में रहा होगा, और पत्थर पिघले रहे होंगे। आज भी तो पृथ्वी के भीतर अत्यंत तप्त पिघले पत्थर हैं, जो ज्वालामुखी पहाड़ों के मुख में से कभी-कभी निकल पड़ते हैं। पृथ्वी आज भी केवल ऊपर ठंडी हो रही है, भीतर गरम है।

उस समय पृथ्वी इतनी भी ठंडी नहीं हुई थी कि उस पर ठोस पर्त पड़ जाय। तब तक पृथ्वी का जन्म हुए बहुत समय न बीतने पाया था, परंतु उस समय तक चन्द्रमा नहीं बना था। लेकिन सूर्य तो था ही। सूर्य के कारण पिघली हुई पृथ्वी में ज्वार-भाटा उठता-गिरता रहा होगा। पृथ्वी उस समय चार घंटे में ही अपनी धुरी पर घूम जाती होगी (गणना से यही पता चलता है)। सिमटने या अन्य कारणों से इस परिक्रमण-काल में थोड़ा-बहुत अन्तर पड़ा होगा। उधर ज्वारभाटे के चक्र-काल में भी पृथ्वी के सिकुड़ने या फूलने-पिचकने से कमी-बेशी हुई होगी। तब एक समय ऐसा आया होगा जब पृथ्वी का परिक्रमण-काल ठीक ज्वारभाटा-चक्रकाल के बराबर हो गया होगा। तब उत्पात मचा होगा। उस समय ऐसा भयंकर ज्वारभाटा उठा होगा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस समय पृथ्वी से बहुत-सा पिघला पदार्थ एक झोंके में छिटक गया होगा। अपनी आकर्षण-शक्ति के कारण यह पदार्थ सिमटकर गोल हो गया होगा। यही हमारा चन्द्रमा हुआ। गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि चन्द्रमा धीरे-धीरे पृथ्वी से दूर हटता गया होगा। वह आज भी हटता जा रहा है। इन दिनों तो १०० वर्षों में वह कुल ५ फीट ही दूर जाता है, परंतु आरंभ में दूर हटने का वेग अधिक रहा होगा। दूर हटने का कारण यही है कि समुद्रों में ज्वारभाटा जब उठता है तो जलकणों की परस्पर रगड़ के कारण शक्ति नष्ट होती है। इससे पृथ्वी का वेग कम हो जाता है, जिससे चंद्रमा कुछ दूर हट जाता है। यह सब गणित से सिद्ध किया जा सकता है। परंतु इस सिद्धान्त की दुर्बलता इसी में है कि यह कल्पना करना पड़ता है कि एक वक्त था जब पृथ्वी का परिक्रमण-काल (अर्थात् उसे अपनी धुरी पर एक बार घूम लेने का समय) और ज्वारभाटा-चक्रकाल (अर्थात् ज्वारभाटा की लहर के पृथ्वी के चारों ओर एक बार दौड़ आने का समय) दोनों ठीक-ठीक बराबर थे। इसे कोई गणित से नहीं सिद्ध कर पाया कि ऐसा हुआ ही होगा; हाँ, यदि दोनों काल बराबर रहे हों तो गणित बताता है कि उस समय बड़ा भीषण ज्वारभाटा उठा होगा और तब चन्द्रमा के बराबर द्रव्यपिंड का छिटकना संभव है। केवल यही बात गणित से जानी जा सकती है।

पृथ्वी-परिभ्रमणकाल और ज्वारभाटा-काल के बराबर

चेंबरलेन और मूलटन का 'ग्रहलव-सिद्धान्त'

इस सिद्धान्त के अनुसार जब बाहरी सूर्य पास से गुजरा तो हमारे सूर्य से कई बार में बड़े-बड़े पिंडों के रूप में पदार्थ निकला। कुछ पिंड जो बड़े थे, ग्रह हुए; शेष असंख्य ग्रहलवों के रूप में बिखर गये। ग्रहों के आरंभिक रूप छोटे थे। क्रमशः आसपास बिखरे हुए ग्रहलवों के उनमें लिपटते जाने से उनका आयतन बढ़ गया।

होने पर क्यों इतनी उथल-पथल मचती है, इसे आप यों समझ सकते हैं। यदि किसी झूले की लंबाई ऐसी हो कि उसे उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से फिर उत्तर जाने में तीन सेकंड का समय लगता हो तो उसे हर तीसरे सेकंड पर धक्का देने का परिणाम यह होगा कि झूला धक्का देने की दिशा में चलेगा और प्रत्येक धक्के से उसकी गति कुछ बढ़ती ही जायगी। पृथ्वी पर तो वायुमंडल है। इससे जब झूला बहुत वेग से चलने लगता है तो वायु के कारण उसमें अधिक रुकावट पड़ने लगती है। परंतु यदि यही प्रयोग वायुरहित स्थान में किया जाय तो प्रत्येक धक्के से झूले का वेग बढ़ेगा ही। इसलिए अन्तिम परिणाम यही होगा कि झूला उलट-पलट जायगा।

परंतु यदि झूला एक बार आगे-पीछे ३ सेकंड में चलता है और धक्का प्रत्येक २ सेकंड पर, या प्रत्येक ४ सेकंड पर लगाया जाता है तो धक्का कभी तब लगेगा जब झूला उत्तर जाता रहेगा और कभी तब जब कि वह दक्षिण जाता रहेगा। इसलिए कभी धक्के से झूले को सहायता मिलेगी, कभी रुकावट।

इसी प्रकार उस प्राचीन काल में जब कि पृथ्वी तप्त और तरल रही होगी, जब तक पृथ्वी के परिक्रमणकाल और ज्वारभाटा-चक्रकाल में अन्तर रहा होगा तब तक तो कुछ विशेष घटना न घटित हो सकी होगी, परंतु जब इन कालों में प्राकृतिक कारणों से परिवर्तन होते-होते अकस्मात् दोनों काल बराबर या प्रायः बराबर हो गये होंगे तब भीषण ज्वार उठे होंगे और अंत में बहुत-सा पदार्थ छिटक गया होगा जो कि खिसकते-खिसकते चंद्रमा की वर्तमान स्थिति में पहुँच गया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार चंद्रमा पृथ्वी का ही अंश है। लोगों ने तो यहाँ तक सोच डाला है कि पृथ्वी के किस कोने से इतना पदार्थ छिटका होगा। उनका अनुमान है कि यूरोप और अमेरिका के बीच से ही यह माल निकला होगा, क्योंकि वहीं बहुत गहरा समुद्र है। संभवतः उस समय पृथ्वी इतनी तरल नहीं थी कि गड्ढा शीघ्र या पूर्णतया भर पाये। जान पड़ता है कि कवियों की यह कल्पना कि चंद्रमा पृथ्वी की ही कोख से निकला है, इतना अवैज्ञानिक नहीं है।

केतुओं की उत्पत्ति

ग्रहों और केतुओं की चालों में इतना अन्तर है कि
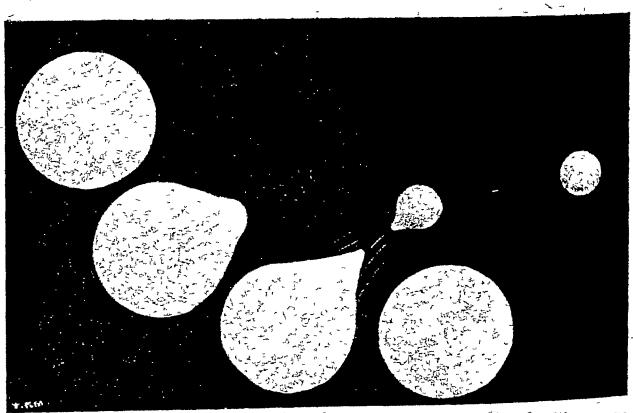
किसी सुदूर अतीत में, जब पृथ्वी के परिक्रमणकाल और ज्वारभाटाकाल अकस्मात् बराबर हो गये होंगे, तब उस पर भीषण ज्वार उठे होंगे, जिसके कारण उसका बहुत-सा अंश छिटक गया होगा। इसी से चंद्रमा बना होगा।

केतुओं की उत्पत्ति संभवतः पूर्णतया विभिन्न रीति से हुई। यदि ग्रह हमारे सूर्य और बाहर से आये तारे (अर्थात् बाहरी सूर्य) की मुठभेड़ से उत्पन्न हुए तो यह संभव है कि सूर्य-विस्फोट के समय, या सूर्य से निकले पदार्थ के टूटने के समय, बहुत से छींटे उड़े, जिनसे केतु बन गए। परंतु इन सब को आगंतुक की कक्षा के धरातल में चलना चाहिए था। फिर, जब-जब केतु सूर्य के पास आते हैं तब-तब उनमें से आज भी गैस निकलती है। यदि केतु उसी समय उत्पन्न हुए होते जब कि पृथ्वी और ग्रह उत्पन्न हुए थे—आज से कोई दो अरब वर्ष पहले—तो उनकी गैस कब की समाप्त हो गयी होती और आज किसी केतु में से पूँछ निकलती हुई न दिखायी देती। इससे कुछ वैज्ञानिकों ने यह सिद्धान्त बनाया है कि सूर्य, जो बड़े वेग से तारों के बीच दौड़ रहा है, कभी किसी ऐसी नीहारिका में घुस गया, जहाँ बहुत-से रोड़े थे और उनमें से बहुत-से को वह अपने आकर्षण से खींचता हुआ निकल आया। इस सिद्धान्त के अनुसार यह बात अपेक्षाकृत हाल की है, यही कोई दस-बीस लाख वर्ष पहले की। परंतु केतुओं की संख्या कई लाख है। इसलिए नीहारिका में रोड़ों की संख्या, या केन्द्रीभूत गैसों की संख्या, पर्याप्त रही होगी, परंतु वर्तमान नीहारिकाओं में ऐसे रोड़ों और ढोंकों के रहने की संभावना कम जान पड़ती है, क्योंकि वहाँ तप्त गैसें हैं, और घनीभूत हुए केंद्र भी अपेक्षाकृत कम दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए इस सिद्धान्त को भी कोरा अनुमान ही समझना चाहिये।

पृथ्वी के जन्म के संबंध में आधुनिक खोज

लाप्लास का नीहारिका सिद्धान्त सन् १७९६ में प्रकाशित हुआ था। चेंबरलेन और मूलटन का सिद्धान्त लगभग सन् १९०० का है, जीन्स और जेफ्रीज़ का सिद्धान्त सन् १९१६ का। इसलिए ये दोनों सिद्धान्त आधुनिक ही सिद्धान्त हैं। तो भी इनके बाद भी खोज हुई है और नवीन सिद्धान्त बनाये गये हैं, परंतु किसी का सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं माना जा सका है।

मौल्टन का (१९३० में) कहना है कि सूर्य, ग्रह और उपग्रह सभी प्रारंभिक नीहारिका की भुजा के द्रव्य से संकुचित होकर बने हैं। आज भी सर्पिल नीहारिकाओं की भुजाओं में गाँठें दिखायी पड़ती हैं। परंतु मौल्टन के सिद्धान्त से यह समझ में नहीं आता कि उपग्रह कैसे बन गये होंगे। उनके बनने के लिए मौल्टन को अन्य कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ी है। इस पर रसेल का कहना है कि "कल्पनाओं से हम कुछ समझ नहीं पाते; केवल कठिनाइयों को अज्ञात प्रदेश में कुछ दूर और ढकेल देते हैं"।

रसेल ने दो सिद्धान्त उपस्थित किए हैं। एक तो यह कि ग्रहों की उत्पत्ति के पहले हमारा सूर्य युग्म तारा था—हमारे सूर्य के चारों ओर एक दूसरा छोटा सूर्य चक्कर लगाया करता था। बाहरी सूर्य अर्थात् तारा जब आया तो हमारे इस छोटे सूर्य से भिड़ गया। छोटा सूर्य टूट-फूट गया और उसका बहुत-सा अंश बाहरी सूर्य के साथ चला गया। जो बचा, वही विविध ग्रहों के रूप में आज वर्तमान है। इस सिद्धान्त में यह अच्छाई है कि इससे सुगमता से ग्रहों का अधिक आवेग-घूर्ण समझाया जा सकता है, क्योंकि छोटे सूर्य में पर्याप्त आवेग-घूर्ण रहा होगा, परंतु बुराई यह है कि कई नई कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। जैसे यह कि ग्रह सब एक ही धरातल में क्यों चल रहे हैं। नीहारिका-सिद्धान्त के अनुसार नीहारिका के चिपटे होने के कारण ग्रह उसी धरातल में घूमने लगे। मुठभेड़-सिद्धान्त के अनुसार बाहरी सूर्य के मार्ग और हमारे सूर्य से होकर जानेवाले धरातल में ग्रह चलते हैं। परन्तु यदि हमारा सूर्य युग्म तारा था और हमारे सूर्य का साथी बाहरी सूर्य के चपेट में आ गया तो उसके खंडों से बने ग्रहों को विविध धरातलों में चलना चाहिए। इन सब आपत्तियों को रसेल ने स्वयं उपस्थित किया है और अन्त में वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि सिद्धान्त ठीक नहीं है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि कई रीतियों से पता चलता है कि विश्व की आयु लगभग २ अरब वर्ष है। पृथ्वी की आयु भी लगभग इतनी ही है। उल्का-प्रस्तरों की आयु भी लगभग इतनी ही निकलती है। पृथ्वी से चंद्रमा के निकलकर वर्तमान स्थिति में पहुँचने के लिए भी लगभग इतना ही समय लगा होगा, यद्यपि इसकी गणना इतनी स्थूल है कि इस पर विशेष भरोसा नहीं किया जा सकता। तो क्या संभव नहीं है कि आज से २ अरब वर्ष पहले कोई विस्फोट हुआ हो। आज भी दूरस्थ नीहारिकायें हमसे दूर भाग रही हैं और विश्व प्रसरित होता जा रहा है। लिमेतर का सिद्धान्त है कि प्रारंभ में एक बड़ा सा पिंड था। वही फूटकर ब्रह्मांड हुआ होगा। क्यों हुआ, कैसे हुआ, कब हुआ, गणित के समीकरणों के अनुसार हुआ या नहीं, इन प्रश्नों का उत्तर विस्फोट के बारे में कैसे कौन जानेगा! सारांश यह कि ग्रहों की उत्पत्ति के निर्णय के लिए हमें किसी भावी महान् वैज्ञानिक की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।
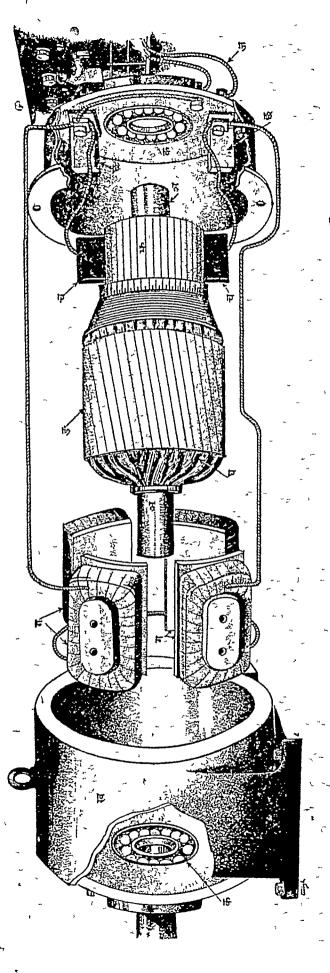
वृहत् परिमाण में विद्युत् उत्पन्न करने के लिए बिजलीघरों में प्रयुक्त एक विशालकाय डायनमो का मानचित्र

इस पेचीदा यंत्र की भीतरी रचना की जानकारी कराने के लिए प्रस्तुत चित्र में उसके ऊपरी कवच (केसिङ्ग) को हटाकर विभिन्न यंत्रभागों को एक-दूसरे से अलग-अलग दिग्दर्शित किया गया है। वे यंत्रभाग निम्नाङ्कित प्रकार से हैं :—क—आर्मेचर की लाट या स्पिण्डल के बॉलबेयरिङ्ग ; ख—ऊपरी कवच या केसिङ्ग ; ग—इलेक्ट्रो-मैग्नेट या विद्युत्-चुंबक ; घ—आर्मेचर के वेष्ठन ; ङ—आर्मेचर का ऊपरी आवरण; च—कार्बन-ब्रुश ; छ—ब्रुश होल्डर ; ज—स्विच-बोर्ड को जानेवाले तार ; झ—कम्यूटेटर ; ञ—आर्मेचर की लाट या स्पिंडल ; ट—इन्सुलेशन्स ; ठ—विद्युत्-चुंबक के भीतर का तार का जंजाल (इसे खोलकर दिखाया गया है) ; ड—विद्युत्-चुंबक का ऊपरी लौहावरण। नीचे दाहिनी ओर कवचरहित स्थिति में उपर्युक्त 'जनरेटर' (विद्युतोत्पादक यंत्र) का अन्य एक व्याख्यात्मक चित्र है। डायनमो के मूल सिद्धान्त को समझने के लिए पृ० ३११३-३११४ का मैटर पढ़िए।
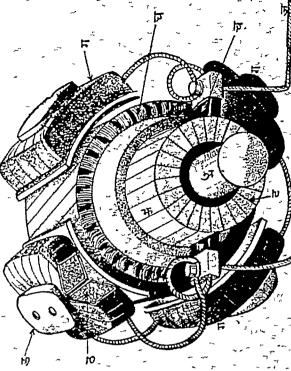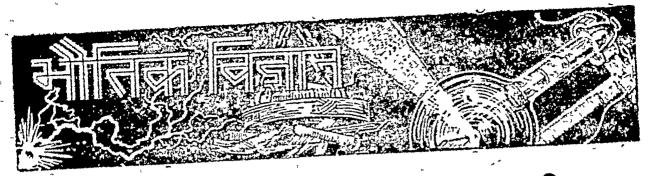
चुम्बकीय शक्ति से विद्युत् — डायनमो का आविष्कार

व्यापक उपयोगिता एवं मानव-हित की दृष्टि से भौतिक विज्ञान के क्षेत्र के जिन अनुसंधानों को सबसे अधिक महत्त्व दिया जा सकता है, उनमें चुम्बकीय शक्ति से विद्युत् प्राप्त करने की अद्भुत प्रणाली का भी एक विशिष्ट स्थान है। यह इसी महान् खोज का वरदान है कि आज हमारे दैनिक जीवन में विद्युत् शक्ति का प्रयोग इतने व्यापक पैमाने पर होने लगा है। किस प्रकार यह नवीन खोज की गई और उसके पीछे क्या क्या सिद्धान्त काम करते हैं, आइये, प्रस्तुत लेख में इसका विवेचन करें।

'हिन्दी विश्व भारती' के पिछले अंक में हमने देखा कि किस प्रकार प्रोफेसर ओर्स्टेड की खोज ने विद्युत्-धारा की सहायता से शक्तिशाली चुम्बक तैय्यार करने का गुर प्रदान किया। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक माइकेल फ़ैरेडे ने ओर्स्टेड की इस महत्त्वपूर्ण खोज से प्रेरणा पाकर इस दृष्टि से अनुसन्धान करना आरम्भ किया कि यदि विद्युत्धारा से चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न होती है तो क्या इसकी विपरीत क्रिया—चुम्बकीय शक्ति से विद्युत्धारा का उत्पन्न होना—सम्भव नहीं हो सकती? फलस्वरूप फ़ैरेडे ने १८३१ में एक नाल-चुम्बक के ध्रुवों में ताँबे के एक चक्राकार डिस्क को रख कर उसे घुमाकर दिखाया कि डिस्क के धार में विद्युत्-धारा का प्रवाह आरम्भ हो गया। विद्युत् उत्पन्न करने का यह एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त था। इसके पूर्व विद्युत्धारा केवल बैटरी की सहायता से ही उत्पन्न की जा सकती थी। फ़ैरेडे ने बिना किसी सेल या बैटरी की सहायता के विद्युत्-धारा प्राप्त करने में पहली बार सफलता प्राप्त की।

महान् वैज्ञानिक माइकेल फ़ैरेडे
जिन्होंने चुम्बकीय शक्ति से विद्युत् प्राप्त करने का सिद्धान्त और उपाय सर्वप्रथम हमें सुझाया।

फ़ैरेडे की इस महत्त्वपूर्ण खोज ने ही विद्युत्शक्ति को इस योग्य बनाया कि वह हमारे दैनिक जीवन में इतने बड़े पैमाने पर काम में लायी जा सके। तनिक कल्पना तो कीजिए कि यदि विद्युत्धारा उत्पन्न करने के लिए हमें सेल और बैटरी पर ही आश्रित होना पड़ता तो क्या कल-कारखानों का परिचालन विद्युत्शक्ति द्वारा हम कर पाते? अथवा उस दशा में क्या घरों में बिजली के पंखे, हीटर, रेफ्रिजरेटर या बिजली के चूल्हे प्रयुक्त किये जा सकते?

फ़ैरेडे की इस खोज के आधार पर ही डायनमो बनाना सम्भव हो सका है, जो कि पावर-हाउस के अन्दर विद्युत्-धारा उत्पन्न करने के काम में अधिक मात्रा तक लाये जाते हैं

के तार द्वारा पहुँचाते हैं। डायनमो यंत्र बिना किसी बैटरी की सहायता के यांत्रिक शक्ति को विद्युत्धारा की शक्ति में परिणत करता है। साथ ही उसके द्वारा उत्पन्न की गयी विद्युत्शक्ति सेल की रासायनिक शक्ति द्वारा उत्पन्न की गयी विद्युत् की अपेक्षा लगभग १००० गुनी सस्ती भी पड़ती है।

फ़ैरेडे का विद्युत्-चुम्बकीय-उपपादन का सिद्धान्त

ताँबे के तार का बना एक सर्पिल वेष्ठन लीजिए और उसके दोनों सिरों को विद्युत्धारा-दर्शक यंत्र के सिरों से जोड़ दीजिए। स्पष्ट है कि इस घेरे में न कोई सेल है न बैटरी, अतः तार में कोई विद्युत्-धारा प्रवाहित न होगी और न विद्युत्धारादर्शक की सुई में ही विक्षेप होगा। अब एक छड़ चुम्बक लेकर उसके उत्तरी ध्रुव वाले सिरे को तेज़ी के साथ छल्ले के अन्दर प्रविष्ट कराइए। आप देखेंगे कि विद्युत्-धारादर्शक की सुई में विक्षेप होता है, जो इस बात का द्योतक है कि वेष्ठन में विद्युत्धारा प्रवाहित हो रही है (इसी पृष्ठ के चित्र में नं० १)। छड़ चुम्बक ज्योंही स्थिर हो जाता है, त्योंही विद्युत्दर्शक की सुई भी अपने पूर्वस्थान पर चली जाती है, जिससे यह पता चलता है कि चुम्बक की गति रुक जाने पर वेष्ठन की विद्युत्धारा भी विलुप्त हो जाती है।

फैरेडे द्वारा निर्देशित विद्युत्-चुम्बकीय-उपपादन का सिद्धान्त

इस चित्र की व्याख्या के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िये। चित्र में 'उ' और 'द' उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के द्योतक हैं। तीर के चिह्न द्वारा विद्युत्धारादर्शक यंत्र की सुई के विक्षेप की दिशा निर्देशित की गई है।

इसके उपरान्त छड़ चुम्बक के उत्तरी ध्रुववाले सिरे को वेष्ठन के भीतर से बाहर की ओर खींचिए। आप देखेंगे कि विद्युत्धारादर्शक की सुई में इस बार विक्षेप उलटी दिशा में होगा—अर्थात् इस बार वेष्ठन में पहले की विपरीत दिशा में विद्युत् का प्रवाह होता है (चित्र में नं० २)। यदि दक्षिणी ध्रुववाले सिरे को वेष्ठन के भीतर ले जाएँ तब भी वेष्ठन के तार में विद्युत् का प्रवाह उसी दिशा में होता है जिस दिशा में उस समय प्रवाह होता है जब कि उत्तरी ध्रुव वाले सिरे को वेष्ठन से दूर ले जाते हैं (चित्र में नं० ४)।

इसी प्रकार जब दक्षिणी ध्रुव वाले सिरे को वेष्ठन से बाहर ले जाते हैं तब वेष्ठन के तार में विद्युत् का प्रवाह उस दिशा में होता है जिस दिशा में उस समय प्रवाह होता है जब कि उत्तरी ध्रुववाले सिरे को वेष्ठन के अन्दर ले जाया जाता है (चित्र में नं० ३)।

वास्तव में इन चारों क्रियाओं में वेष्ठन के निकट स्थित चुम्बकीय बल-रेखाओं की संख्या में परिवर्त्तन होता है, फलस्वरूप वेष्ठन के तार में विद्युत्धारा प्रवाहित होती है। किसी विद्युत्संचालक (धातु) के निकट जब चुम्बकीय बलरेखाओं की संख्या में परिवर्त्तन होता है तो उस विद्युत्-संचालक (धातु) में विद्युत्धारा प्रवाहित होती है। इस सिद्धान्त को 'विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन' कहते हैं।
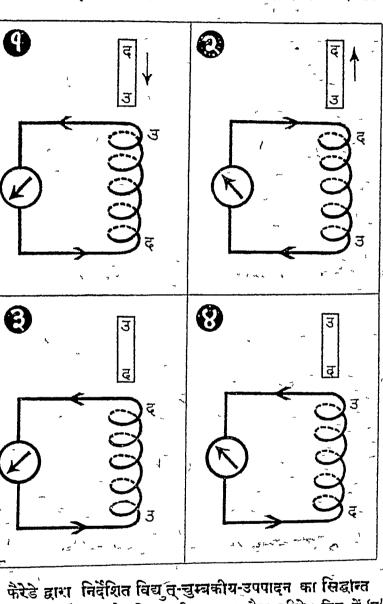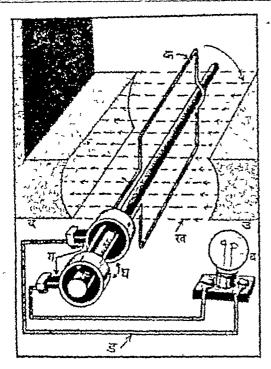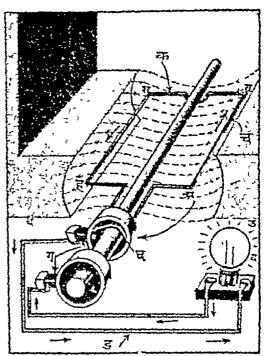
डायनमो का सिद्धान्त—(१) प्रत्यावर्त्तक विद्युत्धारा

प्रस्तुत मानचित्र में प्रत्यावर्त्तक विद्युत्धारा डायनमो का मूल सिद्धान्त एक सरल मॉडल की सहायता से दिग्दर्शित किया गया है। विस्तृत व्याख्या के लिए कृपया पृ० ३१११-३११२ का मैटर पढ़िए। चित्र में प्रयुक्त विविध सांकेतिक चिह्न निम्न अर्थों के द्योतक हैं.— क—तार का वेष्टन (शून्यावस्था में); ख—चुम्बकीय क्षेत्र की बलरेखाएँ (इस समय वेष्टन द्वारा इनमें कोई खलबली नहीं होती); ग—कार्बन ब्रुश; घ—'स्लिप रिंग' नामक छल्ले; ङ—बाह्य सर्किट (घेरा); च—वेष्टन के तार में विद्युत्धारा का प्रवाह जारी है; छ—छल्लों से विद्युत्धारा बटोरी जा रही है; अ ह स य—चुम्बकीय बलरेखाओं के समानान्तर वेष्टन की स्थिति, जिस में उत्पादन सबसे अधिक प्रबल होता है; व—विद्युत् लैम्प; उ—उत्तरी ध्रुव; द—दक्षिणी ध्रुव।

उपर्युक्त चारों प्रयोगों में छल्ले में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्धारा की दिशा को देखकर ऐम्पियर के नियम की सहायता से हम सहज ही ज्ञात कर सकते हैं कि वेष्टन के ऊपरी सिरे पर विद्युत्-चुम्बक का उत्तरी ध्रुव प्रयोग नं० १ तथा नं० ४ में बनता है तथा प्रयोग नं० २ और नं० ३ में उसका सिरा दक्षिणी ध्रुववत् होता है। इस दशा में उत्पादन द्वारा उत्पन्न हुई विद्युत्धारा की दिशा इस प्रकार होती है कि यह वेष्टन में प्रविष्ट चुम्बक की गति का विरोध करती है। यह आवश्यक नहीं है कि वेष्टन के निकट छड़ चुम्बक ही गति करे। यदि छड़ चुम्बक को स्थिर रखकर वेष्टन को ही इस चुम्बक के उत्तरी ध्रुव या दक्षिणी ध्रुव के सिरे के निकट लायें अथवा उससे दूर ले जायें तो इन दशाओं में भी वेष्टन में विद्युत्धारा का प्रवाह होगा और इस दशा में विद्युत्धारा की दिशा इस प्रकार होगी कि उसके चुम्बकीय क्षेत्र...

एक चक्कर में प्रत्यावर्त्तक विद्युत्धारा के प्रवाह की दिशा एवं उसकी प्रबलता

डायनमो का सिद्धान्त—(२) सरल विद्युत्धारा

प्रस्तुत मानचित्र में 'सरल विद्युत्धारा डायनमो' का सिद्धान्त सरल मॉडल द्वारा समझाया गया है। विस्तृत व्याख्या के लिए कृपया पृ० ३११२-१३ का मैटर पढ़िए। चित्र में प्रयुक्त सांकेतिक चिह्न लगभग वही हैं, जो पृ० ३१०१ के ऊपरी चित्र में 'प्रत्यावर्त्तक विद्युत्धारा डायनमो' के मॉडल में प्रयुक्त हुए हैं। विशेष चिह्न केवल ये हैं:— ज—कम्यूटेटर, छ—कम्यूटेटर से विद्युत्धारा बटोरी जा रही है।

कारण वह वेष्ठन की गति का विरोध करे। अथवा छड़ चुम्बक को हटाकर यदि एक दूसरा सर्पिल वेष्ठन लें और उसमें बैटरी से विद्युत्धारा प्रवाहित कराकर हम उसे एक विद्युत्-चुम्बक बना लें तो पहले वेष्ठन और दूसरे वेष्ठन के बीच की दूरी को घटाने-बढ़ाने पर भी उपपादन द्वारा विद्युत्धारा पहले वेष्ठनों में उत्पन्न हो सकेगी। फैरेडे ने इन प्रयोगों के फलस्वरूप विद्युत्-चुम्बकीय उपपादन (Electro-Magnetic Induction) के निम्नलिखित नियम प्राप्त किए:—

१. किसी धातु या विद्युत्संचालक से गुजरनेवाली चुम्बकीय बलरेखाओं की संख्या में जब परिवर्त्तन होता है तो उस धातु में विद्युत्धारा प्रवाहित होती है, यदि विद्युत्धारा के लिए घेरा (सर्किट) पूरा होने का प्रबन्ध हो। यह विद्युत्धारा उसी समय तक प्रवाहित होती है जब तक कि उस धातु से गुजरनेवाली बलरेखाओं की संख्या में परिवर्त्तन होना जारी रहता है।

२. इस प्रकार उत्पन्न हुई विद्युत्धारा की प्रबलता उस धातु से सम्बद्ध चुम्बकीय बलरेखाओं के परिवर्त्तन की दर की समानुपाती होती है। उदाहरण के लिए वेष्ठन के निकट छड़ चुम्बक जितनी अधिक तेजी से गति करेगा, उतनी ही अधिक प्रबल विद्युत्धारा वेष्ठन में प्रवाहित होगी।

सरल विद्युत्धारा की गति और उसकी प्रबलता

तल चुम्बकीय बलरेखाओं की समानान्तर दिशा की ओर आता है, त्यों-त्यों इसमें से गुजरनेवाली बलरेखाओं के परिवर्त्तन की दर बढ़ती जाती है। अत: उपपादन-विद्युत्-धारा भी तेज़ होती जाती है। वेष्ठन जब बलरेखाओं के समानान्तर हो जाता है, तब विद्युत्धारा सबसे अधिक तेज़ होती है। अपनी ऊर्ध्व स्थिति से वेष्ठन ९०° के कोण तक जब घूम चुका हो, तब इस स्थिति से आगे बढ़ने पर बल-रेखाओं के परिवर्त्तन की दर पुन घटने लगती है और १८०° की स्थिति पर पहुँचने पर विद्युत्धारा शून्य हो जाती है। इस समय तक ऊपर की भुजा घूमकर नीचे आ चुकी होती है और नीचे की ऊपर। वेष्ठन अब १८०° की स्थिति से २७०° की स्थिति तक जाता है तो विद्युत्धारा पुनः बढ़कर महत्तम हो जाती है, किंतु वेष्ठन से गुजरने-वाली बलरेखाओं की दिशा अब विपरीत हो जाती है, अतः विद्युत्धारा की दिशा भी उलट जाती है। बल-रेखाओं की समा-नान्तर दिशा की स्थिति (२७०° की स्थिति) से वेष्ठन जब ३६०° की स्थिति तक आता है तो यह विद्युत्धारा धीरे - धीरे घटकर पुनः शून्य हो जाती है। इस समय तक वेष्ठन भी पूरा एक चक्कर लगा लेता है। वेष्ठन के दोनों सिरे अलग-अलग धातु के दो छल्लों से जुड़े रहते हैं, जो उस धुरी पर आरूढ़ रहते हैं जिस धुरी पर वेष्ठन घुमाया जाता है। छल्ले और धुरी के बीच में आबनूस का एक टुकड़ा लगा रहता है, जो विद्युत् का अपरिचालक होता है। कार्बन के एक-एक ब्रुश इन छल्लों को छूते हैं। ये छल्ले 'स्लिप रिंग' कहलाते हैं। ताँबे के तार द्वारा ब्रुश का सम्बन्ध बाह्य सर्किट (घेरे) से रहता है, जिसमें विद्युत्धारा प्रवाहित कराना अभीष्ट है।

डायनमो के इस सरल मॉडल के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि—

१. वेष्ठन के प्रत्येक आधे चक्कर पर विद्युत्धारा की दिशा बदल जाती है। अत. यदि प्रति सेकण्ड वेष्ठन २५ चक्कर पूरा करता है तो विद्युत्धारा की दिशा ५० बार बदलेगी। नियमित रूप से दिशा बदलनेवाली ऐसी विद्युत्-धारा को 'प्रत्यावर्त्तक विद्युत्धारा' (Alternating Current) या 'ए. सी.' कहते हैं।

२. इस विद्युत्धारा की प्रबलता एक चक्कर में दो बार महत्तम हो जाती है और दो बार शून्य। ऊर्ध्व स्थिति से वेष्ठन जब चलता है तो विद्युत्धारा शून्य रहती है, और फिर चौथाई चक्कर बाद बढ़कर इसकी प्रबलता मह-त्तम हो जाती है। आधे चक्कर के समाप्त होने तक घटकर वह शून्य हो जाती है, फिर उलटी दिशा में इसकी प्रबलता बढ़ने लगती है और तीन-चौथाई चक्कर समाप्त होने की स्थिति में इसकी प्रबलता फिर महत्तम हो जाती है। इसके बाद विद्युत्धारा घटने लगती है और चक्कर समाप्त होने की स्थिति में यह पुनः शून्य हो जाती है।

स्पष्ट है कि यदि इस ढंग का सरल डायनमो विद्युत्-बल्ब में प्रकाश उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त किया जाय तो बल्ब की रोशनी प्रत्येक चक्कर में दो बार खूब तेज़ हो जायगी और दो बार उसकी रोशनी लग-भग बुझ जायगी।
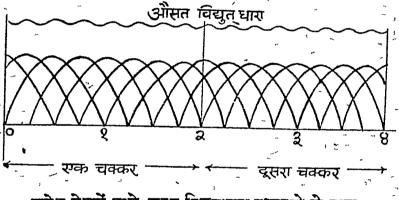
अनेक वेष्ठनों वाले सरल विद्युत्धारा डायनमो से प्राप्त होनेवाली विद्युत्धारा का प्रवाह

सरल विद्युत्धारा

ऊपर वर्णित मॉडल में तनिक सुधार करने पर बाह्य सर्किट (घेरे) में हम ऐसी विद्युत्धारा प्राप्त कर सकते हैं, जिसका प्रवाह सदैव एक ही दिशा में हो। इस एकदेशिक विद्युत्धारा को 'सरल विद्युत्धारा' कहते हैं। सरल विद्युत्धारा प्राप्त करने के लिए वेष्ठन के दोनों सिरों के तार एक ही छल्ले पर उसके आमने-सामने भाग से जुड़े रहते हैं। यह छल्ला आधे-आध पर कटा रहता है। कटे हुए भाग में आबनूस का एक टुकड़ा लगा रहता है। इसी कारण अंग्रेज़ी में इसे 'स्प्लिट रिंग' (Split ring) कहते हैं। कटे हुए छल्ले (स्प्लिट रिंग) के प्रत्येक आधे भाग पर एक-एक कार्बन ब्रुश टिकते हैं, जो ताँबे के तार द्वारा बाह्य सर्किट को पूरा करते हैं। ब्रुश की स्थिति इस प्रकार सधी रहती है कि जिस क्षण वेष्ठन अपने ऊर्ध्वतल से गुजरता है और वेष्ठन में विद्युत्धारा की दिशा बदलती है, ठीक उसी क्षण वेष्ठन के साथ घूमनेवाली स्प्लिट रिंग के अर्द्धभाग भी एक ब्रुश को छोड़कर दूसरे ब्रुश

को स्पर्श कर लेते हैं। अतः ब्रुश से आनेवाले तार में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्धारा की दिशा बदलने नहीं पाती तथा सदैव प्रबलता एक-सी बनी रहती है। अवश्य इस विद्युत्धारा के प्रवाह में चढ़ाव-उतार अभी भी मौजूद होगा।

आधुनिक प्रत्यावर्त्तक डायनमो

विद्युत्धारा उत्पादन करनेवाले यंत्र में यह कदापि वाञ्छनीय नहीं हो सकता कि उसकी विद्युत्धारा कभी प्रबल हो जाय और कभी दुर्बल। इस दोष को दूर करने के लिए आधुनिक प्रत्यावर्त्तक डायनमो में कई वेष्ठन लगाये जाते हैं, जिनके धरातल एक दूसरे के साथ समान कोण बनाते हैं। अतः जिस क्षण एक वेष्ठन अपनी शून्य स्थिति से गुजरता है, उस क्षण अन्य वेष्ठनों में न्यूनाधिक विद्युत्धारा प्रवाहित होती रहती है। ये सभी वेष्ठन एक ही धुरी पर आरूढ़ रहते हैं तथा प्रत्येक एक दूसरे के साथ श्रेणीबद्ध स्थिति में (in series) जुड़े रहते हैं। वेष्ठनों की श्रेणी से आनेवाले दोनों तारों में से एक तो एक छल्ले से जुड़ा रहता है और दूसरा दूसरे छल्ले से। इस दशा में वेष्ठनों से प्राप्त होनेवाली विद्युत्धारा लगभग पूर्ण रूप से सम हो जाती है। पृष्ठ ३१११ के रेखाचित्र से प्रकट है कि विद्युत्धारा की प्रबलता में अब चढ़ाव-उतार उतना अधिक नहीं है। वेष्ठनों की संख्या तथा चुम्बक के ध्रुवों के जोड़े की संख्या बढ़ाकर विद्युत्धारा की प्रबलता को और अधिक बढ़ा लेते हैं तथा उसे सम भी कर लेते हैं। प्रत्यावर्त्तक डायनमो में वेष्ठनों को स्थायी रखते हैं और चुम्बक को ही तीव्र गति से घुमाते हैं। चुम्बक को शक्तिशाली बनाने के निमित्त चुम्बक लोहे के ऊपर तार के वेष्ठन लपेटे जाते हैं, जिनमें सरल विद्युत् धारा (D. C.) प्रवाहित होती है, अतः वे शक्तिशाली विद्युत्-चुम्बक बन जाते हैं।

आधुनिक सरल धारा डायनमो

ऊपर सरल डायनमो के सीखने में हमने देखा कि एक वेष्ठन घुमाने पर जो विद्युत्धारा प्राप्त होती है, उसमें चढ़ाव-उतार रहता है, यद्यपि स्प्लिट रिंग के कारण बाह्य सर्किट में आनेवाली विद्युत्धारा के प्रवाह की दिशा एक-सी बनी रहती है। विद्युत्धारा के चढ़ाव-उतार को कम करने के लिए तथा उसकी प्रबलता बढ़ाने के लिए यहाँ भी वेष्ठनों की संख्या बढ़ा दी जाती है, साथ ही चुम्बक के ध्रुव के जोड़े की संख्या भी बढ़ायी जाती है। ऐसी दशा में जितने वेष्ठन लगते हैं, उससे दूने भागों में स्प्लिट रिंग विभाजित रहती है। इस स्प्लिट रिंग को 'कम्यूटेटर' कहते हैं। प्रत्येक वेष्ठन स्प्लिट रिंग के आमने-सामने के भागों से जुड़ा रहता है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र)। ये वेष्ठन प्रायः एक बेलनाकार कच्चे लोहे के पिण्ड पर लपेटे जाते हैं। अवश्य ये वेष्ठन लोहे के पिण्ड से बेकलाइट या रबड़ सरीखे विद्युत् के असंचालक पदार्थ द्वारा पृथक् किये गये रहते हैं। कच्चे लोहे के पिण्ड पर वेष्ठन इसलिए लपेटे जाते हैं कि चुम्बकीय क्षेत्र की बल-रेखाएँ अधिक संख्या में वेष्ठनों में प्रविष्ट हो सकें। इस बेलन को, जिस पर विद्युत् उत्पन्न करनेवाले वेष्ठन लपेटे जाते हैं, 'आर्मेचर' कहते हैं। सरल धारा डायनमो में आर्मेचर ही तेज घुमाया जाता है; विद्युत्-चुम्बक स्थिर रहते हैं।

सरल विद्युत्धारा डायनमो के आर्मेचर पर लगे चार वेष्ठन इस चित्र में दिखलाए गए हैं। वेष्ठन नं० १ के दोनों सिरे कम्यूटेटर के पीतल के भाग १-१ से जुड़े हैं। वेष्ठन नं० २ के दोनों सिरे कम्यूटेटर के भाग २-२ से जुड़े हैं। यही क्रम तीसरे और चौथे वेष्ठनों के लिए भी है।

अत्यन्त छोटे सरल धारा डायनमो के लिए स्थायी लौह चुम्बक काम में लाये जा सकते हैं। किन्तु बल्ब जलाने के लिए अथवा इंजन चलाने के लिए प्रबल विद्युत्धारा की आवश्यकता होती है और तब डायनमो में चुम्बकीय क्षेत्र पैदा करने के लिए विद्युत्-चुम्बक ही काम में लाये जाते हैं। इनके लिए उस डायनमो से उत्पन्न हुई विद्युत्धारा ही प्रयुक्त होती है। इस दृष्टि से सरल धारा डायनमो के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—

श्रेणीबद्ध डायनमो—इसमें आर्मेचर की विद्युत्धारा को कम्यूटेटर से सीधे विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठनों में से प्रवाहित कराने के बाद बाह्य सर्किट में ले जाते हैं। ऐसे डायनमो को श्रेणीबद्ध डायनमो कहते हैं, क्योंकि इसमें बाह्य सर्किट

विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन के साथ श्रेणी में जुड़ा है। ऐसे डायनमो में दोष यह होता है कि यदि बाह्य सर्किट में विद्युत्-बल्बों की संख्या बढ़ जाय तो विद्युत्धारा क्षीण पड़ जाती है। फलस्वरूप चुम्बक की शक्ति भी कम हो जाती है और तब आर्मेचर से उत्पन्न होनेवाली विद्युत्धारा और भी क्षीण हो जाती है। अत श्रेणीबद्ध डायनमो ऐसी दशा में भी प्रयुक्त होते हैं, जब बाह्य सर्किट में सदैव एक-सी मात्रा में विद्युत् खर्च होती है।

समानांतर बद्ध डायनमो—यदि विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन के लिए कम्यूटेटर से पृथक् सर्किट में विद्युत्धारा लें और बाह्य सर्किट के लिए कम्यूटेटर से विद्युत्धारा पृथक् तारों द्वारा ली जाय तो यह 'समानान्तर बद्ध डायनमो' कहलाता है। बाह्य सर्किट में यदि बल्ब या पंखों की संख्या बढ़ती है तो अपेक्षाकृत अधिक प्रबल विद्युत्धारा चुम्बक के वेष्ठन में से प्रवाहित होती है और आर्मेचर की धारा की प्रबलता बढ़ जाती है। अत. न तो बल्ब का प्रकाश और न पंखों की चाल मंद होने पाती है। इस प्रकार बाह्य सर्किट में विद्युत्धारा लगभग सम बनी रहती है।

मिश्रित बद्ध डायनमो—बल्बों की संख्या घटने-बढ़ने पर समानान्तर बद्ध डायनमो में यद्यपि बाह्य सर्किट की विद्युत्धारा की प्रबलता में श्रेणीबद्ध डायनमो की अपेक्षा कम परिवर्त्तन होता है फिर भी समानान्तर बद्ध डायनमो की विद्युत्धारा पूर्णतया एक समान नहीं रह पाती। अत' ऐसी स्थिति में जब कि बाह्य सर्किट में विद्युत् लैंप या पंखों की संख्या निरन्तर घटती-बढ़ती रहती है, केवल मिश्रित बद्ध डायनमो काम में लाये जाते हैं। मिश्रित बद्ध डायनमो के चुम्बक के वेष्ठन के कुछ फेरे समानान्तर बद्ध होते हैं और कुछ श्रेणीबद्ध। मिश्रित बद्ध डायनमो की विद्युत्धारा की प्रबलता सदैव एक-सी बनी रहती है, बाह्य सर्किट में परिवर्त्तन चाहे निरन्तर ही क्यों न होता रहे।

सरल तथा प्रत्यावर्त्तक धारा की तुलना

डायनमो से प्राप्त होनेवाली सरल विद्युत्धारा में चढ़ाव-उतार मौजूद नहीं होता, अतः यह बैटरी की विद्युत्धारा की भाँति होती है। किन्तु प्रत्यावर्त्तक धारा की दिशा प्रति सेकण्ड लगभग ५० बार बदलती रहती है। जहाँ तक तापीय अथवा प्रकाशीय प्रभाव का सम्बन्ध है, दोनों जाति की विद्युत्धारा के गुण एक समान होते हैं। इसी कारण विद्युत्-बल्ब, विद्युत्-स्टोव, अथवा कपड़े पर लोहा करनेवाली विद्युत्-इस्त्री के प्रयोग में इस बात का विचार नहीं करना पड़ता है कि उनके लिए हम सरल विद्युत्धारा काम में ले आ रहे हैं या प्रत्यावर्त्तक धारा। अवश्य विद्युत्-पंखे या विद्युत्-मोटर अथवा रेडियो को काम में लाने से पूर्व यह मालूम कर लेना आवश्यक होता है कि ये सरल विद्युत्धारा से चलने योग्य हैं या प्रत्यावर्त्तक धारा से अथवा दोनों से। रासायनिक प्रभाव के यंत्रों का परिचालन केवल सरल विद्युत्धारा से ही हो सकता है। प्रत्यावर्त्तक विद्युत्-धारा इनके लिए व्यर्थ ही ठहरती है। अतः बिजली की सहायता से वर्त्तनों पर कलई करने के निमित्त प्रत्यावर्त्तक विद्युत् कभी भी प्रयुक्त नहीं हो सकती। प्रत्यावर्त्तक विद्युत्धारा में यह गुण अवश्य मौजूद है कि इसे ताँबे के पतले तार द्वारा लम्बे फ़ासले तक पहुँचा सकते हैं, जबकि सरल धारा को उसी फ़ासले तक पहुँचाने में अपेक्षाकृत मोटे तार की आवश्यकता होती है।
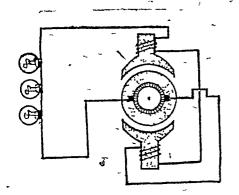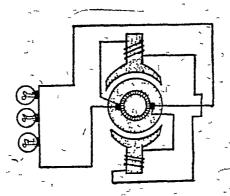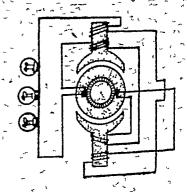
सरल धारा डायनमो के तीन प्रकार

(बाईं ओर) श्रेणीबद्ध डायनमो; (बीच में) समानान्तर बद्ध डायनमो; (दाहिनी ओर) मिश्रित बद्ध डायनमो। इन मानचित्रों में बाईं ओर के तीन वर्तुलाकार चिह्न बाह्य सर्किट में विद्युत्-बल्ब या पंखों के द्योतक हैं। बीच में डायनमो हैं और पतली रेखाओं द्वारा सर्किट के तार दिग्दर्शित हैं।

कार्बोहाइड्रेट तत्वों की पूर्ति करनेवाले भोजन के कुछ प्रमुख स्टार्चयुक्त पदार्थ।
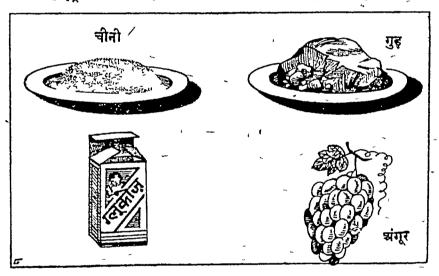
प्रमुख भोज्य पदार्थ, जिनसे हमें विभिन्न तैयार शर्कराएँ मिलती हैं।
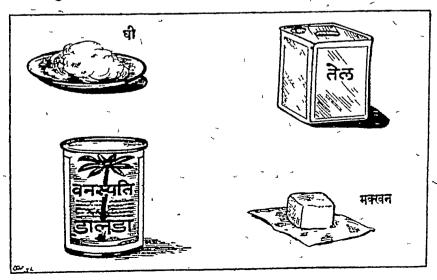
हमारे भोजन में वसा और तेल की पूर्ति के हेतु व्यवहृत मुख्य द्रव्य।

को देर तक चबलाएँ तो उसमें मिठास आती हुई जान पड़ने लगेगी। पके हुए स्टार्चीय भोजन पर ही टायलिन की क्रिया सरलता-पूर्वक होती है, कच्चे पर नहीं। वास्तव में भोजन के पाचन-क्रम का प्रारम्भ शरीर से बाहर रसोई में होता है, जहाँ वह पकाया जाता है। बिना ठीक प्रकार से चबलाए भोजन करना मानों अस्वास्थ्य को ही निमंत्रित करना है।

आमाशय से छोटी आँत में जाते हुए भोजन में 'पैंक्रियस' या क्लोम ग्रंथि से निकला हुआ रस मिलता रहता है, जिसमें 'एमिलोप्सिन' नामक एक 'एन्ज़ाइम' रहता है। इसके उत्प्रेरक प्रभाव से स्टार्च पूर्णतः माल्टोज़ (माल्ट-शर्करा) में परिणत हो जाता है। आँतों से जो रस निकलकर भोजन में मिलता है, उसमें कई 'एन्ज़ाइम' रहते हैं। इनमें से 'माल्टेज़' एन्ज़ाइम माल्टोज़ को ग्लूकोज (द्राक्ष-शर्करा) में बदल देता है और यह ग्लूकोज़ घोल के रूप में आँतों की दीवालों से शोषित होकर रक्त में मिल जाता है। यदि चीनी खाई जाती है तो उसके पाचन के लिए 'टायलिन' और 'एमिलाप्सिन' की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह आँतों के रस में रहनेवाले एक अन्य एन्ज़ाइम 'इन्वरटेज़' (सुक्रेज़) की उत्प्रेरक क्रिया से ग्लूकोज़ और फ्रुक्टोज़ (फल-शर्करा) नामक मोनो-शर्कराओं में परिणत हो जाती है, और ये मोनो-शर्कराएँ रक्त में मिल जाती हैं। इसी प्रकार 'लैक्टोज़' (दुग्ध-शर्करा) आँतों के 'लैक्टेज़' नामक एन्ज़ाइम द्वारा ग्लूकोज़ और 'गैलक्टोज़' नामक मोनोशर्कराओं

में बदलकर रक्त में शोषित होती है। मरीज़ों को 'ग्लूकोज़' मुँह से, अंतर्नाड़ीय इंजेक्शन द्वारा, अथवा गुदा द्वारा आँतों में इसलिए दिया जाता है कि यह पचा हुआ भोजन होता है, जो सीधे रक्त में शोषित होकर शीघ्र शक्ति प्रदान करता है।

जहाँ इधर पचे हुए भोजन से ग्लूकोज़ आँतों द्वारा रक्त में शोषित होता रहता है, वहाँ फेफड़ों में साँस द्वारा आई हुई हवा की ऑक्सिजन भी उसमें मिलती है; और यह ऑक्सिजन ग्लूकोज़ के कार्बन को जलाकर कार्बन-डाइऑक्साइड में बदल देती है और उसके पानी के तत्वों को पानी के रूप में छोड़ देती है। इस प्रकार कार्बन के जलने में जो गर्मी उत्पन्न होती है, वह हमारे शरीर को गर्म रखती है और हमें कार्य करने की शक्ति देती है। भोजन में 'कार्बोहाइड्रेट' का मुख्य धर्म शरीर को शक्ति प्रदान करना ही है। भोजन द्वारा उत्पन्न शक्ति (अथवा ताप) की नाप 'कैलॉरी' नामक इकाई से होती है। कैलॉरी ताप के उस परिमाण को कहते हैं, जो एक किलोग्राम पानी के ताप-मान को एक डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ा दे। कुछ काम न करनेवाले और लेटे रहनेवाले मनुष्य को प्रतिदिन लगभग १६०० कैलॉरी, बैठकर काम करनेवाले मनुष्य को लगभग २२०० कैलॉरी, बढ़ई-लोहार आदि साधारण श्रमिकों को लगभग १८०० कैलॉरी, तथा कठिन परिश्रम करनेवाले, जैसे लकड़हारे, को लगभग ४५०० कैलॉरी की आवश्यकता पड़ती है। एक छटाँक गेहूँ का आटा लगभग २०० कैलॉरी की शक्ति का उत्पादन करता है।

प्रोटीन तत्वों की पूर्ति करनेवाले कुछ प्रमुख भोज्य पदार्थ।

भोजन में विटामिनों एवं खनिज पदार्थों के मुख्य पूरक — भाँति भाँति के फल।
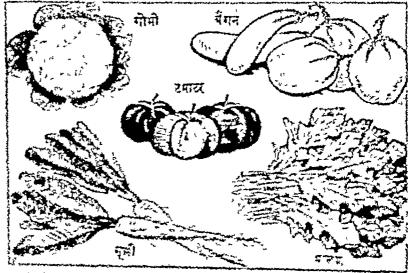
गाजर, गोभी, शिमला मिर्च आदि सब्जियों का खनिज एवं विटामिन-पूर्ति के रूप में बड़ा महत्त्व है।

भोजन हमें उतना ही करना चाहिये, जो हमें हमारी आवश्यक कैलॅरियाँ प्रदान कर दे। इससे अधिक भोजन करना केवल राष्ट्रीय सम्पत्ति की बरबादी करना ही नहीं, वरन् अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ना भी है। अत्यधिक भोजन करने से अजीर्ण, अम्लीयता, अतिसार, मधुमेह, मोटापा, आदि अनेक रोग उठ खड़े हो सकते हैं। हमें कार्बोहाइड्रेट उतना ही खाना चाहिये, जिससे कि ख़ून में ग्लूकोज़ का प्रतिशतांक लगभग ०·१ ही रहे, अर्थात् रक्त के १००० भागों में लगभग १ भाग ही रहे। वास्तव में रक्त को शकर उससे अधिक नहीं चाहिये और यकृत इतनी ही शकर रक्त में जाने देता है। अत्यधिक कार्बोहाइड्रेट खाते रहने से अत्यधिक ग्लूकोज़ बनती है और यकृत जवाब दे जाता है। वह रक्त में अधिक शकर के प्रवेश को रोक नहीं सकता। फल यह होता है कि गुर्दा इस अतिरिक्त ग्लूकोज़ को रक्त से मूत्र द्वारा बाहर निकालने लगता है। इस प्रकार शरीर की व्यवस्था बिगड़ जाती है। इस विकृति को 'मधुमेह' रोग (डायबिटीज़) कहते हैं।

शरीर के अंदर होनेवाली रासायनिक क्रियाओं द्वारा कार्बोहाइड्रेटों से आवश्यक परिमाणों में चर्बी भी बनती रहती है; लेकिन अत्यधिक कार्बोहाइड्रेटों के खाते रहने पर अधिक वसा बनकर शरीर में एकत्र होने लगती है—यह मोटापे के रोग का एक कारण है। इससे तोंद निकल आती है और शरीर बेढंगा और असमर्थ हो जाता है।

वसा और तैल

ये पदार्थ मुख्यतः भोजन की निम्न वस्तुओं में पाये जाते हैं। चर्बी, मक्खन, मलाई, घी, नाना प्रकार के सरसों, नारियल, तिल आदि के वनस्पति तैल तथा बादाम, पिस्ता, अखरोट, चिलगोजा, मूँगफली आदि सूखे मेवे। वैसे तो अनाजों, फलों और शाकों तक में ये कुछ न कुछ अवश्य रहते हैं।

वसा और तैलों में कौन-कौन से रासायनिक पदार्थ रहते हैं, यह भी जान लेना आवश्यक है। आप 'ग्लिसरीन' नामक पदार्थ से परिचित होंगे, जिसका उपयोग गले और कान की दवाओं, मोहर की स्याहियों, सौन्दर्यवर्धक वस्तुओं, आदि के बनाने में हुआ करता है। यह अल्कॉहोल की जाति का एक रंगहीन, गाढ़ा और मीठे स्वाद का द्रव होता है। रसायन में इसे अल्कॉहोल के नाम पर बहुधा 'ग्लिसरॉल' कहते हैं। वसाओं और तैलों में यह कुछ अम्लों के साथ संयुक्तावस्था में रहता है, और उन्हीं से साबुन बनाने की विधि में निकलता है। ये अम्ल ये हैं :—

१—पामिटिक एसिड [$C_{15}H_{31}COOH$]—यह सिरके के तेजाब की श्रेणी की सफेद रंग की गंधहीन एसिड होती है, जो पाम (ताड़ की जाति का एक वृक्ष) के तेल में अधिकतर पाई जाती है। साधारण तापक्रम पर यह अम्ल ठोस होता है। पानी में यह अम्ल नहीं घुलता।

२—स्टियरिक एसिड ($C_{17}H_{35}COOH$)—यह भी उसी श्रेणी का एक अम्ल है। साधारण तापक्रमों पर यह भी एक सफेद, चिकना, गंधहीन और अघुलनशील ठोस होता है। चर्बी और तैल से निकाला हुआ पामिटिक और स्टियरिक अम्लों का मिश्रण 'स्टियरीन' मोमबत्तियों, चेहरे पर लगानेवाली क्रीमों, आदि के बनाने में उपयुक्त होता है।

३—ओलेइक एसिड [$C_{17}H_{33}COOH$]—इस अम्ल के अणु में स्टियरिक एसिड के अणु से दो हाइड्रोजन परमाणु कम रहते हैं, इसलिए इसकी गणना असंतृप्त श्रेणी के अम्लों में होती है। जैतून के तैल—ओलिव आयल—में यह अधिकता से पाया जाता है, इसीलिए इसका नाम ओलेइक एसिड पड़ा। यह अम्ल एक रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन द्रव होता है। हवा अथवा ऑक्सिजन के सम्पर्क से ओलेइक एसिड पीली या लाल हो जाती है, इसीलिए वाणिज्य के क्षेत्र में इसे 'लाल तेल' कहते हैं।

इन तीनों अम्लों और ग्लिसरीन के संबद्ध होने से वसाओं और तैलों के अवयव बनते हैं। ग्लिसरीन का अणुसूत्र इस प्रकार है—

$$\begin{array}{l} CH_2OH \\ | \\ CHOH \\ | \\ CH_2OH \end{array}$$

और इसका और उपर्युक्त अम्लों का रासायनिक संयोजन हम पामिटिक एसिड का उदाहरण लेकर इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

$$\underset{\text{ग्लिसरॉल}}{\begin{array}{l} CH_2OH \\ | \\ CHOH \\ | \\ CH_2OH \end{array}} + \underset{\text{पामिटिक एसिड}}{3C_{15}H_{31}COOH} \longrightarrow$$

$$\underset{\text{पामिटिन}}{\begin{array}{l} C_{15}H_{31}COOCH_2 \\ \quad\quad\quad\quad | \\ C_{15}H_{31}COOCH \\ \quad\quad\quad\quad | \\ C_{15}H_{31}COOCH_2 \end{array}} + \underset{\text{जल}}{3H_2O}$$

भग ढाई गुनी अधिक। इसीलिए हम वसा अथवा तैल कम ही खा सकते हैं। अत्यधिक खाने से या तो अपच होगा या मोटापा बढ़ेगा।

प्रोटीन

भोजन के प्रोटीन नामक अवयव दो महान् कार्य करते हैं—पहला, शरीर के तन्तुओं का पुनर्निर्माण और दूसरा ताप और शक्ति का उत्पादन। जिस प्रकार मशीन के पुर्जे घिसा करते हैं, उसी प्रकार शरीर में निरन्तर होनेवाली ऑक्सीकरण की क्रियाओं में असंख्य तन्तु टूटते और नष्ट होते रहते हैं। प्रोटीन इन तंतुओं का पुनर्निमाण करते हैं। भोजन का और कोई अवयव इस कार्य को नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट और वसा की भाँति प्रोटीन शरीर को ताप और शक्ति भी प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से प्रोटीन, वास्तव में, भोजन के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अवयव होते हैं। केवल प्रोटीन पर ही प्राणी बहुत दिनों तक जीवित रह सकता है, लेकिन प्रोटीनरहित भोजन पर वह अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता। प्रोटीन वनस्पति और प्राणि-कलेवरों के कोष्ठों के अनिवार्य अवयव होते है। इनमें कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन तत्वों के अलावा नाइट्रोजन भी रहता है और बहुधा गंधक और फार्स्फरस भी पाये जाते हैं। प्रोटीन के १०० भागों में कार्बन के लगभग ५३, ऑक्सिजन के २२, नाइट्रोजन के १६, हाइड्रोजन के ७, गंधक के १½ और फार्स्फरस का ½ भाग होते हैं। नाइट्रोजन, जो प्रोटीनों का आवश्यक तत्व है, उनमें 'एमिनो' (NH_2) समूहों के रूप में रहता है, और ये एमिनो-समूह वसीय अम्लों, अर्थात् सिरके की एसिड (एसिटिक एसिड CH_3COOH) की श्रेणी के अम्लों में हाइड्रोजन के स्थानों में लगे रहते हैं। इस प्रकार का सब से साधारण एमिनो अम्ल 'ग्लाइसीन' (एमिनो-एसिटिक एसिड CH_2NH_2COOH) कहलाता है। इसी प्रकार के नाना एमिनो-एसिडों के परस्पर सम्बद्ध होने से प्रोटीन बनते हैं।

भोजन के जिन पदार्थों में प्रोटीन अधिकता से पाया जाता है, उनमें से कुछ ये हैं—मटर, चना, उड़द, मूँग, अरहर आदि दालें; नाना प्रकार के मांस; मछलियाँ; बादाम, पिस्ता, मूँगफली, काजू, अखरोट आदि मेवे; और पनीर, खोया आदि दूध के बने पदार्थ। गेहूँ, जौ, आदि अनाजों में भी प्रोटीन विचारणीय मात्रा में रहता है। नीचे दी हुई तालिका से हमें इस बात का अनुमान होगा कि हमारे आहार की कुछ चुनी हुई वस्तुओं में प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट कितने परिमाणों में पाये जाते है—

खाद्य पदार्थ	प्रोटीन (प्रतिशत)	वसा (प्रतिशत)	कार्बोहाइड्रेट (प्रतिशत)
मटर सूखे	२४	१	६२
भेड़ का मांस	१६	२४	—
मछली (सैमन)	२२	१३	—
बादाम	२१	५५	१७
पिस्ता	२२	५४	१६
पनीर	२४	३४	१०·६
दूध	३·३	४	५
मक्खन	१	८१	—
जौ	१०·५	२	७३
अंडा	१३·५	१०·५	—
आलू	२	०·१	१८
गेहूँ	११	२	७५
चावल	८	०·३	७९
चीनी	—	—	१००
शहद	०.४	—	८१·२
किशमिश	२·६	३·३	७६
सेब	०·४	०·५	१४·२
अंगूर	१·३	१·६	१९·२
गोभी (फूल)	२·४	०·२	४·१
टमाटर	०·६	०·४	३·६

पाचन मार्ग में प्रोटीन जब आमाशयिक, क्लोम, और आँतों के रसों से मिलते हैं तो उनमें रहनेवाले क्रमशः 'पेप्सिन', 'ट्रिप्सिन' और 'एरेप्सिन' नामक एन्ज़ाइमों की उत्प्रेरक क्रियाओं द्वारा वे सरलतर एमिनो-एसिडों में विच्छिन्न हो जाते हैं। ये एमिनो-एसिड अधिक घुलनशील और प्रसारणीय (diffusible) होने के कारण पाचन-मार्ग की दीवालों से रक्त में शोषित होकर शरीर भर में फैल जाते हैं। रक्त से इन्हें शरीर के नाना तन्तु शोषित करते हैं, और उनसे वे अपने योग्य प्रोटीनों को संश्लेषित करके नए तन्तुओं का निर्माण अथवा नष्ट तन्तुओं का पुनर्निर्माण करते हैं।

जो एमिनो-एसिड इस निर्माणात्मक कार्य से बच रहते हैं, उनका विच्छेदन और आगे होता है। उनसे 'एमिनो'-समूह निकल कर प्रधानतः (लगभग ८५ प्रतिशत) यूरिया (NH_2CONH_2) में तथा थोड़ी मात्राओं में अमोनियम लवण और यूरिक एसिड में परिवर्त्तित हो जाते हैं। यूरिया की भाँति यूरिक एसिड भी कार्बन, हाइड्रोजन,

उचित-अनुचित आहार का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
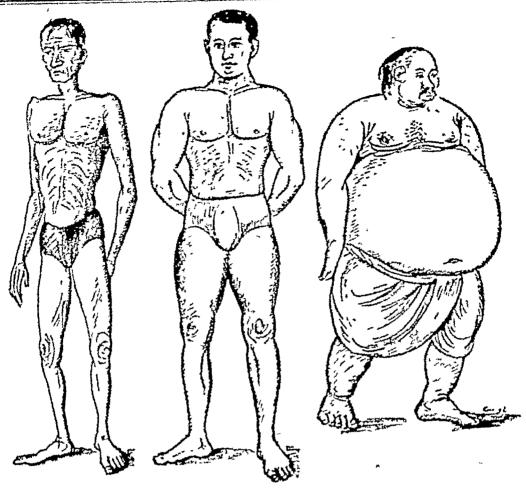
यदि असंतुलित अथवा आवश्यकता से कम भोजन के कारण शरीर को उचित मात्रा में आहार-विषयक सभी आवश्यक तत्त्व न मिल सकें तो दिन पर दिन वह सूखता चला जायगा, जैसा कि बाईं ओर के क्षीणकाय व्यक्ति के चित्र से प्रकट है। इसके प्रतिकूल लगातार आवश्यकता से अधिक वसा अथवा कार्बोहाइड्रेटयुक्त भोजन करने पर शरीर को मोटापा घेर लेता है और अधिक चर्बी के संचित हो जाने से मोटी सी तोंद निकल आती है, जैसा कि दाहिनी ओर के चित्र में प्रदर्शित है। वस्तुतः सच्चा स्वास्थ्य उन्हीं में पाया जाता है, जो संतुलित भोजन एवं उचित श्रम द्वारा अपने शरीर को सुगठित बनाये रहते हैं, जिसका कि नमूना बिचला चित्र है।

कार्बोनिक अम्ल और नाइट्रोजन का एक यौगिक होता है। इसका सूत्र यह है—

```
NH—CO
|    |
CO   C—NH
|    |    >CO
NH—C—NH
```

यूरिक अम्ल

यूरिया, क्रियेटिनिन अमोनिया और यूरिक अम्ल शरीर से मूत्र के साथ निकल जाते हैं। एक स्वस्थ वयस्क मनुष्य के दिन भर के मूत्र में लगभग ३० ग्राम (लगभग तीन तोला) यूरिया रहता है। एमिनो-एसिडों से एमिनो-समूहों के निकल जाने के उपरांत जो नाइट्रोजन-रहित अवशिष्ट यौगिक रह जाते हैं, वे ग्लूकोज में परिवर्तित हो सकते हैं; और यह ग्लूकोज ऑक्सिडाइज होकर ताप और शक्ति का उत्पादन करता है। प्रोटीनों से शक्ति-उत्पादन की क्षमता कार्बोहाइड्रेट के ही बराबर रहती है। कार्बोहाइड्रेटों की भाँति १ ग्राम प्रोटीन से भी ४.० कैलोरियों का उत्पादन होता है।

भोजन में प्रोटीन का उचित अनुपात में होना अत्यावश्यक है। प्रोटीन के अभाव में शरीर क्षीण, निर्बल एवं विकृत हो जाता है; तथापि प्रोटीन की अति भी नहीं होना चाहिये। मांस आदि प्रोटीनयुक्त पदार्थों को बहुत अधिक खाने से शरीर में यूरिक एसिड के जमा होने और इस कारण गठिया आदि रोगों के हो जाने का भय रहता है। भोजन वास्तव में ऐसा तुला हुआ होना चाहिये कि उसमें सभी आवश्यक वस्तुएँ आवश्यक परिमाण में ही रहें।

खनिज पदार्थ

प्रौढ़ मनुष्य के शरीर की मौलिक संरचना इस प्रकार होती है :—

मूलतत्त्व	प्रतिशतांक
ऑक्सिजन	६५
कार्बन	१८
हाइड्रोजन	१०
नाइट्रोजन	३
कैल्शियम	१·५
फास्फरस	१·०
पोटैशियम	०·३५
गंधक	०·२५
सोडियम	०·१५
क्लोरिन	०·१५
मैग्नेशियम	०·०५
लोहा	०·००४
मैङ्गनीज़	०·०००३
आयॅडिन	०·००००४
ताम्र	न्यूनतम अंशों में
जस्ता	
सिलिकन	
अलुमीनियम	
फ्लुअॅरिन	

शरीर के मौलिक अवयवों में ऑक्सिजन की प्रधानता का कारण यह है कि शरीर के भार का दो-तिहाई भाग जल होता है और जल के ९ भागों में ८ भाग ऑक्सिजन और एक भाग हाइड्रोजन का होता है। इसके अलावा शरीर में रहनेवाले प्राय: अन्य सभी यौगिकों में ऑक्सिजन रहती है। कार्बन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन भी शरीर के तन्तुओं में रहनेवाले प्रमुख अवयव हैं। इन चार तत्त्वों को छोड़कर कैल्शियम से लेकर नीचे लिखे हुए जितने तत्त्व हैं, उन्हें भोजन के 'खनिज तत्त्व' अथवा 'अकार्बनिक पदार्थ' अथवा 'भस्म भाग' कहते हैं; अन्तिम नाम इसलिए कि यदि खाद्य पदार्थ जलाया जाय तो प्राय: ये सभी तत्त्व उसकी भस्म में मिलते हैं। भोजन में इन खनिज पदार्थों का पर्याप्त मात्राओं में रहना अत्यन्त आवश्यक है, कारण हड्डियों, दाँत, मांसपेशियों, रुधिर-कोष्ठों, कतिपय ग्रंथियों (गिल्टियों) तथा शरीर में रहनेवाले तरल पदार्थों के अवयवों की रचना उनके बिना संभव नहीं।

हमें इस बात की सावधानी रखना चाहिए कि हमारे भोजन में निम्न सात तत्त्व पर्याप्त परिमाण में रहें—(१) कैल्शियम, (२) फास्फॅरस, (३) गंधक, (४) सोडियम, (५) क्लोरिन, (६) लोहा तथा (७) आॅयडिन। अन्य सारे आवश्यक खनिज तत्त्वों की पर्याप्त मात्राएँ हमें अपने भोजन से अपने आप ही मिल जाया करती हैं; उनके लिए हमें कोई चिन्ता अथवा विशेष प्रबंध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उपर के सात तत्त्वों में **सोडियम** और **क्लोरीन** को हम नमक (सोडियम-क्लोराइड—NaCl) के रूप में भोजन के साथ ग्रहण किया करते हैं। वैसे तो विभिन्न खाद्य पदार्थों में, और विशेषत: मांस में, नमक रहता है, तथापि हम अलग से नमक की इतनी मात्रा ले लेते हैं कि खाद्य पदार्थों में रहनेवाला नमक उसके सामने महत्त्वहीन हो जाता है। यह भी स्पष्ट है कि शाकाहारियों को मांसाहारियों की अपेक्षा ऊपर से छोड़े जानेवाले नमक की अधिक आवश्यकता होती है।

नमक शरीर के द्रवों के आसारात्मक (osmotic) दबाव को ठीक रखता है, जिससे तन्तुओं में जल की मात्रा जितनी चाहिए उतनी ही रहती है। नमक की क्लोरिन से आमाशयिक रस में ०·४ से ०·५ प्रतिशत तक रहनेवाली हाइड्रोक्लोरिक एसिड का भी उत्पादन होता है। यह हाइड्रोक्लोरिक एसिड उदर में कीटाणुनाशक के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। नमक के अलावा क्लोरिन पालक तथा हरे पत्तेवाले अन्य शाकों, टमाटर, मूंगफली, तथा खजूर, केला आदि फलों से प्राप्त होती है। अनावश्यक लवण पसीना तथा पेशाब के साथ शरीर के बाहर निकल जाता है; तथापि नमक अत्यधिक परिमाण में नहीं खाना चाहिए, कारण यह गुर्दों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और उससे रुधिर के दबाव के बहुत बढ़ जाने की आशंका रहती है। रक्त के दबाव के रोगियों को नमक

बहुत कम खाना चाहिए; यदि वे कुछ दिनों के लिए उसे बिलकुल ही छोड़ सकें तो अच्छा हो।

कैल्शियम हड्डियों और दाँतों के निर्माण के लिए, हृदय की मांसपेशी के कार्य को सुव्यवस्थित रखने के लिए तथा रुधिर को जमने की शक्ति प्रदान करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस तत्त्व का ९९ प्रतिशत हड्डियों और दाँतों में तथा शेष तंतुओं और शारीरिक द्रवों में रहता है। मैग्नेशियम भी अधिकतर (लगभग ७१ प्रतिशत) अस्थियों में ही रहता है। कैल्शियम भोजन की निम्न वस्तुओं में खूब पाया जाता है—दूध, अंडे की ज़रदी, बादाम, अखरोट, सेम, गोभी, शलगम, पत्तेदार शाक, दाल, अंजीर, सोयाबीन, सरसों। अनाजों में सब से अधिक कैल्शियम गेहूँ और जौ में होता है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम ऐसा भोजन लें जिसमें कैल्शियम खूब रहे। बच्चों को अपना आवश्यक कैल्शियम दूध से ही मिल जाया करता है। दूध पिलाती हुई अथवा गर्भवती स्त्री की कैल्शियम की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है, इस बात को भी हमें ध्यान में रखना चाहिए।

शरीर में जितना **फॉसफ़रस** रहता है उसका लगभग ७० प्रतिशत हड्डियों और दाँतों में होता है। हड्डियों और दाँतों के लिए कैल्शियम के साथ-साथ फॉसफरस भी उतना ही आवश्यक होता है। यह इन वस्तुओं में खूब रहता है—दूध, अंडा, गोश्त, मछली; बादाम, मूँगफली, अखरोट आदि गिरियाँ; नारियल, किशमिश, मुनक्का, अंजीर; गेहूँ (संपूर्ण), जौ, मक्का, जई, राई, सरसों, मटर आदि दालें, सोयाबीन, सेम। कैल्शियम की भाँति भोजन में फॉसफरस का भी प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए।

लोहा रक्त के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। रक्त के रंगीन पदार्थों का यह एक प्रधान अवयव है और उसके बिना रक्त में ऑक्सिजन को शोषित करने का गुण नहीं रहता। शरीर में रक्त का परिमाण केवल ७ प्रतिशत होता है; तथापि देह में रहनेवाले लोहे का कम से कम ७० प्रतिशत रुधिर में, और विशेषतः उसके हीमोग्लोबीन (hemoglobine) में रहता है। लोहे के अभाव से शरीर में रक्तहीनता (anemia) हो जाने का भय रहता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वस्तुओं में लोहा खूब रहता है—गेहूँ, जौ, मक्का, जई आदि अनाज; [illegible], [illegible], [illegible] आदि दालें; [illegible], [illegible] [illegible], [illegible]; बादाम, अखरोट, मूँगफली आदि गिरियाँ; सेब, किशमिश, मुनक्का, अंजीर, खजूर आदि फल; पालक, गोभी, शलगम आदि तरकारियाँ। दूध में भी थोड़ा लोहा रहता है और वह सरलता से शोषित हो जानेवाला तथा लाभप्रद होता है।

गंधक शरीर की ऑक्सीकारी विधियों में महत्त्वपूर्ण भाग लेनेवाले इन्सुलिन, ग्लूटाथियोन आदि यौगिकों का एक मूल अवयव है। गंधक की कमी से रक्त में खराबी आ जाती है। विटामिन 'बी' भी गंधक का एक यौगिक होता है। निम्नलिखित आहार-पदार्थों में गंधक खूब रहता है—गेहूँ, जौ, मक्का, जई आदि अनाज; गोश्त, मछली, अंडा; मटर, मसूर आदि दालें; सरसों; बादाम, मूँगफली, अखरोट आदि गिरियाँ; सेम, गोभी आदि तरकारियाँ।

भोजन के साथ आयोडिन कम पहुँचने से घेघा हो जाता है। शरीर के २० लाख भारात्मक अंशों में आयोडिन का केवल एक अंश होता है, तथापि यह शरीर का एक आवश्यक तत्त्व है। थायराइड ग्रंथि में रहनेवाले 'थाइरॉक्सिन' नामक आवश्यक पदार्थ का निर्माण आयोडिन के बिना संभव नहीं होता। जब शरीर को यह आयोडिन पर्याप्त परिमाण में नहीं प्राप्त होती, तो थाइरॉयड ग्रंथि फूल कर घेघा का रूप धारण कर लेती है। कुछ स्थानों की ज़मीन में आयोडिन काफी होती है, अतएव वहाँ के पानी और वहाँ की उपजी हुई वस्तुओं में भी आयोडिन पर्याप्त परिमाणों में रहा करती है। ऐसे स्थानों में घेघा की बीमारी नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ आयोडिन की कमी होती है, वहाँ यह रोग फैला हुआ दिखाई देता है। ऐसे स्थान में थोड़े से दूध में रेक्टिफाइड स्पिरिट से बने हुए 'टिंक्चर ऑफ आयोडिन' की लगभग ६ बूँदें सुबह-शाम पी लेने से शरीर में आयोडिन की आवश्यकता की पूर्ति होती रहती है और घेघा नहीं होता। जल अथवा नमक में थोड़ा सा [illegible] [illegible] मिलाकर लेने से भी इसके अभाव की पूर्ति होती है। समुद्र-जल में आयोडिन काफ़ी रहती है, अतएव समुद्री मछलियों में तथा उनके यकृत से निकाले हुए तेलों (यथा कॉडलिवर ऑयल) में भी यह खूब रहती है। इसके अलावा यह दूध, आलू, जई, गेहूँ और गाजर में भी रहती है। जिन स्थानों की भूमि में आयोडिन खूब रहती है, वहाँ के [illegible] दूध, [illegible], [illegible] आदि में तथा वहाँ के दूध में भी यह अधिक पाई जाती है।

विटामिन

विटामिन भोजन के साथ [illegible] अथवा शरीर में [illegible] [illegible] उन पदार्थों को कहते हैं जिनकी उपस्थि[illegible]

में शरीर की उन सब क्रियाओं को उत्प्रेरणा मिलती है जिनसे शरीर की वृद्धि होती है अथवा उसका विकास होता है अथवा उसे रोगनाशक शक्ति प्राप्त होती है। अनेक प्रकार के विटामिनों की खोज हो चुकी है और इन्हें विटामिन ए, बी, सी, डी, ई आदि का नाम दिया गया है। ये सब विटामिन कार्बनिक यौगिक होते हैं, जो भोजन के विभिन्न प्राकृतिक रूपों में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ संपूर्ण गेहूँ के आटे में विटामिन ए और बी दोनों होते हैं, लेकिन मैदे में, चोकर निकाल डालने के कारण, ये दोनों ही प्रायः नष्ट हो जाते हैं। मक्खन अथवा घी में विटामिन ए खूब होता है, किन्तु वनस्पति घी विटामिन से शून्य होता है। वास्तव में, हम भोजन-पदार्थों को प्राकृतिकता से जितना हीन कर देते हैं और उसमें जितनी ही कृत्रिमता का समावेश करने का प्रयत्न करते हैं उतना ही वे विटामिन-रहित हो जाते हैं। भोजन के प्राकृतिक रूप का जितना ही कृत्रिम शोधन कर दिया जाता है उतना ही वह विटामिनों से वंचित हो जाता है। मुख्य विटामिनों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

विटामिन ए ($C_{20}H_{30}O$) कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन तत्वों का एक यौगिक होता है। यह शरीर की वृद्धि और विकास के लिए अत्यावश्यक है और उसे दीर्घायु और बल प्रदान करता है। वह शरीर को संक्रामक रोगों को न लगने देने की तथा रोगाणुओं के आक्रमण से बचने की शक्ति देता है और आँखों और कानों को भी मजबूत बनाकर रोगों से बचाता है। इसके अभाव में शरीर का बढ़ाव और विकास रुक जाता है और उसे नाना प्रकार के रोगों का शिकार बन जाने का भय रहता है।

विटामिन 'ए' निम्न खाद्य पदार्थों में खूब पाया जाता है—दूध (संपूर्ण) तथा उससे बना हुआ पनीर अथवा उससे निकाला हुआ मक्खन अथवा क्रीम; काडलिवर आयल, यकृत, अंडा और गुर्दा; आम, खरबजा और बेर, पालक तथा अन्य हरे पत्ते के शाक, गाजर, गोभी, टोमाटो, शलग़म, हरे मटर, कद्दू, लौकी आदि तरकारियाँ, शकरकंद, पीली मकाई।

भोजन बहुत देर तक पकाने तथा कढ़ाई में दूध को औटाते रहने अथवा उससे रबड़ी आदि बनाने में या तरकारियों को भूनने में विटामिन ए नष्ट हो जाता है। थोड़ी देर तक पकाने में इसका विनाश नहीं होता।

विटामिन बी ($C_{12}H_{17}N_4OClS$) कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, क्लोरिन और गंधक तत्वों का एक यौगिक है। यह भी शरीर की वृद्धि और विकास में परम सहायक है। इससे पाचन-मार्ग की गतियाँ ठीक रहती हैं, पेट साफ रहता है। यदि भोजन में इस विटामिन का अभाव हो जाय तो भूख नहीं लगती और रोगी खाना बहुत कम खाता अथवा बंद कर देता है। इसी विटामिन के न रहने से 'बेरी बेरी' का भयानक रोग हो जाता है। खाद्य पदार्थ के कृत्रिम शोधन अथवा उसे बहुत अधिक पकाने-भूनने से इस विटामिन का भी नाश हो जाता है। यथा, संपूर्ण चावल में यह विटामिन खूब रहता है, लेकिन उसे मिलों में चमकाने से उसमें वह बिलकुल नहीं रहता। चावल को अत्यधिक धोने अथवा उसमें से माँड़ निकाल डालने से भी उसमें इस विटामिन का अभाव हो जाता है। जो ऐसे चावल खाते हैं और विटामिन बी के अभाव की पूर्ति भी अन्य भोजन-सामग्री से नहीं करते उन लोगों को (विशेषकर भात खानेवाले बंगालियों को) बेरी-बेरी रोग हो जाता है। विटामिन बी इन खाद्य वस्तुओं में खूब रहता है—संपूर्ण गेहूँ, संपूर्ण चावल, मक्का, जौ, बाजरा, जई; गोभी, सेम, हरा मटर, गाजर, मूली, शलग़म; आम, नारंगी, नाशपाती, नीबू, अंगूर, खजूर, नारियल, केला, सेब; बादाम, मूँगफली, अख़रोट, आदि गिरियाँ; संपूर्ण दूध, क्रीम, अन्डे की ज़र्दी, बकरे या भेड़ का गोश्त, यकृत, गुर्दा, भेजा; आलू, शकरकंद, ख़मीर आदि। मैदा, चमकाये हुए चावल, तैलों, वनस्पति घी, शकर आदि में विटामिन बी और अन्य विटामिन भी या तो बिलकुल नहीं अथवा नाम-मात्र को होते हैं।

विटामिन बी के से गुण वाले कुछ अन्य विटामिनों की भी खोज हुई है जिन्हें विटामिन 'जी' और 'एच' कहते हैं।

विटामिन सी ($C_6H_8O_6$) कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन का एक यौगिक है। इस विटामिन की अत्यधिक कमी से 'स्कर्वी' नामक रोग हो जाता है, जिसमें मसूड़े पिलपिले पड़कर सूज जाते हैं और उनसे खून बहने लगता है, दाँत ढीले पड़ जाते हैं, हड्डियाँ कमज़ोर हो जाती है, और त्वचा में खून के चकत्ते पड़ जाते हैं। कुछ और अधिक, किन्तु आवश्यकता से कम, विटामिन सी लेने से चाहे स्कर्वी रोग न भी हो तब भी ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—रंग का साँवला पड़ जाना, शक्ति का ह्रास, जोड़ों और अङ्गों में, विशेषतः पैरों में, दर्द, जिसे लोग भूल से गठिया का दर्द समझ लेते हैं, घावों का बहुत धीरे-धीरे अच्छा होना। बच्चों में

चिड़चिड़ापन, स्फूर्तिहीनता, वृद्धि का रुकाव आदि लक्षण बहुधा विटामिन सी की ही कमी से प्रगट होते हैं। ऐसे बच्चों को संतरा अथवा टमाटर के रस के रूप में और अधिक विटामिन सी देने से उनका स्वास्थ्य फिर सुधर जाता है। शरीर में जब विटामिन सी पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचता तो उसकी रोग-निरोधक शक्ति भी कम हो जाती है, और संक्रामक रोगों के उसे लग जाने का अधिक भय रहता है। वास्तव में, विटामिन सी शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाए रखने में परम सहायक होता है। यदि किसी को यौवन के लक्षण और सौन्दर्य अपने में बनाये रखना है तो उसे अपने भोजन में विटामिन सी का अभाव न होने देना चाहिये।

विटामिन सी निम्न वस्तुओं में खूब होता है—आम, तरबूज, खरबूजा, नीबू, संतरा, रसभरी, अंगूर, केला, अनन्नास, आड़ू, सेब, खूबानी आदि फल; गोभी, टमाटर, शलगम, पालक व अन्य पत्तेदार शाक, मूली, हरी मटर, गाजर आदि तरकारियाँ; आलू, कल्ला फूटे हुए मटर, चना, मसूर आदि अनाज। यह बात ध्यान देने योग्य है कि विटामिन सी अधिकतर फलों व तरकारियों में ही होता है। याद रखना चाहिये कि बहुत अधिक गर्म करने, पकाने और भूनने से ताप और हवा की आक्सीकारक क्रिया द्वारा इस विटामिन का सर्वथा नाश हो जाता है।

विटामिन डी ($C_{28}H_{44}O$) कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन का एक यौगिक है। इससे मिलते जुलते हुए अन्य पदार्थों की भी विटामिन डी में गणना होती है। इसके अभाव से बच्चों को सूखा (रिकेट्स) और बड़ों को—विशेषतः स्त्रियों को 'ओस्टियो-मलेशिया' (Osteo Malacia) रोग हो जाते हैं। दोनों रोगों में कैल्शियम और फास्फेट हड्डियों पर ठीक प्रकार से नहीं जमते, जिसके कारण उनकी वृद्धि और विकास रुक जाते हैं और वे कोमल और निर्बल हो जाती हैं। रिकेट्स रोग में बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है, उसे नींद कम आती है, वह समय पर खड़े होने अथवा चलने योग्य नहीं होता, उसे पसीना बहुत आता है, उसके दाँत भी देर से निकलते हैं। [illegible] हड्डियों, विशेषतः टाँगों की, कोमल होने के कारण शरीर के बोझ से ही कुछ टेढ़ी हो जाती है, और दोनों [illegible] हो जाते हैं।

विटामिन डी मछलियों के जिगर के तेलों, दूध, मक्खन, घी, अंडे, [illegible] में पाई जाती है। [illegible] पड़ने से भी [illegible]

पराकासनी (अल्ट्रावायलेट) किरणें सीधे त्वचा पर पड़ती हैं तो विटामिन डी बनकर शरीर में शोषित हो जाता है। धूप खाना इसीलिये स्वास्थ्य के लिये परम लाभकारी होता है। अपने देश में धूप की कमी नहीं, किन्तु इंगलैंड आदि अनेक देशों में धूप का मिलना इतना कठिन होता है कि पारे की लैम्प में कृत्रिम विधि से उत्पन्न किये हुए पराकासनी प्रकाश में रोगियों को नंगे बदन रखकर रिकेट्स को रोकते अथवा अच्छा करते हैं। वहाँ धूप वाले दिनों में छुट्टी हो जाया करती है जिससे सब लोग सूर्य का स्नान करके स्वास्थ्य का लाभ कर सकें। भारत में इतनी धूप रहते हुए भी, खेद यह है कि शिक्षा के अभाव के कारण हममें से अधिकतर लोग उसका महत्त्व ही नहीं जानते। रिकेट्स का रोग प्रायः उन्हीं बच्चों में देखा जाता है जो अँधेरी कोठरियों में रहा करते हैं अथवा जिनकी माताओं के शरीर में विटामिन डी का अभाव रहता है। प्रत्येक बात की 'अति' हानिकारक हुआ करती है, अतएव इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि धूप में इतना न बैठा जाय कि त्वचा लाल पड़ जाय। जाड़े के दिनों में धूप सेवन करना बड़ा ही सुखकर और लाभकारी होता है। गर्भवती स्त्री को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसमें विटामिन डी का अभाव न होने पाये, नहीं तो उसके बच्चे में भी विटामिन डी का अभाव हो जायगा और उसे रोगग्रस्त हो जाने का डर रहेगा।

विटामिन डी वास्तव में तब बनता है जब पराकासनी किरणें किसी यथोचित पदार्थ पर पड़ती हैं। उज्ज्वल धूप में ये पराकासनी रश्मियाँ रहा करती हैं। यदि हम दूध, घी, आदि पदार्थों को धूप में रख दें तो उनमें विटामिन डी की मात्रा बढ़ जायगी, अथवा यदि हम सरसों के तेल को धूप में रख दें तो उसमें विटामिन डी उत्पन्न हो जायगा। मनुष्य की त्वचा में भी एक स्नेहीय पदार्थ निरंतर बना रहता है। यदि इस पर पदार्थ ईथर आदि किसी ऐसे द्रव से जिसमें तैल घुलता हो धो डालें तो फिर धूप में बैठने से विटामिन डी का उत्पादन नहीं होगा। वास्तव में, धूप स्नान की सबसे अच्छी रीति यह है कि शरीर पर तेल की मालिश करें और फिर [illegible] धूप का सेवन करें। त्वचा पर लगे तेल में जो विटामिन डी बनता है वह शरीर में शोषित हो जाता है।

[illegible] में इस बात का भी विचार रखना चाहिये कि रिकेट्स [illegible] हड्डियों का कारण विटामिन डी की कमी के [illegible] कैल्शियम और फास्फेट का अभाव भी हो सकता है।

विटामिन ई ($C_{29}H_{50}O_2$) के अभाव से स्त्री और पुरुष दोनों में ही बंध्यता, निष्फलत्व आदि उत्पन्न होता है। यह विटामिन संपूर्ण अनाजों, तरकारियों, गोश्त, दूध और मक्खन में खूब पाया जाता है। वास्तव में वह प्राय: उन सभी मांस अथवा वनस्पति आहारों में रहा करता है जिनका कृत्रिम शोधन अथवा निर्माण न हुआ हो। अतएव केवल मैदा, वनस्पति घी आदि वस्तुओं के शौकीन ही उससे वंचित रह सकते हैं।

जल

जल के विषय में हम विस्तारपूर्वक बहुत पहले ही लिख चुके हैं (पृ० ५३५-५४४)। हम यह भी बता चुके हैं कि शरीर का दो-तिहाई से भी अधिक भाग पानी होता है। घोलक के रूप में यही पानी अपने माध्यम द्वारा शरीर की सारी रासायनिक क्रियाओं को संचालित करता रहता है। जल के ही द्वारा शरीर के उच्छिष्ट पदार्थ पसीना अथवा मल-मूत्र के रूप में बाहर निकलते रहते हैं, सारे पोषक पदार्थ द्रव-रूप में शरीर के प्रत्येक स्थान में पहुँचते हैं, और शरीर की गर्मी सब जगह बँटकर उसके ताप को स्थिर रखती है। अतएव, शरीर में जल के उचित परिमाण का रहना परमावश्यक होता है। हम भोजन के बिना सप्ताहों जीवित रह सकते हैं, किंतु पानी के बिना दो-तीन दिन भी काटना कठिन होता है।

भोजन करते समय अधिक जल न पीना चाहिए, कारण इससे पाचक रस पतले हो जाते हैं और उसकी क्रियाएँ ठीक प्रकार से नहीं हो पातीं। भोजन करने के लगभग एक डेढ़ घंटे बाद जब शरीर को जल की आवश्यकता होती है तो स्वभावत: प्यास लगती है। उस समय जितना चाहे पानी पीकर प्यास बुझा लेनी चाहिए। पीने का पानी बिलकुल निर्मल एवं शुद्ध होना चाहिए, कारण गंदे पानी के द्वारा टायफॉयड (मोतीझाला), हैज़ा, पेचिश आदि अनेक रोग लग सकते हैं।

कुछ लोग अज्ञानवश बच्चों अथवा रोगियों को पानी इसलिए नहीं देते कि उसके पीने से कहीं सर्दी न लग जाय। वे यह नहीं समझते कि उन्हें पानी न देना कितनी बड़ी मूर्खता है!

मनुष्य द्वारा खाये-पिये जानेवाले कुछ अभोज्य नशीले पदार्थ
इन विषैले पदार्थों का हमारे शरीर के पालन-पोषण से कोई सरोकार नहीं है। उल्टे उनके व्यवहार से हमें लेने के देने ही पड़ते हैं।

नशीली और उत्तेजक वस्तुएँ

'भोजन' की परिभाषा में हम उस वस्तु को रखते हैं, जिसके खाने से शरीर का पालन और पोषण हो और उसे ताप, शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त हो। इसके विपरीत जिस वस्तु को खाने से शरीर को हानि पहुँचे और वह निर्बल और अस्वस्थ हो जाय अथवा उसकी मृत्यु हो जाय, उस वस्तु को हम 'विष' कहते हैं। खेद की बात यह है कि मनुष्य अभोज्य घातक विषों को भी खाया करता है और इस प्रकार अपने जीवन को बिगाड़ा करता है! दया तो तब आती है जब मनुष्य इन वस्तुओं के व्यसन का गुलाम बन बैठता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रेमांध पुरुष किसी दुश्चरित्र स्त्री के पाश में फँसकर उससे छुटकारा पाने की सामर्थ्य को खो बैठता है! मनुष्य की सबसे भयानक, विश्वासघातक एवं प्राणघातक प्रेयसियाँ दो हैं—मदिरा और तम्बाकू! मनुष्य इन्हें ग्रहण करके उनमें आनंद ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है—बेवकूफ़ मनुष्य! बर्नार्ड शा के कथना-

नुसार मनुष्य मरता नहीं, अपने आपको मार डालता है। यह कथन अक्षरशः सत्य है।

मदिरा मनुष्य की कैसी शत्रु सिद्ध होती है और उसका सेवन करने से मनुष्य को क्या फल मिलते हैं, इसे जान लेना अत्यावश्यक है—

१. यदि आप अंडे की सफेदी को अल्कोहॉल, अर्थात् मदिरा के सार में छोड़ें तो देखेंगे कि वह सिमिटकर कड़ी हो जाती है। मदिरा पीने से यह अल्कोहॉल शोषित होकर रक्त के द्वारा हृदय, कलेजा, गुर्दा, स्नायु, आदि मर्मस्थलों तक पहुँचता है और उन पर सिकोड़ने और कड़ा बनाने का कार्य करने लगता है। इससे इन विभिन्न स्थलों में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

२. मदिरा के प्रयोग से शरीर की रोग-निरोधक शक्ति का भी ह्रास होता है और उसे ठंड, निमोनिया, क्षय, संग्रहणी, संक्रामक रोग, आदि बीमारियाँ सरलता से लग जाती हैं। मदिरापान करनेवाले की अपेक्षा न पीनेवाले को रोग से बचने की आशा कहीं अधिक रहती है।

३. मदिरा शरीर की वृद्धि और विकास में भी बाधक सिद्ध होती है। जो लोग छोटी अवस्था में ही मदिरा-पान करने लगते हैं उनके शरीर पूर्ण रूप से नहीं बढ़ते। मदिरा पीने से शरीर निर्बल हो जाता है और उसकी सहनशक्ति भी कम हो जाती है। यह देखा गया है कि जो सैनिक मदिरा नहीं पीते वे पीनेवालों से अधिक दूर कूच कर जाते हैं।

४. मदिरा पीने से केवल कार्य-शक्ति का ही नहीं, विचार-शक्ति का भी ह्रास होता है; मस्तिष्क कमजोर हो जाता है, स्मरण-शक्ति घटने लगती है, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भी नहीं रहता, और आत्म-संयम का लोप होने लगता है। दंगा, खून, व्यभिचार आदि कुकर्मों में मदिरा खूब योग देती है। पागलपन का भी एक कारण मदिरापान है।

५. इससे नाड़ी या हृदय पर बहुत बड़ा धक्का पहुँचता है।

६. मदिरा-पान से आयु कम हो जाती है।

जो नशीली वस्तु मदिरा में रहती है उसे 'एथिल अल्कोहॉल' या केवल 'अल्कोहॉल' कहते हैं। यदि मनुष्य थोड़ी-सी भी शुद्ध अल्कोहॉल पी ले तो वह उसे मारने के लिए पर्याप्त होगी। यदि पानी में थोड़ी मात्रा में अल्कोहॉल मिला दो तो वह मछलियों को मारने के लिए काफी है। इसलिए अल्कोहॉल अथवा मदिरा का सेवन हर रूप में विष होता है।

और अब मनुष्य के दूसरे शत्रु—तम्बाकू—के गुणों का भी दिग्दर्शन कीजिए—

तम्बाकू एक पौधा होता है, जिसकी सूखी पत्तियों में दो प्रतिशत 'निकोटीन' नामक प्राणघातक विष रहता है। इसकी कुछ ही बूँदें प्राणों को हर लेने के लिये पर्याप्त होती हैं। कोई भी पशु अथवा पक्षी न तो तम्बाकू के पत्ते को चबाता है, और न उसका धुआँ ही पीता है, और न उसे सुँघनी के रूप में सूँघता ही है, लेकिन मनुष्य इन व्यसनों में भी प्रवृत्त है।

तम्बाकू का सब से हानिकारक प्रभाव हृदय पर पड़ता है। उसके द्वारा बिगड़े हुए हृदय को 'तम्बाकू का मारा हृदय' (Tobacco heart) कहते हैं। इस विकार में हृदय की धड़कन अव्यवस्थित हो जाती है। तम्बाकू का प्रयोग करनेवाले का दम शीघ्र फूलता है और वह हाँफने लगता है। जो तम्बाकू का उपयोग नहीं करते उनकी शारीरिक योग्यता उसका उपयोग करनेवालों से कहीं अच्छी पाई गई है। तम्बाकू पाचन-क्रियाओं में भी बाधा डालती है और शरीर की वृद्धि और विकास को रोकती है। तम्बाकू से शरीर की रोगनाशक शक्ति भी कम हो जाती है। रोगग्रस्त हो जाने पर तम्बाकू का प्रयोग न करनेवाले अधिक शीघ्र स्वास्थ्यलाभ कर लेते हैं। आँखों के लिए भी तम्बाकू बहुत ही हानिकारक है। लेखक ने स्वयं सिगरेटबाजों को अपनी दृष्टि गवाते हुए देखा है। आत्यधिक धूम्रपान करनेवालों को जीभ, होंठ और गले में कैंसर हो जाने का डर रहता है। तम्बाकू मस्तिष्क को भी निर्बल कर देती है। धूम्रपान करनेवाले अधिकतर विद्यार्थी पढ़ने लिखने में आलसी पाये गये हैं।

तम्बाकू में रहनेवाली 'निकोटीन' रासायनिक विचार से 'एल्केलॉयड' वर्ग का एक यौगिक है। एल्केलॉयड कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और आक्सिजन तत्वों के यौगिक होते हैं और इनमें से कई भयंकर विष हैं। इन एल्केलॉयडों में अफीम में रहनेवाली मार्फीन ($C_{17}H_{19}NO_3$), कुचला में रहनेवाली स्ट्रिकनीन ($C_{21}H_{22}N_2O_2$) और ब्रूसीन ($C_{23}H_{26}N_2O_4$), सिनकोना में रहनेवाली कुनीन ($C_{20}H_{24}N_2O_2$) और सिनकोनीन ($C_{19}H_{22}N_2O$), कोका में रहनेवाली कोकेन ($C_{17}H_{21}NO_4$), तम्बाकू में रहनेवाली निकोटीन ($C_{10}H_{14}N_2$), कालीमिर्च में रहनेवाली पिपरिन ($C_{17}H_{19}NO_3$) और हेमलॉक (जिसका विष सुकरात को दिया गया था) में रहनेवाली कोनाइन ($C_8H_{17}N$) अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त चाय, कहवे और मेट में रहनेवाली कैफीन ($C_8H_{10}N_4O_2$) आदि अन्य

का पदार्थ है तथापि उसकी गणना भी बहुधा अल्कोलायडों में होती है। मनुष्य तम्बाकू के अलावा कोकेन, भंग आदि के रूप में अन्य हानिकारक अल्कॉलायड ग्रहण करके अपने स्वास्थ्य को नष्ट किया करता है।

उत्तेजक वस्तुएँ, यथा चाय कॉफी और कोको भी हानिप्रद हैं। इनमें रहनेवाली केफ़िन और टैनिन के हानिकारक प्रभाव के अलावा वे बहुत अधिक गर्म भी होती हैं, जिसके कारण आहार-पथ को क्षति पहुँचती है और कैन्सर नामक घातक रोग हो जाने का भय रहता है। कम से कम हमारे देश में नशीली अथवा उत्तेजक वस्तुओं के व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं है।

सारांश

भोजन के संबंध में जो बातें विशेषत स्मरण रहने योग्य ह, उन्हें हम फिर दोहराए देते हैं :—

(१) हमारा भोजन तुला हुआ होना चाहिये, अर्थात् उसमें सभी आवश्यक वस्तुएँ उचित परिमाणों में रहना चाहिये। रोटी और दाल (अथवा मांस आदि) के अलावा तरकारियों (पत्तेदार तरकारियों को भी) और फलों को न भूलिये। खनिज पदार्थ और विटामिन अधिकतर तरकारियों से ही मिलते हैं। भोजन में यदि कार्बोहाइड्रेट तीन भाग हो तो प्रोटीन का लगभग एक भाग पर्याप्त होगा। इसके अलावा लगभग १ भाग मक्खन, तेल अथवा घी (वसा) और दो-दो भाग शाक और फल के लिये जा सकते हैं। दूध में भोजन की सभी आवश्यक वस्तुएँ प्रोटीन, खनिज पदार्थ, विटामिन आदि ख़ूब रहते हैं। दिन में कम से कम आधा सेर दूध अवश्य लीजिये।

(२) चोकर को आटे से कभी अलग न कीजिये, नहीं तो उसमें विटामिन की कमी हो जाएगी। चमकाया हुआ चावल विटामिनरहित होता है, उसे कभी न खाइए। चावल के माँड़ को कभी न फेंकिए और न उसे अत्यधिक भिगोइये और धोइये ही। तरकारियाँ उबालते समय उनसे बचा हुआ पानी कदापि न फेंकिये। उसे निकालकर पी जाइये—इस पानी में खनिज पदार्थ और विटामिन ख़ूब रहते हैं।

(३) किसी वस्तु को अत्यधिक न पकाइये और न भूनिये ही—कारण ऐसा करने से उसके विटामिन नष्ट हो जाते हैं।

(४) मसाले अधिक न खाइये। थोड़ी मात्रा में वे लाभदायक होंगे, कारण उनमें रहने वाले कई प्रकार के तेलों द्वारा भोजन स्वादिष्ट और सुगन्धित बन जाता है और उनके रोगाणुनाशक गुणों के कारण आँतों में भोजन का सड़ाव कम हो जाता है। अत्यधिक मसाले खाने से पाचनशक्ति बिगड़ती है। मिर्च अधिक न खाइये, क्योंकि वह आहारपथ पर जलन पैदा करती है और उसे नुकसान पहुँचाती है। नमक भी अधिक न खाइए।

(५) आवश्यकता से अधिक भोजन कदापि न करना चाहिए, और भोजन और व्यायाम में भी संतुलन रखना चाहिये।

(६) भोजन करते समय जल्दी न कीजिए, उसे ठीक प्रकार से चबलाइये। भोजन के साथ अधिक पानी न पीजिए।

(७) प्रतिदिन नंगे बदन कुछ देर धूप में बैठिये। जाड़े के दिनों में तेल की मालिश करके धूप में बैठना अथवा लेटना बहुत ही स्वास्थ्यप्रद होता है।

(८) नशीली वस्तुओं तथा उत्तेजक वस्तुओं को दूर से ही नमस्कार करते रहिये। उनके जाल में कभी न फँसिए।

(९) कुछ खाद्य पदार्थ अम्लोत्पादक होते हैं, जैसे मांस, अंडा, दालें, अनाज आदि और कुछ क्षारोत्पादक होते हैं जैसे फल, तरकारियाँ आदि। हमें सब प्रकार का मिला-जुला भोजन करना चाहिये, जिससे क्षार और अम्ल एक दूसरे का निराकरण कर दें।

हमारे देश में साधारणतया जो भोजन प्रचलित है, उसमें विविध खाद्य पदार्थों की मात्राएँ यदि निम्नलिखित परिमाण के अनुसार संतुलित कर ली जाय तो आहार-विशेषज्ञों का कथन है कि हमें अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त यथेष्ट पौष्टिक तत्त्व अपने आहार में मिलते रह सकते हैं :—

अन्न (गेहूँ, जौ, चावल, आदि)	कम से कम ६ और अधिक से अधिक ८ छटाँक
दालें (उरद, मूँग, मटर, अरहर आदि)	१ छटाँक
दूध	कम से कम ४ छटाँक
वसायें (घी, तेल आदि)	१ छटाँक
हरी तरकारियाँ	४ छटाँक
फल	२ छटाँक

यह भोजन-व्यवस्था निरामिषभोजियों के लिए है। जो लोग आमिषभोजी हैं, वे दाल, अन्न और वसाओं द्वारा होनेवाली खाद्यपूर्ति मांस, मछली, अन्डा आदि द्वारा कर सकते हैं। किन्तु आवश्यक खनिज तत्त्वों एवं विटामिनों की पूर्ति के निमित्त उचित मात्रा में हरी तरकारियों एवं फलों का व्यवहार उनके लिए भी अति आवश्यक है।

भारतीय दर्शन—सामान्य विशेषताएँ

इस स्तंभ के अन्तर्गत अब तक हमने दर्शन और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इस विश्व-प्रपंच के विभिन्न पहलुओं का सामान्य विवेचन किया। आइये, अब पूर्व और पश्चिम की प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं का ऐतिहासिक क्रम से निदर्शन करते हुए इस क्षेत्र में अब तक की मानवीय साधना का भी एक लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास करें। पहले हम भारतवर्ष ही को लेते हैं, जो कि पूर्व में दार्शनिक चिन्तन और साधना का प्रधान पीठस्थान रहा है।

विश्व-दर्शन की एकता

संसार के विभिन्न देशों के राजनीतिक और आर्थिक संगठन के रूप, प्रमुख अर्थों में अलग होते हुए भी, एक दूसरे से यहाँ तक मिलते हुए हैं कि एक विशेष युग में सारे विश्व के आर्थिक सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे को एक नाम दिया जा सकता है। जो बात राजनीतिक इतिहास में सच है वह और भी अधिक मानव की विचार-धारा के इतिहास में लागू होती है। समान परिस्थितियों से उत्पन्न समान विचारधाराओं का समानान्तर प्रवाह विश्व-दर्शन के इतिहास की रोचक एवं महत्त्वपूर्ण वास्तविकता है। विचार देश-विदेश की भौगोलिक अथवा राजनीतिक सीमाओं को नहीं मानते और जिस प्रकार हम प्राकृतिक दिशाओं को पूर्व और पश्चिम में नहीं बाँट सकते, उसी प्रकार दर्शन को भी पाश्चात्य दर्शन या भारतीय दर्शन की कोठरियों में नहीं मूँद सकते।

विश्व-दर्शन की इस एकता को मानते हुए भी हम यहाँ भारतीय दर्शन का जो अलग नामकरण करते हैं वो केवल इसीलिए कि इस दर्शन की कुछ विशेषताएँ हैं, जो और देशों की विचारधाराओं से भिन्न हैं। दर्शन का अर्थ, उसके स्वरूप और जीवन से लगाव, उसके उद्देश्य तथा उसका महत्त्व आदि हम पहले बता चुके हैं। यह समझने के लिए हमें भारतीय दर्शन के आरंभ तथा विकासक्रम पर दृष्टि डालनी होगी।

जीवन का आधार

भारतीय दर्शन की प्रथम विशेषता इसकी व्यावहारिकता है। भारत के दर्शन का उद्गम जीवन के प्रश्नों में है — एकान्त में बैठकर बुद्धि की क्रीड़ा में नहीं। भारतीय ऋषि-मुनियों ने काण्ट की भाँति जीवन भर एक नगर, एक गृह, एक विश्वविद्यालय में सामाजिक जीवन और गोष्ठी से अलग रहकर तत्त्वज्ञान की विवेचना नहीं की, न ही उन्होंने हेगेल की भाँति राज्याश्रय द्वारा अपनी विचार-धारा को प्रोत्साहन दिया। वरन् गुरुकुल और विश्व-विद्यालयों में विद्यार्थियों से जीवन के साधारण प्रश्नों और शंकाओं को सुनकर, गौतम की भाँति भिक्षु-जीवन अपनाकर, देश भर में परिव्राजक के रूप में घूमकर, जन-साधारण के जीवन से अपना सम्पर्क स्थापित कर, तथा उनके कष्टों को देखकर उनके निवारण का उपाय ढूँढने में ही अपने दर्शन की नींव डाली। "सत्यं न किम्—भूतहितं वदति"—सत्य क्या है? जिससे प्राणी मात्र का कल्याण हो, जगत् का हित हो। यह सत्य की प्रथम व्याख्या थी, उसको जानने की प्रेरणा थी। त्रि-दुःखों के अभिघात के कारण ही उनको दूर करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। संसार में दुःख है। उसका समुदाय (कारण) है, उसका निरोध (अन्त) है, और उस निरोध का मार्ग भी है। गौतम को बोधिवृक्ष के नीचे इतना ही बोध हुआ था, जिससे उन्हें धर्मप्रवर्तक बनने की प्रेरणा प्राप्त हुई। संसार में दुःख है और उसको दूर करने की जिज्ञासा ही दर्शन को जन्म देती है, यही मूलभूत सिद्धान्त भारतीय दर्शन के हर अंग में निहित है। यहाँ दर्शन जीवन से निरपेक्ष ज्ञानों का भण्डार नहीं, वरन् जीवन का आधार रहा है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ वेद, उपनिषद् और गीता की परम्परा देश के सर्वोत्कृष्ट साहित्य में भी [illegible] है और दर्शनरूपी [illegible]। रामायण और, महाभारत आदि [illegible] विद्वानों की [illegible] में भी [illegible]

देते हैं। इसी प्रकार पौराणिक गल्प और नैतिक आख्यायिकाएँ जन-साधारण के लिए केवल कथा-कहानियाँ ही नहीं, वरन् महान् सत्यों की दिग्दर्शक भी हैं। भारतीय दर्शन-साहित्य कभी भी जनसाधारण के लिए अप्राप्य नहीं रहा। यहाँ तत्वज्ञान केवल अभिजात्यवर्ग और शासकों की वस्तु न बन पाई। इसी प्रकार विद्वानों के अध्ययन की वस्तु लोकगीतों का संग्रह भी हो सकती है। पंचतन्त्र से लेकर रहीम और कबीर के दोहों तक प्रत्येक मानसिक स्तर के लिए दर्शन और धर्म-साहित्य हमारे यहाँ भक्ति, कर्म पुण्य की प्रेरणा देता रहा है।

दर्शन का उद्देश्य—मोक्ष

संसार के कष्टों से मुक्ति—शारीरिक भवबंधनों से मुक्ति—यही भारतीय दर्शन का चरम आदर्श है। मोक्ष के विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं। मोक्ष पाने के उपाय भी विविध हो सकते हैं। जिसे जैसी आस्था हो वह उसे वैसा माने, परन्तु मोक्ष प्राप्त करना ही प्रत्येक का उद्देश्य है। इसके लिए एक ही रास्ता मानव जीवन में है—'आत्मानं विद्धि' अर्थात् स्वयं को जानो। विश्व-प्रपंच को पहचानना, अपना स्थान उसमें निर्धारित करना और अपने मार्ग पर चलना, यह जानकर ही सच्चा कल्याण होगा।

और न केवल इस सत्य को जान लेने से ही कल्याण होगा, वरन् उसे अपने जीवन में उतारना ही वास्तव में दर्शन-ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ सत्य को जानना ही नहीं, उसे अपने जीवन में अंकित करना है। इस प्रकार ज्ञान का अर्थ अंग्रेज़ी में Knowledge नहीं, बल्कि Realisation ही हो सकता है। जिसने सत्य को जानकर भी उसका प्रयोग नहीं किया, उसने सत्य को जाना ही नहीं; क्योंकि यदि वह जानता कि यही एकमात्र सत्य है तो उसका पालन भी अवश्य करता। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र ही मोक्ष का मार्ग है। दर्शन, ज्ञान और चरित्र का समुच्चय ही ज्ञानी अथवा मुनि की उपाधि दे सकता है। ज्ञान कोरी मानसिक क्रिया का नाम नहीं, उसमें पुरुषार्थ भी शामिल है। यह दृष्टिकोण भारतीय दर्शन की सदैव भित्ति रहा है। पूर्ण ज्ञान वही है जो जीवन की पूर्णता में योग दे और जीवन की पूर्णता पूर्ण स्वाधीनता में निहित है।

दर्शन की परिभाषा

इसीलिए इस विद्या को हमारे यहाँ "दर्शन" नाम दिया गया। "दर्शन" का अर्थ है "दिव्य दृष्टि"। Philosophy का अर्थ है "ज्ञान का प्रेम"। भारत में Philosophy का पहला नाम था "आत्मविद्या"। 'आत्मविद्या' को "आन्वीक्षिकी"—अन्वेषण करने की विद्या—की सहायता की आवश्यकता हुई। कौटिल्य (३०० ई० पू०) ने ज्ञानत्रयी—वेद, वार्त्ता (अर्थशास्त्र) और दण्डनीति (राजनीति—Polity) के ऊपर आन्वीक्षिकी को महत्त्व दिया। आगे चलकर (पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व) 'आन्वीक्षिकी' शब्द दर्शन में बदल गया। तत्वज्ञान का पूर्ण ज्ञान, उसकी कल्पना, जो जाग्रत्स्वप्नावस्था में हमें होती है, वही दर्शन है। "दर्शन" की आत्मदृष्टि द्वारा हम सत्य का निरीक्षण नहीं, समागम करते हैं। पश्चिम में अनेक विद्वानों ने जिस प्रकार दर्शन की उपयोगिता पर वादविवाद किया, वैसा विवाद भारत में कभी नहीं उठा। जीवन के बृहत् दृष्टिकोण का ही नाम दर्शन है और उससे छुट्टी कैसे ली जा सकती है?

दर्शन की प्रतिष्ठा

इसीलिए यहाँ दर्शन की सर्वोच्च प्रतिष्ठा रही। अपने सबसे उन्नत काल में भी पाश्चात्य दर्शन किसी दूसरे विज्ञान पर ही आश्रित रहा। प्लेटो और अरिस्टाटल के लिए दर्शन राजनीति अथवा नीतिशास्त्र पर, मध्यकाल में धर्मशास्त्र पर, बेकन और न्यूटन के लिए प्राकृतिक विज्ञान पर, उन्नीसवीं सदी में इतिहास, राजनीति अथवा समाजशास्त्र पर और आज पुनः विज्ञान और राजनीति पर आश्रित है। इसके प्रतिकूल भारतवर्ष में दर्शन समस्त विज्ञान और कलाओं का आधार है। कौटिल्य के अनुसार दर्शन "सब विद्याओं का प्रकाश, सब कार्यों के सम्पादन का उपादान, सब कर्त्तव्यों की आधारभूत शिला है।"

दो प्रकार की विद्याओं में अपरा विद्या—विज्ञान और कला—अविद्या के समान है। परा विद्या ब्रह्म-विद्या है।

जिज्ञासु की योग्यता

ज्ञान के सक्रिय होने का अर्थ यह हुआ कि दर्शन की आकांक्षा करनेवाले जिज्ञासु को केवल पाठ ही नहीं पढ़ना होगा, किन्तु उसकी जटिल समस्याओं को समझने के योग्य मानसिक स्तर भी बनाना पड़ेगा। जो दार्शनिक तत्व केवल तर्क द्वारा जाने और समझे जाते हैं, वे स्थायी नहीं हो सकते। क्योंकि तर्क जीवन के नित्य के प्रयोग द्वारा जनित हमारे शरीर और मन के अंग बने हुए असत्यों का सामना करने में असमर्थ है। सत्य का निष्पक्ष निर्मम अन्वीक्षण करने के लिए हमें अपने संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठना होगा—वर्गच्युत् होना पड़ेगा। हमें अपने विचार और व्यवहार की लीक ही बदलनी होगी।

इसीलिए गानविद्या से लेकर दण्डनीति और कामशास्त्र तक के ग्रन्थ दर्शनकार की स्तुति के साथ आरंभ होते हैं! दार्शनिकों और विद्वानों की प्रवृत्ति वस्तुओं की आन्तरिक एकता ढूँढने की ओर थी, उनका पारस्परिक अन्तर नहीं। उन्होंने तादात्म्य और सामंजस्य की ओर ही ध्यान दिया, संघर्ष की ओर नहीं।

प्रकृति से एकरूपता

इसका एक कारण यह हो सकता है कि भारतीय विचारकों ने कभी प्रकृति को अपना शत्रु नहीं समझा, वरन् सदैव उसे अपना मित्र ही पाया। भारतभूमि के निवासियों को भौगोलिक परिस्थितियों ने ऐसी सुरक्षा और धन-धान्य दिया कि उन्होंने जीवन को कभी शक्ति, धन और साम्राज्य के लिए रणक्षेत्र नहीं समझा। ऋषि-मुनियों ने हिमालय के धवल पर्वतशृङ्गों में अपने कैलाश बनाए, मातास्वरूप सरिताओं के अंक में अपनी शय्याएँ डालीं और गंगा-यमुना की उपत्यका से कन्याकुमारी तक जल, थल, और नभ की हलचल को प्रकृति का शाश्वत नृत्य जानकर उससे काव्य और कला ही की नहीं वरन् दर्शन की भी प्रेरणा प्राप्त की। जहाँ कालिदास ने मेघ को प्रणयदूत बनाया, वहाँ ऋषियों ने वरुण में न्याय के अधिष्ठाता और मित्र, पृथिवी तथा आकाश में माता-पिता, अग्नि में मानव और देवताओं के मध्यवर्ती सहायक, यम में "उस पार" के प्रथम नेता, एवं उषा, अदिति, सरस्वती, अरण्यानी और शक्ति में मानव की चिरसंगिनी देवियों की कल्पना की। आरण्यकों में सभ्यता का पाठ पढ़ाते समय विद्यार्थियों को गुरुओं का यही उपदेश होता था कि जीवन की अन्तिम घड़ियों में श्रेष्ठतम सुख पाने फिर यहीं आना होगा। प्रकृति से तुम्हारी होड़ नहीं है, उससे तुम्हारा तादात्म्य है।

कदाचित् काव्य से उत्पन्न हुआ दर्शन अधिक मात्रा में जीवन की उन गहराइयों तक पहुँच पाता है, जो काव्य की आत्मा और प्रेरणा है। ठंडे मस्तिष्क की तार्किक प्रयोगशाला से गुज़रने पर भी उसकी वह उष्णता विलुप्त नहीं होती, जो केवल मानसिक फैक्टरी से निकले हुए ज्ञान में बिल्कुल ग़ायब रहती है। सांख्य की प्रकृति-पुरुष की कल्पना केवल कल्पना भी हो तो भी हृदयग्राह्य है और है आनन्दमयी।

भारत मे सत्य एवं ज्ञान की कल्पना केवल सत्य तक ही सीमित नहीं वरन् वह सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की कल्पना है। जो सत्य है वह मंगलमय भी है और आनन्ददायक भी। Truth, Goodness और Beauty में यहाँ कोई अन्तर नहीं। जो सुन्दर है वही सत्य है, जो सत्य है वही सुन्दर है।

भारतीय दर्शन के इस वृहत् रूप का एक कारण यह भी हो सकता है कि प्राचीन भारतीयों को विश्व के विराट् होने का आज के वैज्ञानिक ढंग का ज्ञान चाहे न रहा हो, परन्तु इस संबंध में उन्हें पक्का विश्वास अवश्य था। आज के दिन विज्ञान हमें बतलाता है कि देश और काल का विस्तार मानव मस्तिष्क से परे है। नक्षत्रों की दूरी के अनुमान का मान हम प्रकाश-वर्षों में लगाते हैं, तब भी करोड़ों वर्षों तक पहुँच जाते हैं। विश्व में सूर्य का स्थान नगण्य-सा है और सूर्य की तुलना में हमारे भूमण्डल का विस्तार नगण्य-सा है। प्राचीन भारतीयों का चौदह लोकों का ब्रह्मांड, जिसमें एक दूसरे से कोटि योजन दूर विभिन्न लोक हैं और ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्मांडों की कल्पना; एक सहस्र युग (४३ करोड़ वर्ष) का ब्रह्मा का एक दिवस और सृष्टि-प्रलय के निरन्तर प्रवाह में ब्रह्मा के अहर्निश वर्ष—यह आधुनिक विज्ञान की कल्पना से कुछ छोटी कल्पना नहीं है। इस विराट् सृष्टि के आगे हमारी पृथिवी की और उस पर बसे हुए मानव की क्या गिनती! इस विश्वास का स्वाभाविक फल भौतिक सत्ता और सम्पत्ति को तुच्छ समझना ही होगा। इसीलिए भारतीय दार्शनिक इस तुच्छ और नगण्य भौतिक जीवन को सब-कुछ न समझकर अधिक स्थायी और चिरन्तन वस्तु के पीछे पागल था। इस दृश्य प्रपंच से परे के विशाल अव्यक्त रूप की सत्ता को देखने की चेष्टा उसने की।

ज्ञान-प्राप्ति का साधन

उस वृहत् ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो? इन्द्रियजन्य ज्ञान (Perceptual Observation) से तो विज्ञान भी अपनी तमाम समस्याएँ नहीं सुलझा पाता। उसे प्रयोगशाला और विचार का आश्रय लेना पड़ता है। इन्द्रियों द्वारा दिया हुआ ज्ञान अधूरा ही नहीं, ग़लत भी होता है। बुद्धि तर्क द्वारा ग़लत बातें भी सिद्ध की जा सकती हैं। बुद्धि अपनी सीमा से परे निस्सीम की वास्तविकता जानने में कैसे समर्थ हो? बुद्धि तथा इन्द्रियों के साधन न केवल पूर्ण सत्य तक हमें नहीं पहुँचा पाते वरन् उस सत्य के रूप को कलुषित भी कर देते हैं। काण्ट के शब्दों में "बुद्धि प्रकृति को अपने नियम दे देती है"। तब बुद्धि-गम्य मनन (Conceptual Knowledge) से भी विद्या नहीं मिल सकती। "ब्रह्मज्ञान" अथवा "आत्मज्ञान" केवल अन्तर्दृष्टि (Spiritual Insight) से मिल सकता है;

"दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग" ये चार 'आर्य सत्य' हैं, जिनके कारण उसकी निराशा आशा में बदल जाती है। यह निराशा वनयान और संत एक्वीनास की निराशा नहीं है, जिसमें पाप से मुक्ति केवल भगवान् की दया पर अवलम्बित है। यहाँ व्यक्तिगत पुरुषार्थ और कर्म की स्वतन्त्रता इस नैराश्य को कभी भाग्यवाद (fatalism) में परिणत नहीं होने देते। यहाँ प्रकृति या दैव का मनुष्य की इच्छाशक्ति से संघर्ष भी नहीं है। सत्य का अर्थ सत् (Reality) भी है और पूर्णता (Perfection) भी। सत्य और शिव का तादात्म्य अमर आशा का आधार है। बोज़ांकेट के भी अनुसार "कोई आशावादिता नाम लेने योग्य नहीं है, जो निराशा के साथ-साथ नहीं चल पाती और अन्त में इससे आगे नहीं बढ़ती"। ऐसी थोथी आशावादिता शोपेनहार के शब्दों में "त्रस्त मानवता का उपहास" बन जाती है।

सर्वसहिष्णु उदार भावना

भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सर्वसहिष्णु उदार भावना है। आस्तिक षड्दर्शन वेदों को प्रमाण मानकर चलते हैं, परन्तु धर्म और संस्कार का वे मौखिक रूप में ही पोषण कर पाते हैं, अन्यथा वस्तुतः वे तर्क की कसौटी पर ही अपने को जाँचते हैं। वेदों में आस्था रखनेवाले इन दर्शनों के साथ-साथ वेदों का मज़ाक उड़ानेवाले बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन भी मौजूद हैं। इन्होंने एक दूसरे को शक्ति द्वारा दबाने की चेष्टा नहीं की, केवल तर्क द्वारा ही उनका मुकाबला किया। यह केवल भारतीय दर्शन की ही ख़ूबी है कि प्रत्येक विचारक अपने सिद्धांतों को अंकित करते समय पहले उनके प्रतिपादन से आरंभ नहीं करता वरन् अपने विरोधी दर्शनों के सिद्धांतों के वक्तव्य (पूर्वपक्ष) से आरंभ करता है। और चार्वाक जैसे दर्शन, जिनका स्वतन्त्र साहित्य हमें कहीं नहीं मिलता, आज हम केवल पूर्वपक्ष में दी गई इन व्याख्याओं से ही ज्ञात हैं। भारतीय दर्शन की परम्परा में यह प्रसिद्ध है कि पूर्वपक्ष की व्याख्या कभी-कभी स्वयं उस दर्शन के अनुयायियों द्वारा लिखित व्याख्याओं से भी अच्छी हुई है।

कुछ अंशों में एक दर्शन ने दूसरे की सत्यता को स्वीकार भी किया है। न्याय का तर्कशास्त्र (Logic), योग की मनोवैज्ञानिक साधना (Psychological discipline), जैन "स्याद्वाद", बौद्ध "आर्य सत्य" और कर्मचक्र केवल इन्हीं दर्शनों की वस्तु नहीं। इनकी आत्मा समस्त भार-दर्शन में व्याप्त है। कुछ समय तक सभी दर्शनों का विकास लगभग साथ-साथ होता है। एक का दूसरे पर प्रभाव नकारात्मक (negative) रूप में होता है। एक दूसरे की आलोचना में वे अपने गढ़ को मज़बूत बनाते हैं और विरोधियों का उत्तर देने के लिए ही अपने दोषों को दूर करते हैं। पर ऐसा करने में एक समय जल्दी ही ऐसा आ जाता है, जब वे एक दूसरे के अत्यंत निकट पहुँच जाते हैं और निष्पक्ष विचारक उनके झगड़ों से ऊबकर उनमें कोई अन्तर ही नहीं समझते।

इससे यह विचार उत्पन्न हुआ कि सत्य "अनेकान्त" (many-sided) है और उसके विविध रूप विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण है। छः अंधे व्यक्तियों द्वारा हाथी के निरीक्षण के समान विविध विचारक सत्य का एकांगी दर्शन ही करते हैं। प्रस्थान-भेद के कारण ही दर्शन-भेद है। समूचा भारतीय दर्शन अपने विकास में सत्य के निरन्तर और अधिकाधिक निरावरण की साधना है। उसकी विविध धारायें ज्ञानसागर की ओर दौड़ती हुई छोटी-छोटी नदियाँ जैसी हैं, जो एक दूसरे से मिलती और बिछुड़ती चलती हैं।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक में दिखाया गया है कि षड्दर्शन एक दूसरे के विरोधी नहीं, सहायक हैं। और यही प्रेरणा हमें हरिभद्र (श्वे० जै०-९ वीं शती) के 'षड्दर्शन-समुच्चय', समन्तभद्र (दि० जै०-६ठी शती) के 'आप्त-मीमांसा', भावविवेक (माध्यमिक बौद्ध) के 'तर्कज्वाल', विद्यानन्द (दि० जै०) के 'अष्टसाहस्त्रि', मेरुतुंग (दि० जै०-१३०० ई०) के 'षड्दर्शन-विचार', माधवाचार्य (वेदान्ती १३८० ई०) के 'सर्वदर्शनसंग्रह', मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद', और विज्ञान भिक्षु (सांख्य-१६ वीं शती) के 'सर्वागम प्रामाण्य' आदि में मिलती है।

प्राचीन का मोह और आदर मानव मस्तिष्क की सदा की प्रवृत्ति है। मानव विचार-धारा कभी रुकती नहीं और युगों की विचार-धारा में कोई रिक्त स्थान भी नहीं मानती। भारत में समस्त दर्शन और युग उस स्वाभाविक विश्वास और धर्म द्वारा बँधे हुए हैं, जो उन सबमें विद्यमान है। परन्तु वेदों अथवा ऋषियों का नाम लेने से ही हम भारतीय दर्शन को संस्कारबद्ध अथवा स्थिर नहीं मान सकते। कदाचित् यह पुरातन का आदर ही था, जिसके कारण इन दर्शनों का परस्पर कटु संघर्ष नहीं हुआ और भारत में किसी बुद्ध तथा महावीर को कभी सूली पर नहीं चढ़ाया गया। इस ईश्वरवादी भक्तिप्रधान देश में अधिकतर दर्शन निरीश्वरवादी हैं, यह आश्चर्यजनक तो है ही, पर साथ ही भारतीय विचार की स्वतन्त्रता का भी प्रमाण है।

मनुष्य
की कहानी

प्राचीन चीन की शक्ति और गौरवगरिमा की चिरसाक्षी वहाँ की महान् दीवार, जिसका निर्माण तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व हुआ था।

सी-आन-फू ले जाना तथा विभिन्न प्रदेशों के निरीक्षण के लिए पर्यटन करना, आदि थे।

वू वांग की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई 'जो कुंग' के संरक्षण में उसका पुत्र 'चुंग वांग' सिंहासनासीन हुआ। चीन के इतिहास में जो कुंग (तान) को अति आदर और श्रद्धा का स्थान प्राप्त है। उसकी गणना चीन के तीन महान् सत्पुरुषों में है, जिनमें 'यू' उसका पूर्ववर्ती तथा कुंग फ़ूत्ज़ू अनुवर्ती माने गये हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'परिवर्त्तनों की पुस्तक (ई जिंग)' 'जो' राज्य के संस्थापक वेन वांग द्वारा बंदीगृह में लिखी जाकर उसके कनिष्ठ पुत्र जो कुंग के द्वारा ही सुधारी गयी। उसने 'षट् त्रि-रेखाओं' में से प्रत्येक सम्पूर्ण और विक्षत रेखा के अर्थ लगाये।

भूमि-व्यवस्था में सुधार करने के लिए जो कुंग ने 'कूप-क्षेत्र' व्यवस्था चलायी। इसके अंतर्गत प्रत्येक सामंत की कृषि-योग्य भूमि को ३० मौ (भूमि की चीनी नाप) लम्बे और उतने ही चौड़े वर्गों में विभक्त किया जाता था। इन भूमिखंडों को १० मौ वर्ग के ६ भागों में बाँटा जाता था। बीच के वर्ग में एक कुआँ होता था। किनारे के आठ खंड आठ कृषक परिवारों को दिये जाते थे, किन्तु बीच का भाग सामंत की सम्पत्ति होती थी। अपनी निजी भूमि पर काम करने से पहले कृषकों को सम्मिलित रूप से सामन्त की भूमि पर काम करना पड़ता था। यह व्यवस्था नीचे दिये गये रेखाचित्र से समझी जा सकती है:—

१	२	३
८	० कूप	४
७	६	५

१० मौ (ऊँचाई); ← ३० मौ →

जो कुंग के ही द्वारा, उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से, कृषि-संबंधी नियम बनाये गये। कृषि-भूमि पर पेड़ लगाने का निषेध किया गया। केवल निवास-स्थान के निकट रेशम के कीड़ों के लिए शहतूत के पेड़ लगाने की आज्ञा दी गयी थी।

जो कुंग स्वभाव से गंभीर, चतुर, विनयशील और विश्वसनीय था। उसकी गंभीरता के उदाहरण के रूप में एक लोक-कथा प्रचलित है। उसके ज्येष्ठ भ्राता ने विनोद-वश उसे राज्यदंड (Scepter) भेंट देकर 'तांग के स्वामी' की उपाधि दी। जो कुंग ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, राजा परिहास नहीं करता। उसके शब्द इतिहास में अंकित हो जाते हैं, उत्सव-कृत्यों में सम्मिलित कर लिये जाते हैं अथवा गीत के रूप में गाये जाते हैं।"

'जो' राज्य के इतिहास में वेन, वू और तान के समकक्ष अन्य व्यक्ति नहीं हुआ। फिर भी विशिष्ट गुण और अवगुणों के कारण कुछ राजाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। वेन वांग की पाँचवी पीढ़ी में जो वांग ने हठ और मूर्खता के कारण प्राण दिये। प्रायः आखेट और युद्ध के अवसर पर घोड़ों तथा रथों से खड़ी फ़सल नष्ट हो जाती थी। प्रजा ने इस पर क्षोभ और दुःख प्रकट किया और दुराग्रही राजा द्वारा सुनवाई न होने पर उसने अपने ढंग से प्रतिशोध लिया। कहते हैं, एक बार नदी पार जाने को उद्यत राजा को ऐसी नाव पर बैठाया गया, जिसके तख्ते आपस में चिपके हुए थे। बीच नदी में तख्ते अलग हो गये। राजा बड़ी कठिनाई से तैर कर पार लगा। कुछ दिन बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

जो वांग का उत्तराधिकारी गंभीर मू के नाम से विख्यात हुआ। शत्रुओं के प्रतिकार तथा राज्य के निरीक्षण के उद्देश्य से विभिन्न प्रदेशों का पर्यटन करने की प्रथा तो मू वांग के पूर्वजों ने ही प्रचलित कर रक्खी थी। किन्तु लंबी यात्राएँ करने में मू अद्वितीय था। अनुश्रुतियों के अनुसार उसने 'चलायमान मरु' तथा 'हरे रंग के पक्षियों' के देश की भी यात्रा की थी। इन उद्धरणों से भौगोलिक निष्कर्ष निकालना कठिन है, फिर भी ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि मू वांग ने फारस और भारतवर्ष की यात्रा की थी। इसी अनुमान के आधार पर अनेक लाओत्ज़ू के दार्शनिक विचारों का स्रोत भारतवर्ष ही को मानते हैं। जो कुछ भी हो, मू की पश्चिमी यात्राओं के प्रति संशय नहीं किया जा सकता। बर्बरों का ध्यान चीन की ओर आकर्षित करके विदेशी आक्रमणों की परम्परा चलाने का दोष भी इसी कारण मू पर ही लगाया जाता है। मू ने अपराध की दंड-व्यवस्था में भी परिवर्त्तन किया। प्राणदंड के स्थान पर अन्य पाँच दंड तथा धनदंड के विधान का आरोप भी मू पर लगाया जाता है।

मू वांग के बाद के राजाओं में ली वांग कठोर दमन के लिए प्रसिद्ध है। जनता ने ली वांग की नीति की खुली आलोचना की। आलोचना का अंत करने के लिए उसने संदिग्ध व्यक्तियों को प्राणदंड दिया। फलस्वरूप, जब

नहीं थे। यह तो एक व्यवसाय के व्यक्तियों का कृत्रिम पारिवारिक संघटन था। ऐसा अनुमान लगता है कि इस प्रकार के संघ का उदय, एक व्यवसाय में लगे भाइयों की टोली के रूप में हुआ होगा और उस व्यवसाय के अन्य व्यक्ति बाद में सम्मिलित हुए होंगे। ग्राम के अग्रजों को ग्रामीण जीवन को नियमित बनाने में जो स्थान प्राप्त था, नगर के जीवन में संघ के अग्रजों का वही स्थान था।

इसी काल में सांस्कृतिक आंदोलन के प्रतिनिधि पुजारियों और कुल, ग्राम तथा व्यावसायिक संघों के बीच इतिहास के सभी शासक वर्गों से निराले एक नये शासक वर्ग की सृष्टि हुई। यह था मैन्डरिन * विद्वानों का वर्ग। राजा और प्रजा के बीच मैन्डरिन मध्यस्थ का कार्य करते थे। दूरस्थ प्रदेश के राजकाज में वे बहुत उपयोगी थे। सम्राट् के लिए कर वसूल करना और न्याय-व्यवस्था करना इनका मुख्य काम था।

चीनी इतिहास के आदि काल में सांस्कृतिक उन्नति के अग्रदूतों को जो श्रद्धा और सम्मान प्राप्त हुआ, उसने संस्कृति की प्रगति में बड़ी सहायता पहुँचाई। लोहे का उपयोग भी 'जो' राज्यकाल में ही आरम्भ होता है। पुरातन चीनियों ने जिस आविष्कारक प्रतिभा का परिचय दिया उसके देखते चीन का प्राचीन इतिहास रक्त-रंजित घटनाओं का लेखा नहीं वरन् चीनियों की प्रारम्भिक सफलताओं की ज्वलंत गाथा है। उनके कार्य-कलापों में विशेष उल्लेखनीय—लेखनकला, ज्योतिष, जन्त्री, दिशासूचक यंत्र, गणित, तौल की दाशमलविक योजना, संगीत विज्ञान, वाद्ययंत्र तथा स्वरलिपि, कृषि-यंत्र, औषधि-शास्त्र, रेशम, चित्रकला, आय-व्यय का खाता, निबंध-शास्त्र, कविता तथा गल्प-साहित्य इत्यादि को लेकर विस्मयजनक सूची बनती है। 'जो' इतिहास के पूर्वकाल में राज्यसंचालित समाजवाद, क्रय-विक्रय के नियंत्रण, नगर-विकास तथा सिंचाई की योजनाओं के प्रारम्भिक प्रयास का स्पष्ट आभास मिलता है।

शासन व्यवस्था का उचित निरूपण इसी काल में हुआ। जो कुंग के समय से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक शासन-व्यवस्था का स्वरूप ऐसा ही बना रहा। भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में पाटलिपुत्र के प्रबंध के लिए जैसे विभागों की स्थापना हुई थी वैसे विभाग 'जो' राज्यकाल में भी बनाये गये।

* गोवेन और हाल (चीनी इतिहास की रूपरेखा) के अनुसार 'मैन्डरिन' शब्द पुर्तगाली मैंदर (शासन करना) अथवा संस्कृत मंत्रिन् से बना है।

ये विभाग निम्नलिखित अधिकारियों के सुपुर्द थे—

१—दैव मंत्री—जिसका काम सम्पूर्ण शासन की साधारण देखरेख रखना—भोजन-वस्त्र और सम्राट् के कार्य-कलापों का प्रबंध करना था।

२—भौम मंत्री—जनता की सर्वांगीण भलाई का प्रबंध करना इसका काम था। इसके कार्यों की वृहत् सूची में एक महत्वपूर्ण कार्य था राज्य के प्रत्येक पुरुष और कन्या का विवाह क्रमशः ३० और २० वर्ष की आयु के पहले करा देना।

३—वसंत का मंत्री—ऋतु और अवसर के अनुसार सब धार्मिक कृत्यों तथा त्योहारों की व्यवस्था और ज्योतिष-संबंधी कार्यों की देखरेख करने का भार इस मंत्री के अधीन विभाग पर था।

४—ग्रीष्म का मन्त्री—यह राज्य के युद्ध-विभाग का अधिकारी था। इसका कार्य था—सैनिकों की भरती तथा सैन्य सामग्री का संग्रह।

५—शरद का मन्त्री—इसका काम था न्याय-विभाग की भाँति अपराधानुसार दंड की व्यवस्था करना।

६—शीत का मन्त्री—सार्वजनिक निर्माण के सभी कार्य यथा सड़क, पुल इत्यादि बनवाना इसका काम था।

पाँच राज्यों की शताब्दी

पिंग वांग की मृत्यु से लेकर कुङ्ग फू-त्ज़ू के जन्म तक के सौ वर्ष 'पाँच राज्यों की शताब्दी' कहलाते हैं। केन्द्रीय राज्यसत्ता के क्षीण होने पर अनेक छोटे राज्यों ने स्वतंत्र सत्ता धारण की। विदेशी बर्बरों से युद्ध करने के अतिरिक्त ये राज्य पारस्परिक युद्धों में संलग्न रहते थे। इनमें से ची, सुंग, जिन, चिन और चू अधिक शक्तिशाली थे। ईसा से लगभग ५४६ वर्ष पूर्व चीन के चौदह राज्यों के प्रतिनिधियों ने सुंग की राजधानी में एक प्राचीन 'लीग आफ़ नेशन्स' की प्रथमावृत्ति की। यह राज्यमंडल अधिक दिन न चल सका। स्थापना के थोड़े ही दिन बाद चार बड़े राज्यों ने आपस में युद्ध छेड़कर इस राज्यमंडल का अन्त कर दिया। इन युद्धों में जिन जिन सामन्तों को विजय प्राप्त हुई, उनके नाम क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) ह्वान का सामन्त (६८५–६४३ ई० पू०) ने अपने दार्शनिक प्रधान मंत्री ह्वान जिंग के साथ बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। ह्वान जिंग ने ही प्राप्त आँकड़ों के आधार पर नमक और लोहे पर कर लगाया। आय का साधन हो जाने के कारण लोहे के व्यापार को राज्य के द्वारा प्रोत्साहन मिला और रोम के बाज़ारों में भी चीन का लोहा बिकने लगा।

छोटे सरदारों का नेतृत्व करते हुए ह्वान के सामंत ने

तथा Negative तत्व समझा गया है और विद्युत रेखा अथवा सम संख्या द्वारा वह व्यक्त होता है। जिस प्रकार वेदों में यत्र-तत्र रोगमुक्ति के लिए प्राकृतिक शक्तियों (वायु, जल आदि) की स्तुति तथा आह्वान किया गया है, उसी प्रकार चीन के दार्शनिक ग्रंथों में भी स्वास्थ्य लाभ तथा मांगलिक भुजबन्धों के लिए वायु, जल आदि की पूजा का वर्णन मिलता है। आत्मवाद के क्षेत्र में यांग और यिन के सम्मिश्रण के अनुपात के अनुसार पूर्वजों की सद्-असद् आत्मा के प्रति श्रद्धा अथवा भय का विवरण मिलता है। इसी कारण सभी युगों में पूर्वज पूजा चीनी धर्म का प्रमुख अंग माना जाता रहा। व्यवहार-क्षेत्र में भूत-प्रेत इत्यादि की पूजा का भी प्रचलन वहाँ था।

राज्य की ओर से सम्राट् राष्ट्र का सर्वप्रमुख धर्माधिकारी होने के कारण 'देवपुत्र' की उपाधि धारण कर सब प्रकार के महाबलिदान करने का एकमात्र अधिकारी माना जाता था।

धर्म-प्रचारकों में सर्वप्रथम लाओ त्ज़ू का नाम आता है। उसका जन्म आधुनिक हुपे और हुनान प्रदेश में स्थित चू राज्य में ईसा से ६०४ वर्ष पूर्व हुआ था। यह वह समय था जब कि सम्पूर्ण मानव-जगत् शताब्दियों की अलस निद्रा के बाद कौतूहल तथा जिज्ञासा से प्रेरित होकर जागृति और चैतन्य के लक्षण दिखा रहा था। यूनान, फ़ारस, भारत तथा चीन में इस युग में एक साथ जागृति की लहर उठी। लाओ-त्ज़ू चीन में इसी नव-जागृति का प्रथम प्रतीक था। उसका मत कुंग फू-त्ज़ू से भिन्न था। उसके शांत किन्तु रहस्यमय विचारों की आधारशिला थी मूल प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करना। इस अभिप्राय से वह जीवन को मार्ग ('दौ') पर लाना आवश्यक समझता था। स्वयं लाओ-त्ज़ू का 'दौ' से क्या तात्पर्य था, यह कहना कठिन है। विभिन्न टीकाकारों ने इस शब्द के अलग-अलग अर्थ लगाये हैं। लाओ-त्ज़ू का कहना था, "जो जानते हैं वे बताते नहीं, जो बताते हैं वे जानते नहीं।"

प्रसिद्ध दार्शनिक कुंग फू-त्ज़ू बीस वर्ष तक शिष्य के रूप में लाओ-त्ज़ू के सम्पर्क में रहकर भी उसे समझ न सका। उसकी शिक्षाओं में निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं—

१—जो अपने को जीत लेता है, वही बलवान् है।

२—जो अपनी शक्ति जानता है, वह दुर्बल दिखायी देने में ही संतोष करता है।

३—संतोषी के पास सब कुछ है।

४—चोट का बदला दया से दो।

कालान्तर में लाओ-त्ज़ू के सिद्धान्तों में बड़ा परिवर्तन हुआ। उसके सिद्धान्तों के मूल रूप को विचारकों ने लाओ-वाद तथा परिवर्त्तित रूप को दौ-वाद कहा है। विकास और प्रभाव की दृष्टि से लाओ-त्ज़ू के धर्म-सिद्धान्तों की तीन अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं। प्रथम वह जिसमें लाओ-त्ज़ू तथा उसके परवर्त्ती दार्शनिकों ने सत्यनिष्ठा से इनका प्रतिपादन और परिमार्जन किया। द्वितीय वह जिसमें चिन के सम्राट् का संरक्षण इन्हें प्राप्त हुआ। तृतीय आधुनिक अवस्था है जब कि लाओ-त्ज़ू के सिद्धान्त पतनोन्मुख होकर अंधविश्वास तथा ढकोसला मात्र रह गये हैं।

चिन के सम्राट् द्वारा दौ-वाद के प्रचार का ढंग सर्वथा अनोखा था। उसने राजदरबार में दौ-वाद की व्याख्या करना आरम्भ किया। व्याख्यान के समय जम्हाई लेनेवाले सभासद को वह तत्काल वधिक के हवाले कर देता था। हान वंश का प्रथम सम्राट् इसी मत को माननेवाला था, यद्यपि उस समय तक दौ-धर्म का क्षेत्र केवल पारस और अमृत की खोज तक सीमित रह गया था। इसी युग से दौ के महन्तों की शृंखला आरम्भ होती है। चांग दौ लिंग पहला महन्त था। उसने १२३ वर्ष की आयु तक धर्म की रक्षा तथा प्रचार करके सशरीर स्वर्गारोहण किया! धार्मिक गाथाओं के अनुसार "उसमें नक्षत्रों के बीच भ्रमण करने की सामर्थ्य, समुद्र और पर्वतों को विभक्त करने की शक्ति, वायु और विद्युत् पर शासन करने की क्षमता तथा दानवों का दमन करने का पराक्रम था।"

बौद्ध और 'दौ' धर्म के पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया मे बौद्धों का तंत्रवाद तथा वाम-मार्ग दौ धर्म में सन्निहित हो गया। अनेक अवसरों पर, विशेषतया: १३ वीं शताब्दी मे मंगोल सम्राट् कुबलाई खाँ के शासन काल में दौ धर्म को घोर विरोध और दमन का सामना करना पड़ा।

लाओ-त्ज़ू के कुछ ही समय बाद चीन के सर्वप्रसिद्ध दार्शनिक कुंग-फू-त्ज़ू (कन्फ़्यूशियस) का उदय हुआ। कुंग का जन्म ५५१ ई० पू० आधुनिक शातुंग स्थित चू फू नामक स्थान में हुआ। चीन के जीवन, सामाजिक व्यवस्था और आचार-विचार पर आज भी कुंग फू-त्ज़ू का व्यापक प्रभाव है। उसके जीवन और विचारधारा पर अन्यत्र प्रकाश डाला जा चुका है, अतएव इस स्थल पर अधिक न लिखकर वानडर गेबेलेंट्ज़ का एक उद्धरण देकर कुंग के विवरण को हम समाप्त करते हैं—"यदि हमें किसी ऐतिहासिक व्यक्ति की महानता की नाप करनी है तो एक ही मापदण्ड दिखायी देता है—वह है व्यापकता, अवधि

और क्रांति के सिद्धांत को मान्यता दी। उसने कहा, "जब राजा बड़ी भूल करे तो मंत्री को उसका विरोध करना चाहिए। यदि बार-बार कहने पर भी राजा कान न दे तो उसे सिंहासनच्युत् कर देना चाहिए।" "जो जनता का हृदय प्राप्त कर लेता है, वह राज्य प्राप्त करता है। जो हृदय खो देता है। वह राज्य भी खो देता है।" ८४ वर्ष की अवस्था में २८९ ई० पू० उसका देहांत हुआ।

कुंग फू-त्ज़ू के मत के प्रचार में जो स्थान मुंग को का रहा है वही लाओ-त्ज़ू के दौ-वाद के प्रचार में ज्वांग-त्ज़ू का था। यदि चीनी विचारधारा पर कुंग का इतना गहरा प्रभाव न होता तो ज्वांग-त्ज़ू को कहीं अधिक प्रसिद्धि मिलती। वाह्य प्रदर्शन और आडंबर से अपने गुरु की भाँति उसे भी चिढ़ थी। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है:—

नदी के किनारे बैठा हुआ ज्वांग-त्ज़ू मछली का शिकार कर रहा था। उसी समय चू के राजा के पास से दो राजकर्मचारी उसके पास राज्य का व्यवस्थापक बनने का निमंत्रण लेकर आये। ज्वांग-त्ज़ू अपने काम में लगा रहा और बिना पीछे देखे उसने उनसे कहा, "मैंने सुना है कि चू में तीन हज़ार वर्ष से मृत एक पवित्र कछुआ है और राजा ने उसे एक सन्दूक में बंद कर पूजा के लिए अपने पैतृक मंदिर की वेदी पर रख छोड़ा है। अब यह बताओ कि वह कछुआ मरकर अपने अवशेषों की पूजा कराना चाहेगा अथवा जीवित रहकर कीचड़ में दुम हिलाना पसंद करेगा?" "वह जीवित रहकर कीचड़ में दुम हिलाना पसंद करेगा!" राज्यकर्मचारियों ने उत्तर दिया। "तो तुम अपना रास्ता नापो," ज्वांग-त्ज़ू ने कहा, 'मैं भी कीचड़ में दुम हिलाऊँगा।"

उसके प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यमय विचारों के दृष्टान्त रूप एक कथा और कही जाती है। 'मैंने एक बार स्वप्न में देखा कि मैं एक तितली हूँ। मुझे केवल तितली होने की चेतना थी, अपने मानव-व्यक्तित्व के प्रति मैं अचेतन था। अकस्मात् जग जाने पर मैं नहीं जानता कि तब मैं मनुष्य था और तितली होने का स्वप्न देख रहा था अथवा वस्तुतः मैं एक तितली हूँ और अब मनुष्य होने का स्वप्न देख रहा हूँ!"

जो-वंश की अंतिम शताब्दियों में न केवल लाओ-त्ज़ू और कुंग के अनुयायियों ने अपने मतों का प्रचार किया, वरन् अन्य दार्शनिक परिपाटियों का भी प्रभाव रहा। काशी और एथेन्स की भाँति लोयांग में भी, जो तत्कालीन चीन में शिक्षा तथा राज्यसत्ता का बड़ा केन्द्र था, विचार विमर्श तथा पांडित्य-प्रदर्शन के लिए दार्शनिकगण बड़ी संख्या में एकत्र हो रहे थे। इसी नगर को मुंग को और ज्वांग-त्ज़ू के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण विचारकों ने भी अपना अखाड़ा बना रक्खा था। प्रचलित विचार-स्वातंत्र्य के चिह्नस्वरूप यहाँ पर कुछ ऐसे ही विचारकों के नाम दिये जा रहे हैं।

मोदी कुंग फू-त्ज़ू के कुछ ही समय बाद प्रसिद्ध हुआ। उसने समाजवाद और पारस्परिक स्नेह के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसका कथन था कि एक शिशु की संग्रह करने की इच्छा से लेकर साम्राज्य-विजय करने की इच्छा तक सब प्रकार का स्वार्थ ही बुराइयों का मूल है। इस शांतिवाद से आरम्भ कर मोदी ने राज्य-सत्ता के सिद्धांत की इतनी कठोर भर्त्सना की कि अधिकारियों के हृदय में भय समा गया। उसके आकर्षक सिद्धांतों की अव्यावहारिकता का मुंग को ने घोर विरोध किया। चिनवंश के प्रथम सम्राट् हांग-दी ने जब सभी प्राचीन ग्रंथों को भस्म करने की आज्ञा दी तब कुंग के मत के ग्रंथों के साथ मोदी-मत की भी सभी पुस्तकें नष्ट कर दी गयीं। कालांतर में कुंग के मत का पुनरोत्थान हुआ, किन्तु मोदी द्वारा प्रतिपादित मत समय की चपेट से न उबर सका।

चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व में यांग जू ने सर्वथा विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उसने घोर नैतिक अहम्‌वाद के आधार पर दर्शन की पृथक् परिपाटी चलायी। उसके विरोधियों के ही मुख से उसके विचारों का ज्ञान हो सका है। उनका कहना था कि यांग जू का मत था कि जीवन दुःखपूर्ण है, अतएव उसका मुख्य प्रयोजन सुख ही है। देवताओं का अस्तित्व नहीं है। मृत्यु के बाद स्वर्ग आदि की कल्पना मिथ्या है। मुंग को और ज्वांग-त्ज़ू ने अपने ग्रंथों में इसी रूप में उसके मत पर विचार किया है। चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्" के सिद्धान्तों से यांग जू का विचार-साम्य है।

यूनान में उसी समय एपीक्योर नामक दार्शनिक ने इसी प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार किया था। याग जू को चीन का एपीक्योर कह सकते हैं। मुंग को ने मोदी और यांग जू के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के बारे में लिखा था कि "जब यांग जू संसार की रक्षा के लिए बाल भी न देता, मोदी स्वेच्छा से सर्वोत्सर्ग कर देता।"

इन सब दार्शनिकों का सम्मिलित ज्ञान और आदर्श बढ़ते हुए भ्रष्टाचार को, जिसके कारण जो-राज्य का अंत

महान् कार्य भी शी ह्वांग दी ने किया। रक्षापंक्ति की १५०० मील से अधिक विस्तृत शृङ्खला के निर्माण में लाखों व्यक्तियों से बलात् काम लिया गया। इस बेगार में बन्दियों, अपराधियों और वणिकों को जोता गया। उसके बाद कुंग के मतानुयायी विद्वानों की बारी आयी। वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद चीन की प्रसिद्ध दीवाल बनकर तैयार हुई। हूणों के आक्रमणों को रोकने में कुछ समय तक दीवाल की योजना सफल रही। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि चीन की दीवाल बन जाने के कारण रोम का पतन हो गया। राष्ट्र की रक्षा के लिए सम्राट् ने इसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी किए। पहाड़ी टीलों को समतल करके तथा पहाड़ों को काटकर उसने सड़कों तथा पुलों का निर्माण किया और राज्य के विभिन्न भागों को परस्पर संबद्ध करके सुरक्षा के योग्य बनाया।

सात लाख बन्दियों और अपराधियों से बलात् काम लेकर उसने शीअन यांग के निकट भव्य और विशाल प्रासाद बनवाया। ऐसा कहा जाता है कि प्रासाद के मध्य कक्ष में, जिसकी छत ६० फ़ीट से भी अधिक ऊँची थी, १०००० व्यक्ति एकत्र हो सकते थे! यह प्रासाद सम्राट् के भय और गर्व दोनों का प्रतीक था। उसकी हत्या के अनेक प्रयत्न हो चुके थे। किसी तान्त्रिक की सलाह के अनुसार वह प्रतिदिन अपना शयनकक्ष बदलता रहता था। इस विशाल प्रासाद पर व्यय किये जानेवाले धन का अनुमान लगाकर सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र फ़ू-स्सु ने प्रासाद बनवाने का विरोध किया। फलस्वरूप राज्यकोप के कारण उसे देश-निष्कासन का दंड मिला।

शी ह्वांग दी का सबसे निकृष्ट कार्य कुंग फ़ू-त्ज़ू के मत की पुस्तकों को नष्ट करवाना था। यह स्वाभाविक था कि विजयी सम्राट् को अपनी निरंकुश प्रवृत्तियों के कारण कुंग फ़ू-त्ज़ू का मत राज्य-विस्तार की दृष्टि से संकुचित एवं लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के कारण अरुचिकर हो। वह कुंग के आदर्श सम्राट् की परिभाषा में बँधना नहीं चाहता था। कृषि, ज्योतिष तथा औषधि को छोड़कर उसने कुंग-मत के सभी प्रकार के ग्रन्थों को नष्ट करने की आज्ञा दी। आज्ञा की उपेक्षा करनेवाले ५६० विद्वानों का उसने निर्दयता से वध करा दिया।

चिन सम्राट् मृत्यु के भय से आजीवन त्रस्त रहा। दौ-वादियों की सहायता से अमृत उपलब्ध करने की लालसा से ही उसने दौवाद का प्रचार किया। उसे अपनी मृत्यु का विचार इतना अरुचिकर था कि उसने इस प्रसंग के उठाये जाने का निषेध कर दिया था। अतएव भविष्य के लिए मार्ग निर्धारण किये बिना ही २१० ई० पू० उसका देहान्त हो गया।

उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्य-निष्कासित था। उसके पास सम्राट् के जाली हस्ताक्षरों में एक पत्र पहुँचा, जिसके द्वारा उसे आत्महत्या कर लेने का आदेश दिया गया था। फ़ू-स्सु ने आज्ञा का पालन किया! यह कार्रवाई जौ-कौ नामक एक महत्वाकांक्षी हिजड़े की थी, जो कि फ़ू-स्सु को अपने रास्ते से हटाकर सम्राट् के द्वितीय पुत्र हुहै को सिंहासन पर बिठाना चाहता था। उसने हुहै और उसके दरबारियों पर घोर आतंक फैला रक्खा था। इस विषय में एक कथा प्रचलित है। राजदरबारियों और जौ कौ के साथ हुहै आखेट के लिए गया हुआ था। सम्राट् ने एक बारहसिंघा देखा और उसका शिकार करना चाहा। जौ कौ ने उसे मूर्ख बनाने के लिए कहा कि 'वह तो घोड़ा है।' सम्राट् ने अविश्वासपूर्ण हँसी हँसकर दरबारियों की ओर देखा। किन्तु जौ कौ से आतंकित किसी भी व्यक्ति को उसकी बात काटने का साहस न हुआ!

शी ह्वांग दी की मृत्यु के समाचार से सर्वत्र अराजकता फैल जाने की आशंका थी। इस समाचार को छिपाने के लिए जौ कौ ने शव को राजधानी लाते समय उसकी दुर्गन्ध को छिपाने के लिए उसके आगे पीछे सड़ी मछली की गाड़ियों का प्रबंध किया! शी ह्वांग दी का शव उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल धूमधाम से दफ़नाया गया। उसके मक़बरे में सैकड़ों स्त्रियाँ, दस पुत्रियाँ और बहुत से कारीगर, जो मक़बरे के रहस्यों को जान गये थे, बन्द कर दिये गये!

हुहै केवल तीन वर्ष राज्य कर सका। इन दिनों राज्य की प्रतिष्ठा क्षीण हो गयी थी। उसके राज्यकाल में ही उसके पिता की क़ब्र लूट ली गयी। यहाँ तक कि अपनी खोयी हुई भेड़ को ढूँढने के प्रयत्न में एक गड़रिये के हाथ से मशाल गिर पड़ने से वह सन्दूक भी, जिसमें सम्राट् का शव दफ़नाया गया था, भस्मसात् हो गया।

आंतरिक विद्रोहों ने साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया था। शिआग यू और लिऊ पान के संयुक्त नेतृत्व में विद्रोहियों ने २०६ ई० पू० चिन की राजधानी पर अधिकार कर लिया। चिन के प्रथम सम्राट् शी ह्वांग दी के पौत्र द्ज़ू यंग को आत्मसमर्पण करना पड़ा। राज्य पर अधिकार करने के लिए विद्रोहियों के दोनों नेताओं में संघर्ष हुआ। अन्त में विजय का श्रेय लिऊ पान को मिला और उसने कौत्ज़ू के नाम से 'हान वंश' की नींव डाली।

कार के लिए अगणित सैनिक वहाँ पर एकत्र थे। परिणाम-स्वरूप खाद्यान्न-सामग्री का इतना अभाव हो गया था कि नियत परिमाण में खाद्यान्न की पूर्ति करनेवाले को उच्च पद तथा उपाधियाँ दी जाती थीं।""""हान वंश के प्रथम सत्तर वर्षों में ऐसी ही अवस्था बनी रही। फिर देश में शान्ति स्थापित हुई। बहुत समय तक अतिवृष्टि और अनावृष्टि का प्रकोप नहीं हुआ और समृद्धि का समय आया। सार्वजनिक अन्नभंडार पूर्ण हो गये। रिक्त राज्यकोष भर गया। ग्राम-प्रमुख मांस-मदिरा का सेवन करने लगे।"""" क्योंकि आत्म-सम्मान एवं नियमों के प्रति आदर-भाव घर कर गया था, पड़ोसी के प्रति उदारता तथा कर्त्तव्यनिष्ठा ने (लोगों को) लज्जाजनक और अपमानपूर्ण कार्य करने से रोका।

"अंत में ढीले नियमों के अंतर्गत धनाढ्यों ने निर्धनों को सताना तथा अन्य अहंकारपूर्ण कार्यों में धन का दुरुपयोग आरम्भ किया। ऊपर से नीचे तक सभी व्यक्ति वस्त्र, मकान तथा पर्दों के लिए धनव्यय करने में अपने पड़ोसियों से प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। समृद्धि तथा ह्रास के क्रम का यही शाश्वत नियम है।"*

हान वंश की छत्रछाया में साहित्यिक नवजागृति होना अवश्यम्भावी था। चिन काल में लेखन-तूलिका का आविष्कार हुआ, फिर भी उस काल में लेखनी की अपेक्षा असि का प्राबल्य था। चिन सम्राट् द्वारा चार सौ साठ विद्वान् साहित्यिकों का वध इसका कटु प्रमाण है।

हान काल में साम्राज्य विस्तार के लिए असंख्य सैनिक भरती किये गये। हान शासक शक्ति-संपन्न होने के कारण देश की आन्तरिक शांति भी बहुत दिनों तक बनाये रख सके। शक्ति के मद में चूर प्रथम हान सम्राट् ने कहा था—"मैंने घोड़े की पीठ पर ही साम्राज्य-विजय किया।" और तत्काल उसके मंत्रियों ने उससे कहा—"किन्तु घोड़े की पीठ पर से आप शासन नहीं कर सकते।" नवजागृति के युग में कुंगवादी पुराने विद्वानों का प्रभाव और मान बढ़ा। विनष्ट और लुप्त ग्रंथों की खोज का कार्य आरम्भ हुआ। जो ग्रन्थ अप्राप्य थे, उनका अक्षरशः पुनरुद्धार फु शेंग जैसे वृद्धों की स्मृति से किया गया। फिर भी कुछ ग्रन्थ सदैव के लिए लुप्त हो गये और तत्कालीन मानव समाज के ज्ञानकोष का एक अंश सदैव के लिए विलुप्त हो गया।

सम्राट् वू दी ने सुलेखन के लिए रेशमी वस्त्र और धन का पुरस्कार निर्धारित करके लिपिकारिता को प्रोत्साहन दिया। काव्य की उन्नति हुई। ऐसा कहा जाता है कि कुंग फू-त्जू द्वारा संगृहीत शिह-जिंग (काव्य-ग्रन्थ) चीन के काव्यवृक्ष का मूल था। हान काल की कविता के रूप में यह वृक्ष पल्लवित हुआ और तांग कवि इसके फल के समान हैं।

निम्नलिखित उद्धरण इस युग में साहित्य के गौरवमय स्थान तथा साहित्यिक की उच्च मर्यादा की ओर संकेत करता है:—

कविता में अपना नाम शामिल कर देने के लिए एक धनी व्यापारी ने प्रख्यात कवि यांग शी उंग को एक लाख मुद्रा देने का प्रलोभन दिया। यांग ने उत्तर दिया, 'जिस व्यक्ति के पास धन छोड़कर और कुछ भी न हो, उस व्यक्ति का नाम साहित्य में रखना उतना ही असंगत होगा, जितना तबेले में बारहसिंघे अथवा पिंजड़े में बैल को रखना।'

कागज़ के आविष्कार से भी, जो संभवतः इसी युग में हुआ था, पुस्तकों के उत्पादन में सुविधा मिली। इतनी अधिक संख्या में पुस्तकें बनीं कि इसका अनुमान सरकारी पुस्तकालय के ग्रन्थों से लगाया जा सकता है। कहते हैं, तत्कालीन राजकीय पुस्तकालय में ३१२३ पुस्तकें शास्त्रीय विषयों पर, २७०५ दर्शन पर, ७६० सामरिक शास्त्र पर, २५२८ गणित पर और ८६८ ओषधि-विज्ञान पर थीं। उस पुस्तकालय में १३१८ ग्रंथ तो काव्य पर ही थे!

हानकालीन साहित्य के विकास का इतिहास तत्कालीन महिला साहित्यकार पान-चौ के उल्लेख के बिना अपूर्ण रहेगा। उसका भाई सरकारी इतिहासकार था, जो सेनापति दो शिन के पतन के बाद उसके प्रतिपक्षी होने के संदेह में कारावास में डाल दिया गया। बंदीगृह में ही उसकी मृत्यु हुई। योग्य भगिनी ने सम्राट् से सहायता पाकर अपने भाई की कृतियों को संशोधित कर प्रकाशित किया। हान वंश के बारह सम्राटों का इतिहास 'हान ग्रन्थ' उसी महिला के अध्यवसाय का फल है। उसके परिश्रम और योग्यता से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उसे उसके काव्य, इतिहास तथा भाषण के लिए साम्राज्ञी की आचार्या के पद पर नियुक्त किया।

बौद्ध धर्म का उदय

चीन में बौद्ध धर्म का उदय हान राज्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। बौद्धों का प्रचार वहाँ कब आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। फिर भी ऐसा अनुमान किया

* गाइल्स—'चीनी साहित्य' पृ० १०४-१०५।

परिस्थिति का लाभ उठाकर तत्कालीन सम्राज्ञी के वांग मांग नामक एक संबंधी ने सम्राट् को विष देकर मार डाला और उसके पुत्र को सिंहासन पर बिठाकर स्वयं संरक्षक बन बैठा। 'जो' के सामंत का महान् आदर्श उसके सामने था। उसके हृदय में वैसा ही उच्च स्थान प्राप्त करने की लालसा थी। किन्तु शीघ्र ही स्वयं सम्राट् बनने के तात्कालिक प्रलोभन ने भविष्य की लोकमान्यता के स्वप्न पर विजय पायी और वह बालक सम्राट् को सिंहासन से हटाने को बाध्य हुआ। ६ ई० पू० वांग मांग ने शिन (नवीन) वंश की स्थापना की।

नाम के अनुरूप वांग मांग ने सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था को नये साँचे में ढालना चाहा। धनवान् और निर्धन का अन्तर बहुत बढ़ चुका था। नये सम्राट् ने 'जो' के सामंत द्वारा प्रचालित भूमि की सार्वजनिक कूप-व्यवस्था के पुनर्स्थापन के लिए धनियों की भूमि छीनकर उसका पुनर्वितरण किया। पुरातनवाद की धुन में उसने पुरानी मुद्रा तथा कौड़ियों का प्रचलन किया। अपनी योजनाओं की सफलता के लिए उसने सदाशयता के साथ-साथ अनवरत अथक परिश्रम किया, किन्तु व्यावहारिक राजनीति से पृथक् एक स्वप्नद्रष्टा के समान वह यह न सोच सका कि आदिम अवस्था के लौटाने से सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए अनिवार्य है कि समाज के विकासवादी चरित्र का ध्यान रखते हुए वास्तविक परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन करके ही उसको जन्म दिया गया हो। हान-काल में ही समाज-व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी थी कि उसके ऊपर कोई दूसरा सीधा-सादा ढाँचा नहीं गढ़ा जा सकता था। अव्यवस्था तथा अराजकता से लाभ उठाकर एक हानवंशीय राजकुमार ने युद्ध में वांग मांग और उसके राज्यवंश की इतिश्री की। २५ ई० में हान-वंश की नवीन शाखा का पूर्वी हान के नाम से आरम्भ हुआ। नये सम्राट् क्वांग वू दी (कांतिमान और साहसी) ने लोयांग में अपनी राजधानी रखने का निश्चय किया।

क्वांग वू दी विद्वान् और योग्य शासक था। कुंग फू-त्ज़ू के सिद्धांतों में वह निष्णात था। उसके राज्यकाल में शिक्षा का प्रचार हुआ और प्रथम विश्वविद्यालय की नींव पड़ी। पाठशालाओं में विद्यादान के अतिरिक्त नैतिक शिक्षा का भी प्रारंभ हुआ। ऐसे समय में एक प्रबल विद्वान् वर्ग की उत्पत्ति हुई, क्योंकि राजदरबार और सर्वसाधारण में विद्या को सर्वत्र समान रूप से मान प्राप्त था। किन्तु यह अवस्था अधिक दिन न चल सकी। समृद्धि के उपरान्त ह्रास का शाश्वत नियम सत्य सिद्ध हुआ।

क्वांग वू दी के उत्तराधिकारियों के समय में ऐश्वर्य और विलासिता अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी थी। एक ओर सामंत विलास में मत्त थे, दूसरी ओर वणिक-वर्ग धनसंग्रह में संलग्न था। किसानों ने भी भूमि का परित्याग कर व्यापार एवं मज़दूरी करना आरम्भ किया। फलस्वरूप इस युग में देश में कृषि का सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा ध्वस्त होने लगा।

हान-काल में चीन में केवल राज्यविस्तार से ही व्यापार की उन्नति नहीं हुई। राज्य के अन्दर भी यातायात की सुविधा-वृद्धि से व्यापार को सहायता मिली। हान सम्राटों ने प्रथम चिन सम्राट् शी हांग दी के सड़कों के निर्माण के काम को आगे बढ़ाया। सड़कों के किनारे तीन-तीन मील पर सराय (दिंग) बनवायी गयीं। इन सरायों में धनी और निर्धन, सामन्त और कृषक, स्त्री और पुरुष सभी के टिकने-ठहरने का प्रबंध था। हान-काल के पूर्वार्द्ध में ही चीन में ऐसी ३००० सरायों के होने का उल्लेख मिलता है।

ईसा से कई वर्ष पहले चीन में डाकघर थे। मुख्य मार्ग के किनारे राज्य की ओर से दो-दो मील पर कार्यालय बनाये गये थे। सरकारी कर्मचारी घोड़ों पर सवार होकर एक कार्यालय से दूसरे तक पत्र पहुँचाया करते थे।

धन-प्राप्ति के लिए अंधाधुंध प्रयत्न तथा कृषि के प्रति उदासीनता के कारण हानवंश का पतन हुआ। क्वांग वू दी के समय में राजा-प्रजा दोनों के हाथों सम्मानित विद्वानों के निरादर, दंड और वध से जनता क्षुब्ध थी। इसी समय में राजदरबार के हिजड़ों तथा राजवंश के सदस्यों में सत्ता-प्राप्ति के लिए संघर्ष छिड़ा। इस संघर्ष की चपेट में हान-राज्य विनष्ट हो गया।

सम्राट् के एक संबंधी ने इन हिजड़ों के वध का षड्यंत्र रचा। षड्यंत्र की गड़बड़ी और झमेले में एक दीर्घकाय और बलवान् सेनापति 'तुंग जो' को राजधानी पर आक्रमण कर लूटपाट करने तथा सम्राट् का अपहरण करने का अवसर मिला। तुंग जो का इरादा पश्चिमी राजधानी चांग अन से एक नया राज्यवंश आरम्भ करने का था। किन्तु मनचाही बात होने के पहले ही उसके सैनिकों ने उसे मार डाला। तभी त्सौत्सौ नामक साहसिक ने राजा को वन्दी करके 'वे राज्यवंश' की स्थापना की।

से स्थायी न बन सका; केमरे से बाहर निकाले जाने पर चन्द मिनटों में ही प्रकाश के कारण समूचा कागज़ काला पड़ जाता और चित्र भी मिट जाता।

किन्तु इस समस्या के भी हल होते अधिक समय नहीं लगा। शीघ्र ही ऐसे रासायनिक मसाले ढूँढ़ निकाले गये, जिनमें केमरे से निकालने पर कागज़ डुबा देने से सिल्वर-नाइट्रेट का वह अंश, जिस पर आलोक-रश्मियों ने अपना असर नहीं किया था, घुल जाता। केवल वह अंश कागज़ पर लगा रह जाता, जिस पर आलोक-रश्मियों ने अपना अस्तित्व अंकित कर दिया था। आलोक-रश्मियों के प्रभाव से सिल्वर-नाइट्रेट शुद्ध सिल्वर के रूप में परिणत हो जाता—अतः अब रोशनी में ले जाने पर इस कागज़ पर आलोक-रश्मियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु कागज़ पर बना हुआ चित्र वास्तविक वस्तु का सच्चा चित्र नहीं होता था, क्योंकि वस्तु का वह भाग जो सबसे अधिक आलोकित होता था चित्र में सबसे अधिक काला दीखता। इसका कारण यह था कि इस भाग से आलोक-रश्मियाँ सबसे अधिक मात्रा में आकर कागज़ के सिल्वर-नाइट्रेट को सबसे अधिक काला कर देती थीं। इस विपरीत चित्र को 'निगेटिव' कहते हैं। निगेटिव में आपका सफेद कोट काला दीखता है और सिर के काले बाल सफेद दिखलाई देते हैं। निगेटिव से सच्चा फ़ोटो प्राप्त करने के लिए उसे एक दूसरे कागज़ पर, जिस पर रासायनिक मसाला पुता हुआ होता है, सटाकर रखते हैं। अब इस पर धूप की रोशनी डालने पर कागज़ पर सही फ़ोटो उभड़ आता है। 'हाइपो' नामक रासायनिक घोल में कागज़ का यह फ़ोटो स्थायी बन जाता है।

आरम्भ के दिनों में फ़ोटो उतारने में काफ़ी ख़र्च पड़ता था। एक-एक फ़ोटो के लिए सौ डेढ़ सौ रुपये देने पड़ते थे। अतः धनी लोग ही उन दिनों फ़ोटो उतरवाते थे। साथ ही फ़ोटो उतरवाने में काफ़ी दिक्कत का भी सामना करना पड़ता था। चिलचिलाती धूप में फ़ोटो खिंचवाने के लिए आध-आध घण्टे तक बिना हिले-डुले एकदम निश्चल खड़े रहना पड़ता था। और यदि आसमान में बादल हुए तो चेहरे पर सफेद खड़िया भी लगानी पड़ती, ताकि फ़ोटो में चेहरा साफ़ आवे। फिर भी इस आश्चर्यजनक आविष्कार को देखकर जनसाधारण हैरान थे कि यह कैसी करामात है कि सूर्य-रश्मियाँ केमरे के अन्दर स्वयं अपने आप हमारा चित्र अंकित कर जाती हैं। पेरिस के एक समाचारपत्र ने इस आविष्कार की प्रशंसा में एक बार लिखा था कि 'पेरिस की सड़क के एक फ़ोटो में तो आप सड़क पर गड़ी हुई एक-एक ईंट तक गिन सकते हैं।'

फ़ोटोग्राफ़ी की कला में इधर तीव्र गति से उन्नति हुई है। आजकल जो फ़िल्म और प्लेट केमरे में प्रयुक्त होती हैं, उन पर सिल्वर-ब्रोमाइड और जिलैटिन की एक पतली तह बिठाई रहती है। जिलैटिन में भिन्न-भिन्न रंग डालकर उसे श्वेत प्रकाश के सातों रंगों के लिए चेतनशील बना सकते हैं। अन्य रासायनिक पदार्थों की सहायता से फ़िल्म की ग्रहणशीलता बेहद बढ़ाई जा चुकी है। बढ़िया प्रकार के लेन्स केमरे में लगाकर ऐसी फ़िल्मों पर एक सेकण्ड के लाखवें अंश में होनेवाली घटना भी अंकित की जा सकती है। मोटर, साइकिल या वायुयान पर विद्युत्‌गति से आप भागे जा रहे हैं तो भी फ़ोटोग्राफर बात की बात में आपका फ़ोटो उतार लेता है और आपको इसकी ख़बर तक नहीं होने पाती। इन्फ़ारेड रश्मियों की सहायता से घोर अन्धकार में, जहाँ हाथ को हाथ नहीं सुझाई देता, आसानी के साथ फ़ोटो उतारा जा सकता है। केमरे की सतर्क आँखों में अद्भुत फुर्ती होती है। आँखें भाँप नहीं पातीं, किन्तु केमरा सही चीजों को फ़ौरन् अंकित कर लेता है। दौड़-प्रतियोगिता में इसका निर्णय करना प्रायः कठिन हो जाता है कि प्रथम कौन आया और दूसरा कौन आया। ऐसे काम के लिए अब बढ़िया जाति के केमरे की सहायता लेते हैं। दौड़ समाप्त होने के दो मिनट के अन्दर ही केमरे से धुला-धुलाया फ़ोटो निकल आता है और आप निर्विवाद देख सकते हैं कि कौन आगे था और कौन पीछे।

तीव्र गतिवाले केमरों ने विज्ञान की अनेक गुत्थियों को भी सुलझाने में सहायता पहुँचायी है। उदाहरण के लिए पहले लोगों का विचार था कि बारूद का विस्फोट समूचे ढेर में एक साथ होता है, किन्तु एक सेकण्ड के सहस्रांश में जब कई फ़ोटोग्राफ़ प्रति $\frac{1}{1000}$ सेकण्ड के बाद लिये गये तो उनके निरीक्षण से पता चला कि बारूद या गैस में धड़ाका सर्वत्र तत्काल ही नहीं होता, बल्कि एक भाग से दूसरे भाग में तेज़ी के साथ धड़ाका पहुँचता है। सूक्ष्म-दर्शक यंत्र में केमरा लगाकर क्षुद्र कीटाणुओं का फ़ोटो लेकर उनके बारे में अनेक नई-नई बातें मालूम की गयी हैं। अनन्त अन्तरिक्ष के अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन भी वैज्ञानिकों ने फ़ोटोग्राफ़ी की सहायता से ही किया है।

गोल्फ़ तथा टेनिस के सिद्धहस्त खिलाड़ी किस प्रकार

एक आधुनिक कैमरा (फोटो लेने के यंत्र) की रचना

बल्ले को चलाते हैं, इसकी प्रत्येक हरकत का फोटो प्रति सेकण्ड १०० की गति से लेकर नये खिलाड़ी उनका सफल अनुकरण आज के दिन कर सकते हैं।

पिछले सौ सवा सौ वर्ष के अन्दर फोटोग्राफ़ी ने आशातीत उन्नति की है। प्रारम्भिक दिनों के भारी-भरकम केमरे तथा प्लेट, जिन्हें ढोने के लिए मज़दूरों की आवश्यकता पड़ती थी, अब सुधरते-सुधरते इस योग्य हो गये हैं कि उन्हें आप अपने वास्कट की जेब में घड़ी की भाँति रख सकते हैं। केमरे के अन्दर फिल्म लगाने के लिए अँधेरे कमरे का आश्रय लेने की अब आवश्यकता नहीं—सड़क पर, मैदान में, जहाँ चाहिये वहीं केमरे में अब आप फिल्म भर लीजिए। फिर भी फोटोग्राफी को उन्नति की एक लम्बी मंज़िल अभी तय करना है। अभी भी साधारण केमरे से रंगीन फ़ोटो आप नहीं उतार सकते। पुस्तकों में जो रंगीन फोटो आप छपे देखते हैं, वे वास्तव में प्रेस के अन्दर कृत्रिम ढंग से तैय्यार किये जाते हैं—उनके रंग चीज़ के वास्तविक रंग से पूर्णतया मेल नहीं खाते। अमेरिका की प्रसिद्ध फोटोग्राफी की कम्पनियाँ इस दिशा में विशेष प्रयत्न कर रही हैं। जिस दिन रंगीन फोटो का उतारना साधारण बात हो जायगी, फोटोग्राफ़ी की कला चित्रकारी से भी ऊँची उठ जायगी।

दूरदर्शक में शक्तिशाली केमरा लगाकर आज के दिन अनंत आकाश के दूरस्थ भागों के भी फ़ोटो लिये जा सके हैं। प्रस्तुत चित्र में मगल ग्रह का फ़ोटो है।

आधुनिक फ़ोटोग्राफी ने इन्फ्रारेड एवं अल्ट्रावायलेट रश्मियों तथा एक्स-रे की सहायता से संसार का कितना उपकार किया है, इसका उल्लेख हमें अन्यत्र मिलेगा। विशेष प्रकार के दूरदर्शक यंत्र वाले 'टेलीफोटो लेन्स' लगाकर आधुनिक केमरे से ३०, ४० मील दूर तक की वस्तुओं का फोटो लिया जा सकता है। इन्फ्रारेड रश्मियाँ कुहरे आदि को आसानी से भेद सकती हैं। अतः इन्फ्रारेड रश्मियों तथा टेलीफ़ोटो लेन्स की सहायता से दूरस्थ पर्वतश्रेणियों का स्पष्ट फ़ोटो उतारा जा सकता है, यद्यपि स्वयं हमें कुहरे के कारण वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं।

२. ग्रामोफ़ोन एवं ध्वनि-अंकन

तनिक कल्पना कीजिए कि आज से सौ सवा सौ वर्ष बाद जब लोग वर्त्तमान युग के प्रसिद्ध संगीतज्ञों की कला का रसास्वादन ग्रामोफोन द्वारा कर सकेंगे तो उन्हें कितना आनन्द प्राप्त होगा! ध्वनि-लेखन-कला ने इस असम्भव बात को आज सम्भव बना दिया है।

आधुनिक सभ्य समाज के मनोरंजन के इस अभूतपूर्व साधन—ग्रामोफोन—के आविष्कार का श्रेय अमेरिका के सुप्रसिद्ध आविष्कारक एडिसन को प्राप्त है। यदि वह आविष्कार कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ होता तो आश्चर्य्य नहीं कि हम तानसेन के कण्ठ का सुमधुर गान ठीक उसी प्रकार सुन सकते जैसे स्वयं तानसेन ही हमारे सामने बैठे हुए गा रहे हों! ऐसी स्थिति में तानसेन अतीत के न होकर हमारे लिए आज भी जीवित होते!

अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर संगीत-कला का ज्ञान फैलाने में रेडियो के उपरान्त ग्रामोफोन का ही स्थान सर्वोपरि है। फिर भी इस अभूतपूर्व आविष्कार का विकास पिछले साठ-सत्तर वर्षों के बीच ही हुआ है। इस सिलसिले में ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है, इसका थोड़ा-सा हाल जान लेना आवश्यक है।

ध्वनि 'ध्वनि-उत्पादक' की कम्पन से उत्पन्न होती है। सितार के तार की कम्पन के आघात से वायु में भी कम्पन पैदा होती हैं, जिन्हें हम 'ध्वनि-तरंगों' के नाम से पुकारते हैं। ये ध्वनि-तरंगें जब हमारे कान के पर्दे पर पड़ती हैं तो उस पर्दे में भी ठीक उसी प्रकार की कम्पन होती है, जिस प्रकार

बल्ले को चलाते हैं, इसकी प्रत्येक हरकत का फ़ोटो प्रति सेकण्ड १०० की गति से लेकर नये खिलाड़ी उनका सफल अनुकरण आज के दिन कर सकते हैं।

पिछले सौ सवा सौ वर्ष के अन्दर फ़ोटोग्राफ़ी ने आशातीत उन्नति की है। प्रारम्भिक दिनों के भारी-भरकम केमरे तथा प्लेट, जिन्हें ढोने के लिए मज़दूरों की आवश्यकता पड़ती थी, अब सुधरते-सुधरते इस योग्य हो गये हैं कि उन्हें आप अपने वास्कट की जेब में घड़ी की भाँति रख सकते हैं। केमरे के अन्दर फ़िल्म लगाने के लिए अँधेरे कमरे का आश्रय लेने की अब आवश्यकता नहीं—सड़क पर, मैदान में, जहाँ चाहिये वहीं केमरे में अब आप फ़िल्म भर लीजिए। फिर भी फ़ोटोग्राफी को उन्नति की एक लम्बी मंज़िल अभी तय करना है। अभी भी साधारण केमरे से रंगीन फ़ोटो आप नहीं उतार सकते। पुस्तकों में जो रंगीन फ़ोटो आप छपे देखते हैं, वे वास्तव में प्रेस के अन्दर कृत्रिम ढंग से तैय्यार किये जाते हैं—उनके रंग चीज़ के वास्तविक रंग से पूर्णतया मेल नहीं खाते। अमेरिका की प्रसिद्ध फ़ोटोग्राफी की कम्पनियाँ इस दिशा में विशेष प्रयत्न कर रही हैं।

दूरदर्शक में शक्तिशाली केमरा लगाकर आज के दिन अनन्त आकाश के दूरस्थ भागों के भी फ़ोटो लिये जा सके हैं। प्रस्तुत चित्र में मंगल ग्रह का फ़ोटो है।

जिस दिन रंगीन फोटो का उतारना साधारण बात हो जायगी, फ़ोटोग्राफ़ी की कला चित्रकारी से भी ऊँची उठ जायगी।

आधुनिक फोटोग्राफ़ी ने इन्फ़्रारेड एवं अल्ट्रावायलेट रश्मियों तथा एक्स-रे की सहायता से संसार का कितना उपकार किया है, इसका उल्लेख हमें अन्यत्र मिलेगा। विशेष प्रकार के दूरदर्शक यंत्र वाले 'टेलीफ़ोटो लेन्स' लगाकर आधुनिक केमरे से ३०, ४० मील दूर तक की वस्तुओं का फ़ोटो लिया जा सकता है। इन्फ़्रारेड रश्मियाँ कुहरे आदि को आसानी से भेद सकती हैं। अतः इन्फ़्रारेड रश्मियों तथा टेलीफ़ोटो लेन्स की सहायता से दूरस्थ पर्वतश्रेणियों का स्पष्ट फोटो उतारा जा सकता है, यद्यपि स्वयं हमें कुहरे के कारण वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं।

२. ग्रामोफ़ोन एवं ध्वनि-अंकन

तनिक कल्पना कीजिए कि आज से सौ सवा सौ वर्ष बाद जब लोग वर्तमान युग के प्रसिद्ध संगीतज्ञों की कला का रसास्वादन ग्रामोफोन द्वारा कर सकेंगे तो उन्हें कितना आनन्द प्राप्त होगा! ध्वनि-लेखन-कला ने इस असम्भव बात को आज सम्भव बना दिया है।

आधुनिक सभ्य समाज के मनोरंजन के इस अभूतपूर्व साधन—ग्रामोफ़ोन—के आविष्कार का श्रेय अमेरिका के सुप्रसिद्ध आविष्कारक एडिसन को प्राप्त है। यदि यह आविष्कार कुछ शताब्दियों पूर्व हुआ होता तो आश्चर्य्य नहीं कि हम तानसेन के कण्ठ का सुमधुर गान ठीक उसी प्रकार सुन सकते जैसे स्वयं तानसेन ही हमारे सामने बैठे हुए गा रहे हों। ऐसी स्थिति में तानसेन अतीत के न होकर हमारे लिए आज भी जीवित होते!

अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर संगीत कला का ज्ञान फैलाने में रेडियो के उपरान्त ग्रामोफोन का ही स्थान सर्वोपरि है। फिर भी इस अभूतपूर्व आविष्कार का विकास पिछले साठ-सत्तर वर्षों के बीच ही हुआ है। इस सिलसिले में ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है, इसका थोड़ा-सा हाल जान लेना आवश्यक है।

ध्वनि 'ध्वनि-उत्पादक' की कम्पन से उत्पन्न होती है। सितार के तार की कम्पन के आघात से वायु में भी कम्पन पैदा होती हैं, जिन्हें हम 'ध्वनि-तरंगों' के नाम से पुकारते हैं। ये ध्वनि-तरंगें जब हमारे कान के पर्दे पर पड़ती हैं तो उस पर्दे में भी ठीक उसी प्रकार की कम्पन होती है, जिस प्रकार

बनते हैं। रेकार्ड को समान गति से घुमाने के लिए विद्युत् मोटर काम में लाये जाते हैं। संगीतज्ञ विद्युत् माइक्रोफ़ोन के सामने गाता है—माइक्रोफ़ोन का डायफ़्राम कम्पन करके माइक्रोफ़ोन सर्किट की विद्युत्धारा में उसी के अनुसार चढ़ाव-उतार उत्पन्न करता है। यह विद्युत्धारा अपने चुम्बकीय प्रभाव द्वारा लोहे की सुई का परिचालन करती है, जो घूमते हुए रेकार्ड पर खाँचे डालती है। इस सुई की नोक नीलम या हीरे की बनी होती है, जो जल्दी घिसती नहीं। रेकार्ड की गति का नियंत्रण इस हिसाब से होता है कि उस पर प्रति इंच ८४ खाँचे पड़ सकें।

अब मोम के इस रेकार्ड पर ग्रेफाइट (कोयले का एक विशेष रूप) के बारीक चूर्ण की एक पतली तह फैलाकर उस पर विद्युत्धारा द्वारा ताँबे की एक पतली तह की कलई चढ़ाते हैं। ताँबे की यह परत असल रेकार्ड की उलटी प्रतिलिपि होती है। विद्युत्धारा द्वारा ही ताँबे के उलटे रेकार्ड से चाँदी का सीधा रेकार्ड तैय्यार करते हैं, जिसके खाँचे ठीक असल के अनुसार होते हैं। इससे पुनः निकल का एक उलटा रेकार्ड तैय्यार करते हैं, जिसे ताँबे की बैठक पर लगाकर मज़बूत साँचा बना लेते हैं। अब वल्कनाइट के चिकने सपाट तवे को इस साँचे मे दबाकर असल रेकार्ड की सैकड़ों प्रतियाँ तैय्यार कर लेते हैं। बाज़ार में भेजने के पूर्व अब रेकार्ड के किनारे पर केवल पालिश करना भर बाक़ी रह जाता है।

ग्रामोफ़ोन का महान् आविष्कर्त्ता एडिसन

इस महान् अमेरिकन वैज्ञानिक ने अपने जीवनकाल में एक हज़ार से भी अधिक आविष्कार किए।

ध्वनि-अंकन (रेकार्डिंग) की रीति में जिस प्रकार आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, उसी प्रकार शब्द के उत्पादन की विधियों में भी वर्णनातीत सुधार हुआ है। प्राचीन भौंडे शक्ल के फोनोग्राफ़ की जगह अब सुन्दर डिज़ाइन के हल्के ग्रामोफोन बन गये हैं, जिनमें अलग से भोंपू लगाने का झंझट नहीं है। ध्वनि-परिवर्द्धन के लिए भोंपू का लगाना आवश्यक है, किन्तु भोंपू की शक्ल में सुधार करके उसे ग्रामोफ़ोन के बक्स के अन्दर ही लगा देते हैं। इस्पात की सुइयाँ रेकार्ड के खाँचे में दो-चार फेरा घूमने पर घिसकर मोटी पड़ जाती हैं, अतः वे रेकार्ड को भी क्षति पहुँचाती हैं और उनसे ध्वनि भी अशुद्ध उत्पन्न होती है। इस दोष को दूर करने के लिए हीरे की नोक-वाली सुइयाँ अब प्रायः अच्छे ग्रामोफ़ोन में प्रयुक्त की जाती हैं। बढ़िया जाति के ग्रामोफ़ोन में बक्स में रखे हुए आठ-दस रेकार्ड अपने आप एक के बाद दूसरे दोनों ओर बजते हैं। इस बीच आपको उँगली हिलाने की भी आवश्यकता नहीं। ऐसे ग्रामोफ़ोन में कमानी की जगह विद्युत्-मोटर का प्रयोग होता है, अत बार-बार चाभी भरने का कष्ट भी आपको नहीं उठाना होता। विद्युत्-शक्ति स्वयं रेकार्ड को घुमाती रहती है।

आधुनिक ग्रामोफ़ोन ने रेडियो के आविष्कार का भी पूरा लाभ उठाया है। ग्रामोफोन में रेडियो-पिक-अप लगाकर रेकार्ड का गाना हज़ारों व्यक्तियों के जनसमूह को सुनाया जा सकता है। रेडियो द्वारा ग्रामोफ़ोन के संगीत का ब्राडकास्ट भी किया जाता है और इसमें सन्देह नहीं कि रेकार्ड के ब्राडकास्ट को जनता पसन्द भी ख़ूब करती है।

शिक्षा तथा प्रोपेगेण्डा की दृष्टि से भी ग्रामोफ़ोन कम महत्वपूर्ण नहीं है। विदेशी भाषा के रेकार्डों से अनेक लोगों ने उन भाषाओं का बोलना सीखा है। अवश्य ही इस उद्देश्य से बनाये गये रेकार्ड का सम्पादन सुचारु रूप से विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है।

यह कहना ग़लत न होगा कि एडिसन के इस आविष्कार ने वैज्ञानिकों को ध्वनि की डिब्बाबंदी का अनुपम रहस्य बतलाया। भविष्य के लिए हम आधुनिक युग के आलोकचित्र (फोटोग्राफ) ही नहीं, बल्कि ध्वनि-चित्र भी छोड़ सकेंगे, ताकि वे सही अनुमान लगा सकें कि हमारी भाषा, हमारे भाव-प्रदर्शन तथा हमारे संगीत का रूप-रंग कैसा था।

३. टेलीफ़ोन

आदिकाल से ही मानव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा है कि वह अपने विचारों को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाए। किन्तु उसके कण्ठ में इतना बल नहीं कि वह अपने शब्दों को सौ सवा सौ गज़ से अधिक दूरी तक पहुँचा सके। अधिक से अधिक वह बेचारा किसी मीनार के कँगूरे पर चढ़कर आवाज़ लगा सकता था—किन्तु उसके आगे उसका बस नहीं चलता था। विज्ञान ने आज मनुष्य की इस चिर-संचित अभिलाषा को भी पूरा कर दिखाया है। टेलीफ़ोन के आविष्कार ने समय और दूरी के मान को आश्चर्यजनक रूप से मिटा डाला है। हज़ारों मील की दूरी पर मित्रों से आप टेलीफ़ोन पर आसानी के साथ बातचीत कर सकते हैं, मानों वे आपकी बगल में ही बैठे हों। अटलाण्टिक और पैसिफ़िक महासागर के उस पार भी टेलीफ़ोन आपके शब्दों को पहुँचा देता है और आश्चर्य तो यह है कि यदि आप टेलीफ़ोन में ज़ोर से भी बोलें तो भी सामने बैठे हुए व्यक्ति आपके शब्दों को जितनी देर में सुन पाएँगे, उससे कहीं जल्दी हज़ारों मील की दूरी पर बैठा हुआ आपका मित्र टेलीफोन द्वारा आपकी बातें सुन लेता है। टेलीफ़ोन में शब्द विद्युत्-तरंगों द्वारा भेजा जाता है, और विद्युत् की गति ध्वनि-तरंगों की गति से लाख गुना अधिक है। टेलीफ़ोन ने सचमुच हमारे शब्दों में मानों पंख लगा दिये हैं।

सभ्य संसार के लिए टेलीफोन आज एक आवश्यक वस्तु हो रही है। न्यूयार्क में बैठे-बैठे कुछ ही मिनटों में टेलीफोन की मदद से लन्दन और पेरिस की दूकानों से सौदा पटा लिया जाता है। टेलीफोन के आविष्कार की कहानी भी बड़ी मनोरंजक है। किन्तु इस अनोखी कहानी को समझने के पहले ध्वनि के बारे में भी थोड़ी जानकारी

टेलीफ़ोन 'रिसिवर' और 'ट्रान्समीटर' (माइकोफ़ोन) यंत्र की रचना

क—'रिसिवर' के भीतर के विद्युत्-चुंबक; ख—रिसिवर का 'डायफ्राम' या संवेदनशील परदा; ग—ट्रान्समीटर के भीतर के फुलफुले कार्बन-कण; घ—ट्रान्समीटर का डायफ्राम; च—'स्विच' (उठी दशा में); छ—एक्सचैंज से संपर्क स्थापित हो गया है; ज—'डायल'; झ—एक्सचैंज को जानेवाला विद्युत्-तार ; ट—घंटी।

लंदन का टेलीफ़ोन-एक्सचेंज, जहाँ से विदेशों से टेलीफ़ोन-संपर्क स्थापित किया जाता है

समुद्र-पार के देशों से टेलीफ़ोन का संबंध स्थापित करने के लिए समुद्र के अंदर केबुल तार बिछाए गए हैं। अटलांटिक तथा पैसिफ़िक पार के देशों से भी आज टेलीफ़ोन द्वारा बातचीत की जाती है, किन्तु महासागरों के आरपार के इन देशों को टेलीफ़ोन-संदेश रेडियो द्वारा भेजा जाता है।

आपके टेलीफ़ोन में प्रवाहित नहीं होती। जिस समय टेलीफ़ोन का रिसीवर आप हुक पर टाँग देते हैं, एक खटके द्वारा विद्युत्धारा का कनेक्शन टूट जाता है। हुक पर से रिसीवर हटाते ही खटका फिर गिरता है और तुरन्त ही विद्युत्धारा आपके माइक्रोफोन में प्रवाहित होने लगती है। टेलीफ़ोन के साथ लगी हुई घन्टी उस समय बजती है, जब कोई आपसे टेलीफोन मिलाता है। उस समय यह घण्टी आपको सूचना देती है कि आप झट टेलीफ़ोन पर आ जायँ।

टेलीफोन में टेलीग्राफ़ की भाँति केवल एक ही तार से काम नहीं चलता। टेलीग्राफ में विद्युत्धारा तार में से होकर भेजी जाती है, किन्तु सर्किट पूरा करने के लिए इसे ज़मीन में से होकर वापस आना पड़ता है। टेलीफोन में भी पैसे की बचत के लिए प्रारम्भ में ऐसा ही करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु फल सन्तोषजनक न निकला। क्योंकि माइक्रोफ़ोन की विद्युत्धारा में चढ़ाव-उतार की मात्रा इतनी सूक्ष्म होती है कि ज़मीन में इधर-उधर से आनेवाली विद्युत्धाराओं के प्रभाव से ये नितान्त अस्पष्ट हो जाती है। फलस्वरूप टेलीफ़ोन पर स्पष्ट बातचीत करने में बाधा पड़ती है। इसी कारण प्रत्येक दो टेलीफ़ोन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दो तार लगाये गये। एक विद्युत्धारा ले आने के लिए, दूसरा विद्युत् को वापस ले जाने के लिए। पहले दो व्यक्ति, जो एक दूसरे से बातचीत करना चाहते थे, अपने-अपने टेलीफ़ोन को एक-दूसरे से दो तार द्वारा कनेक्ट कर देते थे। अवश्य ही यह तरीका सुविधाजनक न था। अब नगर के तमाम टेलीफ़ोनों का सम्बन्ध केन्द्र के एक्सचेंज-हाउस से रहता है। आप किसी से बातचीत करना चाहते हैं, तो एक्सचेंज-हाउस को ख़बर दीजिए। एक्सचेंज आपके टेलीफ़ोन का सम्बन्ध फ़ौरन् उस व्यक्ति के टेलीफोन से कर देगा।

बड़े-बड़े शहरों में सैकड़ों आपरेटर एक्सचेंज-हाउस में इस काम पर चौबीसों घण्टे नियुक्त रहते हैं कि ग्राहकों के टेलीफ़ोन उनकी इच्छानुसार उपयुक्त नम्बर से मिलायें। किन्तु व्यवसाय तथा सभ्यता की प्रगति की आवश्यकता

पूरी करने के लिए एक्सचेंज हाउस में आपरेटर के स्थान पर अब स्वयंक्रिय मशीनों से भी काम लिया जा रहा है। माइक्रोफ़ोन उठाकर अब "हेलो, नम्बर ५२४८" बोलने की आवश्यकता नहीं। आटोमैटिक टेलीफ़ोन के स्टैण्ड में एक 'डायल' लगा रहता है। डायल पर एक से लेकर शून्य तक अंक बने रहते हैं। इसी डायल को घुमाकर आप अपने टेलीफ़ोन का 'कनेक्शन' किसी भी नम्बर से कर सकते हैं। मान लीजिए आप ५२४८ से बात करना चाहते हैं। आप डायल के अंक ५ के छेद में उँगली डालते हैं और दाहिनी ओर से उसे घुमाकर नीचे वाले स्टॉप तक लाते हैं। बस आपका टेलीफ़ोन ५०-०० के तारों वाले भिन्न से जुड़ गया। अब २ को घुमाते हैं, फिर ४ को और तब ८ को। इस प्रकार नं० ५२४८ से आपका कनेक्शन हो गया। यदि वह नम्बर खाली नहीं है तो 'भनभनाहट' की आवाज़ आने लगती है। [illegible] पर से टेलीफ़ोन उठाते ही एक्सचेंज-आफ़िस में आपके [illegible] का नम्बर एक रजिस्टर में हो जाता है। [illegible] घुमाने [illegible] भी सुनता है और जिस नम्बर को [illegible] चाहते हैं, [illegible] [illegible] टेलीफ़ोन को [illegible] देता है। [illegible] आटोमैटिक [illegible] की मशीनों [illegible] [illegible] हैं। [illegible] [illegible] हैं, और [illegible] [illegible] [illegible] है।

[illegible] के लिए [illegible] के अन्दर [illegible] तार बिछाए गए हैं। अटलांटिक तथा पैसिफ़िक पार के देशों से भी आप टेलीफ़ोन द्वारा बातचीत कर सकते हैं, किन्तु इस दशा में ज़मीन पर तो टेलीफ़ोन के तार बिछाए गए हैं और उसके उपरान्त इन दोनों महासागरों के आरपार टेलीफ़ोन का संदेश रेडियो द्वारा भेजा जाता है। रेडियो के संबंध में आश्चर्यजनक बातें इस ग्रन्थ में बाद को आपको बताई जायँगी।

९. टॉकी-सिनेमा या सवाक् चित्रपट

अब तो छोटे छोटे कस्बों में भी सवाक् चित्रपट देखने तथा सुनने को मिलते हैं, किन्तु बीस-बाईस वर्ष पहले भारत के लिए बोलता हुआ सिनेमा एक अनोखी वस्तु थी। १९२९ में बोलता हुआ सिनेमा देखने के लिए लोग भारत के कोने-कोने से बम्बई-कलकत्ते आया करते थे। आधुनिक सवाक् चित्रपट का इतिहास कुछ अधिक पुराना नहीं है। सच तो यह है कि बच्चों के एक खिलौने में ही उत्तरोत्तर सुधार करके आविष्कारकर्ताओं ने आधुनिक चलता-फिरता चित्रपट तैयार कर लिया है। संसार की सर्वप्रथम टॉकी फ़िल्म १९२८ में तैयार हुई थी।

सर जॉन हर्शेल द्वारा आविष्कृत इस प्रकार के एक खिलौने के सिद्धान्त पर ही सिनेमा का आविष्कार हुआ है। इसमें एक गोल टुकड़े पर एक ओर किसी जानवर का चित्र बनाइए (ऊपर का चित्र) और दूसरी ओर पिंजड़े का (बीच का चित्र)। अब धागों को दो धागे बाँधकर तेज़ी से घुमाइए तो ऐसा मालूम होगा मानो वह जानवर पिंजड़े में बंद है। (निचला चित्र)।

सिनेमा की कार्य-प्रणाली समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम मनुष्य की आँख की एक विचित्रता के बारे में थोड़ी जानकारी प्राप्त करें। यदि हम किसी वस्तु को थोड़ी देर तक देखें और फिर आँखें मूँद लें तो [illegible] उस वस्तु का [illegible] [illegible] नहीं [illegible] जब किसी [illegible] हमारी आँखों के [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] कि [illegible] [illegible]

बना रहता है। आँखों के इस गुण को दृष्टिस्थिरता कहते हैं।

सौ वर्ष पहले प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जॉन हर्शल ने दृष्टिस्थिरता के आधार पर एक चित्ताकर्षक खिलौना बनाया था। दफ़्ती के एक गोल टुकड़े के एक ओर चिड़िया का चित्र बनाया गया था, और दूसरी ओर पिंजड़े का। दफ़्ती के दोनों सिरों पर धागे के टुकड़े बँधे थे, जिनकी सहायता से दफ़्ती को आँखों के सामने तीव्र गति से घुमाते थे। फलस्वरूप चिड़िया का चित्र दृष्टिपटल से मिटने न पाता कि पिंजड़े का चित्र दृष्टिपटल पर आ जाता। देखनेवालों को ऐसा जान पड़ता मानों वह पक्षी पिंजड़े के अन्दर बन्द है।

इस अनूठे खिलौने का महत्त्व वैज्ञानिकों की दृष्टि से छिपा हुआ न रह सका। उन्होंने इस खिलौने के आधार पर चलती हुई तस्वीरों का चित्रपट बनाया। ऐक्टर की भिन्न-भिन्न दशाओं के चित्र रँगकर तैय्यार कर लिये जाते। फिर एक गोलाकार चक्के के चारों ओर क्रम से इन चित्रों को चिपका देते। चक्के को तेज़ी से घुमाते और एक सूराख़ में से चित्रों को देखते। ये चित्र एक के बाद दूसरे आँख के सामने आते, और दृष्टिस्थिरता के कारण उनका पारस्परिक तारतम्य टूटने न पाता। अतः दर्शकों को ऐक्टर एक विशेष प्रकार की हरकत करता हुआ दिखलाई देता।

आजकल की सिनेमा-मशीनें भी लगभग इसी सिद्धान्त पर काम करती हैं। अंतर यह है कि हाथ से रँगे चित्रों के स्थान पर अब फोटो का प्रयोग किया जाता है। हाथ से चित्र तैय्यार करने में ख़र्च अधिक बैठता था, इसलिए उन दिनों के सिनेमा का आनन्द केवल धनिक ही उठा सकते थे।

सिनेमा का आदि पूर्वज

यह यंत्र 'फेन्टेस्कोप' कहलाता था और इसमें ऐक्टर की हरकतों की भिन्न-भिन्न दशाओं के चित्र रँगकर एक गोलाकार चक्के के चारों ओर चिपका दिए जाते थे। चक्का तेज़ी से घुमाया जाता और उसमें बने हुए एक सूराख़ से उसके घूमते हुए चित्रों का प्रतिबिंब सामने लगे हुए एक गोल शीशे में देखा जाता। फलतः दर्शक को चित्रित ऐक्टर की प्रतिमूर्त्ति की हरकतें एक ही तारतम्य में होती दिखाई देतीं।

सिनेमा के लिए फ़िल्म का सर्वप्रथम उपयोग करनेवाला व्यक्ति ग्रामोफोन का प्रसिद्ध आविष्कारक एडिसन था। १८९३ में शिकागो के अन्तर्राष्ट्रीय मेले में एडिसन ने अपने 'किनेटोस्कोप' का प्रदर्शन किया था। इस मशीन में बने एक सूराख़ पर आँख लगाकर दर्शक बैठ जाता और मशीन के भीतर फ़िल्म तेज़ी से घुमाई जाती। सूराख़ के सामने ही एक लेन्स लगा था, जिससे दर्शक को फ़िल्म के चित्र बड़े आकार में दिखलाई दें। इस लेन्स और फ़िल्म के बीच एक 'शटर' था, जो फ़िल्म के प्रत्येक फ़ोटो के बाद स्वयं ही एक बार खुलता तथा बन्द होता, ताकि प्रत्येक चित्र अलग-अलग आँखों के सामने आए। इस 'किनेटोस्कोप' में तीव्र प्रकाश डालने तथा फ़िल्म को घुमाने के लिए विद्युत्-शक्ति का प्रयोग भी एडिसन ने ही किया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अब तक फ़िल्म के चित्रों को परिवर्द्धित आकार में पर्दे पर दिखलाने के लिए यंत्र नहीं बन पाये थे। साथ ही यह जानकर भी आपको आश्चर्य होगा कि 'किनेटोस्कोप' की ४१ फ़ीट लम्बी फ़िल्म दर्शकों का केवल आधे मिनट तक ही मनोरंजन कर पाती थी!

तदुपरान्त चित्रों को परदे पर दिखलाने के उद्योग में मैजिक लैन्टर्न तथा आधुनिक 'सिनेमा प्रोजेक्टर' का प्रादु-

(ऊपर) एक सवाक् फिल्म कैमरा। (नीचे) अमेरिका के एक फिल्म-स्टूडियो की विशाल रंगभूमि का दृश्य।
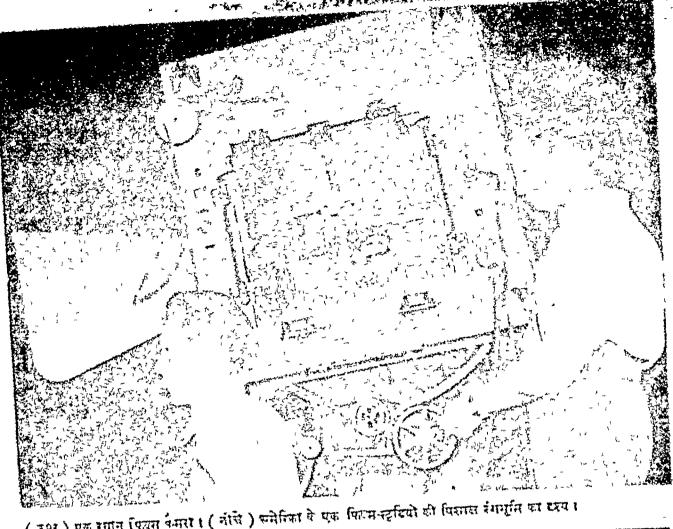
(ऊपर) सिनेमा के चित्र खींचने का एक कैमरा। ऊपर जो गोलाकार डिब्बे जैसे लगे हैं उन्हीं में से एक में संवेदनशील कोरी फिल्म रील की तरह लिपटी रहती है। जब कैमरा काम करने लगता है तब यह फिल्म खुलती जाती है और लैंस के आगे से गुज़रती हुई चित्रित होकर बाजू के दूसरे गोल डिब्बे में लिपटती जाती है। (दाहिनी ओर) वाल्ट डिस्ने के संसारप्रसिद्ध 'मिकी माउज़' नामक कार्टून फ़िल्म का एक अंश। ऐसी फ़िल्मों में एक विशिष्ट हलचल या क्रिया को दिखाने के लिए चित्रकारों को थोड़ा-थोड़ा परिवर्त्तन करते हुए सैकड़ों-हज़ारों चित्र हाथ से बनाने पड़ते हैं, जिनको कि एक विशिष्ट क्रम और गति से परिचालित करके तब कैमरा द्वारा उनका फ़ोटो ले लिया जाता है। आसपास के हाशिये के काले निशान ध्वनि-उत्पादन करनेवाली शब्द-रेखा के चिह्न हैं।
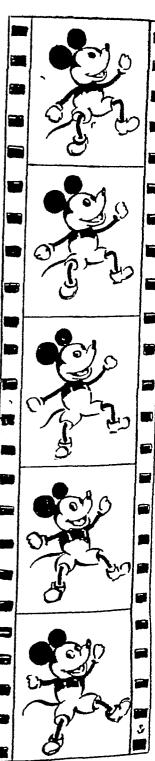
और हुआ। प्रोजेक्टर में पहले तो फ़िल्म को हाथ से घुमाना पड़ता था, किन्तु बाद में विद्युत्-मोटर से यह काम लिया जाने लगा।

किन्तु मूक चित्रपट का गूँगापन सबको खलता था। इस भारी कमी को दूर करने के लिए स्वभावतः पहले ग्रामोफ़ोन रेकार्ड का आश्रय लिया गया। फ़िल्म के साथ-साथ ऐक्टरों की बातचीत सुनाने के लिए ग्रामोफ़ोन रेकार्ड बनाये गये, किन्तु इन प्रयोगों में ऐक्टरों की गति तथा उनके शब्दों के बीच सामञ्जस्य बनाये रखने में बड़ी अड़चन पड़ती, क्योंकि फ़िल्म तथा रेकार्ड दोनों को समान गति से घुमाने में दिक़्क़त होती। फिर एक रेकार्ड अधिक से अधिक छः-सात मिनट तक ही बज सकता है, जब कि फ़िल्म की एक रील १५ मिनट में ख़त्म होती है। अतः अकेली एक रील के दौरान में भी रेकार्ड को बदलना पड़ता था, जिससे बातचीत का तारतम्य टूट जाता।

अतः मूक चित्रपट को वाणी प्रदान के लिए विद्युत्-शक्ति की शरण लेना पड़ी। बोलते चित्रपट में ऐक्टर के शब्द ग्रामोफ़ोन की भाँति नहीं सुनते हैं, वरन् उनकी प्रतिलिपि ही नहीं प्रकट होती है। एक शब्द में हम यह [illegible] कह सकते हैं कि, जिस प्रकार [illegible] चित्रों का केवल फ़ोटो देखते हैं, उसी प्रकार यहाँ पर ऐक्टरों के शब्दों का भी मानो फ़ोटो ही लिया जाता है!

ऐक्टर के शब्द [illegible] माइक्रोफ़ोन द्वारा पहले विद्युत्-[illegible] में परिवर्तित करते हैं। विद्युत्-धारा के [illegible] की सहायता से एक [illegible] ([illegible] किरणें) [illegible] कर सकता है। [illegible] प्रकाश की किरणें [illegible] के हाशिये पर [illegible] है। [illegible]

सिनेमा के आविष्कारक एडीसन का प्रसिद्ध 'किनेटोस्कोप' यंत्र

यह यंत्र ही आधुनिक सिनेमा का यथार्थ अग्रज कहा जा सकता है। इस मशीन में बने एक सूराख़ पर आँख लगाकर दर्शक देख जाता और उसके भीतर अनेक [illegible] फ़ोटो की एक फ़िल्म लगातार तेज़ी के साथ घुमाई जाती। सूराख़ के सामने एक लेन्स लगा रहता, जिससे चित्र बड़े दिखाई पड़ते थे। फ़िल्म को प्रकाशित करने तथा उसे घुमाने के लिए विद्युत्-शक्ति का प्रयोग किया जाता था।

धारियों का फ़ोटो उतर आता है। तदुपरान्त मूक चित्र-वाले फ़िल्म के हाशिये पर, जो इसी काम के लिए खाली रक्खा जाता है, उन्हीं शब्द-रेखाओं के पुनः फ़ोटो उतार लेते हैं। शब्द-फ़िल्म को चित्र-फ़िल्म पर चढ़ाते समय बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है ताकि कहीं ऐसा न हो कि फ़ोटो में दिखाई कोई और व्यक्ति देता हो और शब्द किसी और व्यक्ति के सुनाई देते हों!

अब इस फ़िल्म से प्रोजेक्टर मशीन में फिर शब्द उत्पन्न करने के लिए पहले एक फ़ोटो-एलेक्ट्रिक सेल पर प्रकाश की किरणें केन्द्रित की जाती हैं। लैम्प और सेल के बीच से फ़िल्म का हाशिया गुज़रता है। फ़िल्म की शब्द-रेखाओं से छनकर किरणें फ़ोटो-एलेक्ट्रिक-सेल पर पड़ती हैं। अतः सेल पर पड़नेवाली रोशनी भी कभी मन्द कभी तेज़ होती है। फ़ोटो-एलेक्ट्रिक-सेल का यह गुण है कि प्रकाश की किरणें जब उस पर पड़ती हैं तो उसके अन्दर विद्युत्धारा उत्पन्न होती है। प्रकाश की किरणों की तीव्रता के अनुपात से इस विद्युत्-धारा में भी माइक्रोफ़ोन की विद्युत्धारा जैसा चढ़ाव-उतार मौजूद रहता है। अब इस विद्युत्धारा को तार द्वारा सिनेमा के पर्दे के पीछे रखे हुए 'लाउड स्पीकरों' में ले जाते हैं, जो ठीक-ठीक टेलीफ़ोन के रिसीवर के सिद्धान्त पर काम करता है। इस लाउड स्पीकर से ऐक्टरों की आवाज़ थियेटर में बैठे हुए दर्शकों को सुनाई पड़ती है।

सवाक्चित्रों में शब्दों का [illegible] पर [illegible] अभी [illegible] हुआ। [illegible] रंगीन फ़िल्म [illegible] लगे हैं। [illegible] के [illegible] है। [illegible] किरणों [illegible] इस [illegible]

के बड़े फ़ोटो भिन्न-भिन्न रंग के शीशों में से लेकर लिये जाते हैं। 'प्रोजेक्टर' में भी साधारण फ़िल्मों की अपेक्षा तेज़ रोशनीवाले बल्ब लगाने पड़ते हैं। रंगीन फ़िल्मों के निर्माण के क्षेत्र में अभी बहुत-कुछ काम अधूरा पड़ा हुआ है।

चलचित्रों में वास्तविकता का पुट लाने के लिए उभरे हुए चित्रों के दिखलाने का भी आयोजन किया जा रहा है। साधारण टॉकी में चिपटी तसवीरें ही दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि ये चित्र समतल पर्दे पर ही दिखलाए जा सकते हैं। अब चित्रों में मुटाई का समावेश करके फ़िल्म-जगत् के आविष्कारकों ने निस्सन्देह हुनर का काम कर दिखलाया है।

शरीरविज्ञान हमें बताता है कि वस्तुओं की दूरी तथा उनकी मुटाई का सही अन्दाज़ लगाने के लिए दोनों आँखों का प्रयोग करना आवश्यक है। हमारी दोनों आँखों में एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न चित्र बनते हैं, जो दृष्टि-पटल पर ठीक एक दूसरे के ऊपर पड़ते हैं, तभी हमें उस वस्तु की मुटाई का भान हो पाता है। उभड़े हुए सिनेमा-चित्रों के लिए भी इसी सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है। एक ही कैमरे में दो लेन्स लगे होते हैं, जैसे मनुष्य की दो आँखें। कैमरे के भीतर प्रत्येक लेन्स के पीछे एक-एक फ़िल्म लगी होती है। इनमें से प्रत्येक पर फ़िल्म के चित्र अलग-अलग अंकित हो जाते हैं। अब एक फ़िल्म को लाल रंग में और दूसरी को हरे रंग में रँग देते हैं। पर्दे पर दोनों फ़िल्मों के चित्र एक ही साथ एक दूसरे के ऊपर पड़ते हैं। ऐसी फ़िल्म दिखाने के लिए दर्शकों को विशेष प्रकार के चश्मे दिये जाते हैं, जिनमें सेलूलाइड की झिल्लियाँ लगी रहती हैं—एक लाल रंग की और दूसरी हरे रंग की। अब एक आँख केवल लाल रंगवाली फ़िल्म के चित्र देखती है और दूसरी आँख को केवल हरे रंगवाली फ़िल्म के चित्र दिखाई देते हैं। फलस्वरूप प्रत्येक दर्शक को पर्दे पर के चित्र उभड़े हुए जान पड़ते हैं, मानों सचमुच थियेटर के स्टेज पर नाटक खेला जा रहा हो।

टॉकी में वास्तविकता का पुट लाने के लिए सुगंधि का भी प्रयोग किया जाता है। पर्दे पर यदि कोई फ़ैशनेबुल व्यक्ति इत्र लगा रहा है तो ठीक उसी क्षण सिनेमाहाल की छत से नन्हे-नन्हे फौव्वारों के रास्ते उसी प्रकार की सुगंधिवाला इत्र दर्शकों पर छिड़क दिया जाता है, जिससे वे अनुभव करने लगते हैं कि वे भी उसी कमरे में बैठे हुए हैं, जहाँ पर वह ऐक्टर बैठा हुआ इत्र लगा रहा है।
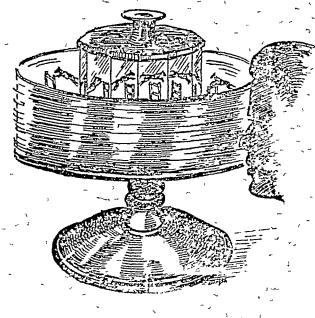
सिनेमा के विकास के आरंभिक दिनों का अन्य एक यंत्र—प्रेक्सिनोस्कोप

इस यंत्र में बीच में घूमते हुए एक सिलिंडर में कई एक शीशे लगे रहते थे। जब यह सिलिंडर तेज़ी से घुमाया जाता तो देखनेवाले को अपने सामने पड़नेवाले शीशे में यंत्र की भीतरी दीवार पर लगाये गये कुछ चित्रों का प्रतिबिंब एक ही तारतम्य में इस प्रकार दिखाई देने लगता था मानों वे सजीव होकर हरकत करने लगे हों!

कार्टूनों का भी हमारे सामाजिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। वाल्ट डिस्ने ने इस क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त की है। उसके 'मिकी माउस' ने संसार के कोने-कोने में हज़ारों-लाखों दर्शकों का मनोरंजन किया है। हाथ से तैय्यार किये गये रंग-बिरंगे चित्रों की मदद से ये कार्टून फ़िल्में तैय्यार की जाती हैं। ये चित्र बड़े-बड़े कलाकारों की कृतियों को भी मात करते हैं। वाल्ट डिस्ने की कार्टून फ़िल्मों को जनता ने इतना अधिक पसंद किया कि अब उसने कार्टून चित्रों की ही कई एक पूरी फ़िल्में तैय्यार की हैं। ऐसी एक फ़िल्म की तैय्यारी में पूरे तीन वर्ष लगे थे और ५७० कलाकारों ने अनवरत जुटकर उसके चित्रों के निर्माण में भाग लिया था। कहते हैं, इस अकेली फ़िल्म के लिए कुल ढाई लाख चित्र हाथ से बनाने पड़े। इस फ़िल्म के तैय्यार करने में लगभग १६ लाख डालर (अर्थात् लगभग पौन करोड़ रुपये) ख़र्च हुए थे। पेंसिल तथा तूलिका से बने इन चित्रों में मनुष्य-सुलभ सजीवता देखने को मिलती है। परन्तु ऐसे कार्टून-चित्र अभी विलायतों में ही बनते हैं, हमारे यहाँ नहीं।

श्रेय प्राप्त है। उन दिनों उजाड़ और ऊसर प्रदेशों को छोड़कर लोग प्रायः नदियों के किनारे ही बसते थे, जहाँ की उर्वरा भूमि उनको प्रचुर भोजन-सामग्री दे सकती थी, चारे और जल की प्रचुरता के कारण वे वहाँ अपने पशुओं को आसानी से पाल सकते थे। इन सुविधाओं के मिलने पर उनका सांस्कृतिक विकास भी बड़ी तेज़ी से होता था, जिससे कालान्तर में एक नवीन मौलिक सभ्यता का निर्माण हो जाता था। उसी पुरातन युग में सिंधु नदी के तट पर आज के इस मोहें-जोदड़ो नामक स्थान में कोई एक अज्ञात नगर बसा हुआ था। सिन्धी भाषा में 'मोहेंजोदड़ो' या 'मुहेंजोडेरो' का अर्थ होता है 'मृतकों का टीला'। कहते हैं, पहले इस स्थान पर कई पुराने टीले खड़े थे और लगभग २६६ एकड़ भूमि पर असंख्य ईंटों के ढेर, मिट्टी के ढूह और घास-फूस आदि का ही बोलबाला था। इस प्रकार शताब्दियों तक इस विध्वस्त पुरातन नगर के निष्प्राण कंकाल पर उगी हुई झाड़ियों में वन्य पशुओं और कीड़े-मकोड़ों ने ही अपना आवासस्थल बनाया। इन मूक टीलों के ऊपर न जाने कितने नदी-नाले फूटकर बह निकले होंगे और न जाने कितने वर्ष तक यह स्थान सुनसान और निर्जन पड़ा रहा होगा। तब १६२२ ई० में इस स्थान पर स्थित एक कुषाण-कालीन स्तूप और विहार का अन्वेषण करते समय स्वर्गीय श्री राखालदास बैनर्जी को खुदाई में अचानक प्रागैतिहासिक युग की कुछ मुद्राएँ मिलीं, जिससे उत्सुकतावश उन्होंने खुदाई का काम और भी अधिक तत्परता से करना शुरू किया और स्तूप के पूर्वीय भाग तथा पार्श्व के दो टीलों को उन्होंने पूर्णतया खुदवा डाला। इससे स्तूप की अत्यधिक प्राचीनता का पता चला और फलतः शीघ्र ही भारतीय पुरातत्व-विभाग का ध्यान इस ओर और भी अधिक आकर्षित हुआ। उसी के प्रयत्न से अंततः यहाँ प्रचुर परिमाण में अत्यधिक मूल्यवान् प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई, जिसका कि उल्लेख हम आगे करेंगे। साथ ही इस बात का भी पता चला कि यहाँ एक बौद्ध स्तूप और विहार भी स्थापित था, जिनमें प्राप्त मुद्राओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दोनों इमारतें कुषाणवंशीय नरेश वासुदेव के समय में मौजूद थीं। यहाँ पाँचवीं या छठी शताब्दी तक के सिक्के पाये गये हैं।

मोहेंजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त एक मृत्तिका-पात्र

सुघड़ बनावट और ऊपरी चित्रकारी पर ध्यान दीजिये।

मोहेंजोदड़ो की जो इमारतें और दीवालें खुदाई के बाद निकली हैं, वे भारत के अन्य भूगर्भस्थित नगरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित दशा में पाई गई हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि इस प्राचीन नगर की निर्माणपद्धति मिस्र और बेबीलोन की पद्धतियों से ऊँची है। यहाँ से प्राप्त सामग्री को देखने पर पता चलता है कि यह नगर निश्चय ही अपने उत्थान काल में काफ़ी समृद्धिशाली रहा होगा। पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों के जो चित्र यहाँ से प्राप्त मुद्राओं पर अंकित मिले हैं, उनसे यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ की भूमि उर्वरा थी तथा जलवायु स्वास्थ्यप्रद। साथ ही इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों की बाढ़ से कई बार यह नगर उजड़ा और बसा एवं यहाँ अधिक समय तक कोई राजधानी न रही।

यहाँ अनायास ही हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि सिंधु-घाटी का यह वैभवशाली नगर किन कारणों से एकाएक अंधकार में विलीन हो गया? सम्भवतः किसी बाहरी शत्रु ने इसे बर्बरता से नष्ट-भ्रष्ट नहीं किया, क्योंकि इसकी स्थिति भारत के अन्य नगरों से सर्वथा भिन्न थी। हमारी धारणा में प्रकृति के ही द्वारा इसका विनाश होना अधिक सम्भव है। जलवायु में असाधारण परिवर्त्तन तथा नदियों की बाढ़

होता है कि यहाँ के निवासी कपास की खेती करते और सूती वस्त्र बुन लेते थे। सूत के कपड़े में लिपटी हुई एक कलसी सन् १९२६ की खुदाई में निकली है। छाल के रेशों के बने वस्त्रखण्ड भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ पहनावे का कोई ख़ास वस्त्र नहीं मिला। दो-चार टूटी-फूटी मूर्त्तियों और खिलौनों की वेशभूषा से ही यहाँ के निवासियों के पहनावे का कुछ-कुछ पता चलता है। कुछ नारी-मूर्त्तियों पर पंखे के आकार का शिरोवस्त्र दिखाई देता है। कुछ के सिर के दोनों ओर प्याले जैसी बनावट मिलती है, जो सम्भवतः दीपक का काम देती होंगी। मातृदेवी की जो मूर्त्तियाँ यहाँ मिली हैं, वे केवल एक पटका पहिने हैं तथा उनके शरीर का शेष भाग सर्वथा नग्न है। पुरुष प्रायः कपड़े को दुशाले की तरह शरीर पर लपेट लिया करते थे। यहाँ कुछ बर्त्तनों में रंग जैसा पदार्थ भी रखा हुआ मिला है, जिससे अनुमान किया जाता है कि यहाँ के लोग अपने कपड़ों को रँगते भी थे। एक मिट्टी की मूर्त्ति, जो किसी स्त्री की ज्ञात होती है, कंबल जैसा वस्त्र शरीर पर लपेटे हुए है। यहाँ के रहनेवाले अपने केशों का भी शृंगार करते थे। उनके केश प्रायः पीछे की ओर जूड़े या चोटी की आकृति में गुँथे रहते थे। कुछ मूर्त्तियों के बाल कटे हुए दिखाई देते हैं। बालों के बाँधने के लिए फ़ीते का प्रचार था, जो सूत के या सोने के बनते थे। खिलौनों और मूर्त्तियों के देखने से ज्ञात होता है कि पुरुष छोटी दाढ़ियाँ रखते थे, मगर उनकी ऊपर की मूछें साफ़ रहती थीं, कुछ खिलौनों के सिर मुँड़े हुए हैं। यहाँ उस्तरों के आकार के कुछ औज़ार भी पाए गए हैं। कुछ सुइयाँ भी मिली हैं और तार के बने सूजे भी दिखाई पड़े हैं। तीन सुइयाँ सोने की बनी हुई पाई गई हैं, जिन पर जंग लग गई है। ताँबे के बटन और मिट्टी तथा विभिन्न धातुओं के आभूषण भी खुदाई में निकले हैं, जिनकी बनावट बड़ी विचित्र है। आभूषणों में कड़े, हँसुलियाँ, मालाएँ, करधनी, बाजूबंद आदि का उस युग में काफ़ी व्यवहार होता था। ताँबे और चाँदी के कर्णफूल तथा अँगूठियाँ भी पाई गई हैं, पर नाक और कान के ज़ेवर यहाँ नहीं मिले।

मोहेंजोदड़ो में प्राप्त मुद्राओं के कुछ नमूने
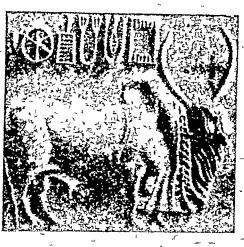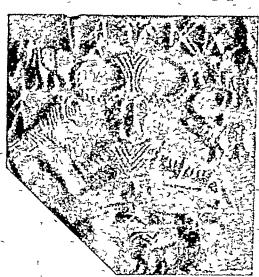
इन मुद्राओं पर चित्रों के साथ-साथ एक रहस्यपूर्ण संकेत-लिपि में अक्षर भी अंकित हैं।

मोहंजोदड़ो के खंडहरों में कुएँ बहुतायत से पाये गये हैं। यहाँ जो खिलौने निकले हैं, उनमें बैल, हाथी, कल्पित पशु-पक्षी, सीटियाँ आदि चित्रित हैं। ताँबे और मिट्टी के रथ भी इन खिलौनों के साथ पाये गये हैं। मिट्टी की एक मोमबत्ती तथा शमादान भी मिला है। धनुषबाण, गुलेल, गोलियाँ, भालों के फल, गदाएँ, तलवारें और कटारें तथा मछली पकड़ने के काँटे, जो धातुओं तथा पत्थरों के बने हैं, प्रचुरता से प्राप्त हुए हैं। सिल-लोढ़े और बढ़ईगीरी के औज़ार भी निकले हैं। ये औज़ार पीतल या ताँबे के हैं। इन्हीं धातुओं की बनी कीलें, छेनियाँ और चाकू भी बाद में प्राप्त हुए हैं। हाथीदाँत निर्मित चौपड़, पाँसे और शतरंज जैसे खेल की गोटें भी मिली हैं। एक तावीज़ भी पाया गया है। मुद्राएँ यहाँ बहुत मिली हैं, परन्तु उनकी छाप केवल दो-चार मृतिकापात्रों पर ही दिखाई देती हैं। इन मुद्राओं के ऊपर प्रायः पशुचित्र ही अंकित पाये गये हैं। पहले ये मुद्राएँ सफ़ाई के साथ किसी औज़ार से काटी जाती थीं, फिर छेनी से उन पर चित्र बनाकर पालिश की जाती थी। तब ये आग में पकाई जाती थीं। गरम होने पर ये श्वेत रंग की हो जाती थीं। इनका वास्तविक रंग सम्भवतः नीला था, क्योंकि कुछ टूटी हुई मुद्राओं के भीतर का भाग नीले रंग का दिखाई पड़ा है। मिट्टी की कुछ पतली तख्तियों से ज्ञात होता है

नृत्य की मुद्राओं को प्रकट करने की दशा में हैं। उनके शरीर पर आभूषणों की प्रचुरता है। मिट्टी की दो मूर्त्तियाँ नर्त्तकों की जान पड़ती हैं। यहाँ से प्राप्त मूर्त्तियों और खिलौनों की बनावट काफी सुन्दर और आकर्षक है। यहाँ की मिट्टी की मूर्त्तियाँ और खिलौने सम्भवत: भारतवर्ष में सबसे प्राचीन हैं। कुछ मूर्त्ति-खण्डों के देखने से पता चलता है कि यहाँ के मूर्त्तिकार और शिल्पी अपनी कला में काफ़ी दक्षता प्राप्त कर चुके थे और मानव-शरीर के अंगों की योजना करने तथा मेल बिठाने में बहुत कुशल थे।

इस नगर के निवासी धातुओं को पीटकर या ढालकर वस्तुएँ बना लेते थे। सोना, चाँदी, ताँबा और काँसा धातुओं का उपयोग विशेष रूप से होता था। अंकन-कार्य और नक़्क़ाशी में यहाँ के कारीगर चतुर थे। सिंधु-प्रदेश की मुद्राएँ तथा पहिया पर खुदी हुई आकृतियाँ उक्त कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। यहाँ की मुद्राएँ या तो वर्गाकार हैं या चौकोर बनी हैं। चमकाए हुए बर्तनों के टुकड़े भी खुदाई में पाए गये हैं, जिन पर हल्के पीले या गहरे लाल रंग की पालिश है। बर्त्तनों पर भी नक़्क़ाशी प्रचुरता से दिखाई देती है। कुछ बर्त्तन पशुओं के आकार के बने पाये गये हैं।

मोहेंजोदड़ो की भवन-निर्माण-कला की उत्कृष्टता इस बात से सिद्ध होती है कि घरों में से गन्दे पानी के निकास के लिए आज की-सी ढँकी हुई पक्की नालियाँ बनाई जाती थीं।

इस प्राचीन नगर की खुदाई होने पर यहाँ अनेक भवनों की दीवालें निकली हैं, परन्तु एक भी इमारत पूर्णतया सुरक्षित नहीं पाई गई है। कुछ की दीवालें ऐसी भग्न हो गई हैं कि उनसे इमारत के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इन इमारतों में व्यवहृत पकाई हुई ईंटों पर कुत्तों और कौओं के पंजों का चित्रण है। सबसे बड़ी ईंट का आकार २०.२५×१०.५×३.५ इंच है और सब से छोटी का ६.५×४.३५×२ इंच। ये ईंटें किसी औज़ार या आरी से ठीक आकारों में काटकर बनाई जाती थीं। मकान बनाने में मिट्टी के गारे का उपयोग किया जाता था। नींव में ईंटों के टुकड़ों की भराई होती थी। छोटे मकानों की दीवालें कुछ सीधी तथा बड़ों की तिरछी बनती थीं और बड़ी ऊँची रहती थीं। दीवालों पर पलस्तर करने का चलन नहीं था। मकान दो-मंजिले बनते थे। छत पर कुटी हुई मिट्टी डाली जाती थी या ईंटें लगती थीं। कड़ियों का प्रयोग भी इस नगर में बहुत होता था। यहाँ के मकानों के द्वार जन-मार्ग की ओर प्राय बहुत कम रहते थे और उनका सामना गलियों में रहता था। दरवाज़ों पर लकड़ी की चौखट और पटाव रहता था। मकानों में खिड़कियों के चिन्ह बहुत कम पाये गये हैं। पत्थर की जालियाँ अवश्य बनती थीं, जिनके टुकड़े यहाँ खुदाई में निकले हैं और बड़े सुन्दर हैं। ऊपरी मंज़िल में जाने के लिए घरों में सीढ़ियाँ बनाई जाती थीं। सभी घरों में प्रायः पानी के लिए कुएँ रहते थे। बाहर भी कुएँ बने हुए पाए गये हैं, जिनकी जगत या चहारदीवारी बड़ी सुन्दर है। स्नान-गृह तथा शौच-गृह भी सभी घरों के भीतर बनते थे। यहाँ तालाबों के अस्तित्व का भी पता चलता है, जो ईंटों के बनते थे। सफ़ाई के लिए सारे नगर में गन्दे पानी की नालियाँ भी बनी हुई थीं। मिट्टी के बने नल भी पानी के बाहर निकलने के लिए घरों में लगे थे। यहाँ की सड़कें चौड़ी, साफ़ और समानांतर बनी हुई थीं। घरों में तहख़ानों और भूगर्भ-गृहों की भी योजना रहती थी।

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के प्रागैतिहासिक काल का यह वैभवशाली नगर अपने युग में कैसा सुन्दर रहा होगा, इसका अनुमान आज हम नहीं कर सकते। सम्भवतः अपने समय में इसकी ख्याति दूर-दूर तक रही होगी। आज तो इसके खंडहरों से प्राप्त सामग्री ही हमारे लिए आश्चर्य का विषय बनी हुई है। मोहेंजोदड़ो ही से मिलती-जुलती पुरातत्त्व-सामग्री हड़प्पा नामक स्थान में भी मिली है।

तथा रूस के स्टेपीज़ पठारों से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैली हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के कारण इस ऐतिहासिक नगर पर निश्चय ही उनका बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा होगा तथा उसने भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक धाराओं को अपनाया होगा। प्रत्येक की पृथक्-पृथक् कला तथा ज्ञान-विज्ञान की छाप उस पर पड़ी होगी। कुषाण-साम्राज्य के पतन तथा गुप्त-सम्राटों के उत्थान के साथ चौथी शताब्दी में—जहाँ तक हमें ज्ञात है—तक्षशिला के इतिहास की इति हो जाती है। उसकी शक्ति और ख्याति बहुत बड़ी संख्या में भारत पर आक्रमण किया था और मार्ग में पड़नेवाले नगरों को लूटते-पाटते तथा जलाते हुए इस देश के सीमान्त प्रदेशों को श्मशान बना दिया था। तक्षशिला के असंख्य नागरिक उनकी तलवारों के घाट उतार दिये गये थे और वहाँ की भव्य इमारतें, मंदिर, पाठशालाएँ, पुस्तकालय आदि सब-कुछ अग्नि की भेंट चढ गए थे। तब से आज तक यह नगर लगातार मिटता ही चला गया और उसका नामोनिशान बतलानेवाले केवल मिट्टी के कुछ ढूह और स्तूप मात्र अब वहाँ अवशेष रह गए।
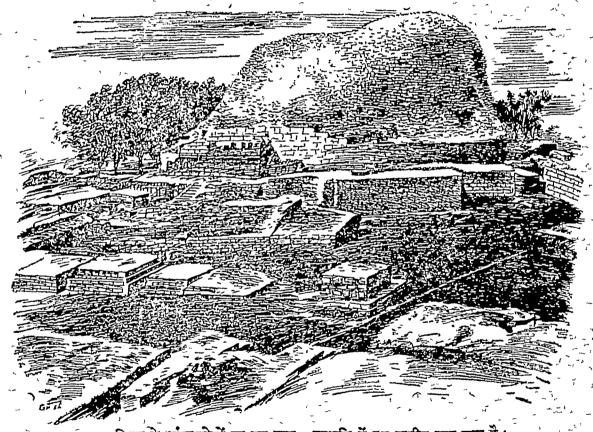
तक्षशिला के ध्वंसावशेषों का एक दृश्य—पृष्ठभूमि में एक प्राचीन स्तूप खड़ा है।

क्रमशः घटती चली गई और जब सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक युआन-च्वाङ् ने सातवीं शताब्दी में इस प्रदेश की सैर की तब तक यह नगर काश्मीर राज्य के अधीन हो चुका था और इसके प्राचीन महत्व का पता देनेवाले बहुतेरे स्मारक नष्ट-भ्रष्ट हो चुके थे। यह सारा का सारा नगर उजाड़ पड़ा था और उसके चारों ओर ध्वंसावशेष दिखाई देते थे। तक्षशिला को इस प्रकार उजाड़नेवाले सम्भवतः मध्य एशिया से आनेवाले बर्बर हूण लोग थे, जिन्होंने सन् ४५५ ई० के पश्चात् एक भयंकर आँधी की तरह

आज दिन पाकिस्तान में रावलपिण्डी से २० मील उत्तर-पश्चिम दिशा में इस ऐतिहासिक नगर के ध्वंसावशेष एक सुरम्य उपत्यका में बिखरे हुए पड़े हैं। इस उपत्यका के उत्तर-पूर्व में काश्मीर की हिमाच्छादित पर्वतमालाएँ एक प्राचीर के रूप में मण्डलाकार दक्षिण-पश्चिम तक चली गई हैं। प्राकृतिक दुर्ग के रूप में खड़ी इन दुर्गम पहाड़ियों के बीच में सुरक्षित, जल से परिपूरित इस भूभाग में इस नगर की स्थिति निश्चय ही प्राचीन काल में इसके उत्थान और विकास का मुख्य कारण बनी होगी।

अपनी महानता का स्मरण करके अपनी वर्त्तमान हीनावस्था पर दुःखी होकर लज्जा से धरती में गड़े जा रहे हैं। अपने युग में इस देश का मस्तक ऊँचा करनेवाले इस प्राचीन नगर के बिखरे हुए कंकालों में कितनी स्मृतियाँ संचित हैं, इसे बतलानेवाला आज वहाँ कौन है ?

सम्राट् अशोक की अद्भुत् लाटें या स्तम्भ

भारतीय स्थापत्य में आदिकाल से ही किसी विशेष गौरव की सूचना के लिए स्तम्भों या लाटों के निर्माण की रीति प्रचलित रही है। इन स्तम्भों या लाटों पर बौद्धमतावलम्बियों ने अपनी धर्म-लिपियाँ अंकित कराईं और उनके शिखरों पर अपने धर्मचक्र-सहित कुछ विशेष देव-चिन्हों की मूर्तियाँ बनवाईं तो जैनियों ने अपने स्तम्भों से दीपाधारों का काम लिया और वैष्णवों ने ध्वज के रूप में गरुड़ या मारुति की प्रतिमाएँ उनके शिरों पर स्थापित कराईं। संक्षेप में स्तम्भ धार्मिक महत्त्व की वस्तुएँ बने रहे और उन पर भारतीय इतिहास की कई प्रमुख घटनाएँ समय-समय पर अंकित होती रहीं। साथ ही समाज के धार्मिक विकास का भी विवरण इन स्तम्भों पर समयानुसार मानों लिपिबद्ध होता रहा। ये प्राचीन स्तम्भ हमारी वास्तु-कला, शिल्प-चातुर्य, सभ्यता और सांस्कृतिक विकास के अप्रतिम प्रतीक-से हैं।

इन स्तम्भों में आज के दिन जो उपलब्ध हैं, उनमें सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भों का स्थान सर्वोपरि है। वही सबसे प्राचीन भी हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र अशोक (२७७-२३६ ई० पू०) एक बहुत बड़ा चक्रवर्त्ती सम्राट् ही नहीं था, प्रत्युत संसार के प्रख्यात महापुरुषों में से भी था। राज्याधिकार प्राप्त करने के बारह वर्ष बाद उसने कलिंग-प्रदेश को जीता और उस युद्ध में भीषण रूप से जन-संहार होते देखकर उसके हृदय में पश्चात्ताप की ऐसी भावना जाग्रत हुई कि परिणामतः उसके जीवन में बड़ा परिवर्त्तन आ गया और वह भगवान् बुद्ध के अहिंसामार्ग का अनुयायी बन गया। अहिंसा और सत्य-धर्म के सिद्धांतों का प्रचार ही उसने अपने शेष जीवन का आदर्श बना लिया और इसी उद्देश्य से उसने जगह-जगह पहाड़ों की चट्टानों, शिला-फलकों और बड़ी-बड़ी लाटों पर अपनी इस परिवर्त्तित नीति के अनुसार बौद्ध धर्म के आदेश अंकित करा दिए, जो उसकी धर्म-लिपियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन धर्म-लिपियों का एक-एक अक्षर अशोक के महान् जीवन का परिचायक है। अशोक ने निश्चय कर लिया था कि उसे तथा उसके वंशजों को रक्तपात और हिंसा से प्राप्त होनेवाली विजय की आवश्यकता नहीं, वरन् धार्मिक विजय ही उनके लिए वास्तविक विजय बन सकती है। बौद्ध धर्म को अपना लेने के पश्चात् भी अशोक अन्य धर्मों को सम-दृष्टि से देखता रहा और विभिन्न पंथवालों के साथ उसने सदा उदारता ही दिखलाई। अपनी धर्म-विजय के अंतर्गत उसने अपने सीमान्तस्थित संरक्षित तथा मित्र-राष्ट्रों में, लंका से लेकर पश्चिमी एशिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और यूनान तक अपने धर्म-प्रचारकों के अनेक दल समय-समय पर भेजे, जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का असाधारण प्रचार हुआ और जिसका प्रभाव उसकी मृत्यु के सैकड़ों वर्ष उपरान्त तक बना रहा।

ऐसे उदारमना, परोपकारी एवं धर्म-प्रिय सम्राट् के वास्तु-स्मारक भी उसी के अनुरूप गौरवशाली हैं। उसकी धर्म-लिपियाँ पत्थरों पर अंकित होने के कारण आज भी उपलब्ध हैं। उसके द्वारा निर्मित स्तम्भों की कला भी उतनी ही सुसंस्कृत तथा महान् है, जितनी कि उन पर अंकित लिपियाँ हैं। सच पूछा जाय तो ये स्तम्भ अशोक-कालीन मूर्त्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस समय अशोक के बनवाये हुए ऐसे तेरह स्तम्भ निम्नलिखित जगहों पर पाए जाते हैं :—

१. दिल्ली में—दिल्ली-दरवाज़े के बाहर फ़ीरोज़शाह के कोटले पर।
२. दिल्ली के उत्तर-पश्चिमी ढाँग पर।
३. कौशाम्बी में—जैनमंदिर के निकट।
४. इलाहाबाद के क़िले में।
५. सारनाथ के भग्नावशेषों में।
६. मुजफ़्फ़रपुर के बखीरा गाँव में।
७-८. चम्पारन के लौरिया-नन्दगढ़ और रढ़िया गाँवों में।
९-१०. उपरोक्त ज़िले के रामपुरवा गाँव में।
११-१२. नेपाल में, तराई के रुम्मनदेई (लुम्बिनी) तथा निगलीवा ग्रामों में।
१३. साँची में।

इन तेरह स्तम्भों के अतिरिक्त निम्न चार और स्तम्भों का भी पता चला है :—(१) संकीसा, ज़िला फर्रुख़ाबाद में; (२) काशी में, टूटा हुआ स्तम्भ; (३) पटने के पुराने शहर में; (४) बुद्ध-गया के मंदिर की प्रतिकृतियों में अंकित, जो भरहुत की वेदिका पर खुदा हुआ दिखलाया गया है। इस प्रकार इन स्तम्भों की संख्या १७ हो जाती है, परन्तु अनुमान किया जाता है कि आरम्भ में ये कम से कम ३० तक रहे होंगे।

कर मूर्त्ति-कला के बड़े उत्कृष्ट नमूने प्रदर्शित किये गए हैं। परगहों की मेखला पर गुरियों की मणिमाला को उभारकर दोहरी पंक्ति में बनाया गया है। कठे पर मोटी डोरी या सादा गोला दिखाई देता है। सबसे सुन्दर सूक्ष्म कारीगरी तो स्तम्भ की चौकी और उसके शीर्ष पर स्थापित पशु-मूर्त्ति की बनावट में मिलती है। लौरिया-नंदगढ वाले स्तम्भ की चौकी पर हल्के उभार के हंस बने हैं, जो उड़ते हुए दिखाए गए हैं। प्रयाग, संकीसा और रामपुरवा के वृष-स्तम्भों पर पंजे की आकृति, कमल और मुकुंद आदि अंकित हैं। सजावट के लिए जिन-जिन अलंकरणों का आश्रय लिया गया है, उनकी सूक्ष्मता, ठीक नाप, मुद्राएँ और नियुक्ति ऐसी सजीव हैं कि संसार के किसी देश में प्रस्तर-कला के ऐसे उदाहरण मिलना असंभव है। इन विशेषताओं को पाश्चात्य कलाविदों और विद्वानों ने भी माना है। शिखर पर स्थापित मूर्त्तियों में प्रायः सिंह, गज, वृष या अश्व की मूर्त्तियाँ ही हैं। आरम्भ की तीन मूर्त्तियाँ तो अभी भी संपूर्ण मिलती हैं, परन्तु रुम्मनदेई के स्तम्भ पर स्थापित अश्वमूर्त्ति नष्ट हो गई है। सारनाथवाले स्तम्भ के परगहे की बैठक पर यही चारों पशु पहियों के बीच में उभार के काम द्वारा बड़ी सुन्दरता से बनाए गए हैं।

आज के दिन पाए जानेवाले अशोकीय स्तम्भों में सारनाथवाले स्तम्भ का शीर्षभाग सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। अशोककालीन मूर्त्तियों में यह सबसे अनूठा और प्रभावोत्पादक है। यह स्तम्भ अशोक के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में २४२ से २३२ ई० पू० के समय में भगवान् बुद्ध के धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन का स्थान (प्रथम उपदेश-स्थल) दिखलाने के हेतु स्थापित किया गया था। इसकी बैठकी पर के चार पहिए धर्म-चक्र के प्रतीक हैं। शीर्ष के चार सिंहों पर भी एक धर्म-चक्र बना था, जिसके भग्न-खण्ड पाए गए हैं। इस स्तम्भ की मोटाई का व्यास २ फ़ीट ६ इंच था, ऊपर के सिंहों पर दृष्टि डालिए तो ऐसा लगेगा मानों पीठ से पीठ मिलाकर चार सजीव सिंह चारों ओर मुँह किए इस प्रकार बैठे हुए हैं कि बोलना ही चाहते हैं। शिल्पी ने इस सुन्दरता से उनको गढ़ा है एवं कल्पना और वस्तु-अध्ययन से उनको इस प्रकार एक सफल रूप में चित्रित किया गया है कि मूर्त्तिकार ने उनमें हिंसक, उग्र और भयावह होने के भावों का समावेश न करते हुए भी उनकी महानता और वनराजत्व को अक्षुण्ण रखा है। अंग-प्रत्यंग से वे सिंह-मूर्त्तियाँ सुडौल, सुदृढ़ और गठीली बनी हैं। उनकी बनावट में भद्दापन या उच्छृङ्खलता का लवलेश भी नहीं है। चमक या पालिश भी उन पर अच्छी तरह की गई है, जिससे उनमें एक अद्भुत तेज-सा आ गया है। उनके स्कन्धों पर लहराते हुए केशों के बनाने में बड़ी बारीकी से काम लिया गया है। वे चारों मूर्त्तियाँ अभी हाल ही की बनी हुई जान पड़ती हैं, यद्यपि वे ढाई हज़ार वर्ष प्राचीन

सारनाथवाले अशोकस्तंभ का कलापूर्ण शीर्षभाग

यह भारतीय कला-मंदिर की एक अनुपम कृति है, जिसका महत्त्व आज के दिन इस बात से और भी अधिक बढ़ गया है कि इसी की प्रतिकृति आज भारतीय गण-राज्य का राजचिन्ह बनी है!

निश्चय ही विदेशों का काफ़ी प्रभाव पड़ चुका था। फिर भी भारतीय कारीगरों की कुशलता थी कि उन्होंने विदेशी कला को भी सर्वथा मौलिक ढंग से भारतीय कला के साँचे में ढाल लिया था। आंध्रवंश के पश्चात् अनेक मठ और स्तूप साँची में बने, किन्तु वे सब आजकल भग्नावशेषों के रूप में ही इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। एक तोरण के स्तम्भ पर गुप्तवंश के सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय की दिग्विजय-यात्रा का भी उल्लेख मिलता है।

साँची के ये स्तूप उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक जैसे के तसे भग्नावस्था में पड़े रहे और किसी का ध्यान उनकी ओर नहीं गया। आश्चर्य तो इस बात का है कि मुसलमानों ने भी इन पर अपनी निगाह नहीं डाली, यद्यपि कई पार्श्ववर्त्ती नगरों में उन्होंने लूटमार कर हिन्दू मंदिरों और स्मारकों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इन स्तूपों की ओर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान पहले पहल सन् १८१८ ई० में आकर्षित हुआ। इसके पहले भी अनेक विदेशी इनका अनुसंधान करने आये थे, पर जिज्ञासावश इनको पर्याप्त हानि पहुँचाकर लौट गये थे। यदि उनका धावा इसी प्रकार होता रहता तो सम्भवतः अब तक इन स्तूपों का नामोनिशान भी बाक़ी न रहा होता। आरंभ में स्तूप यथावत् खड़े थे, केवल पहले स्तूप का दक्षिण की ओर का तोरण गिरा हुआ था। तब १८२८ ई० में कप्तान जानसन ने प्रथम स्तूप को नीचे से ऊपर तक खोल डाला। इस चेष्टा से पश्चिमी तोरण तथा वेदिका के कुछ अंश टूटकर गिर पड़े। सन् १८४९ में कनिंघम और मेसी ने आकर द्वितीय और तृतीय स्तूपों को खोला। उनको कुछ छोटे-छोटे बक्स मिले, जिनमें प्राचीन बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियों के कुछ अंश स्मारक रूप में रखे हुए थे। इन अस्थि-स्मारकों का मिलना यद्यपि महत्त्वपूर्ण था, परन्तु खुदाई होने से स्तूपों को बड़ी हानि पहुँची। तब १८६९ में मेजर कोल ने पहलेपहल साँची के स्तूपों का पुनरुद्धार-कार्य आरम्भ कराया। उन्होंने भारत-सरकार की आज्ञा और व्यय से स्तूपों के आसपास एकत्रित ईंट-पत्थरों के ढेर साफ कराये, स्तूपों की मरम्मत कराई और गिरे हुए तोरणों को पुनः स्थापित कराया। सन् १९१२ में पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष सर जान मार्शल ने स्वयं स्तूपों की देख-रेख का भार ग्रहण किया। इससे उनके जीर्णोद्धार का कार्य बड़ी कुशलता से पूरा हुआ और आसपास खुदाई भी हुई। जो वस्तुएँ खोदने पर निकलीं, उनको वहीं पर संग्रहालय स्थापित करके सुरक्षित रख दिया गया है।

इस समय साँची में तीन ही स्तूप हैं। पहला स्तूप अन्य स्तूपों की अपेक्षा बड़ा है, इसलिए यह 'महान् स्तूप' कहलाता है। अन्य स्तूपों की निर्माण-शैली के अनुरूप यह स्तूप भी अर्द्ध-अंडाकार है। इसका शिखर चिपटा है। इसके निम्न भाग में एक ऊँची मेधी है, जिस पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसी मेधी से लोग चारों ओर प्रदक्षिणा करते थे। इसके चारों ओर एक वेदिका है। वेदिका के चारों ओर चार द्वार हैं। इन द्वारों पर चार सुंदर तोरण स्थापित हैं। पहले यह स्तूप बहुत छोटा था और ईंटों द्वारा निर्मित था, तब प्रथम शताब्दी के लगभग इसका आकार बढ़ा दिया गया। जब स्तूप तैयार हो गया तब इसकी चोटी पर एक सुंदर छत्र खड़ा करके चारों ओर पत्थर की छोटी बाड़ लगा दी गई थी। किन्तु बाद में दोनों वस्तुएँ समीप ही पृथ्वी में गड़ी हुई मिलीं, जो खोदने पर निकाली गईं। वे पुनः यथास्थान स्थापित कर दी गई हैं। इसके उपरान्त भूमि पर भी वेदिका का निर्माण हुआ। इसके सभी स्तम्भ, सूचियाँ तथा उष्णीष भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रदान किये हुए हैं।

इस स्तूप की ख्याति का आधार इसके चार तोरणों पर है, जोकि भारतीय कला के अनुपम स्तम्भ हैं। सबसे पहले दक्षिण का तोरण बना था और बाद में क्रमशः उत्तर, पूर्व और पश्चिम के तोरण निर्मित हुए। इन पर की हुई कुशल शिल्पाकृतियों से इनके निर्माण-काल का अनुमान होता है। दक्षिण तोरण की सजावट सबसे अच्छी तथा उत्तर तोरण की सबसे हीन है। इन पर बुद्धदेव के जीवन की चार मुख्य घटनाओं अर्थात् जन्म, सम्बोध, प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन और महानिर्वाण के दृश्य अंकित हैं। इनके अतिरिक्त जातकों की अनेक आख्यायिकायें तथा बुद्धदेव की मृत्यु के बाद की कतिपय घटनाओं को भी बड़ी कुशलता से शिल्प में चित्रित किया गया है।

महान् स्तूप से पश्चिम दिशा में लगभग ३५० गज़ के फासले पर द्वितीय स्तूप बना हुआ है। यह द्वितीय स्तूप महान् स्तूप से अपेक्षाकृत छोटा है और इसमें कोई तोरण नहीं है, पर इसके नीचे की वेदिका भाँति-भाँति के सुन्दर शिल्प-चित्रों से अलंकृत है। ये खुदे हुए चित्र महान् स्तूप के चित्रांकनों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इस स्तूप के चित्रांकनों की विशेषता यह है कि इनमें जीवधारियों के चित्र यद्यपि बेढंगे बने हैं, परन्तु फूल और बेलों के चित्रण में शिल्पियों ने कमाल दिखलाया है। इसी स्तूप के खोलने पर इसमें एक पिटारी निकली थी, जिसके भीतर चार छोटे-

इन बेचारों का क्या दोष था! भगवान् के तेजस्वी मुख-मण्डल पर हल्की-सी मुस्कान की छाया दिखाई दी और उनकी अमृतवाणी गूँज उठी—'सांसारिक पदार्थों में मन लगाने से ही दुःख होता है—यह तृष्णा ही आवागमन का कारण है—इस तृष्णा के त्याग से ही दुःख का निवारण होता है। सदैव बीच के मार्ग पर चलो, एक ओर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और वासना सुख की इच्छा को छोड़ो, दूसरी ओर शरीर को कष्ट देनेवाले घोर तप इत्यादि को भी तिलाञ्जलि दो।' पाँचों संन्यासी भगवान् के चरणों पर गिरकर लोटने लगे। अपनी भूल पर उनको पश्चाताप हुआ। भगवान् ने उनको दीक्षा दी और धर्म प्रचार का आदेश दिया।' बौद्ध धर्म के इतिहास मे यह कथा अमर है। उसी दिन से वह मृगदाव वन सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जहाँ एक प्रस्तर-छत्र पर भगवान् के उपरोक्त उपदेश-वाक्य अब तक अंकित हैं।

सारनाथ में भगवान् बुद्ध ने ठहरने का निश्चय किया। बड़ी-बड़ी कोमल आँखोंवाले मृग शावक भी आकर्षित होकर निर्भयता से उनके पास आने लगे। ऐसा जान पड़ता था मानों उनके हृदय में इनके प्रति किसी पूर्व-जन्म के सम्बन्ध का स्नेह वर्तमान है। बौद्ध जातक-कथाओं में इस विषय का एक सुन्दर उपाख्यान मिलता है। लिखा है कि कई जन्म पहले भगवान् बुद्ध स्वयं हरिणयोनि में पैदा हुए थे और वह सारनाथ में एक मृग-झुंड के नेता थे। एक बार वे स्वजाति के पशुओं के हेतु अपने प्राण देने को तैयार हुए थे। उस युग में हरिणों के दो बड़े-बड़े झुंड थे, जिनमें से एक के नेता थे बुद्धदेव और दूसरे का अग्रणी था एक और हरिण, जिसने बाद में बुद्धदेव के चचेरे भाई देवदत्त के नाम से मृत्युलोक में जन्म लिया। उस समय काशी के राजा सारनाथ के इस जंगल में शिकार खेला करते थे और मृगों को मारते थे। मृगरूपी बुद्धदेव ने इस अनवरत संहार-क्रम को देखा और दुःख से कातर होकर वह काशी-नरेश के पास जाकर बोले कि 'महाराज! यदि आप इस प्रकार अगणित मृगों की हत्या का विचार छोड़ दें तो हम आपके लिए नित्य एक मृग भेज दिया करें।' राजा ने यह बात मान ली और नियमित रूप से एक मृग उनके आहारार्थ पहुँचने लगा। एक दिन देवदत्त के अधीन जो मृग-झुंड था, उसमें से एक हरिणी की बारी आई। वह गर्भिणी थी। उसने अपने सरदार से कहा कि 'मैं काशीराज के पास जाने को प्रस्तुत हूँ, परन्तु यह बात न्यायविरुद्ध होगी। मेरे गर्भ का शिशु भी असमय ही काल-कवलित होगा।' सरदार ने उसकी बात नहीं सुनी। तब वह दूसरे नेता बुद्धदेव के पास अपनी प्रार्थना लेकर आई। मृगरूपी बुद्ध का हृदय उसके विलाप से करुणार्द्र हो गया। उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं काशीराज के आगे की हुई प्रतिज्ञा तो भंग नहीं कर सकता। हाँ, तेरे स्थान पर मैं स्वयं ही आज उनका आहार बनूँगा।' इतना कहकर वह स्वयं राजा के पास पहुँचे। काशी-नरेश ने उनको पहचाना और पूछा कि 'आप क्यों आए?' मृगरूपी बुद्ध ने सारी घटना उनको बतलाई। काशीराज भी करुणा से विह्वल हो उठे और बोले कि 'मैं मनुष्य होते हुए भी पशु हूँ और तुम पशुयोनि में भी देवता हो!' राजा ने उस दिन से आखेट न करने का प्रण किया। तभी से सारनाथ मृगदाव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी मृगवंश के छोटे-छोटे शावक पूर्वप्रेम के कारण भगवान् बुद्ध के पास आते और उनके उपदेश सुना करते। इस घटना-सम्बन्धी उपाख्यान का चित्र सारनाथ में अंकित है।

सारनाथ का महान् स्तूप
जो जीर्णशीर्णावस्था में भी आज अपने अतीत की पुण्यगाथा सुना रहा है।

दो शताब्दी के उपरान्त भारतवर्ष में महाप्रतापी सम्राट् अशोक का शासन-युग आरम्भ हुआ। अशोक ने बौद्ध धर्म को अपना राजधर्म घोषित करके उसकी प्रचुर उन्नति की और उसके प्रचार के हेतु स्थान-स्थान में अनेक स्तूप बनवाए। इसी क्रम में सारनाथ में भी एक विशाल

आकर सारनाथ की प्रसिद्ध इमारतों को तोड़-फोड़ डाला था। बौद्ध धर्म के प्राचीन तीर्थों में सारनाथ का महत्त्व बुद्ध-गया से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका अपना इतिहास ही इसे सदा के लिए अमरत्व प्रदान कर चुका है। इसके इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए आज के दिन भगवान् बुद्ध के अनुयायियों द्वारा उसके पुनरुद्धार का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है और फलत. वहाँ अनेक नवीन भवन उठ खड़े हुए हैं, जिनमें एक बौद्ध मंदिर एवं विहार की इमारत अति दर्शनीय है। इस स्थान के पुरातत्त्व-विषयक महत्त्व के अनुरूप सरकार की ओर से भी एक संग्रहालय वहाँ प्रस्थापित किया है, जिसे देखने हज़ारों यात्री जाते रहते हैं। इस प्रकार सारनाथ एक कलातीर्थ बन गया है।

भरहुत के कलावशेष

भारतवर्ष के शुंगवंशीय सम्राटों का शासनकाल, जो १८८ ई० पू० से ३० ई० तक माना जाता है, यहाँ के कला-विकास का मध्यम युग कहा जा सकता है। मौर्य-शासन का अन्त होने पर उत्कर्ष प्राप्त करनेवाले शुंग सम्राट् भी बड़े प्रतापी और पराक्रमी थे। उनके समय में इस देश की मूर्त्तिकला ने एक नवीन रूप ग्रहण किया, जिसके प्रमाण साँची एवं भर-हुत के ध्वसावशेषों में आज भी पाये जाते हैं। साँची के स्तूप का उल्लेख हम पीछे के पृष्ठों में कर चुके हैं। अब भरहुत का परिचय देने जा रहे हैं, जहाँ से पुरातत्ववेत्ताओं ने अनवरत परिश्रम के उपरान्त पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री खोज निकाली है।

भरहुत की बाड़ पर अंकित एक शिल्पचित्र
इसमें श्रावस्ती के नगरसेठ सुदत्त द्वारा जेतवन की ख़रीद के हेतु भूमि पर सुवर्ण-मुद्रायें बिछाये जाने का दृश्य अंकित है।

इलाहाबाद और जबलपुर के बीच की रेलवे-लाइन पर सतना नामक एक स्टेशन है, जहाँ से नागोद तक पक्की सड़क गई है। इसी नागोद से दक्षिण में ६ मील के फ़ासले पर भरहुत के ध्वंसावशेष देखे जा सकते हैं। सन् १८७७ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम ने वहाँ खुदाई का कार्य किया था और फलस्वरूप वहाँ एक बहुत बड़े प्राचीन बौद्ध स्तूप के भग्नावशेष दिखाई दिये थे, जिसके नीचे के घेरे का व्यास ६८ फ़ीट था। इस स्तूप के चारों ओर पत्थर की एक बाड़ थी, जिस पर बड़ी आश्चर्यजनक कारीगरी की हुई थी। इस स्तूप में लगा हुआ पत्थर चुनार के पत्थर जैसा लाल रंग का और बलुआ या रवादार था। इस स्तूप के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उसकी अधिकांश ईंटें पास-पड़ोस के गाँववाले उठा ले गए थे और उसकी बाड़ पर बनी हुई मूर्त्तियों को भी लोगों ने तोड़-फोड़ डाला था। कनिंघम ने खुदाई में मिली हुई वस्तुओं को कल-कत्ता के संग्रहालय में भिजवा दिया था। इनमें से अधिकांशतः मूर्त्तियुक्त प्रस्तरखण्ड और वेष्टनियों के टुकड़े थे।

भरहुत के ध्वंसावशेषों में सबसे अद्भुत वस्तु जो मिली है, वह पत्थर की वह बाड़ ही है, जिसकी ऊँचाई सात फ़ीट एक इंच है और जिसके तकियों के दास (उष्णीष) में लगा हुआ प्रत्येक पत्थर भी इतना ही लम्बा है। इस बाड़ का कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो बौद्ध कथाओं के अंकन के हेतु उस पर खोदे गए चित्रों, बेलबूटों, यक्षिणियों की मूर्त्तियों और भाँति भाँति के अलंकरणों से न भरा हो। पास ही खड़े हुए एक तोरण पर अंकित लेख द्वारा ज्ञात होता है कि शुंग सम्राटों के समय में ही यह कलाकृति तैयार हुई थी। भरहुत की मूर्त्तियों के कला-विषय विभिन्न हैं, जिनसे तत्कालीन कलाकारों की विविध धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। इनमें लगभग ४० दृश्य जातक-कथाओं में वर्णित घटनाओं के हैं और ६-७ भगवान् गौतम बुद्ध के जीवन से संबंधित हैं। उनके दृश्यों के नीचे विषय-निर्देशन के विचार से तत्सम्बन्धी लेख भी अंकित हैं। इतिहास द्वारा प्रमाणित अनेक घटनाएँ भी बड़ी सुन्दरता से इनमें प्रदर्शित की गई हैं। चार घोड़ों के रथ पर भगवान् बुद्ध के दर्शन के हेतु जाते हुए कोशलराज प्रसेनजित् की सवारी तथा मगध-सम्राट् अजातशत्रु की यात्रा का दृश्य बड़ा ही आकर्षक और भावपूर्ण है। इन दृश्यों का जैसा वर्णन बौद्धों के ग्रन्थों में पाया जाता है, वैसा ही सुचारु रूप से इनका अंकन हुआ है।

हाथी किसी मनुष्य का दाँत एक बड़े भारी सँड़से से पकड़कर उखाड़ रहा है। पाँच फनवाले नाग-राजाओं तथा उनके अनुचरों के मूर्त्ति-चित्र भी अति सुन्दर हैं। एक चित्र में बुद्ध के प्रतीक भद्रासन के आगे विनत-मस्तक सम्राट् अजातशत्रु चित्रित है, जिसके शासनकाल में तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया था। अन्य एक चित्र में वेदिका पर फूल बिखरे हुए हैं और पीछे के एक वृक्ष पर पुष्प-मालाएँ लटक रही हैं। इस वेदिका के सम्मुख पाँच फनवाले एक नागराज झुककर प्रणाम कर रहे हैं। इसके पृष्ठ भाग में अंकित लेख का आशय है—'भगवत-उपासना-रत नागराज एरापत्र'। इस चित्र के ऊपर सरोवर से निकलता हुआ एक नाग प्रत्यांकित है, जिसके दाहिनी ओर एक पुजारी भिक्षु कमर तक पानी में खड़ा हुआ है। नाग के ऊपर एक सर्पिणी अन्तरिक्ष में उड़ती हुई दिखाई गई है। अन्य सर्प-सर्पिणियों के शिल्प-चित्र भी बड़े आकर्षक हैं, जिनकी सूक्ष्म बनावट देखकर तत्कालीन शिल्पियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है।

अपने मूल रूप में भरहुत का स्तूप काफ़ी बड़ा रहा होगा और उसके घेरे का व्यास ८८ फीट से कम न होगा। उसकी ऊँचाई २७५ फीट के लगभग समझी जाती है। उसके चार प्रवेशद्वारों में से प्रत्येक के आगे स्तम्भों के ऊपर लगभग ४॥ फीट ऊँची यक्ष-यक्षिणियों और नागराजों की मूर्त्तियाँ शिल्पचित्रों के रूप में अंकित थीं। पूर्व की ओर का द्वार एक तोरण से अलंकृत था, जिसकी ऊँचाई भूमि से लेकर शिखर के चक्र तक २२॥ फ़ीट थी। सर्वोपरिस्थित चक्रपृष्ठभाग में सुन्दर अलंकरण बने थे। इस तोरण की स्थापना का समय सन् १० ई० से २८ ई० के लगभग माना जाता है।

वेष्टनी ६ फ़ीट ऊँची थी और उस पर अंकित लेखानुसार उसका निर्माता और संस्थापक राजा धनभूति का पुत्र कुमार वद्धपाल था, जिसका समय अशोक के बाद माना जाता है। भरहुत का मूर्त्ति-शिल्प अनुमानतः २०० ई० पू० का है, किन्तु उसकी उत्कृष्टता से उसकी प्राचीनता में सन्देह होता है। वहाँ की सभी मूर्त्तियाँ चिपटी बनी हुई हैं और सच पूछा जाय तो वे मूर्त्तियाँ न होकर पत्थर पर काटकर बने हुए मूर्त्ति-चित्र मात्र हैं। उनमें भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति का कहीं भी अंकन नहीं है, केवल उनके चरणचिन्ह, खड़ाऊँ, धर्मचक्र, वेदिका और आसन द्वारा ही उनका उल्लेख किया गया है। भरहुत की कला वास्तव में लोकरुचि से प्रभावित प्रतीत होती है और अशोककालीन कला से वह उतर कर है। उस युग के जितने भी स्मारक भारत के अन्य स्थानों से पाये गये, उन सभी में लोकरुचि का प्रभाव स्पष्ट है। पर तत्कालीन समाज में बौद्ध मत ने काफ़ी गहरा स्थान प्राप्त कर लिया था, जिसकी कलात्मक छाया सामाजिक जीवन पर पड़ती हुई इन मूर्त्तियों और चित्रों में दिखलाई गई है।

कुछ भी हो, शुंगकालीन मूर्त्ति-कला अपनी एक ख़ास मौलिकता लिये हुए थी, जिसके सर्वोपरि उत्कृष्ट प्रमाण भरहुत के ये ध्वंसावशेष हैं। यहाँ की वेष्टनियों पर बने हुए अलंकरणों तथा मूर्त्ति-चित्रों की शैली वैसी ही है जैसी काष्ठ पर बनाई जाती है। यहाँ के शिल्पियों के कार्य्य में जैसी सूक्ष्मता, सफाई और सुघड़ता है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।

अजन्ता के कलामण्डप

आज के दिन ऐसा कौन पढ़ा-लिखा भारतवासी होगा, जिसने अजन्ता का नाम न सुना हो? वस्तुतः ताजमहल की भाँति अजन्ता का नाम भी आज हमारे देश की कला-कीर्त्ति का एक प्रतीक-सा बन गया है और न केवल हमारे ही अपने यहाँ वह हर किसी की ज़बान पर है बल्कि दूर-दूर देशों तक के लोग उससे परिचित हो चुके हैं। अजन्ता की इस ख्याति के मूल आधार लगभग दो हज़ार वर्ष पुराने उसके गुहामंदिरों की दीवारों पर अंकित वे बौद्धकालीन अद्भुत भित्तिचित्र हैं जो संसार के कलाक्षेत्र में अद्वितीय और बेजोड़ हैं। यद्यपि अजन्ता की गुफायें केवल चित्रशाला मात्र नहीं हैं— वे प्राचीन शिल्प और स्थापत्य की भी असाधारण स्मारक-कृतियाँ हैं, फिर भी उनका मुख्य आकर्षण उनके महान् भित्तिचित्रों के कारण ही है। इन भित्तिचित्रों ने सारे संसार को आश्चर्यचकित कर कला के आँगन में भारत का मस्तक ऊँचा करने में असामान्य योग दिया है।

अजन्ता के ये कलामण्डप हैदराबाद राज्य के उत्तर-पश्चिमी कोने में फरदापुर नामक एक गाँव से सात मील की दूरी पर कतिपय ऊसर और बीहड़ पहाड़ियों में खोदकर बनाई गई गुफाओं के रूप में विद्यमान हैं। ये गुफायें लगभग तीन सौ फीट ऊँची एक वर्तुलाकार पर्वतीय चट्टान की दीवार में खुदी हुई हैं और उन तक पहुँचने के लिए सीढ़ीदार रास्ता बना हुआ है। यहाँ का दृश्य बड़ा ही प्रभावशाली है।

अजन्ता के ये कलामंदिर बौद्धकालीन भारत के अद्भुत स्मारक हैं। बौद्धकालीन स्मारकों में स्तूपों अथवा चैत्यों की

अजता के कलामंदिर का एक भव्य चित्र

यह पहली गुफा के गर्भालय के मंडप की दीवार पर अंकित अवलोकितेश्वर नामक बोधिसत्त्व का सुंदर चित्र है। इसकी भावभंगी, मुखमुद्रा आदि अजन्ता की उत्कृष्ट कला की प्रतीकवत् हैं।

अजन्ता के भित्तिचित्रों में प्रयुक्त कुछ सुन्दर अलंकरण

बनिये की प्रतिमा बनी हुई है। सम्भव है, यह चित्र किसी दानी साहूकार का हो।

चौथी गुफा का विहार सब से बड़ा है। आठवीं गुफा सबसे प्राचीन है। नवीं गुफा मे एक स्तूप है। इसकी भीत पर बोधिसत्व तथा उनके उपासकों के चित्र अंकित हैं। १० वीं गुफा में लगे हुए शिलालेख के पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह चैत्य कठहरी नामक व्यक्ति का बनवाया हुआ है। दीवारों पर श्रवण-वध तथा श्याम जातक की कथायें अंकित हैं। ११ वीं गुफा में (जो एक विहार भी है) चित्रित बोधिसत्व के सुन्दर मुखड़े को मोतियों से सजाकर और भी सुन्दर बना दिया गया है। १२ वीं गुफा भी एक विहार के रूप में है। यह विहार सम्भवतः एक छात्रावास रहा होगा, क्योंकि इसके भीतर चारों ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी हुई हैं और प्रत्येक कोठरी में दो-दो चबूतरे बने हुए हैं, जिन पर पत्थर के तकिये बने हुए हैं। यह विहार अब भग्नप्राय है।

१५ वीं गुफा में बोधिसत्व की सबसे सुन्दर मूर्त्ति स्थापित है। १६ वीं तथा १७ वीं गुफा उज्जैन के विजेता राजा हरिसेन की बनवाई हुई है। १६ वीं गुफा में सुत सोमजातक कथाओं के द्रष्टा नन्द का धर्म-परिवर्त्तन, माया का गर्भ, सप्त-मनूषी बुद्ध, असि ऋषि का जन्म-पत्र बनाना, पाठशाला का दृश्य, त्रपुरस तथा मल्लिक का निमंत्रण स्वीकार कर बुद्ध का उनके यहाँ जाना तथा राजगृह और सुजाता आदि के दृश्यों के अतिरिक्त पौराणिक देवियों, जैसे गंगा और यमुना, के चित्र भी अंकित हैं। बौद्ध चित्रों के साथ-साथ यहाँ आर्य देवियों के चित्रों का पाया जाना आश्चर्य से रहित नहीं है। लोगों का कहना है कि ये चित्र केवल सजावट की दृष्टि से बनाये गये हैं। बौद्ध अधिकांश में प्राचीन ब्राह्मण धर्म के विरोधी थे और ऐसी अवस्था में यह सम्भव नहीं है कि इन चित्रों को बौद्धों ने अंकित कराया हो। या तो ये चित्र बौद्ध काल के पहले के बने हुए हैं और उनके पड़े रहने में कोई हानि न समझी गई होगी, या फिर वे उस समय बने जबकि बौद्धों का प्रभाव लुप्त हो चुका था। पर उनके रंगों की ओर ध्यान देने पर दूसरी बात ठीक नहीं जँचती।

सजावट तथा कलाकौशल की दृष्टि से १७ वीं गुफा सबसे सुन्दर कही जा सकती है। यह गुफा किसी राजा के मंत्री अथवा सामन्त की बनवाई हुई है, जिसका नाम आदित्य था। यों तो अजन्ता की गुफाओं में बने हुए चित्र सुन्दर हैं पर इस गुफा के चित्रों में जो सजीवता है वह अन्यत्र नहीं पाई जाती। विभिन्न जातक-कथाओं की मुख्य-मुख्य घटनाओं का चित्रण अत्यन्त सुन्दर रीति से किया गया है। बड़दन्त जातक के दृश्य में चित्रित हाथियों में जान सी फूँक दी गई है। दालान में आकाश पर उड़ती हुई अप्सराओं तथा गंधर्वों के चित्र के समीप ही गुफा के प्रवेशद्वार के भीतर की ओर एक स्त्री का चित्र बना हुआ है, जिसके बैठने की मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। एक ओर वह दृश्य अंकित है जिसमें यशोधरा राहुल को लिये हुए भगवान् बुद्ध को भिक्षा दे रही हैं। भावपूर्ण चित्रों के चित्रण में तत्कालीन कलाकारों ने बड़ी सफलता प्राप्त कर ली थी। अंग-प्रत्यंग के निर्देश तथा कलापूर्ण चित्रण के साथ-साथ भाव के चित्रण में कवियों की सी कल्पना से काम लिया गया है। पुनर्मिलन के समय एक वियोगिनी जिन-जिन भावों को लेकर अपने प्रियतम के सन्मुख आती है ठीक वही भाव यशोधरा की मुद्रा से झलकते हैं। एक स्थान पर सिंहलावदान (Sindbad the Sailor) की घटनाओं के चित्र भी बने हुए हैं। जलयान का जलमग्न होना, सिंहल नाम के व्यवसायी का राक्षसियों के साथ क्रीड़ा करना, वलह नाम के श्वेत अश्व पर सवार होकर उसका आकाश-मार्ग से भाग जाना, राक्षसियों का उसे ढूँढ़ना, सिंहकला के अन्तःपुर में प्रवेश करना, दरबारियों का भक्षण कर लेना, सिंहल की प्रत्युत्पन्नमति, उसका साहस और लंकाविजय आदि दृश्य बड़े सुन्दर हैं। इन्हीं चित्रों में आधुनिक परदे, क्लिप, मेज़ तथा आरामकुर्सियों को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। एक ओर एक स्त्री का चित्र बना हुआ है, जो साड़ी के स्थान पर जाँघिया पहने, हाथ में दर्पण लिये अपना शृंगार देख रही है और उसके आसपास उसकी सहेलियाँ अथवा दासियाँ खड़ी हुई हैं।

शेष गुफाओं में कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। २६ वीं गुफा एक चैत्य-भवन है। यह गुफा धर्मदत्त की बनवाई हुई है। इस गुफा में भगवान् बुद्ध की एक मूर्त्ति लेटी हुई है, जिसकी लम्बाई २३ फ़ीट है। मूर्त्ति के सभी अंग सुडौल और सुन्दर हैं। अजन्ता के चित्रों की तरह वहाँ का शिल्प भी कोई कम कलापूर्ण नहीं है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण विविध गुफाओं के भव्य प्रवेशद्वार हैं, जिन पर निर्मित बौद्ध मूर्त्तियाँ विलक्षण हैं। इस महान् कलामंदिर की उत्कृष्ट कला का विशेष विवेचन इसी ग्रंथ में आगे चलकर 'मनुष्य की कलात्मक सृष्टि' स्तंभ में आपको मिलेगा।

दोनों समान रूप से यही वस्त्र धारण करते हैं। मलय लोगों का मुख्य शस्त्र 'क्रिस' है, जो छोटे खंजर या कटार की आकृति का होता है। उसमें लकड़ी या हाथीदाँत का दस्ता लगा होता है। क्रिस का फल सीधा या ख़मदार होता है। सब से उपयोगी हथियार, जिसका मलय लोग जंगलों में व्यवहार करते हैं, 'पारंग' या 'गोलक' कहा जाता है, जो भारी छुरी जैसा होता है। झाड़ियाँ काटने, रास्ता साफ़ करने और जंगली जानवरों से आत्मरक्षा करने में उसका उपयोग होता है। किसान लोग घर से बाहर जाते समय उसे साथ रखना नहीं भूलते।

अपने देश की अन्य जातियों से अब मलय लोग अधिक हिल-मिल गये हैं। नये युग की सभ्यता का प्रभाव उन पर शीघ्रता से स्पष्ट होता जा रहा है। जुआ और शराब की लतें भी उनमें आ गयी हैं। चीनी और योरपीय व्यापारियों के यहाँ वे लोग नौकरी भी करते हैं। वे प्रायः रबड़ के बगीचों में मज़दूरी करने जाते हैं।

सेमांग

मलाया प्रायद्वीप की दूसरी मुख्य जाति सेमांग कहलाती है। अनुमान किया जाता है कि प्रायद्वीप के सबसे प्राचीन निवासी सेमांग ही हैं। उत्तरी पेराक, केदा, केलनताँन, त्रैंगान और पेहाँग के उत्तरी इलाकों में इनकी बस्तियाँ पाई जाती हैं। ये नीग्रो जाति के वंशज हैं और आकृति तथा डीलडौल मे अंडमान, फिलिपाइन और मध्य-अफ्रीका की कुछ जातियों के लोगों से मिलते-जुलते हैं। पुरुष प्रायः ४॥। फ़ीट और स्त्रियाँ ४॥ फीट से अधिक लम्बी नहीं होतीं। विद्वानों के कथनानुसार सेमांग लोग दक्षिणी एशिया से आकर वसे हैं। मलाया में आने पर उनकी सभ्यता का विकास किंचित् मात्र न हो सका और वे पूर्ववत् जंगली ही बने रहे। इन लोगों के शरीर का रंग काला या मटीला भूरा होता है। माथा छोटा, नाक छोटी और कुछ चिपटी, आँखें बड़ी, होठ भरे हुए और मोटे, मुँह चौड़ा, ठुड्ढी भीतर को दबी हुई—यही सेमांग की पहचान है। इनके केश काले या गहरे होते हैं। केशों को ये लोग गुच्छों के आकार मे बाँधकर ऊपर उठाये रखते हैं।

सेमांग लोगों को कृषि या कला-कौशल का किंचित् भी ज्ञान नहीं हो सका है। बाँस की पतली खपाचों अथवा पौधों के रेशों से ये टोकरियाँ बड़ी अच्छी बुन लेते हैं और उन्हीं को बेचकर अपना पेट पालते हैं। ये मछलियाँ मारते तथा जंगली जानवरों का शिकार भी करते हैं। धनुष-बाण और बर्छे इनके मुख्य शस्त्र होते हैं। चिड़ियों और छोटे जंगली जानवरों को मारने मे सेमांग लोग बाँस के एक लम्बे चोंगे का उपयोग करते हैं। खोखले बाँस को साफ़ करके उसके एक सिरे पर मुँह में लगाने की कीप के आकार की चमड़े या छाल की बनी हुई छिछली कटोरी जैसी बाँधते हैं। उस बाँस के चोंगे में छोटे-छोटे नोकीले बाण भरकर मुँह की फूँक से चलाए जाते हैं। निशाना लगाने में ये लोग बड़े कुशल होते हैं। इनके बालक-बालिकायें सभी चोंगे के उपयोग से परिचित होते हैं और प्रायः अपने आहार भर का शिकार मार लाया करते हैं। सेमांग लोगों का मुख्य आहार पशु पक्षियों का मांस और मछली है। उनका निवास गुफाओं और कन्दराओं में रहता है, क्योंकि घर बनाने का झंझट पालना ये उचित नहीं समझते। कभी-कभी ये पेड़ों की डालों को जोड़कर पत्तियों और फूस से झोपड़ियाँ बना लेते हैं और उनमें रहते हैं।

जहाँ तक वस्त्रों का प्रश्न है, आदिकाल से ये लोग पेड़ों की छाल को लकड़ी से कूट-कूटकर उनके रेशे निकालते और उन रेशों से पतली-पतली पट्टियाँ बुनकर उन्हीं से अपनी लज्जा-निवारण करते आए हैं। उनकी स्त्रियाँ और वयस्क लड़कियाँ उसी के बने घाँघरे पहनती हैं, जो घुटनों से कुछ ही नीचा रहता है। बहुतों को इस प्रकार के साधन भी उपलब्ध नहीं होते और उनके परिवार नितान्त दिगम्बर फिरा करते हैं। इन लोगों में गोदने गोदाने का भी रिवाज़ है। शरीर पर घाव करके भाँति-भाँति की नक़्क़ाशी बनाई जाती है, जिसमें रँग लाने के लिए गन्ने की पत्तियाँ और कोयले का चूर्ण भर दिया जाता है। इनकी स्त्रियों की सुन्दरता की कसौटी गोदना ही समझा जाता है।

सेमांग बड़े संगीत-प्रिय होते हैं। इनके यहाँ बाँस के बने कई वाद्ययंत्रों का उपयोग होता है। विशेषतया एक प्रकार का तानपूरा, नाक से बजनेवाली बाँसुरी और वंशी घर-घर में दिखाई देती है। जब कोई त्योहार या शादी-ब्याह का अवसर आता है तो पूरी बस्ती के सभी स्त्री-पुरुष एकत्र होकर पत्तियों और जंगली फूलों से अपना शृंगार करते और नाचते-गाते हैं। ये लोग मृतक को कब्र में दफना देते हैं और साथ में कुछ खाना पानी भी रख देते हैं, क्योंकि इनका विश्वास है कि मरने के पश्चात् भी मृत-व्यक्ति को क्षुधा-पिपासा का अनुभव होता रहता है।

पेरॉक के इलाक़े के ऊपरी भागों में जिन सेमांग लोगों की बस्तियाँ पाई जाती हैं, उनमें सभ्यता के चिन्ह धीरे-धीरे

[illegible] जाति के लोग

(दाईं ओर) एक लम्बाई वाले बाँस के नोंगे से फूँक मारकर चिड़िया का शिकार कर रहा है।

(नीचे) [illegible] जाति के लोग।

(बाईं ओर) एक धनुर्धारी वेद्दा शिकारी अपना धनुष संधान रहा है। (नीचे) पत्थर रगड़कर सुलगायी गयी आग से खाना पकाते हुए वेद्दा लोग। (दाहिनी ओर) दो वेद्दा।

नहीं—यह सरदार है। सकाई लोगों की पंचायत द्वारा नियमानुसार चुना हुआ मुखिया। आपको आश्चर्य क्यों? आपको आशा थी कि मुखिया कोई रोबीला, भड़कीले वस्त्र-आभूषण पहने, लम्ब-तड़ंग, मालदार व्यक्ति होगा? सच मानिए, सकाई लोगों के पास धन या पैसा कहलाने वाली वस्तु होती ही नहीं। इस बेचारे के घर में भी कोई विशेषता नहीं, औरों के घरों जैसा इसका घर है, वैसी ही रहन-सहन है। सबके घर एक ही जैसे बने होते हैं। फिर कपड़े-लत्तों को देखिये—बेचारा एक पतली सी लँगोटी लगाए हुए हैं। वृद्ध है, अतएव इसे अधिक वस्त्रों की आवश्यकता भी नहीं। नवयुवक प्रायः सूती कमीज़ पहने रहते हैं जो काँटों की खरोंच और ज़हरीले कीड़ों से उनके शरीर की रक्षा करती है। मुखिया की आयु पचास वर्ष से ऊपर होगी। शरीर की दशा देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि अब इसे अधिक दिनों इस संसार में नहीं रहना है। सकाई जातिवालों की आयु का औसत ही ४०-५० वर्ष है।

मुखिया ने आकर न तो हमारा स्वागत-सत्कार किया, और न कुछ कहा। वह हमारे सामने फ़र्श पर बैठ गया। हमने उसे सिगरेट और दियासलाई पेश की। सिगरेट सुलगाकर वह पीने लगा। अब उसके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट आ गई। पूछने पर पता चला कि मुखिया के दो पत्नियाँ हैं और कई बच्चे। अपने घर से थोड़ी दूर पर उसने रबड़ के कुछ पेड़ लगा रखे हैं। वही उसकी कमाई के साधन हैं। रबड़ के पेड़ों का जमा दूध बहुत सस्ता बिकता है, परन्तु सरकारी कूपन प्राप्त करनेवाले को अच्छे दाम मिल जाते हैं। मुखिया सरकारी कूपन प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा था—चीनी दलालों के द्वारा। हमारे विदा होने पर मुखिया थोड़ी दूर तक हमें पहुँचाने साथ आया। मलाया की इस विचित्र आदिम जाति के विषय में हम अपनी अनेक धारणाएँ लिये लौटे।

वास्तव में, मलाया प्रायद्वीप की आदिम जातियों में सकाई लोगों की प्राचीनता स्पष्ट होती है। उनकी बोली में कुल तीन ही अक्षरों की प्रधानता जान पड़ती है। जलवायु के अनुकूल वे अधिकतर घर से बाहर ही रहते हैं। उनको न तो अतीत का ज्ञान है और न भविष्य की चिन्ता है। धन और पैसा उनके पास नाम को भी नहीं, उनका घर उनकी एकमात्र अस्थायी सम्पत्ति होती है, क्योंकि उसमें भी एक-दो वर्ष से अधिक वे नहीं टिकते। सकाई लोगों की विचारशीलता का केवल एक उदाहरण इस बात में मिलता है कि वे खुले मैदान में वृक्ष लगाते और साधारणतया खेती करते हैं। किसी पहाड़ी के किनारे थोड़ी जगह लेकर उसे आधी दूर तक स्वच्छ कर लेते हैं और आधी जगह खोद डालते हैं। वर्ष में जब वसन्त ऋतु का आगमन होता है तब वे बीज बोकर उनको मिट्टी से ढक देते हैं। बीज बोने के अवसर पर परिवार के सभी व्यक्ति जुटकर काम करते हैं। मकाई, कद्दू, खरबूजे, धान और साबूदाना की खेती विशेषतया की जाती है। समय आने पर फ़सल तैयार होती है और परिवार के पेट का सहारा हो जाता है। खेती के अभाव में वे मछली और फल खाकर रहते हैं। मछलियों और पक्षियों का शिकार, जंगली सुअर का मांस और छोटे-बड़े अन्य जानवर उनकी क्षुधा की निवृत्ति के साधन हैं। भोजन करने का उनका कोई निश्चित समय नहीं होता। जिसे जब, भूख लगती है, खाना खा लेता है। प्रायः रात को सोते से उठकर भी सकाई भोजन करते हैं।

सकाई जाति की स्त्रियाँ जंगली जानवरों को भी अपना दूध पिलाते देखी जाती हैं। बंदर और सुअर के बच्चे प्रायः बड़ी सरलता से उनसे हिल-मिल जाते हैं। पालतू जानवरों को मारकर खाना सकाई लोग बुरा समझते हैं। अपनी स्वतंत्रता की नाईं वे पशुओं की स्वतंत्रता के भी पक्षपाती होते हैं। एक दिन पहले से वे अगले दिन के काम अथवा मनोविनोद की योजनाएँ बनाते और तदनुसार कार्य करते हैं। रात्रि के समय बीच में आग जलाकर चारों ओर सकाई परिवार के लोग एकत्र बैठते हैं। कभी-कभी जी ऊबने पर वे नाच गाकर अपना मनोरंजन करते हैं। कुछ संस्कारों और अन्ध-परम्पराओं का उनमें प्राचीन चलन है। जैसी वैयक्तिक स्वतंत्रता सकाई जाति में पाई जाती है, वैसी अन्य आदिम जातियों में नहीं होती। बचपन से ही सकाई बालक-बालिकाएँ स्वेच्छाचारी होते हैं। इस स्वेच्छाचारिता की सीमा धीरे-धीरे दुर्व्यसन बन जाती है। बच्चों को न तो कभी दण्ड दिया जाता है और न वे पीटे जाते हैं। छोटे-बड़े सभी पारिवारिक पंचायत के अधीन रहते हैं। ये पंचायतें प्रायः तीन बजे प्रातःकाल लगती हैं। पचायत का कार्य समाप्त होने पर कोई मछली मारने चल देता है, कोई खेतों में काम करने जाता है, कोई अपनी प्रेयसी से प्रेमालाप करने के लिये प्रस्थान करता है—वस्तुतः किसी के लिए किसी प्रकार का बंधन नहीं है। इन लोगों में सोने का समय भी निश्चित नहीं है। दिन में या रात में, जब जिसका मन करे, तभी वह सो सकता है।

सिंहली भाषा में उनके झोपड़ों को 'रकुला' कहा जाता है। ये लोग अन्य जातियों के सम्पर्क मे आना पसंद नहीं करते। ग्रामों में रहनेवाले वेद्दा लोग, जो थोड़े-बहुत सभ्य हो चुके हैं, बाहरी लोगों से उतना ही मेल-जोल रखते हैं जितना कि उनको आवश्यक प्रतीत होता है। जाति के बाहर वे विवाह-सम्बन्ध नहीं करते। इतना ही नहीं, वल्कि ग्रामनिवासी वेद्दा और जंगल के रहनेवाले वेद्दा भी परस्पर कभी शादी व्याह का सम्बन्ध नहीं करते। वेद्दा लोग सरल-स्वभाव, बाहरी दुनिया से शर्मीले और सादी रहन-सहन वाले होते हैं। शिकार ही उनका मुख्य उद्यम होता है, जिसके लिए धनुष-बाण और लाठी का वे उपयोग करते हैं। वे प्रायः जंगलों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक फिरते रहते हैं, क्योंकि जहाँ शिकार की प्रचुरता हो वहीं उनका निर्वाह हो सकता है। हाथों और पैरों की सहायता से वे धनुष चलाते हैं, जो लचीली लकड़ी के बने होते हैं। लकड़ी के पतले बाण, जिनके सिरे पर लोहे का फल लगा होता है, वे धनुष से चलाते हैं। लाठी के सिरे पर वे लोहा या पत्थर लगाते हैं, जिसकी चोट बड़ी सांघातिक होती है। निशाना लगाने में वेद्दा लोग बड़े कुशल होते हैं।

पशु-पक्षियों के शिकार के अतिरिक्त वे पोखरों और तालाबों के जल में ज़हर मिलाकर मछलियाँ भी मार लेते हैं। जंगली मधुमक्खियों के छत्तों से वे शहद निकालते हैं और उसे चाव से खाते हैं। जंगल में पाये जाने वाले कन्द-मूल तथा फल भी उनका आहार हैं। एक प्रकार से वेद्दा सर्वभक्षी होते हैं। वे चिमगादड़, कौए, उल्लू, चील आदि सभी कुछ मारकर खा जाते हैं। रीछ, हाथी और भैंसा, यही तीन जीवधारी ऐसे हैं जिनको वे आहार नहीं बनाते। वे लोग पशु-पक्षियों के मांस को बहुत दिनों तक ताज़ा रखने की युक्ति भी जानते हैं। किसी वृक्ष के तने को भीतर से खोखला करके उसमें मांस रख दिया जाता है। ऊपर से शहद भर दिया जाता है। फिर चिकनी मिट्टी की तह लगाकर वे तने का मुँह बिल्कुल बंद कर देते हैं। सुनते हैं, इस प्रकार रखा हुआ मांस महीनों ख़राब नहीं होता और आवश्यकता के समय वे उसे निकालकर क्षुधा-निवारण करते हैं। वेद्दा लोग मांस को आग में भूनकर खाते हैं। गिलहरी, गिरगिट और बंदरों का भुना मांस उनको बहुत प्रिय होता है। वे शिकारी कुत्ते भी पालते हैं और उनसे काम लेते हैं। हाथियों को वे बड़ी युक्ति से पकड़ते और पालतू बना लेते हैं।

जंगली वेद्दा लोगों के शरीर का रंग काला होता है। उनकी नाक चिपटी और सिर छोटा होता है। केश कमर तक लम्बे और उलझे होते हैं। मूछें और दाढ़ियाँ लम्बी, घनी और विस्तृत होती हैं, जिनको वे कभी नहीं छाँटते और स्वाभाविक रूप से बढने देते हैं। वेद्दा लोगों की आकृति नितान्त भद्दी और बदसूरत होती है। उनका क़द नाटा होता है। पाँच फ़ीट से ऊँचा व्यक्ति विरला ही उनमें कोई होगा। शरीर उनका छरहरा परन्तु गठा हुआ होता है। स्त्रियाँ भी पुरुषों जैसी कुरूप होती हैं और प्रायः नग्न रहती हैं। इनके बालक-बालिकायें दुबले पतले और कमज़ोर होते हैं। पुरुष लोग कपड़े का एक छोटा टुकड़ा पहनते हैं, जिसका एक छोर सामने लटका करता है। उस कपड़े का दूसरा छोर कमर में बँधी मूँज की मेखला में पीछे की ओर लिपटा रहता है। इससे अधिक वस्त्र वे नहीं पहनते।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, वेद्दा अधिकांश मे मूर्ति-पूजक होते हैं। वे अपने पितरों, भूतप्रेतों, नक्षत्रों और कुछ विचित्र देवी देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे अवसरों पर वे एकत्र होकर नाचते तथा ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाते हैं। उनका विश्वास है कि इस कार्य्य से दुष्ट प्रेतात्मायें भाग जाती हैं और स्वर्गीय पितरों को नहीं सतातीं। वेद्दा लोगों में मृतकों को जलाने या गाड़ने का नियम नहीं है। मुर्दे को जंगल के बीच मे रखकर पत्तियों से ढक दिया जाता है, जिसे जंगल के पशु-पक्षी खा जाते हैं।

वेद्दा जाति की अनेक उपजातियाँ हैं। प्रत्येक उपजाति में एक सरदार या मुखिया होता है, जो बहुमत से चुना जाता है। जाति के सब लोग उसका शासन मानते हैं और वही उनके पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करता है। मुखिया का बड़ा आदर सम्मान किया जाता है। प्रत्येक बस्ती में पेड़ के ऊपर एक ऊँचा मचान बाँधा जाता है, जिस पर बैठकर लोग पहरा दिया करते हैं, क्योंकि जंगली हाथियों तथा अन्य हिंस्र पशुओं का उनके देश में बड़ा भय रहता है। रीछ से वे लोग बहुत डरते हैं और सावधान रहते हैं, क्योंकि रीछ प्रायः उनके एकत्र किए हुए शहद को खा जाता है। वेद्दा लोग क्रय-विक्रय में रुपये-पैसे का व्यवहार नहीं करते। व्यापारियों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ख़रीदकर बदले में मधुमक्खियों का मोम, हिरण की खाल और सींग दे देते हैं। गाँवों में रहनेवाले अर्धसभ्य वेद्दा खेती-बारी करते तथा अन्य व्यवसायियों से सम्बन्ध रखते हैं। समय के साथ-साथ उनकी रहन-सहन की परिष्कृति हो चुकी है।

विश्व की कहानी

एक भीमकाय विद्युत्-मोटर
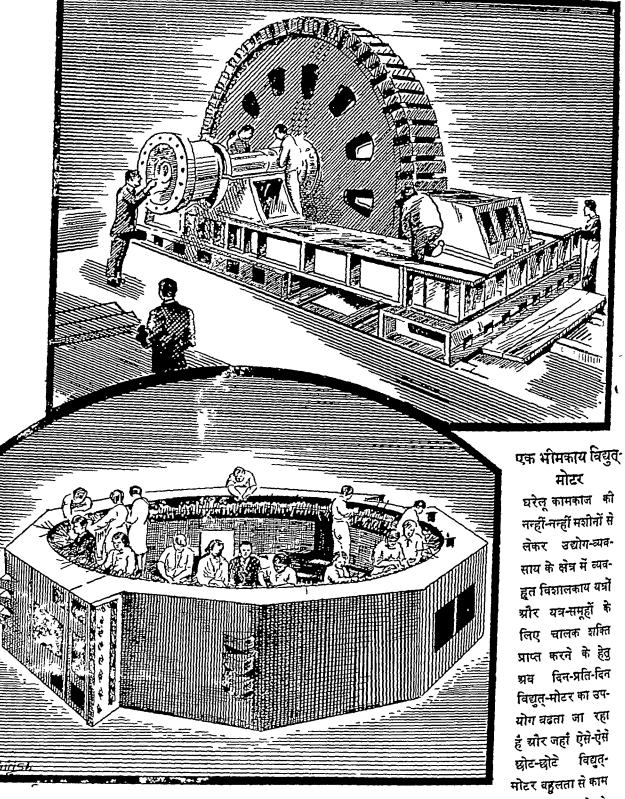
घरेलू कामकाज की नन्हीं-नन्हीं मशीनों से लेकर उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में व्यवहृत विशालकाय यन्त्रों और यन्त्र-समूहों के लिए चालक शक्ति प्राप्त करने के हेतु अब दिन-प्रति-दिन विद्युत्-मोटर का उपयोग बढ़ता जा रहा है और जहां ऐसे-ऐसे छोटे-छोटे विद्युत्-मोटर बहुलता से काम में लाये जाने लगे हैं जो कि आसानी से हमारी मुट्ठी में बंद किये जा सकते हैं, वहां विशेष कार्यों के लिए ऐसे भीमकाय मोटरों का भी निर्माण किया गया है, जिनके कि 'स्टेटर' के भीतर पचासों आदमी समा सकते हैं। प्रस्तुत चित्र में एक ऐसे ही विशालकाय विद्युत्-मोटर का दिग्दर्शन कराया गया है। यह लगभग आठ हजार अश्वबल की शक्ति प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। चित्र के ऊपर के भाग में उक्त मोटर के लगभग सोलह सौ मन वजनी 'रोटर' की झांकी है। नीचे के भाग में स्टेटर के विद्युत्-चुंबकीय वेष्ठन की बुनाई का दृश्य है। जरा गौर कीजिए, कितने आदमी मोटर के इस कवच के भीतर खड़े हैं!

विद्युत्-मोटर का सिद्धान्त

बहुत अधिक पड़ता था, लगभग १०० वोल्टाई सेल से विद्युत्-धारा लेनी पड़ती थी। एक विशेषज्ञ ने हिसाब लगाया था कि बैटरी की विद्युत्-धारा से विद्युत्-मोटर चलाने में वाष्प-शक्ति की तुलना में ६० गुना अधिक ख़र्च बैठता था! अतः बैटरी की विद्युत्-धारा से चलनेवाले विद्युत्-मोटर उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में अपने लिये स्थान प्राप्त नहीं कर सके। सन् १८७३ ई० में जब डायनमो का उपयोग एक बड़े पैमाने पर होने लग गया था, तभी डायनमो की विद्युत्-धारा से चलनेवाले विद्युत्-मोटरों का भी कल-कारख़ानों में एक बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा था। डायनमो से

फ्लेमिंग का बायें हाथ का नियम

उत्पन्न की गयी विद्युत्-धारा प्रबल होती है तथा बैटरी की विद्युत्-धारा की तुलना में बहुत सस्ती भी पड़ती है।

सिद्धान्त—विद्युत्-मोटर का सिद्धान्त समझने के लिये एक दिलचस्प प्रयोग किया जा सकता है। मेज पर दो छड़-चुम्बकों को इस प्रकार एक सीध में लिटाकर रखिये कि उनके विरोधी ध्रुवों के बीच थोड़ी जगह खाली रहे। इस खाली जगह में चीनी मिट्टी की किश्तीनुमा प्याली रखकर उसमें पारा भर दीजिए तथा लकड़ी के स्टैण्ड से ताँबे का तार इस प्रकार लटकाइए कि इसका निचला सिरा पारे में डूबता रहे। पारे की सतह के एक कोने में बैटरी के ऋण सिरे से तार ले आइए तथा स्टैण्ड से लटकनेवाले तार के ऊपरी सिरे का सम्बन्ध तार द्वारा बैटरी की धनात्मक प्लेट से जोड़िए। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि तार सामने की ओर तेज़ी से खिंच आता है, यहाँ तक कि लटके हुए तार का निचला सिरा पारे से बाहर आ जाता है। ठीक इसी क्षण सर्किट टूट जाने से तार में विद्युत्-धारा का प्रवाह जब रुक जाता है तो तार पुनः अपनी पूर्वस्थिति में चला जाता है। अब सर्किट फिर पूरा हो जाने पर उसी क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होती है। यदि विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा उलट दी जाय तो तार पहले की विपरीत दिशा में भागता है (देखिये इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र)।

इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी धातु के टुकड़े को चुम्बकीय क्षेत्र में रखकर उसमें से यदि विद्युत्-धारा प्रवाहित कराई जाय तो इस धातु के टुकड़े में गति होती है, जो चुम्बकीय क्षेत्र तथा विद्युत्-धारा दोनों की दिशा तथा प्रबलता पर निर्भर करती है। वास्तव में एक विद्युत्-इञ्जीनियर प्रो० फ्लेमिंग ने इस सम्बन्ध में एक नियम का प्रतिपादन किया था, जिसे 'फ्लेमिंग का बायें हाथ का नियम' कहते हैं। नियम इस प्रकार है—"अपने बायें हाथ को फैलाकर उँगलियों इस प्रकार रखिये कि अँगूठा, तर्जनी तथा मध्य उँगली परस्पर एक दूसरे की समकोण दिशा में स्थित हों। अब यदि तर्जनी चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा बतलाये, तथा मध्य उँगली विद्युत्-प्रवाह की दिशा प्रकट करे तो वह धातु का टुकड़ा जिसमें विद्युत् का प्रवाह हो रहा है, अँगूठे की दिशा में गति करेगा।"

विद्युत्-मोटर के भाग

विद्युत्-मोटर का निर्माण उपर्युक्त सिद्धान्त पर किया गया है। संक्षेप में विद्युत्-मोटर के तीन मुख्य भाग होते हैं—प्रथम एक विद्युत्-चुम्बक, जिसके दोनों ध्रुवों के बीच की जगह में प्रबल चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है; द्वितीय

व्यवहार में विद्युत्-मोटर के घूमनेवाले भाग ('आर्मेचर') में कई वेष्ठन एक ढोलनुमा कच्चे लोहे के पिण्ड पर लपेटे जाते हैं, तथा आर्मेचर पर जितने वेष्ठन होते हैं उतने ही जोड़े भागों में कम्युटेटर को भी विभाजित किया जाता है। ऐसे विद्युत्-मोटर से प्राप्त घुमाव-बल का परिमाण आर्मेचर की हर स्थिति में एक-सा बना रहता है। घुमाव-बल को सम बनाने के निमित्त, आर्मेचर जिस विद्युत्-चुम्बक के क्षेत्र में घूमता है उसके ध्रुवों की संख्या भी बढा देते हैं तथा उन्हें एक वृत्त के आकार में रखते हैं ताकि विरोधी ध्रुव एक दूसरे के ठीक सामने पड़ें। वास्तव में सरल विद्युत्-धारा के तार के पतले तथा लम्बे होते हैं तथा ये आर्मेचर के वेष्ठन के साथ समानान्तर जुड़े रहते हैं। श्रेणीबद्ध मोटर में विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन में अपेक्षाकृत मोटे तार होते हैं, जिनकी लम्बाई समानान्तरबद्ध मशीनवाले वेष्ठन के तार की अपेक्षा कम रहती है। यह वेष्ठन ख आर्मेचर के वेष्ठन के साथ श्रेणी में जुड़ा रहता है। मिश्रित बद्ध मोटर में विद्युत्-चुम्बक पर दो वेष्ठन क ख लपेटे जाते हैं। मोटे तार का वेष्ठन आर्मेचर के वेष्ठन के साथ श्रेणी में जुड़ा रहता है तथा पतले तार का वेष्ठन समानान्तर में (देखिए पृ० ३२०६ के ऊपरी चित्र)। चित्र में चुम्बक के वेष्ठन के साथ 'प्र' प्रतिरोधक

सरल धारा (डी० सी०) मोटर का रोटर

चित्र में आर्मेचर का वेष्ठन और कम्युटेटर तीर के निशानों द्वारा सूचित है। बाईं ओर, जो खाँचेदार पहिया-सा लगा है, वह एक प्रकार के पंखे का काम देता है, जो मोटर को ठंढा रखने में मदद देता है।

(डी० सी०) के मोटर की बनावट लगभग सरल धारा डायनमो सरीखी ही होती है। बल्कि सच तो यह है कि किसी भी सरल धारा डायनमो से विद्युत्-मोटर का काम लिया जा सकता है।

मोटर के विद्युत्-चुम्बक में चुम्बकत्व का समावेश कराने के लिये उसी वाह्य विद्युत्-धारा को काम में ले आते हैं जो मोटर के आर्मेचर के वेष्ठन में भेजी जाती है। अतः डायनमो की भाँति ही विद्युत्-मोटर को भी इस दृष्टिकोण से तीन जातियों में रख सकते हैं—१ समानान्तरबद्ध, २ श्रेणीबद्ध, तथा ३. मिश्रित बद्ध।

समानान्तरबद्ध विद्युत्-मोटर में विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन (रीओस्टैट) भी लगा है। इसकी सहायता से चुम्बक के वेष्ठन में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा का मान घटा-बढा सकते हैं और तदनुसार मोटर की चाल भी घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

समानान्तरबद्ध सरल धारा मोटर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस मशीन को यह चलाता है, उस पर कार्य-भार (load) बढ़े या घटे, हर दशा में मोटर की चाल एक-सी बनी रहती है। अत. समानान्तरबद्ध मोटर प्रायः मशीन के पुर्जे बनाने के यंत्रों के परिचालन, सूत कातने की मशीन, खराद की मशीन तथा पम्प के परिचालन के निमित्त प्रयुक्त किये जाते हैं। समानान्तरबद्ध मोटर के

व्यवहार में विद्युत्-मोटर के घूमनेवाले भाग ('आर्मेचर') में कई वेष्ठन एक ढोलनुमा कच्चे लोहे के पिण्ड पर लपेटे जाते हैं, तथा आर्मेचर पर जितने वेष्ठन होते हैं उतने ही जोड़े भागों में कम्युटेटर को भी विभाजित किया जाता है। ऐसे विद्युत्-मोटर से प्राप्त घुमाव-बल का परिमाण आर्मेचर की हर स्थिति में एक-सा बना रहता है। घुमाव-बल को सम बनाने के निमित्त, आर्मेचर जिस विद्युत्-चुम्बक के क्षेत्र में घूमता है उसके ध्रुवों की संख्या भी बढा देते हैं तथा उन्हें एक वृत्त के आकार में रखते हैं ताकि विरोधी ध्रुव एक दूसरे के ठीक सामने पड़ें। वास्तव में सरल विद्युत्-धारा के तार क पतले तथा लम्बे होते हैं तथा ये आर्मेचर के वेष्ठन के साथ समानान्तर जुड़े रहते हैं। श्रेणीबद्ध मोटर में विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन में अपेक्षाकृत मोटे तार होते हैं, जिनकी लम्बाई समानान्तरबद्ध मशीनवाले वेष्ठन के तार की अपेक्षा कम रहती है। यह वेष्ठन ख आर्मेचर के वेष्ठन के साथ श्रेणी में जुडा रहता है। मिश्रित बद्ध मोटर में विद्युत्-चुम्बक पर दो वेष्ठन क ख लपेटे जाते हैं। मोटे तार का वेष्ठन आर्मेचर के वेष्ठन के साथ श्रेणी में जुडा रहता है तथा पतले तार का वेष्ठन समानान्तर में (देखिए पृ० ३२०६ के ऊपरी चित्र)। चित्र में चुम्बक के वेष्ठन के साथ 'प्र' प्रतिरोधक

सरल धारा (डी० सी०) मोटर का रोटर

चित्र में आर्मेचर का वेष्ठन और कम्युटेटर तीर के निशानों द्वारा सूचित हैं। बाईं ओर, जो खाँचेदार पहिया-सा लगा है, वह एक प्रकार के पखे का काम देता है, जो मोटर को ठढा रखने में मदद देता है।

(डी० सी०) के मोटर की बनावट लगभग सरल धारा डायनमो सरीखी ही होती है। बल्कि सच तो यह है कि किसी भी सरल धारा डायनमो से विद्युत्-मोटर का काम लिया जा सकता है।

मोटर के विद्युत्-चुम्बक में चुम्बकत्व का समावेश कराने के लिये उसी वाह्य विद्युत्-धारा को काम में ले आते हैं जो मोटर के आर्मेचर के वेष्ठन में भेजी जाती है। अतः डायनमो की भाँति ही विद्युत्-मोटर को भी इस दृष्टिकोण से तीन जातियों में रख सकते हैं—१ समानान्तरबद्ध, २ श्रेणी-बद्ध, तथा ३ मिश्रित बद्ध।

समानान्तरबद्ध विद्युत्-मोटर में विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन (रीओस्टैट) भी लगा है। इसकी सहायता से चुम्बक के वेष्ठन में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा का मान घटा-बढा सकते हैं और तदनुसार मोटर की चाल भी घटाई-बढाई जा सकती है।

समानान्तरबद्ध सरल धारा मोटर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस मशीन को यह चलाता है, उस पर कार्य-भार (load) बढे या घटे, हर दशा में मोटर की चाल एक-सी बनी रहती है। अतः समानान्तरबद्ध मोटर प्रायः मशीन के पुर्जे बनाने के यन्त्रों के परिचालन, सूत कातने की मशीन, खराद की मशीन तथा पम्प के परिचालन के निमित्त प्रयुक्त किये जाते हैं। समानान्तरबद्ध मोटर के

चुम्बकवाले वेष्ठन में सप्लाई की विद्युत्-धारा का अल्पांश ही प्रवाहित होता है। सिलाई की मशीन आदि चलाने के लिये भी इसी जाति के विद्युत्-मोटर प्रयुक्त किये जाते हैं।

श्रेणीबद्ध सरल धारा मोटर में जिस क्षण विद्युत्-धारा को प्रवाहित कराना आरम्भ करते हैं उसी क्षण उसमें घुमाव का अत्यधिक बल उत्पन्न होता है। वास्तव में श्रेणीबद्ध मोटर की चाल जितनी कम होती है उतना ही अधिक घुमाव-बल वह उत्पन्न करता है। अत. विद्युत्-ट्रेन, ट्राम-कार एलिवेटर, लिफ्ट तथा क्रेन आदि के परिचालन के लिये श्रेणीबद्ध मोटर ही प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि विद्युत्-ट्रेन या क्रेन को चलाना आरम्भ करते समय उस पर घुमाव का अत्यधिक बल लगना आवश्यक होता है। ऐसे मोटर को यदि खाली (बिना किसी मशीन से जोडे हुए) चला दिया जाय तो बाह्य कार्यभार शून्य होने के कारण इसका आर्मेचर बहुत ही तेजी के साथ चक्कर लगाने लगता है और प्राय: इस क्रिया में इतना अधिक केन्द्रापसारी (सेन्ट्रीफ्यूगल) बल उत्पन्न होता है कि आर्मेचर की धज्जियाँ उड़ जाती हैं! इस दु:सम्भावना को रोकने के निमित्त श्रेणीबद्ध मोटर की धुरी सदैव ही दाँतदार पहिये द्वारा उस मशीन की धुरी से जुड़ी रहती है, जिसको घुमाना अभीष्ट है। अतः मोटर जब कभी 'स्टार्ट' होगा तभी मशीन को घुमाने का भार इस पर मौजूद होगा और फलतः मोटर खाली न घूम सकेगा।

सरल धारा (डी० सी०) मोटर का स्टेटर
वृत्ताकार सजे हुए विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र के ध्रुवों की सख्या पर ध्यान दीजिये।

मिश्रित बद्ध मोटर में कुछ-कुछ अंशों में उपर्युक्त दोनों प्रकार के मोटर के गुण मौजूद रहते हैं—अर्थात् ये ऐसी मशीनों को चलाने के काम आते हैं, जिनको 'स्टार्ट' करने के निमित्त विशेष घुमाव-बल चाहिए, साथ ही यदि बाह्य कार्यभार अचानक कम भी हो जाय तो मोटर की चाल अचानक अत्यधिक बढ़ न जाय। मिश्रित बद्ध मोटर द्वारा प्राय: उन मशीनों के घुमाने का काम लिया जाता है जिनकी धुरी पर 'फ्लाईह्वील' लगा रहता है। फ्लाईह्वील अपने जडत्वघूर्ण के कारण मोटर की चाल को सम बनाये रखता है।

मोटर के स्टार्ट करने में सावधानी

स्पष्ट है कि जब विद्युत्-मोटर का आर्मेचर उसे घेरनेवाले चुम्बकीय क्षेत्र में घूमता है तो आर्मेचर के वेष्ठन में उपपादन द्वारा विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है, जो सप्लाई की विद्युत्-धारा की प्रतिकूल दिशा में होती है, क्योंकि इस दशा में मोटर एक डायनमो सरीखा काम करता है। अवश्य इस तरह वेष्ठन में उत्पन्न होनेवाली विद्युत्-धारा सप्लाई की विद्युत्-धारा से कम प्रबल होती है। अतः आर्मेचर के वेष्ठन में एक क्षीण विद्युत्-धारा ही उस वक्त प्रवाहित होती रहती है, जब कि यह घूमता रहता है। आर्मेचर को घुमाव का बल इसी क्षीण धारा द्वारा प्राप्त होता है। अतः जब मोटर स्थिर दशा में रहता है, तो उस समय यदि आर्मेचर के वेष्ठन-तार के दोनों सिरों को कम्युटेटर द्वारा सप्लाई के तारों से जोड़ दें, तो ठीक उस क्षण अत्यन्त प्रबल धारा आर्मेचर के वेष्ठन में से प्रवाहित होगी, क्योंकि उस क्षण आर्मेचर के वेष्ठन में विरोधी दिशा में प्रवाहित होने वाली विद्युत्-धारा अभी उत्पन्न हो नहीं पायी है। फल यह होगा कि इस अत्यन्त प्रबल धारा के कारण आर्मेचर का वेष्ठन तप्त होकर जल जायगा। अतः इस दु.सम्भावना से बचने के लिये शक्तिशाली विद्युत्-मोटर के साथ रेगुलेटर के तार के छल्ले लगे रहते हैं। मोटर स्टार्ट करते समय सप्लाई की विद्युत्-धारा इन छल्लों में से प्रवाहित होती हुई आर्मेचर के वेष्ठन में प्रवेश करती है। अतः प्रारम्भ में आर्मेचर की विद्युत्-धारा अधिक प्रबल नहीं होने पाती है। आर्मेचर जब घूमने लग जाता है, तब विरोधी दिशा में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा उत्पन्न होती है और तब धीरे-धीरे रेगुलेटर के लीवर को खिसकाकर छल्लों को
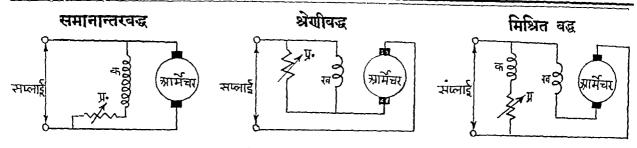
समानान्तरवद्ध, श्रेणीवद्ध और मिश्रित वद्ध मोटरों के सिद्धान्त

आर्मेचर की सर्किट से बाहर कर देते हैं। अब मान लीजिए कि मोटर जिस समय पूरी चाल से घूम रहा है, उस समय अचानक पावरहाउस से आनेवाली विद्युत् रुक गयी तो इस क्षण मोटर भी रुक जायगा। किन्तु रेगुलेटर का लीवर अपनी अन्तिम स्थिति में होगा और पुन. विद्युत्-प्रवाह यदि जारी हुआ तो विद्युत्-धारा अपनी पूर्ण प्रबलता के साथ आर्मेचर के वेष्ठन में प्रवाहित होगी, अतः आर्मेचर के जल जाने का ख़तरा उत्पन्न होगा। इस कारण रेगुलेटर इस प्रकार बनाये जाते हैं कि विद्युत्-प्रवाह के रुक जाने पर उसका लीवर पुनः अपनी पूर्व स्थिति पर पहुँच जाय ताकि जब कभी मोटर में फिर विद्युत्-प्रवाह हो तो रेगुलेटर के तार के छल्लों से होकर ही विद्युत्-धारा आर्मेचर के वेष्ठन में प्रवाहित हो।

इसी पृष्ठ के निचले चित्र में श्रेणीबद्ध सरल धारा मोटर में प्रयुक्त रेगुलेटर दिखलाया गया है। इसमें लीवर बायीं ओर एक कमानी द्वारा खिंचा रहता है। चित्र में कमानी नहीं दिखलाई गयी है। मोटर चालू करते समय लीवर बायीं ओर की स्थिति 'क' पर रहता है। अतः पावरहाउस की विद्युत्-धारा रेगुलेटर 'र' के तमाम छल्लों में से होकर ही आर्मेचर तथा मोटर के चुम्बक के वेष्ठन में प्रवाहित होती है। धीरे-धीरे लीवर को खिसकाकर 'ख' पर कर देते हैं। अब लीवर छोटे विद्युत्-चुम्बक 'च' के आकर्षण-बल के कारण इस स्थिति पर टिका रहता है तथा पावर-हाउस की विद्युत्-धारा पूरी प्रबलता के साथ मोटर के आर्मेचर तथा चुम्बक-वेष्ठन में प्रवाहित होती है। यदि पावर-सप्लाई अचानक बन्द हो जाय तो चुम्बक 'च' भी अपनी चुम्बकत्व-शक्ति खो देता है। अतः अपनी कमानी के खिंचाव के कारण लीवर पुन. अपनी स्थिति 'क' पर पहुँच जाता है।

समानान्तरवद्ध सरल धारा मोटर के लिये प्रयुक्त होनेवाला रेगुलेटर अगले पृष्ठ के ऊपरी चित्र में दिखलाया गया है। समानान्तरवद्ध मोटर को स्टार्ट करते समय आर्मेचर के वेष्ठन में तो विद्युत्-धारा का प्रवाह कम होना चाहिये, किन्तु मोटर के चुम्बक-वेष्ठन में प्रारम्भ में तो विद्युत्-धारा की पूरी प्रबलता का प्रवाह होना चाहिये। अत. स्थिति 'क' पर लीवर जब रहता है तो चुम्बक-वेष्ठन में पावरहाउस की
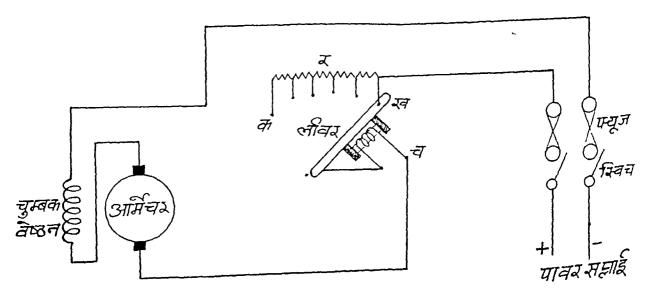
श्रेणीवद्ध सरल धारा मोटर को चालू करने का रेगुलेटर
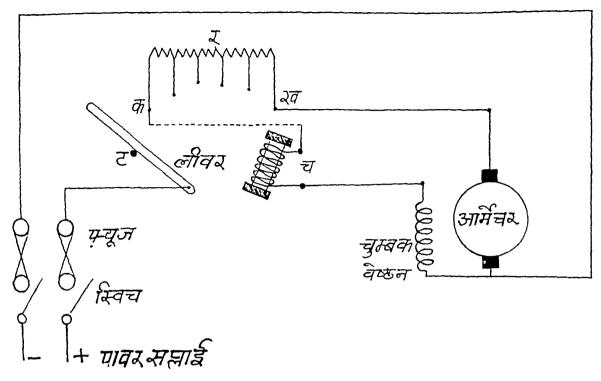
समानान्तरबद्ध सरल धारा मोटर का रेगुलेटर

धारा सीधे ही प्रवेश करती है, किन्तु आर्मेचर के वेष्ठन में प्रवाहित होने के पूर्व उसे रेगुलेटर 'र' के सभी छल्लों में से गुज़रना पड़ता है। लीवर को खिसकाकर जब स्थिति 'ख' पर रखते हैं, तब आर्मेचर में तो पावरहाउस की विद्युत् पूर्ण प्रबलता के साथ बहने लगती है, किन्तु चुम्बक-वेष्ठन में प्रवाहित होने के पूर्व अब उसे रेगुलेटर के सभी छल्लों में से गुजरना पड़ता है। छोटा चुम्बक 'च' लीवर को स्थिति 'ख' में रोके रहता है। यदि पावरहाउस का विद्युत्-धारा अचानक रुक जाय तब च भी अपनी चुम्बकत्व-शक्ति खो देता है। फलस्वरूप कमानी के खिंचाव के कारण लीवर 'ड्रील' ट से जा लगता है। मोटर पुनः स्टार्ट करने के लिये आवश्यक है कि लीवर खिसकाकर क पर लाया जाय।
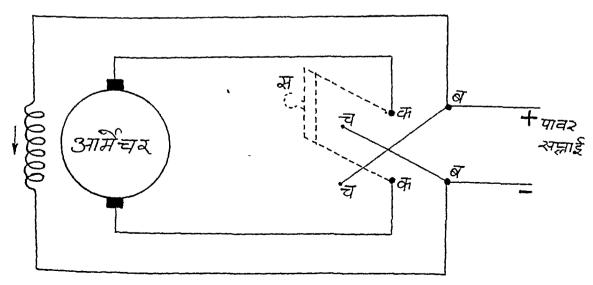
सरल धारा समानान्तरबद्ध विद्युत्-मोटर के घूमने की दिशा बदलने का यंत्र
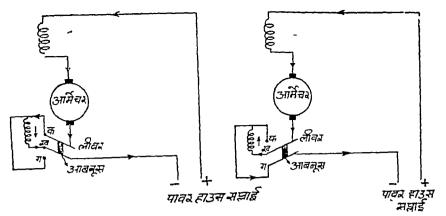
श्रेणीवद्ध विद्युत्-मोटर के घूमने की दिशा वदलने के यंत्र का सिद्धान्त
(बाईं ओर) लीवर की इस स्थिति में विद्युत्-धारा 'क' से चुम्बकवेष्ठन में ख की ओर प्रवाहित होती है। सिरा ग इस समय काम में नहीं आ रहा है। (दाहिनी ओर) लीवर की इस बदली हुई स्थिति के कारण अव धारा सिरे ख से चुम्बक-वेष्ठन में प्रवाहित होकर ग को जाती है। सिरा क काम में नहीं आ रहा है।

प्रबन्ध करना पड़ता है, ताकि इसकी सहायता से यदि विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा उलट जाय तो आर्मेचर के वेष्ठन में दिशा पूर्ववत् बनी रहे।

श्रेणीवद्ध सरल धारा मोटर की दिशा वदलने के निमित्त स्विच का प्रबन्ध इसी पृष्ठ के चित्र के अनुसार किया जाता है। लीवर की एक स्थिति में विद्युत्-मोटर यदि विद्युत्-ट्रेन को आगे खींचता है तो दूसरी स्थिति में विद्युत्-चुम्बक के वेष्ठन में विद्युत्-धारा के प्रवाह की दिशा उलट जाने से मोटर विद्युत्-ट्रेन को पीछे की ओर खींचने लगता है।

विद्युत्-मोटर के घूमने की दिशा वदलना

विद्युत्-ट्रेन अथवा ट्रामगाडी खींचने के निमित्त प्रयुक्त होनेवाले विद्युत्-मोटर के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके घूमने की दिशा उलटी जा सके। सरल धारा मोटर में सहज ही देखा जा सकता है कि विद्युत्-चुम्बक अथवा आर्मेचर में से किसी एक के वेष्ठन में हो यदि विद्युत्-धारा की दिशा बदली जाय तो आर्मेचर उलटी दिशा में घूमेगा। यदि दोनों के वेष्ठन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा को उलट दें तव मोटर पूर्ववत् दिशा में ही घूमता रहेगा। अतः मोटर की दिशा वदलने के लिये स्विच का विशेष
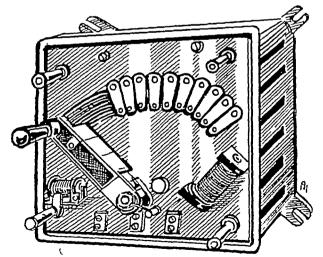
आम तौर पर काम में लाया जाया जानेवाला सरल धारा (डी० सी०) मोटर का स्टार्टर

समानान्तरवद्ध सरल धारा मोटर में उसकी दिशा वदलने के लिये प्रायः ऐसे स्विच का आयोजन करते हैं, जिसकी सहायता से चुम्बक के वेष्ठन में विद्युत् के प्रवाह की दिशा को बिना वदले हुए ही आर्मेचर के वेष्ठन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा वदल जाती है। पृ० ३२०७ के चित्र के अनुसार स्विच **स** कब्ज़े द्वारा **क क** पर घूम सकता है। यह स्विच जव **ब ब** को छूता है तो आर्मेचर-वेष्ठन से एक ओर को विद्युत् प्रवाहित होती है और जव इस स्विच को घुमाकर **च च** से मिला देते हैं, तव आर्मेचर के वेष्ठन में विद्युत्-धारा का प्रवाह उलट जाता है। किन्तु दोनों ही दशाओं में चुम्बक के वेष्ठन में विद्युत्-प्रवाह की दिशा एक सी वनी रहती है।

प्रत्यावर्त्तक धारा (ए० सी०) मोटर

किसी भी सरल धारा मोटर के वेष्ठन में प्रत्यावर्त्तक धारा को प्रविष्ट कराने पर वह एक ही दिशा में वरावर घूमेगा, क्योंकि हम देख चुके हैं कि यदि आर्मेचर तथा चुम्बक-वेष्ठन दोनों में विद्युत्-धारा की दिशा उलट दी जाय तो आर्मेचर के घूमने की दिशा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। किन्तु साधारणतः छोटे मोटर ही ऐसे वनाये जाते हैं कि वे सरल धारा अथवा प्रत्यावर्त्तक धारा दोनों से ही चलाये जा सकें। ये "यूनिवर्सल" मोटर कहलाते हैं। इस ढग के वने मोटर को जव प्रत्यावर्त्तक धारा से चलाते हैं तो इसमें शक्ति का अपव्यय अधिक होता है।

कल-कारखानों में वड़े पैमाने पर विशुद्ध प्रत्यावर्त्तक धारा के मोटर ही प्रयुक्त होते हैं। ये केवल प्रत्यावर्त्तक धारा से चल सकते हैं, सरल धारा से नहीं। उन्हें प्राय. उपपादन
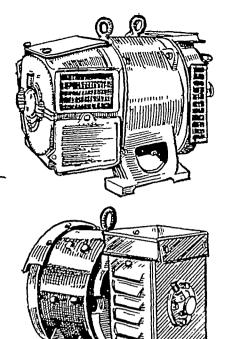
दो प्रकार के सरल धारा
(डी० सी०) मोटर

(ऊपर) जालीदार मोटर, जिसमें हवा के आने-जाने की प्रचुर व्यवस्था है। (नीचे) पानी की बौछार से बचाने के प्रबंध से युक्त मोटर।
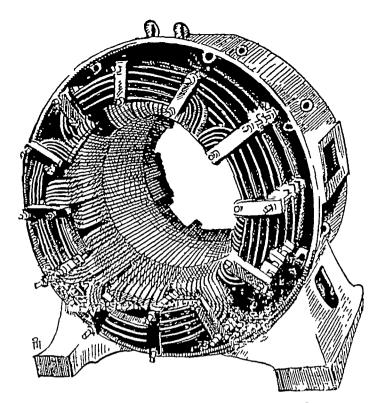
प्रत्यावर्त्तक धारा (ए० सी०) मोटर का स्टेटर

विशेष प्रकार की वेष्ठन-रचना पर ध्यान दीजिए।

(बाईं ओर)
प्रत्यावर्त्तक (ए० सी०) धारा मोटर के रोटरों के दो प्रकार
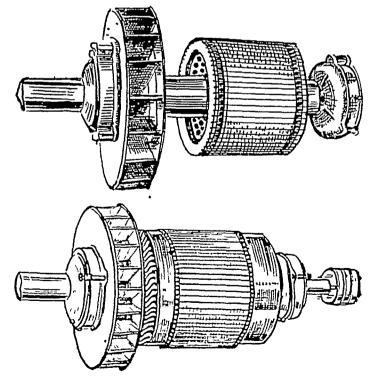
(ऊपर) इस प्रकार के रोटर को इंजीनियरों की भाषा में 'स्क्विरल केज रोटर' कहते हैं। (नीचे) यह रोटर 'स्लिपरिंग रोटर' कहलाता है। दोनों के आर्मेचर के वेष्ठनों की बनावट पर ध्यान दीजिए। बाईं ओर जो खांचेदार पहिया लगा है, उससे तो आप परिचित हैं ही—वह मोटर को ठंडा रखने में मदद देता है।

(इन्डक्शन) मोटर के नाम से भी पुकारते हैं। इस ढग के विद्युत्-मोटर में कच्चे लोहे की बाहरी 'केसिंग' पर प्रायः तीन वेष्ठन इस प्रकार लपेटे गये होते हैं कि ये एक दूसरे के साथ १२० का कोण बनाते हैं। इस केसिंग के बीच में कच्चे लोहे के बेलनाकार पिण्ड पर आर्मेचर के तार लपेटे गये होते हैं, जिनके सिरे एक दूसरे से मिला दिये जाते हैं, ताकि सर्किट बन्द हो जाय। इस आर्मेचर को विशेष नाम 'रोटर' दिया गया है। बाहरी केसिंग को 'स्टेटर' के नाम से पुकारते हैं। स्टेटर के तीनों वेष्ठनों में सप्लाई कम्पनी की तीन प्रत्यावर्त्तक धाराएँ अलग-अलग इस प्रकार प्रवाहित होती हैं कि पहले एक धारा की प्रबलता महत्तम पहुँचती है, फिर दूसरी धारा की और अन्त में तीसरी धारा की। इस ढग की सप्लाई को तीन कला (थ्री फेज़) की सप्लाई कहते हैं। फल यह होता है कि सप्लाई की प्रत्यावर्त्तक धारा जब स्टेटर के वेष्ठनों में प्रवाहित होती है तब इससे उत्पन्न होनेवाला चुम्बक-क्षेत्र धुरी के गिर्द चक्कर करता है। इस क्षेत्र के कारण 'रोटर' के वेष्ठन में उपपादन द्वारा विद्युत्-धारा बनती है, जिसकी प्रतिक्रिया के बल से 'रोटर' भी घूमने लगता है। स्मरण रहे कि इस ढंग के मोटर के 'रोटर' में सप्लाई की विद्युत्-धारा प्रवेश ही नहीं करती है। अतः कम्युटेटर या ब्रुश का झंझट इस मोटर में नहीं होता है। इसीलिये उपपादन वाले मोटर मज़बूत और टिकाऊ ठहरते हैं। अधिक काल तक ये बिना किसी दोष के काम देते रहते हैं। जिन मशीनों को ये घुमाते हैं, उनका कार्यभार यदि बढ़ भी जाय तब भी इन मोटरों की चाल में कुछ विशेष अन्तर नहीं आने पाता है। यही कारण है कि आधुनिक कारखानों में छोटे-बड़े हर प्रकार के विद्युत्-मोटरों की एक बड़ी सख्या उपपादन प्रत्यावर्त्तक (ए० सी०) मोटरों की पायी जाती है।

प्रत्यावर्त्तक (ए० सी०) धारा स्लिपरिंग उपपादन (इंडक्शन) मोटर
ये मोटरें अधिक लोकप्रिय हैं, क्योंकि इनमें कम्युटेटर या ब्रुश का झमेला नहीं होता।

उपयोगिता

आधुनिक उद्योग-व्यवसाय को विद्युत्-मोटर के रूप में एक ऐसा यंत्र उपलब्ध है, जो सुविधा की दृष्टि से अन्य सभी चालक शक्ति प्रदान करनेवाले यंत्रों से श्रेष्ठ साबित हुआ है। नगर के केन्द्रीय पावर हाउस से तार अथवा केबुल द्वारा विद्युत्-धारा कारख़ाने तक लायी जाती है और कारखाने के अन्दर थोड़ी-सी जगह में उपयुक्त आकार के विद्युत्-मोटर फिट करके उसकी सहायता से विद्युत्-शक्ति को यांत्रिक शक्ति में परिणत कर लेते हैं, जो छोटी-बड़ी हर तरह की मशीनों को चलाने के निमित्त प्रयुक्त होती है। अतः वाष्प-इजिन की तरह न तो किसी भट्ठी की आवश्यकता होती है, न कोयले के धुएँ या गर्द का ही सामना करना पड़ता है। एक क्षण में बटन दबाते ही विद्युत्-मोटर चालू हो जाता है। वाष्प-शक्ति से परिचालित कारख़ानों में शक्ति के वितरण के लिये प्रायः एक लम्बी धुरी (शैफ़्ट) को काम में ले आते हैं, जिस पर लगे हुए पहियों को विभिन्न मशीनों की धुरियों से 'बेल्ट' द्वारा जोड़ देने पर इनको चालू करते हैं। शक्ति-वितरण के इस तरीक़े में कारीगरों के लिये ख़तरा भी अधिक रहता है। तनिक चूके कि घूमते हुए बेल्ट की चपेट में आकर जान से हाथ खो बैठे! फिर शैफ़्ट तथा बेल्ट द्वारा वाष्प-इंजिन या पैट्रोल-इंजिन से शक्ति को दूर तक ले जाना सम्भव नहीं है। इसके प्रतिकूल पावर हाउस से विद्युत्-शक्ति तार द्वारा सैकड़ों मील की दूरी तक आसानी से ले जा सकते हैं।

वाष्प-इंजिन की शक्ति से नन्हीं मशीनें (जैसे सीने की मशीन, दाँत में सूराख़ करने की मशीन अथवा बेलबूटे काढ़ने की मशीन आदि) के परिचालन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। किन्तु विद्युत्-शक्ति द्वारा ऐसा करना सहज ही सम्भव है। उसी विद्युत्-धारा को छोटे या बड़े विद्युत्-मोटर में प्रविष्ट कराकर नन्हीं से नन्हीं और बड़ी से बड़ी मशीनों तक का परिचालन हम सहज ही कर सकते हैं।

भारतीय दर्शन—वैदिक युग

(आदिकाल से ६०० ई० पू० तक)

इस स्तभ के अतर्गत पिछले लेख में, प्रवेशक के रूप में, भारतीय दर्शन की कतिपय सामान्य विशेषताओ पर प्रकाश डाला गया था। अब उसके विकास की ऐतिहासिक धारा का विधिवत् अध्ययन हम आरभ करते है। इस क्रम में यह उचित और स्वाभाविक ही है कि हम वेदो से आरभ करें, जोकि भारतीय विचार के आदि स्रोत है।

प्राचीन भारतीय विचारधारा के विकास के मोटे तौर पर तीन युग माने जा सकते हैं—वैदिक युग, उपनिषद्काल और सूत्रकाल, जो तीन भिन्न-भिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेदों की विचारधारा यद्यपि आधुनिक अर्थ में दार्शनिक नहीं है, किन्तु इसी युग में वेद-साहित्य का सर्जन हुआ और आरण्यक-गुरुकुलों द्वारा उस धर्म एव परम्परा की नींव पड़ी, जो समूचे भारतीय दर्शन में व्याप्त है। वेदों में दर्शन के वे अकुर विद्यमान हैं, जिनकी वलवती प्रेरणा कालान्तर में स्वतन्त्र विचारधारा एव दार्शनिक चिन्तन को जन्म देती है। अतः दर्शन एव धर्म की इस भित्ति को समझने के लिए, वल्कि समूची भारतीय सभ्यता और सस्कृति के विकास को सही रूप में समझने के लिए, वैदिक युग की इस पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक है।

वेदों का महत्त्व

ऋग्वेद विश्व-इतिहास में उपलब्ध मानव-मस्तिष्क की प्रथम महान् उपज है। इसकी प्राचीनता निर्विवाद है। इसमें हमें ६००० ई० पू० तक के पुरातन धर्म एव समाज की झाँकी मिलती है। विन्टरनिट्ज़ के अनुसार लगभग २५०० ई० पू० में मत्रों का सग्रह आरभ हुआ और लगभग १५०० ई० पू० तक नए मत्रों की रचना का क्रम वन्द होकर सहिताओं के रूप में मंत्रों का सकलन हुआ। ६००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक के इन ४५०० वर्षों के गतिशील समाज का दिग्दर्शन करानेवाले इन ग्रन्थों का मूल्य निर्धारित करना उतना ही कठिन कार्य है, जितना उनमें से इतिहास का सार निकालना। मानवीय वुद्धि के इस आदि संघर्ष काल में काव्य और दर्शन, इतिहास और पुराण, अर्द्ध विकसित कल्पनाएँ और अपरिपक्व विचार तथा अपूर्ण एव अपरिमार्जित ज्ञान और विज्ञान सभी एक दूसरे से टक्कर लेते हैं और धर्म-साहित्य के रहस्यमय कुहासे में वे अनजान से छिपे रहते हैं। इनमें से केवल किसी एक ही के आधार पर हम समूचे युग अथवा सस्कृति पर अपना निर्णय नहीं दे सकते, क्योंकि वेदों का समुचित अध्ययन किसी समाजशास्त्री के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही सम्भव है।

भारतीय परपरा में तव से अव तक के धर्म, दर्शन, क़ानून, नीति, सरकार आदि का एकमात्र प्रमाण और आधार वेदों को ही माना जाता है। वेदों के प्रति समूचे भारतीय समाज की सहस्रों वर्षों की इस श्रद्धा-भक्ति का कारण क्या है? उनका प्रभाव कितना अमिट है? यह प्रश्न विद्वानों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

मंत्र-रचनाकाल

सहिताओं के विविध अग भिन्न-भिन्न युगों और व्यक्तियों की उपज हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के दसवें मडल को दस ऋषियों (अथवा उनके कुटुम्बों) द्वारा प्रणीत माना गया है और उसके प्रथम मडल के १९१ सूक्त अन्य १५ ऋषियों द्वारा रचित कहे गए हैं। प्रत्येक मत्र के रचयिता और रचनाकाल की खोज तो प्राय. असम्भव है, किन्तु सामाजिक विकास की अलग-अलग सीढ़ियों को ध्यान में रखकर इन मत्रो का वर्गीकरण किया जा सकता है।

इन मत्रों की रचना आर्यों के भारत में आने से पहले ही आरंभ हुई और उनके यहाँ आकर वस जाने के वहुत

दिनों बाद तक वह चलती रही। उनमें से बहुतों की भाषा बाद के संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा ईरानी ज़ेन्द अवेस्ता से अधिक मिलती है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, उनके अनेक देवता प्राचीन ईरानी और इन्डो-यूरोपीय देवताओं से बहुत-कुछ मिलते हैं।

४५०० वर्षों की इस दीर्घ अवधि में पसरे हुए मंत्र-रचना-काल में आर्यों ने अपने इतिहास के अनेक युग देखे। अपने आदि-स्थान से भोजन की खोज में जगह-जगह मारे-मारे फिरने के उनके ख़ानाबदोश जीवन से लेकर भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने तक के समय का पूरा लेखा हमें वेदों में मिलता है। शीघ्रता से बदलते हुए अपने आर्थिक और सामाजिक जीवन के विभिन्न युगों की गणना आर्यों ने स्वयं चार युगों में हमें बतलाई है। ये युग हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। इनमें से प्रत्येक युग एक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का द्योतक है और प्रत्येक का अपना-अपना धर्म (युग-धर्म) है।

इस प्रकार मंत्र-रचनाकाल का विभाजन हम निम्न-लिखित युगों में कर सकते हैं:—

प्रागभारतीय काल में—

(१) अग्नि के आविष्कार से पहले असभ्यता का युग (सतयुग)।

(२) अग्नि का आविष्कार और अर्द्ध-सभ्य मानव की सृष्टि का उदय (त्रेता)।

(३) पशु-पालन का आरम्भ और ख़ानाबदोश आर्य जातियों का आहार की खोज में भ्रमण (द्वापर)।

(४) आर्यों का भारत में आगमन और यहाँ की अन्य जातियों से उनका संघर्ष।

भारत में—

(५) कृषि का आरम्भ और जनपदों की स्थापना।

(६) वर्गों (वर्ण-व्यवस्था) का आरम्भ।

(७) मुद्रा, व्यापार, कलाकौशल का जन्म, एवं राज्य की उत्पत्ति।

(८) महाभारत का युग।

विचारधारा के दृष्टिकोण से—

(१) अथर्ववेद-काल (६००० ई० पू०—४००० ई० पू०)।

(२) नासदीय-सूक्त का काल (ऋ० वे० १०-१२९) —(४००० ई० पू०—२५०० ई० पू०)।

(३) पुरुष-सूक्त का काल (ऋ० वे० १०-९०) —(२५०० ई० पू०-१५०० ई० पू०)।

(४) हिरण्यगर्भ-सूक्त का काल (ऋ० वे० १०-१२१)-(१५०० ई० पू०)

सृष्टि-रचना—प्रथम युग

ऋग्वेद में पृथ्वी पर मनुष्य के आरंभिक जीवन और सृष्टि के उद्भव की अनेक कथाएँ हैं। असभ्यता के युग में केवल अनगढ पत्थरों के हथियारों के सहारे अरक्षित मानव जीवन-संग्राम में जूझता है और कभी-कभी आहार की कमी के कारण अनेक मानव-समूह मिट भी जाते हैं। हज़ारों वर्षों तक वह (आर्य) इधर-उधर भटकता है। उनका नेता इंद्र वज्र और अस्थि के हथियारों से **वृत्र और विश्वरूप (पशु एवं प्रकृति)** से लड़ता है। प्रजापति अनेक असफलताओं के बाद अग्नि और दूध (पशु-पालन) की उपलब्धि द्वारा सृष्टि करने में सफल होते हैं (ऋ० वे० ३-६-१-१; २-५)।

अग्नि की खोज मानव की प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण विजय है। इसके कारण मानवीय जीवन में क्रान्ति हो जाती है—युग-परिवर्तन हो जाता है। त्रेतायुग का नेता अग्नि है। उसी के कारण प्रजा की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। अग्नि आहार—वनस्पति तथा मांस—को स्वयं भक्षण कर उन्हें मनुष्य के खाने योग्य बनाती है। अतएव वह क्रव्यद् और अमद् है। वह हिंस्र पशुओं, भूत-प्रेतों, एवं शत्रु-आत्माओं को भगाती है (ऋ० वे० ३-१५-१)। इसलिए वह जन और जाति की रक्षक है। अग्नि विशपति (बस्ती की स्वामिन्—रक्षक) और प्रजापति (जन-रक्षक) है।

यज्ञ

त्रेतायुग में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा मनुष्य को यज्ञ देता है, जो कृतयुग में नहीं था ('त्रेतायुगे विधिस्तु एष यज्ञानाम् न कृतयुगे'—महाभारत, शान्ति पर्व, २३८—१०१; 'त्रेतादौ यज्ञाः'—महाभारत, शान्ति पर्व, २४४—१४)।

सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि वैदिक यज्ञ वास्तव में किसी काल विशेष के आर्य-जीवन का चित्र है। यज्ञ में लकड़ी रगड़कर अग्नि पैदा करना, बिना लोहे की (केवल लकड़ी और घास की) कुटिया बनाना, गाय दुहना, दही बनाना, पत्थर के टुकड़े से नाज कूटना, पत्थर से पशुओं को मारना, आदि तमाम क्रियाएँ उस अतीत के जीवन को दोहराती हैं, जिसमें किसी समय आर्य लोग अवश्य रहे होंगे। सत्र, क्रतु आदि यज्ञ पुरातन (कदाचित प्रागभारतीय) काल की उत्पादन और श्रम की क्रियाओं को बताते हैं। कुठे के अनुसार सोमयाग

आर्यों के दूसरे देशों को प्रस्थान करने की क्रिया का द्योतक है। तिलक के अनुसार सबसे प्राचीन सत्र-यज्ञ महीनों तक की जानेवाली क्रियाओं का नाम है।

इस प्रकार आर्य कवियों ने अपने समय के जीवन-उत्पादन-श्रम के स्वरूप का वर्णन मंत्रों में करके उस समय और समाज की स्मृति सदैव के लिए हमारे सामने छोड़ दी है। वह समाज बदल गया। जीवन बदला, युग बदला। किन्तु त्रेताग्नि और त्रेतायुग के यज्ञ (उत्पादन-श्रम) से मानव (आर्य) की वृद्धि हुई थी, उसकी सृष्टि का सचमुच उद्भव हुआ था, इसलिए यज्ञ (पुरातन युग का यह उत्पादन-श्रम) भविष्य के समाज एवं जाति की पुण्य-स्मृति बन गया। सृष्टि का आरम्भ प्रजापति के प्रथम यज्ञ द्वारा हुआ था और यज्ञ में ही वह शक्ति थी, जिसका उपयोग यदि पूर्वजों ने किया तो कालान्तर में सन्तान भी कर सकती थी। यही भारतीय संस्कृति में यज्ञ के महत्त्व का रहस्य है। जिस प्रकार संसार की अधिकतर जातियों में और पुरातन धर्मों में अग्नि की उपासना आज तक होती है, उसी प्रकार सनातन भारतीय धर्म एवं परम्परा में प्रजापति अग्नि और सृष्टिकर्त्ता यज्ञ की उपासना अब तक की जाती है।

यज्ञ शब्द का अर्थ (य + ज + न = जाना अथवा एकत्रित होना+उत्पन्न करना+अन्य पुरुष बहु-वचन की विभक्ति) है। "वे एकत्रित होते हैं और उत्पन्न करते हैं"। यजु. अथवा यजुर् (यज+उः या उर्) का भी वही अर्थ है। यज्ञ उनका धर्म (स्वभाव एवं कर्त्तव्य) है। धर्म का संबंध अर्थ (धन) और काम (संतति) से है। यज्ञ द्वारा प्रजा पश्वाः (सन्तान और पशु-धन) की उत्पत्ति व उपलब्धि होती है (डांगे : India, from Primitive Communism to Slavery)।

वेद हमें बताते हैं कि त्रेतायुग में यज्ञ वास्तविक था। बाद के ब्राह्मण-युग में वह सामाजिक स्मृति मात्र रहकर कर्म-काण्ड और विधि बन गया। आरण्यक-युग में उसका रूप केवल सांकेतिक रह गया।

भाषा का विकास—ब्रह्म

इस काल में भाषा और विचार का साथ-साथ विकास हो रहा है, इसलिए पारिभाषिक शब्दों का अर्थ नियत नहीं हो पाया है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ हैं। एक ही वस्तु की कल्पना में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। उसके रूप में परिवर्त्तन होता चलता है, यहाँ तक कि अन्त में उस विचार में ही अन्तर हो जाता है।

उदाहरण के लिए, सायणाचार्य के अनुसार "ब्रह्म" शब्द के अर्थ विभिन्न स्थानों में भोजन (अथवा भोजन-अर्पण), मंत्र (वेद-मंत्र अथवा मंत्र-शक्ति), उचित रूप में संपादित विधि, होत्रगान (अथवा उसके द्वारा उपलब्ध फल), साम का उच्चारण, महान् आदि-आदि हैं। हॉग ने सायण की इस तालिका से ब्रह्म शब्द का अर्थ लगाया है—"वह जादुई (मायावी) शक्ति, जो मंत्रोच्चारण और यज्ञ-हवन के उचित सहयोग से उत्पन्न होती है।" हिल्लेब्रान्ड् ने इस अर्थ को ठीक मानकर इससे दूसरा अर्थ निकाला है—"नवीन" अर्थात् "जो अब तक नहीं था; जो पूर्वजों से उत्पन्न होता है।" रॉथ के अनुसार ब्रह्म "वह भक्ति-भावना है, जो आत्मा की चरम आकांक्षा एवं संतोष के रूप में प्रकट होती है और देवताओं तक पहुँचती है।"

कदाचित् इन सभी अर्थों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदों के ऐतिहासिक रूप और उसके विविध अंगों के विकास को भली-भाँति न समझ सकने के कारण ही इन विद्वानों ने केवल शब्दों को ही नहीं, समूचे वैदिक साहित्य की विस्तृत और गतिमती विचार-धारा को परिभाषा में बाँधने का उपहासास्पद प्रयत्न किया है।

वेद—दर्शन का उद्गम

यद्यपि प्लैटो के अनुसार "दार्शनिक समस्त काल और सत्ताओं के दर्शक होते हैं", किन्तु प्रत्येक आर्थिक-सामाजिक परिवर्त्तन के साथ नवीन विचारों की सृष्टि होती है। भौतिक पदार्थों और बाह्य जीवन की अनित्यता ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य, दर्शन और तत्त्वज्ञान के रूप भी बदलती चलती है।

वेदों की समीक्षा करते समय यह बात ध्यान में रखना ही पड़ेगी कि दर्शन के प्रश्न चाहे अनादि और अनन्त हों; अवश्य महान् विचारकों के विचार कभी पुराने नहीं पड़ते—वे उसी प्रगति की आत्मा हैं, जो उन्हें शेष करती-सी जान पड़ती है। किन्तु "प्रत्येक दर्शन एक निश्चित प्रश्न का उत्तर है, जो उस युग ने समझ रक्खा है। यदि हम उसे उस समय के दृष्टिकोण से देखें, तभी हमें उसमें कुछ तथ्य दिखाई देगा। दार्शनिक विवेचनाएँ न अन्तिम सत्य हैं, न नितान्त असत्य। वरन् उस मानसिक विकास की द्योतक हैं, जिसमें कुछ देर के लिए रुककर ही हम उसके महत्त्व को जान सकते हैं। दर्शन का इतिहास से और मानसिक जीवन का सामाजिक परिस्थितियों से घनिष्ट संबंध है" (राधाकृष्णन्)।

वेदों में सहस्रों वर्षों के भिन्न-भिन्न विश्वासों को मानव-मस्तिष्क के विकास की कड़ियों में गूँथा जा सकता है। हम केवल इतना ही प्रयत्न यहाँ करेंगे। इससे अधिक उन विश्वासों में परस्पर सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा अवैज्ञानिक दुराग्रह होगा।

आरंभिक विश्वास

"प्रकृति में चारों ओर—नदियों, पर्वतों और जगलों में, वायु, सागर और दावाग्नि में, प्रत्येक प्राकृतिक घटना एव क्रिया में, तूफान और गर्जन, वृष्टि और दामिनि, भूकम्प और बाढ़ में—प्रेतात्माओं (Spirits) की कल्पना प्रकृति की समस्याओं का सबसे सहज उत्तर है। जैसे मनुष्य का शरीर अपने अन्दर निवास करती हुई जीवात्मा द्वारा ज़िन्दा रहता और चलता फिरता है, उसी प्रकार दुनियाँ के काम भी अदृष्ट शक्तियों द्वारा होते जान पड़ते हैं, जो प्रत्येक वस्तु में निवास करती हैं"—(टेलर)। मानव का यह प्रथम विश्वास अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके साथ-साथ पशु-पक्षियों की पूजा एव हर भले-बुरे काम के लिए जादू-टोने में विश्वास भी लगा हुआ है। अपनी रक्षा करने के लिए, शत्रुओं को हानि पहुँचाने के लिए, रोग भगाने, आयु बढाने अथवा आहार पाने के लिए तंत्र-मत्रों द्वारा भूत-प्रेत व आत्माओं का आह्वान किया जाता है और सभी प्रश्नों का उत्तर इन अदृष्ट, अज्ञात, अमानवीय, दुर्बुद्धि-शक्तियों की कल्पना में मिलता है। असभ्य मानव का प्रथम विश्वास जादू, मंत्र और प्रेतवाद (magic, spells & charms, animism and spiritism) से ओतप्रोत है।

कदाचित् बर्बरता के युग में जन्मे हुए आर्यों के कुछ विश्वास तथा भारत के असभ्य अनार्यों के आदि विश्वास मिश्रित रूप में हमें अथर्ववेद में मिलते हैं। आर्यों द्वारा अनार्यों के शूद्र-दास रूप में अपनाए जाने के बाद ये सब आर्यों की परम्परा में सम्मिलित हो जाते हैं और पहले की "त्रयी" (तीन वेदों) में चतुर्थ वेद भी आर्य-वेश पहनकर अमर साहित्य और पवित्र परम्परा की निधि बन जाता है।

प्रकृतिवाद

प्रकृति पर अपनी प्रथम विजय (अग्नि) प्राप्त करके मानव अधिक शक्तिशाली हो जाता है। हर पत्थर और पत्ते के भूत का डर अब कुछ कम होता है और सूर्य, वायु, सागर अग्नि आदि अधिक व्यापक भौतिक शक्तियों के नित प्रति के नियमित व्यवहार और शक्तियों में उसके मन में विश्वास उत्पन्न होता है। फलतः उनको देवरूप दे दिया जाता है। इस विश्वास को प्रकृतिवाद (Naturalism) का नाम दिया गया है।

किन्तु देवताओं की यह कल्पना अधिक मानवीय आधार माँगती है। "न केवल रूप और आकार में वरन् आत्मा और जीवन में भी मनुष्य अपनी छायानुसार देवताओं की सृष्टि करता है"—(अरस्तू)।

"मनुष्य की सहज प्रवृत्ति सब जीवों को अपने समान समझने की है। अज्ञात कारणों को हम अपने विचार, तर्क और भावनाएँ का ही नहीं बल्कि मनुष्य का रूप-रग भी दे देते हैं"—(ह्यूम)। इसी प्रकार अपने पूर्वजों को भी देवता का रूप दिया जाता है।

मनुष्य स्वयं को सृष्टि का प्रयोजन और केन्द्र समझता है। सृष्टि का आरभ और अर्थ केवल मनुष्य के हेतु ही है। इसलिए उसके देवता मनुष्य का ही रूप धारण करते हैं। वे राग-द्वेष, हर्ष, शोक, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि उसकी सहज प्रवृत्तियों को अपना लेते हैं। वे रथों पर चढते हैं। शत्रुओं का सहार करते हैं। भक्तों से प्रसन्न होकर उन्हें वर देते हैं और अपनी अवहेलना पर कुपित भी होते हैं।

बहुईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, एकेश्वरवाद

देवताओं की सृष्टि जब बहुत बढ़ जाती है तो उनकी भीड़ मानवीय मस्तिष्क में थकावट पैदा कर देती है। मनुष्य समाज की उत्पत्ति के साथ उनकी भी सख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। वर्गों की स्थापना के साथ समाज में शासक और शासित, ऊँचे और नीचे की वास्तविकता जन्म लेती है और देवताओं का भी वर्गीकरण आरम्भ होता है। मानवीय समाज की ही भाँति तृष्णा और युद्ध, सम्पत्ति और साम्राज्य की महिमा के अनुसार उनमें भी बड़े-छोटे हो जाते हैं।

किन्तु यह बहुईश्वरवाद (Polytheism) अधिक देर नहीं टिकता। समान कोटि और शक्ति के, एक दूसरे से भिन्न, अपने-अपने राज्य में शासन करनेवाले देवता उसी शीघ्रता से नष्ट हो जाते हैं, जितनी शीघ्रता से छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों के स्वायत्त शासक एक चक्रवर्ती सम्राट् के सम्मुख क्षीण हो जाते हैं। एक ईश्वर एक सम्राट् का ही प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ समय के लिए वह प्रकृति-रूप माना जा सकता है। जनपदों की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे सब व्यक्ति शासक है। समूचा मानव-समूह और प्रकृति ही ईश्वर है

(सर्वं खल्विदं ब्रह्म)। किन्तु ईश्वर को इस ब्रह्मवाद (या सर्वेश्वरवाद) से ऊपर उठना ही पड़ता है। स्वय प्रकृति न होकर, प्रकृति और लोक के कर्त्ता, पालक और शासक के रूप में उसकी प्रतिष्ठा होती है।

भौतिक से दिव्य

जिस प्रकार ज्योतिष से फलित विद्या, कीमिया से रसायन, पुराण और आख्यायिकाओं से इतिहास और जादू से विज्ञान का जन्म होता है, उसी प्रकार काव्य और अनुश्रुति दर्शन के जन्मदाता हैं। अपनी असहाय अवस्था में निरंकुश प्रकृति एवं हिंस्र जन्तुओं से घिरे रहने के समय से लेकर, प्रकृति पर क्रमशः विजय पाने, उत्पादन के साधनों में वृद्धि होने और अन्त में वर्ग-जाति-संघर्ष तथा राज्य-विस्तार के युग तक अपनी कल्पना का आधार लेकर मनुष्य देवताओं की सृष्टि करता पाया जाता है और उनमें अपना आश्रय ढूँढता है। (एजेल्स के शब्दों में) भौतिक एव सामाजिक बाह्य परिस्थितियों का यह "काल्पनिक प्रतिबिम्ब"—विश्वास और धर्म — उन शक्तियों का द्योतक है, जो उसके दैनिक जीवन पर हावी रहती हैं। मानव के शैशव-काल में ये शक्तियाँ प्राकृतिक हैं, भविष्य में ये ऐतिहासिक एव सामाजिक हो जाती हैं। "मानव की आरभिक कल्पनाएँ भौतिक क्रियाओं और शक्तियों का अमानुषिक रूप हैं। अनेक विद्वान् पुराणों के इस तथ्य को भूल जाते हैं।" (एजेल्स)

देवताओं का स्वरूप इसीलिए पहले भौतिक और प्राकृतिक होता है, फिर मानुषिक एव वैयक्तिक, और अन्त में दिव्य एव नैतिक।

प्राचीन साहित्य के विद्वान् भाष्यकारों ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा सामाजिक तथ्यों की अवहेलना करके उस साहित्य की भाषा की कुंजी को ही खो दिया है।

ऋग्वेद

अथर्ववेद से आगे बढ़ने पर हमें ऋग्वेद में उपर्युक्त सभी विश्वासों की सुन्दर झलक मिलती है। कवियों द्वारा प्रकृति की देवरूप में उपासना भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में अब और भी अधिक दीप्त हो उठी है। ऋग्वेद की ऋचाओं में हृदय के अन्तरतम से प्रेरित वह रहस्यवादी काव्य है, जो दर्शन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं, किन्तु जिसमें प्रात समीर की-सी ताज़गी है, जिसमें प्राकृतिक सौंदर्य को हृदयंगम करने का अति मनोरम प्रयास है। विभिन्न विद्वानों ने इस वैदिक धर्म को भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं और प्रकृतिवाद, बहुईश्वरवाद, सर्व-ब्रह्मवाद आदि उपर्युक्त सभी श्रेणियों में इसे रखने का प्रयत्न उन्होंने किया है। सायणाचार्य से लेकर श्री अरविन्द तक ने इन देवताओं के प्रकृति से निकट अथवा दूर होने के प्रश्न पर काफी वाद-विवाद किया है। किसी ने इन्हें विचारों का प्रतीक या सकेत मात्र माना है। दूसरे इसे केवल प्रकृति-पूजा मानते हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, आर्यों के लम्बे इतिहास में वास्तव में आरम्भिक प्रकृतिवाद से लेकर एकेश्वरवाद तथा विचारवाद तक की विचारधारा तक के सभी स्तर हैं।

इन्डो-यूरोपीय देवता

प्रथम प्राग्भारतीय काल के देवता द्यौस, वरुण, उषा, मित्र, इन्द्र आदि हैं, जो भारतीय नहीं वरन् इन्डो-यूरोपीय हैं। द्यौस ग्रीक Zeus, इटैलियन Jupiter, ट्यूटोनिक Tyr का प्रतिरूप है। सभी जातियों की कल्पना में पृथिवी और आकाश माता-पिता हैं। वरुण अवेस्ता का आहुरमज्द और ग्रीक Ouranos है। सूर्य की उपासना ग्रीक और ईरानियों ने भी सर्वत्र की है। प्लेटो के लिए सूर्य Good (कल्याण) का प्रतीक था। अग्नि मानव मात्र के लिए पूज्य थी। ऋग्वेद का मातरिश्वन् Prometheus की भाँति आकाश से अग्नि लाकर भृगुओं को सौंप देता है। विवस्वत्-पुत्र यम अवेस्ता के विवन्हवन्त-पुत्र यिम की भाँति है। मैक्समूलर के अनुसार 'पर्जन्य' लिथुआनियन देवता Perkunas के सदृश है और इन्द्र Zeus के समान। वह पूर्ण रूप से युद्ध का देवता है। उसका वैदिक रूप आर्यों के अनार्यों से सघर्ष के काल में विकसित हुआ है। अग्नि और सोम हितैषी और उपयोगी देव हैं। एक के द्वारा समूचा जीवन ही बनता है, दूसरे के द्वारा कल्पना में रमकर पार्थिव संघर्ष से मुक्ति पाई जा सकती है। 'सोम' वास्तव में देवलोक का सोपान है।

नासदीय सूक्त

दूसरे काल में भारत में आर्य जन-सघों की स्थापना एव उत्कर्ष होता है। अपेक्षाकृत सुरक्षा एव समृद्धि का काल आते ही दर्शन का प्रथम अंकुर उगता है। नासदीय सूक्त (ऋ. १०. १२९) में सृष्टि के उद्भव की कल्पना है। प्रलय (जलप्लावन) की स्मृति मानव-जाति की विचारधारा का अश हो गई है। 'उस समय (प्रलय दशा में) असत् (जिसका अस्तित्व ही न हो) नहीं था। सत् भी नहीं था।' पृथिवी, आकाश, सातों भुवन, रात-दिन, मृत्यु, अमरता आदि कुछ नहीं था। 'आवरण (ब्रह्माण्ड) भी

कहाँ था ? किसका कहाँ स्थान था ? क्या उस समय दुर्गम और गंभीर जल था ?' आत्मावलम्बन से श्वास-प्रश्वास युक्त केवल एक था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था'। 'सृष्टि के प्रथम अंधकार से अन्धकार ढका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात एवं जलमय था। तपस्या के प्रभाव से वह एक तत्त्व उत्पन्न हुआ। सर्वप्रथम काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ। उससे सर्वप्रथम बीज (उत्पत्ति-कारण) निकला। बुद्धिमान ने बुद्धि के द्वारा अपने अन्तःकरण में विचार करके अविद्यमान वस्तु में विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति-स्थान निरूपित किया।'

तिलक के अनुसार यह सूक्त मानव-जाति का 'सर्वश्रेष्ठ स्वाधीन चिन्तन' है। पृथिवी के अन्धकार-युग, जलप्लावन से क्रमशः सृष्टि के उदय और मानव की इच्छा और श्रम (काम—तप) के द्वारा समाज के विकास का सुन्दर प्रतिबिम्ब इसमें हैं और प्रथम विचार का अद्भुत संदेश है। इसमें एक ब्रह्म की कल्पना की अभूतपूर्व प्रतिष्ठा है।

किन्तु 'प्रकृति-तत्त्व को कौन जानता है ? कौन उसका वर्णन करे ? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई ? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं ? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए अथवा नहीं ? कहाँ से यह सृष्टि हुई, यह कौन जानता है ? यह सृष्टि कहाँ से हुई। किसने यह सृष्टि की अथवा यह सृष्टि किसी ने की भी या नहीं ? यह सब वही जाने जो इसका स्वामी और शासक है, जो सबको देखता है। अथवा क्या वह भी इसे नहीं जानता ?'

'को वेद यत आबभूव' (कौन जानता है कि यह कहाँ से उत्पन्न हुई)। 'यदि वा दधे यदि वा न' (किसने सृष्टि की, अथवा की भी या नहीं)। 'यदि वा न वेद' (या वह भी नहीं जानते।') सृष्टि का कारण है भी अथवा नहीं—कोई जानता है अथवा नहीं—निष्कपट हृदय की यह मुक्त शंका ही दर्शन की प्रेरणा है। तर्कहीन विश्वास से बुद्धियुक्त विचार की ओर यह प्रथम चरण है।

पुरुष-सूक्त

तीसरे काल में वर्ग-समाज का उदय होता है। सृष्टि का कारण है, यह बात निश्चित रूप से मान ली जाती है और उसके अकृत्य होने की शंका नष्ट हो जाती है। प्रजापति, बृहस्पति आदि जनसंघीय पुरातन नेता देवरूप धारण करते हैं और 'विश्वकर्मा' 'प्रथम पुरुष' हो जाते हैं।

पुरुष-सूक्त इस नवीन काल की विचारधारा का अग्रदूत है। इस काल में यज्ञ का रूप क्रमशः बदल रहा है। त्रेताग्नि के स्थान पर अब गृह्याग्नि प्रतिष्ठित होती है। जन-संघ के सामूहिक यज्ञ (उत्पादन) के स्थान पर व्यक्तिगत कौटुम्बिक पाक-यज्ञ काम्येष्टि के लिए आरम्भ होते हैं। वर्ण-व्यवस्था आरम्भ होती है।

पुरुष-सूक्त में यज्ञ, यज्ञ-सामग्री, प्राणि-मात्र, वेद, छन्द, ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, सूर्य, मनु और दिशाओं की सृष्टि बतायी गई है। 'जो कुछ हुआ है और जो कुछ होने वाला है सो सब 'पुरुष' ही है। वह देवत्व का स्वामी है; क्योंकि प्राणियों के कर्म-फल-भोग के लिए अपनी कारणावस्था छोड़कर वह जगदावस्था को प्राप्त करता है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसकी महिमा है—वह स्वयं अपनी महिमा से भी बड़ा है। इस पुरुष का एक पाद ही यह ब्रह्माण्ड है—इसके अविनाशी तीन पाद दिव्य लोक में हैं। इससे ही विराट् (ब्रह्माण्ड-देह) उत्पन्न हुआ। ये देव-मनुष्यादि-रूप हुए। उसने (पुरुष ने) ही भूमि बनाई और जीवों के शरीर बनाए।'

हिरण्यगर्भ सूक्त

चतुर्थ काल में मुद्रा का आविर्भाव होता है और शीघ्र ही वही सर्वोपरि हो जाती है। सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का रूप भी हिरण्यगर्भ हो जाता है। एकेश्वरवाद की पुष्टि राज्य, विधान और शासक द्वारा हो जाती है।

वैदिक देव-समूह

अब यदि हम तनिक वैदिक देवताओं पर दृष्टि डालें तो वैदिक धर्म स्पष्ट हो जाएगा।

'देव' शब्द का अर्थ भी अत्यन्त व्यापक है। यास्क के अनुसार 'देवो दानाद वा दीपनाद वा द्योतनाद वा द्युस्थानो वा भवति'' (निरुक्त ७–१५)। देव वह है जो कुछ देता है। इसलिए ईश्वर, देवता, विद्वान् (विद्वांसो हि देवा), माता-पिता, आचार्य ('मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव') आदि सभी देव हैं। अतिथि तक देव है।

'अदिति' सब देवताओं की माँ है (यास्क)। मैक्समूलर के शब्दों में अदिति 'वस्तुतः असीम को व्यक्त करने का पहला नाम है—यह वह 'असीम' नहीं है जिसकी कल्पना लम्बी तार्किक बुद्धि का फल है, वरन् यह है आँखों से दिखनेवाला निस्सीम विस्तार, जो पृथ्वी से, बादलों से, आसमान से भी आगे है'। अदिति का अर्थ है निस्सीम, अविभाज्य। अदिति 'दिव्य व्योम है, मध्यवर्त्ती आकाश है' [ऋ० वे० १-८९-१०]। अदिति 'माता, पिता,

पुत्र ; जो कुछ आज तक जन्मा है या जन्मेगा,' सब कुछ है। वह एनेक्सिमेंडर के 'असीम' या सांख्य की 'प्रकृति' के समान है। 'आदित्य' उसके पुत्र हैं।

आदित्य १२ हैं। कदाचित वे सूर्य के १२ मास के १२ नाम हैं [शतपथ ब्राह्मण ११ ६ ३ ८]। ऋग्वेद में [ऋ० वे० १ ६ ११४] छः आदित्य—मित्र, वरुण, भग, सवितृ, विष्णु और इन्द्र– बताए गए हैं।

सूर्य समस्त ससार को देखता है। प्रत्येक नर-नारी के कार्यों पर उसकी दृष्टि रहती है। वह सबका जीवन है। अन्धकार को दूर करके वह लोगों को कार्य करने का प्रोत्साहन देता है। वह सबका भला-बुरा जानता है। वह सबको जीवन दान देनेवाला व शासक है [ऋ० वे० ७. ६०]।

सवितृ कहीं-कहीं सूर्य से अलग कहा गया है [ऋ० वे० ७ ६३]। सायण तथा यास्क सूर्य और सवितृ को सूर्य के दो रूप बताते हैं। परन्तु अधिकतर उसमें और सूर्य में कोई अन्तर नहीं किया जाता। सवितृ रात्रि के अदृश्य सूर्य का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य की दुर्बलताओं को क्षमा करता है [ऋ० वे० ४. ५४ ३]। वह मानसिक अधकार को दूर करता है [गायत्री मत्र, ऋ० वे० ३ ६२. १०]।

आदित्यों में वरुण और मित्र सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। 'मित्र' प्रकाश का प्रतीक है और दिन का देवता है। 'वरुण' रात्रि के गहन नीले आकाश का देवता है। 'वरुण' का अर्थ है 'जो ढकता है।' वरुण 'तारों भरे आकाश' को, उसके नीचे रहनेवाले जीवों और उनके गृहों को अपनी छत्रछाया के नीचे रखता है (ऋ० वे० ८-४१)। वह ससार पर अपनी दृष्टि रखता है। पापियों को दण्ड देता है और क्षमा-प्रार्थियों को क्षमा देता है। सूर्य उसकी आँख है, आकाश उसका वस्त्र है, झझा उसका श्वास है (ऋ० वे० ७ ८७ २)। उसकी आज्ञा से नदियाँ बहती हैं (ऋ० वे० १ २४ ८; २ २८ ४; ७ ८७ ५)। उसके डर से सूर्य, चद्रमा और नक्षत्र अपने-अपने स्थान पर रहते हैं (ऋ० वे० १ २४ १०, १ २५ ६, १ ४४ १४; २ २८ ८; ३.५४ १८; ८ २५ २)। वह सर्वज्ञ है। दूसरे देवता उसकी आज्ञा मानते हैं। वह न्यायशील एव विवेकी है। वह पापियों को भी क्षमा कर देता है, यदि वे पश्चात्ताप करें (ऋ० वे० ७.८७ ७–अथर्व० ४ १६ १–५)। राथ के शब्दों में अथर्ववेद का यह सूक्त दैवी सर्वज्ञता और उसका हर स्थान पर होना सबसे जोरदार शब्दों में व्यक्त करता है। मेकडोनेल के अनुसार 'वरुण उच्च एकेश्वरवाद की शासक-परमेश्वर कल्पना का द्योतक है।' वरुण विश्व के अटल नियम ऋत का सरक्षक 'ऋतस्य गोप' है।

दूसरा आदित्य विष्णु है। विष्णु समस्त विश्व—त्रैलोक्य—को तीन पग में नापनेवाला है। वह ससार का पालक है (ऋ० वे० १ २१.१५४)। उसने तीन बार अपने चरण रक्खे और तीनों लोकों को पार कर लिया। समूचा विश्व उसकी चरण-धूलि में एकत्रित हो गया। विष्णु सबका पालक है, जिसे कोई नहीं छल सकता। उसने तीन पग रक्खे और धर्म की स्थापना की (ऋ० वे० १ २२ १७, १८,२०,२१)। वह बृहत्शरीर है, विश्व ही उसका शरीर है ('प्रत्येत्य आहवम्')। वह भक्तों की याचना पर आता है (ऋ० १ १५५ ६) और मानव के कल्याण के लिए (मानवे बोधिताय—ऋ० ४ ६) उसने तीन बार पृथ्वी पर क़दम रक्खा। मैक्समूलर के अनुसार 'विष्णु के तीन पग सूर्य के उदय, उन्नत और अस्त रूपों के प्रतीक हैं।' यास्क के अनुसार 'उसके तीन पग जीवन की तीन स्थितियों को व्यक्त करते हैं' (निरुक्त १२ १६)। दुर्गाचार्य के अनुसार 'विष्णु वही है जो सूर्य है। उसके तीन पग तीन लोकों पर शासन करनेवाले उसके तीन रूप हैं। भूर्लोक में वह अग्नि, अतरिक्षलोक में इन्द्र और द्युलोक में सवितृ या सूर्य है।' ऋग्वेद में विष्णु का स्थान प्रमुख नहीं है, परन्तु भविष्य में उसका महत्त्व बढ जाता है।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण इन्द्र है। यद्यपि उसकी आदित्यों में गणना होती है, किन्तु उसका अधिक सबध मारुतों से है—जो झझा-तूफान के देवता हैं। मारुत शक्तिशाली और विनाशकारी हैं, परन्तु हितकारी भी हैं। वे हवा को शुद्ध करते हैं और वर्षा लाते हैं (ऋ० वे० १ ३७ ११; १ ६४ ६; १ ८६ १०; २ ३४ १२)। मारुत 'रुद्र' के बेटे हैं, जो अपने साथ गर्जन और बिजली लाता है। रुद्र युद्ध का देवता है और ऋग्वेद में उसका बहुत निम्न स्थान है (ऋ० वे० ७ ४६ ३, १ ११४.१०, १ ११४ १)। 'वात' या 'वायु' हवा के नाम हैं। इस प्रकार इन वृष्टि और हवा के देवताओं के साथ ही इन्द्र भी सबद्ध है। वह भी वृष्टि, गर्जन और बिजली का देवता है। जलवायु के देवता का कृषि-प्रधान देश में सबसे अधिक लोकप्रिय होना स्वाभाविक है। उसने वृत्र असुर को मारकर वृष्टि की थी [ऋ० वे० १. ५४.१०]। वह आकाश का भी देवता है और 'पर्जन्य' उसका दूसरा नाम है। 'पर्जन्य' आकाश का भी दूसरा नाम है, वह पृथ्वी का पति है [अ० वे० १२ १.१२, १२ १.४-

मेघ और वृष्टि का भी नाम पर्जन्य है [ऋ० वे० ५.८३; १ १६४.५; ७.६१]।

इन्द्र धीरे-धीरे अपने प्राकृतिक जन्म-रूप से आगे बढ कर नैतिक देवता हो जाता है। वह शासक और रक्षक हो जाता है। आकाश, पृथ्वी, जल और पर्वतों का स्वामी (ऋ० वे० १० ८६.१०), शत्रुओं का दमन करने वाला, गायों का रक्षक, दस्युओं का शत्रु, युद्ध-देवता इन्द्र अब वरुण के मुक़ाबले में खड़ा होता है। ऋषि कहते हैं—'मै अब पिता—असुर—से विदा लेता हूँ। मैं इन्द्र का वरण करता हूँ और पिता को छोड़ देता हूँ, जिसके साथ मैंने बहुत वर्ष बिताए हैं। अग्नि, वरुण और सोम मार्ग देते हैं। शक्ति इन्द्र के हाथ में जाती है। मैं उसे आते देखता हूँ' (ऋ० वे० १०.१२४)।

पूषन् दूसरा आदित्य है। वह चौपायों और चरागाहों का रक्षक और राहगीरों व परिव्राजकों का देवता है। ऊषा प्रात.काल की देवी है। आदित्य उसके जुड़वा भाई हैं। वे देवताओं और मनुष्यों के प्रेम और स्वास्थ्य के रक्षक हैं।

इन्द्र के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण देवता अग्नि है। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त ही अग्नि की प्रशंसा में रचित है। अग्नि यज्ञ का देवता है और अन्य देवताओं का आह्वान करनेवाला है। वह मनुष्य और देवताओं के बीच का दूत है। वह वरुण, इन्द्र और मारुतों को बुलाता है (ऋ० वे० १०. ७० ११)। वह भूर्लोक का स्वामी, हमारे गृहों का स्वामी, और अन्य देवताओं का मुख है। उसका जन्मस्थान सूर्य, विद्युत् व पाहन है। उसकी पताका धूम (धूमकेतु) है। सायण और यास्क के अनुसार अग्नि ही रुद्र है।

सोम आत्मा को दीप्त करने वाला है। उसमें चिकित्सक की शक्तियाँ हैं। वह मनुष्य को प्रेरणा देता है, उसे अमरत्व देता है।

द्यौस् समस्त चमकती हुई वस्तुओं का नाम है। पृथ्वी और अन्तरिक्ष माता-पिता के रूप में देवताओं और मनुष्यों की रक्षा करते हैं।

विष्णु के वृहत् शरीर और पालक की कल्पना आगे चलकर विष्णु को त्रिदेव की श्रेणी में पहुँचा देती है। वरुण का क्षमा-प्रार्थी रूप—पाप और प्रायश्चित की कल्पना—ईसाइयों के पापस्वीकृति और प्रार्थना की भाँति, भक्ति-धर्म का मूल है। आगे चलकर यही भागवत और 'वैष्णव धर्म' का आधार बनता है।

जल, थल और नभ के अनेक छोटे-छोटे देवता असुर अनार्यों के देवता हैं। उनमें से बहुतों का—जैसे वृत्र का—इन्द्र संहार कर देता है। परन्तु 'कृष्ण' इन्द्र पर विजयी होता है। कृष्ण ग्वालों का देवता है—सभवत किसी आर्येतर अर्द्ध-सभ्य पशुपालक घूमने-फिरने वाली जाति का वह नेता है। पुराणों में इन्द्र और कृष्ण के सघर्ष की कथाएँ मिलती हैं। वैदिक काल में इन्द्र की प्रभुता रहती है। परन्तु आगे चलकर पुराणों और भागवत मे उसकी विष्णु और वासुदेव से एकरूपता हो जाती है और यह देवता ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट अवतार बन जाता है।

'रुद्र' आरम्भ में गर्जना का देवता है। वह प्रकृति की एक क्रिया—एक भौतिक शक्ति—का दैवीकरण है। परन्तु धीरे-धीरे उसका सादृश्य अग्नि से होता है, 'शक्ति' से उसका विवाह होता है और आगे चलकर वह आशुतोष, मगलकारी, यद्यपि तमोरूपी 'शिव' के रूप में त्रिदेव की कोटि में आ जाता है।

इस प्रकार प्राग्भारतीय काल के आर्य-देवता और अथर्वकाल के अनार्य देवता आपस में घुलमिलकर एक हो जाते हैं। उनसे नवीन रूपों की कल्पना होती है।

'हीनोथीज्म'

एक समय में अलग-अलग अनेक देवताओं की सर्वोच्च प्रतिष्ठा और प्रत्येक देवता को विविध स्थानों में सबका शासन और स्वामी कहना वैदिक विचारधारा की विशेषता है। इस धर्म को बहुईश्वरवाद अथवा एकेश्वरवाद दोनों श्रेणियों में न रख सकने के कारण मैक्समूलर ने इसे एक नया नाम दिया—'हीनोथीज्म'। किन्तु यह 'हीनोथीज्म' इतना विशिष्ट और आश्चर्यजनक नहीं है, जितना देखने से मालूम देता है। जन-संघों के युग में समाज और जाति के विभिन्न कार्यों का निरीक्षण और नियंत्रण करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों को चुन लिया जाता था। प्रत्येक नेता अपने क्षेत्र और अपने समय में सर्वोपरि माना जाता था। इसी प्रकार देवताओं की कल्पना में भी आर्यों ने प्रत्येक देवता को अपने क्रिया-क्षेत्र में सर्वोच्च माना और उसकी प्रतिष्ठा की।

देवताओं का परस्पर सघर्ष, उनकी एक-दूसरे से तुलना, उनमें बड़े-छोटे की भावना, उनमें से किसी एक के सर्वोच्च होने का प्रश्न मानव जाति के सामने बहुत बाद में आता है। अलग-अलग जातियाँ अपने-अपने देवताओं को लेकर आती हैं। उनके सम्मिश्रण-काल में सभी देवता साथ-साथ चलते हैं। कुछ दिनों बाद उनमें से बहुत-से देवताओं में तादात्म्य स्थापित हो जाता है और मानव-समाज में स्थायी शासक और ऊँचे-नीचे वर्गों की वास्तविकता

देव-समाज में भी एक शासक को ढूँढने पर विवश कर देती है। इस प्रकार हीनोथींज्म बहुईश्वरवाद और एकेश्वरवाद के बीच का क़दम है और किसी न किसी रूप में जातियों के इतिहास में वह मिलेगा।

'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (किस देवता के लिए हम यज्ञ करें ?) का प्रश्न तब पैदा होता है जब साम्राज्यों की बदलती हुई सीमाओं में जनसाधारण के लिए यह प्रश्न वास्तव में विकट हो उठता है। दार्शनिक क्षेत्र में 'कौन पहले पैदा हुआ', 'किसने प्रथम जन्मे हुए व्यक्ति को देखा' (को ददर्श प्रथमाजाय मानम्) अत्यन्त जटिल प्रश्न बन जाता है। देवताओं को शृंखलाबद्ध करने की क्रिया में तीन लोक और त्रिदेव की कल्पना होती है। द्यु, अंतरिक्ष और भू के तीन शासक हैं। प्रत्येक लोक में ११ देवता हैं (ऋ० १. १३६ ११) या ३३ हैं (शतपथ ब्राह्मण ४ ५ ७ २), जिनमें आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एव आकाश और पृथ्वी हैं। पहले देवताओं को दो-दो की जोड़ी में गिनाया जाता है—वरुण-मित्र; द्यौ-पृथ्वी, पर्जन्य-इन्द्र, सूर्य-सवितृ आदि। फिर 'विश्वेदेवा.' की कल्पना के साथ उनका सामजस्य स्थापित करने में 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् वह एक है, विप्र उसे विविध नामों से पुकारते हैं (ऋ० १ १६४.४६) का सिद्धांत बनता है। कहीं सृष्टि का उद्भव संघर्ष भी बताया गया है—'द्वन्द्व वै वीर्यम्। द्वन्द्वा है प्रजननम् भवति' (शतपथ)। इस प्रकार अपनी लम्बी यात्रा के पश्चात वेदों की विचारधारा असभ्य मानव के जादू-टोने और प्रेतवाद के तर्कहीन विश्वासों से आगे बढकर एक ईश्वर, एक ब्रह्म, और एक सत्य के उत्कृष्ट सिद्धांत तक पहुँचती है।

संहिता और ब्राह्मण

अब हमें वेद के दूसरे अंगों पर दृष्टि डालनी होगी। वेद के तीन मुख्य भाग किए जाते हैं—संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्। आरण्यक 'ब्राह्मण' और 'उपनिषद्' के बीच की कड़ी हैं। वस्तुत. एक-दो को छोड़कर आरण्यक स्वतत्र ग्रन्थ भी कहे जा सकते हैं, किन्तु अधिकांश आरण्यकों के लुप्त हो जाने के कारण उनका महत्त्व कम समझा जाता है।

संहिता का अर्थ सग्रह है और संहिता मंत्रों के सग्रह का नाम है। संहिताओं की विचारधारा का हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं। संहिताओं का संकलन लगभग १५०० ई०पू० हुआ, जब नवीन मत्रों की रचना बन्द हो गई थी। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार अपने धर्म को अनार्यों से बचाने के लिए ही आर्यों को इस सकलन की आवश्यकता पड़ी। किन्तु इसके साथ ही नए मंत्रों की रचना भी क्यों बन्द हो गई, इसका कारण इस दलील से स्पष्ट नहीं होता, विशेषत: जब अनेक अनार्य तत्त्वों को सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्रदान कर अथर्ववेद के रूप में उन्हें ग्रहण कर लिया गया। वास्तव में संहिताएँ जिस समाज की वाणी हैं, वह इस समय आकर लुप्त हो गया था और एक नए समाज की स्थापना हो गई थी। वर्ण-व्यवस्था के उदय के साथ मंत्रों का उपयोग काव्य और सामूहिक गान के लिए न रहकर कर्मकाण्ड और विधि-उपासना की पुष्टि के लिए किया जाने लगा।

मैक्समूलर ने संहिताकाल को दो भागों में विभाजित किया है। पहले काल में उन्होंने मत्र-रचना और दूसरे काल में मत्रों का सकलन होना बताया है। किन्तु वास्तव में मत्र-सकलन का यह दूसरा काल 'ब्राह्मण'-ग्रंथों के उत्कर्ष का काल है।

ब्राह्मण गद्य में यज्ञ की विधियों के वर्णन तथा अन्य धार्मिक कृत्यों के विषय में उपदेश हैं। 'यज्ञ' अब वास्तविक—दैनिक जीवन का अंग—न रहकर देवताओं को प्रसन्न करने के लिए साधन मात्र रह गया है। उन्हें करने की विधि ब्राह्मण-ग्रन्थ बतलाते हैं और उनका नियंत्रण ब्राह्मण-पुरोहित करते हैं।

श्रुति

वेद इसीलिए पहले 'दृष्ट' थे कि ऋषियों (कवियों) ने उन्हें देखा था—विराट् प्रकृति के अनन्त गीत को, दुर्द्धर्ष मानव के जीवन-संग्राम को, अपने अन्तस्तल में उन्होंने अनुभव किया था

ब्राह्मण-काल में वेद 'श्रुति' (सुने हुए) हो गए। दार्शनिक क्षेत्र में उन्हें तर्क से ऊपर—अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञा की वस्तु—कहा जाने लगा। उनमें 'अपौरुषेय'—अमानुषिक—तत्त्वों की खोज कर उन्हें ईश्वर-वाणी कहा गया। उन्हें मानवीय शंका से ऊपर उठा कर 'शब्द' प्रमाण की प्रतिष्ठा की गई। विष्णुपुराण के अनुसार द्वापर युग के आरम्भ में कृष्ण द्वैपायन ने वेदों का वर्गीकरण कर वेदव्यास की उपाधि प्राप्त की और अपने चार शिष्यों—पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्त—द्वारा चार वेदों का प्रचार किया। वेदों की 'शब्द'-प्रतिष्ठा हो जाने पर वेदों के अन्तर्गत ब्राह्मण और आगे आनेवाले अन्य साहित्य का भी समावेश करके उन्हें भी तर्क और शंका से परे बना दिया गया।

वैदिक ऋषियों ने मंत्रों को स्वरचित बताया था, किन्तु इनके लिए ईश्वरीय प्रतिष्ठा नहीं ली थी। मानवीय हृदय की भावनाओं में उनका स्रोत था। दिव्य प्रेरणा का अर्थ 'इलहाम' (Revelation) नहीं था। यद्यपि कुछ ऋषियों ने अपनी धार्मिक भावनाओं और विचारों के उद्‌गारों में अपने को देवताओं द्वारा प्रेरित समझा, किन्तु वे सूत्रों को अपनी अथवा अपने पूर्वजों की रचना मानते थे।' (म्यूर)।

देवता उनके लिए पूर्वज भी थे और ईश्वर की कल्पना का उस समय उदय ही नहीं हुआ था। किन्तु ब्राह्मण-युग में सृष्टि और वेदों को ईश्वरीय मान लिया गया है।

पुरुष-सूक्त से यह परिवर्त्तन आरम्भ होता है, जो वेदों को ब्रह्मा की श्वास से उत्पन्न मानता है। वाक् को 'वेदानाम् माता'—वेदों की माता (ऐतरेय ब्रा० ७ १) मानकर समस्त ब्राह्मणकृत साहित्य को मानवीय बुद्धि से ऊपर —प्रश्न के अधिकार से मुक्त—बना दिया गया।

वेद शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार के अन्तर को व्यक्त करता है। वेद का अर्थ ज्ञान और दर्शन, धन और उपलब्धि दोनों है। विद् का अर्थ है देखना या जानना और साथ ही उपलब्ध करना, प्राप्त करना भी। संहिताकाल में उत्पादन और ज्ञान में अन्तर नहीं था। ज्ञान किसका? प्रजापश्वाः की उपलब्धि का। इसलिए सायण ने वेदों को सांसारिक एवं स्वर्गिक आनन्द की प्राप्ति और कष्टों के दूर करने का—अभ्युदय और निःश्रेयस—का उपाय बताया। उस समय मानव के लिए ज्ञान और कर्म में कोई अन्तर न था। दोनों एक थे। वैदिक ऋषियों ने वेद को 'रहस्य' कभी नहीं बनाया। उनकी वाणी अत्यन्त स्पष्ट है। उनकी कामनाएँ उन्मुक्त एवं व्यक्त हैं।

ऋषियों के देखे हुए वास्तविक जीवन की सामाजिक स्मृति ब्राह्मणकाल में श्रुति बन कर अपौरुषेय हो गई और वेद के अन्तर्गत केवल मंत्र ही नहीं, वरन् समस्त नियम और विधान तक की गणना की जाने लगी (मनु)। विधि और विधान को वेद की भाँति 'शब्द-प्रतिष्ठा' देने की चेष्टा में एक समय आयुर्वेद, धनुर्वेद, छंद, काव्य, ज्योतिष, निरुक्त, व्याकरण और इतिहास तक को उसमें सम्मिलित कर लिया गया और सायण के अनुसार वेद में आठ विषय हो गए—(१) इतिहास; (२) पुराण; (३) विद्या (उपासना के रहस्य); (४) उपनिषद् (दर्शन); (५) श्लोक; (६) सूत्र; (७) व्याख्यान (व्याख्या), और (८) अनुव्याख्यान (विवेचना)। इस प्रकार वेद समस्त विद्या का नाम हो गया।

किन्तु वेदों के पुरातन मीमांसाकारों (जैमिनि) के अनुसार वेद का प्रयोजन किसी कर्म को बताना है और जो साहित्य यज्ञ की ओर संकेत नहीं करता, वह या तो आलंकारिक है अथवा व्यर्थ। देवताओं की प्रार्थनाएँ 'ऋक्' हैं। जो ऋचाएँ यज्ञ के समय बोली जाती हैं, वे 'सामन्' हैं। यज्ञ की विधियों और यज्ञ के पात्रों की पूजा के मन्त्र 'यजुः' हैं। ब्राह्मण हमें इनकी व्याख्या देते हैं। इसलिए केवल तीन वेद और उनके ब्राह्मण ही वेद हैं। निरुक्तकारों—यास्क और आपस्तम्ब—का भी यही मत है। वास्तव में वेद का आधुनिक रूप ब्राह्मण-काल की ही देन है और वेद के अंतर्गत संहिता और ब्राह्मण को लेना ही अधिक न्यायसंगत होगा।

ब्राह्मण-काल में वेदों का वास्तविक जीवन-दर्शन के रूप में अंत हो गया और वे सामाजिक स्मृति के रूप में पूज्य, अमानवीय, अपौरुषेय होकर एक रहस्यमय कर्मकाण्ड के साधन बन गए। यह प्रवृत्ति इस समय से अधिकाधिक रूढ़ होती चली गई और इसका प्रभाव समूचे दर्शन और नीतिशास्त्र पर पड़ा।

कर्म—ऋत

'कर्म' के सिद्धांत का विकास भी इस प्रकाश में देखने से स्पष्ट हो जाता है। जन-संघ के युग में कर्म और यज्ञ में अन्तर नहीं था। जीवन की नित्य क्रियाएँ ही यज्ञ थीं और वही कर्म था। किन्तु उस कर्म का कोई नैतिक मूल्यांकन करने की आवश्यकता ही न थी। ऋग्वेद की प्रार्थनाएँ भौतिक लाभ और हितों की आकांक्षा प्रकट करती हैं और इन इच्छाओं की पूर्त्ति का एकमात्र साधन दैनिक यज्ञ था। कालान्तर में यज्ञ के 'प्रतीकरूप' हो जाने पर वह देवताओं तक पहुँचने का साधन बन गया। किन्तु भारतीय विचारधारा में यज्ञ की स्वयं इच्छा-पूर्त्ति करने की शक्ति होने के कारण, देवता कभी यज्ञ से अधिक शक्तिशाली नहीं हो सके। वे स्वयं यज्ञ के बल पर देवता बने थे। सृष्टि (प्रकृति) का कारण प्रजापति का यज्ञ (प्रथम पुरुष का तप) था। इसलिए देवताओं का रागद्वेष, उनकी प्रसन्नता अथवा क्रोध संसृति के पटपरिवर्त्तन में सहायक बन सकता था, परन्तु उसका एकमात्र कारण न था। यज्ञ में स्वयं शक्ति है, जो असीम है।

वैदिक यज्ञ को इसीलिए कुछ विद्वानों ने 'जादू' में विश्वास कहा है। जादू का अर्थ है मानवीय शक्ति एवं सीमित साधनों द्वारा किसी अपौरुषेय, असम्भव फल की प्राप्ति (थार्नडाइक)। जहाँ तक यज्ञ की शक्ति में विश्वास

का प्रश्न है, किसी हद तक वे अवश्य जादू के समान थे, किन्तु साधारणतया वे अमानुषिक अथवा असम्भव कार्यों के सम्पादन के लिए नहीं किए जाते थे।

हॉग के शब्दों में 'यज्ञ एक प्रकार के यत्र थे, जिनमें एक पुर्ज़ा दूसरे से ठीक सबधित होना चाहिए, जिसमें रच मात्र भी ग़लती होने पर भयावह फल उत्पन्न हो सकता है; किन्तु उचित रूप से करने पर जिनका सुफल निश्चित है।' और इसमें यज्ञ करने करनेवाले की व्यक्तिगत सचाई का मूल्य नहीं था। यह भी आवश्यक नहीं था कि यज्ञ के उद्देश्य भी सदा अच्छे ही हों।

यज्ञ अनादि अनन्त था। उसकी निश्चित, त्रुटिहीन, कभी असफल न होने की शक्ति ने उसे एक प्राकृतिक-भौतिक नियम का-सा रूप दे दिया। कर्म के साथ 'ऋत' की कल्पना हुई। 'ऋत' का अर्थ है 'वस्तुओं की गति का नियम'। प्रकृति में एक अटल नियम है, जिसके अनुसार उसके कार्य चलते हैं। इसकी प्रथम स्वीकृति हमें ऋत में मिलती है। ऋत एक प्रकार से कार्य-कारण-सिद्धांत का नाम है। इसीलिए ऋत को सृष्टि और अनृत को प्रलय के अर्थ में लिया गया।

ऋत सत्य है। ऋत से ही व्रत (नियम) और व्रतानि (नियम का पालन करने वाला) शब्द बनते हैं। सृष्टि का यह नियम सृष्टि के आदि में है। अन्य कल्पनाओं की भाँति ऋत भी एक देवता है। मारुत उसके पुत्र हैं। विष्णु उसका शिशु है।

कर्म—नैतिक नियम

वर्ग-समाज के साथ नैतिक प्रश्नों का उदय होते ही स्वभावतयः ऋत-कर्म के सिद्धांत में नैतिकता का समावेश हो जाता है। ऋत केवल भौतिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् नैतिक क्षेत्र में भी नियम की स्थापना करता है। 'सत्यमेव जयते'—अन्त में सत्य की ही विजय होगी; केवल नैतिक गुणों का ही राज्य विश्व में है और अनैतिकता का पतन अवश्यभावी है—नैतिक नियम में यह विश्वास स्वभावतया भारतीय दर्शन की भित्तिशिला बन जाता है।

इसी प्रकार कर्म भी पाप-पुण्य के साथ जुड़ जाता है। ऋत की प्रभुता कर्म की प्रभुता का कारण है और समूचे भारतीय दर्शन में कर्म की शक्ति के सम्मुख ईश्वर और ब्रह्म तक की शक्तियाँ फीकी पड़ जाती हैं। इसी का फल शायद यह हो कि अधिकतर दर्शन निरीश्वरवादी हैं, और यदि वे किसी रूप में ईश्वर को मानते भी हैं तो वह ईश्वर सर्व-शक्तिमान् न बनकर केवल नियम का विधायक (शासक या न्यायाधीश) सा बनकर रह जाता है।

आरण्यक

कर्म में नैतिकता का समावेश हो जाने पर भी अभी इस काल में नैतिक गुणों को प्रधानता नहीं मिली है। विश्व के नियम अथवा देव की इच्छा के अनुकूल कार्य करना ही पुण्य है, और अन्य पाप है। अभी यज्ञ को रूढ़ि बनाने की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर है—"स्तोमम् जनयामि नव्यम्" (ऋ० वे० १.१०६.२) 'मैं नया स्तोत्र बनाता हूँ' कहने-वालों का कब से अन्त हो चुका। अब 'अनर्थका हि मन्त्रा' मन्त्रों का कुछ अर्थ ही नही है—कहने वाले प्रभुता में आ रहे हैं। मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण मात्र ही फल की सिद्धि करता है। स्वर, वर्ण और शब्दों के परिवर्तन से मन्त्र वज्र बनकर स्वयं यजमान का ही सहार कर देता है। ("मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।")

यज्ञ की अवास्तविक रूढता आरण्यकों में अपने शिखर पर पहुँचती है। आरण्यक वानप्रस्थ (घर छोड़कर जंगलों में रहनेवाले धर्मात्माओं) के लिए कहे गये हैं। यज्ञ का साधन वन से उपलब्ध न होने पर उसके आध्यात्मिक महत्व का मनन और उपासना ही उनके लिए यथेष्ट कही जाती है। किन्तु यज्ञ के आध्यात्मिक महत्व का तो जन्म ही उस युग में न हो पाया था। यज्ञ निरे भौतिक फल की प्राप्ति के भौतिक हेतु थे, किन्तु ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग और यज्ञ-विधि की प्रभुता इस समय इतनी जम चुकी थी कि गृहस्थी छोड़-कर एकान्तवास करनेवाले व्यक्ति के लिए भी यज्ञ को मानना आवश्यक हो गया था—यदि वास्तविक नहीं तो प्रतीकरूप में ही उसकी उपासना उसे करना पड़ती थी।

कुछ विद्वानों के अनुसार आरण्यकों में बाह्य शक्तियों की उपासना से हटकर अन्तर्मुखी होने की चेष्टा की गई है। इस अर्थ में वे आरण्यकों को ब्राह्मण-काल से उच्च दार्शनिक स्तर पर रखते हैं। किन्तु आरण्यक बाह्य से आन्तरिक, वस्तु से विषय, भौतिक से मानसिक की ओर बढने का चिह्न नहीं हैं; क्योंकि आरण्यकों में यज्ञ के स्थान पर उसके प्रतीक मन्त्रों के अर्थ अथवा भाष्य में नहीं ढूँढे गए। यह कार्य तो उपनिषदों ने किया। आरण्यकों में यज्ञ के प्रतीक 'न केवल बाह्य प्रकृति (सूर्य, चन्द्र, मनुष्य-शरीर ..आदि) से ही नहीं लिये जाते थे। वरन् कभी-कभी निरर्थक अक्षरों का जप भी सर्वोच्च फलदायक माना जाता था।' (दासगुप्त)।

किन्तु आरण्यकों का महत्त्व इसलिए है कि वे उपनिषद्

और ब्राह्मण के बीच की कड़ी हैं। वे संक्रमण-काल के प्रतिनिधि हैं। आरण्यकों की प्रतीक-उपासना जहाँ यज्ञ के कर्मकाण्ड की जटिलता को दृढ़ बनाती है, वहाँ साथ ही यज्ञ की मूल क्रिया पर भी कुठार मारती है। सचमुच यज्ञ करने की अपेक्षा उसकी प्रतीक-उपासना को मान लेना ही उपनिषदों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह को जन्म देता है। मानसिक कल्पना की कर्मकाण्ड पर विजय यांत्रिक जादूई भौतिकवाद पर विचारवाद की विजय है।

उपनिषद्

उपनिषद् इस ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध खुला विद्रोह हैं। संहिता का प्रकृति-धर्म कवियों की वाणी है। ब्राह्मण का कर्मकाण्ड ब्राह्मणों [पुरोहितों] की रचना है और उपनिषदों का आत्मज्ञान दार्शनिकों का चिन्तन कहा जा सकता है—(राधाकृष्णन्)। वास्तव में उपनिषद् ही समस्त भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि हैं। उपनिषदों के ऋषि ब्राह्मण-संस्कृति का विरोध करके भी उनका सामना करने के लिए वेदों में जनसाधारण की श्रद्धा का सहारा लेते हैं। संहिताओं के विषय और विचारों की असम्बद्धता और असमानता से लाभ उठाकर वे उन्हीं में अपने सिद्धांतों की पुष्टि का प्रमाण ढूँढते हैं और कालान्तर में वैदिक ब्राह्मण-धर्म में सम्मिलित हो जाते हैं। उपनिषदों की प्रतिक्रिया इस प्रकार एक सीमित विद्रोह है और उपनिषद् समस्त वैदिक युग की प्रेरणा से अलग होते हुए भी अन्त में उसी वैदिक युग की विचार-धारा से अनुप्राणित होते हैं।

स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म

मृत्यु को अन्त न मानते हुए भी पुनर्जन्म का विचार वेदों में कम ही मिलता है। जीवन को बंधन मानने की कल्पना उनके सामने नहीं है, क्योंकि वे जीवन में भोगविलास और सुख की कल्पना करते हैं। उसको दुःख मानने का विचार अभी उनके मस्तिष्क में नहीं आया है। यह आर्यों की विजय और उत्कर्ष का काल है। इसमें उन्हें मृत्यु का भय—निर्वाण की उत्कंठा नहीं है। मरने के बाद स्वर्ग और नरक की कल्पना वे करते हैं। परन्तु स्वर्ग और नरक इसी जीवन के समान हैं। हर धर्म के स्वर्ग-नरक उनके देवताओं की भाँति मानवीय आकार और जीवन के प्रतिबिंब होते हैं। उसी प्रकार वैदिक स्वर्ग उन अमर्त्य देवताओं के निवासस्थान हैं, जो सांसारिक वस्तुओं का सदैव उपभोग करते हैं। देवताओं की तरह बनना ही आर्यों के धर्म का उद्देश्य है।

यम मनुष्यों से अलग देवता नहीं है। वह मानवों में प्रथम है, जो उस ओर—मृत्युलोक छोड़कर—चला गया। उसका साम्राज्य सबके लिए खुला है। जो उसके राज्य में जाते हैं, उनका वह पोषण करता है। वह अमर है और पुण्यवान्, धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को उसका लोक मिलता है। वस्तुतः अमरत्व ही वैदिक युग में धर्म का फल है। धर्मनिष्ठ न होने पर सदा के लिए मृत्यु मिलती है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर [४ २७. १] कार्य करने के बाद चले जाने और पुनः जन्म लेने का वर्णन है। इसका आशय मनुष्य के तीन जन्म अथवा अवस्थाएँ—बालपन, युवावस्था, बुढ़ापा—लगाया गया है। यही पुनर्जन्म की कल्पना का भी सूत्र हो सकता है।

दर्शन का उत्कर्ष

इस प्रकार भारतीय दर्शन का वेदों के यज्ञ-कर्मकाण्डिक धर्म से उदय होता है। वेदों के देवता [ऋग्वेदकाल] प्रकृति-देवता भी हैं और वे [ब्राह्मणकाल] मानवीय भी हो गये हैं। पर ये मानवीय देवता अत्यंत वैयक्तिक रूप ले लेते हैं। उनके कार्य पुरोहित [अग्नि, बृहस्पति], योद्धा [इन्द्र, मारुत] और राजा [वरुण, प्रजापति] के समान हैं। ये देवता और उनके लिए किए गए यज्ञ भौतिक सम्पत्ति और उत्कर्ष तथा मरने के बाद अमरत्व और स्वर्ग की मनोवांछित कामना पूर्ण करते हैं। बाद के युग में जहाँ एक ओर 'ब्राह्मण' वर्ग की प्रभुता स्थापित होती है और रूढ़ियाँ जन्म लेती हैं, वहाँ दूसरी ओर कर्म और नियम का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत निकलता है, जो समस्त विज्ञान और दर्शन का आधार है।

अथर्ववेद के काल में अधिक प्राचीन और आरम्भिक विश्वास भी धर्म में सम्मिलित हो जाते हैं, जिन्हें वैदिक रूप, देकर अपना लिया जाता है। यह धर्म जन-साधारण का धर्म है, किन्तु विचार-शक्ति से वह अधिक दूर है। ऋग्वेद के देवता विशुद्ध मानवीय श्रद्धा और प्रेम के स्वरूप हैं। अथर्ववेद के देवता भय से उत्पन्न भक्ति और अंधविश्वास के स्वरूप हैं (ह्विटने)। इस युग में काल, काम, रूद्र, कृष्ण, विष्णु, पशुपति, गाय आदि की पूजा आरम्भ होती है, जो आगे चलकर नवीन भक्ति-सम्प्रदायों की नींव बनते हैं। शिव, विष्णु और कृष्ण की कल्पना का उदय धार्मिक अन्धविश्वास की दार्शनिक विचारधारा पर विजय है।

ब्राह्मण-वर्ग के प्रभुत्व का प्रभाव वेदों को अपौरुषेय शब्द-प्रमाण बना देता है और विद्या के अर्थ को संकुचित कर देता है। धर्मगुरुओं की ये विचारधाराएँ आगे दर्शन का उदय होने पर भी ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के रूप में अपना प्रभाव बनाये रहती हैं।

पृथ्वी
की कहानी
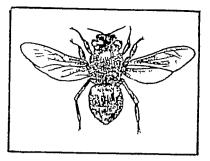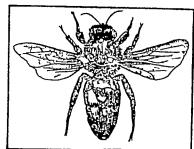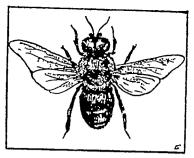
(ऊपर)
मधुमक्खियों के तीन रूप—कार्य-कर्त्ता, रानी और नर मधुमक्खी

(बाईं ओर)
अंडे से भुनगे तक मधुमक्खी के विकास-क्रम की विभिन्न श्रेणियाँ

खैरा और भुनगा
भारतीय मक्खी

बाईं ओर, खैरा मक्खी और दाहिनी ओर भुनगा मक्खी की क्रमशः कार्य-कर्त्ता, नर और रानी मक्खी की आकृतियाँ दी गई है।
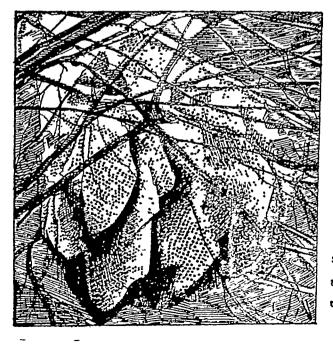
(बाईं ओर)
खैरा मक्खी के एक के पास एक लगे हुए छत्तों का समूह।
(दाहिनी ओर)
उक्त छत्ते की रचना का परिवर्द्धित चित्र।
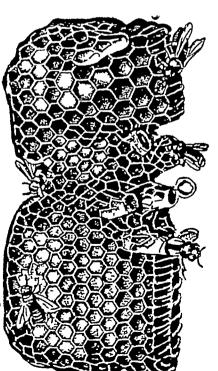
लाभदायक कीड़े

मनुष्य को रेशम, लाख और शहद का उपहार देनेवाले जीवधारी

मनुष्य अपने को पृथ्वी का स्वामी समझता है, परन्तु कितने ही छोटे-छोटे ऐसे जीव हैं, जिन्हें दरअसल अभी तक वह नहीं जीत सका है। ऐसे जीवों मे कीड़ों का मुख्य स्थान है। कीड़े बहुत तरह के होते हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं, जो किसी न किसी तरह से हमें हानि ही पहुँचाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जिनसे हमें कोई विशेष हानि या लाभ नहीं होता, और कुछ ऐसे भी हैं, जिनसे हमें कई प्रकार के लाभ पहुँचते हैं। लाभदायक कीड़ों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है—पहले तो वे जो अपने जीवन से हमें परोक्ष लाभ पहुँचाते हैं, और दूसरे वे जो प्रत्यक्ष रूप से हमें उपयोगी सामग्री देते हैं। हम इस लेख में इन दूसरे प्रकार के कीड़ों का ही वर्णन करेंगे। इनमें से मुख्य हैं—रेशम के कीड़े, लाख के कीड़े और शहद पैदा करनेवाली मधुमक्खियाँ।

रेशम का कीड़ा

रेशम पैदा करनेवाले कीड़ों की कुल मिलाकर लगभग १२० जातियाँ होती हैं। हर जाति से भिन्न-भिन्न प्रकार के धागे हमें मिलते हैं, जिनकी मोटाई, नाप, शक्ति इत्यादि में काफी अन्तर होता है। भारतीय रेशम के कीड़ों को दो मुख्य दलों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे हैं, जो शहतूत की पत्तियाँ खाकर जीवित रहते हैं। ये बोम्बेसिडी (सामान्य कोशवाले) कुटुम्ब के होते हैं। दूसरे वे हैं जो शहतूत के अलावा अन्य वृक्षों की पत्तियाँ भी खाते हैं। ये सेटरनिडी (सनीचरी) वंश के होते हैं। शहतूत के मुख्य कीडे का नाम बोमविक्स-मुराई (सामान्य कोशाकार) है। और कीड़ों की तरह इन कीड़ों की भी विकास की चार अवस्थाएँ होती है—

(१) अंडा – इन कीड़ों का अंडा छोटा-सा मटमैले सफ़ेद रंग का होता है।

(२) जातक (पदाति)—अंडे के फूटने पर उसमें से पदाति निकलते हैं, जो अपनी २०-३० दिन की ज़िन्दगी ही मे काफी पत्ती खा जाते हैं। इसके बाद जातक अपने रहने के लिये घर बनाते हैं, जिसे 'ककून' कहते हैं।

(३) 'क्राइसेलिस'—ककून के भीतर जो जातक होता है, उसे 'क्राइसेलिस' कहते हैं। यह ककून मे उस समय तक रहता है, जब तक वह पतिंगा नहीं बन जाता। इस तीसरी अवस्था में ही रेशम का धागा हमें मिलता है, जिसे यह कीड़ा अपने चारों ओर बुनता है। क्राइसेलिस बन जाने के कुछ दिनों बाद ककून को काटकर उसमे से पतिंगा निकल आता है। निकलते ही ये जीव जोड़ा खाते हैं, जिससे कि मादा अंडे देना शुरू कर देती है। इस प्रकार पुनः जीवन-चक्र शुरू से जाता है।

रेशम के कीड़े के शत्रु और उनकी बीमारियाँ

रेशम के कीड़ों को तरह-तरह की बीमारियाँ भी हो जाती हैं, जिनसे रेशम-उद्योग को अक्सर काफी धक्का लगता है। कुछ बीमारियाँ कीड़ों पर काले धब्बों के रूप मे प्रकट होती हैं, जो कि रोग की बढी हुई दशा मे आँखों से साफ़-साफ दिखाई पड़ते हैं। इनके फलस्वरूप ककून निम्न श्रेणी के बनते हैं। कीड़ों को धूल से बचाकर तथा रोग के बीजाणु को कीटाणुनाशक औषधि के प्रयोग से मारकर रोग को कुछ हद तक दूर किया जा सकता है।

मुस्कारडाइन नामक बीमारी एक प्रकार की फफूँदी से होती है, जिसके बीजाणु हवा द्वारा कीड़ों तक पहुँचते हैं। इस रोग से कीड़े जल्दी-जल्दी मरने लगते हैं। इससे बचाव के लिये छिड़काव तथा कीड़े पालने के कमरे में कई दिनों तक गन्धक का धुआँ लगाना लाभदायक होता है।

ट्राइकोलीगा बोम्बीसीज़ एक तरह की परजीवी मक्खी होती है, जो कीड़ों के शरीर पर घाव करके उसमें घुसती हैं।

एक कीडे के शरीर में ऐसी तीन चार परजीवी मक्खियाँ तक हो सकती हैं। इसके फलस्वरूप या तो कीड़ा रेशम बुनता ही नहीं, या फिर ककून बन जाने पर मक्खी उसे काट करके निकल आती है और फलतः उसे ख़राब कर देती है। कमरे की खिड़कियाँ, द्वारों आदि में तार की जालियों का प्रयोग करने से और कमरे में अँधेरा रखने से कीड़ों को इन मक्खियों से बचाया जा सकता है।

रेशम के जगली कीड़ों का पालन-पोषण शहतूत खानेवाले कीड़ों से कहीं आसान है। इनमें अंडी के पेड़ का कीड़ा अट्टेकस रिसीनाई मुख्य है, जो अपने भरण-पोषण के हेतु अडी की पत्ती खाता है। यद्यपि अडी के कीड़े का रेशम शहतूत के कीड़े के रेशम से श्रेणी में भिन्न और निम्न कोटि का होता है, परन्तु उसके धागे अन्य सभी रेशम के धागों से अधिक मज़बूत होते हैं। बात यह है कि इसमें ककून को काटकर पतिंगे (शलभ) के निकल आने से भी कोई विशेष हानि नहीं होती, क्योंकि इसे साधारण रुई की तरह धुनकर ही काता जाता है। हमारे देश में इस कीड़े को पालने का अधिक रिवाज़ है और इसका पालन ग्राम तथा कुटीर उद्योग के रूप में काफी बढाया जा सकता है। इन कीड़ों को पालने का काम किसान खेती के साथ-साथ कर सकते हैं, यदि वे थोड़ी सी फालतू मेहनत करने को तैयार हों। इस तरह वे अपनी आमदनी काफ़ी बढ़ा सकते हैं।

कहा जाता है कि रेशम के कीड़ों को पालने की कला की जानकारी सबसे पहले चीन के सम्राट् हाग-टी की रानी सी-लिंग-ची ने २६४० ई० पूर्व प्राप्त की थी। रेशम से पहनने के कपड़े इत्यादि तैयार करने की कला में भी चीन को अग्रदूत होने का गौरव प्राप्त है। यहीं से यह कला और देशों में फैली। कहा जाता है कि रेशम के कीड़े के अडे तथा शहतूत के बीज भारत में पहले-पहल एक चीनी राजकुमारी द्वारा अपने पहनने के कपडों में छिपाकर लाये गये थे। कुछ लोगों का मत है कि चीन के बाद तीसरी शताब्दी के आरभ में यह कला कोरिया द्वारा जापान में फैली। अन्य लोगों के मतानुसार चीन के बाद दूसरा देश भारत है, जहाँ यह कला फैली। रेशम के कपड़ों का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है। इससे यह मालूम होता है कि यह कला भारत में अति प्राचीन काल से ही रही होगी। हिमालय पर्वत के किनारे-किनारे से लेकर आसाम तक शहतूत के पेड़ पाये जाते हैं। अब तो बहुत-से स्थानों में खेतों में भी ये लगाये जाते हैं। तो भी इनके लिये तीन क्षेत्र विशेष प्रसिद्ध हैं, जहाँ रेशम का उत्पादन अधिकता से होता है। पहले क्षेत्र में मैसूर का दक्षिणी भाग, मद्रास तथा कोयूम्बटोर का इलाक़ा आता है। दूसरा काश्मीर तथा जम्बू का इलाक़ा है और तीसरा आसाम, पश्चिमी बगाल तथा बिहार का क्षेत्र। उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में भी काफ़ी रेशम उत्पन्न होता है। काश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश और मैसूर से लगभग १५ लाख मन रेशम तैयार किया जाता है, जिसका मूल्य लगभग एक करोड़ रुपया होगा।

ककून बन जाने के बाद कीड़े के पालन-पोषण का कार्य समाप्त हो जाता है और तब रेशम तैयार करने की क्रिया शुरू होती है। धागे को अटूट बनाये रखने के लिए उसमें से क्राइसेलिस (कीड़े) को निकलने नहीं दिया जाता। पूरे डील-डौल के ककून को कीड़े निकलने के पहले ही गरम पानी, भाप या तेज़ धूप से निर्जीव कर दिया जाता है। कुछ ककून अडे पैदा करने के लिये रख छोड़े जाते हैं, जिनमें से ककून काटकर पतिंगे बाहर निकलते हैं। इस प्रकार उनकी जाति बनी रहती है। रेशम का उद्योग मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो कच्चे रेशम का उत्पादन और उसके निर्यात का काम। दूसरे कच्चे रेशम से कपड़े तैयार करना और उनका निर्यात करना।

कच्चे रेशम का उद्योग

इसके पाँच मुख्य अग हैं। एक तो शहतूत, अडी, आदि के पौदे उगाना, जिनकी पत्तियाँ कीडा खाता है। यह रेशम-उद्योग का सबसे अधिक आवश्यक अग है, क्योंकि इन पौदों की पत्तियों ही पर कीड़े का जीवन निर्भर रहता है। शहतूत वैसे प्रत्येक स्थान पर उग सकता है, पर गीली बालूदार मिट्टी या पहाड़ों की तलहटियों में यह सबसे अच्छा उगता है। प्राकृतिक खाद न मिलने पर इसके लिए सबसे अच्छा खाद चूने का सुपर फास्फेट होता है।

दूसरा काम है अडों का पैदा करना। इन कीड़ों के अडे इतने छोटे होते हैं कि सौ अडों का भार एक ग्रेन के लगभग होता है! फूटने से पहले अडों को बराबर हवा की आवश्यकता होती है। इसलिये अडों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये सुराख़दार डिब्बों ही का प्रयोग किया जाता है।

तीसरा काम है अंडों के फूटने पर कीड़ों का पालन-पोषण। जहाँ पर जलवायु बराबर गरम रहती है, वहाँ तो अडे अपने आप ही फूट जाते हैं। परन्तु ठंडे देशों में फूटने के लिए आवश्यक गरमी पहुँचाने के हेतु 'इन्क्यूबेटर' नामक यत्र होते हैं। इन यत्रों के उपयोग से अंडों का

फूटना नियमित रूप से होता रहता है। इस यंत्र का तापक्रम ६५° फॉ० से धीरे-धीरे ७७°फॉ० तक बढाया जाता है। इस तापक्रम पर अंडों को फोड़कर उनके भीतर के जीव बाहर निकल आते हैं। इसके बाद उन्हें लकडी की थालियों में रखकर ऊपर से खुली जाली बिछा दी जाती हैं, जिस पर पत्तियाँ ढकी रहती हैं। जाली के छेदों से होकर कीड़े पत्तियों पर पहुँच कर उन्हें खाने लगते हैं। जिस कमरे में ये कीड़े पाले जाते हैं, उसका तापक्रम ७७° फॉ० रखा जाता है।

चौथा काम है ककूनों की कताई से कच्चा रेशम बनाना। अंडों के उत्पादन के लिये ज़रूरी ककूनों को छोड़कर शेष सब ककून बड़े-बड़े बर्त्तनों में उबाले जाते हैं। पहले उन्हें २०५° फॉ० तापक्रम वाले पानी में लगभग ३० सैकंड तक डुबोते हैं। फिर १५०° फॉ० तापक्रम के पानी में ५ सैकंड तक रखते हैं। फिर २१२° फॉ० तापक्रम के पानी के बाथ में साढे तीन मिनट तक रखकर पाँच मिनट तक उन्हें पकाते हैं। इसके बाद भाप बन्द कर दी जाती है। धूप या गरम हवा के प्रभाव से भी ककून के भीतर के कीड़ों को मारा जा सकता है।

अन्तिम क्रिया होती है ककूनों को इकट्ठा करना और उनसे रेशम की कताई करना। इसके लिए ककूनों को सुखाकर बड़े-बड़े टिन या जस्ते के बरतनों में अथवा ऐसे बड़े-बड़े बोरों में, जो नम न होनेवाले कागज़ के बने होते हैं, भरकर रखा जाता है। कुछ लोग सुखाने के बजाय इन्हें ५° सैंटीग्रेड से १०° सैंटीग्रेड तापक्रम पर भी रखते हैं। यह और भी अच्छा ढंग है और इसमें ख़र्चा भी लगभग उबालने जितना ही होता है। रेशम कातने की मशीनें होती हैं। कताई शुरू करने से पहले उन्हें उनकी जाति, रंग, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर छाँटकर अलग कर लिया जाता है। इसके बाद आवश्यकतानुसार उनकी रंगाई भी कर ली जाती है। कटे हुए ककूनों से भी काफी रेशम बनता है, पर इनके धागे की लम्बाई कम होने के कारण इनका महत्त्व कम होता है।

मधुमक्खी

उपयोगी कीडों में मनुष्य केवल दो को ही पालतू बना सका है—एक तो रेशम का कीड़ा है और दूसरी मधुमक्खी। अब हम मधुमक्खी का वर्णन करेंगे। आपको यह जानकर कुतूहल होगा कि मधुमक्खी, घरेलू मक्खी, पतिंगे और तितली ये सब एक ही समूह के प्राणी हैं। किन्तु मधुमक्खी और साधारण घरेलू मक्खी के वंश पृथक्-पृथक हैं। घरेलू मक्खी का वंश कहलाता है मक्षिका और मधुमक्खी का मधुकर वंश। कई एक जातियों के समान मधुमक्खियाँ भी फूलों से पुष्परस और पराग लेती हैं, परन्तु वे ही उनसे मधु बना पाती हैं, जब कि अन्य जाति की मक्खियाँ ऐसा नहीं कर सकती। सभी मधुमक्खियों का जीवन-चक्र तथा उनका स्वभाव परस्पर बहुत-कुछ
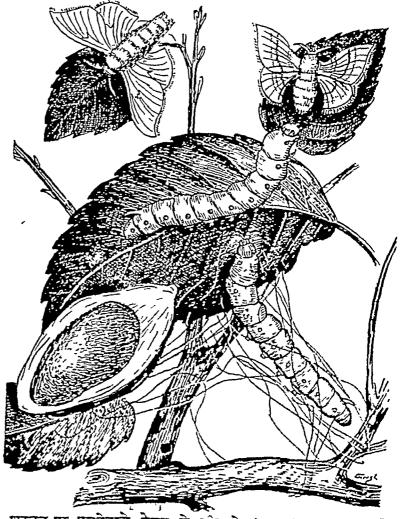
शहतूत पर पलनेवाले रेशम के कीड़े के (ऊपर) नर-मादा और (नीचे) भुनगा और ककून।

मिलता-जुलता है। ये मुख्यत: वनस्पति पर जीवनयापन करती हैं, जिनमें से मुख्य फूलों के पराग के शीर्ष भाग तथा उनका मकरद हैं। भारतीय मधुमक्खियों की तीन जातियाँ होती हैं:—

१. एपिस डोरसेटा—जिसे साधारणतया 'सारग' कहते हैं। यह पहाड़ी मधुमक्खियों की जाति है। इस जाति की मक्खी तीनों में सबसे बड़ी होती हैं और काफी शहद पैदा करती हैं। इसके छत्ते प्राय: चार फीट लम्बे तथा अकेले होते हैं, जो कि बहुधा ऊँचे-ऊँचे जगली पेड़ों, पहाड़ी चोटियों और मकानों की दीवारों पर लगे दिखाई देते हैं। हमारे देश में मधुमक्खी का पालन विशेषकर पहाड़ी स्थानों में ही होता है। उत्तर प्रदेश में नैनीताल के पास जेलीकोट इसके लिए प्रसिद्ध स्थान है। वैसे देश के सभी भागों में यह कार्य घरेलू उद्योग-धन्धे की भाँति किया जा सकता है, पर मक्खियों की यह जाति क्रोधी और भयानक होने के कारण पाली नहीं जा सकी है।

२. एपिस फ्लोरिया या छोटी भुनगा—यह तीनों जातियों की मक्खियों में सबसे छोटी होती है। यह भी सारंग की भाँति अकेले ही छत्ते बनाती है, पर वे आकार में बहुत छोटे होते हैं, जो कि बहुधा झाड़ियों तथा छतों के कोनों से लटकते दिखाई देते हैं। इनमें शहद बहुत थोड़ा मिलता है और इनके पालने से कोई व्यावहारिक लाभ होने की आशा नहीं की जा सकती।

३. एपिस इंडिका या साधारण खैरा अथवा सातकोंचवा—यह साधारण भारतीय मधुमक्खी है, जो समस्त देश के मैदानों तथा जंगलों में पायी जाती है। इसका आकार आरम्भिक दोनों मक्खियों के बीच का होता है। उन दोनों से विपरीत, यह अकेले नहीं बल्कि समानान्तर छत्ते बनाती है, जो कि बहुधा पेड़ों के खोखलों, कुओं के भीतर, दीवारों पर तथा अन्य सुरक्षित जगहों पर दिखाई पड़ते हैं। यही एक ऐसी मधुमक्खी की जाति है, जिसे पालतू बनाया जा सकता है।

सामाजिक जीवन तथा जीवन-चक्र

कुछ कीड़ों में बड़ी ही रोचक सामाजिक प्रवृत्ति होती है। ऐसे कीड़ों में चींटी, दीमक तथा मधुमक्खी प्रमुख हैं। यह तो सभी जानते हैं कि मधुमक्खी से हमें मधु और मोम मिलता है। पर यह कम ही लोगों को पता होगा कि मधुमक्खी का जीवन सामाजिक सगठन का एक ज्वलन्त उदाहरण है। मधुमक्खियाँ सदैव बस्ती बनाकर रहती हैं और उनकी प्रत्येक बस्ती में तीन प्रकार के प्राणी होते हैं:—

१. रानी मक्खी—जो 'रानी' कहलाते हुए भी सही अर्थों में रानी नहीं होती। इसका स्तर सभी से ऊँचा अवश्य होता है, पर यह शासन नहीं करती। एक छत्ते में केवल एक ही रानी होती है—अन्य रानियों को डक मारकर वह मार डालती है। इसका काम केवल अडे देना होता है। यह तीन से पाँच वर्ष तक जीवित रहती है और इस छोटे से जीवन में नर मधुमक्खी से केवल एक ही बार यह जोड़ा खाती है। इसी एक बार में वह बहुत-से शुक्र-कण पा जाती है, जिन्हें जीवन-पर्यन्त वह अपने शरीर के भीतर सुरक्षित रखे रहती है। यह रानी अपनी इच्छानुसार नर अथवा मादा बच्चे पैदा करती है। कुछ का तो यह शुक्रों से मेल कराती है और कुछ को बिना काम में लिये ही अपने शरीर से बाहर निकाल देती है।

२. नर मक्खियाँ—ये बिना काम में लिये हुए अडों से निकलती हैं। इन्हें न तो कोई अधिकार होता है और न इनसे बस्ती को किसी तरह लाभ ही पहुँचता है। उलटे ये छत्ते के शहद को अलग से बैठे-बैठे खाया करती हैं। बस इन्हें रानी मक्खी से सयोग करने मात्र का अधिकार होता है। पर हज़ारों में कहीं एक को ही उस अधिकार को काम में लाने का सुयोग प्राप्त होता है—वह भी एक रानी के तीन से पाँच वर्ष के जीवन में केवल एक बार ही। फलत: जोड़ा खाने की ऋतु के समाप्त होते ही बस्ती की और मक्खियाँ इन्हें छत्ते से भगा देती हैं और तब ये भूख की व्यथा और मौसम के प्रभाव से काल के मुख में पहुँच जाती हैं।

नर और नारी मक्खी के सयोग की रीति भी बड़ी अनोखी होती है। नारी मक्खी युवावस्था में पदार्पण करते ही प्राय: बस्ती से निकल भागती है और अति तीव्रता से वह ऊपर वायु में उड़ती चली जाती है। उसके पीछे हज़ारों नर मक्खियाँ भी हो लेती हैं। परन्तु वह ऊपर की ओर उड़ती ही चली जाती है। अत में दृष्टि से ओझल हो वायुमंडल में बड़ी ऊँचाई पर पीछा करनेवाली नर मक्खियों में से कोई एक उस तक जा पहुँचती है और वहीं हवा में ये जोड़ा खाती है। अधिकांश नर मक्खियाँ तो इस दौड़ में तभी मृत्यु का शिकार हो जाती हैं और जो बची-खुची रहती हैं तथा फिर से पृथ्वी पर आ पहुँचती हैं उनका भी थोड़े समय में यही हाल होता है। हाँ, गर्भिणी रानी अवश्य या तो अपनी बस्ती में लौट आती है और वृद्ध या मरी हुई रानी का स्थान ले लेती है अथवा अपनी बस्ती से अलग अपने ही अडों से एक नई बस्ती बनाने में सफल होती है।

३. कार्यकर्त्ता मक्खी—कार्यकर्त्ता मक्खी अर्थात् काम करने वाली मक्खी के मुख्य अग ऐसे होते हैं कि ये सभी मादा होते हुए भी अडे देने की शक्ति से विहीन होती हैं। इनके अनेकों कर्त्तव्य होते हैं। प्रत्येक वस्ती या छत्ते में अधिकांश सख्या इन्हीं की होती है। हम सब मुख्यतः इन कार्यकर्त्ता मक्खियों से ही परिचित हैं। वे ही हमें छत्ते पर बैठी या इधर-उधर फूलों पर उड़ती और गर्मी की ऋतु में पानी के समीप आती-जाती दिखाई पड़ती हैं। इसलिये हम यहाँ उनके ही शरीर की रचना बतायेंगे। अन्य कीड़ों के समान मधुमक्खी का शरीर भी तीन भागों में बँटा रहता है—सिर, धड़ और पेट। सिर पर सबसे आगे दो महीन डोरे से दिखाई पड़ते हैं। इनके द्वारा मक्खी आसपास की वस्तुओं को टटोलती, सूँघती और पहचानती है। इन्हीं के सहारे अन्य मधुमक्खियों से अपने मन की बात भी वे प्रकट करती हैं। सिर के ऊपरी किनारों पर दो बड़ी आँखें होती हैं, जिनमें कई सौ छोटे-छोटे ताल होते हैं। ये ताल भिन्न-भिन्न कोणों पर इस ढग से सजे होते है कि बिना सिर को घुमाये ही मक्खी अपने अगल-बगल की वस्तुओं को देख सके। इन जटिल नेत्रों के अतिरिक्त इनके बीच में सिर की चोटी पर तीन सरल छोटे नेत्र भी रहते हैं, जिनसे उसको केवल प्रकाश के मन्द व तीव्र होने का बोध होता है। सम्भव है कि वे उसे निकट की वस्तु देखने में भी सहायता देती हों। सिर का एक भाग सूँड़ कहलाता है, जो मुख के ऊपर आगे को निकला रहता है तथा जिसके बीच में लम्बी रोयेंदार जीभ होती है। जीभ का छोर चम्मच की तरह चौड़ा होता है, जिससे मक्खी बड़ी सरलता से फूलों से रस को चाट व चूस कर उसे अपने पेट के भीतर की मधु-थैलियों में ले जाती है। सिर एक कोमल गर्दन के सहारे धड़ से लगा रहता है।
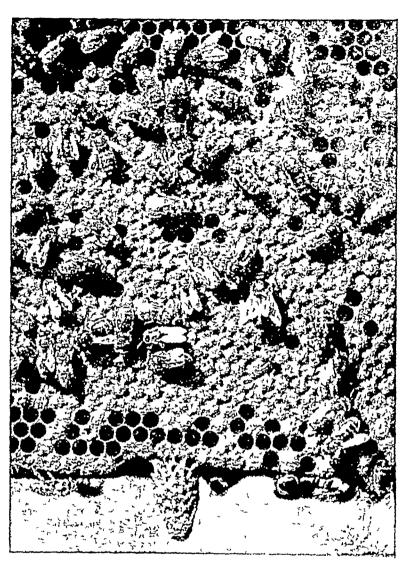
मधुमक्खी के छत्ते का एक फोटोग्राफ

षडभुज कोषो पर ध्यान दीजिए। छत्ते पर अधिकतर कार्यकर्त्ता मक्खियां हैं।

इन मक्खियों के शरीर का दूसरा भाग धड़ है। धड़ का मुख्य कार्य उड़ने और चलने-फिरने के अगों को साधना है। उड़ने के लिये दो जोड़े पर और चलने के लिये तीन जोड़े टाँगें होती हैं। प्रत्येक टाँग में कई जोड़े होते हैं और छोर पर एक जोड़े नख होते हैं। नख के बीच में एक चिपचिपी गद्दी सी होती है, जिसके सहारे मक्खी चिकने अथवा खुरदरे दोनों प्रकार के धरातलों पर चल सकती है। पैरों से चलने-फिरने के अतिरिक्त और भी आवश्यक कार्य निकलते हैं। वे हाथों का भी काम देते हैं। टाँग के भिन्न-भिन्न जोड़ों में अलग-अलग काम के लिये विशेषतायें होती हैं। भीतर की ओर ऊपरी तीन जोड़ों में जो झालर-सी बनी हैं, उससे नेत्रों को स्वच्छ करने का कार्य लिया जाता है। अन्य स्थानों पर जो ब्रुश के से बाल बने हैं, वे पराग
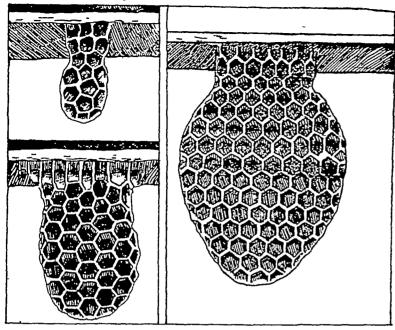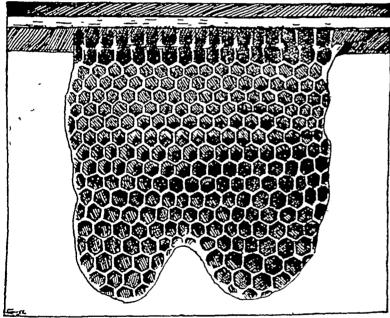
शहद की मक्खियों के छत्ते के कोषों का क्रमिक विकास

एक के पास एक कोषो की रचना करके क्रमशः छत्ता बढाया जाता है।

मुख्य भाग आँत और उत्पादन-इन्द्रियों का होता है। मोम की ग्रन्थियाँ पाँचवें और सातवें खंड में रहती हैं। यह मोम छत्ता बनाने में काम आता है।

इन कार्यकर्त्ता मक्खियों के निम्न चार कर्तव्य होते हैं:—

(१) भोजन एकत्र करना—भोजन के रूप में ये मकरंद तथा पराग के शीर्ष भाग को इकट्ठा करती हैं। यह छत्ते में वह पदार्थ भी लाती हैं, जो छत्ता बनाने में प्रयोग किया जाता है।

(२) छत्ते बनाना—कार्यकर्त्ता मक्खियों में कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे मोम निकलता है, जो उनके पिछले पैरों की सहायता से मुँह तक पहुँचाया जाता है। मुख तक पहुँचकर सम्भवतः यह मुँह के कुछ रसों से मिलकर उचित रूप में चीमड़ हो जाता है। छत्ता पतले षटभुज कोषों का बना होता है। नर, मादा तथा बच्चों के एव शहद के कोष भिन्न-भिन्न होते हैं। रानी अपने उदर के पिछले सिरे को इन कोषों में डाल-डालकर प्रत्येक अडे देनेवाले कोषों में एक अडा दे देती है।

(३) बच्चो को खिलाना-पिलाना—अडों से बच्चे तीन-चार दिनों में निकल आते हैं और उन्हें खिलाने-पिलाने का पूरा भार कार्यकर्त्ता मक्खियों पर ही होता है।

(४) रानी मक्खी की देख-भाल—कार्यकर्त्ता अपनी जीभ से रानी के शरीर को झाड़-पोंछकर स्वच्छ रखती हैं।

अ्ंश कहलाते हैं। इन्हीं में जब मक्खी फूलों के भीतर घुसती है तो पराग इकट्ठा हो जाता है और वह उसे छत्ते में लाकर जमा कर देती है। एक ग्रंथि के भीतरी भाग में मोम की थैलियों से मोम निकालने का कॉटा होता है। इन सबके अतिरिक्त एक ग्रंथि के बाहरी चिकने पृष्ठ पर अर्ध-गोलाकार लम्बे बालों की एक झालर और उसके नीचे कुछ महीन बाल होते हैं। यह पराग-टोकरी कही जाती है। पेट में दस छोटे-छोटे खड होते हैं और पेट के भीतर

छत्ते में हवा आने-जाने का उचित प्रबन्ध रहता है। छत्ते का उचित तापक्रम बनाये रखना, छत्ते के शहद से पानी उड़ाकर उसे गाढा करना, छत्ते की झाड़-पोंछ व सफाई और जहाँ तक सम्भव हो शत्रुओं से छत्ते की रक्षा करना, ये सारे कार्य कार्यकर्त्ता मक्खियों के ही ज़िम्मे होते हैं।

एक रानी मक्खी अपने जीवन में लगभग पन्द्रह लाख अंडे देती है। अंडों से जातक निकलने पर सभी को तीन दिनों तक कार्यकर्त्ता मक्खी अपने मुँह से

रस का भोजन कराती हैं। भोजन बच्चों के मुँह में नहीं बल्कि उनके कोषों के तल में रखा जाता है। रानी को तो जीवन भर यही रस भोजन के रूप में मिलता रहता है। रानी का जातक साढे पन्द्रह दिन में पूरा बढ जाता है। २१ दिन में कार्यकर्त्ता तथा २४ दिनों में नर के जातक पूर्ण रूप से तैयार हो जाते हैं। रानी और कार्यकर्त्ता मक्खियाँ दोनों ही मादा होती हैं, पर उनके जातक को खिलाने के ढंग में अन्तर होता है। दोनों ही के अडे बिल्कुल एक समान होते हैं और आरम्भ में कार्यकर्त्ता से रानी और रानी से कार्यकर्त्ता में वे आसानी से परिवर्त्तित किए जा सकते हैं।

जब जातक पूर्ण रूप से बढ जाता है तो कार्यकर्त्ता मक्खियाँ ऐसे जातकों को एक प्रकार के नर्म मोम से ढक देती हैं और तब जातक अपने ऊपर एक साधारण-सा ककून (कृमिकोष) बुनकर कोषिव के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है।

जब जातक से प्रौढ मक्खियाँ निकलती हैं तो वे उस समूह की सदस्या हो जाती हैं। प्रौढ मक्खियाँ जब अपने घर पर होती हैं तो वे केवल छत्ते पर ही चला-फिरा करती हैं। उनके रहने का कोई विशेष घर नहीं होता है। कितना निस्वार्थ है इनका जीवन ! समस्त कार्यकर्त्ता मक्खियाँ केवल सन्तति के हित मे ही निरतर लगी रहती हैं। उनके लिए घर बनाना, उनके लिए मधु-सग्रह करने के लिए फूलों-फूलों भटकना और फिर उन्हीं की सेवा करते-करते अपने जीवन का अन्त कर देना, यही है इनकी जीवन-कहानी !

इन मक्खियों के शत्रुओं में कुछ पक्षी और कीड़े मुख्य हैं, जो मधुमक्खियों पर आक्रमण करके उन्हे उठा ले जाते हैं। इनके ये शत्रु, जिनमें मनुष्य की भी गणना की जा सकती है, उनके इकट्ठा किये भोजन (शहद) तथा अन्य वस्तुओं को बिना उनकी आज्ञा के उठा ले जाते हैं। साधारण श्येन-शलभ छत्ते में जाकर उसे खा डालता है। मोमपतंग का जातक मोम के छत्ते को खा जाता है।

मधुमक्खी से लाभ

मधुमक्खी और मनुष्य का साथ पुरातन काल से ही चला आ रहा है। मनुष्य की स्वार्थभरी प्रकृति आरभ ही से इस ताक में रही है कि मधुमक्खी की मेहनत की कमाई का लाभ वह उठाता रहे। मधुमक्खी से हमें दो चीज़ें मिलती हैं, मोम और मधु। मोम मक्खी के छत्ते से हमें मिलता है। मोम एकत्र करने के लिये पुराने छत्ते भी इकट्ठे किये जा सकते हैं। यह मोम (जैसा कि
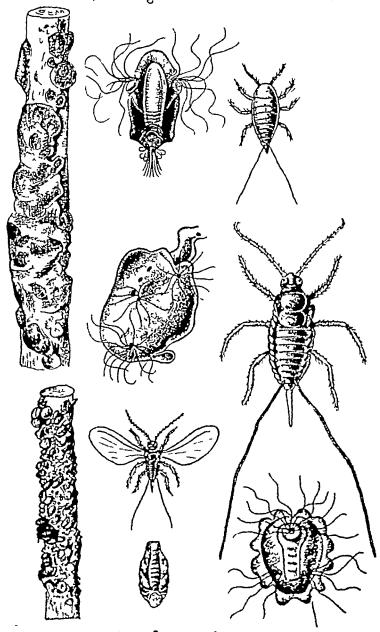
लाख का कीड़ा और उसके विकास की अवस्थाएँ
(दाहिनी ओर) पीपल और पलास की दो टहनियों पर कच्ची लाख चिपकी है। (बाईं ओर) लाख के कीड़ों के नर-मादा तथा उनके विकास की अवस्थाएँ।

पहले कहा जा चुका है) मधुमक्खी की खाल की ग्रन्थियों से निकलता है। मधु लगभग सभी प्रकार के फूलों में अति सूक्ष्म मात्रा में बिखरा पड़ा रहता है। पर यह मनुष्य की शक्ति के परे की बात है कि वह उसे एकत्र करे। यह तो मधुमक्खी ही की कार्यकुशलता है कि इतना परिश्रम करके वह इसे इकट्ठा करती है। मकरद के रूप में चूसे गये इस पदार्थ में मधुमक्खी की लार के मिलने से कुछ रासायनिक परिवर्त्तन होता है तथा उसका पानी भी उड़ाया जाता है, तब कहीं जाकर वह शहद का रूप धारण करता है। जंगली शहद विशेषकर बड़े ही गन्दे ढंग से निकाला जाता है। रात में जब मक्खियाँ छत्ते पर चिपटी रहती हैं तो मधु इकट्ठा करनेवाले जलती मशाल से छत्तों को जला देते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि अनेकों मक्खियाँ या तो उसमें जल मरती हैं या उनके कोई न कोई अंग बेकार हो जाते हैं। इसके बाद वे छत्ते को उखाड़कर छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर उन्हें निचोड़ते हैं और इस तरह निकाले हुए द्रव को, जिसमें मधु के अतिरिक्त पराग तथा जातक व कोषिव के शरीर के रस भी मिल जाते हैं, मधु के नाम से वे बेचते हैं!

आजकल वैज्ञानिक ढंग पर बने बनाये कृत्रिम छत्ते आते हैं, जिनमें मधुमक्खियाँ पाली जाती हैं। विदेशों में तो अब नये तरीक़ों का ही उपयोग होता है, पर भारत में अभी भी प्राचीन ढंग ही प्रचलित है। हाँ, उत्तर प्रदेश में मधुमक्खी पालने का विभाग लखनऊ तथा जेलीकोट में अनुकरणीय कार्य कर रहा है।

लाख का कीड़ा

रेशम व शहद के कीड़ों के बाद हमें लाभप्रद वस्तुओं की भेंट देनेवाले कीड़ों में लाख के कीड़े का नम्बर आता है। लाख Cocadai वंश के Tachardia Lacca Kerr नामक कीड़े द्वारा बनायी जाती है। यह कीड़ा अपने शरीर को बचाने और उसे ढकने के लिये एक राल जैसा पदार्थ निकालता है, जो कि उसकी खाल की ग्रन्थियों से निकलता है। अंडों से निकलने पर इस कीड़े के बच्चे बहुत छोटे तथा फुर्तीले होते हैं। इनका रंग लाल होता है और इनके छः पैर तथा रस चूसने वाला एक अंग होता है। कुछ देर तक पालक पौदे पर चलने-फिरने के बाद ये अपने उस चूसनेवाले अंग के सहारे मुलायम टहनियों पर चिपक जाते हैं। कुछ खालें बदलने के बाद नर कीड़ा, जो परदार और मादा से अधिक फुर्तीला होता है, उड़ जाता है। पर मादा वहीं चिपकी रहती है और उसका नाप बढ़ने लगता है। तदुपरान्त मादा नर से संयोग करती है। इसके बाद उसका नाप और भी बढ़ जाता है। अंत में वह दूसरी पीढ़ी के बच्चों को जन्म देती है। भारतवर्ष में इनकी प्रायः दो पीढ़ियाँ होती हैं।

ऐसी सैकड़ों मादाएँ पेड़ों की डालियों पर पायी जाती हैं और वे सभी रस निकालती हैं। इस रस का वास्तविक कार्य स्थिर कीड़ों को शत्रुओं से बचाने का ही होता है। यह पदार्थ वायु के सम्पर्क में आने से कड़ा हो जाता है। बहुधा कीड़े समूह में होते हैं, इस कारण ये डालों पर लगातार तह बना लेते हैं। इसे छीलकर पेड़ों से निकाल लिया जाता है। इसे ही ख़ूब धोकर लाख के रूप में उपयोग में लाते हैं। इसे खरल में कूटकर महीन भी कर लेते हैं।

दानेदार लाख को फिर पैरों से कुचल-कुचलकर ख़ूब मला जाता है। साफ़ हो जाने पर उसे धूप में सुखाकर दस बारह फीट लम्बे कपड़े के थैलों में रखा जाता है और तब उसे ख़ूब गर्म करते हैं। थैलों के सिरों को मरोड़ने से गर्म होने पर लाख पिघलकर पृथ्वी पर गिरती है। गिरते ही काम करनेवाले लोग झटपट उसे उठाकर अपने हाथ-पैर की सहायता से खींच-खींचकर बहुत पतला कर लेते हैं। सुखाने के बाद इन पत्तों के टुकड़े कर लिये जाते हैं। इन्हें धुला लेने पर चपड़ा बनता है।

लाख का उद्योग हजारों वर्ष पुराना है और इसका उपयोग वार्रनिश के रूप में भी सैकड़ों वर्षों से हो रहा है। इसके कीड़े को न तो पालने की आवश्यकता पड़ती है, और न इसके पेड़ों को विशेष रूप से उगाने ही की आवश्यकता होती है। अभी तक कोई उचित बनावटी लाख नहीं बन सकी है।

लाख का कीड़ा पलास, पीपल, गूलर, फालसा, बरगद, बबूल, बेर, कुसुम, साल आदि के वृक्षों पर पाया जाता है। गूलर व पीपल आदि से यह पर्याप्त मात्रा में मिलती है। लाख का गुण जिस पेड़ से लाख निकाली गई हो उसी पर निर्भर करता है। सारे ससार की लाख की उपज का ९५ प्रतिशत भाग भारतवर्ष में ही उत्पन्न होता है। शेष ५ प्रतिशत इन्डोचीन और श्याम में होता है। भारतवर्ष की कुल लाख का ३/४ भाग केवल छोटा नागपुर (बिहार) में होता है। उड़ीसा, मध्यप्रान्त, बंगाल, आसाम तथा उत्तरप्रदेश भी इसके प्रमुख केन्द्र हैं।

लाख का उपयोग नित्यप्रति के जीवन में प्रचुर मात्रा में होता है और वह हमारे लिए बड़ी ही आवश्यक वस्तु है। यह वार्निश बनाने, लकड़ी तथा धातुओं को चमकदार बनाने तथा ग्रामोफोन, बिजली के यन्त्रों आदि के भी काम आती है।

मनुष्य की कहानी
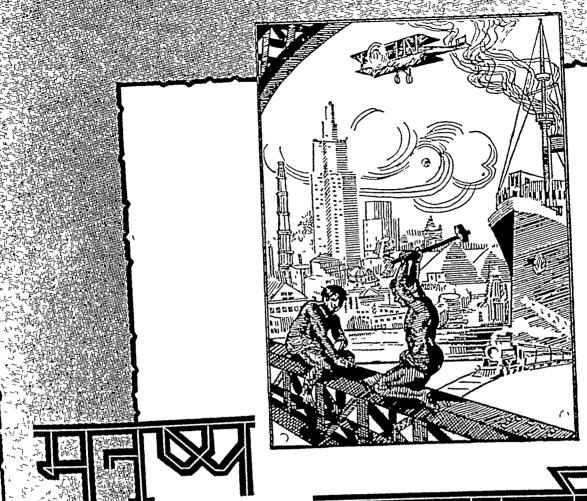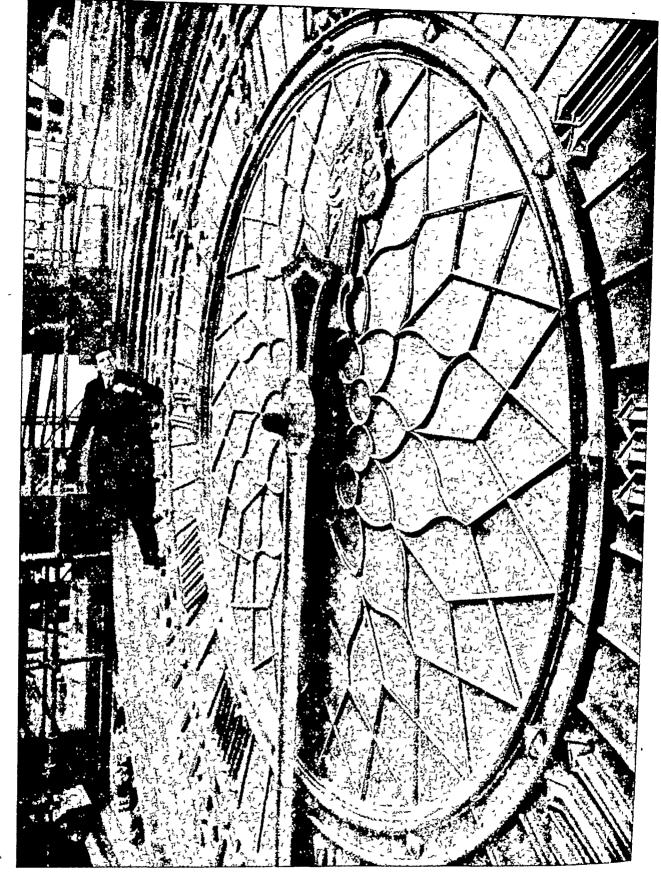
लंदन की संसारप्रसिद्ध घड़ी 'बिग बेन' का विशाल डायल
डायल के एक छोर पर खड़े आदमी के आकार से इस घड़ी के कांटों के आकार की तुलना कीजिए !
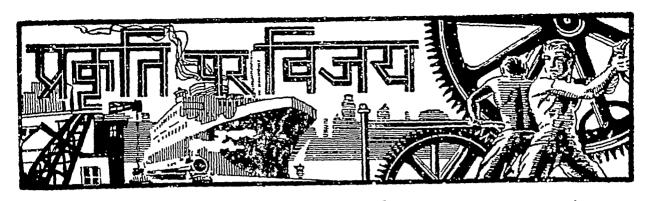
विज्ञान-युग के कुछ चमत्कारपूर्ण आविष्कार—(२)

घड़ियाँ, तिजोरियाँ, जायरोस्कोप, लिफ़्ट, एस्केलेटर, विद्युत्-लैम्प, प्रकाशगृह, ट्राम-गाड़ियाँ और ट्राली बस

आपने इस शीर्षक के पिछले लेख में ग्रामोफोन आदि अद्‌भुत आविष्कारों की कहानी पढी। आइए, इसी शृंखला को आगे बढाते हुए अब कुछ और सुपरिचित किन्तु अनूठे वैज्ञानिक चमत्कारों की कथा आपको सुनाएँ।

घड़ियाँ

आज से बहुत दिनों पूर्व, उस प्रागैतिहासिक युग मे जिसका उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलता, समय आँकने का एकमात्र साधन सभवत. सूर्य ही था। खोह-कन्दराओं मे रहनेवाला मानव किसी ऊँची चट्टान की छाया से समय का मोटे तौर पर कुछ अन्दाज़ लगा लेता था। प्रात.काल जब चट्टान की छाया खूब लम्बी होती थी, तब घर के पुरुष शिकार के लिये निकल जाते और दोपहर तक, जब कि सूर्य आकाश में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लेता और चट्टान की छाया सबसे छोटी हो जाती, ये लोग शिकार को कन्धे पर लादे हुए घर को वापस लौटते थे। सध्या होने पर छाया पुन लम्बी हो जाती थी। इस तरह उस युग की एकमात्र घडी सूर्य ही रहा होगा। चट्टान की छाया, जो खोह की दीवालों पर रेंगती थी, मानों उस घडी की सुई थी और खोह की दीवाल ही घड़ी का डायल था।

वह दिन निस्सन्देह मानव सभ्यता के विकास के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा होगा जिस दिन किसी बुद्धिमान बूढे व्यक्ति ने मैदान मे लट्ठा गाड़कर सूर्य की मध्यान्ह-स्थिति आँकने के लिये लट्ठे की दोपहरी की छाया के छोर की स्थिति को प्रति दिन अकित करने की बात सोची होगी। धूपघड़ी का जन्म इसी दिन हुआ होगा।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ जब मनुष्य ने नगरों में रहना सीखा, तब उसने महसूस किया कि समय को केवल प्रातः, दोपहर तथा संध्या में विभाजित करने से ही उसका काम नहीं चल सकता। अतः दिन को अनेक छोटे और बराबर टुकड़ों में उसे विभाजित करना पड़ा। दजला और फरात की घाटी मे समय-विभाजन का प्रयास सबसे पहले सफल हुआ। चन्द्रमा की कलाओं का अध्ययन कर वहाँ समूचे वर्ष को १२ महीनों मे बाँटा गया। दिन और रात को वहाँवालों ने बारह-बारह घण्टों में, और प्रत्येक घण्टे को ६० मिनट तथा प्रत्येक मिनट को ६० सेकड मे बॉटा। ये बेबीलोनियन और कैल्डियन लोग ऊँचे दर्जे के गणितज्ञ थे। उन्होंने घण्टे को ६० मिनट तथा ६० सेकण्ड में बहुत सोच-विचारकर बॉटा था, क्योंकि ६० ही एक ऐसी सबसे छोटी सख्या है जो अन्य बहुत-सी सख्याओं से पूर्ण रूप से विभाजित की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, ६० को दो, तीन, चार, पॉच, छः, दस, बारह, पन्द्रह, बीस और तीस से हम पूरा-पूरा बॉट सकते हैं।

किन्तु सीधी लकडी को लम्बवत् गाड़कर जो धूपघड़ी बनायी गयी, वह साल के बारहो महीने ठीक समय न बता पाती थी, क्योंकि ऋतुओं के साथ सूर्य की मध्याह्न-स्थिति भी बदलती रहती है। तत्कालीन गणितज्ञों ने इस समस्या को हल करने के लिये काफी माथापची की और अन्त में उन्होंने ऐसी धूपघड़ी तैयार की, जो सदैव ठीक समय बता सके। इस धूपघड़ी में लकड़ी को सीधी लम्बवत् गाड़कर उसे समतल डायल के साथ स्थानीय अक्षाश के कोण पर झुकाना पड़ा।

आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व धूपघड़ियों का काफी प्रयोग होता था। किन्तु बादल घिर आने पर या रात को यह घड़ी बेकार हो जाती। अत. अब ऐसी घड़ी की आवश्यकता महसूस हुई, जो सूर्य की मर्जी पर निर्भर न रहे। फलस्वरूप जलघड़ी और बालू की घड़ी बनायी गयीं।

जलघड़ी में बूँद-बूँद करके किसी वर्त्तन में पानी गिरता और इस वर्त्तन में पानी की सतह देखकर समय का अनुमान लगाया जाता। कुछ दिनों पश्चात जलघड़ी में अनेक सुधार कर लिये गये। जिस वर्त्तन में पानी गिरता उसमें लकड़ी का एक गुड्डा खड़ा कर दिया गया। पानी की सतह ज्यों-ज्यों ऊँची होती, यह गुड्डा ऊपर उठता और हाथ के डण्डे से सामने बेलन पर अंकित समय को बतलाता। गुड्डे के हाथ से ही कदाचित् आधुनिक यांत्रिक घड़ियों के घण्टे तथा मिनट की सुइयाँ बनाने की प्रेरणा मिला हो।

समय को अल्प मात्रा मे आँकने के लिये रेत की घड़ियाँ बनीं। अवश्य ही इन घड़ियों में किसी प्रकार के यत्र न थे। रेत की नियत मात्रा डमरू सरीखे काँच के एक वर्त्तन के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में एक सूराख़ से होकर गिरती। रोम-निवासी प्रायः इसे जेबघड़ी की तरह काम में लाते थे। व्याख्यान के लिये वक्ता को इसी से नापकर एक या दो 'रेत' का समय दिया जाता। जहाज की गति नापने के लिये अथवा दौड़-प्रतियोगिताओं में भी रेत-घड़ी का प्रयोग प्रचुरता से होता। एक नन्हीं सी रेत-घड़ी में, जो उन दिनों समय के नन्हे भाग को नापने के लिये प्रयुक्त होती, ठीक २८ सेकण्ड में समूची रेत ऊपर से नीचे गिरती थी। रेत-घड़ी अवश्य सुभीते का और सस्ता यंत्र था, किन्तु इसकी कमी इस बात में थी कि समय की एक छोटी-सी अवधि ही यह नाप सकती थी।

इसी बीच काल-नियमन के कुछ अन्य तरीक़े भी ईजाद किये गये। मोमबत्ती की घड़ी का भी सबसे पहले प्रयोग इन्हीं दिनों किया गया था। एलफ्रेड दी ग्रेट ने एक मोटी मोमबत्ती पर नीचे से ऊपर तक समान दूरी पर वृत्ताकार निशान डाले। एक निशान से दूसरे स्थान तक जलने में मोमबत्ती एक-सा समय लेती है। एलफ्रेड दी ग्रेट ने ऐसा इसलिए किया था कि उसने प्रण किया था कि प्रति चौबीस घंटों में वह आठ घटे धार्मिक बातों में लगाएगा तथा आठ घटे अपने आराम और मनोरजन में। यूरोपियन मठों में पादरियों को अत्यन्त संयमशील और नियमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अतएव समय को सही-सही आँकने के लिए सबसे पहले मठ के पादरियों ने यांत्रिक घड़ियों का निर्माण किया। यह बात तेरहवीं शताब्दी की है। ये घड़ियाँ कमानी के बल पर नहीं चलती थीं, बल्कि लटकते हुए बाँट अपने ज़ोर पर घड़ी को चलाते थे। ये घड़ियाँ बड़े-बड़े मठों तथा महलों की शोभा बढाती थीं। इस सिलसिले में हेनरी डी वाइक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। लटकते हुए बाँट से चलनेवाली घड़ियों में इसी ने सबसे पहले 'इस्केपमेण्ट' नामक पुर्ज़ा फिट किया, ताकि घड़ी की चाल में फर्क न आए! नहीं तो पहले ऐसा होता था कि बाँट ज्यों-ज्यों नीचे लटकता था, घड़ी की रफ़्तार भी त्यों-त्यों तेज़ होती जाती थी। डी वाइक की घड़ी में केवल एक ही सुई थी—घटेवाली। इसका प्रत्येक पुर्ज़ा भारी-भरकम था। ऐसा होना अनिवार्य भी था, क्योंकि उन दिनों इस प्रकार की मशीनें न थीं, जो बारीक़ पुर्जे तैयार कर सकतीं। मामूली लोहारों ने मोटे-मोटे औज़ारों से ठोक-पीटकर इसके पुर्जे तैयार किये थे। इस घड़ी के परिचालन के लिए २५० सेर का बाँट प्रयुक्त किया जाता था और इस बाँट से लगी हुई रस्सी एक गराड़ी पर लपेटी गई थी। इसका व्यास एक फ़ुट था। इसमें लगे हुए

आदिम मानव की धूपघड़ी

आज से हजारों-लाखों वर्ष पहले हमारे किसी बुद्धिमान पूर्वज ने शायद इसी तरह किसी चट्टान की दोपहरी की छाया को जमीन पर अंकित करके पहली धूपघड़ी का आविष्कार किया होगा!

दाँतदार पहियों का व्यास भी लगभग डेढ़ फुट था। यद्यपि यह घड़ी १३७९ में बनी थी, फिर भी १८५० तक यह पेरिस में जनता को सही समय बताती रही थी। पेरिस के पैले-डी-जस्टिस में यह अब भी रखी हुई है।

घड़ियों को पूर्ण रूप से निर्दोष बनाने का श्रेय दूरदर्शक के आविष्कारक प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो को प्राप्त है। १५८० ई० में यह नवयुवक एक दिन पीसा नगर के गिरजाघर में प्रार्थना के लिए गया। वहाँ इस जिज्ञासु ने छत से लटकते हुए लैम्प को देखा, जो हवा के कारण झूल रहा था। तब तक जेबघड़ियाँ न बन पाई थीं, अतः इस होनहार वैज्ञानिक ने अपनी नाड़ी की गति से तुलना करके देखा कि लैम्प के झूलने का प्रसार चाहे कम हो या अधिक, पर हर दशा में इधर से उधर एक बार झूलने के लिए यत्र को समान समय ही लगता था। इस वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर ही आधुनिक दीवाल-घड़ियों के पेण्डुलम बनाए गये। तदुपरान्त इन घड़ियों में लटकते हुए वज़न की शक्ति के बजाय कमानी की शक्ति का प्रयोग किया गया। प्रत्येक पेण्डुलम के झूलने का समय केवल उसकी लम्बाई पर निर्भर रहता है। अतएव पेण्डुलम-युक्त 'इस्केपमेण्ट' की सहायता से घड़ी को रेगुलेट करना सम्भव हो सका।

आधुनिक जेबघड़ी के भीतरी कल-पुर्ज़ों की रचना
चित्र में दाहिनी ओर मुख्य कमानी और बाईं ओर 'बाल-कमानी' तथा 'बैलेन्स ह्वील' प्रदर्शित हैं।

झूलता हुआ पेण्डुलम एक विशेष स्थिति मे पहुँचता है तभी पेण्डुलम में लगे हुए लगर से छूटकर इस्केपमेण्ट का पहिया एक दाँत आगे सरक जाता है। और यह फिर वहीं उस वक्त तक स्थिर रहता है, जब तक पेण्डुलम पुनः इसी स्थिति पर नहीं आता है। इस नियुक्त स्थिति पर पेण्डुलम के पहुँचने पर इस्केपमेण्ट का पहिया फिर एक दाँत आगे सरक जाता है। इस प्रकार यह क्रिया नियमित रूप से जारी रहती है, जब तक कि प्रधान कमानी की शक्ति बिलकुल व्यय नहीं हो जाती। यह सिद्धान्त ही घड़ियों की यंत्र-व्यवस्था की जान है।

यात्रियों और विशेषतया नाविकों की आवश्यकता पूरी करने के हेतु टाइमपीस और जेबघड़ियों का निर्माण हुआ, क्योंकि हिलते-डुलते जहाज़ में पेण्डुलम वाली दीवाल-घड़ी संतोषप्रद काम नहीं दे सकती थी। पेण्डुलम के स्थान पर जेबघड़ियों में बैलेन्स-ह्वील तथा बाल-कमानी लगाई गई, जो घड़ी की रफ़्तार ठीक रखने के लिए इस्केपमेण्ट का काम देती हैं। बाल-कमानी के नियमित रूप से खुलने और बन्द होने से उससे सम्बद्ध लंगर भी इधर-उधर नियमित रूप से डोलता है। यही लगर इस्केपमेण्ट के दाँतदार पहिये की हरकत पर नियन्त्रण रखता है। बाल-कमानी की लम्बाई घटा या बढ़ाकर घड़ी की रफ़्तार भी घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

विद्युत्-युग के विकास के साथ-साथ क्रमशः विद्युत्-घड़ियों का भी आविर्भाव हुआ। विद्युत्-घड़ियाँ बनावट में नितान्त सादी होती हैं, साथ ही न उनमें चाभी भरने की आवश्यकता होती है और न इनकी चाल में ही किसी प्रकार का अन्तर आता है। बड़े-बड़े होटलों में, स्टेशनों, फ़ैक्टरियों या आफ़िसों में जहाँ एक ही इमारत में पचासों घड़ियाँ जगह-जगह पर लगी होती हैं, प्रतिदिन चाभी भरना अत्यंत असुविधाजनक होता है। अतः ऐसे स्थानों पर सदैव ही विद्युत्-घड़ियों का प्रयोग किया जाता है। इस श्रेणी की नूतनतम सिन्क्रोनस विद्युत्-घड़ियाँ ए० सी० विद्युत्-करेन्ट से चलती हैं। पावर-हाउस से आनेवाली ए० सी० विद्युत्-करेन्ट की दिशा प्रति सेकण्ड ५० बार बदलती है। सौंक्रेट
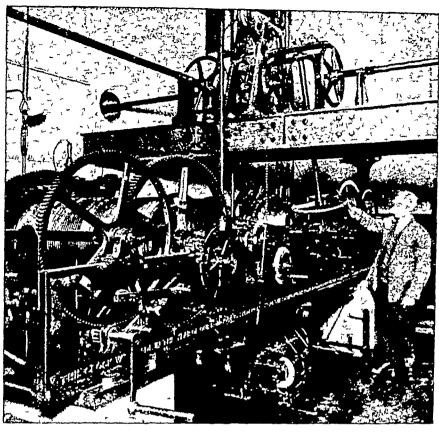
लंदन की 'बिग बेन' नामक विशाल घड़ी के भीतरी कल-पुर्ज़ों की व्यवस्था

टनों वजन के इन पुर्जों के भारी-भरकम आकार के बावजूद आसानी से एक ही आदमी उन्हें घुमाकर घडी में चाभी भर सकता है !

में 'प्लग' डाला और घड़ी के खटके को चालू कर दिया ! बस, घड़ी निरन्तर सालों तक चलती रहेगी, बशर्ते कि पावर-हाउस की विद्युत्-करेन्ट बन्द न हो। इन घड़ियों में न कभी चाभी भरने की आवश्यकता होती है और न प्रतिदिन उनके 'टाइम' का मिलान करना होता है। इन घड़ियों में कमानी और 'इस्केपमेण्ट' की जगह विद्युत्-मोटर लगी रहती है, जिसकी रफ़्तार पावर-हाउस की करेन्ट की प्रति सेकण्ड दिशा-परिवर्त्तन की संख्या पर निर्भर करती है। यदि पावर-हाउस की करेन्ट की दिशा-परिवर्त्तन की संख्या स्थिर है, तो यह घड़ी भी स्थिर चाल से चलेगी, न कभी तेज़ होगी और न सुस्त। अच्छे पावर-हाउस में ए० सी० करेन्ट की दिशा-परिवर्त्तन की संख्या को स्थिर रखने के लिए विशेष ढंग के यंत्र प्रयुक्त किये जाते हैं, ताकि विद्युत्-घड़ियों के टाइम में किसी प्रकार का अन्तर न आने पाये।

तिजोरियाँ

मनुष्य को चोर-डाकुओं से अपने धन की रक्षा करने की चिंता रहती है। एक ज़माना था जब लोग अपना धन धरती में गाड़कर निश्चिन्तता की नींद सोते थे। फिर लकड़ी के मज़बूत पिटारों में हीरे-जवाहरात तथा आभूषण रखने की प्रथा जारी हुई। सौ दो सौ वर्ष पहले तक इन पिटारों के अन्दर मज़बूत तालों में बन्द ये आभूषण वास्तव में सुरक्षित रहते थे। किन्तु विज्ञान और इञ्जीनियरिंग की प्रगति ने चोर-डाकुओं को भी इस तरह के साधन प्रदान किये कि उनकी सहायता से इस ढंग के पिटारों को वे मिनटों में खोल लेने लगे।

अतः सबसे पहले बैङ्कों ने अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के निमित्त लोहे की मज़बूत तिजोरियाँ बनायीं, ताकि चोर-डाकू इन्हें आसानी से तोड़ न सकें। इन तिजोरियों में ऊपरी ढक्कन के भीतर ही ताला भी फिट किया गया। यह ताला इस ढंग का था कि ताला बन्द होने पर ढक्कन में से बोल्टू खिसककर चारों ओर तिजोरी की दीवालों में फँस जाते। चोर-डाकुओं ने शीघ्र ही इन तिजोरियों को भी तोड़ने के लिये नये साधन ढूँढ निकाले। उन्होंने आक्सी-एसीटीलीन टार्च की तेज लौ का प्रयोग करना सीखा। इस टार्च की लौ तिजोरी के जिस भाग पर पड़ती उसे पिघला-कर चाट जाती और तिजोरी में उसी ठौर सूराख़ हो जाता।

आधुनिक सेफ और तिजोरियों के विकास की कहानी में बैङ्क के अधिकारियों और चोर-डाकुओं के एक दूसरे को परास्त करने के ही प्रयत्न निहित हैं। अधिकारियों ने जब देखा कि साधारण लोहे की तिजोरियाँ आक्सीएसीटीलीन टार्च की लौ के स्पर्श से पिघल जाती हैं अथवा विशेष ढंग की बर्मियों से उनमें आसानी से सूराख़ किया जा सकता है तो उन्होंने क्रोमियम की मिलावट वाले इस्पात की चद्दरों की तिजोरियाँ बनाना शुरू कीं, जिन्हें ये दोनों ही साधन किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचा पाते थे ! इस्पात की इन तिजोरियों को तोड़ने के लिये चोरों ने बारूद की सहायता

लेना शुरू की। ताले के अन्दर की खाली जगह में बारूद भरकर उसे वे पलीते से दाग देते ! बारूद के विस्फोट से ताला छिन्न-भिन्न हो जाता और इस प्रकार तिजोरी तोड़ने में वे सफलता प्राप्त कर लेते। इस दु:सम्भावना को रोकने के लिये ताले के अन्दर की खाली जगह में लोहे की पत्तियाँ लगायी गयीं ताकि बारूद भरने के लिये अन्दर जगह ही न मिले।

५०-६० वर्ष पहले तिजोरी की दीवालों के जोड़ में नुकीले हथियारों को डालकर चोर उसके दरवाजे को अकसर खोल लिया करते थे। इस सम्भावना को रोकने के लिए तिजोरियाँ लोहे की अकेली एक चद्दर को मोड़कर बनायी जाने लगीं। अत: इन तिजोरियों में दरवाज़े को छोड़कर अन्य कहीं भी जोड़ या झिरी नहीं होती।

आजकल तो तिजोरियाँ तथा उन्हें रखने के लिये सेफ़ कमरे (तहखाने) इतने दृढ़ और सुरक्षित बनाये जाते हैं कि चोर-डाकू तो उनका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकते, साथ ही आग, पानी, विस्फोट तथा भूचाल आदि से भी उन्हें किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँच सकती।

आधुनिक बैङ्कों में तिजोरियों को सुरक्षित रखने के लिये बड़े-बड़े तहखाने बनाये जाते हैं। ये तहखाने 'सेफ वाल्ट' कहलाते हैं—इन्हें हम बृहत्काय तिजोरियाँ कह सकते हैं। तहखाने के ये कमरे साधारणतया बैङ्क की सबसे निचली मञ्ज़िल में बनाये जाते हैं। इन तहखानों की दीवालें अकेली एक इस्पात की चद्दर को मोड़कर बनायी जाती हैं, ताकि उसमें कहीं जोड़ न हो। यह चद्दर काफी मोटी होती है—इस चद्दर तक पहुँचने के पहले तहखाने में घुसनेवाले व्यक्ति को कन्क्रीट सीमेण्ट की एक मोटी दीवाल को भेदना पड़ेगा—इस दीवाल में भी लोहे की सरियों का जाल-सा डाला गया होता है। यह दीवाल तहखाने को अगल-बगल के चारों ओर से तो घेरे ही रहती है, ऊपर छत पर तथा नीचे पेंदे में भी यह रक्षक दीवाल मौजूद रहती है। बिना इस दीवाल को भेदे कोई भी चोर तहखाने तक नहीं पहुँच सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दीवाल कई फीट मोटी होती है। तहखाने का प्रवेशद्वार भी विशेष रूप से दृढ़ बनाया जाता है, क्योंकि सेफ और तिजोरियाँ बनानेवाले इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं कि जञ्जीर की शक्ति उसकी सबसे हलकी कड़ी की शक्ति पर निर्भर करती है। एक औसत तहखाने का दरवाजा लगभग साढ़े छ: फीट ऊँचा, साढ़े तीन फीट चौड़ा और दो फीट मोटा होता है और उसका
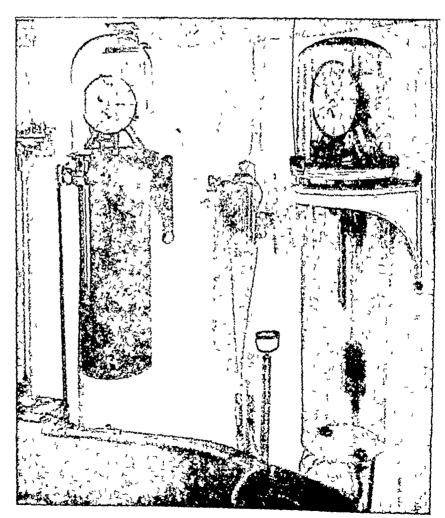
समय का ठीक-ठीक मिलान और नियंत्रण करने के लिए वेधशालाओं में ऐसी 'मास्टर क्लॉक' लगी रहती हैं।
ये घड़ियाँ विद्युत् द्वारा सचालित होती हैं और इनका काम सेकंड के सूक्ष्मतम अंश तक गलती किये बिना सही-सही समय बताना होता है, जिससे अन्य घड़ियों का समय नियंत्रित किया जा सके।

हमारे देश के एक कारखाने में तिजोरी-निर्माण का दृश्य

यह गोदरेज की प्रख्यात तिजोरियों के ढांचे के निर्माण की एक झलक है। सुरक्षा के विचार से ये तिजोरियां इस्पात की एक ही मोटी चादर को मशीनों द्वारा कई जगह से मोड़कर बनाई जाती हैं।

वज़न २० टन के लगभग होता है ! ताला बन्द करने पर दरवाज़े में से १६ बोल्ट्स अपने आप खिसककर तहख़ाने की दीवालों में जा फँसते हैं। यह दरवाज़ा भी इस्पात के अकेले एक टुकड़े से बना होता है। इसमें बिना कुंजी से बन्द होनेवाला ताला फिट किया गया होता है—यह अक्षरों के मिलान से बन्द किया जाता तथा खोला है। अक्षरों के मिलान के अतिरिक्त इसमें घड़ी के यंत्र सदृश कुछ पुर्ज़े भी लगे रहते हैं, जिनको इस तरह सेट किया जा सकता है कि एक नियत अवधि के पहले वे ताले खोले ही नहीं जा सकते। यह अवधि एक घण्टे से लेकर १२० घण्टे तक बढ़ायी जा सकती है। तहख़ाने के दरवाज़े का ताला बन्द करते समय यदि घड़ी को १५ घण्टे के लिये सेट कर दिया गया तो बिना १५ घण्टे बीते दरवाज़ा किसी भी हालत में खोला नहीं जा सकता। टाइम-लॉक के इस आविष्कार के पहले अकसर डाकू बैंक के अधिकारियों को पिस्तौल दिखाकर उनसे बैंक के तहख़ाने की चाबियाँ या ताले के अक्षरों का गुप्त कोड प्राप्त कर लेते थे और इस प्रकार तहख़ाने में घुस जाते थे। किन्तु टाइम-लॉक की ईजाद ने अधिकारियों को इस ख़तरे से बचा दिया। अब बिना नियत अवधि के बीते तहख़ाने खोले ही नहीं जा सकते।

इन तहख़ानों के दरवाज़ों में प्रायः २४ बोल्ट्स लगे रहते हैं। प्रत्येक बोल्ट्स वजन में लगभग १ मन ठहरता है। इन्हें खिसकाने के लिये विद्युत्-मोटर का प्रयोग किया जाता है। यह मोटर दरवाज़े में ही भीतर की ओर लगा रहता है। बोल्ट्स के खिसक जाने पर ये दीवाल में जाकर अड़ जाते हैं और दरवाज़ा बिल्कुल टाइट बन्द हो जाता है। तदुपरान्त अक्षरों के सही मिलान से ताला बन्द कर दिया जाता है।

ये तहख़ाने कमरे की दीवालों से हटकर बीच में बनाये जाते हैं, ताकि इनके चारों ओर संतरी के पहरा देने के लिये

रास्ता खुला रहे। इस रास्ते के कोनों पर इस तरह दर्पण लगा दिये जाते हैं कि मोड़ की दूसरी ओर की चीज़ें भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो सकें। प्रायः ये तहख़ाने मजबूत कन्क्रीट के स्तम्भ पर स्थित होते हैं, अतः नीचे पेंदे पर भी निगरानी रक्खी जा सकती है कि कहीं ऐसा न हो कि डाकू सुरग खोदकर पेंदे के रास्ते से तहख़ाने में घुस जायँ। अमेरिका के अनेक तहख़ानों के चारों ओर लोहे के तार का घेरा बना होता है। तार में ऊँचे वोल्ट पर प्रवाहित होने वाली विद्युत्-धारा हरदम बहती रहती है। छू लेने से डाकू बिजली के धक्के से वहीं गिर जायगा। कुछ तहख़ानों में उसके चारों ओर के रास्ते में छत पर नलों में गर्म भाप भी प्रवाहित होती रहती है। तहख़ाने के संग जहाँ किसी ने छेड़-छाड़ की कि नली में से गर्म भाप की फुहार उस व्यक्ति के ऊपर पड़ने लगती है और वह बुरी तरह झुलस जाता है।

लन्दन के एक तहख़ाने की कन्क्रीट की दीवालें १३ फीट मोटी हैं! दीवाल की भीतरी सतह पर इस्पात की आर्मेर-प्लेट लगी है, जिसमें न बर्मा सूराख़ कर सकती है और न उसे आक्सीएसीटीलीन टार्च की लौ ही काट सकती है। इसके दरवाजे ५ टन वज़न के हैं—इन्हें खोलने और बन्द करने के लिए मशीनों का प्रयोग किया जाता है। दरवाज़ा बन्द कर लेने के उपरान्त दरवाजे से मशीन का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाता है। तहख़ाने की छत पर हौज में पानी भरा रहता है। यदि किसी व्यक्ति ने अवैध तरीके से तहख़ाने में घुसने की चेष्टा की तो हौज़ का सारा पानी नीचे आ जायगा और उस बाढ़ में वह व्यक्ति निःसदेह डूब जायगा। यह तहख़ाना इतना मजबूत बनाया गया है कि यदि बैङ्क की ऊँची इमारत भूचाल के धक्के से तहख़ाने के ऊपर टूटकर आ जाय तो भी तहख़ाने का बाल बाँका न हो सकेगा। कुछ अंश तक बम की वर्षा का भी ऐसे तहख़ाने पर विशेष प्रभाव न पड़ सकेगा।

जायरोस्कोप

जायरोस्कोप की गणना आधुनिक काल के सबसे बड़े आविष्कारों में की जाती है। यह है तो लट्टू के सिद्धान्त पर बना हुआ एक यंत्र, किन्तु इस नाचनेवाले लट्टू को परिष्कृत कर इञ्जीनियरों ने ऐसे यंत्र बना लिये हैं, जो विशालकाय रेलगाड़ियों को अकेली एक रेल की पटरी पर तेज़ चाल से दौड़ने योग्य बनाते हैं। सबमैरीन (पनडुब्बी) से दागे गये टार्पीडो को भी यही यंत्र अपने सीधे मार्ग से विचलित होने से रोकता है। बड़े-बड़े युद्धपोत भी जायरोस्कोप की सहायता से, समुद्र की उत्ताल तरगों के बावजूद, स्थिर और शान्त रखे जा सकते हैं, ताकि उन पर से शत्रु-प्रदेश पर तोप चलाने में आसानी हो। रात के घनघोर अँधेरे में या कुहरे से आच्छादित आकाश में भी बमवर्षक वायुयान इसी जायरोस्कोप के सहारे अपने निर्दिष्ट मार्ग पर बिना ग़लती किये उड़ सकते हैं।

वैसे तो लट्टू के सिद्धान्त पर अनेक खिलौने बनाये गये हैं, किन्तु इस सिद्धान्त मे निहित सम्भावनाओं को सर्वप्रथम
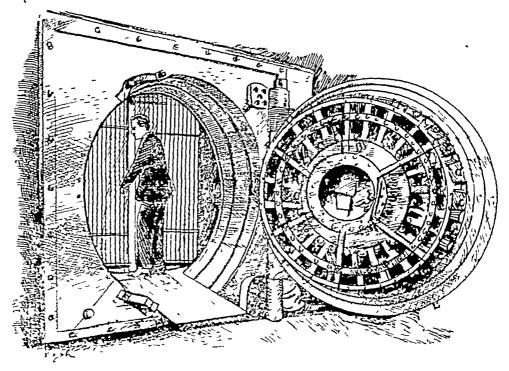
एक आधुनिक बैंक की विशाल तिजोरी के अद्भुत दरवाज़े का यंत्र-जंजाल
इसकी फौलादी दीवार जगी जहाजो की 'आर्मेर प्लेट' से भी छ गुना अधिक मजबूत होती है और इस पर आक्सी-एसीटिलीन टॉर्च का कोई असर नहीं होता।
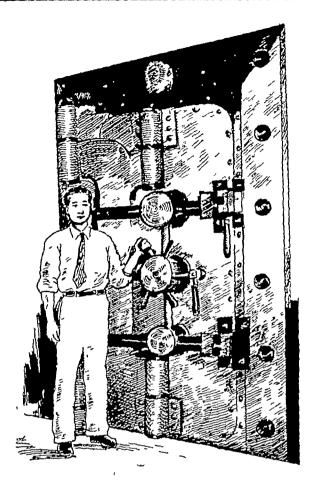
एक आधुनिक तहख़ाने का द्वार, जोकि गुप्त अक्षरो के मिलान तथा टाइम-लॉक (अर्थात् एक निश्चित अवधि से पहले न खोले जा सकने की यंत्र-व्यवस्था से) युक्त है।

अमेरिका के वैज्ञानिक एल्मर स्पेरी ने पहचाना। हम सबने ही नाचते हुए लट्टू से बचपन में अपना दिल बहलाया है। लट्टू के इस गुण को सब जानते हैं कि यदि लट्टू की कील पतली हो तो उसे गिलास के किनारे पर भी नचाया जा सकता है। गिलास को यदि टेढा किया जाय तो भी लट्टू सीधा ही नाचता रहता है। गिलास को टेढा-सीधा करने से लट्टू की कील की दिशा मे कोई अन्तर नहीं पड़ता। एल्मर स्पेरी एक दिन लट्टू नचाकर अपने बच्चों का मनोरंजन कर रहा था। इतने में एक बच्चे ने प्रश्न पूछ ही लिया—नाचते हुए लट्टू की कीली हर हालत मे एक ही दिशा में क्यों बनी रहती है? स्पेरी महोदय इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न दे पाये, किन्तु इस प्रश्न ने उनके मन में एक नई जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न कर दी।

उन्होंने काफ़ी दिनों तक इस समस्या पर ग़ौर किया। प्र[illegible]ित होकर उन्होंने प्रयोगशाला में निरन्तर अनुसन्धान [illegible]। फलस्वरूप स्पेरी ने इस खिलौने से ऐसे महत्त्वपूर्ण यंत्र बनाये, जो शान्ति और युद्ध-काल, दोनों में, बेहद कार्यकर साबित हुए हैं।

इन यन्त्रों का रहस्य समझने के लिये जायरोस्कोप माडल का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना आवश्यक है। आसानी से बाज़ार में चार-छः आने में इस तरह का खिलौना ख़रीदा जा सकता है। एक भारी पहिया (फ्लाई ह्वील) इस खिलौने में विशेष ढग से आरूढ़ किया गया रहता है। इस खिलौने में एक क्षैतिज धुरी होती है। दूसरी एक धुरी क्षैतिज धुरी से समकोण बनाती हुई सीधी खड़ी है। इसके अलावा एक फ्लाई ह्वील की धुरी होती है। फ्लाई ह्वील को इस तरह आरूढ़ कराने से यह लाभ है कि फ्लाई ह्वील की धुरी को ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, तथा बगल में इच्छा-नुसार मोड़ सकते हैं। अँगूठे और मध्यमा उँगली को यंत्र पर लगाकर पहिये की धुरी को किसी भी स्थिति मे रखकर धुरी पर धागा लपेटकर धागे के सिरे को खींचिये। धागा अलग होने पर पहिया अपनी धुरी पर देर तक नाचता रहेगा। जिस वक्त पहिया तेज़ी से नाच रहा हो, जायरोस्कोप के पेंदे को पकड़कर उसे किसी भी स्थिति में घुमाकर रखिये। हर हालत में पहिये की धुरी अपनी पूर्ववत दिशा में बनी रहेगी।

स्पेरी एक स्कूल की प्रयोगशाला से विद्युत्-मोटर की शक्ति से नाचनेवाला जायरोस्कोप माँग कर ले आया। इस जायरोस्कोप का पहिया प्रति मिनट ३००० बार घूमता था। पहिये की धुरी को स्पेरी ने सूर्य की दिशा में स्थिर करके उसे विद्युत्-मोटर से घुमाया। २४ घण्टे तक पहिया घूमता रहा, और इस दर्मियान उस की धुरी निरन्तर सूर्य की ओर ही अपनी दिशा बनाये रही। इस प्रकार स्पेरी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जायरोस्कोप के नाचते हुए पहिये की दिशा देश (space) में स्थिर रहती है। इस प्रयोग में २४ घण्टे में पृथ्वी ने अपनी कीली पर पूरा चक्कर लगा लिया, किन्तु जायरोस्कोप के पहिये की कीली ने अपनी दिशा नहीं बदली।

स्पेरी ने तुरन्त जायरोस्कोप की सम्भावनाओं को पहचाना। उसने सोचा कि यदि एक बार जायरोस्कोप की धुरी को पृथ्वी की कीली के समानान्तर (उत्तर-दक्षिण दिशा में) स्थिर करके पहिये को विद्युत्-शक्ति से नचा दिया जाय, तो जब तक पहिया नाचता रहेगा, जायरोस्कोप के पहिये की कीली भी उत्तर-दक्षिण दिशा में अडिग बनी रहेगी! इस प्रकार स्पेरी ने जायरोस्कोप दिशासूचक यन्त्र बनाया। इसके पूर्व जहाजों पर दिशा की जानकारी के लिये

चुम्बक लोहे के दिशासूचक यत्र (कुतुबनुमा) प्रयुक्त किये जाते थे। किन्तु कुतुबनुमा में अनेक खामियाँ मौजूद हैं। कुतुबनुमा की सुई किसी स्थान पर भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा नहीं बताती, बल्कि यह चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण दिशा मे ठहरती है। अत. नाविक को हर स्थान पर चार्ट देखकर मालूम करना पड़ता है कि वहाँ पर भौगोलिक उत्तर-दक्षिण तथा चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण में कितने अश का अन्तर है। तभी वह जहाज की गति की सही दिशा बता सकता है। समय-समय पर इस चार्ट का सशोधन करना पडता है, क्योंकि चुम्बकीय उत्तर-दक्षिण दिशा में थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन नित्य होता रहता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक जहाजों मे लोहे का सामान इतना अधिक लगा रहता है कि कुतुबनुमा को उसके प्रभाव से सुरक्षित रखना क़रीब-क़रीब असम्भव-सा ही हो जाता है, अतः कुतुबनुमा द्वारा बतायी गयी दिशा पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जायरोस्कोप दिशासूचक फौरन् भौगोलिक उत्तर-दक्षिण दिशा बतलाता है और अन्य चीज़ों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

जायरोस्कोप दिशासूचक यत्र में लगा हुआ पहिया लगभग २८ सेर भारी होता है। विद्युत्-मोटर की शक्ति से यह प्रति मिनट ६००० बार घूमता है।

जायरोस्कोप की सहायता से जहाजों के लिए स्वयक्रिय पायलट यत्र भी बनाये गये हैं। एक बार निर्दिष्ट मार्ग की ओर यत्र स्थिर कर देने के उपरान्त जहाज तनिक भी अपने मार्ग से विचलित हुआ कि जायरोस्कोप पायलट यत्र अपने आप पतवार को घुमाकर जहाज को ठीक मार्ग पर ला देता है। इस बात की आवश्यकता नहीं कि पतवार पकड़कर नाविक दिन-रात बैठा ही रहे।

एक बार स्पेरी जहाज में योरप जा रहा था। रास्ते मे तूफान जो आया तो जहाज इतने ज़ोर से हिला-डुला कि स्पेरी अपनी बर्थ पर से लुढ़ककर नीचे फर्श पर आ गिरा। उसे बड़ा क्रोध आया कि क्या मनुष्य इतना गया-गुज़रा है कि वह ऐसा तरकीब भी नहीं सोच सकता कि जहाज उसे इस बुरी तरह लुढका न सके। योरप से अमेरिका वापस आने पर स्पेरी पुन' अनुसन्धान मे लग गया और शीघ्र ही उसने एक बृहत्काय 'जायरो-स्टेबिलाइजर' तैयार कर डाला। इस यत्र का सिद्धान्त समझने के लिये माडल जाय-

एक आधुनिक सैफ़्टी वाल्ट का 'संट्रग रूम'
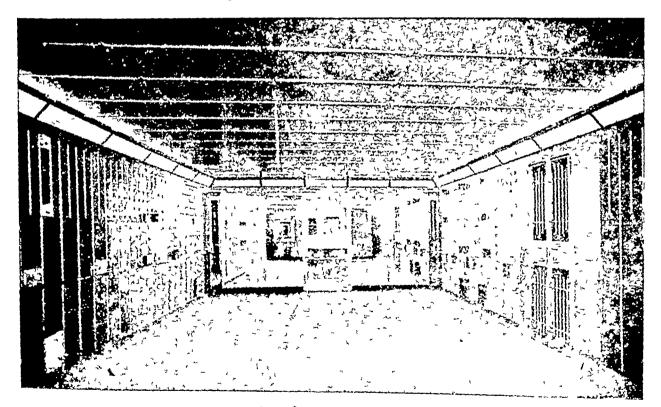
प्राय. बड़े बैंकों के तले के भाग में बने हुए इन सुरक्षा-कक्षों को हम एक वृहत् तिजोरी की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं, जिसके भीतर विभिन्न छोटी-छोटी तिजोरियां रहती हैं।
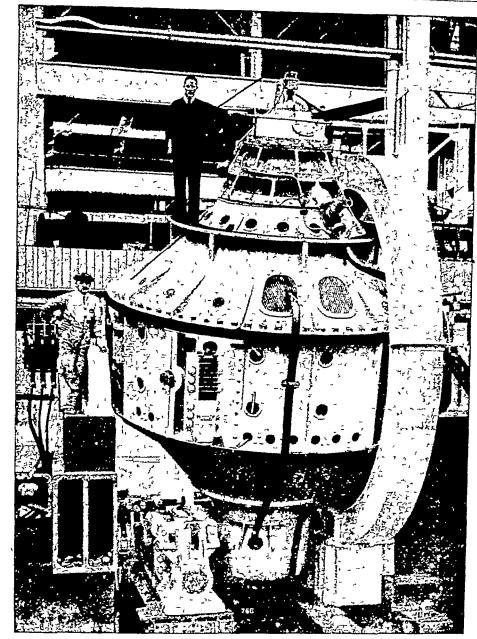
'कोरट द सेवाय' नामक इटैलियन जहाज़ का विशाल जायरो-स्टेबिलाइज़र
जायरोस्कोप के सिद्धान्त पर काम करनेवाले तेरह फीट व्यास के इस भीमकाय यत्र का काम जहाज को हिलने-डुलने से रोकने का होता है।

जहाज़ में रखा गया वृहत्काय जायरो - स्टेबिलाइजर भी जहाज के हिलने-डुलने का विरोध करता है। जायरो-स्टेबिलाइजर का फ्रेम जहाजके पेंदे पर कसा रहता है, जब कि जायरो-स्टेबिलाइज़र के पहिये की कीली एकदम सीधी खड़ी रहती है। इटली के एक जहाज में तीन विशालकाय स्टेबिलाइजर लगे हुए हैं—प्रत्येक का पहिया १३ फीट व्यास का है। उसका वजन १०० टन के क़रीब है। प्रति मिनट ८०० वार यह पहिया चक्कर करता है और तूफान के वक्त विद्युत्-मोटर की गति बढ़ाकर पहिये को ६१० वार प्रति मिनट भी घुमा सकते हैं। पहिये की वेयरिंग इतनी सच्ची होती है कि पहिया जब पूरी चाल पर घूमने लगता है, उस वक्त इजिन बन्द कर देने के उपरान्त भी क़रीब चार घण्टे तक वह अपने आप नाचता रहता है।

वायुयानों के दिशा-नियंत्रण और उनका संतुलन क़ायम रखने के निमित्त भी जायरोस्कोप का प्रयोग किया जा रहा है। दिशानियंत्रक जायरोस्कोप के पहिये की कीली

रोस्कोप को लेकर उसके बाहरी फ्रेम को घुमाकर क्षैतिज धरातल के समानान्तर कर दीजिए। अब जायरोस्कोप की घूमनेवाली कीली सीधी खड़ी होगी। तब जायरोस्कोप के पहिये को नचा दीजिए और बाहरी फ्रेम को उँगली से तनिक ऊपर को धक्का दीजिए—आप महसूस करेंगे कि जायरोस्कोप जोरों के साथ आपकी उँगली के ज़ोर का विरोध करता है। फ्रेम के ओर से धक्का देने पर भी जायरोस्कोप में इसी प्रकार शक्ति उत्पन्न होती है। ठीक इसी सिद्धान्त पर

क्षैतिज धरातल में ठीक उत्तर-दक्षिण 'सेट' की जाती है। वायुयान उत्तर-दक्षिण रेखा से जहाँ भी दाहिने-बायें मुड़ा कि यत्र पर लगे हुए डायल पर फौरन् पता लग जाता है कि वायुयान उत्तर-दक्षिण रेखा से कितने अश पूर्व या पश्चिम को जा रहा है। वायुयान समतल उड़ रहा है या कि वह दाहिने या बायें को पलटा खा रहा है, इसका पता लगाने के लिये जो जायरोस्कोप यंत्र प्रयुक्त किया जाता है, उससे मालूम हो जाता है कि वायुयान क्षैतिज धरातल

से आगे या पीछे को कितना झुका था एवं दाहिने या बायें को यह कितने अंश पलटा खा रहा है।

वायुयान में भी जायरोस्कोप स्वयक्रिय पायलट लगाये जाते हैं। एक बार निर्दिष्ट दिशा में जब वायुयान उड़ने लगता है, तो उसके बाद जायरोस्कोप स्वयंक्रिय पायलट वायुयान को उसी दिशा में बिल्कुल समतल उड़ाते हुए ले जा सकता है। वायुयान जहाँ अपने मार्ग से विचलित हुआ अथवा आगे-पीछे या दाहिने-बायें झुका नहीं कि जायरोस्कोप स्वयक्रिय पायलट यत्र मे बने हुए कुछ छिद्र अपने आप खुल जाते हैं, और उनमें तेज हवा के झोंके प्रवेश करके अपने धक्के मे वायुयान को पुनः पूर्ववत दशा में ले आते हैं।

सबमैरीन (पनडुब्बी) से शत्रु के जहाज़ों की ओर निशाना ताककर जब टार्पीडो फेंका जाता है, तब इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है कि टार्पीडो पानी के भँवर या लहरों के धक्के से अपने निर्दिष्ट मार्ग से विचलित न हो जाय। टार्पीडो को अपने रास्ते पर सधा हुआ रखने के लिये भी जायरोस्कोप का प्रयोग किया जाता है। सबमैरीन-चालक जायरोस्कोप-नियत्रक के पहिये की कीली को निर्दिष्ट दिशा में स्थिर कर जायरोस्कोप के पहिये को विद्युत्-शक्ति से घुमा देता है। जायरोस्कोप के भीतरी फ्रेम से सम्बद्ध टार्पीडो के पतवार टार्पीडो को उसके निर्दिष्ट मार्ग से विचलित नहीं होने देते। इस जायरोस्कोप का पहिया प्रति मिनट १० हज़ार चक्कर लगाता है! इस प्रकार छः-सात मील की दूरी तक जायरोस्कोप टार्पीडो को उसके रास्ते पर पूर्णतया साधे रहता है।

गगनचुंबी इमारतों पर चढ़ने के यांत्रिक साधन—लिफ़्ट

दुतल्ले-तितल्ले मकानों में रहनेवाले व्यक्तियों को दिन में पचीसों बार सीढ़ियों पर चढ़ना-उतरना पड़ता है। साधारण मकानों में भी, जिनमें एक ही तल्ला होता है, मकान के भीतर प्रवेश करने के लिये तीन-चार सीढ़ियाँ तो चढ़नी ही होती हैं। प्रारम्भिक काल में ऊँचाई पर चढ़ने के लिये आदिम जातियाँ लकड़ी की सीढ़ियाँ प्रयुक्त करती थीं। किन्तु इस व्यवसाय-प्रधान युग की गगन-चुम्बी इमारतों में, जहाँ पन्द्रह-बीस तल्ले तक बार-बार ऊपर चढ़ने की आवश्यकता होती है, साधारण ढग की सीढ़ियों से काम नहीं चल सकता। चार-पाँच तल्ले ऊपर तक सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद किसी भी व्यक्ति की साँस फूलने लगती है और दस-पन्द्रह तल्ले ऊपर चढ़ने की कल्पना से तो उनके होश ही उड़ सकते हैं। इसी दिक़्क़त से बचने के लिए

ऊँची इमारतों पर चढ़ने के लिए बिजली से चलने-वाले लिफ्ट की यंत्र-व्यवस्था

यह यंत्र इमारत में ऊपर से नीचे तक बने हुए एक चौकोर कूप में काम करता है, जिसका सबध इमारत की हर मंजिल या तल्ले से होता है। इस कूप के सिरे पर वे विद्युत् मोटर लगे रहते है, जिनसे यत्र-सचालन के लिए शक्ति प्राप्त होती है। बीच के भाग में लोहे के स्तभो के फ्रेम में कठघरेनुमा वह कक्ष तेज रफ्तार से ऊपर-नीचे सरकता है, जिसमें खडे होकर लोग एक से दूसरे तल्ले को जाते हैं।
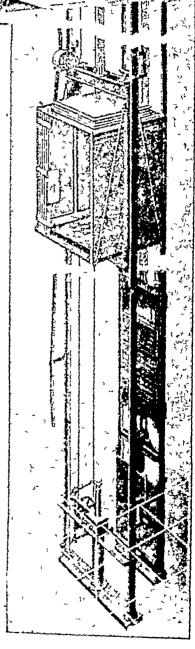
लिफ्ट जैसे यत्रों का विकास हुआ है। मध्यकालीन योरप में क्रिश्चियन मठों की ऊँची इमारतों में सामान तथा आगन्तुकों को ऊपर पहुँचाने के लिये गराड़ीदार एक यत्र लगा

न्यूयार्क जैसे महानगरों की इन गगनचुंवी इमारतों पर चढ़ने-उतरने का एकमात्र साधन लिफ्ट ही है !

यह न्यूयार्क के मनहट्टन क्षेत्र की पचास-साठ मंजिलो तक की ससारप्रसिद्ध गगनचुवी अट्टालिकाओ का विहंगम दृश्य है । वीच में जो ऊँची इमारत दिखाई देती है, वही प्रख्यात 'एम्पायर स्टेट विल्डिंग' है । ऐसी पर्वताकार इमारतों • चढने के एकमात्र साधन लिफ्ट ही हो सकते है, जो कि सैकडो की सख्या में इनमें लगे है । यदि ये लिफ्ट न हों तो इनके ऊपर के आदमी ऊपर ही रह जायें और नीचे के नीचे !

कर ऊपर खींच लेते थे—ठीक उसी प्रकार जिस तरह गहरे कुएँ से पानी भरा हुआ डोल खींचा जाता है। अवश्य ही इस हिंडोले को ऊपर खींचने का काम मनुष्यों से लिया जाता था, क्योंकि उन दिनों भाप या विद्युत्-शक्ति पर क़ाबू पाना मनुष्य सीख नहीं पाया था।

पिछली शताब्दी में भाप के इंजिन बन जाने पर आविष्कारकर्त्ताओं का ध्यान इस आवश्यकता-पूर्ति की ओर भी आकृष्ट हुआ। न्यूयार्क की एक ऊँची इमारत में सबसे पहले भाप की शक्ति से चलनेवाला एक लिफ्ट लगाया गया। इस तरह के लिफ्ट में इमारत की सर्वोच्च मज़िल पर एक पुली लगी रहती है। इसी पुली पर से होकर लोहे के कई एक मज़बूत तार गुज़रते हैं। तार का एक सिरा लोहे के एक कठघरे से बँधा रहता है और दूसरा सिरा ढोल सरीखे एक गोल पहिये पर लिपटा रहता है। इंजिन की शक्ति से ढोल घूमता है और इसके घूमने से इसके ऊपर तार लिपटते जाते हैं, अतः तार के दूसरे छोर पर बँधा हुआ कठघरा भी ऊपर उठता है। कठघरे को नीचे पहुँचाने के लिये ढोल को उल्टी दिशा में घुमाते हैं। वाष्प-इंजिन चलते समय अत्यधिक शोर मचाता है, तथा भट्टी के कारण धुँआ आदि भी अधिक उठता है। अतः लिफ्ट के इस दोष को दूर करने के लिये शीघ्र ही वाष्प-इंजिन के स्थान पर विद्युत्-मोटर इंजिन लिफ्ट के परिचालन के लिये लगाए गए। ऊपर जाते समय या नीचे आते वक्त कठघरे को झूलने से रोकने के लिये उसे लोहे के ऊँचे स्तम्भों के बीच में ऊपर-नीचे सरकाया जाने लगा।

दो-तीन तल्ले ऊपर जाने के लिये ढोल पर लिपटे हुए

एस्केलेटर की रचना

जहाँ अधिक सख्या में व्यक्तियों को नीचे से ऊपर अथवा ऊपर से नीचे लाने ले जाने की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ लिफ्ट के बजाय 'एस्केलेटर' नामक यन्त्र-व्यवस्था से काम लेते हैं। इसका विस्तृत विवरण अगले पृष्ठ पर पढ़िए।

केबुलतार के सिद्धान्त पर उठनेवाले इसी ढंग के लिफ्ट का प्रयोग साधारणतः किया जाता है, किन्तु सात-आठ या इससे भी अधिक ऊँची मज़िल पर चढ़ने के लिये इस ढग के लिफ्ट का प्रयोग सन्तोषप्रद नहीं साबित होता, क्योंकि इनकी रफ़्तार तेज़ नहीं होती। तेज़ रफ़्तार से चलनेवाले लिफ्ट की मशीनरी में ढोल पर तार को लिपटने नहीं दिया जाता। ऐसे लिफ्ट की मशीन में तार का एक सिरा ऊपर के एक गार्डर से बँधा होता है, तदुपरान्त तार लिफ्ट के कठघरे की छत पर लगी हुई एक पुली में से होकर गुज़रता है, और इसके दूसरे सिरे पर सतुलन बनाये रखने के लिए एक भारी बोझवाला लोहे का ढाँचा बँधा होता है। यह ढाँचा भी लोहे के स्तम्भों के बीच सरकता है। इस ढाँचे और लिफ्ट के कठघरे के बीच के तार इमारत की सर्वोच्च मज़िल पर स्थित विद्युत्-मोटर से सम्बद्ध एक चौड़े पहिये पर से गुज़रते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे आटे की कल में इंजिन की धुरी पर लगे हुए चौड़े पहिये पर से वह पेटी गुज़रती है, जो चक्की को घुमाती है। जब पहिया तेज़ी के साथ घूमता है तो घर्षण के कारण उस पर से गुजरनेवाले तार भी एक ओर से दूसरी ओर को उसी रफ़्तार से सरकते हैं और लिफ्ट का कठघरा ऊपर-नीचे खिसकता है। इस श्रेणी के लिफ्ट की विशेषता यह है कि ये पर्याप्त तेज़ी के साथ ऊपर-नीचे आ जा सकते हैं। कठघरे में ही स्विच लगे होते हैं, जिनकी सहायता से जिस किसी मजिल पर चाहें लिफ्ट को ठहरा सकते हैं।

विद्युत्-लिफ्ट की मशीनरी में दुर्घटनाओं के रोकने के लिये भी समुचित प्रबन्ध रहता है। यदि किसी कारण से लिफ्ट की रफ़्तार अत्यधिक हो गयी तो तुरन्त एक 'गवनर'

सचेत हो उठता है और जिन लौह स्तम्भों में से होकर लिफ़्ट सरकता है वे लिफ़्ट के कठघरे को, सँकरे होकर दबाने लगते हैं। बस लिफ़्ट की रफ़्तार धीमी पड़ जाती है। विद्युत्-यंत्रों की सहायता से प्रत्येक लिफ़्ट में इस बात का प्रबन्ध कर देते हैं कि जब तक कठघरे का दरवाज़ा अच्छी तरह बन्द न हो, लिफ़्ट को चलानेवाला मोटर इंजिन चालू ही नहीं हो सकता। जिस वक्त लिफ़्ट तेज़ी के साथ नीचे उतरता है, इस बात की सम्भावना रहती है कि कठघरे को ज़ोरों का झटका पहुँचे। इस झटके का ज़ोर कम करने के लिये कठघरे के पेंदे में 'शॉक एब्सार्बर' लगे होते हैं। इन शॉक एब्सार्बरों में छल्लेदार स्प्रिङ्ग लगी होती है। बहुत-कुछ झटका तो स्वय यह स्प्रिङ्ग ही अपने में जज्ब कर लेती है, और इसके बाद स्प्रिङ्ग का पेंदा एक पिस्टन से जुड़ा होता है, जो तेल से भरे हुए एक सिलिण्डर में हरकत करता है। झटका लगने पर जब यह पिस्टन तेल को नीचे दबाता है तो सिलिण्डर के पेंदे में बने हुए एक सूराख़ के रास्ते एक नियत रफ़्तार से तेल निकलकर दूसरे कम्पार्टमेण्ट में चला जाता है। इस प्रकार कठघरे को ज़रा भी झटका महसूस नहीं होने पाता।

ऊपर-नीचे स्वयं चढ़ने-उतरने-वाली सीढ़ियाँ—एस्केलेटर

लिफ़्ट अधिक से अधिक पाँच-छः व्यक्तियों को ही ले जा सकता है। अधिक सख्या में व्यक्तियों को ऊपर-नीचे ले जाने के लिये आधुनिक इमारतों में भी सीढ़ियों का ही आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु सीढ़ियों द्वारा ऊँची मंज़िलों पर चढ़ने में समय तथा परिश्रम दोनों व्यर्थ में नष्ट होते हैं। अतः व्यवसायी देशों ने यन्त्र-विज्ञान की सहायता से ऐसी सीढ़ियाँ बना डालीं हैं—जो स्वयं ऊपर-नीचे चढ़ती हैं! ये विचित्र सीढ़ियाँ 'एस्केलेटर' कहलाती हैं। एस्केलेटर की मशीनरी एकदम सीधी-सादी होती है। साइकिल की चेन की भाँति दो चेनें दाँतदार चौड़े पहियों पर से गुजरती हैं—एक चेन पहियों के एक किनारे पर और दूसरी दूसरे किनारे पर होती है। इन चेनों पर लोहे की सीढ़ियों की एक माला-सी पहनायी गयी रहती है। जिन रोलर पहियों के दाँतों के घूमने पर यह चेन घूमती है, उनमें से एक तो ऊपर की मंज़िल के प्लैटफ़ार्म के नीचे रहता है, और दूसरा नीचे के फ़र्श के प्लैटफ़ार्म के नीचे। ये दोनों रोलर पहिये विद्युत्-इंजिन के मोटर की शक्ति से घुमाये जाते हैं। इनके घूमने से जब चेनें घूमती हैं तो उनके सहारे सीढ़ियों की माला भी घूमती है। इस तरह उन पर खड़ा हुआ व्यक्ति निष्प्रयास ही नीचे से ऊपर पहुँच जाता है! रोलर के घुमाने की दिशा बदलकर एस्केलेटर को नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे चलाया जा सकता है, किन्तु साधारणतः ऐसा होता है कि बड़ी इमारतों में अगल-बगल में दो एस्केलेटर फिट किये जाते हैं—एक ऊपर जाने के लिये, दूसरा नीचे आने के लिये। सीढ़ियों के दोनों ओर रेलिंग लगी रहती है, जो स्वय उसी रफ़्तार से ऊपर-नीचे खिसकती है, जिस रफ़्तार से सीढ़ियाँ खिसकती हैं। रेलिंग को घुमाने के लिये अलग से रोलर प्रयुक्त किये जाते हैं।

धरती के नीचे चलनेवाली लंदन की रेल के एक स्टेशन से ऊपर आने-जाने के लिए प्रयुक्त एस्केलेटरों की पंक्तियाँ।

सीढ़ियों का क्रम तथा उनका झुकाव कहीं भी बिगड़ने नहीं पाता। प्रत्येक सीढ़ी के फ्रेम के अगले भाग तथा पिछले भाग में दोनों ओर छोटे-छोटे पहिये लगे रहते हैं। तमाम सीढ़ियों के अगले पहिये एक ही जोड़े लोहे की रेल पर चलते हैं, तथा पिछले पहिये दूसरे जोड़े पर खिसकते हैं। एस्केलेटर की सीढ़ियों का क्रम यदि ठीक रहता है, तो प्रत्येक सीढ़ी के अगले तथा पिछले पहियों के बीच ३०° का झुकाव होता है। ऊपर तथा नीचे जहाँ एस्केलेटर से उतरकर स्थिर प्लैटफ़ार्म पर आना होता है, वहाँ ये सीढ़ियाँ

सीढ़ियों का रूप छोड़कर प्लैटफार्म का रूप धारण कर लेती हैं ताकि एस्केलेटर से उतरने में या उस पर चढ़ने में किसी प्रकार की असुविधा न हो। ऐसा करने के लिये सीढ़ियों के पिछले पहियों को सँभालनेवाली रेल को धीरे-धीरे झुकाकर धरती के समानान्तर कर देते हैं, तथा इसकी सतह अगले पहियों को सँभालनेवाली रेल की सतह से नीची रहती है—फलस्वरूप सीढ़ियाँ भी यहाँ पहुँचने पर धरती के समानान्तर तथा एक ही सतह में हो जाती हैं। प्रत्येक सीढ़ी एस्केलेटर घुमानेवाली रोलर-चेनों से एक धुरी के सहारे जुड़ी रहती है। इस धुरी पर प्रत्येक सीढ़ी स्वतन्त्रतापूर्वक झूल सकती है।

नये प्रकार के एस्केलेटर की सीढ़ियाँ सपाट नहीं होतीं। इन पर सामने की दिशा में एक दूसरे के समानान्तर खाँचे कटे होते हैं। एस्केलेटर के दोनों छोर पर जो स्थिर प्लैट-फार्म होते हैं, उनके किनारे पर भी कंघे के दाँत की तरह खाँचे कटे होते हैं, जो एस्केलेटर पर घूमती हुई सीढ़ी के खाँचे में ठीक बैठ जाते हैं। अतः एस्केलेटर पर आनेवाले व्यक्ति ऊपर पहुँचने पर यदि प्लैटफार्म पर स्वयं क़दम उठाकर न रखें तो भी प्लैटफार्म के दाँत उन्हें प्लैटफार्म पर ही आने के लिये बाध्य कर देते हैं।

एस्केलेटर छोटे-बड़े सभी आकार के होते हैं। अवश्य ये उसी स्थान पर लगाये जाते हैं, जहाँ एक बड़ी संख्या में लोग निरन्तर सीढ़ियों पर चढ़ते-उतरते रहते हैं। संसार का सबसे बड़ा एस्केलेटर लन्दन की अन्डरग्राउण्ड रेलवे के लीसेस्टर-स्क्वायर स्टेशन पर लगा हुआ है। इसकी सीढ़ियों की नीचे से ऊपर तक की लम्बाई १६० फीट है। इसकी रफ़्तार प्रति मिनट १८० फीट है। एक घण्टे में १६००० व्यक्तियों को यह ऊपर-नीचे ले जा सकता है!

सबसे ऊँचा आकाशदीप

संसार की सबसे ऊँची इमारत न्यूयार्क की 'एम्पायर स्टेट बिल्डिङ्ग' की चोटी पर स्थापित इस विशाल प्रदीप से ढाई करोड मोमबत्तियो की शक्ति का प्रकाश निकलता है। यह चमत्कार केवल विद्युत्-बल्ब के आविष्कार से ही सभव हो सका है।

विद्युत्-लैम्प

निस्सन्देह किसी कुशल लेखक की चमत्कारपूर्ण लेखनी ने यदि उस सुदूर अतीत की घटना को अंकित किया होता, जब प्रस्तरयुग के मानव ने पहली बार अग्नि उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की थी, तो हमें कुछ आभास मिलता कि इस अद्भुत आविष्कार ने तत्कालीन मानव के मन में कितने आह्लाद, कितने विस्मय और कदाचित् भय का भी संचार किया होगा! अवश्य ही यह नवीन आविष्कार सदियों तक कौतूहल और आश्चर्य की वस्तु बना रहा होगा, तभी तो प्राचीन जातियों के धार्मिक संस्कारों में अग्नि को विशेष महत्व का स्थान दिया गया है।

अग्नि के साथ ही प्रकाश का भी अन्योन्याश्रित संबंध है। समय की प्रगति के साथ अग्नि ही की तरह धीरे-धीरे मानव ने कृत्रिम ढंग से प्रकाश भी उत्पन्न करना सीखा होगा। प्रकाश की सहायता से मनुष्य ने प्रतिकूल परिस्थितियों पर क़ाबू पाकर सभ्यता की ओर क़दम बढ़ाया। शताब्दियों तक वनस्पति तेल या चर्बी में बत्ती डालकर दीपक बनाये जाते रहे। फिर पत्थर के कोयले से गैस उत्पन्न करके उससे रोशनी पैदा की गई। तदुपरान्त पिछली शताब्दी के अन्तिम दिनों में मिट्टी के तेल और कैल्सियम कार्बाइड का प्रयोग तेज़ रोशनी के लिए किया जाने लगा। इसके शीघ्र ही बाद विद्युत्-सम्बन्धी अनेक आविष्कार तथा महत्वपूर्ण खोजें पिछली

मीलों तक रोशनी फेंकने में समर्थ एक भीमकाय सर्चलाइट
इस प्रचण्ड सर्चलाइट से जो प्रकाश-बिम्ब निकलता है, उसकी शक्ति साढ़े तीन अरब मोमबत्तियों की शक्ति के बराबर होता है। ऐसे प्रचण्ड प्रकाश की उत्पत्ति केवल विद्युत्-शक्ति के बल पर ही संभव हो सकी है।

शताब्दी में हुई। स्वभावतः विद्युत्-धारा से प्रकाश उत्पन्न करने का भी प्रयत्न इसी शताब्दी में आरम्भ हुआ।

इङ्गलैण्ड के सुविख्यात वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी ने इस सम्बन्ध में १८०८ में एक महत्वपूर्ण प्रयोग किया था। उसने कई एक विद्युत्-सेलों को जोड़कर एक शक्तिशाली बैटरी तैयार की। इस बैटरी से २००० वोल्ट पर विद्युत्-धारा निकलती थी। उसने इस विद्युत्-धारा को ताँबे की दो छड़ों में से प्रवाहित कराया। इन छड़ों को एक दूसरे से ज़रा-सा अलग करने पर दोनों के दर्मियान विद्युत् कूदकर प्रवाहित होने लगी और उनके बीच एक प्रकार की तीव्र ज्योति-वाली लौ सी जलने लगी। इसकी शक्ल कुछ-कुछ अर्द्ध-चन्द्राकार होती थी, अतः इसे 'आर्क' (वृतांश) का नाम दिया गया। इस सम्बन्ध में और भी प्रयोग करने पर मालूम हुआ कि धातु के स्थान पर यदि कार्बन (कोयले के कठोर रूप) का उपयोग किया जाय तो विद्युत्-शक्ति का व्यय भी कम होता है और साथ ही प्रकाश भी तीव्रतर निकलता है। जिधर से विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है, उस ओर की छड़ को 'धनात्मक छड़' कहते हैं। इस छड़ का सिरा दूसरी छड़ के सिरे की अपेक्षा अत्यधिक गर्म हो उठता है। अतः 'आर्क' की लौ का सबसे चमकीला भाग भी यहीं पर स्थित होता है। इसी कारण धनात्मक छड़ दूसरी छड़ की अपेक्षा अधिक तेज़ी से क्षीण होती है और इसके सिरे पर ज्वाला-मुखी के मुँह जैसा एक छोटा-सा क्रेटर बन जाता है। इस क्रेटर का तापक्रम लगभग ४००० डिग्री सेण्टीग्रेड होता है! डेवी के पहले किसी भी वैज्ञानिक ने इतने ऊँचे दर्जे का तापक्रम प्राप्त नहीं किया था। डेवी ही ने आर्क-लैम्प में रखकर पहली बार हीरा जलाया था। इस प्रयोग ने भली-भाँति प्रमाणित कर दिया कि हीरा कार्बन ही का विशेष रूप है, क्योंकि हीरे के जलाने पर भी कार्बन डाइऑक्साइड ही प्राप्त होती है।

धनात्मक छड़ के तेज़ी के साथ क्षीण होने के कारण दोनों छड़ों के दर्मियान की दूरी शीघ्र ही बढ़ जाती है, फलस्वरूप 'आर्क' बुझ जाता है। 'आर्क' को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों छड़ों को बार-बार एक दूसरे के निकट पेंच घुमाकर लाया जाय ताकि उनके बीच की दूरी अधिक न बढ़ने पाये। 'मैजिक लैंटर्न' में जलनेवाले आर्क-लैम्प को तो हाथ से बार-बार ठीक कर सकते हैं, किन्तु अन्य आर्क-लैम्पों को बार-बार हाथ से ठीक नहीं किया जा सकता। इस दोष को दूर करने के निमित्त प्रत्येक आधुनिक आर्क-लैम्प में एक विद्युत्-चुम्बक लगा रहता है। आर्क में प्रवाहित होनेवाली विद्युत्-धारा इस चुम्बक में से होकर प्रवाहित होती है। साधारणतः यह चुम्बक धनात्मक छड़ को एक 'पुली' के सहारे ऊपर को खींचे रहता है। छड़ों के बीच दूरी बढ़ते ही विद्युत्-धारा की शक्ति मन्द पड़ जाती है, अतः चुम्बक भी अपनी शक्ति का कुछ अंश खो देता है और तब उसका आकर्षण कम होते ही धनात्मक छड़ कुछ नीचे को सरक जाती है। फलतः आर्क की लौ पूर्ववत् जलने लगती है।

कुछ वर्ष पूर्व तक जहाँ कहीं भी तीव्र प्रकाश की आवश्यकता पड़ती थी, आर्क-लैम्प ही जलाये जाते थे। किन्तु इन्हीं दिनों बिजली के तारवाले बल्ब का भी विकास धीरे-धीरे हो रहा था और अब तो इस श्रेणी के विद्युत्-बल्ब भी इतनी अधिक रोशनी देते हैं कि आर्क-लैम्प इनके सामने मात हो जाते हैं। फिर आर्क-लैम्प की भाँति इनके जलाने के लिये तरह-तरह के झंझट भी तो नहीं करने पड़ते!

विद्युत्-बल्ब के आविष्कार का श्रेय अमेरिका के महान् आविष्कारकर्ता वैज्ञानिक टामस एल्वा एडिसन को प्राप्त है। एडिसन ने सर्वप्रथम विद्युत् बल्ब के अन्दर प्लैटिनम के तार में से विद्युत्-धारा प्रवाहित करायी थी, किन्तु अधिक तापक्रम के कारण यह तार भी पिघल गया था। तदुपरान्त उसने प्लैटिनम और इरिडियम गलाकर दोनों के मिश्रण से बारीक़ तार खींचे। किन्तु यह तार भी तापक्रम ऊँचा होते ही पिघल गया। फिर एडिसन ने बल्ब के अन्दर ऐसे पदार्थ के प्रयोग करने की बात सोची, जिसमें विद्युत् का प्रवाह तो हो सके, किन्तु गर्मी पाकर वह पिघले नहीं। अतः उसने बाँस के पतले रेशे को एक बन्द बर्त्तन में लकड़ी के कोयले के साथ गर्म करके उस पर कार्बन की एक पतली तह चढ़ायी। तदुपरान्त बल्ब के अन्दर इसे प्लैटिनम के दो तारों के बीच सीमेन्ट से जोड़कर इसमें विद्युत्-धारा प्रवाहित करायी। अवश्य विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने के पूर्व बल्ब में से हवा निकालकर उसे एयरटाइट कर दिया गया था। एडिसन की प्रसन्नता की सीमा न रही, जब उसने देखा कि कार्बन के तार से प्रकाश पर्याप्त मात्रा में मिला, साथ ही तार में भी किसी प्रकार की ख़राबी नहीं आयी। इस सिलसिले में प्रयोग करते समय एडिसन पूरे ४५ घण्टे तक कारबन के रेशे को देखता रहा था और प्रति क्षण उसे आशंका होती थी कि कार्बन का रेशा अब फुँका तब फुँका! इस दौरान में एक क्षण के लिए भी उसने झपकी नहीं ली थी!

आधुनिक कार्बन-लैम्प के तार बाँस के रेशे पर नहीं बनाये जाते। इसके बजाय रुई के धागे और ज़िंक क्लोराइड को मिलाकर एक प्रकार की लुगदी-सी तैयार कर लेते हैं। फिर एक साँचे में रखकर सेंवई की तरह उसे दबाते हैं। नीचे पेंदे के बारीक़ सूराख़ में से निकलकर यह एक बर्त्तन में गिरता है, जिसमें अलकोहल और नमक का तेज़ाब रक्खा रहता है। इस बर्त्तन में पहुँचते ही लुगदी के तार बन जाते हैं, जिन्हें उपयुक्त लम्बाई में काट लेते हैं। अब कार्बन के गिट्टक के ऊपर तार को लपेटकर उन्हें लकड़ी के कोयले के बारीक़ चूर्ण में रखकर ख़ूब गर्म करते हैं। इस तरह तार के ऊपर कार्बन की चमकदार पतली तह बैठ जाती है।

लगभग २० वर्ष तक एडिसन के कार्बन-लैम्प का बोलबाला रहा। किन्तु १९०५ में पुनः धातु के तारवाले बल्ब बनाने के प्रयत्न आरम्भ हुए। प्लैटिनम के पिघलने का तापक्रम ऊँचा न होने के कारण इसे बल्ब के अन्दर प्रयुक्त नहीं कर सकते थे। अनेक अनुसन्धानों के उपरान्त 'ओस्मियम' और 'टंगस्टन' धातुओं को परस्पर गलाकर तार खींचे गये। इस मिश्रित धातु के तार बल्ब के अन्दर काफी संतोषजनक साबित हुए। टंगस्टन के बारीक़ तार खींचने के लिए हीरे
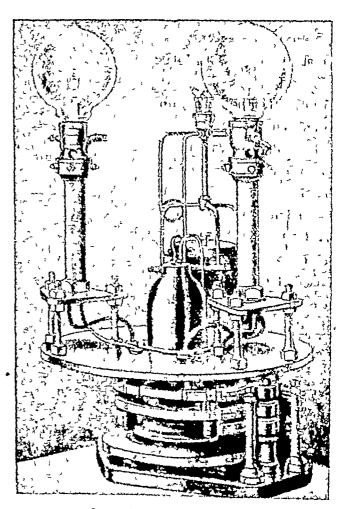
प्रकाशगृहों की रोशनी की स्वयंक्रिय व्यवस्था
मीलों तक रोशनी फेंकनेवाले प्रकाशगृह के ये विशाल विद्युत्-बल्ब रात पड़ते ही स्वयं जल उठते और सबेरा होते ही अपने आप बुझ जाते हैं।

के बने हुए साँचे काम में लाये जाते हैं। हीरे के बड़े टुकड़ों के अन्दर बारीक़ सूराख़ होते हैं—इन्हीं सूराख़ों में से टंगस्टन के तार खींचे जाते हैं। बल्ब के अन्दर इस तार का तापक्रम लगभग २४०० डिग्री सेण्टीग्रेड तक पहुँचता है। विद्युत्-बल्ब का प्रकाश इसी टंगस्टन तार से आता है। बल्ब के अन्दर टंगस्टन तार को सहारा देने के लिए मोलिब्डिनिम के तार का ढाँचा काम में लाते हैं। मोलिब्डिनिम काफ़ी मज़बूत होता है, झटका लगने से जल्दी टूटता नहीं है। बल्ब के सिरे से टंगस्टन के बारीक़ तारों तक विद्युत्-धारा ले जाने के लिये निकल और लोहे की मिश्रित धातु के तार का प्रयोग करते हैं। बल्ब के अन्दर तार को लगाने के उपरान्त मशीनों द्वारा बल्ब की लगभग समस्त वायु बाहर निकाल देते हैं। बल्ब के अन्दर वैकुअम उत्पन्न करनेवाली ये मशीनें पूर्णतया स्वयंक्रिय होती हैं।

कुछ ही दिनों उपरान्त इस क्षेत्र में अनुसन्धान करनेवालों ने एक नये ढंग का विद्युत्-बल्ब तैयार किया, जिसे 'हाफ वाट लैम्प' के नाम से पुकारते हैं। हाफ़ वाट लैम्प में भी टंगस्टन के ही तार प्रयुक्त किये जाते हैं, किन्तु अन्दर की हवा निकालकर इसके अन्दर एकदम वैकुअम नहीं कर देते, बल्कि नाइट्रोजन गैस भर देते हैं। ऐसा करने से थोड़ी विद्युत्-शक्ति से ही इस लैम्प से पर्याप्त मात्रा में प्रकाश उत्पन्न होता है। अतः अधिक रोशनी के लिए साधारणतः इसी ढंग के बल्बों का प्रयोग होता है। इनमें से कुछ तो ६० हज़ार मोमबत्तियों के प्रकाश से भी अधिक रोशनी देते हैं!

समुद्र का संतरी—प्रकाशगृह

समुद्र की उत्ताल तरंगों के साथ लगातार जूझकर एवं मीलों तक आसपास रोशनी फेंककर जहाज़ों का पथप्रदर्शन करनेवाला एक समुद्री प्रकाशगृह।

किन्तु विद्युत्-आलोक के विकास का क्रम अब भी जारी है। एडिसन के कार्बन-लैम्प तथा नये वैकुअम लैम्प और ... बल्ब सभी के सिद्धान्त एक से हैं। प्रत्येक में तार में विद्युत्-धारा प्रवाहित कराकर उसे इतना अधिक गर्म कर देते हैं कि वह तप्त होकर चमकने लगता है। उसकी ही चमक से हमें प्रकाश मिलता है। किन्तु इस रीति से प्रकाश उत्पन्न करने में विद्युत्-शक्ति का अधिकांश भाग गर्मी उत्पन्न करने में नष्ट हो जाता है। अतः वैज्ञानिकों का प्रयास इस फ़ज़ूलख़र्ची को रोकने के लिए निरन्तर जारी रहा। फलस्वरूप ऐसे बल्ब अब तैयार किये गये हैं, जिनमें तार लगते ही नहीं। साधारणतया लम्बे आकार के बल्ब में नियान अथवा आर्गन गैस या पारे की वाष्प भर दी जाती है। बल्ब के अन्दर से ऊँचे वोल्टेज की विद्युत्-धारा प्रवाहित कराने पर वह गैस बिना अत्यधिक तप्त हुए ही प्रकाश देने लगती है। ऐसे बल्ब डिस्चार्ज ट्यूब कहलाते हैं। इनके अन्दर से रोशनी किसी विशेष स्थान से नहीं बल्कि समूचे बल्ब से निकलती है। गैसों की जाति के अनुसार डिस्चार्ज बल्ब के प्रकाश का रंग भी जुदा-जुदा होता है। पारे की वाष्प वाले डिस्चार्ज बल्ब से हरे रंग की रोशनी निकलती है। सड़कों पर रोशनी करने के लिए प्रायः पारेवाले बल्ब का प्रयोग किया जाता है। नियान गैस के बल्ब से रक्तिम वर्ण का प्रकाश निकलता है। विज्ञापन के निमित्त बड़े शहरों में नियान गैस के ही डिस्चार्ज ट्यूब काम में लाये जाते हैं।

रंगीन रोशनीवाले ये डिस्चार्ज बल्ब साधारण कामों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, किन्तु कपड़ों की दूकानों में, जहाँ कपड़ों के रंग की सही पहचान करनी हो, या घर के अन्दर जहाँ हर वस्तु का रंग सही जानना ज़रूरी हो, ऐसे लैम्प का प्रयोग करना वाञ्छनीय नहीं हो सकता। अतः डिस्चार्ज लैम्प की इस कमी को दूर करने के प्रयास में अमेरिका की एक विद्युत्-बल्ब-फ़ैक्टरी ने कार्बन डाईआक्साइड से भरे हुए डिस्चार्ज बल्ब

तैयार किये हैं। इस वल्ब से बिल्कुल दिन सरीखा प्रकाश निकलता है। इसके प्रकाश में रग का धोखा नहीं हो सकता।

समुद्र के सन्तरी—प्रकाशगृह

विद्युत्-लैम्प के विकास के साथ ही समुद्र में जहाज़ों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए बनाए जानेवाले प्रकाशगृहों (लाइट-हाउस) की भी कहानी घनिष्ट रूप से संबद्ध है। मनुष्य ने जब से निर्भय होकर जहाज़ों पर समुद्रयात्रा करने का साहस किया, तभी से उसे रात के अँधेरे में समुद्र के बीच उभरी हुई चट्टानों से अपने जहाज़ को टकराने से बचाने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील होना पड़ा। समुद्र में निकली हुई इन चट्टानों पर ऊँची मीनारें बनाकर उन पर रात में प्रकाशदीप जलाया जाने लगा, ताकि समीप से गुज़रनेवाले जहाज सतर्क हो जायँ। यही आगे आनेवाले विशाल प्रकाशगृहो की पहली शुरूआत थी।

सबसे प्राचीन प्रकाशगृह, जिसका उल्लेख इतिहास में मिलता है, सिकन्दरिया का था, जो ईसा से २६० वर्ष पूर्व बना था। सिकन्दरिया बन्दरगाह के प्रवेश-द्वार पर स्थित एक छोटे से द्वीप पर इस प्रकाशगृह का निर्माण हुआ था। इस प्रकाशगृह की ऊँचाई ४५० फीट थी तथा इसका पेंदा वर्गाकार था, जिसका प्रत्येक किनारा ४०० फ़ीट लम्बा था। यह श्वेत रग के सगमर्मर से बनाया गया था। अनुमान किया जाता है कि इसके निर्माण में लगभग साढ़े पचास लाख रुपये के बराबर पूँजी ख़र्च हुई थी! अवश्य इस प्रकाशगृह (लाइट-हाउस) में रोशनी उत्पन्न करने के लिये उन दिनों तीव्र चकाचौंध उत्पन्न करनेवाले लैम्प नहीं मिल सकते थे, अतः लकड़ी के मोटे-मोटे टुकड़ों को खुली हवा में जलाकर उनकी ही रोशनी से आसपास के जहाज़ों को चेतावनी दी जाती थी। लिखने की आवश्यकता नहीं कि स्वच्छ निर्मल रात्रि में भी लकड़ी की यह रोशनी कुछ ही मील दूर तक दृष्टिगोचर होती थी।

प्रकाशगृह की रोशनी को तेज़ करने की दिशा में हज़ारों वर्षों तक कुछ विशेष उन्नति न हो सकी। अभी सौ-सवा सौ वर्ष पीछे तक तो ससार के सभी प्रकाशगृहों में मोटी-मोटी मोमबत्तियाँ ही जला करती थीं! १८१६ का जिक्र है, स्काटलैण्ड के एक प्रकाशगृह में कोयले के लाल-लाल दहकते हुए अगारे रखे जाते थे, ताकि नाविक अगारों की चमक देखकर उस प्रकाशगृह की स्थिति का पता लगा सकें। वास्तव में प्रकाशगृहों को सार्थक तो बनाया है पिछली शताब्दी में विद्युत् के विकास ने। किन्तु आइए, पहले इस बात की जानकारी आपको करा दें कि निरन्तर समुद्र की उत्ताल तरंगों और तूफानों से टक्कर लेनेवाले ये प्रकाशगृह किस प्रकार इतने दृढ़ बनाये जाते हैं। १८वीं शताब्दी के आरम्भ तक प्रकाशगृह साधारणतया लकड़ी के बनाये जाते थे। किन्तु तब एक ब्रिटिश इञ्जीनियर ने पत्थर से प्रकाशगृह बनाने के लिये पत्थर के टुकड़ों को एक दूसरे के साथ जोड़ने के एक नवीन ढग 'डोवटेलिंग' का ईजाद किया। इस पद्धति में बत्तख की पूँछ की तरह गावदुम शक्ल में पत्थर के टुकड़ों को काटकर उन्हें एक दूसरे के साथ इस तरह बिठाते जाते हैं कि एक का सिरा दूसरे के पिछले भाग के साथ जुड़े। इस रीति से पत्थरों को जोड़ने पर वे अपनी जगह से टस से मस नहीं होते।

निस्सन्देह चट्टानों पर, जहाँ समुद्र की ऊँची तरंगें नित्य अठखेलियाँ किया करती हैं, प्रकाशगृहों का निर्माण करना बड़े जीवट का काम है। इनके निर्माण में इतनी अधिक दिक्कतें पेश आती हैं कि एक प्रकाशगृह को तैयार करने में इञ्जीनियरिङ्ग कला के आधुनिक साधनों के बावजूद आठ-दस वर्ष लग जाते हैं।

अमेरिका के बोस्टन हार्बर के प्रवेश-द्वार के सामने एक बीहड़ चट्टान पर प्रकाशगृह बनाने में कितनी दिक्कत पड़ी थी, आइए, इसका दिग्दर्शन आपको कराएँ। प्राथमिक निरीक्षण के लिये जब प्रसिद्ध इञ्जीनियर कैप्टेन एलेक्ज़ैण्डर उस चट्टान पर गये, तो उस जगह पर इतनी अधिक काई जमी हुई थी कि पाँव ठहर ही नहीं पाते थे, साथ ही लहरों के थपेड़े इतने ज़बर्दस्त आते थे कि वहाँ कोई खड़ा भी नहीं रह सकता था। लौटते ही कैप्टेन एलेक्ज़ैण्डर ने मज़दूरों का एक जत्था चट्टान पर इसलिये भेजा कि वे वहाँ की काई खुरच डालें तथा उस पर समतल सीढ़ियों के आकार के चबूतरे काटकर तैयार कर दें ताकि प्रकाशगृह के निर्माण का काम आरम्भ किया जा सके। जिस वक्त समुद्र की गरजती हुई उत्ताल तरंगें चट्टान पर आतीं, बेचारे मजदूर ज़मीन में अपना सिर टेककर एक दूसरे से चिपट जाते। तूफान के समय मज़दूरों को काम के लिये यदि चट्टान पर जाना हुआ तो टूटने के डर से किश्ती चट्टान के नजदीक जा नहीं सकती थी! अतः वे बेचारे हाथ में रस्सी बाँधकर कूद पड़ते और चट्टान पर पहुँचकर काम आरम्भ कर देते। काम समाप्त हो जाने के बाद इसी रस्सी के सहारे इन्हें पुनः किश्ती पर खींच लेते थे।

इस प्रकार दो साल के उपरान्त समुद्र की सतह से २० फ़ीट ऊँचा इस्पात का एक मज़बूत चबूतरा ये मिस्त्री बना

पाये ! किन्तु जाड़े की एक रात में तूफान आया और समुद्र-तट की ओर जाता हुआ एक जहाज़ इस चबूतरे से टकराया ! फलतः दो वर्ष की मेहनत पर पानी फिर गया ! फिर नये उत्साह के साथ काम आरम्भ हुआ। आख़िर तीन वर्ष के उपरान्त यह ऊँचा प्रकाशगृह पुनः तैयार हो पाया।

नदी के मुहानों पर, जहाँ समुद्र की तह में नरम मिट्टी, बालू या दलदल रहता है, प्रकाशगृह के लिये मज़बूत नींवें तैयार करने में इञ्जीनियर को विशेष युक्तियों से काम लेना पड़ता है। लगभग ५० वर्ष पूर्व तक तो कोई इञ्जीनियर ऐसी स्थिति में प्रकाशगृह बनाने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। तब जर्मनी के इञ्जीनियरों ने इस दिशा में सबसे पहले क़दम बढ़ाया। इसके लिए बालूवाली पोली ज़मीन पर इस्पात के भारी खोखले हौदे जमाये जाते हैं। ये हौदे 'कैसान' के नाम से पुकारे जाते हैं। ऐसे हौदे का पेंदा खुला होता है, तथा पेंदे के किनारे तेज़ धार लिये होते हैं, ताकि उनके सहारे 'कैसान' पेंदे में अच्छी तरह धँस जाय। 'कैसान' की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई अक्सर ५० फीट तक हुआ करती है। पानी में इस हौदे को धँसाने के उपरान्त पम्प करके इसके अन्दर का पानी उलीच लेते हैं, फिर इसके अन्दर जाकर मिस्त्री लोग नीचे की बालू को खोदते हैं, ताकि 'कैसान' और भी नीचे तक धँस सके। अब कैसान के बाहर चारों ओर चटाइयाँ और घास-फूस डालकर पत्थरों के बड़े-बड़े टुकड़े वहाँ समान रूप से लगा देते हैं ताकि लहरों की चपेट से 'कैसान' हिले-डुले नहीं। तब कैसान के अन्दर सीमेन्ट आदि भर कर प्रकाशगृह का स्तम्भ खड़ा करते हैं।

जन-साधारण के लिये तो प्रकाशगृह के स्तम्भ ही सबसे अधिक आश्चर्योत्पादक वस्तु जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु सच तो यह है कि प्रकाशगृहों के अन्दर रोशनी उत्पन्न करने में भी वैज्ञानिकों तथा इञ्जीनियरों ने विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया है।

दहकते हुए अंगारों के बाद इस काम के लिए मछली की चर्बीवाले लैम्पों का प्रयोग किया जाने लगा था। तब मिट्टी के तेल की ईजाद के उपरान्त चिपटी तथा गोल बत्तियों वाले लैम्प इन प्रकाशगृहों में काम में लाये जाने लगे। यह १८४० की बात है। अनेक प्रकाशगृहों में आज दिन भी मिट्टी के तेल का ही प्रयोग होता है, किन्तु इसके लैम्प साधारण लैम्प की तरह नहीं जलते, बल्कि गैस में परिणत करके इस तप्त गैस से 'मैन्टल' जलाते हैं। आजकल के पेट्रोमैक्स लैम्प भी तो इसी सिद्धान्त पर जलते हैं।

क्रमशः विद्युत् के विकास के साथ प्रकाशगृहों में भी बिजली का प्रयोग होने लगा। १८५६ में केन्ट के समुद्रतट के प्रकाशगृह में सर्वप्रथम विद्युत् का प्रयोग हुआ। इन दिनों तेज़ रोशनी के लिये विद्युत् आर्क-लैम्प ही प्रयुक्त किये जाते थे। किन्तु अब साधारणतः गैस भरे हुए शक्तिशाली हाफ वाट विद्युत्-लैम्पों का प्रयोग होने लग गया है। इनके रश्मिपुञ्ज को क्षैतिज धरातल में परावर्त्तित करने के लिये पहले तो नतोदर तथा दीर्घवृत्ताकार दर्पणों का प्रयोग किया गया, किन्तु बाद में काँच के समकोण त्रिपार्श्व (प्रिज्मों) का प्रयोग किया जाने लगा, क्योंकि इस रीति से रश्मियों को परावर्त्तित करने में प्रकाश नष्ट नहीं होने पाता। ये परावर्त्तक प्रिज्म विद्युत्-बल्ब को चारों ओर से घेरे रहते हैं।

प्रकाशगृह के आलोक के लिये यह वाञ्छनीय समझा जाता है कि इसकी रोशनी रह-रहकर लुप-लुप करती रहे। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये बल्ब के चारों ओर के परावर्त्तक प्रिज्मों के ढाँचे को बल्ब के इर्द-गिर्द निरन्तर समान गति से चक्कर लगाना पड़ता है। प्रिज़्मों के ढाँचे को घुमाने के लिये घड़ी के कलपुर्ज़ों की तरह एक कमानीदार यत्र का प्रयोग किया जाता है। जिन प्रकाशगृहों में विद्युत्-लैम्प मौजूद हैं, उनमें प्रिज्म के घुमानेवाले कलपुर्ज़ों में चाभी भरने का काम भी अपने आप विद्युत्-धारा द्वारा सम्पादित होता रहता है। इन स्वयंक्रिय प्रकाशगृहों में उनके यत्रों की देखभाल के लिये किसी व्यक्ति को वहाँ नित्य रहने की ज़रूरत नहीं। फोटो-एलेक्ट्रिक-सेल की सहायता से अँधेरा होते ही इन प्रकाशगृहों के विद्युत्-लैम्प अपने आप जल उठते हैं। सवेरा होते ही फोटो-एलेक्ट्रिक सेल उन्हें बुझा भी देता है।

कुहरे में तेज़ से तेज़ रोशनी भी थोड़ी दूर से आगे नहीं दिखाई देती। अतः कुहरे के समय प्रकाशगृह की स्थिति का ज्ञान कराने के लिये थोड़ी-थोड़ी देर पर ख़तरे का भोंपू प्रकाशगृह की चोटी से बजने लगता है। अतः दूर के जहाज़ों के मार्गप्रदर्शन के लिये कुहरे के समय प्रकाशगृहों से रेडियो-तरंगें ब्राडकास्ट की जाती हैं। जहाज़ का कैप्टेन अपने केबिन पर लगे हुए एरियल द्वारा इन रेडियो-तरंगों को ग्रहण करके अपनी स्थिति का ठीक-ठीक पता लगा लेता है। ये रेडियो-तरंगें १०० मील दूर तक जहाज़ों के लिये पथ-प्रदर्शक का काम कर सकती हैं।

जो प्रकाशगृह ऐसी चट्टानों पर स्थित होते हैं, जहाँ
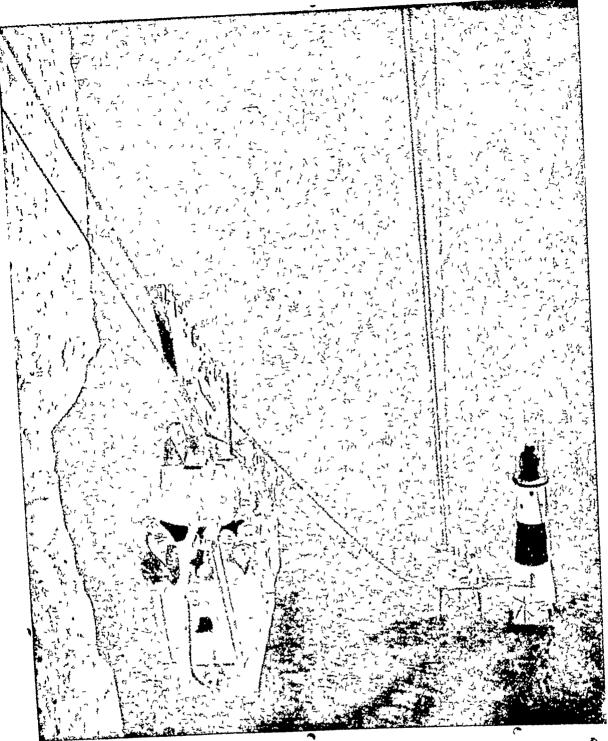
तार पर झूलते हुए इस अद्भुत हिंडोले द्वारा समुद्रतट से प्रकाशगृह तक सामान और आदमियों को पहुँचाया जाता है

प्राय. प्रकाशगृह ऐसी दुर्गम चट्टानों पर स्थित होते हैं कि वहां तक आदमी या सामान पहुंचाना आसान नहीं होता। जहां और कोई प्रकार की सुविधा नहीं होती, वहां कभी-कभी तटवर्ती ऊंचे कगार से प्रकाशगृह की मीनार तक तार का एक मजबूत रस्सा तानकर उस पर बिजली से चलनेवाले एक विशेष प्रकार के हिंडोले झुलाकर उनमें सामान और आदमियों को पहुंचाया जाता है। प्रस्तुत चित्र में इंगलैण्ड के 'बीची हेड' नामक प्रसिद्ध प्रकाशगृह तक इसी तरह आदमियों को ले जाते हुए एक हिंडोले का दृश्य है। यह प्रकाशगृह १०३ फीट ऊंचा है।

समुद्र की लहरें ज़ोरों के साथ उमड़-उमड़कर उन चट्टानों से टकराती रहती हैं, वहाँ तक नाव में बैठकर पहुँचने में बड़ी कठिनाई होती है। ऐसे कई दुर्गम प्रकाशगृहों तक जाने तथा वहाँ सामान आदि पहुँचाने के लिए तट के कगार से प्रकाश-गृह की मीनार तक ऊपर आकाश में तार का एक रस्सा तना रहता है, जिस पर टँगा हुआ एक हिंडोला विद्युत्-शक्ति से इस ओर से उस ओर आता-जाता रहता है। यही इनके लिए यातायात का एकमात्र साधन होता है।

ट्राम-गाड़ियाँ और ट्राली-बस

व्यवसायी नगरों में, जहाँ समय के एक-एक क्षण का मूल्य लगाया जाता है, ट्राम-गाड़ियाँ यातायात का एक आवश्यक साधन हैं। विद्युत्-ट्राम-गाड़ियों का सबसे बड़ा गुण यह है कि बिना किसी झंझट के एक लीवर के दबाने मात्र से ये चलने लगती हैं और उतनी ही आसानी से रुक भी जाती हैं। मोटर-बस की भाँति इंजिन स्टार्ट करने का झंझट इनमें नहीं है। अतः थोड़ी-थोड़ी दूर पर रुककर बिना अधिक समय नष्ट किये हुए ही ये सवारियों को बिठा और उतार सकती हैं।

ट्राम-गाड़ियों का जन्म वास्तव में इङ्गलैण्ड की खानों में हुआ था। कोयलेभरी गाड़ियों को खान से कारख़ानों तक पहुँचाने के लिए धरती पर लोहे की पटरियाँ बिछायी गयीं। इन्हीं पटरियों पर घोड़े ट्राम-गाड़ियों को खींचते थे। यह १८वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों की बात है। तदुपरान्त न्यूयार्क में घोड़ेवाली ट्राम-गाड़ियों का पहली बार सवारियाँ ढोने के लिए प्रयोग हुआ। १८६० में लिवरपूल, लन्दन, ग्लासगो आदि नगरों में भी पटरियाँ बिछाई गयीं और उन पर घोड़ेवाली ट्रामें लोगों को इधर-उधर ले जाने के लिए प्रयोग की जाने लगीं।

इस बीच विद्युत्-सम्बन्धी अनुसन्धान तेज़ी से चल रहे थे। फलस्वरूप १८८४ में संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के कन्सास शहर में संसार की सर्वप्रथम विद्युत्-ट्रामें सड़क की पटरियों पर दौड़ीं। सात-आठ वर्ष बाद इङ्गलैण्ड में भी विद्युत्-ट्रामें चलने लगीं।

आधुनिक विद्युत्-ट्रामें दो श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं। एक में बिजली ऊपर खम्भे के तार से ट्राम की विद्युत्-मोटर में आकर सड़क की पटरी से होकर वापस लौटती है, दूसरी में ऊपर के तार की आवश्यकता ही नहीं होती—सड़क की पटरियों के बीच में एक पतला खाँचा (सड़क में) बना रहता है। इसी खाँचे के अन्दर दो तार, एक धनात्मक बिजली का तथा दूसरा ऋणात्मक बिजली का, रहते हैं। पावर-हाउस से बिजली इन तारों में आती रहती है। ट्राम के पेंदे में से एक खटका इसी खाँचे में जाता है। इस खटके में ताँबे की दो पत्तियाँ लगी रहती हैं, जो एक दूसरे से खंड द्वारा अलग की गयी रहती हैं। ये पत्तियाँ क्रम से धनात्मक तथा ऋणात्मक तार के स्पर्श में रहती हैं। अतः एक पत्ती में से होकर बिजली की करेन्ट ट्राम की विद्युत्-मोटर में प्रवेश करती है और दूसरी से बाहर निकलती है। लन्दन के भीतरी भाग में, जहाँ सड़कों पर भीड़ अधिक रहती है, इस द्वितीय श्रेणी की ही ट्रामें चलती हैं। वहाँ सड़क पर खम्भे और तार लगाने की आवश्यकता नहीं होती। उपर्युक्त खाँचे की चौड़ाई लगभग पौन इंच होती है, अतः सड़क पर इस खाँचे के कारण अन्य सवारियों के आने-जाने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती।

आरम्भ में एक श्रेणी की ट्राम दूसरी श्रेणी की ट्राम की सड़कों पर नहीं चल सकती थी, इस कारण लोगों को कष्ट उठाकर एक ट्राम से उतरकर दूसरी पर आना पड़ता था।
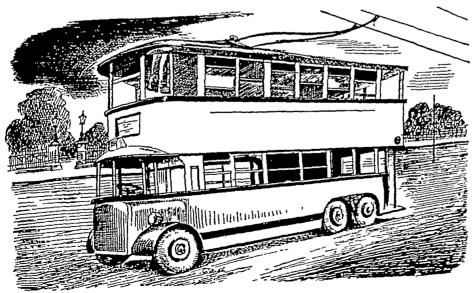
ट्राम-गाड़ियों का नवीनतम परिष्कृत रूप—ट्राली-बस

ट्रामों की तरह ये बसें भी सिर पर के बिजली के तारों से अपनी सचालन-शक्ति ग्रहण करती हैं, पर इनमें सड़क की पटरियों का झमेला नहीं होता।

इससे देर होती थी और असुविधा भी। अब योरप में इस ढंग की ट्रामें बनायी जाती हैं कि एक श्रेणी की ट्राम आसानी से दूसरी श्रेणी की ट्राम में परिवर्त्तित की जा सके।

विद्युत्-ट्राम में दो विद्युत्-मोटर लगे रहते हैं। प्रत्येक जोड़े पहिये के लिए एक-एक विद्युत्-मोटर शक्ति प्रदान करता है। प्रत्येक मोटर ३५ अश्वबल का होता है। पहाड़ी स्थानों पर उँचाई पर चढने के लिए ट्राम मे चार विद्युत्-मोटर लगाये जाते हैं। ड्राइवर इन विद्युत्-मोटरों का परिचालन एक हैण्डल द्वारा करता है। हैण्डल को खिसकाने के लिए कई दाँत बने रहते हैं, जिससे हैण्डल थोड़ा रुक-रुककर खिसकता है। यह सावधानी इसलिये बरती जाती है कि विद्युत्-मोटर में अचानक ही अत्यधिक मात्रा में विद्युत्-करेंट न पहुँच जाय, अन्यथा मोटर के तार जल सकते हैं। दूसरे एक हैंडल द्वारा ड्राइवर ट्राम को उलटी तरफ चला सकता है। ट्राम की मोटर के लिये ४४० वोल्ट की बिजली की आवश्यकता होती है। पावर हाउस से धरती के अन्दर केबुल तार में से होकर ४४० वोल्ट की बिजली आती है। सड़क पर प्रत्येक आध मील की दूरी पर केबुल से बिजली खम्भे के तार में प्रविष्ट करायी जाती है। यहाँ पर स्विच भी लगा दिया जाता है। यदि सड़क पर तार में कोई ख़राबी आ गयी है तो मरम्मत के लिए स्विच बन्द कर देने पर केवल आध मील तक के तार में से बिजली चली जाती है। शेष स्थानों पर तार में बिजली प्रवाहित होती रहती है, अतः वहाँ पर ट्रामों का आना-जाना नहीं रुकता। खम्भे के तार से विद्युत्-मोटर में बिजली का प्रवेश ट्राम की छत पर लगी हुई एक लग्गी द्वारा होता है। लग्गी के सिरे पर धातु की एक गराड़ी लगी होती है। इस गराड़ी का सम्बन्ध ताँबे के तार से होता है, जो लग्गी की नली के भीतर से होकर नीचे जाता है और उसका दूसरा सिरा विद्युत्-मोटरों के तार से जुड़ा होता है।

स्वयं ट्राम-गाड़ियों के निर्माण में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। दो मञ्ज़िल की ट्राम-गाड़ियाँ बबई में देखी जा सकती हैं। लगभग ६४ व्यक्तियों के बैठने की जगह ऐसी ट्रामों में होती है। ट्राम-गाड़ियों की खटखट और हिलना-डुलना रोकने का भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। पहिये की धुरी और ट्राम की बॉडी के बीच रबड़ की गद्दियाँ डालकर ट्राम के झटके को कम किया जा सका है। ये गद्दियाँ इस ढग से फिट की गई हैं कि जब ट्राम मोड़ पर घूमती है तो गद्दियाँ दाहिने-बाँये एक के ऊपर दूसरी खिसक जाती हैं और ट्राम की बॉडी को झटका नहीं पहुँचने पाता। जिस वक्त तेज़ चलती हुई ट्राम को ड्राइवर ब्रेक लगा कर रोकता है, ये रबड़ की गद्दियाँ आगे-पीछे को एक दूसरे के ऊपर सरक जाती हैं। अतः इस बार भी ट्राम की बॉडी को विशेष झटका नहीं पहुँचने पाता।

प्रत्येक ट्राम में बिजली की बैटरी भी रखी होती है, जिसका सम्बन्ध ट्राम के ब्रेक-यत्र से रहता है। यदि ढाल पर ट्राम तेज़ी से जा रही है और अचानक ऊपर खम्भों के तार में से किसी कारण बिजली चली गयी तो ऐसी दशा में इस बैटरी की शक्ति की मदद से ड्राइवर ब्रेक लगाकर ट्राम को रोक सकता है।

ठण्डे देशों में ट्राम को गर्म रखने का भी प्रबन्ध रहता है। भीड़ के समय ट्राम के अन्दर एयर-कन्डिशनिङ्ग यंत्रों द्वारा ताज़ी हवा के आने-जाने का प्रबन्ध भी किया जाता है। इन यत्रों द्वारा प्रति मिनट ट्राम के अन्दर से सारी
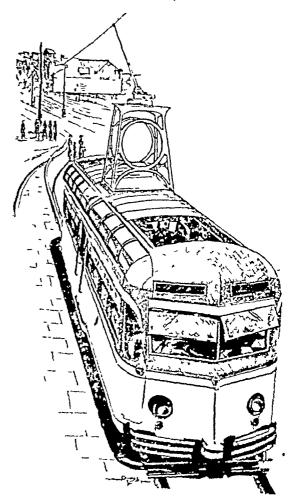
सिर पर के बिजली के तार से संचालन-शक्ति ग्रहण कर सड़क पर बिछी हुई पटरियों पर रेलगाड़ी की तरह दौड़नेवाली ट्राम-गाड़ी।

हवा निकल जाती है और उसके स्थान पर ताज़ी हवा आ जाती है।

ट्राम-गाड़ियों की फिटिंग में इञ्जीनियरों ने ऊँचे दर्जे की कार्यकुशलता दिखलाई है। उदाहरण के लिये पेंदे में ज़रा-सी जगह में विद्युत्-मोटर फिट करना होता है, जो सड़क के फर्श से दो-चार इन्च की ही ऊँचाई पर रहता है। इन्हें ऐसे केस में बन्द करना होता है कि पहियों से उछलनेवाला कीचड़ और पानी क्षति न पहुँचा सके।

ट्राम-गाड़ियों का नूतनतम परिष्कृत रूप 'ट्राली-बस' है। हम कह सकते हैं कि ट्राम के पहियों में रबड़ के टायर लगाकर तथा सड़क की पटरियों को हटाकर 'ट्रॉली-बस' बनायी गयी है। 'ट्रॉली-बस' में ट्राम के सभी गुण मौजूद हैं, किन्तु अवगुण एक भी नहीं। ट्राली-बस में ट्राम की भाँति कई मोटर नहीं लगाये जाते, केवल एक ही शक्तिशाली मोटर पेंदे में फिट करते हैं। मोटर में बिजली की करेन्ट पहुँचाने और वापस लाने के लिये ट्राली-बस के रास्ते पर ऊपर खम्भों पर दो तार लगाने पड़ते हैं—इसी कारण छत पर भी एक की जगह दो लग्गियों की आवश्यकता पड़ती है। 'ट्राली-बस' के ड्राइवर को विद्युत्-मोटर के परिचालन के अतिरिक्त मोटर के अगले पहियों को दाहिने-बाँयें घुमाने के लिये 'स्टियरिंग ह्वील' भी हाथ से सँभालना पड़ता है। अतः ट्राम-कन्डक्टर के 'हैन्डल' का प्रयोग ट्राली-बस में नहीं हो सकता। ट्रॉली-बस में विद्युत्-मोटर के परिचालन का यंत्र ड्राइवर के पैरों के पास रहता है। पैरों की मदद से ड्राइवर बस को धीमी या तेज़ गति से हाँक सकता है। मोटर-बस की तरह बगल में हैण्ड-ब्रेक भी लगा रहता है। ट्राली-बस के मोटर में ६० अश्वबल की शक्ति उत्पन्न होती है। इस विद्युत्-मोटर की शक्ति से एक शैफ्ट घूमता है। इस शैफ्ट का दूसरा सिरा पहिये की धुरी के दाँतों से सम्बद्ध रहता है। अतः शैफ्ट के घूमने से पहिये की धुरी नाचती है और पहिये तेज़ी से घूमने लगते हैं। ट्राली में दो पहिये सामने होते हैं, और चार पीछे की ओर। मोटर से शक्ति पिछले दो जोड़े पहियों को मिलती है। मोटर का शैफ्ट एक जोड़े पहिये को घुमाता है, और पहियों के इस जोड़े की धुरी द्वारा एक दूसरा शैफ्ट नाचता है, जो स्वयं सबसे पिछले पहियों को घुमाता है। ट्राली-बस की रफ़्तार ३० मील तक पहुँच सकती है।

पैरों द्वारा परिचालित होनेवाले संकुचित वायु के ब्रेक अगले तथा पिछले सभी पहियों में लगते हैं—इनके अतिरिक्त पैरों से परिचालित होनेवाले विद्युत्-ब्रेक की व्यवस्था तो रहती ही है। वायु-ब्रेक के लिये वायु को एक पीपे में कसकर उसे दबाव के साथ भरने के निमित्त विद्युत्-इंजिन का ही प्रयोग किया जाता है। यह इंजिन (मोटर) भी ट्राली के नीचे ही लगा रहता है। बस के भीतर रोशनी करने के लिये एक छोटा विद्युत्-डायनमो लगा रहता है। यह विद्युत्-डायनमो बैटरी को चार्ज करता है। यही बैटरी बल्ब में रोशनी उत्पन्न करने के लिये विद्युत्-करेन्ट भेजती है तथा आवश्यकता पड़ने पर बस के विद्युत्-ब्रेक का परिचालन भी करती है।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ ही दिनों में ट्राम-गाड़ियों का स्थान सर्वत्र ट्राली-बस ले लेंगी, क्योंकि इनके चलने में न तो शोर होता है और न झटके ही लगते हैं। सवारियों के चढ़ने-उतरने में भी आसानी होती है, क्योंकि ट्राली-बस सड़क के एक किनारे फ़ुटपाथ के बराबर लगायी जा सकती है। इन्हें पकड़ने के लिये बीच सड़क में दौड़ने की आवश्यकता नहीं। अत. ट्राली-बस के प्रयोग में स्त्रियों और बच्चों को सड़क की दुर्घटनाओं का ख़तरा नहीं उठाना पड़ता। सड़क पर जहाँ मोटरकार, ताँगे, लारियाँ और बैलगाड़ियाँ आदि चलती रहती हैं, ट्राली-बस का ड्राइवर अपनी बस को कुछ हद तक दाहिने-बायें हटा भी सकता है, किन्तु ट्राम के लिये सिवाय अपनी लीक पर चलने के या वहीं खड़े रहने के अन्य कोई चारा नहीं। ट्राली-बस में बैठनेवालों को पेट्रोल की गंध तथा पेट्रोल-इंजिन के विषाक्त धुएँ की मुसीबत का भी सामना नहीं करना पड़ता। ये ट्राली-बस भी दोमज़िली बन गयी हैं, किन्तु अनेक देशों में एकमज़िली बस ही पसन्द की जाती है, क्योंकि ऐसी बस एक बड़ी मोटरकार की भाँति सुन्दर दिखाई देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान की जादुई शक्ति द्वारा अपने आपको अधिकाधिक सुख और आराम पहुँचाने के लिए मनुष्य ने भाँति-भाँति के चमत्कारपूर्ण आविष्कार किये हैं, जिनकी न केवल संख्या ही दिन-प्रति-दिन बढ़ती चली जा रही है, प्रत्युत सुधार और परिष्कार द्वारा जिनका रूप भी, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों बदलकर, क्या से क्या होता जाता है। अगले लेख में हम रेडियो, टेलीवीजन, एक्स-रे, फोटो-एलेक्ट्रिक सेल आदि-आदि उन आविष्कारों की जानकारी आपको करायेंगे, जो इस विज्ञान-युग की सबसे बड़ी देन हैं तथा जिनके कारण इस युग को हम 'विद्युत्-युग' कह सकते हैं!

राज्य की उत्पत्ति तथा विकास

इस स्तभ के अंतर्गत विगत अनेक लेखो में अब तक हमने मनुष्य की अर्थ-व्यवस्था के उदय, विकास एवं संघटन के विषय में आपको जानकारी कराने का प्रयत्न किया है। अब प्रस्तुत तथा आगे आनेवाले कई एक लेखो में उसकी राजनीतिक व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप के सबध में आवश्यक ज्ञान-सामग्री हम प्रस्तुत करने जा रहे हैं। आइए, पहले राज्य-संस्था के उद्भव एवं उसके क्रमिक विकास की रोचक कहानी आपको सुनाएँ।

राज्य की परिभाषा

वैसे तो दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों, अन्तर्राष्ट्रीय विधान-वेत्ताओं, न्यायशास्त्रियों आदि ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य की नाना प्रकार की परिभाषायें की हैं, किंतु सीधे-साधे शब्दों में हम सुप्रसिद्ध जर्मन राजनीतिशास्त्र-वेत्ता ब्लशली की परिभाषा को दुहराते हुए एक वाक्य में कह सकते हैं कि 'किसी भूमि विशेष की राजनीतिक दृष्टि से सुसघटित जनता का नाम ही राज्य है।' इस विचार को अधिक स्पष्ट रूप से आधुनिक राजनीतिक तत्त्ववेत्ता श्री गार्नर के शब्दों में यों कहा जा सकता है कि 'राज्य पर्याप्त सख्यावाला वह मानव-समुदाय है, जो स्वतंत्र रूप से अथवा वाहरी नियत्रण से मुक्त रूप में किसी ऐसे निश्चित भूभाग पर स्थाई रूप से वास करता हो, जिसमें एक सुसघटित शासनतत्र (सरकार) हो जिसकी आज्ञा का पालन स्वाभाविक रूप से निवासियों की महती सख्या करती हो।'* इस प्रकार जनसख्या, भूभाग, सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty) और नागरिकों की आस्था से सम्पन्न शासन ये राज्य की चार अभिन्न विशेषताएँ मानी जाती हैं।

* The state is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independently, or nearly so, of external control and possessing an organised government to which the great body of inhabitants render habitual obedience.

—J. W Garner—"Political Science and Government"

बहुधा लोग राज्य और सरकार (शासनतत्र) का एक ही अर्थ में प्रयोग करते पाये जाते हैं। किन्तु राज्य और सरकार में वही अन्तर है जो किसी व्यापारिक कम्पनी और उसके सचालक-मडल में होता है। सरकार समाज का केवल वही अग है जो वास्तविक शासन से सम्बन्ध रखता है, जब कि राज्य के अन्तर्गत शासक और शासित दोनों ही आते हैं। राज्य एक विशेष भूभाग से सम्बन्धित होता है और उसकी सत्ता का लोप साधारणत: दूसरे राज्य द्वारा विजित हो जाने अथवा उसके साथ स्वेच्छापूर्वक मिल जाने पर ही होता है, जबकि सरकार किसी चुने हुए व्यक्ति, राजनीतिक दल अथवा राजवश की होती है और वदलती रहती है।

अराजक युग

आज तो प्रत्येक सभ्य व्यक्ति किसी न किसी राज्य का नागरिक है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह गृहस्थ हो अथवा सन्यासी, चाहे वह राज्य के कार्यों में रुचि लेता हो या नहीं, राज्य की नागरिकता उसे स्वीकार करनी पड़ती है। विशेष अवस्था में नागरिकता के कुछ अधिकार भले ही वह खो दे, किन्तु सम्पूर्ण नागरिकता से वह वचित नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति एक राज्य की नागरिकता का त्याग भी उसी अवस्था में कर सकता है, जब कि वह दूसरे राज्य का नागरिक वन गया हो। राज्य और व्यक्ति के वर्त्तमान संबंध को देखते हुए यह कल्पना करना कठिन है कि मनुष्य कभी राज्य के विना भी अपना काम चला सकता होगा। किन्तु मानव समाज का इतिहास हमें वतलाता है कि न जाने कितने सहस्राब्द ऐसे ही व्यतीत हो गये जब कि मानव विना राज्य-सघटन के ही अपना काम चलता रहा है।

राज्य और उसके साथ राजनीतिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति मानव समाज के विकास की एक विशेष मंज़िल में होता है। आदिम मानव समाज ऐसे छोटे-छोटे कबीलों अथवा उनके समूहों में रहता था, जो प्रायः एक ही पूर्वज के वंशज थे अथवा अपने को एक ही पूर्वज के वंशज समझते थे। फल-मूल का संग्रह तथा शिकार ही उनकी जीविका का मुख्य साधन होता था। ख़ानाबदोशी की इस हालत में आज के मानव के पूर्वजों को अपने समूह में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिये और अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिये किसी घोषित क़ानून, शासक, पुलिस, जेल और न्यायाधीश की आवश्यकता न थी। आदिम मानव-समूहों के सदस्य सहज स्वभाव से प्रेरित होकर स्वत. अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। समूह की परम्परा ही उनका क़ानून थी! समूह के जनमत की निन्दा और उसके बहिष्कार का भय ही उनके लिए न्यायालय और दण्ड-विभाग का काम करता था। समाज की इसी अवस्था के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है:—

न राज्य न च राजाऽऽसीन्न न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

(अर्थात् न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दण्ड देनेवाला था। धर्म द्वारा अर्थात् परम्परागत प्रथाओं का पालन करते हुए प्रजा परस्पर स्वयं अपनी रक्षा करती थी।)

राज्य की उत्पत्ति

इस आरम्भिक समाज में, जिसमें समुदाय के लोग अपने को एक ही पूर्वज की सन्तान समझते हैं, जिसमें जीविका के मुख्य साधन—जंगल – पर सामूहिक अधिकार ही संभव है, व्यक्तिगत संपत्ति नाममात्र की है और श्रम-विभाजन अपनी बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में ही है। तब मनुष्य बिना राज्य-संस्था के अपना काम चला लेता था। किंतु फल-मूल-संग्रह और आखेट की अवस्था को पारकर जब मनुष्य पशुपालन और खेती का सहारा लेता है, ख़ानाबदोशी की हालत छोड़कर जब वह प्रदेश विशेष में जमकर रहने लगता है, जब खेती और पशुपालन के फलस्वरूप ग्रामवासियों में विभिन्न पेशे चल निकलते हैं और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के साथ-साथ समाज में आर्थिक विषमता का आविर्भाव होता है, तब प्राचीन राजनीतिक संस्थायें, प्राचीन परम्परा अथवा 'धर्म', समाज की सुरक्षा और स्थिरता के लिए पर्याप्त नहीं होते। अब समाज में शांति, व्यवस्था और स्थिरता क़ायम रखने और सामूहिक हित की देखरेख के लिए एक नये संघटन की आवश्यकता होती है और फलतः राज्य का जन्म होता है। अब 'धर्म' का स्थान क़ानून और दण्ड ग्रहण करता है।

इस प्रसग में दो बातें ध्यान में रखने की हैं। एक तो यह कि जहाँ आदिम संप्रदाय या कबीला वास्तविक या कल्पित रक्त-सम्बन्ध पर आश्रित था, वहाँ नया राजनीतिक सगठन प्रादेशिक आधार पर निर्भर है। एक ही प्रदेश में अब एक नहीं वरन् अनेक वंशों के लोग रहते हैं। दूसरी बात यह कि आदिम समाज सामूहिक सपत्तिवाला होने के साथ-साथ शोषण-विहीन था। सभी व्यक्तियों को जीविका के लिए समान रूप से परिश्रम करना पड़ता था; एक व्यक्ति के लिए दूसरे के श्रम पर निर्भर रहकर गुजारा करना मुमकिन न था। पहले जहाँ कबीले आपसी युद्ध में बदी शत्रुओं को प्रायः जान से मार डालते थे, वहाँ अब उन्हें दास बनाने की प्रथा चल पड़ी और समाज अब एक ही सामाजिक हैसियत के समान सदस्यों का पुराना समुदाय न रहकर दासों और मालिकों, शासकों और शासितों, शोषकों और शोषितों का वर्गभेदयुक्त समाज बन गया।

राजनीतिक दर्शन—एक आधुनिक विज्ञान

यद्यपि राजनीतिक दर्शन का उदय राज्य की उत्पत्ति के साथ ही किसी न किसी रूप में हो जाता है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन आधुनिक युग की ही विशेषता है। योरप में उद्योगवाद और राष्ट्रीयता के उदय से पूर्व, आज से कुछ शताब्दी पहले तक, संसार के विद्वानों और विचारकों का ध्यान धार्मिक एव आध्यात्मिक प्रश्नों की ओर अधिक था। आत्मा और परमात्मा के सबध में अतिम सत्य का शोध लगाने में ही वे अधिक व्यस्त थे। सांसारिक जीवन पारलौकिक जीवन अथवा मोक्ष की तैयारी का साधन मात्र माना जाता था। अत. यदि राज्य शान्ति और व्यवस्था का कार्य सपन्न करता था तो उन्हें उसके स्वरूप, उद्देश्य, औचित्य और कार्यक्षेत्र आदि के विवेचन की कोई विशेष आवश्यकता न जान पड़ती थी। साधारण जनता की अशिक्षा भी इस उदासीनता का एक कारण कहा जा सकता है।

* राजनीति-विज्ञान को दो मुख्य भागों में बाँटा जाता है—(१) व्यावहारिक राजनीति-विज्ञान, जिसमें शासन-प्रणाली कैसे चलायी जाय, विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ का क्या रूप हो, इन व्यावहारिक समस्याओं की व्याख्या की जाती है, और (२) राजनीतिक दर्शन अथवा तत्वज्ञान, जो राज्य की प्रकृति, उद्देश्य, आदर्श आदि मूल सिद्धान्तो का विवेचन करता है।

विद्वान् और विचारक प्रायः उच्च सामाजिक वर्गों के लोग होते थे और आर्थिक असतोष के प्रत्यक्ष शिकार न होने के कारण राजनीतिक प्रयोगों और परिवर्त्तनों की आवश्यकता सभवतः उन्हें अधिक नहीं अनुभव होती थी।

किन्तु, इस स्थिति का सबसे बड़ा कारण सभवतः प्राचीन समाज—दासता-युग तथा सामन्तवादी युग—की आर्थिक रचना का दीर्घकाल तक व्याप्त रहनेवाला अपना अनूठा सन्तुलन (equilibrium) था। समाज जन्म एव व्यवसाय पर आश्रित ऐसी विभिन्न श्रेणियों में बँटा था, जिनके अधिकारों, कर्त्तव्यों और सुविधाओं में विषमता तो थी, किंतु यह विषमता आज की भाँति समाज को जड़मूल से हिला देनेवाली, उसके संतुलन को झकझोर देनेवाली नहीं थी। जनसंख्या का अधिकाश भाग ग्रामों में वास करता था और अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति स्वय कर लेता था। पचायतें ग्रामों का प्रबन्ध करती थीं और उनके द्वारा हल न हो सकनेवाले प्रश्न ही राजा या उसके प्रतिनिधि के सामने आते थे। जब तक अकाल या महामारी का प्रकोप न हो, कोई बेकारी या भुखमरी का शिकार नहीं होता था। चोरों-लुटेरों को दण्ड देकर तथा बाहर के आक्रमणकारी का मुक़ाबला करके शान्ति बनाये रखने के अतिरिक्त राज्य को जनता के दैनिक जीवन में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता बहुत कम ही पड़ती थी। दो राजाओं के बीच होनेवाला युद्ध भी ग्रामीण जनता की दिनचर्या में विशेष बाधा नहीं डालता था।

सामन्तयुगीन आत्मनिर्भर ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था के अन्त और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के विकास के साथ आर्थिक एव सामाजिक समस्याएँ उत्तरोत्तर इतनी जटिल होती गयीं कि अब राज्य का पूर्ववत् तटस्थ रहना सम्भव नहीं रह गया। यातायात के प्रबन्ध, मुद्रा तथा तट-कर के नियन्त्रण, आर्थिक सकट, बेकारी, मज़दूरों के शोषण और वर्गयुद्ध की रोकथाम तथा अन्य अनेक समस्याओं के कारण राज्य को समाज के आर्थिक जीवन में अधिकाधिक हस्तक्षेप करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। पहले युद्ध का अर्थ प्रायः थोड़े-बहुत रक्तपात के साथ राजसिंहासन का हस्तान्तरण ही होता था। आज तो युद्ध के साथ मुद्रास्फीति, चोरबाजारी, सचय और मुनाफाख़ोरी आदि की ऐसी विकट समस्याएँ आ खड़ी होती हैं, जिन्हें सरलतापूर्वक नहीं हल किया जा सकता और जो राज्य के प्रयत्न के बिना हल भी नहीं हो सकतीं। अत. यह स्वाभाविक ही था कि सामन्तयुगीन आत्मसामञ्जस्यशील अर्थप्रणाली के विनाश और पूँजीवादी प्रणाली के विकास के साथ सामाजिक समस्याओं की जटिलता नई परिस्थितियों में राज्य के रूप, आदर्श एव कार्यक्षेत्र में परिवर्त्तन की माँग करती और राजनीतिक विचारकों का ध्यान सैद्धान्तिक राजनीति के विवेचन और उसे स्वतंत्र विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता की ओर जाता।

राजनीति-विज्ञान और यूनान

सैद्धान्तिक राजनीति के विवेचन की ओर से अपेक्षाकृत उदासीनता का प्राचीन काल में एकमात्र अपवाद यूनान देश ही मिलता है। इसी कारण प्राचीन यूनान राजनीति-विज्ञान का आदिस्रोत समझा जाता है और यूनानी विद्वान् अफ़लातून (प्लेटो) और अरस्तू इसके आदि जनक माने जाते हैं। निस्सन्देह हमारे देश में मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, विदुर, भीष्म आदि मनीषियों ने इससे भी पूर्व राजशास्त्र के ज्ञान का प्रतिपादन किया, किन्तु एक तो सैद्धान्तिक राजनीति नहीं वरन् व्यावहारिक राजनीति की व्याख्या ही उन्होंने प्रधान रूप से की है, दूसरे उन्होंने राजनीति का यह विवेचन भी स्वतत्र विज्ञान के रूप में न करके धर्मशास्त्र के अग के रूप में किया है। ज्ञान के इस क्षेत्र में यूनान के सार्वभौमिक विकास के अपवाद होने का कारण भी पुनः यही जान पड़ता है कि जहाँ ससार के दूसरे भागों में दीर्घव्यापी काल तक कृषिप्रधान स्थिर सभ्यता की प्रबलता रही, वहाँ भूमध्य सागर के देशों की विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण प्राचीन यूनान में दूसरे देशों की अपेक्षा अपेक्षाकृत आरभावस्था में ही व्यापारप्रधान सभ्यता के विकसित होने से वहाँ के निवासियों को उसी प्रकार की समस्याओं का सामना बहुत पहले करना पड़ा, जो दूसरे देशों के निवासियों के सामने पूँजीवाद के उदय होने पर ही आयीं।

औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

स्वतंत्र विज्ञान के रूप में राजनीति का अध्ययन प्राचीन यूनान में आरंभ हुआ, किन्तु उसका वास्तविक विकास आधुनिक काल में मुख्यतः पश्चिमी योरप में हुआ। व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्राति के आरंभ तथा राष्ट्रीयता के आविर्भाव तक रोम में प्राचीन सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था की जड़ें खोखली हो चुकी थीं। नई आर्थिक शक्तियों और वर्ग-सम्बन्धों ने राजा और प्रजा के परम्परागत सम्बन्ध को बदलकर समाज में क्रांति मचा दी। धर्म के नाम पर योरप में जो रक्तपात हुआ और पादरी लोग जिस प्रकार सामन्तों का साथ दे रहे थे उससे भी लोग ऊब गये। उन्हें

अब यह सह्य न था कि धर्म राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव डाले। धर्म की प्रेरणात्मक शक्ति का स्थान अब राष्ट्रीयता ने लिया और उसने लोगों का ध्यान राजदरबारों से हटाकर जनता के जीवन, भाषा और कला की ओर लगाया। फलस्वरूप जो बौद्धिक पुनर्जागरण हुआ और प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण खोजने के स्थान पर प्रत्येक विषय में जो वैज्ञानिक छानबीन आरम्भ हुई, उसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी स्वभावतः पड़ा।

पूँजीवादी व्यवस्था के संसारव्यापी रूप धारण करने, उसके विकास और ह्रास के विविध उतार-चढाव तथा नई सामाजिक व्यवस्थाओं के आविर्भाव के साथ-साथ नये-नये राजनीतिक आदर्शों का जैसा विकट संघर्ष आज छिड़ा हुआ है वैसा पहले किसी युग में नहीं छिड़ा था। संसारव्यापी युद्धों और सामाजिक क्रान्तियों ने राजनीति के क्षेत्र में जनसाधारण का प्रवेश सुलभ कर दिया है। राजनीति अब केवल मुट्ठी भर कूटनीतिज्ञों, सेनापतियों अथवा विचारकों के दाँवपेंच खेलने का सुरक्षित अखाड़ा नहीं रह सकती। जनता आज राजनीतिक रंगमंच का सूत्रधार बनकर अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करने को उत्सुक है। इस संक्रांति-काल में राजनीतिक तत्त्वज्ञान के विकास का अध्ययन निस्सन्देह परम उपयोगी है। अतीत के प्रयत्नों का सम्यक् अध्ययन ही सुदृढ भविष्य के निर्माण की भूमिका है।

राजनीतिक दर्शन का विषय

राजनीतिक दर्शन अथवा तत्वशास्त्र राजनीतिक संगठन के मूलभूत सिद्धांतों का विवेचन करता है। इस प्रसंग में वह इन प्रश्नों की मीमांसा करता है कि राजनीतिक सत्ता का स्रोत क्या है? राज्यसत्ता का क्षेत्र और उसकी सीमा क्या है? व्यक्ति अथवा समूह के क्या अधिकार हैं? राज्य की आज्ञाओं का पालन करने के लिए कोई व्यक्ति किस सीमा तक बाध्य किया जाना चाहिए? राज्य सर्वशक्तिमान है अथवा व्यक्तियों के कुछ मौलिक अधिकार हैं? सम्पत्ति का राज्य की दृष्टि में क्या मूल्य है? व्यक्तियों की समानता का सिद्धांत किस अंश तक स्वीकार किया जा सकता है? समाज के दूसरे संगठनों में और राज्य में क्या सम्बन्ध है? यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो तीन मुख्य प्रश्नों के अन्तर्गत दूसरे सभी प्रश्न आ जाते हैं। ये हैं—राज्य का उद्देश्य, राज्य का स्वरूप तथा उसका कार्यक्षेत्र; अर्थात् मानव जीवन का उद्देश्य क्या है और राज्य कहाँ तक उसकी सिद्धि में सहायक हो सकता है, मानव जीवन के विविध अंगों में राज्य का हस्तक्षेप अथवा नियंत्रण कहाँ तक होना चाहिए और किस प्रकार की राज्य-व्यवस्था व्यक्ति तथा समाज दोनों के हितों की दृष्टि से सर्वाधिक श्रेयस्कर है? विभिन्न युगों के विचारकों ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों तथा अपने युग की परिस्थिति के अनुसार इन प्रश्नों के भिन्न उत्तर दिए हैं। एक युग के विचारकों को जो प्रश्न बड़े महत्व का जान पड़ा है वह दूसरे युग के विचारकों के लिए गौण हो गया है और इसी प्रकार एक समय गौण समझा जानेवाला प्रश्न दूसरे काल के लिए महत्वपूर्ण हो उठा है। इन प्रश्नों और उनके उत्तरों के वास्तविक महत्व एवं उपयोगिता को समझने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के ऐतिहासिक विकास का संक्षिप्त सिंहावलोकन कर लिया जाय।

पौर राज्य या जनपद

जिस प्रकार निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि आदिम मानव ने संसार के किस विशिष्ट भूभाग में जन्म लिया, उसी प्रकार प्रथम राज्य की उत्पत्ति का भी कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक उल्लेख नहीं है। निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जब खानाबदोश शिकारी तथा पशु-पालन की अवस्था से आगे बढ़कर कृषक के रूप में मनुष्य एक स्थान में जमकर रहने लगा; सींग और पत्थर के औज़ारों की अवस्था को पारकर जब वह धातु के—विशेष कर ताँबा, पीतल और लोहे के—औज़ारों और हथियारों से काम लेने लगा; जब वह हल या बैल या बैल के बजाय दूसरे पशुओं के सहारे खेती करने लगा; जब समाज में कार्यविभाजन बढा, खेती से पृथक् कारीगरी का विकास हुआ और वस्तु-विनिमय होने लगा, उस समय राज्य-संस्था का आविर्भाव हुआ। निश्चय ही सबसे पहले यह संसार के उन भूभागों में हुआ होगा, जो सभ्यता के आदि जनक समझे जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि आरम्भिक राज्य का जन्म मेसोपोटेमिया में (जिसका आधुनिक नाम इराक है) दजला और फरात नदियों की घाटी में सुमेर, अक्काद और एलाम के 'नगरों' में आज से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व हुआ।

यह आरम्भिक राज्य कुछ गाँवों का एक समूह मात्र है, जो एक साधारण नगर या कस्बे को केन्द्र बनाकर बसे हुए हैं और जिनका क्षेत्रफल कुछ ही वर्गमील है। यह आज की किसी म्युनिसिपैलिटी से अधिक विस्तृत नहीं है। इस राज्य का मुख्य कार्य अपनी सीमा के भीतर केवल आन्तरिक शान्ति बनाये रखना तथा बाह्य आक्रमण से उसे सुरक्षित रखना है। ग्राम और नगर की पंचायतें अपने

क्षेत्र के भीतर उत्पादन, व्यापार, स्वास्थ्य, सफाई आदि के सचालन तथा प्रवन्ध-सम्बन्धी आवश्यक कार्य खुद करती हैं। राजा शासक होने के अतिरिक्त पुरोहित भी है और कभी-कभी वैद्य भी। समाज की मुख्य जीविका खेती है। यद्यपि सम्पत्ति की विषमता आरम्भ हो गई है और धनी और गरीब किसानों के वर्ग बन गये हैं, किन्तु गाँव की समूची जमीन पर अब भी अधिकार व्यक्ति का न होकर गाँव की पचायत का है, जो समय-समय पर ग्रामवासियों के आवश्यकतानुसार परिवारों के बीच ज़मीन का फिर से बँटवारा भी करती है। भूमि पर राजा का स्वामित्व नहीं है, वह अभी केवल नृपति है, भूपति नहीं। जनपद के परम्परागत आचार की रक्षा के लिए और आन्तरिक कलह एव वाह्य आक्रमणों से प्रजा की रक्षा के लिए उसे पैदावार का एक अश लगान के रूप में मिलता है। राज्य-कार्य के सचालन के लिए सभा तथा समिति हैं और सभा में सभी परिवारों के कुलपति भाग लेते हैं। धनी और ग़रीब का भेद होने पर भी सभी परिवारों के सदस्यों के एक से नागरिक अधिकार हैं। दासवर्ग अवश्य नागरिक अधिकारों से वंचित है—वह विजेताओं की सम्पत्ति समझा जाता है, उनका सेवक है। इनमें राजा का चुनाव समिति की इच्छा से होता है और राजा द्वारा कर्त्तव्य का पालन न होने पर समिति को उसे पदच्युत करने का अधिकार है।

अधिकाधिक भूमिकर तथा दासों की लूट की इच्छा से प्रेरित राजाओं की रणलिप्सा तथा जनसख्या की वृद्धि होने पर युद्ध द्वारा नई भूमि प्राप्त करके जीविका की समस्या हल करने के उद्देश्य से किये जानेवाले ख़ानाबदोश जातियों के धावों ने इन आरम्भिक राज्यों के अस्तित्व को शीघ्र ही समाप्त कर दिया और इनका स्थान सामन्तकालीन महाजनपद तथा साम्राज्य लेने लगे।

इस प्रसग में पुन. यह बात ध्यान में रखने की है कि जब हम आरम्भिक जनपद, पुर-राज्य या नगर-राज्य की बात कहते हैं तो हमारा अर्थ कदापि उस प्रकार के नगरों से नहीं है जो आगे चलकर व्यापार-वाणिज्य तथा कला-कौशल के केन्द्रों के रूप में हमें मिलते हैं। इस आरम्भिक काल के नगरों अथवा पुरों तथा ग्रामों में थोड़ा ही अन्तर था। ग्राम खेती तथा पशुपालन की आर्थिक इकाई थे। इन पुरों में इस आर्थिक इकाई के साथ ही एक शासकीय इकाई भी जुड़ गई थी। कई ग्रामों के बीच के भाग में एक स्थान पर राजा और उसके दरबारी और कुछ कारीगर तथा व्यापारी भी रहने लगे थे। चूँकि ये पौर राज्य या आरम्भिक जनपद वास्तव में ग्राम-समूह ही थे, और इनका अस्तित्व भी थोड़े समय तक ही रह सका, इसलिए अधिकांश राज्यशास्त्रियों ने राज्य के क्रम-विकास का वर्णन करते हुए उसका श्रीगणेश नगर-राज्य से न करके "पौर्वात्य साम्राज्य" (Oriental Empire) से किया है। किन्तु अधिक तर्कसगत यही जान पड़ता है कि साम्राज्यों से पहले छोटी बस्तियोंवाले पौर अथवा नगर-राज्यों की सत्ता मानी जाय।

यूनान के नगर-राज्य

इस प्रकार के नगर-राज्यों को उन स्थानों पर भली-भाँति फलने-फूलने और पनपने का मौक़ा मिल सका, जहाँ भौगोलिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि आसपास प्राय. समान शक्तिवाले राज्य बस गये, किसी पड़ोसी राज्य ने शक्तिशाली होकर दूसरों को शीघ्र आत्मसात् नहीं कर लिया और साथ ही ख़ानाबदोश जातियों के आक्रमणों से भी वे सुरक्षित रह सके। इस प्रकार की अनुकूल भौगोलिक स्थिति का सर्वोत्तम उदाहरण यूरोप और एशिया महाद्वीप के बीच में सेतु का काम करनेवाले भूमध्यसागर-स्थित यूनान में मिलता है। यूनान आयोनियन, ऐड्रियाटिक और ईजियन समुद्रों के बीच अनेक छोटी-छोटी पहाड़ियों और द्वीपों में बसा हुआ है। चारों ओर पहाड़ियों और समुद्र से घिरे होने के कारण इन द्वीपवासियों की सुरक्षा की ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था हो गई थी कि वे अपनी स्वतंत्रता बहुत दिनों तक क़ायम रख सके। समुद्रवासी होने के कारण यूनानवालों ने व्यापार-वाणिज्य में भी उन्नति की और अपने देश को समृद्ध बनाया। इस स्वतन्त्रता एव समृद्धि के काल में राज्य-शासन के सम्बन्ध में उन लोगों को अनेक प्रकार के प्रयोग करने का भी अवसर मिला। अपनी अनुभव-प्रचुरता और अध्ययन की गम्भीरता के कारण यूनान के राजनीतिक विचारकों को राजनीतिक दर्शन के जगद्गुरु कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी इस स्थिति को देखते हुए, राज्यशास्त्रियों ने राज्य के विकास का वर्णन करते हुए प्राय: उनका एक पृथक् वर्ग ही माना है।

बुद्धकालीन भारतीय गणराज्य

भारतवर्ष में इस प्रकार के आरम्भिक जनपदों के अस्तित्व का उल्लेख यूनान के नगर-राज्यों के लुप्त हो जाने के बाद भी पाया जाता है। महात्मा बुद्ध के काल में बिहार में विदेहों, लिच्छिवियों, मल्लों और नैपाल की तराई के जिन दूसरे 'गणराज्यों' का उल्लेख है, वे इस प्रकार के जनपद राज्य अथवा उसके कुछ विकसित रूप हैं। वज्जियों के संघराज्य में ७००७ राजाओं

मिलता है। ये राजा अपने-अपने क्षेत्रों के स्वतंत्र शासक थे और उनकी अपनी सेना, सेनापति, उपराजा आदि होते थे। राजाओं के साथ इनमे रानियों का भी अभिषेक होता था। चूँकि ये अन्य आर्य राज्यों की भाँति निरंकुश राज्यतंत्र में विश्वास नहीं करते थे, सम्भवतः इसी कारण इन्हें मनुस्मृति ने 'व्रात्य' कहकर पुकारा है। साम्राज्य में विश्वास करनेवाले महाजनपदों से घिरे रहने पर भी ये छोटे जनपद इतने दिनों तक अपना अस्तित्व बनाये रखने में इसलिए सफल हो सके कि जहाँ यूनानी नगर-राज्य बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए संघबद्ध न हो सके, वहाँ इन्होंने अपने संघराज्य बना रखे थे। वज्जियों के ७००७ राजाओं का तो अपना संघ था ही, इसके अलावा वज्जियों और विदेहों ने भी मिलकर अपना संघराज्य बना रखा था, जिसकी राजधानी वैशाली थी। किन्तु बाहरी आक्रमणों से रक्षा के लिए इस प्रकार संघबद्ध होते हुए भी ये छोटे-छोटे राज्य आपस में बहुत लड़ा करते थे। इनके इस आपसी हिंसा और कलह को शान्त करने के लिए ही, सम्भवतः, इन राज्यों में अहिंसा के दो महान् साधकों, वर्द्धमान महावीर और सिद्धार्थ गौतम बुद्ध, का जन्म हुआ।

आगे चलकर मध्यकालीन यूरोप में भी हम कुछ नगर-राज्यों को स्थापित होते देखते हैं—जर्मनी के कुछ नगरों ने तो 'हासियाटिक लीग' (Hanseatic League) नामक अपना संघ भी क़ायम कर लिया था—किन्तु ये इन आरम्भिक राज्यों से भिन्न थे। ये कुछ विकसित नगरों के व्यवसायियों द्वारा, सुदृढ़ केन्द्रीभूत राज्यसत्ता के अभाव में, अपने को सामन्ती लूट-खसोट और हस्तक्षेप से बचाने के प्रयत्न थे और सुदृढ़ केन्द्रीय राज्यों की स्थापना के साथ ही वे समाप्त हो गये।

महाजनपद एवं प्राचीन साम्राज्य

पौर राज्य अथवा जनपदों के पश्चात् सामन्तवादी राज्य, महाजनपद एवं प्राचीन साम्राज्यों का युग आता है। इस युग को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) प्राचीन काल के आरम्भिक साम्राज्य, और (२) मध्यकालीन केन्द्रीय साम्राज्य। जिस प्रकार पड़ोस में बसे हुए विभिन्न कबीलों ने एक भूभाग को आधार मानकर जनपदों में रहना सीखा, उसी प्रकार ये नगर-राज्य भी आत्म-विस्तार करते हुए युद्ध एवं विजय के द्वारा उत्तरोत्तर वृहद् राज्यों एवं साम्राज्यों का रूप धारण करते गये। असीरिया, बेबिलोनिया, मिस्र आदि जिन प्रदेशों में पहले नगर-राज्य स्थापित हुए, स्वभावतः आरम्भिक साम्राज्यों का उदय भी पहले वहीं हुआ। यूनान के नगर-राज्यों का स्थान मकदूनिया (Macedonia) के साम्राज्य ने ग्रहण किया। इन आरम्भिक साम्राज्यों में पारस (ईरान) का साम्राज्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पूर्व में सिन्धु नदी के तट से आरम्भ होता हुआ यह पश्चिम में यूरोप तक और दक्षिण में उत्तरी अफ्रीका के मिस्र प्रदेश तक फैला हुआ था। किन्तु सबसे प्रभावशाली साम्राज्य रोम का था, जिसका प्रसार उत्तर में ब्रिटेन, दक्षिण में मिस्र, पश्चिम में अतलान्तक और पूर्व में बगदाद तक था। प्रथम शताब्दी के अन्त में यह दजला नदी से लेकर ब्रिटिश द्वीप-समूह तक और सहारा से लेकर राइन-डेन्यूब के तट तक फैला हुआ था। भारतीय प्रायद्वीप के क्षेत्रफल के अत्यधिक विस्तृत होने के कारण भारतीयों ने बाहरी देशों पर अधिकार करके इस प्रकार के साम्राज्य नहीं स्थापित किये, किन्तु रोम-साम्राज्य से भी पहले स्थापित होनेवाला मौर्य-साम्राज्य सीमा-विस्तार में रोम-साम्राज्य से घटकर न था। पश्चिम के दूसरे साम्राज्यों में चार्ल्स पंचम, नैपोलियन प्रथम और शार्लमान महान् के साम्राज्य और भारतस्थित साम्राज्यों में गुप्त-साम्राज्य (दूसरी शताब्दी), चोला-साम्राज्य (११ वीं शताब्दी) तुगलक-साम्राज्य (११ वीं शताब्दी), मुगल-साम्राज्य (१७ वीं शताब्दी) और मराठा-साम्राज्य (१८ वीं शताब्दी) के नाम उल्लेखनीय हैं।

मगध जनपद से मौर्य-साम्राज्य

साधारण जनपद किस प्रकार बढ़ते-बढ़ते विशाल साम्राज्य का रूप धारण कर लेता है, इसका एक उदाहरण मगध है, जिसने भारत के प्रथम बड़े साम्राज्य—मौर्य-साम्राज्य—का रूप ग्रहण किया। आरंभ में मगध एक साधारण जनपद अथवा पौर राज्य के रूप में मिलता है, जिसकी राजधानी गया है। महाभारत-काल में जरासन्ध के शासन में वह एक निरंकुश साम्राज्य बन जाता है, जिसका आधिपत्य शूरसेन (मथुरा, भरतपुर) से लेकर बंग, पुण्ड्र (पूर्णिया) और कलिङ्ग (उड़ीसा-तट) तक फैल जाता है। पांडवों और यादवों की मैत्री के फलस्वरूप जरासन्ध मार डाला जाता है और उसके अधिकांश अधीन राज्य पाण्डवों के प्रभाव में चले जाते हैं। बुद्ध के समय में हम मगध की गणना उस समय के १६ महाजनपदों में पाते हैं। उसके पड़ोस में इस समय अंग और काशी भी महाजनपदों में गिने जाते हैं। इनमें अभी सबसे शक्तिशाली राज्य काशी का ही है। अंग तथा मगध में प्रमुखता के लिए बराबर होड़ चलती है। ई० पू० ८ के अन्त में बृहद्रथ-वंश की

समाप्ति पर काशी और मगध का राजा एक हो गया और इन दोनो की राजधानी मगध के गिरिव्रज (राजगृह के पास) क़ायम हुई ।

बुद्ध के समवयस्य राजा बिम्बिसार के समय अंग मगध में मिल चुका था और काशी, मगध तथा कौशल में बँट गया जान पड़ता है। बिम्बिसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु ने वज्जिसघ के गणराज्य में फूट डालकर उसे जीत लिया। आगे चलकर सम्राट् उदयी के काल में मत्स और अवन्ति भी मगध राज्य में मिल गये और पश्चिम में उसकी सीमा जमुना नदी तक पहुँच गयी। ई० पू० ४५८ में मगध की राजगद्दी पर नन्दिवर्द्धन बैठा । वह राजधानी को राजगृह से हटाकर पाटलिपुत्र ले गया। उसने कलिग को भी अपने राज्य मे मिलाया। महापद्म नन्द के राजगद्दी पर बैठने के बाद कलिंग और अवन्ति के बीच गोदावरी घाटी के अश्मक राज्य पर भी मगध का अधिकार हो गया । सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में पजाब और सिन्ध पार के चार बड़े प्रदेश भी मगध-साम्राज्य में सम्मिलित हो गये। अशोक के समय तो उसकी सीमा कम्बोज से लेकर कर्णाटक तक फैल गई। रोम का विशाल साम्राज्य भी, थोड़े समय को छोड़कर, इस विस्तार को नहीं पहुँच पाया था।

प्राचीन काल में, जब कि यातायात तथा परिवहन के साधनो का आज की भाँति विकास नहीं हो पाया था, बहुत बडे साम्राज्यो की स्थिरता को बनाये रखना बडा कठिन कार्य था। जनसख्या में वृद्धि होने के साथ प्रायः पशुपालक जातियाँ कृषिजीवी प्रदेशो पर आक्रमण करती रहती थीं। साथ ही नरेशों और सम्राटों की परिवार-वृद्धि के साथ राज्य-घराने के साहसी युवक नये राज्यो की खोज मे निकला करते थे। विजित सरदार लोग भी बराबर अपने राज्य को सम्राट् के चगुल से छुड़ा लेने का स्वप्न देखते रहते थे और सम्राटो के सूबेदार तथा क्षत्रप स्वय स्वतत्र नरेश बनने की घात में लगे रहते थे। अतः आये दिन राज्यों और साम्राज्यों का हड़पा जाना तथा बँटवारा और अंग-भग होना लगा रहता था। एक साम्राज्य के टुकड़े होकर कई राज्य बन जाते थे और पड़ोस के कई अलग-अलग राज्य एक साम्राज्य में मिल जाते थे। इन साम्राज्यों में जो दूसरों की अपेक्षा अधिक दिनों तक स्थिर रह सके, वे या तो मिस्र की तरह के वे साम्राज्य थे जिनकी देखभाल एक सिरे से दूसरे सिरे तक अनुकूल प्राकृतिक जलमार्ग के होने और साथ ही सावधानतापूर्वक शिक्षित राजकर्मचारियों की प्रथा के कारण हो सकी, अथवा पारस के से वे साम्राज्य थे, जहाँ विभिन्न प्रदेशों के शासन के लिए क्षत्रप नियुक्त किये गये और सम्भावित विद्रोह के दमन के उद्देश्य से उनके साथ सेना रखी गयी। सबसे अधिक टिकाऊ रोम का साम्राज्य था, जहाँ विभिन्न प्रान्तों में प्रोकांसल (Proconsul) की नियुक्ति और सैनिक दुर्ग क़ायम किये जाने के साथ अच्छी सड़कें बनाकर गमनागमन की कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न किया गया। अधिकतर बड़े राज्यों और साम्राज्यों की स्थिति यह थी कि सम्राट् की राजधानी से निकट के राजे तो सम्राट् के ख़जाने को पूरा खिराज देते थे और उसके अनुचर सामन्त की भाँति कार्य करते थे, किन्तु दूर रहने वाले सामन्त व्यवहार रूप में स्वतंत्र नरेश की भाँति रहते थे।

युरोपीय तथा भारतीय सामन्तशाही

इस प्रसग में इस सामन्तशाही युग की युरोपीय तथा भारतीय राज्यपद्धतियों के एक विशेष अन्तर पर ध्यान देना उचित होगा। भारत के महाजनपदों एव साम्राज्यों के अन्तर्गत नगरों और ग्रामों में स्थानीय शासन का कार्य निगमों (guilds) और पचायतों के हाथ मे था। ग्राम के प्रबन्ध के मामले में पचायतें पूर्ण स्वतत्र थीं। मुखिया, पटवारी, चौकीदार आदि की नियुक्ति वे स्वय करती थीं और ये व्यक्ति सरकार के प्रति नहीं वरन् पचायत के प्रति उत्तरदायी होते थे। पुलिस, अदालत, लगानवसूली सभी कार्यों के अधिकार पचायतों को थे, वे अपनी सीमा के भीतर स्वयं सरकार का कार्य करती थीं। राज्य के अधिकारी प्रायः ग्राम के बाहर ही ठहरते थे और साधारणतया ग्राम-पचायतों के माँगने पर ही सलाह देते थे। जब तक किसी पचायतों के घोर कुप्रबन्ध की शिकायत न हो, तब तक राज्याधिकारी उसके प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करते थे। मुगल-काल में जब पचायतों के प्रबन्ध में राज्य का दखल देना आरम्भ हुआ तब भी यह केवल लगान वसूल करने तक सीमित था। गाँव के मुक़दमों का फैसला करने और भीतरी मामलों में दखल देने का रिवाज तब भी नहीं था। ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के बाद ही ग्राम-पंचायतें स्थानीय स्वशासन के अधिकारों से वचित की गयीं।

यूरोप में हम इसके विपरीत यह पाते हैं कि ग्राम-पचायतों की सत्ता लुप्तप्राय हो गई और सामन्त सरदार ही सर्वेसर्वा बन बैठे। भारतीय सामन्त जहाँ सम्राट् के नाम पर केवल कर उगाहता था और ज़मीन ग्राम की अथवा ग्रामपरिवारों की सम्पत्ति थी, वहाँ यूरोप में ग्राम की भूमि का स्वामी भी

सामन्त स्वयं बन बैठा। यूरोप में अधिकांश किसान सामन्त के असामी के रूप में ही खेती कर सकते थे। फलस्वरूप यूरोप के किसान को भारतीय किसान की अपेक्षा सामन्ती शोषण का अधिक उग्र शिकार होना पड़ा। जनसत्ताकाल तथा पितृसत्ताकाल के समाज की तुलना में इस सामन्त-युग में सर्वत्र आर्थिक विषमता बढ चली थी। समाज कई सीढीनुमा सामाजिक वर्गों (पुरोहित या ब्राह्मण, क्षत्रिय या सरदार, वैश्य तथा शूद्र अथवा कारीगर और किसान और मज़दूरवर्ग) में बँट गया था। किन्तु यूरोप मे शासकवर्ग द्वारा प्राचीन ग्रामपचायतों को जिस प्रकार अधिकारच्युत कर दिया गया था और स्वतंत्र किसानों को कृषक दास की स्थिति में ढकेल दिया गया था, वैसा अपने देश के इतिहास में नहीं मिलता।

यूरोप में सामन्तों के अधिकार के इस निरंकुश सीमा तक पहुँचने का कारण यही जान पड़ता है कि रोम-साम्राज्य के पतन के बाद से विरले क्षणिक अपवादों को छोड़कर कोई सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता नहीं रह गयी थी। दासता-प्रथा पर आश्रित रोम की आर्थिक पद्धति चौथी ईस्वी के अन्त तक भीतर से इतनी खोखली हो चली थी कि उत्तर और पूर्व से होनेवाले बर्बर जातियों के आक्रमणों के आगे वह न टिक सकी। ४१० ई० में रोम ट्यूटन लोगों के अधिकार में आ गया। आगे चलकर भी हूणों तथा दूसरी ख़ानाबदोश जातियों के धावे लगातार होते रहे। किसी दृढ केन्द्रीय सत्ता के न होने और लगातार आक्रमणों का भय रहने के कारण अपनी सुरक्षा के लिये गाँववालों ने अपनी सम्पत्ति किसी छोटे सरदार को और छोटे सरदार ने अपने से बड़े सरदार को सौंप दी और उनसे प्राप्त थाती के रूप में वे सम्पत्ति का उपभोग करते रहे। सिद्धान्त में तो कुछ गाँवों के बीच गढी बनाकर रहनेवाले छोटे सरदार और सम्राट् के बीच कई सरदारों की परम्परा थी, जो अपने से नीचे रहनेवाले शरणागत सरदार की रक्षा करते थे और बदले में उनसे भेंट और सेवाएँ पाने के अधिकारी थे; किन्तु व्यवहार रूप में ये छोटे सरदार ही यूरोप भर में छाये हुए थे। भारत में, जहाँ बाह्य आक्रमण का सकट इतना तीव्र नहीं था, सामन्तवाद का इस रूप में विकास नहीं हुआ और ग्रामों में जनपद की पिछली परम्पराएँ बहुत हद तक क़ायम रहीं—यहाँ छोटे और बड़े सरदार अपने रक्षात्मक सामर्थ्य के बदले में कृषकों से उनकी उपज का एक भाग पाने के अधिकारी तो रहे, किन्तु उनकी भूसम्पत्ति को वे उस प्रकार हड़प न सके जैसा कि योरप में हुआ।

केन्द्रीय राज्यों की स्थापना

समय बीतने के साथ यातायात के साधन बढे, व्यापार विनिमय बढ़ा और फलस्वरूप सम्राटों तथा सरदारों में विलासिता का जीवन व्यतीत करने की लालसा बढ़ी। पहले वे किसानों की खेती की उपज का एक भाग लेकर सन्तुष्ट हो जाते थे। तब विनिमय-सम्बन्ध के निर्बल होने के कारण उन्हें किसानों को सताने का लोभ नहीं था, क्योंकि धान्यागारों में अन्न का ढेर लगाने में विशेष लाभ न था। किन्तु जब उन्होंने देखा कि अधिक अन्न पास में रहने से उसके बदले में ऐश्वर्य की अनेक मूल्यवान वस्तुएँ ख़रीदी जा सकती हैं तो उन्होंने किसानों का लगान बढ़ाना शुरू किया, गाँव की ज़मीन पर भी अपना पंजा फैलाया और अपनी ज़मीन पर किसानों से वे कड़ी बेगार लेने लगे। इस बेगार की कठोरता के कारण यदि किसानों ने ज़मीन छोड़कर भागने की चेष्टा की तो सरदारों ने अपनी राजनीतिक शक्ति के द्वारा उन्हें ज़मीन से बँधे रहने के लिये मजबूर किया। इस प्रकार कृषक-दासता (serfdom) की प्रथा चली। निरीह किसान भाग्य के नाम पर सब शोषण सहता रहा। पश्चिमी यूरोप, रूस और जापान सरीखे देशों में, जहाँ विनिमय को अधिक विकसित होने का अवसर मिला, यह प्रवृत्ति विशेष तीव्र रूप में मिलती है।

जब तक विनियम और मुद्रा का विशेष प्रचलन नहीं था, सरदारों के पास सैनिकों, अंगरक्षकों तथा फालतू कर्मचारियों का एक झुण्ड पला करता था। किन्तु जब सरदारों को बाहर से आनेवाली तरह-तरह की सामग्रियों को ख़रीदकर विलासिता का जीवन बिताने का चस्का लगा तो इन सिपाहियों और कर्मचारियों की छँटनी होने लगी। इस विलासिता के चक्कर में सरदारों ने ग्रामीण जीवन की उन्नति के कामों में अपना धन लगाना बन्द कर दिया और वे पूर्णतः परोपजीवी हो गये।

इस विकास का प्रभाव बड़े नरेशों की केन्द्रीय शक्ति पर भी पड़ा। इन बडे नरेशों या सम्राटों की शक्ति लड़ाई के समय सरदारों से मिलनेवाले योद्धाओं की संख्या पर निर्भर रहती थी। उन्होंने अब भाड़े के सैनिकों की अपनी सेना बनायी और उन्हें शिक्षित किया। शिक्षण-प्राप्त वैतनिक सेना के होने का यह फल हुआ कि बड़े नरेशों के लिए सरदारों को दबाकर उन्हें अपना लगान वसूल करनेवाले अनुचर का रूप देना सरल हो गया। तोपों की ईजाद हो जाने से भी इस काम में नरेशों को मदद मिली। सरदारों को पालतू बनाने का काम छोटे नरेशों ने किया

और छोटे नरेशों को बड़े नरेशों ने अपने अधीन किया। इस प्रकार केन्द्रीय राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों की स्थापना में नरेशों को बहुत बड़ी सहायता नगरों के व्यापारी-वर्ग से मिली। छोटे-छोटे सरदारों और नरेशों के कारण व्यापारी-वर्ग को अनेक प्रकार की असुविधाओं तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। छोटे-छोटे सैकड़ों राज्यों में एक ही प्रदेश के बँटे होने से व्यापार में बड़ी बाधा पड़ती थी। क़दम-क़दम पर चुंगी अदा करनी पड़ती थी। हर राज्य के सिक्के और बॉट अलग-अलग होते थे। पग-पग पर डाकुओं और लुटेरों का ख़तरा बना रहता था। कभी-कभी निरंकुश राजकर्मचारी व्यापारी का माल इसी बिना पर जब्त कर लेते थे कि वह शत्रु-राज्य का नागरिक है। कहीं-कहीं इन व्यापारियों ने स्वतन्त्र नगर-राज्यों की स्थापना करके पारस्परिक सहयोग द्वारा सरदारों का मुक़ाबला किया। किन्तु सरदारों की शक्ति का अन्त करना अकेले उनके सामर्थ्य से परे था। स्वभावत. उन्होंने बड़े नरेशों की सहायता केन्द्रीय राज्यों की स्थापना में की। यूरोप में १६वीं और १७ वीं शती का युग केन्द्रीय राज्यों की स्थापना का काल है।

कृषक-विद्रोह

नगरों की सहायता से केन्द्रीय सत्ता द्वारा सरदारों के अनुचर बना लिये जाने से व्यापार के प्रसार के लिए अधिक सुरक्षापूर्ण वातावरण तैयार हो जाता है, किन्तु जहाँ तक ग्रामों की कृषक-जनता का सम्बन्ध है, उसके शोषण का भार हल्का नहीं होता। इस दृष्टि से उसका शोषण और भी तीव्र हो जाता है। अब उसे लगान उपज को शकल में न चुकाकर नक़द रकम के रूप में चुकाना पड़ता है। नक़द रुपये पाने के लिए उसे अपनी जिन्स बनिये के हाथ मनमाने भाव पर बेचनी पड़ती है और अपने उपयोग की वस्तुएँ दिन-प्रतिदिन मँहगे भावों में खरीदनी पड़ती हैं। सूदखोर महाजन का पंजा दिन पर दिन उसकी गर्दन पर कसता जाता है। भाग्य का अमिट लेख मानकर बेचारा किसान ज़मींदारों, राजकर्मचारियों, बनियों और महाजनों के अत्याचारों को सहता चलता है। छुटकारे का कोई मार्ग उसे नहीं सूझ पड़ता। रूसी किसानों में प्रचलित उक्ति के अनुसार वह यही सोचकर रह जाता है कि 'ज़ार (सम्राट्) की राजधानी बहुत दूर है और ईश्वर आसमान पर है, आख़िर फ़रियाद लेकर किसके पास जाएँ!' जब अन्त में उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है तो उसका असन्तोष स्वतःप्रेरित असफल कृषक-विद्रोहों के रूप में फूट पड़ता है। १३वीं शताब्दी में इटली के कृषक-विद्रोह, १४वीं शताब्दी के अन्त में इंगलैण्ड और फ्रांस के कृषक-विद्रोह, १५वीं शताब्दी में बोहेमिया के कृषक-विद्रोह, १६वीं शताब्दी में जर्मनी का सुप्रसिद्ध कृषक-युद्ध, १८वीं शताब्दी मे रूस का कृषक-युद्ध और १६वीं शताब्दी में चीन का प्रसिद्ध 'ताइपिंग-विद्रोह' इसी प्रकार के विद्रोह थे।

राष्ट्रीय राज्य

इस प्रकार जहाँ एक ओर सामन्ती सरदारों की राजनीतिक शक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर भी किसानों के शोषण मे कमी नहीं आयी, वहाँ दूसरी ओर व्यापारी-वर्ग का असन्तोष भी बढ़ता गया। सामन्त-वर्ग का दमन होने पर भी राज्य की नीति का नियन्त्रण इसी वर्ग के हाथ में था; राजदरबार में इसी का बोलबाला था। किसानों के तीव्र आर्थिक शोषण के कारण देहातों में व्यापारियों का माल भी सीमित मात्रा में ही खप पाता था। खेत-मज़दूरों के जमींदारी छोड़कर जाने पर जो बन्धन ज़मींदारों ने लगा रखे थे, उनके कारण व्यापारी-वर्ग को कारख़ानों में काम करने के लिए सुविधानुसार मज़दूर नहीं मिल पाते थे। जमींदार और पुरोहित-वर्ग राज्यकर से मुक्त-सा था और उसका भार व्यापारियों तथा किसानों पर ही पड़ता था। सामाजिक दृष्टि से भी व्यापारी-वर्ग प्रचलित व्यवस्था में अपने व्यक्तित्व के विकास को कुण्ठित होते हुए अनुभव करता था। शिक्षित एव श्रीसम्पन्न होने पर भी प्रचलित सामाजिक ढाँचे में उसे पुरोहित यथा सामन्त-वर्ग के समकक्ष सम्मान प्राप्त न था। फलतः व्यापारी-वर्ग ने सामन्तवाद के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सिद्धान्तों के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा बुलन्द किया और पददलित किसानों तथा कारीगरों को मिलाकर ज़मींदारों, पुरोहितों और राजाओं के विरुद्ध सयुक्त मोर्चा बनाया। उसने "स्वतन्त्रता, समता तथा भ्रातृ-भाव" का नारा दिया और इस विचार का प्रचार किया कि अच्छे या बुरे कर्म से ही कोई ऊँचा या नीचा माना जा सकता है, कुल से नहीं। नरेशों की निरंकुश शक्ति को चुनौती देते हुए उसने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि जब तक राज्य-सभा में प्रतिनिधित्व न प्राप्त हो, तब तक राज्य को नागरिकों के किसी भाग से कर वसूल करने का अधिकार नहीं है।

व्यवसायी वर्ग ने शिक्षा की उन्नति में भी सहयोग दिया। प्रेस के आविष्कार और शिक्षा के प्रसार के साथ यूरोपीय जनता का ध्यान यूनान और रोम की प्राचीन सभ्यता की उस

विरासत की ओर गया, जिसको वह दीर्घकाल के अज्ञानान्धकार में पड़कर भूल-सी चुकी थी। शिक्षा के प्रचार और स्वतंत्रता तथा समता के विचारों के प्रसार के परिणामस्वरूप धार्मिक सुधार की भावना ने ज़ोर पकड़ा। पुराने साम्राज्य तो मिट ही चुके थे; अब सार्वभौम मठ के प्रति भी जनता की श्रद्धा उठ चली। यातायात तथा भाषा के विकास और एक प्रकार के आर्थिक हितों की चेतना के फलस्वरूप एक भाषा, भौगोलिक सीमा तथा समान परम्परा के लोगों के भीतर समान राष्ट्रीयता की भावना का सचार हुआ। राजकीय क्षेत्र में इस चेतना ने सामन्तवर्ग की शक्ति को एकदम समाप्त कर जनतंत्र की स्थापना की माँग रखी। व्यावसायिक तथा औद्योगिक क्रांति में अगुआ रहनेवाले देशों—ब्रिटेन, हालैण्ड और फ्रांस—में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना दूसरे देशों से पहले हुई। जनता की इस भावना में कि सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty) राष्ट्र के नागरिकों में है और उनकी इच्छा के अनुसार शासनतत्र का निर्माण होना चाहिए एव सामन्त नरेशों की निरकुशता के बीच घोर सघर्ष हुआ, जिसने अनेक देशों में रक्तरजित क्रान्ति का रूप ग्रहण किया। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण फ्रांस की महान राज्यक्रान्ति है। यह संघर्ष दीर्घकाल तक चला। कहीं-कहीं व्यापारी-वर्ग ने सामन्त-वर्ग के साथ समझौता कर लिया और वह सीमित राज्यतत्र (Limited Monarchy) से सन्तुष्ट हो गया, किन्तु समय-क्रम से इन सीमित राजतत्रों को भी व्यावहारिक रूप में जनतंत्रात्मक रूप धारण करना पड़ा। आर्थिक क्षेत्र में व्यवसायी वर्ग की माँग ज़मींदार-वर्ग की शक्ति को ख़त्म करना और नये यत्रों द्वारा व्यक्तिगत व्यवसाय को राज्य की ओर से प्रोत्साहन देना तथा व्यापार के मामले में राज्य के हस्तक्षेप को रोकना था।

राष्ट्रीय राज्य और जनतत्र की स्थापना के साथ सर्वसाधारण में स्वतंत्रता, समता और भ्रातृभाव के नवीन युग की स्थापना की आशा का सचार हुआ था, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने देखा कि यह उनका भ्रम मात्र था। उत्पादन, विनिमय और वितरण पर पूँजीपतियों का एकाधिकार होने और उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर भी, साधारणतः, सम्पन्न वर्ग को ही उपलब्ध होने से नवीन राज्य में भी वास्तविक अधिकार उन्हीं के हाथों में रहा; जनता के हितों के नाम पर राज्य मुख्यतः उन्हीं के वर्गहितों का साधन करता रहा। किराया, व्याज और मुनाफे के रूप में जहाँ आर्थिक क्षेत्र में अब पूँजीपति उनका शोषण करते हैं, वहाँ पूँजीपतियों के शोषण के बावजूद अपनी कमाई का जो थोड़ा-बहुत अंश उदरपूर्त्ति के लिये जनता के पास कठिनाई से बच रहता है, शान्ति और व्यवस्था की स्थापना तथा सामाजिक सेवाओं के प्रबन्ध के नाम पर उसका भी एक बड़ा अश राज्य नाना प्रकार के ऐसे अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष करों के द्वारा छीन लेता है, जिनका भार धनिक वर्ग पर न पड़कर अन्ततोगत्वा श्रमिकों पर ही पड़ता है! उत्पादन के साधनों तथा शासन-व्यवस्था पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीपतियों का एकाधिकार होने के कारण स्वतत्रता श्रमिक जनता के लिए 'भूखों मरने की स्वतत्रता' रह जाती है। घोर आर्थिक विषमता के कारण नागरिकों की समता केवल क़ानून की पुस्तकों के भीतर रह जाती है और भ्रातृभाव का अर्थ तो पूँजीपतियों के उत्तरोत्तर सकुचित एव केन्द्रीभूत होते हुए गुट के लिए लुटेरों के बीच पाया जानेवाला भाईचारा और साधारण जनता के लिये शोषण की चक्की में समान रूप से पिसनेवाले दासों का भाईचारा रह जाता है। सामन्तवादी युग में जहाँ एक के ऊपर दूसरे कई सीढ़ीनुमा सामाजिक वर्ग थे, वहाँ अब वर्गविभेद सरल हो जाता है, पूँजीवादी और श्रमिक दो मौलिक वर्ग आमने-सामने रह जाते हैं और इनका सघर्ष उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है। उत्पादन की पद्धति व्यक्तिगत न रहकर सामूहिक हो जाती है, किन्तु उत्पादन के साधन सामूहिक न होकर व्यक्तिगत ही रहते हैं और उत्पादन समाज की आवश्यकताओं की योजना के अनुसार न होकर पूँजीपतियों के मुनाफे की दृष्टि से होता है। फलतः आर्थिक व्यवस्था में तेज़ी-मन्दी के चक्र आते रहते हैं और एक ओर जहाँ विज्ञान के नित नये आविष्कार के फलस्वरूप जनता के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने के साधन बढ़ते जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर गरीबी और बेकारी भी दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक भीषण रूप धारण करती जाती है। उत्तरोत्तर अधिकाधिक लाभ की खोज में उन्नत पूँजीवादी देशों के प्रतिनिधि आर्थिक दौड़ में पिछड़े हुए देशों के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर आधिपत्य स्थापित करते हैं, उपनिवेशों के बन्दरबाँट को लेकर महाशक्तियों मे साम्राज्यवादी युद्ध छिड़ते हैं और ऐसे विशाल पैमाने पर नर-सहार नाटक खेले जाते हैं, जैसे कि अब तक कभी भी नहीं खेले गये थे।

सामन्तवादी प्रभुत्व के विरुद्ध जिस प्रकार उदीयमान पूँजीवादी वर्ग ने जनता के अधिकारों की आवाज़ उठाई और जनतत्र का नारा बुलन्द किया, उसी प्रकार इस वर्ग

के निजी स्वार्थ उसे इस बात के लिए भी प्रेरित करते हैं कि वह व्यवसाय तथा शासन-कार्य को चलानेवाले क्लर्कों, मैनेजरों तथा अनेक प्रकार के विशेषज्ञों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए जनता को शिक्षित करे, लाभ कमाने की दृष्टि से लेखन-व्यवसाय की भी उन्नति करे और जनता के बढ़ते हुए असन्तोष को नियन्त्रण में रखने के लिए राज्य की ओर से उसकी चिकित्सा, बीमारी और बेकारी से भत्ते आदि सामाजिक सेवाओं का प्रबन्ध करे। इस प्रकार जहाँ राज्य पुराने युग में एक प्रकार से शोषक वर्ग के आधिपत्य का साधनमात्र था, उसका कार्य सुरक्षा-सम्बन्धी सेवाओं, शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करने तक ही प्रायः सीमित था, वहाँ अब राज्य की सामाजिक सेवाओं का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है और प्रभुत्वशील वर्ग के आधिपत्य एव शोषण का साधन होते हुए भी राज्य उत्तरोत्तर जनकल्याण का साधन बनता जा रहा है। जनता भी लोकतन्त्रात्मक राज्य की सुविधाओं का उपयोग करते हुए राज्य पर स्थिरस्वार्थी वर्गों के आधिपत्य का अन्त करने के लिए सघर्ष कर रही है। यह सघर्ष कभी धीमी और कभी द्रुत गति से, कभी शुद्ध वैधानिक रूप में तो कभी सत्याग्रह के रूप मे तथा कभी विद्रोहों और क्रान्तियों के रूप मे बराबर चल रहा है। यह सघर्ष ही आज के युगका राजनीतिक इतिहास है।

वर्ग-सघर्ष के तीव्रतम सीमा पर पहुँच जाने के फलस्वरूप राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप में भी गम्भीर परिवर्त्तन हो रहे हैं। इस समय उसके मुख्यतः तीन रूप हमे मिलते हैं। एक रूप तो वह है, जिसमें लोकतान्त्रिक ढाँचा क़ायम है और आर्थिक दृष्टि से वह नियन्त्रित पूँजीवाद पर आश्रित है। ससार के अधिकांश देशों मे अभी राज्य का यही रूप है। दूसरा रूप वह है जहाँ शासनतन्त्र पर क्रान्तिकारी पार्टी ने अधिकार कर लिया है और अधिनायकतन्त्र की स्थापना द्वारा एक नई योजना पर आधारित सामूहिक आर्थिक प्रणाली का विकास वह कर रही है, जिसका शक्तिशाली उदाहरण सोवियत रूस है। तीसरा रूप वह है जिसमें फासिस्टों ने राज्य के चेहरे से जनतन्त्र का नक़ाब उतार फेंका है—और अधिनायकतन्त्र के बल पर पूँजीवादी पद्धति को व्यापक नियन्त्रणों के साथ जीवित रखने का प्रयत्न किया जा रहा है (फासिस्ट इटली और नात्सी जर्मनी इसके उदाहरण थे और वर्त्तमान स्पेन भी इसी श्रेणी मे आता है)। नागरिक स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए पूँजीवादी शोषण से मुक्त जनतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्न भी हो रहे हैं।

नवीन बुद्धिजीवी वर्ग

राज्य के स्वरूप को नई दिशा देने के जो प्रयत्न समाज के विविध वर्गों द्वारा हो रहे हैं, उनकी सफलता-असफलता बहुत-कुछ शिक्षित मध्यम श्रेणी के बुद्धिजीवी वर्ग की मनोवृत्ति पर निर्भर है। यह वर्ग राष्ट्रीय राज्य-युग में विशेष रूप से पनपा है। प्राचीन काल मे राजकाज का प्रबन्ध करनेवाले तथा सचालन एव निरीक्षण-सम्बन्धी दूसरे काम करनेवाले अधिकारीगण सरदारों तथा पुरोहितों के घरानों, एव ब्राह्मण तथा क्षत्रिय परिवारों के लोग होते थे। ऐसे लोगों की सख्या भी आज की तुलना में स्वल्प ही होती थी। आज समाज के प्रत्येक व्यापार को चलाने के लिए उच्च कोटि के शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता बहुत बढ़ गयी है। प्राकृतिक तथा सामाजिक विकास की विभिन्न शाखाओं का जिस तेज़ी से विकास हुआ है और जिस प्रकार सामान्य शिक्षा का प्रसार हुआ है, उससे इस वर्ग की सख्या बराबर बढती गयी है और बढती जा रही है। पहले एक ऋषि अनेक शास्त्रों का ज्ञाता तथा विशेषज्ञ समझा जाता था। आजकल प्रत्येक शास्त्र तथा उसकी शाखाओं और उप-शाखाओं के लिए पृथक्-पृथक् विशेषज्ञ होते हैं। प्राचीन-काल मे जिन शास्त्रों मे मुख्यतः मनन एव चिन्तन तथा कल्पना से ही परिणाम निकाले जाते थे, उनमें भी वैज्ञानिक अनुसन्धानशाला की पद्धति से छानबीन करनेवाले विशेषज्ञों तथा अन्वेषकों की सख्या अब बढ़ती जा रही है। समाज के व्यापार का सचालन इस वर्ग की सहायता के बिना असम्भव है।

समाज के विकास के साथ निरन्तर कार्य के विभाजन की वृद्धि होते रहने से शिक्षित श्रेणी के व्यवसायों की सख्या भी काफी बढ़ गई है। वर्त्तमान समाज की स्वामी तथा दास श्रेणी—पूँजीपति तथा श्रमिक वर्ग—के बीच आज बुद्धिजीवी वर्ग एक मध्यम श्रेणी के रूप मे खड़ा होने के साथ ही दोनों के बीच होनेवाले सघर्ष में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि एक तरफ पूँजीवादी वर्ग का कार्य बिना इसकी सहायता के नहीं चल सकता तो दूसरी तरफ अधिकारी वर्ग भी बिना इसके सहयोग और नेतृत्व के नवीन समाज की रचना में असमर्थ है, क्योंकि संख्या का बल भले ही उसे प्राप्त हो, किन्तु वर्तमान समय मे ज्ञान-विज्ञान के प्रचार का उत्तराधिकार इसी वर्ग को मिला है और बिना इस उत्तराधिकार का प्रयोग किये सामाजिक पुनर्निर्माण की कोई योजना सफल नहीं हो सकती। राजनीतिक इति-हास के नये मोड़ की दिशा बहुत कुछ इस बात पर निर्भर

करती है कि यह वर्ग नये समाज के निर्माण में अपने लिए कौन-सी भूमिका (role) चुनता है। बुद्धिजीवी वर्ग पूँजीपतियों की सेवा तथा चाटुकारिता द्वारा उनकी समृद्धि में हाथ बटाकर स्वय भी वर्त्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत शासक-वर्ग का अग बनने का स्वप्न देख सकता है, जैसा कि बहुत दिनों से वह करता आ रहा है और (विरले भाग्यवानों का अपवाद छोड़कर) ठोकरें खाता रहा है। अथवा वह इस प्रकार के फैसिस्ट अथवा कम्युनिस्ट अधिनायकतंत्रवादी समाज की रचना में भी लग सकता है, जिसमें व्यक्तिगत पूँजीवाद का स्थान राज्यगत पूँजीवाद ले ले और राज्य पर मुख्यतः इस वर्ग के लोगों का ही अधिकार होने से वह एक नये सुविधाप्राप्त निरकुश शासक-वर्ग का रूप ग्रहण कर ले। अथवा वह मानसिक तथा शारीरिक श्रम की मौलिक एकता तथा महत्त्व को अगीकार करके एक ऐसे लोकतन्त्रात्मक एव सहयोगमूलक समाज का निर्माण कर सकता है जिसमें कोई सुविधाप्राप्त वर्ग न रह जाय और व्यक्ति की उन्नति समूह की उन्नति एव समूह की उन्नति व्यक्ति की उन्नति हो। यदि बुद्धिजीवी वर्ग ने यह तीसरा मार्ग चुना तो समयक्रम से राज्य मुख्यत. वर्ग-आधिपत्य के साधन के स्थान पर पूर्णत. समाज की सामूहिक सेवाओं की आयोजना का यत्र बन जायगा। उसके दमनात्मक अंग—पुलिस, जेल और अदालतें—कार्याभाव में क्रमश. निष्क्रिय पड़ते जायँगे और राज्य को पुनः वह स्थान प्राप्त हो सकेगा, जो कि आदिम समाज में स्वाभाविक विकास के क्रम में अपनी शैशवावस्था में थोड़े समय तक उसे प्राप्त था, जबकि वह समाज की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन था, किन्तु सामाजिक वर्ग-विभेद की भीषणता के झंझावात के थपेड़ों से जिसके इस रूप का प्रायः उदय होने के साथ ही अस्त हो गया था।

आधुनिक साम्राज्य

राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के उपरान्त सिद्धान्त की दृष्टि से ससार ऐसे सर्वोच्च-सत्ता-सम्पन्न स्वतत्र राष्ट्रों का समूह बन गया, जो परस्पर सहयोग और आदान-प्रदान करते हुए शान्ति एव समृद्धि का जीवन व्यतीत कर सकते थे। किन्तु व्यवहार रूप में हुआ यह कि आर्थिक दौड़ में पिछड़े हुए निर्बल राष्ट्रों के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन को उन्नत देशों ने अपने चगुल में जकड़ना शुरू किया और थोड़े समय में ही ऐसे नये विशालकाय साम्राज्य स्थापित हो गये, जिनकी तुलना में प्राचीन काल के साम्राज्य बालकों के खेल कहे जा सकते हैं। प्राचीन काल के अधिकांश साम्राज्य अपने देश की राष्ट्रीय सीमा से बाहर नहीं जा पाये थे। उदाहरण के लिए, हम कह आये हैं कि मौर्य-साम्राज्य अपने ज़माने का सबसे बड़ा साम्राज्य था, फिर भी वह भारत के दो-तिहाई भाग से कुछ कम के ही क्षेत्रफल में फैला हुआ था। राष्ट्रीय सीमा के भीतर ही प्रसार होने पर भी ऐसे राज्यों को साम्राज्य की सत्ता इस कारण दी गयी कि आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना उस समय प्रचलित न थी और इन बड़े राज्यों का निर्माण पड़ोस के अनेक छोटे-छोटे राज्यों को शान्तिपूर्ण उपायों से ही नहीं वरन् युद्ध द्वारा मिलाकर हुआ था। रोमन साम्राज्य प्राचीन काल का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था, किन्तु रोम भी आधुनिक ब्रिटेन की भाँति ऐसा बड़ा साम्राज्य नहीं क़ायम कर पाया, जिसके बारे में यह दर्पोक्ति की जा सकती कि उसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता! मुख्य बात ध्यान देने की यह है कि प्राचीन काल में साम्राज्यवादी देश विजित देश से खाद्य-सामग्री, सुन्दरियाँ तथा दास ले जाते थे, किन्तु देश के आर्थिक जीवन को वे प्रायः अक्षुण्ण ही रहने देते थे; विजित देश का शासक-वर्ग के हितों की दृष्टि से आज का-सा व्यापक नियत्रण उस समय नहीं था। राष्ट्रीय राज्यों की रचना पूँजीवाद की जिस आर्थिक भित्ति पर हुई थी, उसके भीतर ही इस आर्थिक साम्राज्यवाद के बीज निहित थे। पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का मूलमत्र ही मुनाफा है। जब तक पूँजीपतियों को अपनी पूँजी पर देश के भीतर सन्तोषजनक लाभ मिलता रहता है तब तक उनकी पूँजी देश के भीतर ही लगी रहती है। किन्तु पूँजीवादी पद्धति के स्वाभाविक विकास में शीघ्र एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जबकि देश के भीतर पूँजी लगाना मुनाफे की दृष्टि से उपयोगी नहीं रह जाता और तैयार माल के अतिरिक्त फालतू पूँजी के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ती है। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के आरम्भ होने से पूर्व, जब तक कि पूँजीवादी व्यवस्था अपनी अविकसित अवस्था में थी, पूँजीपतियों को अपने कारख़ानों में तैयार किये हुए माल अथवा फालतू पूँजी के लिए सुरक्षित बाज़ारों की आवश्यकता नहीं थी। इससे पूर्व यूरोपीय देशों के पास जो उपनिवेश थे, वे व्यापार की मण्डी और नौसैनिक अड्डों का ही काम देते थे; उपनिवेशों की प्राप्ति को तब तक पूँजीवादी देशों ने अपना ध्येय नहीं बनाया था। किन्तु १८७५ से लेकर १९१४ के प्रथम महायुद्ध के आरम्भ के पूर्व तक आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए ससार के सभी देश किसी-न-किसी पूँजीवादी महादेश के चगुल में

आ गये, उनके उपनिवेश (Colony) अथवा 'सुरक्षित देश' (Protectorate) बन गये। ब्रिटेन द्वारा अधिकृत भूभाग में इस काल में ४० लाख वर्गमील की वृद्धि हुई। सैनिक दृष्टि से निर्बल और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों का यह बन्दरबाँट करके भी महाशक्तियों को सन्तोष न हुआ। जो देश किसी कारण प्रत्यक्ष आधिपत्य में न लाये जा सके, उन्हें 'प्रभावक्षेत्र' (Sphere of influence) में लाने की होड़ मची। प्रथम महायुद्ध से पूर्व दक्षिण अमेरिका के राज्य, पुर्तगाल के उपनिवेश, मिस्र, यूनान, दक्षिणी अरब और अफगानिस्तान साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा ब्रिटेन के प्रभावक्षेत्र में आ गये। कुछ देश तो कई महाशक्तियों के प्रभावक्षेत्र बन गये। ईरान के उत्तरी भाग में रूस और दक्षिणी भाग में ब्रिटेन के प्रभावक्षेत्र क़ायम हुए; अबीसीनिया के तीन टुकड़े करके उसे क्रमशः ब्रिटिश, फ्रेंच तथा इटालियन प्रभावक्षेत्रों मे बाँट लिया गया। सबसे अधिक दुर्गति बेचारे चीन की हुई, जो नाम को स्वतत्र होते हुए भी ब्रिटेन, फ्रास, रूस, जर्मनी और जापान आदि के विभिन्न प्रभावक्षेत्रों मे बँट गया। जब ससार के पिछड़े हुए भूभागों का बँटवारा तो पूरा हो गया, किन्तु पूँजीवादी महाशक्तियों की साम्राज्यवादी भूख अब भी शान्त न हुई तो शस्त्र द्वारा बँटवारे का सघर्ष छिड़ा, जिसके फलस्वरूप एक ही पीढ़ी मे समूची वसुधा को दो बार रक्तस्नान करना पड़ा! प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी और तुर्की के साम्राज्यों का जो बँटवारा हुआ, उसमे ब्रिटेन को १० लाख वर्गमील भूमि और प्राप्त हुई। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य में ५० करोड़ की जनसख्या थी। 'साम्राज्यवाद और विश्व-राजनीति' (Imperialism and World Politics) के लेखक श्री पार्कर टी० मून के अनुसार द्वितीय महायुद्ध से पूर्व दस साम्राज्यवादी महाशक्तियों के अधीन पृथ्वी के क्षेत्रफल का लगभग आधा भाग था, जिसमे संसार की लगभग एक तिहाई जनसख्या वास करती थी और लगभग एक तिहाई जनसख्या अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी साम्राज्यवादी महाशक्ति के अधीन थी।

पूँजीवाद देश के भीतर अपने विकास की चरमावस्था में पहुँचकर अनिवार्य रूप से साम्राज्यवाद का रूप धारण करता है। देशविशेष के भीतर पूँजीवादी व्यवस्था की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असंगतियों दूसरे देश पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व की स्थापना करके ही शान्त की जाती हैं और शोषित जनता की क्रान्ति से पूँजीवादी व्यवस्था की रक्षा की जाती है। यदि औपनिवेशिक लूट से यूरोपीय देशों के पूँजीपतियों की जेबें बराबर भरती न रहतीं तो इन देशों में पूँजीवाद का ढाँचा न जाने कब का लड़खड़ा गया होता। जर्मनी, इटली और जापान सरीखे पूँजीवादी देशों में, जो साम्राज्यवादी दौड़ में पीछे रह गये थे अथवा अपने उपनिवेशों से वचित कर दिये गये थे, शासक-वर्गों को पूँजीवादी शोषण को सुरक्षित रखने के लिए फैसिस्ट अधिनायकतत्र का सहारा लेना पड़ा। किन्तु उससे भी काम न चला और नये साम्राज्य की स्थापना की चेष्टा में उन्होंने संसार को महायुद्ध की सर्वनाशी ज्वाला मे ही झोंककर दम लिया!

द्वितीय महायुद्ध के बाद औपनिवेशिक जनता के अभूतपूर्व जागरण ने साम्राज्यवादी राष्ट्रों को उपनिवेशों के राजनीतिक जीवन पर अपना पजा ढीला करने को विवश किया है। किन्तु परिस्थितियों से विवश होकर राजनीतिक अधिकारों का त्याग करते हुए साम्राज्यवादी कूटनीतिज्ञों ने इस बात का ध्यान रखा है कि उपनिवेशों में वे जिन राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में शासन की बागडोर देकर जायँ, उनसे यथासंभव यह नैतिक आश्वासन प्राप्त कर लें कि उनके आर्थिक तथा सामरिक हितों पर आँच न आयेगी। इस प्रसग में एक परिचित विधि यह अपनायी गयी है कि जाते हुए औपनिवेशिक देश को एक से अधिक भागों में बाँट दिया जाय, जिससे आपसी फूट के कारण वह भविष्य मे भी परमुखापेक्षी बना रहे और साम्राज्यवादी शक्तिया को इस फूट का अनुचित लाभ उठाने का अवसर मिल सके। ब्रिटेन ने भारत को दो भागों में बाँटा, फिलस्तीन को दो भागों में बाँटा और नील की घाटी में भी वह सूदान को मिस्र से अलग रखने के लिए दाँवपेच खेल रहा है। फ्रेंच और डच साम्राज्यवादियों ने हिन्द-चीन और हिन्द-एशिया में भी इसी विधि का प्रयोग करने की चेष्टा की है। स्वतंत्रता की घोषणा के बाद भी इन देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के आर्थिक प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न को स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृवर्ग के दक्षिणपक्ष का समर्थन प्राप्त हो रहा है। इस भय से कि यदि क्रान्ति के द्वारा स्वतत्रता प्राप्त की गई तो कहीं नेतृत्व अधिक उग्र लोगों के हाथ मे न चला जाय और प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के आधार को ही न बदल दिया जाय, और यह देखकर कि पूँजीवादी व्यवस्था को क़ायम रखते हुए बिना विदेशी पूँजी की सहायता के देश का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है, इस दक्षिणपक्ष ने सत्ता के हस्ता-

न्तरण में ऐसी शर्तें स्वीकार कर ली हैं, जो पूर्ण स्वतंत्रता तथा जनता की सर्वोच्च सत्ता के साथ मेल नहीं खातीं। इस प्रकार देशी तथा विदेशी पूँजीवादी शक्तियों के गँठ-बन्धन के इस युग में बिना विदेशी सेना तथा नौकरशाही के भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने आर्थिक स्वार्थों की रक्षा कर सकती हैं। वे सभी निर्बल राष्ट्र, जो अपने देश के भीतर वर्ग-शोषण के ढाँचे को बनाये रखना चाहते हैं, किसी न किसी साम्राज्यवादी महाशक्ति के चगुल में फँस रहे हैं। यही कारण है कि दूसरे देशों पर प्रत्यक्ष अधिकार न रखते हुए भी अमेरिका का मौन डालर साम्राज्य ससार के बहुत बड़े भाग पर छाया हुआ है। सच तो यह है कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) तथा सोवियत रूस ये ही दो महाशक्तियाँ बच रही हैं, जिनको केन्द्र मानकर प्राय. दूसरे सभी प्रमुख राष्ट्र उपग्रह की भाँति इनके वृत्त की परिधि में चक्कर काट रहे हैं। विगत महायुद्ध बन्द भी नहीं हो पाया कि इन दोनों महाशक्तियों के बीच शीत युद्ध आरम्भ हो गया और इस शीत युद्ध की चिनगारियाँ कहीं-कहीं उष्ण युद्ध की लपटों में न परिवर्त्तित हो जायँ, यही डर ससार को हर क्षण लगा रहता है। श्मशानभूमि बना हुआ कोरिया आज विश्व को गम्भीर चेतावनी दे रहा है। अणुबम के आविष्कार के पश्चात् समाज अब विकास की उस मज़िल को पहुँच चुका है जब कि राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का शोषण यदि शीघ्र ही नहीं बन्द किया जाता तो सभ्यता के विनाश का ही ख़तरा है।

विश्वराज्य

ससार के राजनीतिक विचारक एक अरसे से यह अनुभव करते आये हैं कि मानव समाज अब विकास की एक ऐसी मज़िल पर पहुँच चुका है, जब अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों का निबटारा एक विश्व-सस्था द्वारा होना चाहिए और इस दृष्टि से विभिन्न राष्ट्रों को राष्ट्रीयता की भावना से ऊपर उठकर अपनी सर्वोच्च सत्ता का आंशिक त्याग कर एक विश्वसघ की स्थापना करनी चाहिए। अणुबमों का निर्माण स्पष्टत. ससार की अन्तरात्मा के लिए एक होकर ऐसे वास्तविक विश्वसघ की स्थापना करने अथवा नष्ट हो जाने की चुनौती है।

विश्वराज्य की स्थापना का स्वप्न महत्त्वाकांक्षी योद्धाओं तथा विचारकों द्वारा प्राचीन काल से देखा जाता रहा है। अपनी विजय-यात्रा में हेलेनिक जाति और एशियाई जातियों को सुदृढ एकता के सूत्र में गूँथने की इच्छा से सिकंदर ने ८० सरदारों और १० सहस्र सैनिकों का विवाह विजित प्रदेशों में कराया था और स्वय भी अपना विवाह पारस की कुमारी रुख़साना के साथ किया था। इस बात के बावजूद भी कि इस प्रकार का राज्य साम्राज्यवादी तरीक़ों से नहीं वरन् शान्तिमय उपायों से ही स्थापित हो सकता है, प्राचीन काल मे गमनागमन के साधनों के अविकसित होने और प्राय. एक सी आर्थिक एव सास्कृतिक चेतना के अभाव में इस प्रकार के प्रयत्न का असफल रहना पूर्वनिश्चित था। आज तो यातायात एव पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने के साधनों—रेल, डाक, तार, समुद्री और हवाई जहाज़, प्रेस, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन आदि—के विकास के फलस्वरूप पृथ्वी के एक भाग से दूसरे भाग की दूरी बहुत सकुचित हो गयी है और अन्तरराष्ट्रीय पोस्टल यूनियन, अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय, अन्तरराष्ट्रीय बैंक, अन्तरराष्ट्रीय रेडक्रास तथा और भी दूसरी अन्तरराष्ट्रीय सस्थाएँ बन जाने से विश्वराज्य का भौतिक आधार एक प्रकार से प्रस्तुत है। आज का ससार विभिन्न आत्मनिर्भर इकाइयों का समूह न होकर एक इकाई बन गया है और एक भाग की घटनाओं का प्रभाव किसी सीमा तक दूसरे भाग पर अवश्य पड़ता है।

बीते हुए युग में मनुष्य बराबर छोटी इकाइयों के स्थान पर बड़ी इकाइयों की ओर बढता आया है। आदिम कबीलों का स्थान जनपदों ने लिया। जनपदों ने महाजनपदों का रूप धारण किया। महाजनपदों के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों एव साम्राज्यों की स्थापना हुई। किन्तु अब तक बड़ी इकाइयों को बनाने का यह क्रम मनुष्य ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया के वशीभूत होकर करता आया है, जिसमें बोधपूर्वक आयोजना की गुजाइश बहुत थोड़ी थी। आज तो वह स्वेच्छापूर्वक एक विश्वराज्य की स्थापना कर सकता है। पिछले तीन दशकों में इस प्रकार के विश्वसघ की स्थापना के दो प्रयत्न हुए हैं—एक तो प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जनवरी १९१९ मे राष्ट्रसघ (League of Nations) की स्थापना और दूसरा द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जून १९४५ में सयुक्त राष्ट्रसघ (United Nations Organization) की स्थापना। किन्तु इन दोनों ही प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण त्रुटियाँ और खामियाँ रहीं। राष्ट्रसघ सभी राष्ट्रों का सघ नहीं बन पाया। उसके सदस्य ससार के केवल ५३ राष्ट्र थे। जो २६ राष्ट्र उसमें सम्मिलित नहीं हुए, उनमें सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका जैसा शक्तिशाली राष्ट्र भी था। किसी प्रश्न पर राष्ट्रसघ के निर्णय के लिए सभी सदस्यों का सहमत होना आवश्यक था, जिसका अर्थ यह

था कि एक भी सदस्य शेष सदस्यों की इच्छा को निष्फल कर सकता था। राष्ट्रसंघ ऐसी अवस्था में भी जो निर्णय कर सकता था, उसे कार्यान्वित कराने के लिए किसी अन्तरराष्ट्रीय पुलिस अथवा सेना की व्यवस्था नहीं की गयी थी। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि राष्ट्रसंघ न तो निर्बल राष्ट्रों की रक्षा कर सका, न सबल राष्ट्रों की आक्रमणात्मक कार्रवाइयों को ही रोक सका। शक्तिशाली राष्ट्रों के साम्राज्यवादी स्वार्थों के संघर्ष के कारण, प्रत्येक संकट के समय राष्ट्रसंघ ने नपुंसकता का ही परिचय दिया। मंचूरिया पर सितम्बर १९३१ में जापान का आक्रमण होने पर अमेरिका, चाहता था कि कोई क़दम उठाया जाय, पर ब्रिटेन इसके लिए राज़ी न था। अक्तूबर १९३५ में अबीसीनिया पर इटली का आक्रमण होने पर ब्रिटेन ने यह इच्छा प्रकट की कि कुछ किया जाय, किन्तु फ्रांस राजी न हुआ। १९३६ में स्पेन के गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी ने हस्तक्षेप किया, किन्तु राष्ट्रसंघ कुछ नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ की इस नपुंसक नीति से उत्साहित होकर हिटलर ने वार्साई सन्धि के टुकड़े करके फेंकना आरम्भ किया और अन्त में जिस समय उसने पोलैण्ड पर आक्रमण करके द्वितीय महायुद्ध की शंखध्वनि की, तब तक राष्ट्रसंघ इस हद तक निष्प्राण हो चुका था कि, युद्ध छिड़ने से पूर्व उसकी बैठक बुलाने की आवश्यकता भी नहीं अनुभव की गयी!

संयुक्त राष्ट्रसंघ राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधि संस्था है, किन्तु अपने निश्चयों को कार्यान्वित कराने के लिए उसके पास भी अपनी कोई पुलिस या सेना नहीं है। राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व भी बराबरी के आधार पर नहीं है। सुरक्षा-परिषद् के ११ सदस्यों में से ५ तथाकथित बड़े राष्ट्रों के स्थायी प्रतिनिधि रखे गये हैं। इन शक्तिशाली राष्ट्रों को निषेधाधिकार (Veto) भी प्राप्त है। फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्वास्थ्य एवं शिक्षा-प्रचार आदि सम्बन्धी शाखाओं को जहाँ अपने कार्य में छोटी-मोटी सफलताएँ मिली हैं वहाँ अन्तरराष्ट्रीय अशान्ति एवं कलह-सम्बन्धी मौलिक समस्याओं को सुलझाने में यह भी राष्ट्रसंघ की ही भाँति असमर्थ है। इस समय हमारी आँखों के आगे ही दक्षिण अफ्रीका की मलानशाही वर्णभेद-सम्बन्धी कठोर प्रतिबन्धों के प्रयोग के द्वारा मानवता के मौलिक अधिकारों का गला घोंट रही है, किन्तु सद्भावनापूर्ण प्रस्तावों के स्वीकार करने के अतिरिक्त संघ कोई प्रभावशाली क़दम उठाने में असमर्थ है। अन्तरराष्ट्रीय जगत में आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों को लेकर तथा विचारधारा सम्बन्धी जो तनातनी मौजूद है, वह संघ की बैठकों में भी प्रतिबिम्बित होती है। संघ अमेरिका तथा रूस के शक्तिशाली विस्तारवादी गुटों की पैंतरेबाज़ी का अखाड़ा बना हुआ है। जब तक संसार के विभिन्न देशों की जनता द्वारा जनसंख्या के आधार पर चुने गये विधान-परिषद् के सदस्यों अथवा कम से कम संसार के सभी राष्ट्रों के समान अधिकार को मानकर ऐसे संघ का संघटन नहीं होता, जब तक विभिन्न राष्ट्रों की सैनिक शक्ति को देश की आन्तरिक शान्ति-रक्षा तक ही सीमित नहीं किया जाता और अन्तरराष्ट्रीय शान्ति-सम्बन्धी निर्णयों को कार्यान्वित कराने के लिए ऐसी संस्था के पास अपनी सैनिक शक्ति नहीं होती, तब तक ऐसी संस्था अपने ध्येय की पूर्ति में असफल ही रहेगी। स्पष्टतः ऐसी व्यवस्था होने के पूर्व साम्राज्यवाद एवं वर्णभेद का अन्त आवश्यक है। एक क़दम आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि जब तक विभिन्न राष्ट्रों के भीतर वर्ग-शोषण पर आश्रित आर्थिक व्यवस्था का अन्त करके सहयोगमूलक आर्थिक प्रणाली नहीं अपनायी जाती, तब तक विस्तारवादी प्रवृत्ति का अन्त न होगा और विभिन्न राष्ट्र एक ऐसे बड़े त्याग के लिए तैयार न होंगे जो कि इतिहास में अभूतपूर्व होगा। जब तक राष्ट्रों के भीतर वर्गकलह को समाप्त करनेवाली आर्थिक प्रणाली नहीं अपनायी जाती, तब तक यदि संघीय (federal) आधार पर कोई विश्व-पार्लमेण्ट खड़ी भी की जाय तो एक नये संघात्मक साम्राज्यवाद (Federal imperialism) का जन्म हुए बिना न रहेगा। यदि इस सत्य को हृदयंगम करके शक्तिशाली राष्ट्र अपने मतभेदों को भूल सकें और अपने घर को सँभाल सकें तो आज जो अपरिमित धनराशि विध्वंसात्मक अस्त्रों के निर्माण में लगाई जा रही है, वह अपेक्षाकृत अविकसित देशों के विकास पर खर्च की जा सकती है और एक ऐसी नवीन सभ्यता का विकास हो सकता है, जिसमें संसार का एक राष्ट्र दूसरे के शोषण पर न बढ़ता हो, वरन् पारस्परिक सहयोग द्वारा विज्ञान की देन का लाभ उठाते हुए सभी सामूहिक रूप से उन्नति कर सकते हैं और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श को चरितार्थ कर सकते हैं! जब तक संसार की साधारण जनता अपने देश के शासक वर्ग को क्षुद्र वर्गस्वार्थों से ऊपर उठकर इस प्रकार की उदार नीति अपनाने के लिए कटिबद्ध होने को राज़ी कर सकेगी, यह समस्या एक महान् प्रश्नचिह्न के रूप में बीसवीं शताब्दी के इस उत्तरार्ध के सम्मुख उपस्थित है!
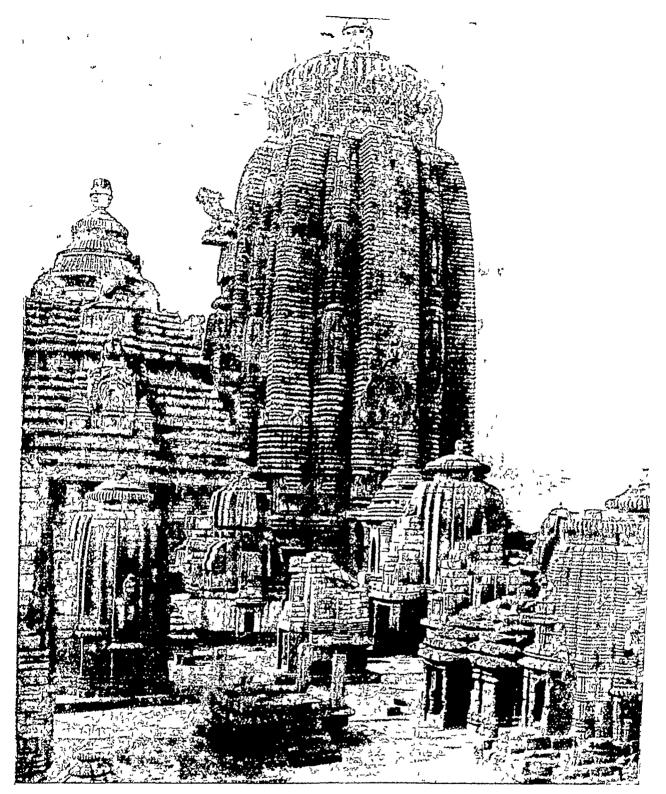
भारतीय स्थापत्य-कला का भव्यतम स्मारक—भुवनेश्वर का प्रख्यात लिंगराज-शिवालय

छठी और नवीं शताब्दी ईस्वी के बीच निर्मित १८० फीट ऊँचे शिखर से युक्त यह महान् देवालय भारतीय वास्तु-कला की एक अनुपम रचना है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके पौने दो सौ फीट ऊँचे शिखर के निर्माण में गारे-चूने का नाम को भी प्रयोग नहीं किया गया है। केवल पत्थरों के टुकड़ों को एक-दूसरे में फँसाकर एक पर एक चुन दिया गया है। भुवनेश्वर में लिंगराज-मंदिर के अलावा ६५ मंदिर और भी हैं। सभी शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। सचमुच भुवनेश्वर मंदिरों और देवालयों का सुंदर म्यूजियम-सा है।

हमारे गौरवपूर्ण अतीत के महान् स्मारक—(२)

बाघ-विहार, नालन्द, एलोरा, एलीफेण्टा, कारली, भुवनेश्वर, आबू, खजुराहो

मालवे की अद्भुत प्राचीन चित्रशाला—बाघ-विहार

अजन्ता से १५० मील उत्तर और मॉडू से लगभग ३० मील पश्चिम में बाघ नामक एक छोटा-सा ग्राम है, जहाँ अजन्ता की गुफाओं जैसे अनेक प्राचीन गुफा-विहार पाये जाते हैं। नर्मदा नदी की घाटी के उत्तर में खड़ी हुई पर्वतमालाओं के पार्श्व में स्थित एक निर्जन गह्वर में ये गुफा-विहार बने हुए हैं। कुल मिलाकर इन विहारों की संख्या आठ या नौ है। किन्तु यहाँ पर कोई चैत्यमण्डप नहीं पाया गया है। खुदाई भी यहाँ अनावश्यक समझी गई, अतएव इस स्थान के ऐतिहासिक महत्त्व पर विशेष प्रकाश अभी नहीं डाला जा सका है। यहाँ के विहारों में जो बड़े हैं, उनसे एक न एक पाठशाला या अध्ययन-गृह संयोजित रहा है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। उनसे उपासना-गृहों का कार्य भी संभवत. लिया जाता रहा होगा। इन विहारों के अन्तर-कक्षों में दगोबा या देवालय का अस्तित्व और उसमें बुद्ध-मूर्त्ति का अभाव एक विशेष तथ्य का बोधक है, जो सम्भवत. बाद में इतिहासकारों के लिए महत्त्व का विषय प्रमाणित हो। सामूहिक रूप में ये विहार अजन्ता के बाद के बने विहारों की अपेक्षा बनावट में अधिक सादे हैं, यद्यपि दोनों स्थानों के विहारों का निर्माण-काल एक ही माना जाता है।

इनमें एक विहार बहुत बड़ा है। उसके भीतर का कक्ष ९६ वर्ग-फीट है और अष्टकोण के क्रम से बिठाये हुए ८ स्तम्भों पर वह आधारित है। अनुमानत. बाद में, छत का दबाव अधिक बढ़ जाने के कारण चार अन्य स्तम्भ बनाकर पूर्वस्तम्भों के साथ ही स्थापित कर दिये गये हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर इम्पे के विवरण से यह पता नहीं चलता कि इस विहार के ऊपर मूल रूप में किस प्रकार की छत बनी थी। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि कक्ष के बीचोबीच में एक दगोबा भी था, जो नष्ट हो गया और साथ ही उपर की छत भी गिर पड़ी होगी। विहार के दूसरे कोने में एक दगोबा का होना उपरोक्त कथन की निर्मूलता प्रमाणित करता है। यह अधिक सम्भव जान पड़ता है कि बाद की शताब्दियों में जैनियों द्वारा बनाए गये अष्टकोण गुम्बज की नक़ल करके ही इस विहार की छत बनी हो। दसवीं शताब्दी में बने हुए सैकड़ों-हज़ारों गुम्बज आठ स्तम्भों पर आधारित पाये जाते हैं, जो पहले नहीं बनते थे। अतएव मूल रूप में इस विहार के ऊपर ऐसे गुम्बज का होना एक बड़े आश्चर्य का विषय है। इस विहार से सम्मिलित शाला ९४ फीट लम्बी और ४४ फीट चौड़ी है। विहार और शाला को संयोजित करता हुआ २२० फीट लम्बा एक बरामदा है, जो मुक्त रूप से खड़े हुए २० नक्काशीदार स्तम्भों से अलंकृत है।

अजंता की भाँति इस विहार की दीवारों पर भी आज से कई शताब्दियों पहले के अत्यंत सुन्दर भित्ति-चित्र बने हुए हैं, जो अब बहुत ही नष्ट-भ्रष्ट दशा में हैं। ये भित्ति-चित्र कला और सौंदर्य में अजन्ता से किसी प्रकार न्यून नहीं कहे जा सकते। अजन्ता के उन चित्रों की भाँति यहाँ के चित्रों में भी साधारण व्यक्तियों को बौद्ध धर्म का प्रभाव दृष्टि-गोचर नहीं होता। यहाँ के भित्ति-चित्रों का मुख्य विषय अश्वारोहियों का जुलूस या गजारूढ़ व्यक्तियों का समुदाय है। हाथियों के जुलूस के साथ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ही यहाँ अधिक संख्या में चित्रित की गई हैं। नृत्य और प्रेम-लीलाओं के दृश्यों की भी यहाँ प्रचुरता है। केवल एक छोटे से चित्र में दो मनुष्य पूजा-उपासना-रत दिखलाये गये हैं।

एक को छोड़कर, और कोई भी मानवमूर्त्ति इन चित्रों में सिर ढँके हुए नहीं दिखाई देती। पुरुषों के केश गर्दन तक छँटे हुए हैं और उनके मुख पर पतली मूँछें हैं। लगभग छः व्यक्तियों के शरीर का रंग द्रविड़ों की भाँति अधिक काला है, शेष सब गोरे हैं। सभी नर-नारी रंगीन वस्त्र धारण किये दिखाये गए हैं।

इन चित्रों में प्रदर्शित व्यक्ति किन जातियों के प्रतिनिधि हैं, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता और न इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही अब तक मिल सका है। वे न तो मालवे-राजपूताने की वर्त्तमान जातियों के पूर्वज ही ज्ञात होते हैं और न भील, गोंड़ आदि बनवासी लोगों के आदि-पुरुष ही कहे जा सकते हैं। तो क्या वे शक या यवन हैं अथवा सिन्धु के उस पार से आनेवाली जातियों के लोग हैं, जिन्होंने ईसा की प्रथम शताब्दी में सिन्धु नदी के मार्ग से भारत में प्रवेश करके अपनी कला और धार्मिक भावनाओं का यहाँ प्रचार किया था? बाघ-विहारों की कला-शैली तत्कालीन ईरानी शैली से बहुत-कुछ मिलती-जुलती जान पड़ती है।

इन गुफा-विहारों का निर्माण-काल अब निश्चित हो चुका है। सबसे प्राचीन गुफा सन् ५०० ई० से पहले की बनी नहीं ज्ञात होती और सबसे बाद की सन् ६५० या ७०० के पश्चात् बनी होगी।

भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध प्राचीन विद्याकेन्द्र—नालन्द

आधुनिक पटना जिले के बिहार सबडिवीज़न में आज जहाँ बड़गाँव नामक ग्राम बसा हुआ है, वहीं शताब्दियों पूर्व मगध देश का नालन्द नामक विख्यात विश्व-विद्यालय और मठ प्रस्थापित था, जिसके द्वार पर सारे संसार के ज्ञान-पिपासु विभिन्न विद्याएँ सीखने के लिए सदा भिखारियों की भाँति खड़े रहते थे। तत्कालीन भारत ज्ञानगरिमा और विद्या-बुद्धि में संसार की सभा में गर्व के साथ सिर उठाये खड़ा था। उस समय उसके पैरों में परतन्त्रता की शृंखलाएँ नहीं पड़ी थीं। उस स्वर्ण-युग में तक्षशिला की भाँति नालन्द का यह महान् विश्वविद्यालय भी सारे संसार को जागृति का मार्ग दिखा रहा था। दूर-दूर के देशों और प्रान्तों से सहस्रों विद्यार्थी प्रतिवर्ष वहाँ आते और शिक्षा पाते थे।

चीनी तीर्थ-यात्री फाहियान ने अपनी यात्राओं के विवरण में इस विश्वविद्यालय का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु युआन च्वाँङ् ने इस स्थान का परिदर्शन किया था। वह राजगृह से १५ 'ली' (li) अर्थात् लगभग ५ मील उत्तर की ओर नालन्द-मठ की स्थिति बतलाता है। बौद्धों के मतानुसार नालन्द बोधिवृक्ष से सात योजन से कुछ अधिक दूरी पर स्थित था। युआन च्वाँङ् के कथनानुसार नालन्द का नाम एक नाग से पड़ा, जो इस विश्व-विद्यालय के दक्षिण में आम्र-कुञ्ज के बीच में बने हुए एक सरोवर में रहता था। बौद्ध धर्मग्रन्थों में राजगृह के निकट नालन्द नामक एक ग्राम का उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर कुछ दिनों के लिए यहाँ आकर ठहरे थे। सूत्र-कृतांग में भी नालन्द का वर्णन है, जिससे पता चलता है कि उन दिनों यह राजगृह का एक सूबा गिना जाता था। जैसा कि लोगों को ज्ञात है, गुप्त-काल में नालन्द-मठ इस देश की विद्या के प्रधान केन्द्रों में से था। इस महाविद्यालय की नींव कब पड़ी, यह तो अनिश्चित है, पर इतिहासकारों का मत है कि चौथी और सातवीं शताब्दी के बीच में, सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी में, इसकी स्थापना हुई। लेकिन यह सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। युआन च्वाँङ् अपने यात्रा-वृत्तान्त में लिखता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय उपरान्त शक्रादित्य नाम के किसी राजा ने इसे बनवाया था और यह ७०० वर्षों से वहाँ स्थित था।

युआन च्वाँङ् सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नालन्द पहुँचा था और वहाँ एक वर्ष सात महीने तक उसने निवास किया था। उसका कहना है कि वहाँ के मठ के स्थान पर पहले एक आम्र-वाटिका थी, जिसे ५०० व्यापारियों ने १० करोड़ स्वर्णमुद्राएँ देकर ख़रीद लिया था और एक बौद्ध महात्मा को दानस्वरूप दे डाला था। उसने यह भी लिखा है कि भगवान् बुद्ध की मृत्यु के बाद शक्रादित्य, बुद्धगुप्त, तथागत, बालादित्य और वज्र ने कई मठ वहाँ बनवाये और मध्यभारत के एक राजा ने वहाँ एक सुन्दर मंदिर का निर्माण कराया तथा उसको एक चहारदीवारी से घिरवा दिया। इस सम्पूर्ण घेरे में केवल एक ही प्रवेशद्वार था। इस प्रकार कई पीढ़ियों तक राजाओं द्वारा वहाँ ऐसे असंख्य सुन्दर मंदिर बनवाये जाते रहे, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता था। युआन च्वाँङ् के मतानुसार नालन्द-मठ में भिन्न-भिन्न चमकीले रंगों से रँगे हुए और चित्रकारी से सुशोभित बड़े-बड़े कक्ष थे। उसके चारों ओर चतुष्कोण दीर्घकाय दीवालें और पर्वतशृंगों जैसे नोकीले शिखर थे। उसके बुर्ज और कँगूरे आकाश से बातें करते हुए जान पड़ते थे। भवन की खिड़कियाँ

इतनी ऊँची थीं कि वहाँ से मेघराशियों की गति स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। उसके आसपास के छायादार कुञ्जों, उपवनों, निर्म्मल जल और नीलकमल से परिपूर्ण तालों, लाल-लाल कलियों से आच्छादित कनक-वृक्षों और सघन अमराइयों की छटा भी देखते ही बनती थी।

नालन्द-मठ के बाहरी ओसारे पर चार मंजिलें थीं, जिनमें सर्पाकार बरने (Projection) और रंगीन ओलतियाँ बनी हुई थीं। उनके लाल-लाल स्तम्भ चित्रित और अलंकृत थे और उनके पास में सुसज्जित कटहरे लगे हुए थे। ओसारे की छतें खपरैलों की थीं, जिन पर सहस्र रूपों से प्रतिबिम्बित प्रकाश पड़ता रहता था। इन सब के कारण वहाँ का दृश्य और भी मनोरम बन जाता था। उस समय भारत में कई संघाराम थे, परन्तु नालन्द की विशालता, वैभव और कारीगरी के आगे वे सभी फीके पड़ जाते थे। क्रमानुसार सभी राजाओं ने उसकी सुन्दरता बढ़ाने में स्पर्धा दिखाई और अन्त में उसे एक अति दर्शनीय स्थान बना दिया। नालन्द के छः विद्यालयों में से पहले को शक्रादित्य ने, दूसरे को बुद्धगुप्त ने, तीसरे को तथागत ने, चौथे को बालादित्य ने, पाँचवें को वज्र ने और छठे को मध्यभारत के किसी राजा ने बनवाया था। अनेक राजा-महाराजाओं ने इसके व्यय के लिए २०० से अधिक गाँव दान में दिए थे, जिनकी आय से इसका सारा काम चलता था। नालन्द में संन्यासी, विद्यार्थी तथा अध्यापक आदि कुल मिलाकर १०,००० मनुष्य रहते थे! वे लोग १२ हाथ लम्बे और ८ हाथ चौड़े कमरों में, जो हजारों की संख्या में वहाँ बने हुए थे, निवास करते थे और बड़े-बड़े व्याख्यान-भवनों में उनकी पढ़ाई होती थी। नालन्द में शिक्षक और शिष्य में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। शिक्षकों की सेवा-शुश्रूषा पौराणिक ढंग से की जाती। शिक्षित विद्यार्थी अपनी जीविका के निर्वाह के हेतु राजद्वार पर जाया करते थे। वहाँ के छात्र वेद, हेतुविद्या, चिकित्साशास्त्र, तंत्र, बौद्ध साहित्य, दर्शन, शिल्प तथा विभिन्न कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते थे। तालपत्र और भोजपत्र पर लिखी हुई लाखों हस्तलिखित पुस्तकों का एक विशाल संग्रहालय वहाँ था। उस समय धर्मपाल, चन्द्रगुप्त, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, निकाय, जिनमित्र और ज्ञानचन्द्र वहाँ के प्रधान अध्यापकों में से थे। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों विद्वान् वहाँ रह चुके थे, जिनमें नागार्जुन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने वहाँ के प्रधान आचार्य का पद ग्रहण किया था और जो क्रमशः बौद्ध धर्म के एक अग्रगण्य नेता हो गये थे।

नालन्द के बीते वैभव की याद दिलानेवाली कलाकृतियाँ

बुद्ध और बोधिसत्वों की ये मूर्तियाँ एक स्तूप की दीवार में बने ताकों में स्थापित हैं।

नालन्द महाविद्यालय के नियम बड़े कठोर थे। संन्यासी-जीवन का सार संयम और सरल स्वभाव तथा सदाचरण समझा जाता था। इसीलिये असंयम की प्रवृत्ति को तत्काल कठोरता से दबाने की प्रथा थी। पौ फटते ही विद्यार्थी अपने प्रार्थनागीत गाते और टोलियाँ बनाकर स्नानार्थ बाहर निकल जाते थे। सारा दिन पठन पाठन में बीतता था। चावल, तेल, मक्खन, खजूर आदि ही उनका भोजन था। वहाँ कमनीय कमल-तालाबों से युक्त बड़े-बड़े रसाल-उपवन और उद्यान थे, जहाँ दिन भर की थकान मिटाने के हेतु जा बैठते थे। वहाँ भी शिक्षा की समाप्ति और बाद उपाधि या डिग्री मिलती थी। परीक्षा

छात्रों की नामावली प्रवेशद्वार पर लटका दी जाती थी। इस महाविद्यालय का ध्येय था—"क्षमा से क्रोध का दमन करो, दुष्टों को उपकार से लज्जित करो, कृपण को धन देकर उसकी कृपणता दूर करो और मिथ्यावादी को सत्य से अपनाना सीखो।" विद्यालय का पाठ-क्रम दो या तीन वर्ष का होता था। नालन्द में एक बहुत बड़ा राजकीय मान-मन्दिर (आकाश के ग्रह-नक्षत्रादि को देखने का स्थान या वेधशाला) भी था और वहाँ की जल-घड़ी सम्पूर्ण मगधवासियों को ठीक समय का ज्ञान कराती थी। चीनी यात्री ई-त्सिंग के कथनानुसार वह जल-घड़ी दिन-रात के सभी घंटे ठोका करती थी। विद्यालय में शिल्पकला-विभाग भी था, क्योंकि बौद्ध भिक्षु शिल्प, मूर्ति, चित्र और वास्तु कलाओं में कुशल होते थे। इस विश्वविद्यालय से पदक, मुहर और अन्यान्य प्रशंसापत्र पाने के लिये विद्यार्थी बड़े लालायित रहते थे, यहाँ तक कि इसी भाव से लोग अपने को नालन्द का विद्यार्थी बताकर प्रतिष्ठित होते थे। खुदाई में वहाँ पर बहुत-सी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर "श्री नालन्द-महा-विहारीय-आर्यभिक्षुक-संघस्य' अंकित है। इन मुहरों के दो किनारों पर शान्त भाव से बैठे हुए दो मृगों के चिन्ह बने हैं, जो अपना-अपना सिर ऊँचा किये चक्र की परिधि की ओर देख रहे हैं।"

मध्यकालीन तर्क-सिद्धान्तों का प्रवर्तक प्रसिद्ध विद्वान् दिङ्नाग इसी महाविद्यालय का विद्यार्थी था। वह किसी ब्राह्मण पण्डित से शास्त्रार्थ करने के लिये विशेषतया दक्षिण से आमंत्रित करके बुलाया गया था तथा उसे 'तर्क-पुंगव' की उपाधि मिली थी। मठ के महन्त शीलभद्र की देख-रेख में धर्मपाल ने यहीं शिक्षा पाई थी और उसी ने कुमारिल भट्ट को हराया था। तिब्बत के सम्राट् ख्रु-श्रोन-देन्त्सान ने नालन्द के एक विद्वान् शांतिरक्षित को अपने राज्य में बुलाकर रखा था। इसी विद्यालय का पद्मसंभव नामक विद्वान् तिब्बत में लामा-धर्म का प्रचारक समझा जाता है।

भारतवर्ष में बौद्ध मत के ह्रास के साथ ही साथ नालन्द का भी पतन हुआ। युआनच्वाँङ् के यात्राकाल में ही बौद्धमत की अवनति हो रही थी और मुख्य बौद्ध मठ उजड़ते जा रहे थे। आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे हिन्दूधर्म के शक्तिशाली प्रचारकों ने बौद्ध मत के विरुद्ध घोर आन्दोलन उठाया, जो बराबर सफल होता गया। इसके बाद ही मुसलमान आक्रमणकारियों की प्रारम्भिक प्रगति से बौद्ध विहारों, मंदिरों और मठों को बड़ी हानि पहुँचने लगी। जले हुए शहतीरों, दरवाज़ों, टूटी-फूटी मूर्त्तियों और भवनों को देखकर आज भी हमें पता चलता है कि निरंकुश यवन आक्रमणकारियों ने किस प्रकार बर्बरता का परिचय देते हुए नालन्द-मठ को उजाड़ा था।

तिब्बत के कुछ विद्वानों का कहना है कि नालन्द के नष्ट-भ्रष्ट मंदिरों की मुदितभद्र नामक एक ऋषि ने मगध के राजमंत्री की सहायता से यवनों के आक्रमण के बाद मरम्मत कराई थी। किम्वदन्ती है कि मठ में एक बार धार्मिक कृत्य सम्पन्न होते समय दो ब्राह्मण साधु आ पहुँचे। मठ के दो चार नव-दीक्षित भिक्षुओं ने उन साधुओं पर गन्दा पानी फेंका। कुपित होकर उन साधुओं ने अग्नि-यज्ञ किया और मठ को नष्ट कर देने के लिये सूर्यदेव का आवाहन किया। उन साधुओं ने जलते हुए अंगारे उठाकर मन्दिरों और रत्नोदधि नामक विराट् पुस्तकालय में फेंकना आरम्भ किया। मठ में आग लग गई और बात की बात में सारा मठ भस्मसात् हो गया।

नालन्द के वर्त्तमान खँडहरों पर दृष्टि डालिये! एक बड़ा भारी स्तूप, विहारों की श्रेणियाँ, चैत्य तथा अनेक देवालय, जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े हुए आपको दिखाई देंगे! अनेक छोटे-छोटे स्तूपों से घिरा हुआ एक विराट् स्तूप आँगन के बीचोबीच में बना हुआ है। उन स्तूपों में से बहुतेरे उसी स्थान पर दो या तीन बार के बने हुए जान पड़ेंगे। पुरातत्त्व-विभाग ने बड़े परिश्रम से खुदाई करवाकर पता लगाया है, जिससे ज्ञात होता है कि मुख्य स्तूप, कम से कम सात बार टूटा और सात बार बना है। अन्य स्तूप बाद के बने हुए प्रतीत होते हैं। तीन प्रारम्भिक स्तूप जिनका विस्तार तीस वर्ग फीट है, टीलों के नीचे दबे हुए हैं। सम्भवतः आस-पास के भवनों और स्तूपों के गिरे हुए भग्नावशेषों ने उनको अपने अंक में समेट रखा है। एक २०० फीट लम्बा और १६८ फ़ीट चौड़ा भग्नावशेष पड़ा हुआ है। इसकी दीवालें ६½ फीट मोटी हैं, सतह पर ईंट के आठ परत हैं। नीचे का परत सबसे पुराना और सुदृढ़ जान पड़ता है। एक स्तूप औरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित बच गया है। उसकी बनावट और विस्तार को देखकर प्रतीत होता है कि वह पर्याप्त सावधानी से बनाया गया होगा। इसके चारों कोनों पर बने हुए बुर्जों में से तीन की दीवालों में छोटे-छोटे बहुत से ताक बने हुए हैं, जिनमें बुद्ध और बोधिसत्वों की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। ये मूर्त्तियाँ चूने और महीन बालू के पलस्तर की बनी हुई हैं। इन मूर्त्तियों और ईंटों पर खुदे हुए लेखों से

जो छठी शताब्दी के हैं, पता चलता है कि यह स्तूप गुप्त-काल में बना होगा।

उत्तर-पूर्व के कोने में, एक ऊँचे चबूतरे पर, अनेक स्तूप बने हुए हैं। एक चतुष्कोण प्रार्थना-भवन में अवलोकितेश्वर की एक विशाल प्रस्तर-मूर्ति भी वहीं पर सुरक्षित है। दक्षिण-पूर्व में एक छोटे से मन्दिर में नागार्जुन की पत्थर की प्रतिमा स्थापित है। एक ही पंक्ति में बने हुए समान आकार और बनावट के ११ छोटे मठ दिखाई देते हैं। दो के अतिरिक्त अन्य सभी मठों के सम्मुख पश्चिम की ओर चैत्यों की श्रेणियाँ हैं। उनमें पूर्व की ओर पानी निकलने की नालियाँ बनी हुई हैं। दक्षिण-पश्चिम में बना हुआ ऊँचा ज़ीना इस बात का प्रमाण है कि वे कई मंजिल ऊँचे बने होंगे। प्रत्येक मठ में एक गुप्त गृह और बहुमूल्य वस्तुओं के रखने का सुदृढ़ कक्ष पाया जाता है, जिनके भीतर जाने का संकुचित तथा नीचा मार्ग सामने की दीवाल में बना मिलता है।

नालन्द-मठ के मुख्य द्वार से मिला हुआ एक बरामदा है, जिसकी छत का अब पता नहीं चलता, किन्तु उसके दोनों ओर स्तम्भों की आधार-वेदियाँ दिखाई देती हैं। इस बरामदे के एक ओर एक बड़ा खुला हुआ आँगन था तथा दूसरी ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ एक पंक्ति में बनी हुई थीं। बीच की एक कोठरी, जो आँगन के प्रवेशमार्ग के सामने पड़ती है, वास्तव में एक देवालय के रूप में थी। देवालय के सामने के चबूतरे से, आँगन में एकत्रित विद्यार्थियों को पढ़ाते समय, शिक्षकगण व्याख्यान-मंच का काम लेते थे। दीवालों पर बड़ी मोटी पलस्तर की तह थी, जिसके कुछ चिह्न आज भी दिखाई देते हैं। नालन्द के मठों में सबसे बड़ी विशेषता वहाँ के गोलाकार छतोंवाले दो कक्षों की विचित्र बनावट है। प्राचीन भारत में मेहराबों के वास्तविक निर्माण का यह सर्वप्रथम उदाहरण मिलता है। ये मठ कई बार उजड़े और बसे, जिसका प्रमाण उनकी बनावट के भिन्न परतों से चलता है। एक में नौ परत हैं, दूसरे में दो या तीन। सम्भवतः नवीन मठ-निवासियों ने बिना पुराने मठों के आकार तथा स्थिति को बदले हुए ही उन पर नये मठों का निर्माण कराया होगा।

एक मठ के उत्तर-पूर्व में पत्थर का बना हुआ एक छोटा-सा मन्दिर है, जिसके ढले हुए स्तम्भ-नालों को तथा दीवालों के निचले भाग को २११ चित्र-चौखटों से अलंकृत किया गया है। इन चौखटों पर बड़े सुन्दर और आकर्षक चित्र खुदे हुए हैं। भिन्न-भिन्न मुद्राओं में मानव-आकृतियाँ, बौद्ध और हिन्दू देवी-देवता, खगोल-चित्र, लेख-चित्र आदि इन चौखटों में बने हुए हैं, जो छठी या सातवीं शताब्दी की प्रचलित मूर्त्तिकला के उदाहरण हैं। मुख्य स्तूप के उत्तर में तीन देवालय या चैत्य क्रम से बने हुए पाये जाते हैं, जिनका निर्माण-काल दो भिन्न-भिन्न युगों का परिचायक है। पहला चैत्य विशेषतया उल्लेखनीय है। उसका बाहरी भाग अनेक प्रकार के छोटे-छोटे ताकों और चौकोर स्तम्भों से अलंकृत है। आकार में यह चैत्य चतुष्कोण है और इसकी लम्बाई १७० फीट तथा चौड़ाई १६५ फीट है। प्रत्येक कोने में एक मंदिर बना हुआ है। मन्दिरों की दीवालों पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी है।

नालन्द के कला-भवन या संग्रहालय में काँसे और पत्थर की अनेक मूर्त्तियाँ सुरक्षित हैं। बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्त्तियों के अतिरिक्त तांत्रिक देवियों तथा देवताओं की मूर्त्तियाँ भी हैं, जिनसे पता चलता है कि नालन्द में तंत्र-शास्त्र की भी शिक्षा-दीक्षा होती थी। ब्रह्मा, शिव, पार्वती आदि की मूर्त्तियों का अस्तित्व वहाँ कैसे है, इसका कोई कारण समझ में नहीं आता। पाल-युग के कलाकारों की कृतियों को देखकर तत्कालीन कला-विकास और शिल्प-कौशल की सूक्ष्मता से हम निस्संदेह प्रभावित होते हैं। गुप्त-युग के कलाकारों से वे लोग निस्सन्देह सामूहिक-रचना में बाज़ी मार ले गये हैं, किन्तु उनकी बनाई मूर्त्तियों की गम्भीरता को नहीं पा सके हैं। नालन्द में मिली हुई काँसे की मूर्त्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। प्रत्येक मूर्त्ति के पीछे आधारपट्टिका अवश्य मिलती है। अधिकांश मूर्त्तियाँ भगवान् बुद्ध की भिन्न-भिन्न मुद्राओं की प्रदर्शक हैं। मूर्त्ति के तीन ओर एक अण्डाकार वृत्त जैसी सुचित्रित माला बनाने का उन दिनों में विशेष नियम था।

नालन्द के मठों में शिल्पकला के सर्वोत्तम उदाहरण दिखाई देते हैं। ये मठ अधिकांश में ईंटों के बने हैं। ये ईंटें हल्के पीले रंग की तथा अच्छे मसाले की बनी हैं। ईंटें परस्पर इस ख़ूबी से बिठाई गई हैं कि कहीं-कहीं उनके बीच में सन्धि का पता ही नहीं चलता। ईंटों का यह काम वास्तव में दर्शनीय है। पूर्वी बरामदे के ईशानकोण की ओर एक अठकोना कूप है। इसमें से अनेक टूटे-फूटे बर्तन निकाले गये हैं। पूर्वी कोठरी में चावल और जौ के कई ढेर मिले। अनुमान किया जाता है कि यह भिक्षुओं का भाण्डागृह रहा होगा। पूर्व दिशा में पत्थर के खँडहर पड़े हुए हैं। मंदिरों के प्रवेशद्वारों की गढ़ ढालू है। नालन्द के स्तूपों से उत्तर में करीब १५०० फीट तक

गहरा गर्त्त खोदा गया था, जिसमें अनेक अमूल्य वस्तुएँ मिलीं। उनमें भगवान् बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा भी थी, जो संग्रहालय में रखी हुई है।

प्राचीन भारत का यह अनुपम विद्यालय नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है। आज केवल मिट्टी के ऊँचे-ऊँचे टीले एक पंक्ति में दक्षिण और उत्तर की ओर ३०० फीट तक फैले हुए हैं। पूर्व की दीवालें बिल्कुल पृथ्वी के भीतर धँसी हुई हैं। इतस्ततः फैले हुए शिल्प के भग्नावशेषों और टीलों के टुकड़े इस विहार के महत्त्व का आज भी परिचय दे रहे हैं।

नवीन भारत के उदय के साथ देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जैसे नेताओं की प्रेरणा से इस महान् प्राचीन विद्याकेन्द्र के पुनरुद्धार का प्रयास किया जा रहा है। देखना है, वह कब सफल होगा!

एलोरा के अनुपम कला-मन्दिर

दक्षिण भारत में, हैदराबाद की एलोरा नामक पहाड़ियों की पथरीली चट्टानों को काटकर बनाया हुआ एक प्राचीन मन्दिर है, जो संसार के सर्वश्रेष्ठ पार्वतीय देवालयों में गिना जाता है। भारतवर्ष में एलोरा के अतिरिक्त सम्भवतः कोई भी ऐसा धार्मिक स्थान नहीं है, जहाँ क्रमिक रूप से एक ही जगह अनेक शताब्दियों की कलाकृतियाँ एक साथ प्रदर्शित की गई हों। यहाँ प्रत्येक युग के धर्मानुरागियों ने धर्म-परायणता तथा कलाक्रम में अपने पूर्वजों से बाज़ी मार ले जाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि एलोरा की समस्त कन्दराओं तथा स्मारकों को "एलोरा की गुफाओं" के नाम से पुकारा जाता है, पर वास्तव में ये दो समूहों में विभक्त हैं—कैलास-मन्दिर (जो वास्तव में गुफा नहीं है) और गुफा के मुख्य मन्दिर।

भगवान् शिव के सम्मानार्थ बनाया हुआ बृहत् कैलास-मन्दिर यदि संसार का नहीं तो भारतवर्ष का तो सबसे अद्भुत तथा अनुपम देवालय अवश्य है। इसका आकार अत्यन्त वृहद्, निर्माणशैली बड़ी पेचीदा तथा सजावट अनोखी है। इसके स्तम्भ, मूर्त्तियाँ और शिलाचित्र अद्वितीय रूप से सुन्दर हैं। पर्वतीय शिलाओं को सीधा-सीधा काटकर यह मन्दिर बनाया गया है। यह मन्दिर ईसा की आठवीं शताब्दी में बनना प्रारम्भ हुआ था और इसके आकार को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इसके निर्माण में सैकड़ों वर्ष अवश्य लग गये होंगे। ३०,००,००० घन फीट शिलाओं को काटकर मन्दिर के रूप में परिणत करना सचमुच कोई सरल कार्य न रहा होगा! यद्यपि यह मन्दिर शिलाओं को काटकर बना है, किन्तु इसे गुफा-मन्दिर नहीं कहा जा सकता। ७५७ ई० में राष्ट्रकूटों के सम्राट् कृष्ण प्रथम ने, जो शिव-भक्त था, अपने इष्टदेव के निवासस्थान कैलास की रचना अपने ही देश में करने का निश्चय किया। उसी ने इस मन्दिर का निर्माण कराया। कैलास की शोभा का स्वनिर्मित कैलास में सम्पूर्णतया समावेश करने के हेतु इस भक्त सम्राट् ने कोई बात उठा नहीं रखी। इसके लिए पहाड़ी उपत्यका का एक भाग अर्धचन्द्राकार काटकर बनाया गया, जो भगवान् शिव के मस्तक पर विराजमान चन्द्र का प्रतीक था। ऐसे मंदिरों
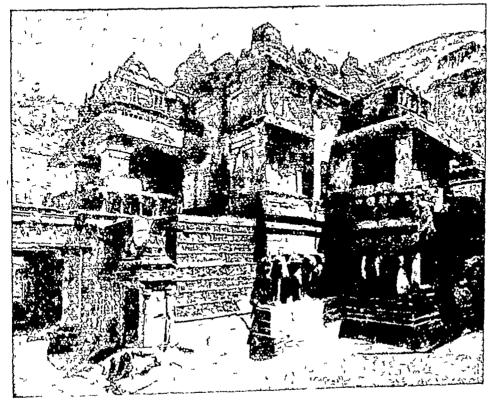
एलोरा के कैलास-मंदिर की झाँकी

के निर्माण के लिए किसी चट्टान को सामने से खोदते जाते हैं और उसे गहरा कर लेते हैं। परन्तु सम्राट कृष्ण के शिल्पियों ने दूसरी ही शैली का अनुकरण किया। उन्होंने शिलाओं को ऊपर से नीचे काटना आरम्भ किया। हरी-भरी पहाड़ी के ऊपर से २८० फीट लम्बा और १६० फ़ीट चौड़ा आयताकार खण्ड चिह्नित करके उसमें उन्होंने १५० फीट की गहराई तक खाइयाँ खोद लीं और मध्य खण्ड को अलग करके उससे ही इस कैलास-मन्दिर को गढ़कर उन्होंने बनाया। कल्पना कीजिये कि कितने वर्षों के अनवरत परिश्रम द्वारा उन्होंने इस दुस्तर कार्य को सम्पन्न किया होगा! जब हम कैलास-मन्दिर के बाह्य भाग में बनी हुई मूर्तियों, कलापूर्ण बृहत् स्तम्भों, नक़्क़ाशी के काम और चित्रण पर दृष्टि डालते हैं और भीतर के कक्षों, बरामदों, सीढ़ियों और वेदियों की सजावट देखते हैं, तो अनायास ही हमारे मन में उन प्राचीन कलाकारों के प्रति श्रद्धा के भाव जाग्रत होते हैं। न जाने कितने कारीगरों ने हथौड़ों और टाँकियों के सहारे दिन-रात काम करके मन्दिर के बाहर खड़े हुए असंख्य हाथियों की वे मूर्तियाँ गढ़ी होंगी! न जाने कितने वर्षों में मन्दिर की छत को सुन्दर कलाकृतियों से सजाया गया होगा! उन महान् व्यक्तियों का यह सराहनीय प्रयत्न समाप्त हुए न जाने कितने वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु आज भी उनकी कीर्ति और कला का अनुपम स्मारक यह कैलास-मन्दिर ज्यों-का-त्यों खड़ा हुआ है और भारत का गौरव बढ़ा रहा है। विधर्मियों ने इस पर अवश्य आघात किये हैं, परन्तु वे इसके अस्तित्व को नहीं मिटा सके।

कैलास-मन्दिर के तीन ओर, खड़ी हुई पथरीली चट्टानों को काटकर, विभिन्न स्तम्भावलियाँ खड़ी की गई हैं। उत्तरी भाग में लंकेश्वर का मन्दिर है, जिसकी लम्बाई १०८ फीट और चौड़ाई ६० फीट है। इस मन्दिर की छत २७ नक़्क़ाशीदार स्तम्भों पर आधारित है। दक्षिण की ओर भी एक अधूरा मन्दिर है, जो तीन खण्डों में बना है और पत्थर के गढ़े हुए पुल द्वारा कैलास-मन्दिर से मिला हुआ है। कैलास-मन्दिर का प्रवेशद्वार इतना बड़ा है कि सारा मन्दिर उसकी आड़ में छिप जाता है। यह द्वार भी ठोस चट्टानों से गढ़ा गया है। मन्दिर एक बहुत बड़े प्राङ्गण में बना हुआ है, जिसके चारों ओर शिलाओं को काटकर सुन्दर प्राचीर खड़ा किया गया है। द्वार से प्रवेश करते ही सामने एक विशाल मण्डप दिखाई देता है, जिसकी बनावट विचित्र लगती है। यह शिव के वाहन नन्दी का स्थान है। पत्थर के गढ़े हुए पुल द्वारा यह मण्डप एक ओर प्रवेश-मंच से तथा दूसरी ओर मुख्य मन्दिर से संयुक्त है। मण्डप के दोनों ओर दो ऊँचे-ऊँचे स्तम्भ खड़े हैं, जिनमें से प्रत्येक की ऊँचाई ४६ फीट है। ये स्तम्भ बड़े सुन्दर बने हैं और इनके शीर्ष त्रिशूलाकार हैं। प्रत्येक स्तम्भ के निचले आधार के पास एक पूरे आकार के हाथी की मूर्ति है, जो हिमालय पर्वत के चारों ओर अनवरत फिरनेवाले बादलों की प्रतीक ज्ञात होती है। बाँई ओर पहाड़ी में खुदा हुआ भगवती भागीरथी का एक अपूर्ण मन्दिर है, जिसके निम्न प्रकोष्ठ में गंगा, यमुना और सरस्वती की छाया-मूर्त्तियाँ अंकित हैं। इस मन्दिर के छज्जे के चारों ओर कमण्डल बने हुए हैं।

इन देवालयों को अपनी महानता से प्रभावित करता हुआ मुख्य मन्दिर एक प्रतापी सम्राट् की भाँति सिर उठाये खड़ा हुआ है। इसका सर्वोच्च शिखर ९६ फीट ऊँचा है। विशालकाय हाथियों के ऊपर आधारित २७ फीट ऊँची आधार-वेदिका पर यह मन्दिर स्थापित है। बहुतेरे हाथियों की सूँड़ें टूट गई हैं और उनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है। यवन आक्रमणकारियों के क्रूर हाथों के आघात उन पर स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस मन्दिर का भीतरी प्राङ्गण चतुष्कोण है और ५३ फीट लम्बा-चौड़ा है। भीतर की छत १६ स्तम्भों पर आधारित है। यहाँ से ६ सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद एक कारु-कार्य से अलङ्कृत द्वार से होकर हम भगवान् शिव के सुविशाल लिङ्ग के सम्मुख जा पहुँचते हैं। यह कक्ष छोटा है और अन्धकार से आच्छादित रहता है। एक ऊँची मेधी इस कक्ष के चारों ओर बनी हुई है। इस मेधी पर पाँच छोटे-छोटे मन्दिर बने हुए हैं। एक गणेश का, दूसरा पार्वती का तथा तीन अन्य देवताओं के मंदिर हैं। कोई भी मूर्त्ति ८ फीट से कम ऊँची नहीं है। स्तम्भावलियों और भीतरी कक्षों की दीवालों पर देवमूर्त्तियों की भरमार है। इस विशाल मन्दिर का पूर्वी और पश्चिमी आधार १६४ फीट और उत्तरी तथा दक्षिणी १०६ फीट है। दक्षिण की सीढ़ियों वाले भाग की बाहरी भीत पर रामायण की कथाओं में वर्णित दृश्य अत्यन्त कुशलता से अंकित किये गये हैं। उत्तरी भीत पर श्रीमद्भागवत की कथाएँ चित्रित हैं। आँगन के चारों ओर खड़े हुए स्तम्भों के बीच वाली भीत भिन्न-भिन्न प्रकार की अत्यन्त सुन्दर तथा कलापूर्ण मूर्त्तियों से अलंकृत है। कैलास-मन्दिर में कहीं-कहीं सुन्दर चित्रकारी भी पाई जाती है। इन चित्रों का रंग अब फीका पड़ गया है, जिससे इनकी प्राचीन आभा जाती रही है। यवनों के क्रूर हाथों ने इन

आकृतियों को भी विकृत कर दिया है। भारतीय शिल्पकला का अप्रतिम उदाहरण-रूप यह मन्दिर निस्सन्देह संसार के महान् आश्चर्यों में स्थान पाने योग्य है।

गुफाओं वाले ३४ मन्दिरों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—बौद्ध, जैन तथा हिन्दू। १७ मन्दिर ऐसे हैं, जो बौद्धकालीन ज्ञात होते हैं। उनमें से एक "ग्वालिनों का मन्दिर" कहलाता है। उसका प्रवेशद्वार भाँति-भाँति की कलापूर्ण नारी-मूर्त्तियों से अलंकृत है। द्वार के पार्श्व में दो-दो खिड़कियाँ हैं, जिनमें कपाट नहीं लगे हैं। स्तम्भावलियों पर बड़ी कलापूर्ण नक्काशी का काम किया हुआ है। मन्दिर के देवस्थान में जाने का मार्ग गोलाकार बना है, जिसके बाहर प्रहरियों की दो मूर्त्तियाँ हैं। यहाँ अन्धकार रहता है। अन्य गुफायें भी बड़ी सुन्दर हैं। प्रत्येक गुफा में एक छोटी-सी कोठरी बनी हुई है। प्रत्येक कोठरी में भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्त्ति स्थापित है, जिसके पीछे खड़ी हुई अन्य मूर्त्तियाँ उस पर चँवर डुला रही हैं। सभी मूर्त्तियाँ प्रायः एक ही शैली की हैं। इनमें जातक-कथाओं में वर्णित चरित्रों का कोई भी चित्रण नहीं मिलता। इन गुफाओं में "भोजन-गृह" तथा "विश्वकर्मा-मन्दिर" उल्लेखनीय हैं। एक दूसरी गुफा की छत में पत्थरों को इस प्रकार से छीला गया है कि देखनेवाला उन्हें काष्ठ की कड़ियाँ समझकर धोखा खा जाय। प्रांगण के दोनों ओर स्तम्भों की पंक्तियाँ खड़ी हैं। छोर पर बुद्धदेव की एक भीमकाय मूर्त्ति है, जिसके पीछे एक छत्र बना हुआ है। भारतवर्ष के बौद्ध चैत्यों में यह गुफा सर्वश्रेष्ठ है। ग्यारहवीं गुफा के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा थी कि इसमें दो खण्ड हैं, पर वास्तव में इसमें तीन खण्ड हैं। तीसरे खण्ड का पता सन् १८७६ में लगा था। बारहवीं गुफा भी तीन खण्ड की थी। इसका यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो बौद्ध गृह-निर्माण-कला का अच्छा ज्ञान हो सकता है। ऊपरी खण्ड में बौद्ध शैली के कुछ ऐसे कलापूर्ण कारु-कार्य के नमूने हैं, जो अपनी समानता नहीं रखते। इन गुफाओं में से अधिकांश मठों का काम देती थीं, जिनमें बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। उनके रहने के लिये यहाँ छोटी-छोटी कन्दरायें थीं तथा एक प्रार्थना-कक्ष भी था।

इन गुफाओं के भीतर बने हुए जैन मन्दिरों की संख्या पाँच है, जिनका निर्माणकाल सन् ८०० से ११०० ई० के लगभग अनुमान किया जाता है। जैन मन्दिरों के आँगन बहुत बड़े-बड़े हैं और उनके चारों ओर कारु-कार्य से सुशोभित अनेक स्तम्भ खड़े हुए दिखाई देते हैं। स्तम्भों के आधार और शीर्ष बिल्कुल सादे बने हैं। जैनों की गुफाएँ बौद्ध गुफाओं की अपेक्षा बड़ी हैं और उनके मन्दिरों की बनावट अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर है। जैन मन्दिरों में सबसे श्रेष्ठ मन्दिर "इन्द्रसभा" के नाम से विख्यात है। सुन्दरता और सौष्ठव में कैलास के बाद इसी का नम्बर है। इसके आँगन के पीछे दो विशाल मण्डप बने हुए हैं, जिनमें से एक अधूरा है। प्रत्येक मण्डप १२ स्तम्भों पर आधारित है। छत में कमल बना हुआ है, जिसके ठीक नीचे किसी ज़माने में मूर्त्ति स्थापित थी। बाँई ओर पत्थर की दो मूर्त्तियाँ हैं, जो पार्षदों की ज्ञात होती हैं। ऊपरी प्रकोष्ठ में दोनों ओर चार-चार स्तम्भ बने हैं, जिनकी कारीगरी दर्शनीय है। कलापूर्ण बेल-बूटों से अलंकृत वैसे स्तम्भ एलोरा की गुफाओं में विरले ही दिखाई देते हैं। इन स्तम्भों के दाहिनी ओर एक सुन्दर देवालय में चतुष्कोण वेदी पर इन्द्रदेव की मूर्त्ति स्थापित है। अन्य मंदिरों की बनावट भी बड़ी सुरुचिपूर्ण और प्रभावोत्पादक है, जिससे ज्ञात होता है कि जैन लोगों ने अपने देवालयों को सुन्दरतम बनाने में कुछ उठा नहीं रखा था।

एलोरा की गुफाओं में बने हुए हिन्दू-मन्दिरों में "धूमरलेन" का मन्दिर सबसे सुन्दर है। इसके फर्श की नाप १४६ फीट है और इसकी छत स्तम्भों पर आधारित है। देवालय एक पृथक् चौकोर कक्ष में बना हुआ है, जिसके दोनों ओर दो बड़े-बड़े द्वार हैं। देवालय के चारों ओर भीतों पर दानवाकार मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। यह मन्दिर हिन्दू-शिल्प-कला का भव्य उदाहरण है।

आज ये सारे मन्दिर जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े हुए अपने वैभवशाली अतीत की याद में आँसू गिराया करते हैं। अब इनमें घण्टों की मधुर ध्वनि नहीं गूँजती—शंखों का जयघोष नहीं सुनाई देता—भेरियों का शब्द नहीं गूँजता। सब कुछ शांत, नीरव और निस्तब्ध है। निर्जनता के सहचर बने हुए इन मन्दिरों का जीवन क्या सदा ऐसा ही रहेगा ?

एलीफैन्टा (धारापुरी) के भव्य कंदरालय

बम्बई के समुद्र-तट से थोड़ी दूर पर एलीफैन्टा नामक एक छोटा-सा द्वीप है, जिसके दक्षिण में धारापुरी ग्राम के नाम से ही इस द्वीप का देशीय नाम धारापुरी पड़ गया है। यह द्वीप वास्तव में एक छोटे-मोटे पहाड़ के आकार का है, जिसका घेरा चार मील से किसी प्रकार कम नहीं है। आसपास भी कई पहाड़ियाँ हैं। बरसात में यहाँ की प्राकृतिक शोभा देखने योग्य होती है! जलप्रपातों

का कलकल स्वर, जंगल की हरियाली, सुहावना मौसम—सब कुछ अद्भुत जान पड़ता है। धारापुरी की ख्याति का कारण इसकी पहाड़ी गुफाओं के भीतर बनी हुई प्राचीन मूर्त्तियाँ और शिल्प-चित्र हैं, जिनका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। इस द्वीप की मुख्य पहाड़ी में बनी हुई गुफाओं का निर्माणकाल आठवीं शताब्दी माना जाता है और पुरातत्ववेत्ताओं के मतानुसार वे एलोरा, जोगेश्वरी आदि की गुफाओं की समकालीन हैं। धारापुरी की गुफाओं के विषय में अनेक किम्वदन्तियाँ सुनने में आती हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि इनको महाभारतकाल में पाण्डवों ने बनवाया था। सुना जाता है कि ये एक ही रात में तैयार की गई थीं, परन्तु सवेरा हो जाने के कारण काम अधूरा रह गया, जो अब तक वैसा ही पड़ा है। किन्तु यह कल्पना की बातें हैं। गुफाओं की कुल सख्या पाँच हैं, जिनमें एक गुफा सबसे बड़ी है। इसमें मूर्त्तिकला के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

इतिहासकारों का मत है कि मौर्य-सम्राटों के शासनकाल में धारापुरी उनके किसी सुदूर पश्चिम-दक्षिणी प्रदेश की राजधानी थी। मोरबन्दर नाम का एक बंदरगाह भी पास के अरान नामक द्वीप में है। मौर्यों के पश्चात् धारापुरी क्रमशः चालुक्य, राष्ट्रकूट और यादववंशीय राजाओं के अधीन रही। तेरहवीं शताब्दी में यह बिल्कुल उजड़ गई। यद्यपि इसे मुसलमानों की धर्मान्धता का शिकार नहीं बनना प॰ा, किन्तु कालान्तर में इसकी देखरेख न होने के कारण ही यह नष्टप्राय हो गई। सन् १५६४ ई० में पोर्तुगीज लोगों ने इस पर अधिकार जमाया। सन् १५३६ ई० में डोम जोओ डे कास्ट्रो ने तो इसके सौन्दर्य से प्रभावित होकर यहाँ तक कह डाला कि ये गुफाएँ मानवीय कला से परे की चीज हैं। बाद में, पोर्तुगीज़ों द्वारा इन गुफाओं को यथेष्ट हानि भी पहुँची। वे अपने जानवरों को इन गुफाओं में बांधा करते थे। एक व्यक्ति ने बंदूक की आवाज की प्रतिध्वनि सुनने का आनन्द उठाने के लिये इन गुफाओं के भीतर गोलियां छोड़ीं, जिसके फलस्वरूप कई स्तम्भ गिर पड़े। पानी की तरी के कारण भी गुफाओं का कुछ भाग नष्ट हो गया। सन् १६०६ में ब्रिटिश सरकार ने इन गुफाओं को प्राचीन स्मारकों की कोटि में घोषित करके इन्हें पुरातत्त्व-विभाग की देखरेख में सौंप दिया, जिसके द्वारा इनकी रक्षा और खोज का प्रशंसनीय कार्य हुआ है।

धारापुरी की पहाड़ियों में सब मिलाकर पाँच गुफाएँ हैं, जिनमें से पहली गुफा सबसे बड़ी और दर्शनीय है। अन्य चार गुफाएँ भी देखने योग्य हैं, यद्यपि वे अपेक्षाकृत उतनी सुन्दर नहीं पाई जातीं। पहली अर्थात् मुख्य गुफा का आकर्षण ही अद्भुत है। पहाड़ी पर चढ़ते समय बाईं ओर दो-चार छोटे-छोटे बँगले और झोपड़ियाँ दिखाई देती हैं। गुफा का मुख्य द्वार उत्तर की ओर है, जो काफी चौड़ा है। पूर्व और पश्चिम में भी द्वार हैं, जिनसे भीतर उजाला रहता है। दोनों ओर के खुले प्रांगणों में पर्याप्त हवा आती है और प्रकाश भी खूब रहता है। पश्चिम की ओर एक जलकुण्ड है, जो वर्षाऋतु में भरा रहता है। इस गुफा में तीन शिवलिंग स्थापित हैं, एक बीच में तथा दो किनारों पर। बीच में एक बड़ा मन्दिर है, जो २३ वर्गफीट के घेरे में बना हुआ है। इस मन्दिर के शिवलिंग का बड़ा माहात्म्य है और शिवरात्रि के अवसर पर बहुतेरे यात्री यहाँ आते हैं। पश्चिम का जलकुण्ड ६६ फीट लम्बा और ४६ फीट चौड़ा है। एक जल-प्रपात से इस कुण्ड में पानी आया करता है, जिसे हिन्दू यात्री तीर्थों के जल की भाँति पवित्र मानते हैं और जाते समय थोड़ा-थोड़ा साथ ले जाते हैं। इस कुण्ड के दाहिनी ओर एक छोटा-सा मंदिर है, जो सम्भवतः इस गुफा से पहले का बना हुआ है। यहाँ सती की मृत्यु के पश्चात् तपश्चर्या में लीन शिव-मूर्त्ति है, जिसकी बनावट भद्दी और मोटी है। छः हाथोंवाले शिव की एक और भी मूर्त्ति यहाँ दिखाई देती है। उनके एक हाथ में सर्प, दूसरे में गदा, और तीसरे में जाने क्या था, जो टूट गया है और जिसका पता नहीं चलता। सामने के बाएँ हाथ से वे वस्त्र का छोर पकड़े हुए हैं। बीच के हाथ में एक मुड़ा हुआ शस्त्र है। शिवमूर्त्ति के दाहिनी ओर हंसारूढ़ ब्रह्मा और अश्वरथारूढ़ सूर्य की मूर्त्तियाँ हैं। बाईं ओर पार्वती की मूर्त्ति है तथा गजारूढ़ इन्द्र और गरुड़ासीन विष्णु की मूर्त्तियाँ दिखाई देती हैं।

इसी गुफा के पूर्ववर्त्ती भवन में एक गोलाकार चबूतरा बना है, जो सम्भवतः नान्दी का स्थान रहा होगा। किन्तु शिव-वाहन नान्दी का अब कोई चिन्ह वहाँ पर नहीं मिलता। कुछ विद्वानों का मत है कि यहाँ पर हवनकुण्ड था। आँगन से मंदिर की ओर जाते समय दाहिने-बायें दो छोटे-छोटे कक्ष मिलते हैं, जिनके सामने शिव-लिंग स्थापित है। मंदिर की सीढ़ियों के दोनों ओर दो सिंहाकृति मूर्त्तियाँ हैं, जो नीचे दबी हुई पाई गई हैं। बाईं ओर वाली मूर्त्ति पूर्ण है और आठवीं या नवीं शताब्दी में निर्मित प्रतीत होती है। दूसरी मूर्त्ति अपूर्ण है, और बाद की बनी है। मंदिर के चारों ओर लगभग ३। गज़ चौड़ा एक

परिक्रमा-स्थान है, जहाँ द्वारपालों और परिचारकों की बहुतेरी छोटी मूर्त्तियाँ हैं। पश्चिम की ओर नक्काशी का अच्छा काम बना है, जो अधिकांशतः टूट-फूट गया है। यहीं पर एक सशस्त्र योद्धा-मूर्त्ति है, जिसके पार्श्व में एक नारी-प्रतिमा स्थापित है। बाँई ओर कमलासन पर बैठे हुए ब्रह्मा और एक पुरुषाकृति मूर्त्ति है। दाहिनी ओर गरुड़ासीन विष्णु हैं। ऊपर भक्त लोग हैं, जो पुष्पमालाएँ लिए तथा हाथ जोड़े खड़े हैं। मंदिर की भीत पर दस शिल्प-चित्र और भी बने हैं, जो नष्टप्राय हो रहे हैं। गणेश तथा कार्त्तिकेय, आठ शक्तियाँ, उनके वाहन, ध्वजायें, गन्धर्व और अप्सरायें इस भीतचित्र में अंकित है। चित्रों के आस-पास बेल-बूटे बने हुए हैं।

इस मुख्य गुफा की लम्बाई १३३ फीट व चौड़ाई १३० फ़ीट है और इसमें २६ स्तम्भ हैं, जिन पर छत आधारित है। केवल १० स्तम्भ अच्छी दशा में हैं, शेष बाद में ठीक कराये गये हैं। कुछ नये सिरे से बनवाये गये हैं। स्तम्भों की ऊँचाई १५ फ़ीट से कम नहीं है। लोगों का अनुमान है कि इस गुफा में बड़ा सुन्दर चित्रकारी का काम था, जो अब नष्ट हो गया है, किन्तु उसके चिन्ह छत के नीचे कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। गुफा में खुदी हुई मूर्त्तियों के ६ चित्र-फलक पाये जाते हैं। पहला चित्र महायोगी शिव का है। मानवाकृति नागराजों की उँगलियों पर स्थित कमल के ऊपर शिवजी बैठे हैं। देवता और योगीजन चारों ओर खड़े हुए प्रार्थनारत हैं। दाहिनी ओर गदाधारी गरुड़ासीन विष्णु हैं। विष्णुमूर्त्ति के ऊपर सूर्य हैं। सूर्य के रथ के अश्व का सिर खंडित है। बाईं ओर इन्द्र और ब्रह्मा हैं। शिवार्चन में लीन गन्धर्व तथा अप्सरायें आकाश में दिखाई देते हैं। केले के वृक्ष का अंकन वास्तव में अत्यंत सुन्दर और कलापूर्ण है। इस चित्र-फलक का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। दूसरा चित्र शिव-ताण्डव का है। भगवान् शिव की संहार-मुद्रा देखते ही बनती है। दाहिनी ओर पार्वती की मूर्त्ति है। शुभकारी गणेश जी और कार्त्तिकेय भी पास में हैं। शिवजी का सेवक निकट ही खड़ा है और उनके डमरू की आकृति भी स्पष्ट दिखाई देती है। ऊपर हंसारूढ़ ब्रह्मा तथा एक ऋषि की मूर्त्ति है। गरुड़ पर सवार विष्णु तथा ऐरावत पर चढ़े हुए इंद्र गन्धर्वों के समूह में दिखाई देते हैं। तीसरी मूर्त्ति भैरव की है। भैरव हाथ में भाला लिये हैं, जिससे विद्ध एक राक्षस नीचे पड़ा है। उसके एक हाथ में तलवार है। मूर्त्ति की नाभि के नीचे का भाग खण्डित है। यह मूर्त्ति ११ फीट ३ इंच ऊँची है। मस्तक पर सर्प तथा गले में मुंडमाल है। शिरोमुकुट पर अर्धचन्द्र शोभायमान है। इसी मूर्त्तिसमूह में दक्ष-यज्ञ-विध्वंस का दृश्य है, जिसमें कुपित शिव की भयंकर मूर्त्ति दिखाई देती है। चारों ओर ऋषिगण हैं। सामने एक शिवमंदिर का चित्र है। चौथा चित्र शिव-पार्वती-परिणय का है। शिव-विवाह में वर-वधू के अतिरिक्त हिमाचल, उनकी पत्नी मैना, चंद्र, ब्रह्मा, विष्णु, ऋषिमुनि तथा स्वर्ग के देवी-देवताओं की उपस्थिति का सुन्दर समारोह प्रदर्शित किया गया है। यह शिल्प-चित्र नष्टप्राय है। इस चित्र के ठीक सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्त्ति के दर्शन होते हैं। बीच में ब्रह्मा, दाहिनी ओर शिव और बाईं ओर विष्णु हैं। ब्रह्मा का एक हाथ टूट गया है। त्रिमूर्त्ति के दोनों ओर द्वारपाल खड़े हैं, जिनके नीचे एक राक्षस-मूर्त्ति है। त्रिमूर्त्ति का शृंगार बड़ी सुन्दरता से किया गया है। ये मूर्त्तियाँ अन्य मूर्त्तियों की अपेक्षा अधिक सुडौल और आकर्षक हैं। पाँचवाँ चित्र गंगावतरण का है। इसमें शिव, पार्वती, ब्रह्मा, इंद्र और विष्णु तथा गन्धर्वों और भक्तों के चित्र हैं। शिवजी के मस्तक पर तीन नदियों की मूर्त्तियाँ हैं। यह चित्र भी अच्छा बना है। छठी मूर्त्ति अर्द्धनारीश्वर शिव की है। आधे भाग में शिव तथा आधे में पार्वती बनी हैं। शिवजी के दाहिने हाथ में सर्प है और उँगली में एक मुद्रा। एक हाथ नन्दा पर रखा हुआ है। पीछे के बाएँ हाथ में दर्पण है। मुकुट कुछ ऊँचा है। दाहिने भाग में चंद्ररेखा है। पार्वती का प्रतीक मूर्त्तिभाग विशेषतया अलंकृत किया गया है। भाँति-भाँति के आभूषण पहिनाये गये हैं। बाईं ओर पार्वती जी की दो परिचारिकायें हैं, जो चँवर और शृंगारदान लिये हैं। पास ही चतुर्भुज विष्णु खड़े हैं। ऊपर, मच्छ पर चढ़े हुए वरुण, गजारूढ़ इंद्र, तथा हंसारूढ़ ब्रह्मा की मूर्त्तियाँ हैं। ब्रह्मा के हाथों में कमल और पंचपात्र है। एक हाथ में पुष्प-कलिका तथा दूसरे में थैली लिये हुए कुबेर की मूर्त्ति है। नीचे कार्त्तिकेय हैं। ऊपरी भाग में गन्धर्वों की कुछ मूर्त्तियाँ भी हैं। सातवाँ चित्र शिव-पार्वती-कलह का है। शिवजी की जटाओं में स्त्री-मुख देखकर पार्वती रूठ गईं। चित्र में शिव पार्वतीसहित सिंहासनासीन हैं और नंदी पर उनका हाथ है। गले में हार, शरीर पर यज्ञोपवीत तथा हाथों में कंकण हैं। पार्वतीजी मुकुट, दो हार, तथा अन्य आभूषण धारण किये हैं। उनके केश बँधे हुए हैं। दाहिनी ओर एक स्त्री कार्त्तिकेय को गोद में लिये है। शिवजी के पैरों के पास उनका सेवक भृंगी है, जिसका

मुंड नष्ट हो गया है। भृंगी के आगे द्वारपाल है। पार्वती के नीचे गरुड़ है। ऊपर गन्धर्व और अप्सरायें हैं। पृष्ठ-भाग में कैलास का मनोहर दृश्य है। आठवाँ चित्र कैलास के नीचे रावण का है। इसमें शिव-पार्वती बैठे हुए हैं। शिव जी के सम्मुख भृंगी और उनके बाँई ओर गणेश हैं। ऊपर कई देवता हैं। मूर्ति-समूह के नीचे कैलास को उठाये हुए दशशीश रावण है, जिसके आसपास कई राक्षस हैं। पार्वती जी की मूर्त्ति खण्डित है, परन्तु अधोभाग सुरक्षित है। शिव जी का तृतीय नेत्र स्पष्ट दिखाई देता है। रावण के सिर बहुत से टूट चुके हैं और भुजाओं में कुछ ही अवशेष हैं। फिर भी, यह चित्र बड़ी कुशलता से बनाया गया है।

अन्य गुफाएँ बिल्कुल साधारण हैं। मुख्य गुफा के आगे जाकर पहाड़ी घूम जाती है, अतएव शेष गुफाओं के द्वार पूर्व की ओर पड़ते हैं। पहली गुफा में दो कोठरियाँ, एक बरामदा और आगे प्रशस्त प्रांगण है। गुफा की मेहराब के ऊपर का भाग ६ स्तम्भ पर आधारित है। इस गुफा के भित्ति-चित्र मर नष्ट हो गये हैं। अनुमानतः इस गुफा की रचना पाँचवीं सदी के लगभग हुई होगी। दूसरी गुफा में एक शिवलिंग तथा दोनों ओर दो कक्ष हैं। इसके आगे भी बरामदा है। गुफा ८० फीट लम्बी है और बीच में चार फीट की गहराई का एक कँगूरा है, जिसमें छोटी-छोटी बहुत-सी मूर्तियाँ हैं। मेहराब के आगे १० फीट तक शिलाएँ सायबान की तरह निकली हुई हैं। ये पहले ६ स्तम्भों पर आधारित थीं, जिनमें से केवल एक बाक़ी बचा है, शेष नष्ट हो गये। मंदिर के द्वार पर नक़्क़ाशी का काम देखने योग्य है। द्वार के दोनों ओर द्वारपाल तथा ऊपर अप्सरायें बनी हैं। तोरण पर शिवमूर्त्ति अंकित है। मूर्त्ति के ६ हाथ हैं तथा दोनों ओर मछलियाँ बना हुई हैं। तीसरी गुफा की बनावट भी इसी गुफा से मिलती-जुलती है। ये दोनों गुफाएँ पाँचवीं या छठी शताब्दी की बनी ज्ञात होती हैं।

कुछ आगे पहाड़ी के नीचे चौथी गुफा मिलती है। इसके खम्भे चौकोर और सादे बने हुए हैं। नक्काशी का काम यहाँ नहीं दिखाई देता। पहाड़ी के पूर्वोत्तर में भी गुफाओं के चिह्न हैं। पश्चिम की एक गुफा लगभग ७० फीट लम्बी तथा २६ फीट चौड़ी है। इसमें एक मंदिर और दो छोटे-छोटे कक्ष हैं। अग्र भाग दो स्तम्भों पर आधारित है, जिनमें से एक स्तम्भ अब टूट गया है। मंदिर और द्वार के बीच में नंदी का चबूतरा है। दोनों ओर दो सिंह-मूर्तियाँ हैं। कोठरियों पर नक्काशी का

सुन्दर काम है, जो बहुत-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है। पहाड़ी के ऊपर कुछ खँडहर भी दिखाई देते हैं, जो किसी बौद्ध-कालीन स्तूप के हैं। ईंटों की टूटी-फूटी दीवाल तथा नींव दिखाई देती है। पूर्वोत्तर में भी कुछ दीवालों के खण्ड हैं और पश्चिम में पानी की सात टंकियाँ पाई जाती हैं। इस पहाड़ी पर एक बार एक मुद्रा मिली थी, जिस पर 'नारायण' अंकित था। अनुमान किया जाता है कि यह स्तूप तीसरी शताब्दी का बना हुआ होगा। बौद्ध धर्म की इतनी ही निशानी धारापुरी में मिलती है, अन्यथा सभी गुफाओं की मूर्त्तियों और भित्ति-चित्रों की निर्माण-शैली हिन्दुओं की है।

करली की गुफाएँ

बौद्ध मत के प्राचीन स्मारकों में करली के गुफा-मन्दिरों का प्रमुख स्थान माना जाता है। भारतवर्ष के पश्चिमीय पहाड़ी प्रदेश में जहाँ बम्बई-पूना के आस-पास गगनचुम्बी पर्वतमालाओं का एक जाल-जैसा बिछा हुआ है, वहीं लोनावला से ६ मील दूर करली नाम का एक रेलवे-स्टेशन है। इसी स्टेशन से लगभग ३ मील आगे जाने पर एक पहाड़ी मिलती है। इसी पहाड़ी की गुफाओं में ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में बौद्धों ने अपना चैत्य और विहार स्थापित किया था। ये गुफाएँ पहले प्राकृतिक बनी हुई थीं, जिनको काट-छाँट कर वर्तमान रूप दिया गया। अनुमानतः अशोक के शासनकाल में ही बौद्ध भिक्षुओं ने करली की गुफाओं में अपना अड्डा जमा लिया था और धीरे-धीरे उन्होंने ही अपने आवासस्थल को एक सुन्दर रूप दे दिया होगा। पहाड़ी पर थोड़ी दूर चढ़ने के बाद बौद्ध मंदिर दिखाई देने लगता है। प्रवेशद्वार के एक ओर सामने के प्रांगण में एक ऊँचा स्तम्भ है, जिसके शीर्ष पर चार सिंहों की मूर्त्तियाँ हैं। ऐसा ही एक दूसरा स्तम्भ प्रवेशद्वार के दूसरी ओर भी रहा होगा, जो कालान्तर में नष्ट हो गया। उस स्तम्भ के स्थान पर एक छोटा-सा आधुनिक मंदिर खड़ा हुआ है।

गुफा का मुख्य द्वार पश्चिम की ओर है, जो पहाड़ी को काटकर बनाया गया है। इस द्वार के दाहिने-बायें दो छोटे द्वार और भी हैं। उनके ऊपर चार आयताकार झरोखे बने हुए हैं, जो छोटे-छोटे चौकोर खम्भों से विभाजित हैं। प्रवेश-द्वार का ऊपरी भाग दो अठ-पहलू स्तम्भों पर आधारित था, जिनमें से एक तो नष्ट हो गया है और दूसरे की मरम्मत करा दी गयी है। प्रवेश-द्वार का एक विशाल भाग टूट-फूट चुका है। बचे हुए अनेकों गहरे छिद्र दिखाई देते हैं और उनका

कर यह जान पड़ता है कि किसी ज़माने में द्वार के ऊपर आगे की तरफ छज्जे अवश्य बने होंगे। द्वार से प्रवेश करते ही ख़ूब लम्बी-चौड़ी ड्योढ़ी मिलती है। ड्योढ़ी के पार्श्व में तीन झरोखेदार दीवालें हैं, जिनसे भीतर प्रकाश दूर तक आता रहता है। पूर्वी सिरे पर वेदी के स्थान पर एक समाधिगृह है। मध्यभाग की छत में लकड़ी की कड़ियाँ लगी हुई हैं, जिनके सिरे दीवालों की चट्टानों में घुसे हुए हैं। भीतर लकड़ी की एक अर्धचन्द्राकार मेहराब है। समाधिगृह के ऊपर भी काष्ठ-छत्र के टुकड़े दिखाई देते हैं। लकड़ी का यह सारा काम चैत्य की खुदाई के समय का बना हुआ है और विद्वानों के मतानुसार पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व का है।

मध्यभाग से दाहिने-बायें कुछ हटकर पन्द्रह अठ-पहलू स्तम्भ खड़े हुए हैं और समाधि-गृह के पृष्ठभाग में बिलकुल सादे वैसे ही सात स्तम्भ और हैं, जो वृत्तार्ध के क्रम से स्थापित हैं। सामने की ओर चार स्तम्भ हैं। कुछ स्तम्भों पर बड़ी कलापूर्ण नक़्क़ाशी की हुई है। भीतर का कक्ष १२५ फ़ीट लम्बा और ४५ फ़ीट चौड़ा तथा ऊँचा है, जिसका मध्य भाग ही ८१ फ़ीट लम्बा और २५ फ़ीट चौड़ा है। भारतवर्ष के बौद्ध चैत्यों में करली का यह चैत्य औरों की अपेक्षा अधिक सम्पूर्ण और बड़ा है। इसकी सजावट में जिस शिल्प-शैली का अनुसरण किया गया है, वह बौद्धकालीन सर्वश्रेष्ठ शैली कही जा सकती है। इसका समाधिगृह अर्धगोलाकार बना है, जिसके नीचे का अंश साँची की वेष्ठनियों जैसी आकृति-वाली वेष्टनियों से संयोजित है। ऊपर एक चतुष्कोण सूच्याकार शिखर है, जिसमें क्रमिक आकार के ६ शिला-पट्ट लगे हुए हैं। शिखर के ऊपर और नीचे का भाग चित्र-विचित्र है।

पार्श्ववर्त्ती स्तम्भों के परगहे घटाकृति हैं, जिनके ऊपर चार शिलापट्टों से बनी हुए त्रिकोणाकार बैठकी आधारित है। उस बैठकी पर युग्म पुरुषों, नारियों और गजों की मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। दाहिनी ओर के बीचवाले खम्भे की यष्टि पर बौद्धों के तीन धार्मिक चिन्ह अंकित है, जिनमें एक चिन्ह देवालय का है। पाँचवें स्तम्भ की यष्टि पर केन्द्र-छिद्र-सहित पवित्र कमल बना है और एक लेख भी खुदा हुआ है। विभाजक भित्ति पर आदमक़द मानव-मूर्त्तियाँ अंकित हैं। भित्ति का ऊपरी भाग तथा मेहराब वेष्ट-नियों से अलंकृत है। दोनों पार्श्व ऊपर से नीचे तक नक़्क़ाशी के काम से सजाये गये हैं। नीचे का अंश तीन गजमूर्त्तियों का प्रदर्शक है। गजों के सिर ऊपर उठे हुए हैं। इन मूर्त्तियों के ऊपर मानवाकृतियों से सुशोभित वेष्टनियों की एक जालीदार आवरण-भित्ति दिखाई देती है, जिसके ऊपर क्रम से सादी पट्टियाँ और उभरी हुई नक़्क़ाशी की अन्य वेष्टनियाँ बनी हैं। सादी पट्टियों पर स्वस्तिक का चिन्ह अंकित है। कुछ ऊँचाई पर मन्दिर के प्रवेश-द्वारों के परिचायक फलक हैं, जिन पर युग्म स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ अंकित हैं। चैत्य के पार्श्व-भाग में, पहाड़ी को काटकर बनाये हुए भिक्षुओं के आवास-कक्ष हैं। कुछ कक्षों में पत्थर की अलमारी और
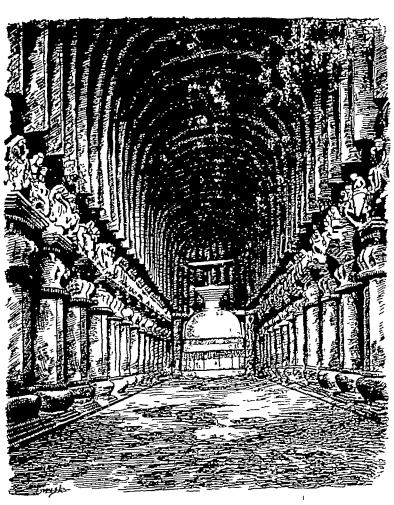
करली की गुफ़ा का प्रधान चैत्य

एलोरा का कैलास-मंदिर

एक ही विशाल शिलाखण्ड को कुरेदकर बनाया गया कलापूर्ण मूर्तियों, स्तम्भों, एवं सभामण्डपों से युक्त यह अद्भुत मन्दिर न केवल भारतवर्ष प्रत्युत सारे संसार में अद्वितीय समझा जाता है।

एलिफ़ैएटा (धारापुरी) के कंदरालयों की अद्‌भुत मूर्त्तिकला

बंबई से कुछ मील दूर समुद्र के बीच एक छोटे-से द्वीप पर एक ध्वस्तप्राय पुरातन कंदरा में स्थित शताब्दियों पूर्व की ये कलाकृतियाँ हमें अपने गौरवपूर्ण अतीत की याद आज भी दिला रही हैं। चित्र में दिग्दर्शित ये विशाल मूर्त्तियाँ एलोरा की मूर्त्तियों की भाँति सब-की-सब कंदराओं की दीवारों की चट्टानों में से काटकर बनाई गई हैं।
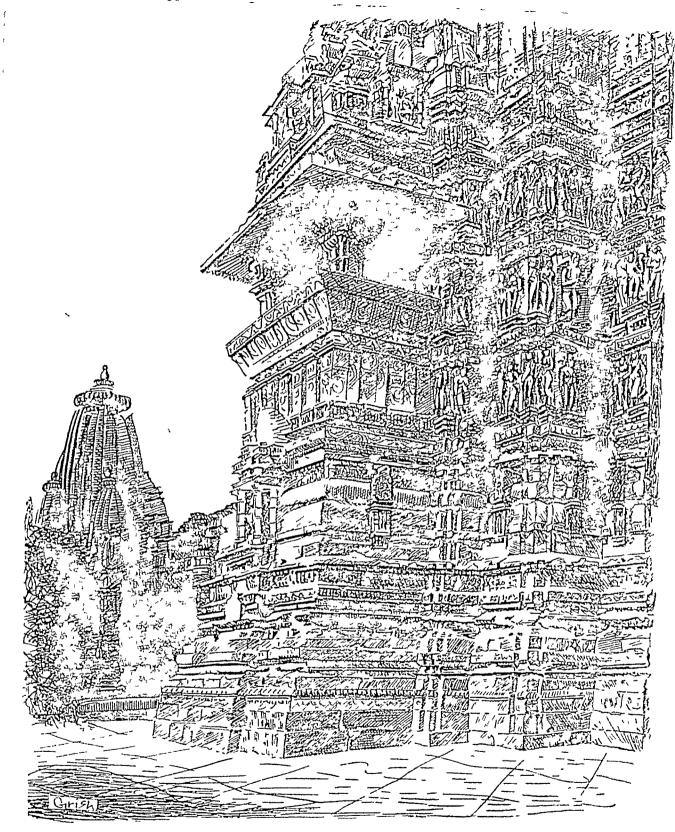
भारतीय वास्तु-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना—खजुराहो का प्रसिद्ध कण्डार्य महादेव का मंदिर

भिन्न-भिन्न मुद्राओं, भाँति-भाँति के अलंकारों एवं डिजाइनों को अपने कलेवर में बसाये हुए इस देवालय को हम भारतीय स्थापत्य-कला के म्यूजियम की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। यहाँ मंदिर के पृष्ठ भाग का नीचे का एक अंश दिग्दर्शित है।

पलँग दिखाई देते हैं। कहीं-कहीं फर्श में गोल गड्ढे बने हुए हैं, जो ओखली के प्रतीक हैं। एक कक्ष में शिवलिंग की आकृति का पत्थर खड़ा है।

इस चैत्य में भगवान् बुद्ध की कोई प्रतिमा नहीं दिखाई देती। उसके स्थान पर एक ठोस प्रस्तर-स्तूप बना हुआ है, जिसके ऊपर मंडप है। सबसे आश्चर्यजनक वस्तुएँ ऊपर की छत और काठ-छत्र हैं, जो कड़ी सागौन की लकड़ी के बने हैं। दीमक आदि कीड़ों ने अभी तक उन पर अपनी कृपादृष्टि नहीं डाली है! गुफा में सीलन न होने के कारण उनकी लकड़ी यथावत् सुरक्षित है। अपने वैभव-काल में इस चैत्य का भीतरी भाग चूने के पलस्तर से ढका हुआ था और उस पर संगमर्मर जैसी चमकदार पालिश थी। उस पर बड़े कलापूर्ण चित्र बने हुए थे तथा सुनहला काम भी था। ऊपर छत से बँधी हुई रंग-बिरंगी ध्वजायें लटकती रहती थीं। देवालय में मणिमय दीपों का जगमगाता हुआ प्रकाश रहता था। पीतवस्त्रधारी मुण्डित-मस्तक भिक्षु सदैव प्रार्थनारत रहते थे। दर्शनार्थी उपासकों और भक्तगणों की भीड़ बराबर लगी रहती थी।

आज कारली का यह चैत्य जनशून्य पड़ा हुआ है। इसके मठों में मानव का आवास एक कल्पना का विषयमात्र रह गया है। एक पुजारी ही इसकी देख-रेख के लिए नियुक्त है, जो प्रवेशद्वार के पास बने हुए आधुनिक युग के दुर्गा जी के मंदिर में पूजा करता है।

भुवनेश्वर के भव्य मंदिर

प्राच्य और प्रतीच्य सभ्यताओं का आधार एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। अत: हमारे और उनके दृष्टिकोण में भी अन्तर है। पाश्चात्य विद्वानों का स्वभाव है कि वे उन बातों पर कभी विश्वास नहीं करते, जिनका कोई स्थूल और स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। भारतवर्ष का प्राचीनतम इतिहास (बौद्ध काल से पूर्व का) पुराणों के रूप में है। धर्म तथा अध्यात्मवाद के रंग के रंगे हुए आर्य इतिहास-कारों ने तत्कालीन प्रथा और आवश्यकता के अनुसार जो ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे, उनमें आधुनिक इतिहास का रंग-रूप नहीं है। यही कारण है कि पुराण वास्तविक नहीं जान पड़ते और पाश्चात्य विद्वान् इनके आख्यानों को कल्पित गप्पाष्टकों के समूह के रूप में देखते हैं!

हमारे बौद्धकालीन इतिहास भी आध्यात्मिक रंग में रँगा हुआ है, पर धर्मप्रचारार्थ निर्मित उनके चैत्य, कीर्ति-स्तम्भ, मठ तथा मंदिर आज भी सुरक्षित अवस्था में विद्यमान हैं और उनमें लगे हुए शिलालेख तत्कालीन इति-हास के विश्वसनीय प्रमाण हैं। इसलिए आधुनिक इतिहास-कारों को वे अधिक जँचते हैं। इसके विपरीत सनातन से चले आनेवाले आर्य-धर्म के अनुयायियों को न तो उसके प्रचार ही की आवश्यकता जान पड़ी और न जनता को प्रभावित करने के लिए उन साधनों का उपयोग करना पड़ा, जिनका अवलम्बन बौद्ध प्रचारकों को लेना पड़ा था। यही कारण है कि आज वह इतिहास जो पुराणों के रूप में है अविश्वसनीय समझा जाता है। एक तो बौद्ध काल से पूर्व के हिन्दू-मंदिर यों ही अत्यन्त भग्नावस्था में हैं। इसके अतिरिक्त बौद्ध प्रचारकों ने बहुतों में आर्य देवताओं की मूर्तियों के स्थान पर भगवान् बुद्ध की प्रतिमा स्थापित कर उन्हें बौद्ध मंदिरों का रूप दे दिया है। एलोरा तथा एली-फण्टा के गुफा-मन्दिर इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं। अंगकोर (कम्बोडिया), बोरोबदर (जावा) तथा पेगान (बर्मा) के मन्दिरों को देखकर बौद्ध प्रचारकों के इस प्रयास का और भी अच्छा प्रमाण मिल जाता है।

पुराणों की अलौकिकता तथा बौद्ध प्रचारकों की संकी-र्णता ने हमारे प्राचीन वैभव को अपने मूल रूप में न रहने दिया। पर एक समय आया जब बौद्ध सम्राटों के पतन के साथ भारत में बौद्ध धर्म का भी ह्रास प्रारम्भ हो गया। उनके हटते ही अधीन हिन्दू राज्य शक्तिशाली बने और उन्होंने आर्य-धर्म का पुनरुद्धार प्रारम्भ कर दिया। उड़ीसा के पराक्रमी राजा केसरी ने भुवनेश्वर में अपनी राजधानी स्थापित कर सनातन धर्म का पुनरुत्थान किया। ईसा की तृतीय शताब्दी में उसने त्रिभुवनेश्वर का यह भव्य मंदिर बनवाया, जिसकी कला के सम्मुख बौद्ध मन्दिरों और मूर्तियों की ख्याति फीकी पड़ गई। इस मन्दिर में स्थापित लिंग ६ फीट ऊँचा है और उसका घेरा ८ फीट है। इसी वृहत् लिंग के कारण यह लिंगराज का मंदिर कहलाता है। इस सुन्दर मन्दिर के आसपास के प्राकृतिक दृश्यों ने वाता-वरण को और भी सुरम्य बना दिया है।

उड़ीसा के अन्य मन्दिरों की भाँति लिंगराज के मंदिर में भी चार भाग हैं—(१) भोगमालय, (२) नाट्य-मंदिर (३) प्रकोष्ठ तथा (४) शिखर। शिखर १८० फीट ऊँचा है और कला की दृष्टि से संसार के अन्य शिखरों से श्रेष्ठ माना जा सकता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके निर्माण में गारे का उपयोग नहीं किया गया है। नीचे से लेकर ऊपर तक देखने में भले जान पड़ने वाले छोटे-छोटे पत्थरों से सारा मन्दिर सजा पड़ा है। राजपूतों के धर्म चिह्न अथवा राज्य-चिह्न से ...

आज सहस्रों वर्षों से इसके शिखर पर प्राकृतिक तापों को सहन करते हुए अपने बनानेवालों की कीर्ति का प्रदर्शन करते चले आ रहे हैं। वेदियों, वीथिकाओं तथा मूर्त्तियों की सुन्दरता को देखकर आँखें भर जाती हैं और शिल्पियों की कला तथा परिश्रम पर ध्यान देने से केवल आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। मन्दिर का समस्त ऊपरी भाग उत्कृष्ट खुदाई के काम से भरा पड़ा है। परन्तु केवल मार्गों के सुन्दर विभाजन, कोनों के गोलाकार ढलाव और सतह पर बीच-बीच में रिक्त स्थान छोड़कर ही मन्दिर की सुन्दरता नहीं बढ़ाई गई है, वरन् प्रत्येक पत्थर उत्कृष्ट कारीगरी का एक सुन्दर आदर्श है। उत्तरी, पश्चिमी तथा दक्षिणी अग्र भागों में स्थापित शिव, पार्वती, कार्त्तिकेय तथा गणेश की मूर्त्तियों की तुलना यदि यूनानी अथवा रोमन मूर्त्तियों से की जाय तो इन्हीं की कहीं अधिक सराहना करनी पड़ेगी। जिस शिल्पी ने इन मूर्त्तियों को बनाया होगा, वह निश्चय ही अपने काल का सबसे बड़ा मूर्त्तिकार रहा होगा।

भुवनेश्वर में लिंगराज मन्दिर के अतिरिक्त ६५ अन्य मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में पार्वती का मन्दिर सबसे सुन्दर है। यदि यह मन्दिर लिंगराज के निकट न होता तो निश्चय ही अन्य मन्दिरों का मुकुट होता।

लिंगराज के मन्दिर में अनार्यों का प्रवेश निषिद्ध है। एक बार लार्ड कर्जन भुवनेश्वर गए थे और जब उन्होंने लिंगराज के दर्शन की इच्छा प्रकट की तो मन्दिर के उस स्थान पर एक चबूतरा बना दिया गया, जहाँ से मूर्त्तियों के ठीक-ठीक दर्शन हो सकें। यह चबूतरा अब भी विद्यमान है।

कहा जाता है कि भुवनेश्वर में ७००० मूर्त्तियाँ थीं और यही कारण है कि त्रिभुवनेश्वर मन्दिरों की राजधानी कही जाती थी। यहाँ के सभी मन्दिर अपने-अपने स्थान पर सुन्दर हैं। मुक्तेश्वर मन्दिर ही को लीजिये। फर्गुसन महोदय ने इसकी कारीगरी का उल्लेख करते हुए लिखा है—"इस मन्दिर का एक-एक बेल-बूटा बड़ी सफाई से काटा गया है और प्रत्येक मूर्त्ति सजीव प्रतीत होती है।" अन्यत्र बनी हुई सिंहवाहिनी माता दुर्गा की मूर्त्तियाँ भी मर्मस्पर्शी हैं। साँचे में ढला हुआ सुन्दर शरीर, क्या ही भव्य स्वरूप है। मुख-मण्डल पर अलौकिक तेज और हाथ में खड्ग। मुक्तेश्वर तथा लिंगराज के मन्दिर उड़िया कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। धारवार तथा उत्तरी भारतवर्ष में इन्हीं मन्दिरों से मिलते-जुलते और भी मंदिर हैं, पर उनमें से एक भी इनकी समानता नहीं कर सकता।

मुक्तेश्वर मन्दिर के जगमोहन (दालान) में खिड़कियाँ भी बनी हुई हैं, जिनमें पत्थर की जालियाँ लगी हुई हैं। इनके चारों ओर चौखटों की तीन-तीन पंक्तियाँ हैं। इन पंक्तियों में से एक में चार दलवाले कमलों की पेंचदार लहरें बनी हुई हैं। सम्मुख ही वानरों की क्रीड़ा के दृश्य अंकित किये गये हैं, जिनको देखकर उनकी प्रकृति का अच्छा ज्ञान होता है। एक दृश्य में दिखाया गया है कि एक केंकड़े ने बन्दर के ऊपर आक्रमण कर दिया है और वह बन्दर बड़े कष्ट में है और दूसरा बन्दर उसकी रक्षा करने का प्रयत्न कर रहा है। दूसरे दृश्य में यह दिखलाया गया है कि बन्दर एक घड़ियाल को सता रहे हैं। ये सभी दृश्य गुलाबी रंग के पत्थरों के ऊपर बने हुए हैं। मुक्तेश्वर का मंदिर सिद्ध अरण्य के बीच बना हुआ है। यह बन सदा हरियाली से पूर्ण रहता है। इनके बीच में खड़ा हुआ पत्थर का सुन्दर मंदिर और भी खिल उठता है। इस मंदिर में एक अत्यन्त सुन्दर तोरण से होकर जाना पड़ता है। इस कलापूर्ण तोरण पर भगवान् शिव का ताण्डव-नृत्य इतनी सुन्दरता के साथ अंकित किया गया है कि उसको देखते ही आनन्द कुमारस्वामी द्वारा लिखित 'शिव का तांडव-नृत्य' की पंक्तियाँ हमारे मानस-पटल पर सजीव हो उठती हैं। शिव के ताण्डव-नृत्य के भावों को मूर्त्तिकार ने बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी यह मूर्त्ति उतनी ही आकर्षक है।

इन मन्दिरों में सबसे पुराना मन्दिर परशुरामेश्वर का है। यह मन्दिर सम्भवतः ईसा की छठी शताब्दी में बनवाया गया था। इसकी बनावट में विदेशी प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। इसके प्रकोष्ठ की छत पर शिखर नहीं है और मन्दिर का प्रवेश-द्वार पश्चिम की ओर है। 'केसरी' के राज्य-चिन्ह भी यहाँ नहीं दिखाई देते। विशाल तथा सुन्दर सिंहों के स्थान पर आखेट की वस्तु के रूप में भालों से विद्ध सिंह दिखाई देते हैं। उड़िया शिल्प-कला में सिंहों को ऐसी अवस्था में कभी नहीं दिखलाया गया।

भुवनेश्वर के मन्दिरों में भगवान् शिव ही प्रधान हैं और परशुरामेश्वर में तो जहाँ देखिये वहाँ शिव ही शिव की मूर्त्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। पार्वती, कार्त्तिकेय तथा गणेश की भी मूर्त्तियाँ इस मन्दिर में हैं। पर इसमें स्थापित गणेश की मूर्त्ति की ग्रीवा पर हाथी के मस्तक के स्थान पर मनुष्य का मस्तक बनाया गया है। यह प्रकट करने को कि मूर्त्ति गणेश जी की ही है, उनकी ठुड्डी पर एक छोटी सूँड बना दी गई है!

है। इसकी मामूली बस्ती भी अन्य स्थानों की बस्तियों से स्पर्धा नहीं कर सकती, जिसके कारण अन्य स्थानों का महत्व अधिक बढ़ गया है। फिर भी, जैन-धर्म के उत्थान-युग में आबू पर्वत पर अनेक मन्दिर बने, जिनमें से दो आज भी अपनी कुछ विशेषताओं के लिये भारत के सर्वोत्कृष्ट मन्दिरों में गिने जाते हैं। वास्तव में, इन दोनों मन्दिरों को अप्रतिम और अद्वितीय कहना अनुचित न होगा, क्योंकि जैन-युगीन कला के ये सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये मंदिर पूर्णतया श्वेत संगमर्मर के बने हुए हैं, यद्यपि आबू के आसपास ३०० मील तक संगमर्मर की एक भी खान दृष्टिगोचर नहीं होती। कल्पना कीजिये कि ऐसी दशा में इनके निर्माण के हेतु कितनी धनराशि व्यय करके कितनी दूर से यह पत्थर-विशेष मँगवाया गया होगा और उसके लाने, पर्वत पर चढ़ाने, गढ़ने तथा अलंकृत करने में कितनी अधिक जन-शक्ति की आवश्यकता पड़ी होगी! न जाने कितने वर्षों तक वे सुचतुर शिल्पी, मूर्तिकार और कारीगर, सहस्रों की संख्या में, अनवरत कार्य करते रहे होंगे, जिन्होंने अतीत के एक अलौकिक स्वप्न को अपने प्रयास द्वारा साकार रूप देकर अपनी कला को अमर कर दिया है। ये जैन-मंदिर वास्तव में कल्पनातीत दैवी कृति जैसे जान पड़ते हैं।

इन दोनों मन्दिरों में से जो बाद में बना है, उसके संस्थापक तेजपाल और वस्तुपाल नामक दो भ्राता थे, जिन्होंने गिरनार की पहाड़ी पर तेहरा मन्दिर बनवाया था। शिलालेखों से पता चलता है कि आबू का यह मंदिर सन् ११९७ और १२४७ ई० के बीच में बना। अपने अलंकरण, कारु-कार्य तथा नक्काशी और सजावट की सूक्ष्मता तथा सौन्दर्य के लिये भारतभर में यह बेजोड़ गिना जाता है। शिल्पियों ने इसकी बनावट में अपना सारा कौशल लगाकर इसे एक स्वर्गीय वैभव प्रदान किया है। दूसरा मंदिर एक परम धार्मिक जैन श्रेष्ठि विमल साह का बनवाया हुआ है। इसका निर्माण-काल सन् १०३२ ई० के लगभग समझा जाता है। इसकी बनावट में अधिक सादगी और दृढ़ता है, जो इसके शिल्प-सौन्दर्य या कला के विकास में किसी प्रकार बाधक नहीं लगती। प्राचीन जैन-मंदिरों की निर्माण-शैली का एक यह सुन्दरतम उदाहरण है, जिसमें वास्तु और मूर्ति-शिल्प का तत्कालीन विकास पूर्णतया प्रकट होता है। जैन-युगीन कला के सभी अंगों का गम्भीर प्रतिपादन इसकी बनावट में मिलता है।

विमल साह के इस मंदिर की मुख्य वस्तु भीतर का कक्ष है, जिसमें प्रकाश आने का मार्ग केवल उसी द्वार से है, जिसके आगे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्त्ति स्थापित है। उन्हीं की स्मृति में यह मंदिर बना था। इसके भीतरी भाग की बनावट नीचे से गोलाकार है, जिसका घेरा ऊपर की ओर कम होते-होते एक कोणाकार शिखर के रूप में परिणत हो गया है। उत्तर भारत के तत्कालीन जैन तथा हिन्दू मंदिरों के ऊपर की छतें इसी ढग से बनती थीं। इसी कक्ष से मिला हुआ एक प्रकोष्ठ है, जिसमें मुक्त रूप से ४८ स्तम्भ खड़े हुए हैं। इसके चारों ओर १४० फीट लम्बा और ९० फीट चौड़ा एक आँगन है, जो छोटे-छोटे स्तम्भों की दोहरी पंक्तियों से घिरा हुआ है। उन स्तम्भों के ऊपर पटावदार छत होने के कारण यह एक लम्बे बरामदे जैसा दिखाई देता है, जिसके किनारे-किनारे ५५ कोठरियाँ बनी हुई हैं—वैसी ही जैसी बौद्ध विहारों मे बनी हुई पाई जाती हैं। उन कोठरियों में साधुओं के आवास का स्थान पद्मासनस्थ मूर्त्तियों ने ले रखा है। वे सभी पार्श्वनाथ की मूर्त्ति की प्रतिकृतियाँ हैं, यद्यपि आकार में छोटी हैं। प्रत्येक द्वार की चौखट पर चारों ओर इन्हीं जैन-तीर्थंकरों के जीवन की घटनाओं के दृश्य अंकित हैं। अन्य धार्मिक स्थानों में भी प्रवेशद्वारों पर ऐसे ही अलंकरण पाये जाते हैं। जैनियों में यह प्रथा है कि वे अपने धार्मिक महापुरुषों की अधिक से अधिक मूर्त्तियाँ अपने धर्मस्थानों में स्थापित करते हैं, जिनकी आकृति प्राय. एक सी ही होती है। जिस महापुरुष की जितनी ही अधिक मूर्त्तिया बनती हैं, उसे उतना ही महान् और पहुँचा हुआ समझा जाता है। प्रत्येक मूर्त्ति को पृथक् स्थान में बिठाने की आवश्यकता भी वे लोग मानते हैं और उसके लिये ताक या वेदी बनाते हैं। जैनियों के कुछ स्मारकों में इस प्रकार तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के समूह सैकड़ों और हजारों की संख्या मे पाये जाते हैं। उनके धर्मस्थानों में कहीं-कहीं ऐसी मूर्त्तियाँ बाहर-भीतर सर्वत्र कोने-कोने में स्थापित दिखाई देती हैं।

विमल साह का यह मंदिर बाहर से बिल्कुल सादा है, जिससे भीतरी सजावट और अलंकरणों के बाहुल्य का कुछ भी संकेत नहीं मिलता। केवल भीतरी कक्ष का नोकीला शिखर छत के ऊपर निकला हुआ दिखाई पड़ता है। स्तम्भों की बनावट बड़ी आकर्षक है और उनके परगहों पर सुन्दर नक्काशी का काम है। उष्णीषों की सजावट और चित्रकारी भी कलापूर्ण है। स्तम्भों के ऊपर सुचारु रूप से अलंकृत वेष्टनियाँ हैं, जिन पर छत का गुम्बज़ आधारित है। गुम्बज़ का भारी बोझ सम्हालने में स्तम्भों के सहायतार्थ कटावदार मेहराबनुमा तकिए भी वेष्टनियों के

नीचे लगे हुए हैं, जिन पर खुदाई के काम द्वारा सुन्दर अलंकरण अंकित हैं। मन्दिर-निर्माण की यह शैली काष्ठ-भवनों की शैली का ही एक रूपान्तर प्रतीत होती है तथा सजावट के लिये जिन साधनों का आश्रय लिया गया है, उनकी कल्पना का आधार कारू-कार्य ही कहा जा सकता है।

आबू पर्वत के ऊपर सम्भवतः कभी कोई नगर नहीं बसाया गया था। नगर-निर्माण का कार्य इतनी ऊँचाई पर दुर्गम मार्ग के कारण एक प्रकार से असम्भव था। किन्तु कुछ मील दक्षिण की ओर एक समतल मैदान में किसी बड़ी भारी नगरी के ध्वंसावशेष हैं, जिसका नाम चन्द्रावती था। वहाँ आबू के मन्दिरों के समकालीन अनेक जैन मंदिरों के खँडहर पाये गये हैं, जिनमें कुछ अच्छी दशा में हैं। उनकी बनावट और शैली भी एक ही जैसी है। कुछ पुराने हैं और कुछ बाद के बने हैं। यह नगरी अनुमानतः चौदहवीं शताब्दी में मुसलमानों के अत्याचारों से उजड़ गई और तभी से वीरान पड़ी हुई है। आसपास के कस्बों और गाँवों के निवासी यहाँ की इमारतों से ईंट-पत्थर खोद ले गये हैं, जिससे यहाँ का एक भी स्मारक अछूता नहीं बचा। यहाँ के खँडहरों में जो स्तम्भ पड़े हुए हैं, उनकी बनावट और सजावट को देखकर आश्चर्य करना पड़ता है।

खजुराहो के कलापूर्ण देवालय

प्रयाग से १४५ मील दक्षिण-पश्चिम दिशा में चन्देलों की प्राचीन राजधानी खजुराहो के दर्शन होते हैं। यह एक जनशून्य, उजाड़, खँडहरों की बस्ती मात्र रह गया है, जिसकी शोचनीय दशा देखकर अनायास ही आँखों में आँसू आ जाते हैं। भारतवर्ष के प्राचीन राजपूत वीरों की यह वैभवशाली नगरी शताब्दियों से धूल में लोट रही है। उन शूर योद्धाओं के कीर्ति-स्मारक आज मिट चुके हैं, परन्तु उनकी धार्मिक भावनाओं के परिचायक कुछ थोड़े-से मन्दिर —जिनकी संख्या तीस के लगभग होगी—वर्षा, ताप और शीत के आघातों को धीरता से सहन करते हुए चुपचाप खड़े दिखाई देते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इन मन्दिरों की संख्या कहीं अधिक थी, किन्तु पास-पड़ोस के लोगों ने इनकी जीर्ण दशा से लाभ उठाकर, उनकी ईंटें, चूना और पत्थर खोदकर अपने मकान बनवा लिये और अब पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्न से केवल बचे-खुचे मन्दिर ही सुरक्षित कर दिये गये हैं। इन मन्दिरों की इमारत और सजावट अन्य स्थानों के प्राचीन मन्दिरों से किसी प्रकार न्यून नहीं है और इनमें से कुछ तो कला की दृष्टि से सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। जहाँ तक पुराने शिलालेखों और मन्दिरों की निर्माणशैली से पता चला है, पुरातत्त्वविशेषज्ञ यह अनुमान करते हैं कि दो को छोड़कर शेष सभी मन्दिर क्रमशः ११ वीं शताब्दी के लगभग बने थे। दूसरी विशेषता यह है कि खजुराहो के ये मन्दिर समान रूप से भारत के तीन धर्मों के प्रतिनिधि हैं और सब बराबर की संख्या में विभाजित हैं! इनको हम तीन पृथक् श्रेणियों में पाते हैं—एक तो शैव, दूसरे वैष्णव और तीसरे जैन। शैव और वैष्णव मन्दिर तो एक प्रकार से मिलते-जुलते हैं, किन्तु जैन-मन्दिर विशेष रूप से पृथक् ज्ञात होते हैं। प्रत्येक श्रेणी के मन्दिरों में एक बड़ा और प्रधान मन्दिर मिलता है, जिसके चारों ओर तथा पार्श्वों में तत्सम्बन्धित अन्य छोटे-छोटे मंदिर बने हुए हैं। फिर भी, अधिकांश रूप में सभी मंदिर पृथक् बने हुए दिखाई देते हैं।

शैव मन्दिरों में सबसे श्रेष्ठ मन्दिर कण्डार्य महादेव का शिवालय है, जिसकी लम्बाई १०९ फीट और चौड़ाई ६० फीट पाई जाती है। भूमितल से यह मंदिर ११६ फीट ऊँचा है और चबूतरे से यह ८८ फीट है। इसके नीचे के हिस्से की बनावट अन्य मन्दिरों जैसी ही है। चारों ओर दीवालों पर पत्थर की मूर्तियाँ तीन पंक्तियों में बनी हुई दिखाई देती हैं। जेनरल कनिंघम के कथनानुसार सारे मन्दिर में भीतर-बाहर ८७२ मूर्तियाँ हैं और प्रायः २॥-३ फीट तक ऊँची पाई जाती हैं। ये मूर्तियाँ अधिकतर हिन्दू देवी-देवताओं तथा ऋषियों की हैं, जिनके साथ-साथ बेलबूटे और अन्य अलंकरण बड़ी कुशलता से अंकित किए गये हैं। शिल्पियों ने इस मंदिर की बैठकी के नीचे जो भारी चबूतरा बनाया है, उससे इसकी शान और भी बढ़ गई है। क्रमशः छोटे होते हुए इनके शिखर, जो एक के ऊपर एक बने हुए हैं, बड़े भव्य प्रतीत होते हैं। ये कला में कैलास की अभिव्यक्ति के अनुपम उदाहरण हैं। प्रदक्षिणा-मार्ग में सुन्दर स्तंभों की योजना है और उस मार्ग के चारों ओर भव्य ऊँचे झरोखे बने हुए हैं। मंदिर का कोना-कोना कलापूर्ण मूर्तियों तथा आलंकारिक अभिप्रायों से आच्छादित है। किन्तु उनमें बहुत सी काम-शास्त्र संबंधी अश्लील मूर्तियाँ भी हैं, जिनका मंदिर के पवित्र वातावरण से लेश-मात्र संबंध नहीं जान पड़ता। सम्भवतः उस युग में, जब ये मंदिर बने थे, तब की प्रथा से कला में भी अश्लीलता के प्रदर्शन का प्रचार हुआ होगा। तांत्रिकों ने धर्म की आड़ में अवश्य ही अपनी कुत्सित भावनाओं को व्यक्त करना

अपना उद्देश्य बनाया होगा, जिसके फलस्वरूप तत्कालीन कला में इस प्रकार की अश्लीलता आ गई। कण्डार्य महादेव का यह मंदिर अलंकरण-शैली के विकास-युग का प्रमुख उदाहरण है, जिसका बाद में सर्वत्र प्रचार हुआ।

वैष्णव मन्दिरों में चतुर्भुज का मंदिर, जो राम-लक्ष्मण के मंदिर के नाम से भी विख्यात है, सर्वश्रेष्ठ है। जैन-मन्दिरों में पार्श्वनाथ का मन्दिर प्रधान है। इन शैव, वैष्णव तथा जैन मंदिरों की धार्मिक समानता इतनी अधिक है कि उन्हें पृथक्-पृथक् बतलाना असम्भव हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि इन सब को किसी एक ही शासक या राजा ने निर्माण कराया और वह भी इस ढंग से कि तीनों धर्मों के अनुयायियों में से कोई भी एक दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष न कर सके। इसी से अथवा अन्य किसी कारणवश, जो हम नहीं समझ सकते, यहाँ के जैन मंदिरों में वह विशेषता नहीं दिखाई देती, जो इस युग के बने हुए जैन मंदिरों में अन्यत्र दिखाई देती है। छज्जे की अपेक्षा विमान या शिखर को यहाँ अधिक महत्त्व दिया गया है। आँगन और भीतरी कोठरियाँ कहीं दिखाई नहीं देतीं। बड़े-बड़े कलश और गुम्बज़, जो हिन्दू-कला के प्रमुख अंग हैं, यहाँ नहीं पाये जाते, जिनसे जैन मन्दिरों से हिन्दू मन्दिरों की भिन्नता बतलाई जा सके। यदि ये सभी मन्दिर एक ही राजा के बनवाये न माने जायें तो भी ये उस युग में बने ज्ञात होते हैं, जब प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय-वालों के प्रति असाधारणतया उदार होते थे और शिल्पियों में भी उस समय सुन्दरतम सजावटवाले भवन बनाने की प्रतियोगिता के अतिरिक्त कोई धार्मिक द्वेष नहीं रहता था। अनुमानतः जैन मन्दिरों का निर्माण हिन्दू मन्दिरों की अपेक्षा बाद में हुआ होगा।

खजुराहो के अन्य मंदिरों से बिल्कुल अलग दक्षिण-पश्चिम में जैन मन्दिरों का जमघट दिखाई देता है, जिसमें सबसे बड़ा और सुन्दर पार्श्वनाथ का ही मंदिर है। यह मंदिर ६२ फीट लम्बा और लगभग ३१ फीट चौड़ा है। इसके बाहरी प्रवेशद्वार पर दो स्तम्भों पर आधारित एक प्रकोष्ठ है और पीछे के दो चौकोर खम्भे द्वार के पार्श्वों से मिले हैं। भीतर का मण्डप जो २२ फीट लम्बा और १७ फीट चौड़ा है, चार खम्भों पर आधारित है। जिन छोटे-छोटे भारवाही खम्भों पर इसकी गुम्बज़दार छत रुकी हुई है, उनके पार्श्वों में उष्णीषों की बनावट विशेषतया दर्शनीय है। मण्डप के आगे देवस्थान है, जो चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ से घिरा हुआ है। बाहर की दीवालों पर ढली हुई पट्टियों की प्रचुरता से सजावट है, जिन पर मूर्तियों की तीन समानान्तर पंक्तियाँ दिखाई देती हैं। पीछे अर्थात् पश्चिमी कोने में एक बाह्य मंदिर है, जो ६ फीट आगे बढ़ा हुआ है। सन् १८६० ई० में इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराकर जैनियों ने इसे अपना लिया, किन्तु इसके पहिले भी किसी ने इसकी मरम्मत अवश्य कराई थी।

खजुराहो के जैन मंदिरों की स्थापत्य-शैली का दूसरा नमूना आदिनाथ का छोटा-सा मंदिर है। इसके आगे या तो छज्जेदार प्रकोष्ठ था ही नहीं, या तुड़वाकर बाद में नुकीली मेहराबदार ईंटों के छज्जे के रूप में उसे बदल दिया गया है। किन्तु उसका मंदिर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंदिर की चौकी के ऊपर का निम्न भाग, जो तीन खण्डों का बना है, ऐसे सुन्दर अलंकरणों और अभिप्रायों से सजाया गया है, जिनकी समानता हिन्दू शैली की सजावट में कहीं नहीं मिलती। ऊपर के भाग पर सूक्ष्मता से की हुई कारीगरी तथा उसका सुडौलपन मंदिर के सौंदर्य को विशेष रूप से बढ़ाता है। बाहर की दीवालों पर तथा भीतरी भाग में बनी हुई मूर्तियों में मुख्यतया देवियों की मूर्तियाँ हैं। देवस्थान की बैठकी पर गरुड़ की आकृति बनी हुई है, जिसके ऊपर किसी जिन अर्थात् जैन साधु की मूर्त्ति प्रतिष्ठित है। भीतों के ऊपर किसी भी जैन मूर्त्ति के दर्शन नहीं होते। इससे प्रकट होता है कि आरम्भ में यह कोई वैष्णव मंदिर रहा होगा, जिसे जैनियों ने अपना लिया।

एक मंदिर चौंसठ योगिनी का मंदिर कहलाता है। अब केवल इसका एक आँगन मात्र अवशेष रह गया है, जो १०२ फीट लम्बा और ५६॥ फीट चौड़ा है। इस आँगन के चारों ओर चौंसठ छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी हुई हैं। पृष्ठभाग में एक बड़ी कोठरी है। प्रत्येक कोठरी के ऊपर एक छोटा शिखर है, जो जैनियों की कला का परिचायक है। कोठरियों की बनावट भद्दी और बेडौल है, किन्तु उनका क्या तात्पर्य था, यह एक रहस्य है। खजुराहो की इमारतों में एक घटई के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके खम्भों पर प्रचुरता से घण्टे बने हुए हैं। सम्भवतः इसी कारण उसका यह नाम पड़ा होगा। इस इमारत का केवल थोड़ा सा अंश बचा है, शेष नष्ट हो गया है। एक दोहरे प्रकोष्ठ के कुछ खम्भे मात्र खड़े हुए दिखाई देते हैं, जिनके पार्श्व की दीवालें गिर चुकी हैं। इन खँडहरों के निकट एक शिलालेख है, जिससे पता चलता है कि इस मंदिर का निर्माण छठी या सातवीं शताब्दी में हुआ होगा। पास ही

एक बुद्ध-मूर्ति और एक छोटा-सा बौद्धकालीन शिलालेख भी मिलता है, जिससे भ्रमवश लोग इस मंदिर को बौद्ध मंदिर कह चुके हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता जेनरल कनिंघम को यहाँ की खुदाई में ११ दिगम्बर जैनों की तथा दो वैष्णव मूर्तियाँ मिलीं। इसी से इसके जैन-मंदिर होने में सन्देह नहीं रह जाता। मन्दिर की योजना भी जैनी इमारतों से मिलती-जुलती है। कुछ भी हो, इस इमारत के स्तम्भ अपनी विशेषता रखते हैं और उनकी बनावट दर्शनीय है। उनकी शैली प्राचीन ज्ञात होती है और उसमें सजावट का बाहुल्य है। स्तम्भों में से आठ, जो बलुए पत्थर के बने हैं। उनकी बैठकी और परगहे बाद के बने हुए ज्ञात होते हैं। इससे स्पष्ट है कि इस मंदिर का किसी जमाने में पुनरुद्धार अवश्य हुआ होगा। यदि यह मंदिर सम्पूर्ण होता तो इसकी छेंकन पार्श्वनाथ के मंदिर की छेंकन जैसी जान पड़ती। इसके पूर्व में एक स्तम्भोंवाला प्रकोष्ठ तथा २१॥ फीट चौड़ा मण्डप एवं चार नक्काशीदार स्तम्भों की श्रेणी होती, जिन पर मण्डप की छत आधारित होती। पश्चिम में दो चौकोर खम्भों तथा प्रवेशद्वार को मिलाती हुई दूसरी छत भी निश्चय ही दिखाई देती। सम्भव है, कालान्तर में यह अंश नष्ट हो गया हो, किन्तु आरम्भ में अवश्य रहा होगा।

श्री जगन्नाथजी का मंदिर— पुरी

हुए हैं, चार साढ़े चौदह फीट तक ऊँचे हैं। उनको १५ फीट के फासले पर दो चतुष्कोणों के आकार में खड़ा किया गया है। दोनों चतुष्कोणों के बीच में कुछ चौकोर खम्भे हैं और एक नक्काशीदार द्वार है, जो इस मण्डप का प्रवेश-द्वार रहा होगा। उसकी चौखट पर चतुर्भुजी देवी की मूर्ति अंकित है। [illegible] मण्डप पर [illegible] है और उसके पार्श्व के दोनों [illegible] में एक-एक नग्न पुरुषाकृति है। इनको देखने से स्पष्ट होता है कि जैन लोगों ने किस प्रकार इनको अपने मन्दिर में स्थान दिया होगा। दीवालों में लगे हुए पत्थर के छोटे खम्भे हैं, जो भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों के

दक्षिण-पश्चिम के कोने में जहाँ देवस्थान रहा होगा, आदिनाथ की एक पूर्ण मानवाकार मूर्ति पड़ी हुई है। अनुसंधान करने से ज्ञात हुआ है कि ११ वीं शताब्दी में इस स्थान पर जैनियों का अधिकार था। यहाँ के खँडहरों से यह भी पता चलता है कि हिन्दुओं के पुराने मन्दिरों को तोड़कर उनके मसाले से भी जैनियों ने अपने मन्दिर बनवाये।

श्रीजगन्नाथजी का मन्दिर—पुरी

प्राचीन भारतीय कारीगरों के स्थापत्य और शिल्प के जैसे उदाहरण सुदूर पूर्वी तट पर उड़ीसा प्रान्त में मिलते हैं, वैसे इस देश के किसी कोने में नहीं पाये जाते। उड़ीसा

के मन्दिरों की निर्माणशैली विशुद्ध आर्यकालीन है, जिस पर किसी अन्य युग की कला का किंचित मात्र प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी बनावट द्रविड़कालीन दक्षिण के मंदिरों से सर्वथा भिन्न और मौलिक है। पिछले पृष्ठों में हम भुवनेश्वर के मन्दिरों का वर्णन कर चुके हैं, जिनका स्थान हमारे देश के सर्वोत्कृष्ट मदिरों में माना जाता है। उन्हीं के समकक्ष श्री जगन्नाथ जी का मदिर भी है, जो समुद्र-तट पर पुरी नामक नगर में स्थापित है। वैष्णव धर्म की कीर्त्ति-पताका ऊँची करनेवाला यह प्राचीन मन्दिर अपनी सुदृढ़ता, सौन्दर्य और अलकरणों के लिए विख्यात है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार इसका निर्माण सन् १०८० और ११४० के बीच में हुआ था। पूर्वीय गंग-वशीय राजा अनन्तवर्मन चूड़गंगदेव के शासनकाल में इसका बनना आरम्भ हुआ और उसी वश के द्वितीय राजा ने इसे पूरा कराया। वे लोग नाममात्र के शैव थे, किन्तु वैष्णव धर्म को प्रोत्साहन देते थे। मुसल्मानी शासन में आनेवाले प्रान्तों से दूर होने के कारण उड़ीसा के मंदिर तत्कालीन शासकों की हिन्दू-द्वेषी प्रवृत्ति की भेंट न चढ़ सके।

काशी, मथुरा और प्रयाग की भाँति पुरी भी हिन्दुओं का प्रधान तीर्थ है। इसके अतिरिक्त यहाँ की जलवायु भी स्वास्थ्यप्रद है और प्राकृतिक दृश्यों का आकर्षण भी अद्वितीय है। नगर के ठीक बीचोबीच में श्री जगन्नाथजी का भव्य मदिर बना हुआ है। जगन्नाथजी का यह मंदिर बाहर से ६७० फीट लम्बा और ६४० फीट चौड़ा है। इसके आगे २० से ३० फीट तक मोटा दोहरा प्राचीर है, जिसमें चार बड़े-बड़े फाटक लगे हैं। भीतर का अहाता ४२० फीट लम्बा और ३१५ फीट चौड़ा है जिसके आगे पुनः दोहरी चहारदीवारी और चार प्रवेश-द्वार हैं। पूर्वी द्वार के सम्मुख काले सगमर्मर का एक ऊँचा स्तम्भ खड़ा हुआ है, जिसके शिखर पर प्रभात-कालीन सूर्य की छोटी-सी मूर्त्ति स्थापित है। इस स्तम्भ के ऊपर जैसी नक्काशी की हुई है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देती। जान पड़ता है कि कारीगर ने पत्थर को नहीं वरन् मोम को अपनी छेनी से मनमाना काट-छाँटकर सुन्दरतम अलंकरणों से सजाया है। "बड़ा देवल" या प्रधान मंदिर, ८० फीट के घेरे में बना है और जगमोहन नामक उसका अश मिलाकर पूर्व से पश्चिम तक उसकी लम्बाई १५५ फीट हो जाती है। इसका शिखर १६२ फीट ऊँचा है। मदिर के आगे चलकर नाट्य-मदिर और भोग-मदिर नामक दो अन्य मण्डप दिखाई देते हैं, जो सम्भवतः बाद में बने हैं। इनको सम्मिलित करके पूरे मदिर की लम्बाई ३०० फीट से भी अधिक है।

दोहरे प्राचीर के अतिरिक्त, जगन्नाथजी का यह मदिर उड़ीसा के अन्य मन्दिरों से भिन्न नहीं ज्ञात होता। मदिर के बाहरी हिस्से पर चूना और रंग इस प्रचुरता से चढ़ाया गया है कि उसकी सारी शोभा नष्ट हो गई है। बाहर की दीवालों पर बनी हुई मूर्त्तियाँ और बेलबूटे स्पष्ट नहीं दिखाई देते, फिर भी शिल्पियों ने जिस सूक्ष्मता से पत्थरों को काट-काटकर उनमें सयोजित किया है, वह देखने योग्य है। गोले-गलते का काम इतनी बारीकी के साथ हुआ है कि उसे देखकर आश्चर्य से दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती है। यद्यपि इस मन्दिर के बाहरी अश में सादगी है, फिर भी इसकी सुदृढ़ता और मजबूती का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। भीतर देवस्थान की सजावट देखकर मन मुग्ध हो जाता है। हिन्दू-धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त अन्य लोगों को मंदिर में प्रवेश करने का निषेध है।

मन्दिर से लगभग १ मील के फासले पर उत्तर में एक सुन्दर उद्यान-मण्डप बना है। उद्यान के चारों ओर १५ फीट ऊँची चहारदीवारी है। प्रति वर्ष जून-जुलाई के महीनों में श्रीजगन्नाथजी की रथयात्रा का जब जुलूस निकलता है तो लाखों की भीड़ यहाँ पर देवदर्शनार्थ एकत्र हो जाती है। देवताओं की सवारियाँ इसी उद्यान-मण्डप में आती हैं और दर्शक लोग कृतार्थ होते हैं। इस स्थान में ८ दिन तक देव-मूर्त्तियाँ निवास करती हैं, इसके बाद पुन' उनको रथ पर बिठाकर मन्दिर में पहुँचा दिया जाता है। उनके रथ को भक्तों और दर्शनार्थियों की खासी भीड़ खींचकर ले जाती है और कोई वाहन उसमें नहीं लगता। इस रथयात्रा में प्रायः अनेक दुर्घटनायें हो जाती हैं, परन्तु भक्ति भाव से प्रेरित हिन्दू जनता इस प्रयत्न में प्राण देना भी स्वर्गलाभ करना समझती है। श्रीजगन्नाथजी के रथ ३५ फीट चौकोर तथा ४५ फीट ऊँचे होते हैं और लकड़ी के बनते हैं। प्रत्येक रथ में १६ पहिए लगते हैं, जिनकी परिधि का व्यास ७ फ़ीट से कम नहीं होता। उनमें मोटे-मोटे रस्से बाँधकर प्रत्येक रथ को कम से कम २०० व्यक्ति खींचते हैं। रथ को खींचने का सौभाग्य प्राप्त करने की चेष्टा में प्रायः लोगों मे धक्के-मुक्के और मार-पीट तक की नौबत आ जाती है। फिर भी रथयात्रा का यह जुलूस दर्शनीय होता है।

हिन्दू-धर्म के अगणित स्मारकों में पुरी का यह भव्य मन्दिर अद्वितीय है।

——:o:——